૬
૬
સનાતનધર્માલોક-૭

'आलोक' ग्रन्थमालाका नवम सुमन

संरक्षक—१. स्व० श्रीपं० मुरारिलालजी मेहता, कलकत्ता
२. रायसाहब चौ० श्रीप्रतापसिंहजी रईस, करनाल

सनातनधर्मका विश्वकोष एवं महाभारत

श्रीसनातनधर्मालोक (९)

(पुराण-इतिहाससम्बन्धी आक्षेपों का परिहार)

प्रणेता—
श्रीदीनानाथशास्त्री सारस्वत, विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि
प्रिंसिपल रामदल संस्कृतमहाविद्यालय, कटड़ा नीलराय, दिल्ली
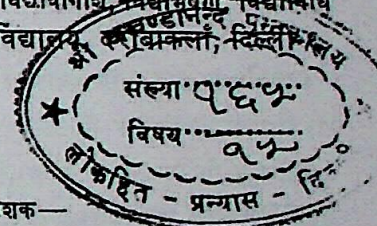
प्रकाशक—
श्रीनारायणशर्मा 'राजीव' सारस्वत, शास्त्री, प्रभाकर, एम्. ए. (सं.)
'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमाला कार्यालय
फर्स्ट बी. १६, लाजपतनगर, नई दिल्ली-१४

श्रीकृष्णजन्माष्टमी] सं० २०२३ [मूल्य १३) रु. विदेशों में १६)

पुस्तकें मँगाने का पता—
श्रीकिरणकान्ता शर्मा 'राजीव'
'आलोक' ग्रन्थमाला कार्यालय
फर्स्ट बी. १६, लाजपतनगर, नई दिल्ली-१४

प्रथम संस्करण सन् १९६६ (ई०)
मूल्य तेरह रुपये, विदेशों में सोलह रुपये।

ग्रन्थकारके पूर्वापर पुरुष—
१ श्रीदयाराम–श्रीदयादेवी
२ श्रीजेसाराम–श्रीकालोबाई
३ श्रीशीतललाल–श्रीगौरीदेवी
४ दीनानाथशर्मा–ज्ञानदेवीशर्मा
५ नारायणशर्मा–किरणकान्ता।

मुद्रक—
केदारनाथ भार्गव
जमना प्रिंटिंग वर्क्स
पीपल महादेव,
दिल्ली-६

समर्पण

जिन श्रीचरणोंने इस जनको विद्यादान देकर इसके हृदयान्धकारको दूर किया, और स.ध. सम्बन्धी शास्त्रार्थोंकी दिशाओंमें भी प्रवृत्त किया। उन गुरुवरों—

पूज्य—

विद्याभूषण श्रीपं० हीरानन्दजी शास्त्रि-महाभाग (अम्बाला)

तथा

न्यायभूषण श्रीपं० जगन्नाथजी शास्त्रि-महाभाग (भज्जर)

के श्रीचरणोंमें

यह तुच्छ पुष्पोपहार

सविनय समर्पित।

विनीत समर्पक:—
दीनानाथशर्मा सारस्वतः

★

आमुख।

श्रीभतुण्डाय नमः। परमेशान भगवान्की परम अनुकम्पासे तथा मान्य वदान्य-महानुभावोंके साहाय्यदानसे, पूज्य पितरों तथा गुरुजनोंके शुभाशीर्वादसे 'श्रीसनातनधर्मालोक'-ग्रन्थमालाका यह ९म सुमन विकसित हुआ है। आजकल प्रतिपक्षियोंकी ओरसे सनातनधर्मपर गम्भीर आक्रमण हो रहे हैं। हम न तो आक्रामक हैं, और न किसीपर आक्रमण करना ही चाहते हैं; पर जब हमपर आक्रमण किया जाता है; तब हमें आत्मरक्षार्थ उन आक्रमणोंका प्रत्युत्तर देना ही पड़ता है। हमारी उक्त ग्रन्थमाला अपने क्रमसे चल ही रही थी: पर कई प्रतिपक्षी उसे सह न सके; और उनने स.ध. पर गालीवर्षा एवं आक्षेप शुरू कर दिये। यह देखकर हमें ग्रन्थमालाके छठे पुष्पसे कुछ शैली बदल देनी पड़ी।

इस ९म पुष्पमें हमने जो विषय निर्णीत किये थे, सामने आक्रामक पुस्तकोंके आजानेसे उन सबको पूरा न करके कई विषयोंको अन्य पुष्पोंकेलिए रख देना पड़ा, और इस पुष्पमें उन आक्रामक पुस्तकोंपर प्रत्युत्तर लिखना पड़ा। फिर भी इस पुष्पमें तीन-चार पुस्तकोंका प्रत्युत्तर न आ सका। उन्हें भी १०म पुष्पकेलिए रखना पड़ गया।

इस ग्रन्थमालाका सनातनधर्मियोंपर तो प्रभाव पड़ा ही; प्रतिपक्षियोंपर भी इसका गम्भीर प्रभाव पड़ा है। उनकी संस्थाओंमें भी इस ग्रन्थमालासे हलचल मची; एतदर्थ उन्होंने कई विद्वानोंको प्रत्युत्तर देनेकेलिए मंगवाया है। कोई कुछ भी

करे, हमने भी स.ध.की सेवा यथा-तथा करनी ही है। प्रतिपक्षियोंका जो असत्यका हिमायती, स.ध.का विरोधी साहित्य अब तक प्रकाशित हो चुका है, उसे यथासमय खोखला करना ही है।

हमने गत पुष्पोंमें कई बार निवेदन किया है कि-वृत्तिके लिए हमें पढ़ानेका कार्य इतना करना पड़ता है कि-इन ग्रन्थोंको लिखनेकेलिए समय बहुत ही न्यून मिलता है। यदि मुझे निर्वाहकी चिन्तासे निर्मुक्त कर दिया जाता; और रहने और पुस्तकोंको रखनेकेलिए विशाल स्थान दिलवा दिया जाता, और ग्रन्थमालाके प्रकाशनार्थ पुष्कल द्रव्य दिलवा दिया जाता; तब हम स.ध.के विरोधी साहित्यको सर्वथा खोखला कर देते; पर हमारे सनातनधर्मियोंमें यही उदासीनता है। वे धार्मिक-साहित्यकी वृद्धिमें अपेक्षित सहयोग नहीं देते। इस कारण हमें तदर्थ प्रयत्न करना पड़ता है।

पूर्वकी भांति इस पुष्पमें भी सहायता प्रायः ब्राह्मण-पण्डितों एवं सन्त-महन्तोंने दी है। एक ट्रस्टसे भी सहायता मिली है। हमारे शिष्य श्रीजगदीशप्रसादजी शास्त्री भारद्वाजने भी भारतीय सेनाके कई जवानोंको इस ग्रन्थमालाका सहायक बनवाया है। महामण्डलेश्वर श्रीगङ्गेश्वरानन्दजी उदासीन महाराज इस बार इस ग्रन्थमालाके मान्य-सहायक बने हैं। ज.गु. शंकराचार्य श्रीज्योतिष्पीठाधीश्वर तथा श्रीशारदापीठाधीश्वर-चरणोंकी तो इस ग्रन्थमालापर सदा कृपा बनी ही रहती है। इस बार सर्व-स्वार्थोंका सर्वथा त्याग करके नये ज.गु. शङ्कराचार्य बने श्री-

गोवर्धनपीठाधीश्वर स्वा. श्रीनिरञ्जनदेवजी तीर्थ महाराजने भी इस ग्रन्थमालाके सहायक बननेकी कृपा की है। ज.गु. श्री-रामानुजाचार्य परिनिष्ठित विद्वान्-अनन्तश्री श्रीअनिरुद्धाचार्यजी महाराज भी इसके सहायक बनते ही रहते हैं, उनकी यह सुमहती कृपा है।

हमारे मानसमहारथी ब्र. श्रीप्रयागदासजी त्यागी तथा पं. भगवान्दास दिनेशकुमारजी भी पूर्ववत् सहायक बने हैं। स.ध.सं. महाविद्यालय मूंडवाके आचार्य श्रीपं. रामेश्वरजी शास्त्री भी जब-तब कई महोदयोंको प्रेरित करके सहायता भिजवाते ही रहते हैं। सबसे पूर्व इन्हीं शास्त्रीजी तथा श्रीपं. देवकृष्णजी सारस्वतकी प्रेरणा ग्रन्थमालाको इस रूपमें ले आई। स्वा. ज्ञानानन्दजी सरस्वती महाराज धमतरी भी इस बार इसके सहायक बने हैं। स्वा. श्रीमहेशानन्दगिरिजी महाराज भी सहायता देते रहते हैं, पर वे अपने नाम-प्रकाशनकी आज्ञा नहीं देते। पं. यशोदानन्दनजी शास्त्री जयतलने भी इसबार अपनी सहायता दी है। ब्रह्मचारी श्रीकृष्णशर्माजीने भी कई सहायताएं भिजवाईं। हमारी ग्रन्थमालाके संरक्षक रायसाहिब चौधरी प्रतापसिंहजी स्वयं मूल्य देकर हमारी ग्रन्थमालाको लायब्रेरियोंमें भी रखवानेकी चेष्टा करते हैं। बम्बईसे सेठ श्री झांगीरामजीकी सहायता पहले प्रायः मिला करती थी; पर वे हमें छोड़कर देवता बननेके लोभसे परलोक चले गये। अब उनके भ्राता सेठ श्रीछबीलदासजी गोर्धनदासजीने सहायता शुरू की है। उनके प्रेरक पं. श्रीतेजभानजी ग्रोवर स्वयं भी सहायता देते रहते हैं।

स्वा. श्रीविज्ञानभिक्षु (श्रीपं. चूड़ामणिजी शास्त्री) महाराज तथा श्रीविश्वम्भरदासजी महाजन तथा अन्य भी अर्थदाता बने हैं, उनके नाम अन्तिम टाईटिल-पेजपर दिये गये हैं।

इस बार प्रेसने पुस्तकके छापनेमें बहुत विलम्ब किया है, जैसे इन दिनों प्रेसने शीघ्रता की है; यदि इस प्रकार पहले भी शीघ्रता करता; तो यह पुष्प कभीका प्रकाशित हो जाता। इसका पहला फर्मा ५-५-६५ को निकला था। इन दिनों मेरे अस्वास्थ्यने भी प्रकाशनमें कुछ बाधा डाली। ऑपरेशन करानेके कारण मेरा बहुत-सा समय गया। अभी तक भी दुर्बलता दूर नहीं हो रही।

इस पुष्पमें आक्षेप्ताओंके आक्षेपोंका परिहार कर दिया गया है, इससे संशयालुओंके सन्देह मिटेंगे। अन्य गुणज्ञ विद्वानोंको इसमें सहायता देकर तथा दिलवाकर इस ग्रन्थमाला-का प्रचार करनेमें भी सहयोग देना चाहिये। यह सदाकेलिए याद रखें कि-इस ग्रन्थमालाको जो भी सहायता प्राप्त होती है, वह सब ग्रन्थमालाके प्रकाशनमें ही लगती है। उसका एक भी पैसा हम अपने काममें नहीं लगाते। अतः इसे अमूल्य कोई भी न लें। यदि कोई अधिक सहायता न दे सकें; तो इन ग्रन्थोंको बिना मूल्य न लें। ग्रन्थका मूल्य अवश्य दें। स्वयं न दे सकें; तो समर्थ सज्जनोंके द्वारा इसे सहायता अवश्य दिलवावें।

ग्रन्थमालाका प्रयोजन

यह ग्रन्थमाला इसलिए प्रकाशित की जा रही है कि-विपक्षियोंके द्वारा स.ध. पर जो कि बहुत ओछेरूपसे आक्रमण

किया जाता है, उसे विफल किया जावे। इस ग्रन्थमालाका एक तो प्रत्यक्ष फल यह निकला कि—पहले जो हमने इस महाग्रन्थ-की स.ध. विषयक लेखमाला 'सिद्धान्त' 'सन्मार्ग' आदि पत्रोंमें निकलवाई थी, स.ध.के चोटीके नेताओंने अपनी पुस्तकोंमें हमारे उन लेखोंका खूब उपयोग लिया।

अब दूसरा प्रत्यक्ष फल हमारी ग्रन्थमालाका यह हुआ है—टोंक (राजस्थान) के च.ना. मन्दिरके महन्त श्रीसीतारामदास-जीने एक कट्टर दयानन्दी जो कि छोटे-छोटे ट्रैक्ट निकाल कर बहुत ओछेरूपसे स.ध.की आलोचना करता रहता है; और अपनेको दयानन्दी-समाजका 'अप्रतिभट' मानता है, उसको पत्र-व्यवहार द्वारा पराजित कर दिया; उसकी लेखनी बन्द करा दी। महन्तजीने मुख्यतया हमारी ग्रन्थमालाको उसका कारण बताया है। बल्कि १००) देकर ग्रन्थमालाकी सहायता भी की है।

अन्य सज्जन दक्षिणके विद्वान् श्रीपद्मनाभराव हैं; वे भी हमारी ग्रन्थमालाको चावसे पढ़ते हैं, और इसके सहायक भी हैं, वे भी पत्र-व्यवहारद्वारा आर्यसमाजियोंका वेदविषयमें सिद्धान्त काटकर उन्हें चुप करा रहे हैं। पूर्वपक्षियोंका मत केवल छल और धूर्ततापर अवलम्बित होता है। यदि पाठकगण इस ग्रन्थमालाका मनोयोगद्वारा अध्ययन करेंगे, तो वे भी स.ध.के विरोधियोंको चुप करानेमें सक्षम हो सकेंगे। इस ग्रन्थमालाके गुणज्ञ श्रीपं० दुर्गादत्तजी त्रिपाठी महोदयका आत्यन्तिक वियोग हमें बहुत दुःखी किया करता है।

सहायताके नियम

इस ग्रन्थमालाके संरक्षककेलिए १०००) रु० नियत है। संरक्षकका चित्र एक बार छपता है, और नाम प्रत्येक ग्रन्थके प्रकाशनमें छपता है। सम्मान्यसहायककेलिए ५००), तथा मान्य-सहायककेलिए २५०) और साधारणसहायककेलिए १००) नियत है। पूर्वके तीनों सहायकोंके पास ग्रन्थमाला नियमसे जाती है। अर्थदान कोई जितना भी चाहे, कर सकता है। सहायता मेरे नाम विद्यालयके पतेपर भेजनी चाहिये, या लाजपतनगरमें मेरी पुत्र-वधू श्रीकिरणकान्ताके नामसे।

इस पुष्पमें अनेक शङ्काओंका समाधान दिया गया है। अधिकारी निष्पक्ष विद्वानोंसे प्रार्थना है कि—विचारमें जहां-कहीं कुछ त्रुटि दीखे, तो उस विषयमें सूचना दे दिया करें। किसी प्रश्नके उत्तरमें हमारी अपेक्षा किसी सज्जनको अच्छी सूझ स्फुरित हो; तो वे भी सूचित कर देनेका कष्ट करें।

अन्तमें सब सहायकोंको धन्यवाद देता हुआ इस 'आमुख' को पूर्ण करता हूँ और आशीर्वाद भी मांगता हूँ कि—मैं सनातनधर्मके इस प्रचारकेलिए स्वस्थ बना रहूँ।

इस बार वर्षाऋतुमें ग्रन्थ तैयार होनेसे जिल्दका खराब होजानेका डर था; अतः जिल्द नहीं रखी गई है।

श्रीव्यास-पूर्णिमा

निवेदक—
दीनानाथशास्त्री सारस्वतः
[प्रिंसिपल रामदल संस्कृत महाविद्यालय
दरीबाकलां, देहली—६]

श्रीसनातनधर्मालोक तथा ग्रन्थकारके विषयमें विद्वानोंके हार्दिक-भाव।

(१) श्रीगुरुजीका आशीर्वाद।—'मैंने 'आलोक' ग्रन्थमाला पूर्ण विचार और परीक्ष्य दृष्टिसे देखी है। जनतोद्बोधक इस मालामें स.ध. पक्ष वेदादिशास्त्रोंके आधारपर सिद्ध किया गया है। वादियोंके कुतर्कोंका युक्तियुक्त-तर्कों द्वारा निरसन किया गया है। यह माला आपके नामको सदा जीवित रखेगी। इसके पुष्पोंकी सुगन्ध लेनेसे घोर नास्तिक भी आस्तिक हो जाएँगे। पहलेके पं. ज्वालाप्रसाद वा भीमसेनजी आदिका कार्य इतना पर्याप्त न रहा, जितना इस ग्रन्थमालासे हो रहा है।

इसमें यह विशेषता भी देखी गई है कि-इसमें विपक्षियोंके आक्षेपोंका-उत्तर इस प्रकार युक्तियुक्त-तर्कों और वेदादिशास्त्रोंके प्रमाणोंद्वारा दिया जाता है कि-स.ध.के पक्षकी सत्यता ठीक जान ली जा सकती है। आक्षेपोंका उत्तर वाग्मितासे दिया जाता है। स.ध.से विमुख भी इससे स.ध.की छत्रछायामें आ सकता है। 'भूयश्च शरदः शतात्' इस वेदोक्तिद्वारा स.ध.की सेवाकेलिए आपकी आयु शतवर्षसे भी अधिक हो (श्रीजगन्नाथ-शास्त्री सारस्वत 'वेदगीता' ग्रन्थके लेखक, न्याय-विद्याभूषण)।

(२) श्रीसारस्वतजी लेखबद्धशास्त्रार्थमें इस समय सर्वोत्तम शास्त्रार्थी हैं। आर्यसमाजके बड़ेसे बड़े विद्वानोंको आप अनेक

बार परास्त कर चुके हैं। आपका बनाया 'सनातनधर्मालोक' नामक बृहद् ग्रन्थ स.ध.का विश्वकोष कहा जा सकता है। इस ग्रन्थका प्रमाणसंग्रह अभूतपूर्व है। एक ही ग्रन्थद्वारा स.ध.के अनेक विषयोंका परिज्ञान प्राप्त करनेकेलिए यह गुरुका काम देता है। भगवान् आदरणीय पं.जीको चिरजीवी करे, जिससे वे अपनी प्रतिभा द्वारा स.ध.के नये-नये साहित्यका प्रकाशन करते हुए प्रतिपक्षियोंका मुख-मुद्रण करते रहें' (शास्त्रार्थ-महारथी (पं. माधवा.शा.) पृ. ५५ में।

(३) 'आलोक'के आठों पुष्प देखकर सचमुच बड़ी ही प्रसन्नता हुई।...ये सभी ग्रन्थ स.ध.के ज्ञानकोष हैं, जिनमें हिन्दुधर्मके गूढ सिद्धान्तों, वा उनके मुख्य विषयोंका सारगर्भित निरूपण किया गया है। हिन्दीमें अब तक ऐसे ग्रन्थोंका अभाव ही था। सभी ग्रन्थ आपकी गहरी विद्वत्ता, घोर परिश्रम, विलक्षण प्रतिभा और महती सूझ-बूझके परिचायक हैं, जिनके प्रकाशनसे धार्मिक वा आध्यात्मिक जगत्का बहुत उपकार हुआ है। आपकी इस महान् सेवाकेलिए आध्यात्मिक जगत् आपका सदैव ऋणी रहेगा। स.ध.के विरोधियोंकेलिए यह ग्रन्थ मुंहतोड़-जवाब है ही, पर जो भौतिकवादी हमारे स.ध.को अवैज्ञानिक मानते हैं, उनकेलिए भी वैज्ञानिक रहस्योद्घाटन करके आपने सचमुच सोनेमें सुगन्ध कर दिया है। ऐसे उच्चकोटिके ग्रन्थोंके प्रकाशनकेलिए मैं हार्दिक साधुवाद देता हूँ। आप दीर्घजीवी हों, इसी प्रकार अपनी चमत्कारिक लेखनीद्वारा धर्मकी सेवामें संलग्न रहकर जनता-जनार्दनके आध्यात्मिक विकासमें सहायक

हों।.. (वल्लभदास बिन्नानी 'व्रजेश' कलकत्ता)।

(४) (एक प्रख्यात ग्रन्थकारकी सम्मति) 'आलोक' ग्रन्थ-मालायाः सर्वपुष्पाणि यथावत् परिशीलयतो मम अन्तरात्मा नितान्तं प्रमोदमावहत्। श्रीमतां तर्कपद्धतिं, पाण्डित्यजन्यां गवेषणासरणिं चावलोक्य कस्य विपश्चितः स्वान्तं न नितान्तं शान्तिमालभते ? सनातन-धर्मस्य तत्त्वानामाविष्करणाय इमे ग्रन्था विशदं समर्थाः प्रमापकाश्चेति को विद्वान् नहि मनुते।...(बल-देवोपाध्यायः, पुराणेतिहास-विभागाध्यक्षः, वाराणसेय संस्कृत-विश्वविद्यालयः, वाराणसी।

(५) सभी पुष्प पढ़े, अपने-अपने स्थानपर सभी श्रेष्ठ हैं। ७म पुष्पको तो पढ़ते-पढ़ते इतना तन्मय हो जाता हूँ कि-खाने-पीनेकी सुध भी भूल जाती है। यह ग्रन्थमाला वास्तवमें स.ध.का विश्वकोष वा महाभारत वा कल्पवृक्ष ही है। इन पुष्पोंकी एक महती विशेषता है कि-एक-एक शङ्काके समाधानमें कई-कई शङ्काओंका समाधान हो जाता है। नृसिंहवधका तात्पर्य, तामस-शास्त्र, गोभक्षणका तात्पर्य, नियोग और मैथुन आदिमें नवीनसे नवीन रिसर्च रखी गई है, ऐसी रिसर्च आजतक विद्वानोंने नहीं दी। यह रिसर्च शास्त्रीजीकी प्रकाण्ड विद्वत्ता, विशाल अध्ययन, तीक्ष्णसे तीक्ष्ण बुद्धि, बारीकसे बारीक सूझकी परिचायिका है। (श्रीइन्दुशेखरसिंह-एक अध्यापक)

(६)...पुराण हिन्दुसंस्कृतिका प्रधान अङ्ग हैं। इनपर देशी वा विदेशी लोगोंने जो आक्षेप किये हैं, उनका उत्तर जिस सभ्य

शैली, वा महती गवेषणासे आपने दिया है, आजतक किसीने ऐसा साहस वा परिश्रम नहीं किया। 'सारस्वतकुलभूषण' आप धन्य हैं। (श्रीगङ्गाराम रिटायर्ड अध्यापक, कादियां)।

(७) भवतामायूंषि यशांसि च वर्धन्ताम् इत्यनवरतं कामया-महे।...आप जैसे उत्साही, तपस्वी तथा धर्मप्राण मानवोंपर ही आज स.ध. कृतास्पद है।...आपकी इस प्रयत्नशीलतासे हम सन्तुष्ट हैं, परमात्मा आपको इस कार्यमें सफलता दे। (ज.गु. श्रीरामानुजाचार्य अनन्तश्रीअनिरुद्धाचार्य महाराज, डभोई।)

(८) एक आर्यसमाजीके शब्द। '...पुराणोंपर आक्षेपोंका उत्तर बन नहीं सकता। केवल लीपापोती ही की जा सकती है। उसमें पं.माध.जीकी अपेक्षा आप अधिक सफल प्रतीत होते हैं' (डा. श्रीराम आर्य, कासगंज)।

(९) बौद्ध अनेक होनेपर भी शङ्कराचार्य भगवान् एकाकी ही थे। आप अकेले ही सब नास्तिकोंके मुखस्तम्भनकेलिए पर्याप्त हैं।' (स्व. श्री दुर्गादत्तजी त्रिपाठी 'सिद्धान्त स. सम्पादक)।

(१०) आप जो कुछ लिखते हैं, उसका लोगोंपर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ता है। (श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार 'कल्याण' सम्पादक)।

(११)...आप साक्षात् सरस्वतीके अवतार हैं। इस समय सत्य 'सारस्वत' शब्द आपमें समन्वित है। आप साक्षात् जाग्रत् विद्यामूर्ति हैं। आपकी प्रकाण्ड, पूर्ण विद्वत्तासे अतिप्रसन्नता है। हमारे आत्मामें आपकेलिए अत्यादरणीय स्थान है' (श्रीदुर्गादत्त आहिताग्नि, चतुर्वेदविद्यालय, ऋषिकेश, देहरादून)।

(पुराणेतिहास-चर्चा)

(वेद-चर्चा)

(आलोचना)

(सैद्धान्तिक-चर्चा)

(परिशिष्ट)

+ इसमें बहुतसे आक्षेपों का समाधान आगया है ।

[त्रुटिपूर्ति–पृ. ४६३–२१ इसी प्रकार 'गोर्न पर्व विरदा' (ऋ. १।६१।१२) यहाँ भी श्रीसायणने 'गो' का अर्थ 'पशु' किया है। क्या वादी यहाँ 'गाय' अर्थ करेगा ?। ५३८-९ जब वे घृताचीके देखनेसे स्खलित होगये, तब ऐसे वृद्ध क्लीब-व्यक्ति स्त्री-संगमें भला समर्थ कैसे हो सकते थे ? ९९२-१७ यदि वेदमें विमान तथा तार का वर्णन आया है, तब उसमें रेडियो-टेलिवीज़न आदिका वर्णन क्यों नहीं आया, यह प्रश्न भी हो सकता है ।]

'श्रीसनातनधर्मालोक'–प्रणेता—

श्री दीनानाथ शर्मा शास्त्री सारस्वतः
विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि,
प्रिंसिपल रामदल संस्कृतमहाविद्यालय,
दरीवा कलां, देहली–६

श्रीसनातनधर्मालोकः (९)

(इतिहास-पुराण, वेद एवं सैद्धान्तिक चर्चा)

(१) मङ्गलाचरणम् ।

शर्वीशपत्नो नगजार्तिहारी कुमारतातः शशिखण्डमौलिः ।
लंकेशसम्पूजितपादपद्मः पायादनादिः परमेश्वरो नः ।१।
ॐ तत्पुरुषाय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि ।
तन्नो दन्तिः प्रचोदयात् (कृष्णयजु० तैत्तिरीयारण्यक १०।१)
'शिवा नः शन्तमा भव सुमृडीका सरस्वति !'
मा ते युयोम संदृशः (ऋ० ७।६८।३)
'सविता पश्चातात् सविता पुरस्तात्, सवितोत्तरात्तात् सविताधरात्तात् ।
सविता नः सुवतु सर्वतातिं, सविता नो रासतां दीर्घमायुः' ।
(ऋ० १०।३६।१४)
'शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु, शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु ।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु, शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः ।'
(ऋ० ७।३५।८)
श्रीसनातनधर्माविर्ऽऽलोकोऽयं सम्प्रकाशते ।
तमांस्यनेन दूरे स्युर्धर्ममर्मः स्फुटो भवेत् ।१।
पूर्वं पञ्चाप (मुल्तान) वास्तव्य इदानीं देहलीं श्रितः ।
इमं ग्रन्थं विनिर्मर्ति श्रीदीनानाथनामकः ।२।
सारस्वतस्य तस्याऽयं प्रयत्नः शास्त्रिणो महान् ।
साफल्यमेतु पूर्तिं च भगवत्कृपया भृशम् ।३।

इतिहास-चर्चा—

(२) क्या हनुमानादि वानर, नर थे ?

(१) 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाके आठ पुष्पोंके प्रकाशन-के बाद यह नवम सुमन पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत है। इसमें इतिहासचर्चा, कण्टक-शोधन, पुराण-इतिहासचर्चा, पुराणचर्चा, वेदचर्चा, सैद्धान्तिकचर्चा–यह छः स्तम्भ रखे गये हैं; तदनुकूल निबन्ध इसमें ग्रथित किये जाएँगे। पहले-पहल इतिहासका एक प्रसिद्ध विषय इसमें रखा जा रहा है कि–'क्या हनुमानादि वानर, नर थे ?'। 'आलोक'-पाठक इसे मनोयोग देकर देखें। इसमें आजकलमें उठनेवाली शङ्काओंका बहुत प्रकारसे समाधान किया जायगा।

आजकल प्रच्छन्न-बौद्ध प्रतिपक्षी जब रामायणादि इतिहास-में वर्णित किसी विषयको अपनी संकुचित बुद्धिमें प्रविष्ट होते नहीं देखते; तब पहले तो 'गप्प' वा 'प्रक्षिप्त' कहकर उसे बहिष्कृत करना चाहते हैं। फिर भी जब उससे अपना गला छूटता नहीं देखते, तब प्रकारान्तरसे उसका समाधान करनेकी चेष्टा करते हैं। उस समय वे ग्रन्थकारसे विरुद्ध निर्मूल कल्पनाएँ करनेमें भी नहीं हिचकते; आ रही हुई असङ्गतियोंका भी वे विचार नहीं करते।

(२) इस प्रकारके विषयोंमें 'हनुमानादि वानर थे, वा नर' यह भी एक प्रश्न उपस्थित होता है। इसमें वे यह कहते हैं कि–

'हनुमानादि रामके सैनिक, मनुष्य थे। वस्तुतः बन्दर नहीं थे। वनमें रहनेवाले होनेसे उन्हें उपहाससे वानर कहा जाता था। वे पशु नहीं थे, खरे-खासे मनुष्य थे। केवल नागरिक सभ्यता न होनेसे वे पशु बुलाये जाते थे। वनवासी (जंगली) होनेसे ही वे कुरूप थे। कूदने-फांदनेमें होशियार थे, इसीलिए रीछ-वानर आदि कहे जाते थे। अथवा वे वानर-नामक एक क्षत्रिय मानुषी जातिवाले थे।'

इस प्रकारकी कल्पनाएँ वे इसलिए करते हैं, क्योंकि रामायणमें वर्णित वानरोंका कर्म उनकी दृष्टिमें बन्दरोंके योग्य प्रतीत नहीं होता; परन्तु एकदेशी बुद्धि तथा कूपमण्डूक दृष्टि रखनेवाले वे लोग यह विचारनेका कष्ट नहीं उठाते कि–जैसे रामायणवर्णित उनका कार्य वानरगणसाध्य नहीं; वैसे ही उनके वर्णित कार्य मनुष्यसाध्य भी नहीं–यह विचार करनेसे स्पष्ट हो जाता है। तब फिर वे ग्रन्थकारके अभिप्रायसे विरुद्ध उन्हें मनुष्य भी क्यों कहते हैं ? इस असङ्गतिको वे क्यों नहीं विचारते ?। वे श्रीरामसेनाके रीछ-वन्दरोंको आजकलके रीछ-वन्दरोंकी तराजूसे तोलना चाहते हैं। रामायणके निर्णय-को ताकपर रखकर अपना नवीन निर्णय देते हैं कि–'वनवासी मनुष्य होनेसे इन्हें वानर कहा जाता था' पर उनकी यह धारणा नितान्त ही भ्रान्त है। हम रामायणको मथकर इस विषयमें उसके दिङ्मात्र उद्धरण देंगे।

(३) उन्हें यह स्मरण रख लेना चाहिये कि–यदि 'वनवासी'

होनेसे ही उन्हें 'वानर' कहा जाता था; तब वनवासी सब ऋषि-मुनि तथा वानप्रस्थी लोग जो कि-'वनसम्बन्धि फलादिकं राति-गृह्णाति' (हनुमान् आदि बन्दर थे या मनुष्य' पृ० १२७) वनके फल-अन्न आदि खाया करते थे, ग्राम्य अन्न-फलादि नहीं; वानर क्यों नहीं कहे गये ? १४ वर्ष वनमें रहते हुए और वनके कन्दमूल फल खाते हुए भी श्रीराम-लक्ष्मणको 'वानर' क्यों नहीं कहा गया ? और वनमें रहती हुई तथा वनमें छोड़ी गई और वहीं रहती हुई श्रीसीताको 'वानरी' क्यों नहीं कहा गया ? वनवासी होनेसे वन्य, वा वनी, वा वनवासी, वा वनेचर, वा आरण्यक तो कहा जाता है, परन्तु 'वानर' नहीं। 'वानर' यह तो पशु जातिका रूढ वा योगरूढ नाम है। इसलिए उसे अमरकोषमें मनुष्यवर्गमें न कहकर सिंहादिवर्गमें रखा गया है। तब प्रतिपक्षियोंकी पूर्व कल्पना निर्मूल है।

(४) इसके अतिरिक्त हनुमानादिको रामायणादिमें केवल 'वानर' शब्दसे नहीं कहा गया; जिससे उन्हें उपहाससे अथवा वनमें निवासवश 'वानर' कहा गया हो; वल्कि वे वानरोंके सभी पर्यायवाचकोंसे भी बुलाये गये हैं। अमरकोषके द्वितीय-काण्डमें सिंहादिवर्गके ३रे पद्यमें- 'कपि-प्लवङ्ग-प्लवग-शाखामृग-वलीमुखाः। मर्कटो वानरः कीशो वनौकाः' यह नौ नाम बन्दरोंके आये हैं। दसवाँ वन्दरोंका प्रसिद्ध नाम 'हरि' भी है, जिसे अमरकोषके ३यकाण्ड नानार्थवर्गमें 'शुकाहि-कपि-भेकेषु हरिर्ना' (१७५) कहा गया है। रामायणमें इन सभी नामोंसे उन्हें, क्वचित् नहीं, किन्तु सर्वत्र, किसी विशेष समयमें नहीं, किन्तु सभी समयोंमें, एक वार भी नहीं, किन्तु वार-वार बुलाया गया है।

हाँ, अमरकोषके अर्वाचीन होनेसे, और वाल्मीकिरामायण-के अत्यन्त प्राचीन होनेसे, उसमेंके कई नाम रामायणमें प्रयुक्त न किये गये हों, या हमारी दृष्टिसे च्युत होजानेसे हमें रामायणमें न मिले हों, यह अन्य बात है, पर उपहाससे या वनवासी मनुष्य होनेसे यह नाम नहीं रखे गये, यह आगे सम्यक्तया सिद्ध किया जायगा। उपहास वार-वार नहीं होता, नहीं तो वैरस्य हो जाता है। वार-वार 'वनवासी' कहना भी व्यर्थ वा निन्दनीय हो जाता है। पर यहाँ तो उनकी प्रशंसा ही आई है। स्वाभाविकतामें तो वार-वार वैसा कहनेसे भी वैरस्य नहीं होता।

(५) वैसे तो हनुमान् आदिके साथ उक्त नामोंका प्रयोग रामायणमें सैकड़ों वार मिलता है; पर हम विस्तारभयसे दो-दो वा तीन-तीन ही वचन देंगे। पाठक दिङ्मात्र देखें।—पहले हम आक्षेप्ताओंके आचार्य स्वा० द० जीके 'संस्कृतवाक्यप्रबोध' से एक वाक्य देते हैं—'अयं महाहनुत्वाद्धनुमान् वर्तते' यह बन्दर बड़ी ठोडी वाला होनेसे हनुमान् है' (ग्राम्यपशुप्रकरण पृ० ४४) यह वाक्य हनुमानको बन्दर सिद्ध कर रहा है। जैसाकि वाल्मी. ६।२८।१५ में हनुमान्का इतिहास है, इन्द्रके वज्रके लगनेसे हनु टूटकर वड़ी होजानेसे हनूमान नाम हुआ। नहीं तो स्वामीजी इसे किसी मानुषी प्रकरणमें रखते, ग्राम्यपशुप्रकरणमें

नहीं। अस्तु। अब 'आलोक' पाठकगण वाल्मीकिरामायणके प्रमाण देखें।

१ कपिः—'संगम्य कपि मुख्येन' (किष्किन्धा. २।१२) 'कपिः''' हनुमान्' (२।२६) 'कपिरूपं परित्यज्य हनूमान् मारुतात्मजः' (३।२) इन स्थलोंमें हनुमान्‌केलिए बन्दरके प्रथमपर्यायवाचक 'कपि' शब्दका प्रयोग है।

२ प्लवङ्गमः—'तौ त्वया (हनुमता) प्राकृतेनेव गत्वा ज्ञेयौ प्लवङ्गम !' (कि. २।२४) हनूमन्तं प्लवङ्गमम्' (३।४३) 'अहं हि मातङ्गविलासगामिना प्लवङ्गमानामृषभेण धीमता' (२४।४०) यहाँपर हनुमान् आदिकेलिए 'प्लवङ्गम' शब्दका प्रयोग है, जो बन्दरका दूसरा पर्यायवाचक है। व्याकरणानुसार विहङ्ग-विहङ्गमकी भांति प्लवङ्ग-प्लवङ्गम दोनों शब्द बनते हैं।

३ प्लवगः।—'हनुमान् प्लवगोत्तमः' (कि. ४।३) 'सुग्रीवः प्लवगाधिपः' (२।५) तं दृष्ट्वा प्लवगं' (१।८१) इन स्थलोंमें हनुमानादिकेलिए 'प्लवग' शब्द आया है, जो वन्दरका ही ३रा पर्यायवाचक है। श्रीबाणभट्टके हर्षचरितमें सुग्रीवका नाम श्लेषालङ्कारमें 'प्रवरसेन' आया है—प्रवे—प्लवने रसो—रागो येषां ते प्रवरसाः, प्लवङ्गा वानराः—तेषामिनः—स्वामी। सो उसे भी सुग्रीव तथा उसकी सेना बन्दर इष्ट है, तभी तो उसने 'कपिसेनेव सेतुना' लिखा है, 'कपि' बन्दर का नाम होता है, वनवासी मनुष्यका नाम नहीं।

४ शाखामृगः।—'अहो ! शाखामृगत्वं ते व्यक्तमेव प्लवङ्गम !' (कि. २।१७) 'ततः शाखामृगाः सर्वे, (२।१०) 'शाखामृग श्रेष्ठौ' (१।१६३) यहाँ सुग्रीव-हनुमानादिकेलिए वन्दरका क्रम-प्राप्त ४र्थ पर्यायवाचक 'शाखामृग' शब्द आया है। कोई मनुष्य-जाति बानर वा उसके पर्याय-वाचकोंसे नहीं कही जाती। 'शाखामृग' के 'मृग' शब्दसे पशु होना स्पष्ट है। मनुष्य मृग, वा 'शाखामृग' नहीं कहा जाता।

(ख) जो लोग इसमें दृष्टान्तस्वरूप नाग, सर्प, सर्पसत्र आदि-में जनमेजयका 'एक मनुष्य जातिविशेषोंसे युद्ध' अर्थ बताते हैं, यह सब उनकी निर्मूल कल्पनामात्र हैं, नहीं तो वहाँ उसके पर्यायवाचक 'भुजङ्ग, भुजङ्गम, भुजग, सर्प आदि न होते। जो इसमें 'मत्स्यराज विराट' आदि मनुष्य जातिका उदाहरण देते हैं, यह उनका विषम उपन्यास हैं। यह तो अवश्य एक देशका, नाम था—यह मछलीवाचक नहीं। नहीं तो इन बन्दरोंकी तरह उसके पर्यायवाचक मीनपति, झषपति आदि भी आते, पर नहीं आते। इसी प्रकार कहीं 'वत्स' देश आया है, वहाँ भी 'वछड़ा' अर्थ नहीं, क्योंकि—उसके पर्यायवाचक नहीं दिये गये; पर रामायणादिमें तो वानरादिके पर्यायवाचक आये हैं। तब विषम दृष्टान्त होने से यहाँ उनकी बात नहीं घटती।

(ग) हाँ, मनुके साथ जहाँ 'मत्स्य'का वर्णन आता है, वहाँ विशेष मछली ही गृहीत होती है, क्योंकि वहाँ उसके पर्यायवाचक देखे जाते हैं। मनुस्मृति (७।१९३) पद्यमें 'कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च' यहाँ बहुवचन तथा अन्य देशोंका साहचर्य भी देशका नाम बता

रहा है, अतः यह वादियोंका दृष्टान्त भी विषम है।

(घ) भविष्य-पुराणमें 'गुरुण्डा वानराननाः' से भविष्यद्वारा अंग्रेजोंको 'वानरानन' कहा है, वानर कहीं नहीं कहा; अतः यह वादियोंका दृष्टान्त भी विषम है। अब भी प्रायः अंग्रेजोंका मुख वानरोंकी भांति मालूम होता है। पर वे वानर नहीं कहे जाते। इसी प्रकार महाभारतमें 'विडालाक्ष' एक राजा है। यहाँ उसे बिल्लेकी भांति आंखों वाला तो कहा है, ऐसे तो आजकल भी मिलते हैं; पर उसे बिलाव जाति वाला नहीं कहा, वा नहीं कहा जाता; और फिर यह नाम है। हाँ, आजकल कई नाग जातिके पुरुष कहे जाते हैं; वे अवश्य यहाँ मनुष्य हैं। इसका प्रमाण यही है कि—उनके साथ उनके पर्यायवाचक 'सर्प, भुजङ्ग' आदि नहीं कहे जाते। श्रीहरदयाल नाग, कलकत्ताके डा० कालीदास नाग आदि कभी सर्प वा फणी, सांप वा वैसी आकृतिसे नहीं कहे जाते; पर रामायणमें वानरोंको उनके सभी पर्यायवाचकोंसे तथा वैसी आकृति, वैसी प्रकृतिसे वर्णित किया गया है; अतः यहाँ दृष्टान्त-दार्ष्टान्तके वैषम्यवश इन दृष्टान्तोंके देने वाले प्रतिपक्षियोंका पक्ष निराधार है। कहीं भी कोई मनुष्य जाति, चाहे वह वनवासी हो, कपि, प्लवङ्ग, प्लवग, शाखामृग आदि नामसे नहीं कही गई। अब 'आलोक' पाठक क्रम-प्राप्त वानरका ५वां पर्यायवाचक 'वलीमुख' शब्द रामायणमें प्रयुक्त देखें।

५ वलीमुखः।—'यावन्न लङ्कां समभिद्रवन्ति वलीमुखाः पर्वतकूटमात्राः। दंष्ट्रायुधाश्चैव नखायुधाश्च' (युद्ध. १४।३) 'समुत्पत्य

वलीमुखाः' (२०।३१) यहां पर वन्दरोंको उनके पर्यायवाचक 'वलीमुख' नामसे कहा गया है। यदि यह यहां मनुष्य-जाति इष्ट होती; तो यहाँ वन्दरका पर्यायवाचक न दिया जाता। यदि कहीं आजकल किसी मनुष्य जातिका 'वानर' यह नाम आता भी हो, तथापि वहां उसके पर्यायवाचक कपि, वलीमुख आदि नहीं आते; और उसे 'वन्दर' भी नहीं कहा जाता। परन्तु रामायणमें वानरके सभी पर्यायवाचक तथा उनके नखायुध-दंष्ट्रायुध आदि चिह्न एवं पशुत्व आ जानेसे यहाँ कोई मनुष्य जाति सिद्ध न हुई; तब प्रतिपक्षीका पक्ष निर्मूल हो गया, क्योंकि मनुष्य नखायुध वा दंष्ट्रायुध नहीं होते।

(ख) अब और भी देखिये।—वादीको हमने 'प्रतिपक्षी' कहा है। यहां हमने भी उसे पक्षी जाति वाला नहीं बताया। यदि वैसा इष्ट होता; तो हम उसे प्रतिविहङ्ग, 'प्रतिखग' आदि पर्यायवाचकोंसे कहते; पर नहीं कहते; तब रामायणके जाम्बवान आदि रीछ, हनुमानादि वानर, जटायु आदि पक्षियोंके जिनके प्रायः सभी पर्यायवाचक रामायणमें आये हैं; उन्हें मनुष्य बनाने की प्रतिपक्षियोंकी कल्पना विषम दृष्टान्त होनेसे कट गई।

६ मर्कट—वन्दरके छठे पर्यायवाचक 'मर्कट' शब्दका प्रयोग हमें रामायणमें नहीं मिला। या तो हमारी दृष्टिसे च्युत हो गया हो, अथवा यह शब्द कदाचित् अर्वाचीन होनेसे प्राचीन रामायणमें उस कालमें प्रयुक्त न होता हो। जैसे 'पिङ्ग' यह वन्दरका नाम (कि. २६।२५ आदि स्थलोंमें) मिला है, पर

आजकलके कोषोंमें प्रायः प्रयुक्त नहीं। यदि उस समय 'मर्कट' शब्द वानरोंकेलिए प्रयुक्त हुआ करता, तो वाल्मी०में वानरोंके अन्य नामोंकी भांति यह नाम भी अवश्य मिलता, परन्तु 'नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि' की प्रतिज्ञा करनेवाले गो० तुलसीदासने अपने 'मानस'में 'पुनि जाइ पुकारे प्रभु 'मर्कट बल भूरि' इत्यादि स्थलोंपर उसका प्रयोग किया है। यह अक्षयकुमारके मरनेके वाद राजपुरुषोंने रावणको कहा है। 'धावहु मर्कट विकट वरूथा' (लङ्काकाण्डके १ दोहेकी चौपाई ५) में भी प्रयोग मिलता है।

७ वानरः —'वानर' शब्द जो वन्दरका ७वां प्रसिद्ध पर्याय-वाचक है, रामायणमें स्थान-स्थान पर मिलता है। हरयो वानर श्रेष्ठं परिवार्योपतस्थिरे' (किष्कि. २।८) 'अहं सुग्रीवसचिवो हनूमान नाम वानरः' (३४।३८) यह आगन्तुक श्रीरामके आगे हनुमान्ने अपना परिचय दिया है। वानर कामरूप (इच्छानुकूल किसी भी रूपके वनानेकी शक्ति वाले) होनेसे मनुष्यका आकार भी धारण कर लेते थे; तभी हनुमान्ने ब्राह्मण-मनुष्यका रूप धारण कर लिया, जिसे श्रीवाल्मीकिने कहा है—'कपिरूपं परित्यज्य ···भिक्षुरूपं ततों भेजे' (किष्कि. ३।२) तभी गो.तुल.के मानसमें श्रीरामने उसे 'विप्र' कहा है। ब्राह्मण-मनुष्य समझनेसे श्रीरामने (कि. ३।२८-२९ में) उसे 'वेद-वेदाङ्गोंका पण्डित' कहा है।

(ख) उस समय कामरूप होनेसे हनुमान्ने राम-लक्ष्मणका परिचय पानेकेलिए वन्दरकी आकृति हटाकर ब्राह्मण-मनुष्य की

आकृति कर रखी थी, तब उसमें प्रतिपक्षीका यह कहना कि— "(१) यदि हनुमान्जीकी आकृति वन्दरोंजैसी थी, तो ब्राह्मणका भिक्षुक-जैसे वस्त्र पहन लेनेसे वह आकृति कभी छुप नहीं सकती। फिर रामजीने आकार-प्रकारसे उसे ब्राह्मण कैसे समझा ? (२) यदि मनुष्यकी आकृति हनुमानकी नहीं थी, तो श्रीरामसे यह कहनेकी आवश्यकता क्यों हुई कि—'मैं हनुमान नाम वानर हूँ' (हनुमानादि वानर. पृ. १०२-१०३) यह आक्षेप कट गया. और व्यर्थ भी सिद्ध होगया, तभी तो हनुमान्-द्वारा राम-लक्ष्मणका परिचय प्राप्त होजानेपर फिर आगे 'भिक्षुरूपं परित्यज्य वानरं रूपमास्थितः' (कि. ४।३४) उस भिक्षु-मनुष्यका रूप छोड़कर हनुमान्का अपना स्वाभाविक वानररूप धारण कर लेना लिखा है। केवल वस्त्र पहरनेके भेदसे वन्दरकी ब्राह्मणता नहीं जानी जा सकती थी। न यह हम कहते हैं, न ही रामायण कहती है; यह तो वादीका लटका है, वहाँ वैसा वेष करना नहीं लिखा, किन्तु सारा रूप करना लिखा है। भिक्षुका भी रूप तथा वानरका भी रूप करना रामायणमें लिखा है, वेष नहीं। इससे वादीके सभी तर्क खण्डित होगये। हनुमान् आदिकी वानररूपता सिद्ध होगई।

(ग) जो कि कहा जाता है कि—'यदि वन्दरको भी श्रीराम पहचान न सके; तो श्रीरामकी सर्वज्ञतापर दोष आता है', यह प्रतिपक्षीकी वात तो व्यर्थ है। श्रीराम तो वास्तविकता जानते हुए भी सर्वत्र अनजान-से बनकर लीलामात्र कर रहे थे। जैसे कि

वाल्मी.रा.में रामावतार धारण करते हुए विष्णु-भगवानकेलिए 'जानन्नपि' (जानते हुए भी) कहा है—'ततो नारायणो विष्णुर्नियुक्तः सुरसत्तमैः। जानन्नपि सुरान् एवं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत्। उपायः को वधे तस्य' इत्यादि (१।१६।१-२-३) देवीभागवतमें भी कहा है—'सर्वज्ञोपि हृतां मत्वा रावणेन दुरात्मना' (४।२०।५०) अज्ञवद् विचचारासौ पश्यमानो वने-वने। जानकीं न विवेदाथ रावणेन हृतां बलात्' (४।२५।१२) यहां स्पष्ट कर दिया गया है कि श्रीराम सर्वज्ञ होते हुए भी अज्ञताका नाटक खेल रहे थे। जैसे कि अन्यत्र कहा है—'तथापि मानुष देहमाश्रितः परमेश्वरः। कृतवान् मानुषान् भावान्' (५।१।१३) मानुषं जन्म संप्राप्य गुणाः सर्वेपि मानुषाः' (४।२५।७) (घ) तब प्रतिपक्षीका यह लिखना कि—'बन्दर ब्राह्मणोंवाला वेष बनाकर जावे, तो उसे 'कपिराजाय नमो नमः' कहते, यह व्यर्थ है। ब्राह्मणोंवाला वेष नहीं; किन्तु रूप भी ब्राह्मण-मनुष्यवाला कर रखा था। उस समय पूछ आदि कुछ भी वानरत्वका लिङ्ग नहीं रखा गया। अणिमा आदि आठ ऐश्वर्योंको स्वतःसिद्ध रखनेवाले देवताओंके अवतार वानरोंमें ऐसा करना असम्भव भी नहीं; क्योंकि—वे देवावतार एवं कामरूप थे; उस समय मनुष्याकृति ब्राह्मण बनकर गये थे; अन्य तो सैकड़ों स्थानोंमें उन्हें 'कपि' कहा ही है। (ङ) श्रीरामकेलिए एक व्यवहार करना चाहिये था, 'मनस्यन्यद् वचस्यन्यद्' वाला व्यवहार नहीं" यह वादीका कहना भी गलत है। नाटकमें स्त्रीपात्र बने हुए भी पुरुषको अपना पुरुषपन प्रकट नहीं करना

पड़ता। इसीका नाम 'लोकलीलावत्ता' होता है। तभी तो वहाँ हनुमान्का 'भिक्षुरूपं परित्यज्य वानरं रूपमास्थितः। पृष्ठमारोप्य तौ वीरौ जगाम कपिकुञ्जरः' (कि. ४।३४) रामका पता लग जानेसे मनुष्यभिक्षुका वेष नहीं, किन्तु रूप छोड़कर फिर हनुमान्का अपना वन्दरवाला वेष भी नहीं, किन्तु वन्दरवाला रूप करके राम-लक्ष्मणको अपने कन्धेपर उठा ले जाना कहा है, पर प्रतिपक्षी इन पद्योंको छिपा दिया करते हैं, क्योंकि-इनसे उनका पक्ष खण्डित होता है।

'वानरोऽहं महाभागे ! दूतो रामस्य धीमतः' (सुन्दर. ३६।३) यहाँ भी सीताको हनुमान् अपनेको रामका दूत 'वानर' कह रहा है। 'सत्यं राक्षस ! राजेन्द्र ! शृणुष्व वचनं मम। रामदासस्य दूतस्य वानरस्य विशेषतः' (५।५१।३८) यहाँपर भी रावणको अपना वानर होना बताया जा रहा है। इसपर रामाभिराम (तिलक) टीकाने लिखा है—'स्वस्य नर-रक्षोऽतिरिक्त-जात्यन्तरत्वेन अपक्षपातो न्याय्य-वक्तृत्वं च सूचितम्' अर्थात् मैं न मनुष्य हूँ, न राक्षस, किन्तु इनसे भिन्न जातिवाला वानर हूँ; अतः मेरा वचन निष्पक्ष होगा। यहां भी हनुमान्की वानर होनेकी स्पष्टता है।

८ कीशः—'कीश' शब्द वाल्मी.में नहीं मिला। इससे वाल्मी. रा.की प्राचीनता सिद्ध हो रही है। यह शब्द कदाचित् पीछे चालू हुआ हो। कोषकार सामयिक शब्दोंका भी प्रयोग कर दिया करते हैं। इस शब्दकी व्युत्पत्ति है-'कः-वायुः, तस्य

अयमिति किः ('अच इः' (पा. ४।१।६५) स किः-हनुमान् ईशो-ऽस्य स कीशः-वानरः'। हनुमान्के पक्षमें इसकी व्युत्पत्ति यह होगी-'की इति शब्दमीष्टे कीशः' (मूलविभुजादित्वात् कः)। वाल्मी.रा.के भाष्यकार गो. तुलसीदासने 'कहु लंकेस कवन तैं कीसा' यहाँ 'कीश' शब्दका प्रयोग किया है—रावण अङ्गदको कहता है-हे कीश-वन्दर ! तू कौन है, अपना परिचय दे।

९ वनौकस्—'त्वद्गतानि च सर्वेषां जीवितानि वनौकसाम्' (किष्कि. ६७।३५) 'वनौकसा (हनूमता)' (सुन्दर. ३२।१४) इत्यादि स्थलोंमें 'वनौकस्' शब्दका श्रीवाल्मीकिने प्रयोग किया है, जो बन्दरोंकेलिए योगरूढ है'। 'स्नेहादरण्यौकसः' शाकुन्तलमें कण्वमुनिने अपनेको 'अरण्यौकाः' कहा है, पर वे मनुष्य होनेसे 'वानर' न तो कभी कहे गये, न माने गये। इसलिए रामायणमें वानर बन्दर ही थे, मनुष्य नहीं।

१० हरिः—'हरिश्रेष्ठ !' (सुन्दर. १।११०) (किष्कि. ४४।१३) 'हरिश्रेष्ठः' (सुग्रीवः) (किष्कि. ६७।३५) इत्यादि स्थलोंमें हनुमान् आदिकेलिए 'हरि' इस बन्दरके प्रसिद्ध दशम पर्यायवाचक 'हरि' शब्दका प्रयोग किया गया है।

(६) इस प्रकार जब हनूमानादि सिंहादिवर्गस्थित वानरपशु जातिके दस पर्यायवाचकोंसे बार-बार बुलाये गये हैं, तब स्पष्टतया वे वानर (बन्दर) सिद्ध हुए। 'वा-किञ्चिद् नरो वानरः' यह शब्द श्रीरामादि नरोंकेलिए कहीं भी नहीं आया; वनवासी-मनुष्योंकेलिए भी कभी नहीं आता; क्योंकि-वे 'किञ्चिद् नर'

न होकर 'खरे-खासे नर' होते हैं। पर बन्दरोंको तो 'कुछ मनुष्य' अर्थात् मनुष्य-सदृश होनेसे 'वानर' कहना ठीक ही है। इन दस नामों वाली मनुष्य-जाति तो चाहे वह वनवासी क्यों न हो, आकृति-व्यङ्ग्या न होनेसे 'आकाशका फूल' है, कछवी-का दूध है, खरगोशका सींग है, वालूकी दीवार है, कछवेका रोम है, कौवेका दाँत है, वालूका तेल है, साँपका कान है, बाँझका लड़का है, गन्धर्वोंका नगर है, मृगतृष्णाका पानी' है। राम सैनिकोंकी वानररूपतामें रामायणमें इतने प्रमाण हैं, जिन्हें हमने अपनी रामायणमें चिह्नित कर रखा है, यदि हम उन सबका संग्रह करें; तो 'श्रीसनातनधर्मालोक'का एक वड़ा पुष्प उन्हींसे भर जाय, और उन्हें मनुष्य सिद्ध करना चाहते हुए वादियोंको 'शतचन्द्रं नभस्तलम्' दीखने लगे। पर हम स्थानाभाववश 'स्थालीपुलाक' न्यायसे थोड़े प्रमाणोंको दे रहे हैं। 'आलोक' पाठक सावधानतासे उनका मनन करें।

'हम जो कहा यह कपि नहिं कोई। वानररूप धरे सुर कोई' (मानस. सुन्दर. २५ दोहेके वाद) इसमें भी उनका मनुष्य-वेष न वताकर वानररूप कहा है। तब 'वनवासी होनेसे वे वानर थे' यह प्रतिपक्षियोंकी वात उनकी अपनी कपोलकल्पनासे अधिक मूल्य नहीं रखती। यह उनका नया, परन्तु जङ्ग खाया हुआ इसीलिए निकम्मा यन्त्र है। 'वनवासी' होनेसे उन्हें 'वानर' कहा जावे, तो 'तौ शोणिताक्तौ युध्येतां वानरौ वनचारिणौ' (वाल्मी. ४।१६।३०) यहाँ सुग्रीव एवं वालीकेलिए 'वानर' और

'वनचारी' शब्दोंमें पुनरुक्ति दोष अनिवार्य होता। अलग ग्रहण करनेसे वानर—यह पशुजातिमें रूढ शब्द सिद्ध है।

(७) अब 'आलोक' पाठकगण अन्य भेदक शब्द भी देखें। 'एवमेकान्तसंपृक्तौ ततस्तौ नर-वानरौ' (कि. ७।२४) इस प्रकार बहुत स्थलोंमें श्रीरामको 'नर' और सुग्रीवको 'वानर' कहा गया है। दोनों वनवासी थे। यदि श्रीवाल्मीकिमुनिको यह दोनों, प्रतिपक्षियोंके अनुसार मनुष्य इष्ट होते; तो नर-वानर यह भेद करनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। दोनोंके वनवासी होनेसे (जैसेकि रामकेलिए भी 'वनगोचरः' (६।११३।६)शब्द आया है) समान ही 'वानर' शब्दका प्रयोग हो जाता, वा दोनोंको 'नर' होनेसे उन्हें 'नर' कहा जाता। एक को मनुष्य तथा दूसरेको उसके मुकाबलमें 'वनवासी' नहीं कह सकते, वानर ही कहना न्याय्य एवं सङ्गत हो सकता है। क्योंकि जातिकी प्रतिद्वन्द्विताम़ें जातिशब्द ही रखा जाता है। 'वनवासी' जातिशब्द नहीं। इससे अत्यन्त ही स्पष्ट है कि-श्रीवाल्मीकिको वानर नरोंसे भिन्न योनिवाले ही इष्ट थे। नहीं तो वे वनवासी होनेसे रामको भी 'नर' न कहकर 'वानर' ही कहते; पर नहीं कहा गया; अतः प्रतिपक्षियोंकी एतद्विषयक युक्ति निर्मूल है।

(८) 'तौ आसीनौ ततो दृष्ट्वा हनूमानपि लक्ष्मणम्। शालशाखां समुत्पाट्य विनीतमुपवेशयत्' (४।८।१४) यहाँ पर शालवृक्षकी शाखा उखाड़कर बैठानेसे हनूमानकी बन्दरोंवाली प्रकृति स्पष्ट होनेसे उनकी वानरता प्रत्यक्ष है। नहीं तो यदि वे मनुष्य होते; तो कुर्सी वा चौकी रखते।

(९) 'संस्तूयमानो हनुमान् व्यवर्धत महाबलः। समाविध्य च लाङ्गूलं हर्षाद् बलमुपेयिवान्' (कि. ६७।४) यहाँ हनूमान्‌का पूँछ फटकारना भी दिखलाया गया है; क्या मनुष्यकी पूँछ भी हुआ करती है ?। स्पष्ट है—उसे बन्दर बताया गया है। श्रीसातवलेकरजी जो कि-इस पुच्छके विषयमें नई कल्पना किया करते हैं; उसपर अन्तमें विचार होगा। इसी प्रकार 'तस्य लाङ्गूलमाविद्धमतिवेगस्य पृष्ठतः' (सुन्दर. १।३२,१।५६) स्फोटयत्यतिसंरब्धो लाङ्गूलं च पुनः पुनः। यस्य लाङ्गूलशब्देन स्वनन्ति प्रदिशो दश। एष···युवराजोऽङ्गदो नाम' (युद्ध. २६।१६-१७) यह सारण राक्षस अङ्गद-वानरका वर्णन कर रहा है। 'यस्य वाला बहुव्यामा दीर्घ-लाङ्गूलमाश्रिताः' (२७) यहांपर एक वानरके पूँछके बाल बताये गये हैं। इसी प्रकार २७।२ आदि बहुत स्थलोंपर वानरोंकी पूँछ स्पष्ट है। 'हनूमानपि तेजस्वी···क्षितौ आविध्य लाङ्गूलं' (५।४२।३०) 'हनूमान् मारुतात्मजः। पुच्छम् आस्फोटयामास (३१) 'ननाद सुमहानादं लांगूलं चाप्यकम्पयत्' (५।५७।१७) इत्यादि रामायणीय पद्योंमें हनुमान् आदिके पूँछ फटकारनेसे उनका वानरत्व स्पष्ट है।

(१०) कई लोग कदाचित् सन्देह करें कि—हनुमान्‌की पूँछ शायद वास्तविक न होकर आलङ्कारिक हो, परन्तु वे अपना सन्देह दूर करनेकेलिए वाल्मी. रा.में वर्णित पूंछकी घटना देखें, जिससे लङ्कादाह हुआ। 'कपीनां किल लांगूलमिष्टं भवति

भूषणम्। तदस्य दीप्यतां शीघ्रं तेन दग्धेन गच्छतु' (सु. ५३।३) यह हनुमानकेलिए रावणने कहा था कि—बन्दरोंको अपनी पूंछ बहुत प्यारी एवं उनकी भूषणस्वरूप होती है। इसकी उस पूंछको जला दो, तब राक्षसोंने भी वैसा किया। इससे हनुमान्-की पूंछका वर्णन स्वाभाविक हैं, कृत्रिम वा आलङ्कारिक नहीं। किन्हीं भी वनवासी मनुष्योंकी न तो पूछ होती है, और न उनकी इष्ट भूषण ही होती है। अब पाठकगण राक्षसों-द्वारा हनुमान्की पूंछका जलाना देखें—

(ख) 'तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राक्षसाः कोपकर्कशाः। वेष्टन्ते तस्य लागूलं जीर्णैः कार्पासिकैः पटैः' (५३।६) ततस्तस्य वचः श्रुत्वा मम पुच्छं समन्ततः। वेष्टितं शणवल्कैश्च पटैः कार्पासिकैस्तथा' (५।५८।११२) यहाँ पर हनुमान् अपने पुच्छ-दहनका वृत्तान्त सुना रहा है। 'संवेष्टयमाने लाङ्गूले व्यवर्धत महाकपिः' (५।३७) (जब पूंछमें पुराने चीथड़े बांधे जा रहे थे, तब हनुमान्ने अपने-आपको बड़ा बना लिया।) लांगूलेन प्रदीप्तेन राक्षसान् तान् अताडयत्' (८) दीप्यमाने ततस्तस्य लाङ्गूलाग्रे हनूमतः' (२२) हनूमज्जनकश्चैव पुच्छानलयुतोऽनिलः (वायुः) (२८) यहां पर हनुमान्का पिता वायु वतलाया गया है; इससे जो कि वादी लोग उसे मनुष्य बतानेकी चेष्टा करते हैं; उनका खण्डन हो गया; उसमें कोई सङ्गति भी नहीं लगती। इसी प्रकार 'अञ्जलिं प्राङ्मुखं कुर्वन् पवनायात्मयोनये' (५।१।६) यहां भी पवनको हनुमान्का योनि (कारण) बताया गया है; भिन्न-भिन्न पर्यायवाचक (अनिल, पवन, वायु आदि) उसे वायु देवता बता रहे हैं। अतः प्रति-पक्षियोंका पक्ष असंगत हो जाता है; वहां क्या उसका मनुष्य पिता बैठा हुआ था?

'दह्यमाने च लाङ्गूले चिन्तयामास वानरः' (५३।२६) शिशि-रस्येव सम्पातो लांगूलाग्रे प्रतिष्ठितः (३०) यो ह्ययं मम लांगूले दीप्यते हव्यवाहनः' (५४।५) प्रदीप्तमग्निमुत्सृज्य लांगूलाग्रे प्रतिष्ठितम्। ननाद हनुमान् वीरो' (५४।२०) इहागतो वानररूप-धारी रक्षोपसंहारकरः प्रकोपः' (३६) लङ्कां समस्तां सम्पीड्य, लाङ्गूलाग्निं महाकपिः। निर्वापयामास तदा समुद्रे हरिपुङ्गवः (५४।४६) न मे दहति लांगूलं कथमार्यां प्रधक्ष्यति (५५।२६) इस प्रकरणमें पूंछसे प्यार करनेसे हनुमान् स्पष्ट वानर सिद्ध होते हैं, नर नहीं। नरकी पूंछ नहीं होती। राक्षसों द्वारा हनूमान्को वानररूपधारी काल बताया गया है। यहाँ पर 'वानरवेष' नहीं दिखलाया गया है, किन्तु वानर-रूप दिखलाया गया है। यहाँ स्वाभाविक वर्णन है, कृत्रिम नहीं। वनवासी मनुष्योंकी पूंछ भी नहीं होती, और पूंछ उनका इष्ट भूषण भी नहीं होती। यह पुच्छलीला स्पष्टतया हनुमान्की वानरताकी ही परिचायक है।

(११) केवल रामायणमें ही हनुमान्को वानर वा पुच्छयुक्त नहीं बताया गया है; बल्कि महाभारतमें भी कहा गया है—'विज्ञाय हनुमान् कपिः' (वनपर्व १४६।६५) महाकायो हनूमान् नाम वानरः' (६६) आस्फोटयच्च लाङ्गूलम् इन्द्राशनिसमस्वनम्' (७०) यहां हनुमानका पूंछ फटकारना लिखा है। 'तस्य लाङ्गल-

निनदं' (७१) लाङ्गूलास्फोटशब्दाच्च' (७२) स लाङ्गूलरवः' (७३) यहाँ पूंछ फटकारने का शब्द लिखा गया है। 'लाङ्गूलेनोर्ध्वगतिना ध्वजेनेव विराजितम्' (७८) यहां पर पूंछका ऊपर उठाना लिखा है, जो गाय-भैंस आदिकी भांति बन्दरोंका भी स्वाभाविक होता है, मनुष्योंका कभी नहीं हो सकता।

हनूमानुवाच—'वानरोऽहम्' (१४७।५) 'रामायणेति विख्यातः श्रीमान् वानरपुङ्गवः' (११) प्रसीद नास्ति मे शक्तिरुत्थातुं जरयाऽनघ! ममानुकम्पया त्वेतत् पुच्छमुत्सार्य गम्यताम्' (१६) हनूमान् भीमसेनको कहता है कि मेरी पूंछ हटाकर चले जाओ। रामायणकालके हनुमान् चिरजीवी होनेसे महाभारतकालमें भी दीख रहे हैं। 'पुच्छं प्रगृह्य तरसा' (१८) परन्तु महाबलवान् भी भीमसेन हनुमान्‌की पूंछको न हिला सका। 'नाशकच्चालयितुं भीमः पुच्छं महाकपेः [हनूमतः]' (१६) यत्नवानपि तु श्रीमान् लाङ्गूलोद्धरणोद्धुरः। कपेः पार्श्वगतो भीमस्तस्थौ व्रीडानताननः' (१४८।११) इससे भीमसेन लज्जित हो गया। इन महाभारतके पद्योंमें हनुमान्‌की पूंछका वर्णन होनेसे और कपि, वानर आदि कहनेसे हनुमान् बन्दर ही थे, जंगली मनुष्य नहीं; यह सिद्ध हो गया।

(ख) यदि प्रतिपक्षी डार्विनके अनुयायी हों; उनके मतमें मनुष्योंका मूल यद्यपि वानर हो सकते हैं; तथापि वर्तमान मनुष्य उनके मतमें भी पुच्छ-रहित हैं, परन्तु रामायण-महाभारतमें उनकी पुच्छका वर्णन होनेसे वे वर्तमान-मनुष्य सिद्ध

न हुए। कई मद्रासी अब्राह्मण कहते हैं कि—यह वानर द्रविड़ लोग वा अनार्य थे, उनके उपहासकेलिए उनकी पूंछ रामायणादि आर्यसाहित्यमें जोड़ दी गई है: पर यह ठीक नहीं। यदि श्रीवाल्मीकिको हनुमानादिकी अनार्यता सिद्ध करना वा उनका उपहास करना इष्ट होता, तो उन्हें रामायणके श्रेष्ठ पात्रोंमें स्थान न दिया जाता; और उन्हें 'आर्य' (कि. २५।३०) न कहा जाता। वस्तुतः शङ्काकर्ताओंके मस्तिष्कोंको पाश्चात्त्य वा अनार्य लोगोंने खरीद रखा है, जिससे स्थान-स्थानपर उन्हें विपरीत शङ्काएँ घेरे रहती हैं।

(१२) स्वा.द.जीसे सम्मानित शुक्रनीतिमें भी हनुमान-द्वारा लङ्काकी अशोक-वाटिकाके तोड़नेके सङ्केतमें हनुमानको वानर सिद्ध किया है—'रावणस्य च भीष्मादेर्वनभङ्गं च गोग्रहे। प्रातिकूल्यं तु विज्ञातमेकस्माद् वानराद्, नरान्' (१।५६) यहाँ वानरसे रावणके वन (अशोकवाटिका) के भङ्गकी कथासे हनुमानका सङ्केत है, क्योंकि—उसीसे उसका सम्बन्ध है। और भीष्मका विराटके गोग्रहणमें 'नर' अर्जुनसे पराभवका वृत्त सङ्केतित है। इससे हनुमानका नरसे भिन्न वानर होना स्पष्ट सिद्ध होगया।

(१३) निकुञ्च्य कर्णौ हनुमान उत्पतिष्यन् महाबलः' (सुं. १।३६) यहाँ हनुमानका उछलनेके समय कान सिकोड़ना उसका वानरत्व बता रहा है, मनुष्यमें उछलनेके समय कान सिकोड़ना असम्भव है। प्रतिपक्षियोंके पक्षकी रीढ़की हड्डी इससे टूट गई। सौ वर्ष लगाकर भी वे कभी मनुष्योंका कान सिकोड़कर

उछलना सिद्ध नहीं कर सकते। जब ऐसा है; तो वे किस मुंहसे हनुमानादिको मनुष्य सिद्ध करनेकी निर्मूल चेष्टा किया करते हैं।

ऐसे प्रमाणोंको तो वे छिपा दिया करते हैं। बाहरी बातें कि-'अजी, उनके मकान थे; वे वस्त्र पहनते थे, उनके पलंग थे, सोनेके गहने पहरते थे'-यह बताकर वे उन्हें मनुष्य सिद्ध करनेकी असफल चेष्टाएँ किया करते हैं। परन्तु यह व्यर्थ है; स्पष्ट वानरादिकी प्रकृति दिखलानेसे; और स्पष्ट शब्दोंमें वानर कहनेसे उनका पक्ष गिर जाता है। हाँ, यह अवश्य है कि-वे प्राकृत (साधारण) वानर नहीं थे, किन्तु अप्राकृत (विशेष) वानर थे। देवयोनिसे सीधे वानरयोनिमें आनेसे वे रामायणा-नुसार विशेष वानर थे। इसलिए जब वे वानर कुम्भकर्णको देखकर भाग रहे थे; तब अङ्गदने उन्हें कहा था कि-'आत्म-नस्तानि (अप्राकृतानि) विस्मृत्य वीर्याणि-अभिजनानि च। क गच्छत भयत्रस्ताः प्राकृता वानरा यथा' (६।६६।५) अर्थात् तुम लोग दिव्य वानर भी प्राकृत (साधारण) बन्दरोंकी भांति क्यों भाग रहे हो; अपने उन अप्राकृत बल तथा अभिजन-मूलजाति-को क्यों भूल गये हो? इससे रामायणीय वानरोंके वानररूप होनेपर भी रामायणको उनकी अप्राकृत वानरता ही सिद्धान्त-रूपेण इष्ट है। यह वादी वा आक्षेप्ता याद रखें। वे वाल्मी.रा.के अनुसार देवयोनिसे सीधे वानरयोनिमें आये थे; अतएव अप्राकृत-तावश उनके मकान, राज्य, मुकुट आदि भी हो सकते थे;

इस विषयपर अन्तमें प्रकाश डाला जावेगा। इस वास्तविकताका ज्ञान न होनेसे, या उसे छिपा देनेसे वादी जनताके भ्रमका कारण बनते हैं।

(१४) 'चक्रुः किलकिलामन्ये प्रतिगर्जन्ति चापरे। केचिद् उच्छ्रितलांगूला प्रहृष्टाः कपिकुञ्जराः। आयताञ्चित - दीर्घाणि लाङ्गूलानि प्रविव्यधुः' (५।५७।४२, ४३) यहाँपर रामायणीय बन्दरोंका किलकारी मारना, तथा पूंछ ऊँचे उठाकर खुश होना, पूंछ फटकारना ऐसा जो वर्णन पाया जाता है; वह मनुष्योंमें कभी नहीं हो सकता। कदाचित् वनवासी मनुष्य बनावटी पूंछ लगा भी लें; तथापि वह उनकी पूंछ स्वभावसे उठाई नहीं जा सकती; या स्वाभाविकतया नीचे नहीं की जा सकती; जैसेकि बन्दर, गाय-भैंस, घोड़ा आदि करते हैं। परन्तु यहाँ स्वाभा-विकतासे पूंछ उठाना कहा गया है; अतः यहाँ बन्दर भी स्वाभाविक विवक्षित हैं, बनावटी नहीं। और फिर यहाँ बन्दरोंकी किलकारी भी उनके स्वाभाविक वानरत्वको बता रही है।

(१५) लाङ्गूलचक्रो हनुमान् शुक्लदंष्ट्रः' (५।१।६०) यहाँ हनु-मान्‌को सुफेद दाढ़ोंवाला कहा है। मनुष्यकेलिए 'दन्त' शब्दका प्रयोग होता है, दंष्ट्राओंका नहीं। यह वानरोंकेलिए प्रयुक्त होता है; और पूँछका चक्र भी उनके वानरत्वका परिचायक है। जोकि प्रतिपक्षी कहते हैं कि-'रामायणमें हमको एक स्थान पर भी वानरियोंकी पूँछका उल्लेख नहीं मिला'। खेद! जब

हनुमान्-आदिकी पूँछका वर्णन रामायणमें स्पष्ट मिलता है, उसे तो प्रतिपक्षी छिपा लेते हैं, अब वानरियोंकी पूँछ ढूँढ़ने जा रहे हैं। उन वन्दरियोंका पूरा वर्णन आया ही कहाँ है? उनका युद्धमें जाना ही कहाँ कहा है? उनकी कूद-फांद, वृक्षोंका तोड़ना आदि कहा ही कहाँ है? जब-कभी कूद-फाँद वा लड़ाईका वर्णन आता है, तभी प्रसङ्गानुसार पूँछ भी वर्णित की जाती है, पर इन वानरियोंका ऐसा वर्णन आया ही नहीं है; तब यदि उनका उन पुरुषों-बन्दरों जैसा वर्णन नहीं आया; तब उनकी पूँछ भी कैसे वर्णित होती?

अथवा कामरूप होनेसे वानरियोंने पूँछ न रखी हो; तो यह भी सम्भव हो सकता है। हाथियोंके बाहरी दाँत होते हैं; कई हथनियोंके नहीं होते। मोर-मोरनीका बड़ा भेद कलगी आदिका स्पष्ट रहा करता है, इस प्रकार उन देवांश वानर वा वानरियोंका भेद होनेसे वानर वा वानरियोंका पूँछ होने न होनेका भेद सम्भव है। अतः स्त्री-पुरुषका यदि वानरोंमें कुछ पूँछ आदिका भेद कहा है; उसमें हमारे पक्षकी कुछ भी हानि नहीं?

जोकि पूछा जाता है कि-'वानर जिन देवों, ऋषियों, गन्धर्वों की सन्तान थे, उन देवोंकी पूँछ थी, या नहीं? यदि नहीं; तब उनकी सन्तानकी पूछ भी मिथ्या ही है' अब पाठक इसपर देखें। 'हिन्दुस्तान' पत्रके १३-७-६० के अङ्कमें एक गोरखा महिलाकी पूँछवाली लड़की पैदा होनेका वृत्त छपा था। उड़ीसाके

गञ्जाम जिलेमें एक पूँछवाली लड़की पैदा हुई थी, उसकी पूँछ काटनेकेलिए उसे बैरामपुरके हस्पतालमें ले जाया गया था' (संस्कृतम्, अयोध्या १६।४।४७)। न तो इन सन्तानोंकी मांकी पूँछ थी, न बापकी; पर सन्तानोंकी थी; तब इससे प्रतिपक्षीकी युक्ति कट गई। 'वीर अर्जुन' (१६-११-६०) में एक चार सींगवाले बच्चेके पैदा होनेका समाचार था। इस प्रकार उसीके २-७-५४ के अङ्कमें भी सींगवाले एक लड़केकी जो बन्दर जैसे रूपवाला था-उत्पत्ति दिखलाई गई थी, पर माँ-बापके सींग नहीं थे, न वन्दरोंवाली आकृति थी; इससे वादीका पक्ष कट गया। रामायणके हनुमानादि पात्र वानर-रूपमें क्यों हुए, इस विषयमें इस निबन्धके अन्तमें प्रकाश डाला जायगा।

(१६) 'आस्फोटयामास चुचुम्ब पुच्छं, ननन्द, चिक्रीड, जगौ, जगाम। स्तम्भान् अरोहद्, निपपात भूमौ, निदर्शयन् स्वां प्रकृतिं कपीनाम्' (सुन्दर. १०।५४) इस पद्यमें पूँछ फटकारने एवं चूमने, खम्भोंपर कूदकर चढ़ने, कूदने-फांदने, नीचे गिरने आदि क्रीडासे हनुमान्की वानरता दिखाई गई है। यहां यदि 'कपीनां प्रकृतिं निदर्शयन्' होता, तब भी कथञ्चित् हनुमानादिको मनुष्य कहा जा सकता; पर 'स्वां कपीनां प्रकृतिं निदर्शयन्' यहां 'स्वां (अपनी) कपीनां प्रकृतिं' शब्दसे उनका वानर होना अतीव स्पष्ट है।

रामाभिरामने यहाँ लिखा है—'आस्फोटपुच्छचुम्बनादि-र्जातिधर्मः। सर्वा अपि एताः चेष्टा उपांशु इति बोध्यम्। एवं-चेष्टायां हेतुः—स्वां कपीनां प्रकृतिं निदर्शयन्निति' अर्थात् यह सब

वन्दर-जातिके स्वाभाविक धर्म हैं, वही हनुमान कर रहा था। वनवासी मनुष्योंमें यह बात स्वाभाविकतासे नहीं होती। हाँ, यदि शङ्ककोंको यहां वनमानुष विवक्षित हों; तव वे भी पशु ही होते हैं, वे मनुष्य कैसे हो सकते हैं? पहले श्लोकोंमें पूँछका पर्यायवाचक 'लांगूल' शब्द था; पर यहां साक्षात् 'पुच्छ' शब्द है। क्या वादियोंने कहीं क्षत्रिय वा वनवासी मनुष्योंकी पूँछ भी देखी है। इस पद्यमें वानरोंकी स्वभावोक्ति दिखलाई गई है। यह उस समयका वर्णन है, जब हनुमानने मन्दोदरीको सीता समझा; और प्रसन्न होकर उक्त क्रीड़ा की। मनुष्योंमें ऐसी स्वाभाविकता कभी नहीं होती। तब हनुमानादिको मनुष्य बताना 'वालुकाभित्ति' है।

(१७) अन्य भेदक श्लोक देखिये—लङ्कामें हनुमान सीताके प्रथम मिलनके समय सोचता है—'अहं ह्यतितनुश्चैव वानरश्च विशेषतः। वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्' (५।३०।१७)। यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्। रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति' (१८) (यदि मैं वानर होकर मानुषी वाणी संस्कृतको ब्राह्मणकी तरह बोलने लग जाऊँगा, तो सीता डर जायगी) यदि हनुमान् सचमुच मनुष्य होते; तव मानुषी वाणी संस्कृत बोलनेसे उससे सीता डरती ही क्यों? हाँ, मनुष्यसे भिन्न वन्दर होनेसे फिर मानुषी भाषा संस्कृत होनेसे सीताको उससे डर हो सकता था कि—रावण ही कदाचित् ऐसा रूप बनाकर आया है। इसलिए हनुमान् मनुष्यसे

भिन्न वानर-योनिवाले सिद्ध हो गये।

यहाँपर प्रतिपक्षी लोग 'यदि वाचं प्रदास्यामि' यह १८वां पद्य तो देते हैं, पर 'अहं ह्यतितनुश्चैव वानरश्च विशेषतः' इस १७वें पद्यकी—जिससे हनुमानकी वानरता स्पष्ट प्रकट होती है, और सीताको उसी वानरका संस्कृत बोलनेसे डर जो उत्पन्न हो जाता है, वादी चोरी कर लेते हैं, जनताके सामने नहीं आने देते। यह उनके पक्षकी दुर्बलताका प्रबल प्रमाण है। वैसे तो वे हमसे पूर्व उदाहृत किये तथा आगे बताये जानेवाले पद्योंको लोकदृष्टिमें रखते नहीं, फिर अनुसन्धानमें आलसी लोग यदि उनके पक्षके हामी बन जावें; यह सम्भव है, पर अनुसन्धान-दृष्टि बढ़ जाने पर वादियोंका पक्ष जनदृष्टिमें विध्वस्त हो जायगा।

(१८) अन्य स्पष्ट भेद देखिये—'सीता हनुमान्से पूछती है-'क्व ते रामेण संसर्गः कथं जानासि लक्ष्मणम्। वानराणां नराणां च कथमासीत् समागमः' (५।३५।२) (तेरा श्रीरामसे मेल कहां हुआ? नर और वानरोंका मेल कैसे हुआ? इससे स्पष्ट है कि हनुमानादि नरोंसे भिन्न योनिवाले वानर थे। यदि हनुमान् मनुष्य होते; तव सीताका यह प्रश्न असंगत था; क्योंकि-वादियोंके मतवाली क्षत्रिय वा वनवासी जाति भी तो नर होगी। अथवा वनवासी होनेसे इस समय राम भी वादियोंके अनुसार वानर कहे जाते; तव भेदक वाक्य कैसे? आजकलके दयानन्दी टीकाकार हनुमानादिकी मनुष्यता सिद्ध करनेकेलिए रामायणकी टीकामें सर्वत्र 'वानर'का 'वनवासी मनुष्य' अर्थ करते हैं, यह

सब वाल्मीकिसे विरुद्ध अकाण्ड-ताण्डव है। छलसे वे कब तक काम चलायेंगे? 'वानराणां नराणां च' में भेदक 'च' भी दोनोंके 'नर' होनेपर व्यर्थ होता। इससे हनुमानादिकी मनुष्ययोनिसे भिन्न वानर योनि स्पष्ट सिद्ध हुई। 'नरवानरौ' (४।७।२४)में द्विवचन भी दोनोंकी भिन्नताका साक्षी है।

(१६) अन्य देखिये—'स्वप्नो मयाऽयं विकृतोऽद्य दृष्टः, शाखामृगः शास्त्रगणैर्निषिद्धः। (५।३२।६) सीता कहती है कि—मुझे आज शास्त्रनिषिद्ध शाखामृग (वन्दर) का सपना आया है-(५।३४।२२), तब यहाँ हनुमान् स्पष्ट मनुष्य-भिन्न वानर सिद्ध हुए; क्योंकि-मनुष्यका स्वप्न शास्त्रनिषिद्ध नहीं। यह स्वप्न हनुमान्के विषयमें था। जागती हुई भी वह मूर्छामें स्वप्न समझ रही थी। यदि वह हनुमान् वानर न होता, किन्तु मनुष्य होता; तो सीता 'रूपांन्तरमुपागम्य स एवायं हि रावणः' (५।३४।१) हनुमान्के अन्य (वानर) रूपधारी रावणकी शङ्का न करती।

(२०) अब और देखिये-'तत्र तौ कांर्तिसम्पन्नौ हरीश्वर-नरेश्वरौ (५।३५।३२) 'नर-वानर राजानौ स तु वायुसुतः कपिः' (६।३७।१) यहाँ पर सुग्रीवको बन्दरोंका तथा श्रीरामको मनुष्यों-का राजा कहा है। अन्य स्पष्ट पद्य देखिये—'मानुषो राघवो राजन्! सुग्रीवश्च हरीश्वरः' (५।५१।२७) यदि रामायणकारको नर-वानरोंकी समान ही योनि इष्ट होती; तो 'नरेश्वरौ' ही कहना पर्याप्त था; वा श्रीरामके भी वनवासी होनेसे दोनोंको 'वानरेश्वरौ' ही कहा जाता; परन्तु दोनोंको भिन्न-भिन्न कहनेसे

हनुमानादिकी मनुष्यसे भिन्न वानर-योनि सिद्ध हुई। इस प्रकारके भेदक पद्य रामायणमें बहुत मात्रामें मिलते हैं।

(२१) 'वयं वनचरा राम! मृगाः (पशवः) मूलफलाशिनः। एषा प्रकृतिरस्माकं पुरुष (मनुष्य) स्त्वं नरेश्वर।' (४।१७।३०) यहाँ पर वाली वानर अपनेको पशु (वन्दर) तथा रामको मनुष्य कहकर दोनोंकी भिन्न योनि बता रहा है। तब नर-वानरोंकी भिन्नता सिद्ध हो ही गई। इसी प्रकार 'नहीयं हरिभि-र्लङ्का प्राप्तुं शक्या कथञ्चन। देवैरपि सगन्धर्वैः किं पुनर्नर-वानरैः' (६।२०।१२) सुग्रीवके प्रति रावणके इस सन्देसेसे नरों और वानरोंका भेद स्पष्ट है। इस प्रकारके पद्य बहुत मात्रामें मिलते हैं।

(२२) 'मानुषं धारयन् रूपमात्मनः शिखरे स्थितः। दुष्कृतं कृतवान् कर्म त्वमिदं वानरोत्तम!' (५।१।१०४) यह पर्वत हनुमान् से कह रहा है कि-मनुष्यरूप धारण करके ऐ बन्दर! तू ने यह बड़ा कठिन कार्य किया है। यदि हनुमान मनुष्य होते; तो उनको मनुष्यरूप धारण करनेकी क्या आवश्यकता थी? वे तो तब स्वतः ही मनुष्य थे। इससे स्पष्टतया वे वानर थे; तभी वानरका पर्वतके अनुसार मनुष्यरूप धारण करना कठिन था; इसी कारण उसका, सम्बोधन 'वानरोत्तम' आया है।

यदि कहा जावे कि-वे नागरिक पहनावा नहीं पहरते थे; इसलिए 'वानर' कहे गये, यह भी व्यर्थ है; जब कि प्रतिपक्षी आर्य-पथिक इनका वस्त्र पहनना, भूषण पहनना, सिरपर मुकुट

रखना, छत्र और चामर रखना, चाँदी-सोनेके पलंग रखना, नगरमें रहना, पालकी पर चढ़ना, जूते पहनना आदि नागरिक पहरावा मानता है, तब उन्हें वानर क्यों कहा गया है? इससे स्पष्ट है कि—वे मनुष्य नहीं थे। हां, वे आजकलके प्राकृत बन्दर भी नहीं थे; किन्तु देवयोनिसे आये हुए विशेष शक्तिशाली, तथा मनुष्यों-जैसे व्यवहार करने वाले रूपमात्रमें वानर थे, जैसा कि प्रहस्तका हनुमान्को कहा हुआ वचन आगे उद्धृत किया जावेगा; और अन्तमें इसपर स्पष्टता भी की जाएगी।

यदि यह सन्देह हो कि—वानर होकर हनुमानादि मनुष्य-की वाणी कैसे बोल सके; तो इसपर जानना चाहिये कि—उक्त वचनमें पर्वतकी भी मनुष्यवाणी दिखलाई गई है; तब अप्राकृत (दिव्य) वानरमें यह असम्भव कैसे? वस्तुतः देवयोनिसे सीधा वानरयोनिमें आनेसे उनमें अपनी देववाणी (संस्कृत) विस्मृत नहीं हो सकती थी। यदि कोई नट स्त्रीवेष बनाकर आ जावे; तो क्या उसकी पुरुषोंवाली शक्ति वा वाणी नष्ट हो जावेगी? विशेष प्रकाश इसपर अन्तमें डाला जावेगा।

(२३) जब हनुमान्ने रामके आनेका समाचार भरतको सुनाया; तब भरतने उसे कहा—'कच्चिन्न खलु कापेयी सेव्यते चलचित्तता' (६।१२६।२३) यहाँ पर भरतने भी हनुमान्की वानर-प्रकृति चल-चित्तता दिखलाकर उसे बन्दर बताया है। 'अहो! शाखामृगत्वं ते व्यक्तमेव प्लवङ्गम! लघुचित्ततयाऽऽत्मानं न स्थापयसि यो मतौ' (४।२।१७) यहां पर रामको वाली समभ-

कर उससे डरे हुए सुग्रीवको हनुमान् 'बन्दर' बता रहा है। रावणने शुकको कहा था—'कच्चिन्नानेकचित्तानां तेषां त्वं वशमागतः' (६।२४।२६) कि—तुम चञ्चलचित्त वालों (बन्दरों) से तो कहीं नहीं पकड़े गये? यहां स्वाभाविक प्रकृति बताकर रामके सैनिकोंको बन्दर बताया गया है। मनुष्योंमें ऐसी स्वाभाविक प्रकृति नहीं होती कि—उन्हें इस शब्दसे कहा जाय। प्रतिपक्षी कहां-कहां प्रक्षिप्तता मानेंगे?

(२४) 'मत्कृते हरिभिर्वीरैर्वृतो दन्तनखायुधैः' (सुन्दर. ३५।२५) सीता कह रही है। 'ऋक्ष-वानर-शार्दूलैर्नखदंष्ट्रायुधैरपि। कराग्रैश्चरणाग्रैश्च वानरैरुद्धतं रजः' (६।४।५६) कवि कह रहा है। 'ईदृग्विधैस्तु हरिभिर्वृतो दन्तनखायुधैः' (५।४३।२४) यह हनुमान्की वानरोंकेलिए उक्ति है। इन पद्योंमें वानरोंको नखायुध तथा दंष्ट्रायुध और फिर उन्हें वीर कहा है। 'नखैस्तुदन्तो दशनैर्दशन्तः तलैश्च पादैश्च समापयन्तः। मदात् कपिं ते कपयः' (५।६१।२४)। मनुष्य युद्धमें किसीको नाखूनोंसे नोच दें, वा दाढ़ोंसे फाड़ दें; और फिर वीर कहे जावें, यह सम्भव नहीं हो सकता। इससे उनकी निन्दा ही हो सकती है, प्रशंसा नहीं। युद्धके अवसर पर नाखूनोंसे किसीको नोचने और दाढ़ोंसे फाड़नेसे मनुष्य वीर नहीं कहे जाते। परन्तु पूर्व कहे पद्यमें तथा 'नखदंष्ट्रायुधान् वीरान्...वानरान्' (५।३६।४६) यहांपर भी उन बन्दरोंको नखायुध, दंष्ट्रायुध कहकर वीर (बहादुर) बताया गया है। मनुष्यभिन्न वानरयोनि स्वीकार करनेपर तो उनका नख-दंष्ट्रायुधत्व स्वाभाविक

होनेसे इससे उनकी वीरता भी उपपन्न हो सकती है। उनकी इससे निन्दा नहीं हो जाती। तव उनकी वानरता सिद्ध हो ही गई।

(२५) 'हनूमन्! दूरमध्वानं कथं मां नेतुमिच्छसि। तदेव खलु ते मन्ये कपित्वं हरियूथप!' (सुन्दर. ३७।६) (सीता कह रही है, ऐ हनुमान्, तू मुझे दूर रास्तेमें उठाकर कैसे ले जाना चाहता है; वही अपना वन्दरपन दिखला रहे हो?) यहां रामाभिरामने लिखा है-'तदेव-दृश्यमानमेव'। यहां पर श्रीवाल्मीकिने हनुमान्की शक्तिसे अपरिचित श्रीसीताके मुखसे उपहासद्वारा हनूमान्का वास्तविक वानरत्व दिखलाया है।

(२६) यदि श्रीवाल्मीकिको वनवासी-मनुष्य होनेसे रामायणके वन्दरोंका वानरत्व इष्ट होता; तो 'तौ शोणिताक्तौ युध्येतां वानरौ वनचारिणौ' (४।१६।३०) इत्यादि बहुत स्थलोंमें युद्ध संलग्न वाली-सुग्रीव आदिकेलिए 'वनचारिणौ वानरौ' पर वादीके अनुसार पुनरुक्ति न की गई होती, आर्यपथिकने अपनी पुस्तक (पृ. १२७)में लिखा है कि-'वानर और वनचारी एक ही हैं'। पृथक्-पृथक् ग्रहणसे वानर स्पष्ट पशु-योनिविशेष सिद्ध होते हैं।

(२७) तलेनाभ्यहनत् कांश्चित् पादैः कांश्चित् परन्तपः। मुष्टिभिश्चाहनत् कांश्चिद् नखैः कांश्चिद् व्यदारयत्। (५।४५।१२) यहाँपर हथेली वा पैरोंकी ठोकरोंसे वा मुक्कोंसे मारना, नाखूनोंसे फाड़ना कहा गया है; यह सब बन्दरोंका ही स्पष्ट

स्वभाव है। मानुषी सेनाका ऐसा वर्णन होनेपर उनकी स्पष्ट निन्दा थी, और उनके नेता की भी, परन्तु यहांपर स्वाभाविकता रखी गई है, निन्दा नहीं। स्वाभाविकताके सिद्ध होनेसे हनुमानादि वानर सिद्ध हुए, मनुष्य नहीं। 'नत्वेवं वानरा हन्तुं शक्याः पादपयोधिनः' (६।३३।६) यहाँपर वानरोंका वृक्षों द्वारा तथा अन्यत्र पहाड़ों एवं पत्थरों द्वारा युद्ध दिखलाया है, मनुष्य ऐसा युद्ध नहीं करते।

(२८) 'नहि ते वानरं तेजो रूपमात्रं तु वानरम्' (५।५०।१०) यह प्रहस्त हनुमान्को कह रहा है कि-तेरी शक्ल तो वन्दरों वाली है, पर ताकत उनसे बढ़कर है। यही बात रावणने सोची थी-'वानरोऽयमिति ज्ञात्वा नहि शुध्यति मे मनः। नैवाहं तं कपिं मन्ये यथेयं प्रस्तुता कथा' (५।४६।६-७) 'महत् सत्त्वमिदं ज्ञेयं कपि-रूपं व्यवस्थितम्' (५।४६।१४) यहाँपर श्रीवाल्मीकिने हनुमान्को स्पष्ट ही बन्दररूपवाला बताया है, मनुष्य नहीं। इसी प्रकार 'जातिरेव मम त्वेषा वानरोऽहमिहागतः' (५।५०।१४) यहाँपर उसकी वानर जाति दिखलाई है। इस पर रामाभिरामने स्पष्ट किया है-'एषा वानराकृतिर्मम जातिरेव जन्मकृतैव, अतो वानर एव अहम् इह आगतः'।

(२९) 'केचित् किलकिलां चक्रुर्वानरा वनगोचराः। आस्फोटयंश्च पुच्छानि संनिजघ्नुः पदान्यपि' (६।४।६४) 'भुजान् विक्षिप्य शैलांश्च द्रुमान् अन्ये बभञ्जिरे। आरोहन्तश्च शृङ्गाणि गिरीणां गिरिगोचराः' (६५) 'महानादान् प्रमुञ्चन्ति क्ष्वेडमन्ये प्रचक्रिरे।

ऊरुवेगैश्च ममृदुर्लताजालान्यनेकशः' (६६) 'जृम्भमाणाश्च विक्रान्ता विचिक्रीडुः शिलाद्रुमैः' (६७) 'नर्दतां कपिमुख्यानां' (सुं. ३६।५०) इत्यादि श्लोकोंमें बन्दरोंका किलकारी मारना, पूँछ फटकारना, पैरोंकी ठोकरें मारना, वृक्षों वा पहाड़ोंको तोड़ना, जोरसे चीखना-चिल्लाना, पहाड़ों तथा वृक्षोंकी चोटियों पर चढ़ जाना, लताओंको मसलना, ऐसे स्वाभाविक रूपसे चित्रित किया गया है कि-उनका मनुष्य सिद्ध होना सम्भव भी नहीं हो सकता। ६४वें पद्यमें पूँछका फटकारना बनावटी पूँछ-वालोंका काम नहीं हो सकता। इसी पद्यमें 'वानरा वनगोचराः' यह भिन्न-भिन्न शब्द रखना भी बता रहा है कि-यहाँ वनवासी मनुष्योंका वर्णन नहीं, किन्तु वनवासी वन्दरोंका है। 'शैल-शृङ्गाणि शतशः प्रवृद्धांश्च महीरुहान्' (कि. ३१।१८) डरे हुए वानरोंका पहाड़ोंकी चोटी तथा वृक्षों पर चढ़ जाना उन्हें स्पष्ट बन्दर बता रहा है। 'अयं प्रकृत्या चपलः कपिस्तु' (कि. ३३।५७) वानरकी चंचलता बहुत स्थलोंमें बताई गई है; अतः उनका वास्तविक वानर होना सुस्पष्ट है।

(३०) 'यस्य (रामस्य) शाखामृगा मित्राण्यृक्षाः कालमुखास्तथा। जात्यन्तरगता राजन्! एतद् बुद्ध्यानुचिन्तय' (वनपर्व. २६२।१२) इस महाभारतके वचनसे स्पष्ट है कि-रामके सहायक बन्दर वा लंगूर जात्यन्तर (मनुष्यसे भिन्न जातिवाले) हैं। यदि वे क्षत्रिय जातिवाले होते; तो श्रीरामके भी क्षत्रिय होनेसे, अथवा यदि वे मनुष्य थे, तब रामके भी मनुष्य होनेसे, अथवा यदि वे

वनवासी थे; तब रामके भी वनवासी होनेसे-जैसेकि रामको 'मानुषो वनगोचरः' (६।११३।६) 'वनगोचर' शब्द आया उनकेलिए महाभारतकार 'जात्यन्तर' शब्दका प्रयोग न करते। 'अन्या जातिर्जात्यन्तरम्' यह उक्त शब्दका विग्रह है। 'म[illegible] व्यंसकादयश्च' (पा. २।१।७२) इस पाणिनिसूत्रसे समास हु[illegible] हैं। दूसरी जाति जात्यन्तर होती है। (डो.ला.शा.)

(३१) जोकि प्रतिपक्षी कहता है—'यस्य देवस्य यद्[illegible] वेषो यश्च पराक्रमः। अजायत समं तेन तस्य-तस्य पृथक्-पृथ[illegible] (वाल्मी. १।१७।२०) (जिस-जिस देवका जैसा-जैसा आका[illegible] प्रकार वेष वा पराक्रम था; उसका पुत्र भी उसी रूप, आक[illegible] वा पराक्रमवाला हुआ। स्पष्ट है कि-इन्द्रका पुत्र वाली इन्[illegible] समान रूपवाला था-आदि) किसी की भी आकृति वन्दरों[illegible] नहीं थी, सभी मनुष्याकृति मनुष्य थे, (हनुमान आदि वा[illegible] पृ. ११०)। प्रतिपक्षियोंके छल पर बड़ा खेद आता है। वे पूर्वा[illegible] प्रकरणको छिपाकर अपनी मनमानी बातें प्राचीन ग्रन्थों[illegible] अर्थोंमें ठूँस दिया करते हैं।

वहाँ तो लिखा है—'अप्सरःसु च मुख्यासु...ऋक्षविद्याध[illegible] च। किन्नरीणां च गात्रेषु वानरीणां तनूषु च। सृजध्वं हरि (वानर[illegible] रूपेण पुत्रान् तुल्यपराक्रमान्' (१।१७।५-६) यहाँपर ब्रह्मा द्वा[illegible] देवोंको आदेश दिया गया था कि-रीछ-वानर आदिके शरी[illegible] वाली अप्सराओंमें (जो देवस्त्रियां थीं) देवों द्वारा रीछ-वान[illegible] रूपधारी लड़कोंको उत्पन्न करो। जैसे कि प्राचीन टीकाका[illegible]

रामाभिरामने लिखा है-'वानरीणां तनूषु-वानरीशरीरसदृश-शरीरासु अप्सरः प्रभृतिषु (६) ऋक्षीषु -ऋक्षशरीरासु (२१) उसी आदेशके अनुसार देवताओं द्वारा वानररूपधारी लड़के पैदा किये गये। जैसेकि-रामायणमें ही स्पष्ट किया है—

'ते (देवाः) तथोक्ता भगवता (ब्रह्मणा) तत् (वानरादिरूपवतां पुत्राणामुत्पादनरूपं) प्रतिश्रुत्य शासनम्। जनयामासुरेवं ते पुत्रान् वानररूपिणः' (१।१७।८) (देवोंने भगवान् ब्रह्माकी आज्ञा मानकर बन्दररूपवाले पुत्रोंको उत्पन्न किया)। 'ऋषयश्च महात्मानः सुतान् वीरान् ससृजुर्वनचारिणः' (वानरान्) (६) प्रतिपक्षी भी 'वनचारी'का 'वानर' अर्थ बताता है-'वानर और वनचारी एक ही हैं' (हनुमान् आदि पृ. १२७) यह 'वनौकाः'का दूसरा शब्द है। जब 'वानरान् वनचारिणः' दो शब्द पद्यमें इकट्ठे हुआ करें; तब तो 'वनचारी' यौगिक हो जाता है। जब केवल 'वनचारी' हो; तब बन्दरका रूढ नाम हो जाता है। हनुमान्‌की माता अञ्जना 'कपित्वे कामरूपिणी। दुहिता वानरेन्द्रस्य' (४।६६।६) वानरी तथा वानरकी लड़की तथा वानरकी पत्नी थी (८-१०) हाँ, कामरूपिणी थी; अतः मनुष्य-शरीर भी बना लिया करती थी।

इन पूर्व लिखे पद्योंको प्रतिपक्षीने छिपा दिया है। एक और टीकाकार आर्यसमाजीने रामायणमें इस विषयमें बहुतसे प्रक्षेप बता दिये हैं; उसमें यह अद्भुतता की है कि-जहाँ अपने मतकी विरुद्धता मालूम पड़ी; वहाँ एक आधे को तो अप्रमाण एवं

प्रक्षिप्त मान लिया; कहीं पद्यके आधे पादको ही प्रक्षिप्त मान लिया, शेषको अप्रक्षिप्त। इससे इनके गलत प्रयास पर हँसी आती है। इन लोगोंका पूर्वापर छिपा देने, या प्रक्षिप्तताका आविष्कार करनेका शब्दोंके अर्थमें तोड़-मरोड़ किये बिना पक्ष सिद्ध ही नहीं होता; अतः इस वाणी-स्तेयरूप पापसे जिसकी मनुजीने (४।२५६) भारी निन्दा की है; नहीं डरते। इन अनृतवक्ताओंकेलिए वेद भी वरुणके पाशोंको बताता ही है-'ये ते पाशा वरुण! सप्त-सप्त...छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं, यः सत्यवादी अति तं सृजन्तु' (अथर्व. ४।१६।६)।

कितना स्पष्ट रामायणमें लिखा है-'ऋक्ष-वानर-गोपुच्छाः (रीछ, बन्दर, लंगूर) क्षिप्रमेवाभिजज्ञिरे' (१।१७।१६) ईदृशानां प्रसूतानि हरीणां कामरूपिणाम्' (४।१७।२६) (वे वानर आदि इच्छानुसार रूप बदल सकते थे)। सो वहाँ बन्दर रूपवाला शरीर होते हुए भी अप्राकृतता (दिव्यता) वश उनका रंगरूप एवं वेष आदि उन देवताओंके समान था; तभी वाली-सुग्रीव आदि राजा उन देवताओं वाले मुकुट तथा वेष तथा रंगढंग और बल रखते थे। शेष बाहरी आकृति बन्दरोंकी ही थी। इस रामायण-प्रोक्त सत्यको 'इश्क, मुश्क, खांसी खुश्क' की भांति कभी छिपाया नहीं जा सकता। छिपानेवाले यमलोकमें यातनायें प्राप्त करेंगे; जिनका वेदमें संकेत है।

(३२) अब कुछ जाम्बवान् तथा उसकी सेनाके विषयमें भी देख लेना चाहिये—'पूर्वमेव मया सृष्टो जाम्बवान् ऋक्षपुङ्गवः'

(१।१७।७) यहाँ जाम्ववान्को रीछ कहा है। रीछोंकी अयोनिज उत्पत्ति पहले दिखलाई ही जा चुकी है–'राक्षसानां च सदृशाः पिशाचानां च रोमशाः। एतस्य सैन्या बहवः' (युद्ध. २७।१४) यहाँ जाम्ववान्के सैनिक 'रोमश' बताये गये हैं। रोम सबके हुआ करते हैं, पर 'रोमश'का अर्थ है–'बहुत वा बड़े-बड़े रोमोंवाले'। 'रोमश'में मत्वर्थीय 'श' प्रत्यय है (पा. ५।२।१००) मत्वर्थीय प्रत्यय 'भूम-निन्दा-प्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः' इन अर्थोंमें हुआ करते हैं। इनमें पहला अर्थ है 'भूमा' बहुतायत; अन्य अर्थ है अतिशायन–बड़े-बड़े। बड़े-बड़े बहुत रोमों (वालों) वाले। तब उनकी मनुष्यता भी खण्डित हो गई–क्योंकि मनुष्य 'रोमश' नहीं होते। रीछोंके तो बड़े-बड़े रोम प्रत्यक्ष हैं।

कई महाशय कहते हैं कि—'उन्हें 'ऋक्षवान्' पर्वतमें रहनेके कारण ऋक्ष (रीछ) कहते थे, वास्तवमें वे मनुष्य थे' यह भी ठीक नहीं। उस पहाड़में रीछ बहुत रहा करते थे, इसलिए उस पहाड़ का नाम 'ऋक्षवान्' हो गया था। 'ऋक्षाः सन्ति अस्मिन्' इस अर्थमें 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' (पा० ५।२।९४) इस अर्थमें 'ऋक्ष'को मतुप् प्रत्यय होता है; और 'मादुपधायाश्च मतोर्वः' (पा० ८।२।९) सूत्रसे मतुप्के 'म' को 'व' हो जाता है। यदि ऋक्षवान्-पर्वतमें रहनेसे 'ऋक्ष' नाम हो जावे; तो 'अन्ये (हरयः) ऋक्षवतः प्रस्थान् उपतस्थुः सहस्रशः' (वाल्मी १।१७।३१) यहाँपर वन्दरोंका भी ऋक्षवान् नाम वाले पहाड़में रहना कहा

है, पर उन्हें 'ऋक्ष' नहीं कहा गया, किन्तु हरि (वानर) ही कहा गया है। तब रीछोंको मनुष्य बताने वाले खण्डित हो गये।

(३३) पक्ष-तुण्ड (चञ्चु) प्रहारैश्च शतशो जर्जरीकृतम्' (महा वन पर्व २७९।५) यहां गृध्रराज जटायुका पंख या चोंचें मारना कहा है, सो मनुष्यका भला चोंचें वा पंख मारना कैसे हो सके। सो वह जटायु भी पक्षी था; तभी उसे २७९।६ पद्यमें पतत्री (पक्षी) कहा गया है। आगे 'छिन्न पक्षद्वयं खगम्' (२७९।२२) उसे पक्षी तथा रावण द्वारा उसके दोनों पंखों का काटना कहा है। इसीसे रामायणमें उसे 'तीक्ष्णतुण्डः (चञ्चुः)' (३।५०।२) गृध्र (३।१४। कहा है। हां, यह भी उक्त दिव्य रीछ-वानरोंकी भांति दिव्य पक्षी थे, साधारण रीछ, बन्दर, पक्षी नहीं थे। कश्यपसे विनतामें उत्पन्न गरुड़ भी पक्षी प्रसिद्ध है, वह विष्णुका वाहन वैनतेय नामसे प्रसिद्ध है।

"गरुड़ उसका नाम था, उसकी जाति गरुड़ पक्षी नहीं थी' यह प्रतिपक्षियोंका कथन छल-पूर्ण तथा असत्य एवं निर्मूल है उसे बड़े पंख होनेसे ही मत्वर्थीय अतिशायन अर्थवाले मतु प्रत्ययसे ही 'गरुत्मान्' कहा जाता है। उसी (गरुड़)के बड़े भा अरुणसे सम्पाति तथा जटायु—ये दोनों दिव्य गीध पक्षी रूपमें उत्पन्न हुए थे। हां, कामरूप (अपनी इच्छानुरूप रूप वदल सकने वाले) (वाल्मी० ४।६०।१९) अवश्य थे। सम्पाति भी सूर्य द्वारा अपने पंख जलने का वृत्त वानरोंको सुनाया था

तब इनको मनुष्य बताना वादियोंका निर्मूल ही है। हाँ, देव वा ऋषि अंश होनेसे दिव्यतावश इन पक्षियोंमें भी बड़ा बल था। तभी जटायुको दशरथका सखा (सहायक) (वाल्मी० ३।१४।३५) कहा गया।

(३४) कई लोग ब्रिटिश—सिंह, रूसी—भालू, चीनी—चीता आदि तथा सिंह, सिंह-पुरुष, नृसिंह, व्याघ्र, पुङ्गव, पुरुषर्षभ, आदि शब्दोंका मनुष्योंमें प्रयोग दिखाकर (हनुमानादि० पृ० १३३) रामायणमें वानर-रीछ-पक्षी आदिको भी मनुष्य सिद्ध करना चाहते हैं, और वानर-शब्द रखनेसे जहां छन्दोभङ्ग दीखा, वहां कपि, प्लवङ्ग आदि उससे मिलते-जुलते शब्दोंका प्रयोग रखना रामायणमें मानते हैं (पृ० १३२-१३३) ऐसे छली व्यक्तियों की बुद्धि दयनीय है। उन्हें यह जानना चाहिये कि सिंह, कुञ्जर, ऋषभ, पुङ्गव आदि शब्द अवश्य प्रशंसावाचक हैं—'वृन्दारकनाग-कुञ्जरैः पूज्यमानम्' (पा० २।१।६२) यह सूत्र उसमें ज्ञापक है। जैसे इसी रामायणमें 'कपि-कुञ्जर' (५।५७।४२) शब्द आया है। 'सिद्धान्त-कौमुदी'में उक्त सूत्रके उदाहरणमें गोनागः, गोकुञ्जरः' (श्रेष्ठ बैल) आया है, परन्तु वानर, ऋक्ष, गृध्र पक्षी आदि शब्द कहीं प्रशंसावाचक नहीं आये। 'वानर' (बन्दर) निन्दा में तो आता है, प्रशंसा में नहीं।

'नृसिंह' तो अवतार थे, जिसमें पुरुष और सिंह दोनोंकी मिश्रित आकृति थी। या किसी पुरुषका नाम हो; तो वहाँ 'ना (पुरुषः) सिंह इव' यह विग्रह होता है, वहां 'उपमितं व्याघ्रादिभिः' (पा. २।१।५६)से समास होता है, 'गोव्याघ्रः' आदि इसीके उदाहरण हैं। पुङ्गव, ऋषभ आदि बैलवाचक होते हुए भी समासमें श्रेष्ठ-वाचक हैं। पुरुषसिंहमें भी 'पुरुषः सिंह इव' यही विग्रह है। 'सिंह-पुरुष' आदिमें गुण-सम्बन्ध वश गौणी लक्षणा है। 'सिंहो माणवकः, गौर्वाहीकः' आदि इसीके उदाहरण हैं, पर यह भी क्वाचित्क होते हैं, हर समय इनका प्रयोग नहीं होता; पर वानर शब्द इन अर्थोंमें कहीं भी प्रयुक्त नहीं; और समास-बद्ध भी नहीं। रामायणादिमें हनूमानादिकेलिए 'वानर' शब्दका क्वाचित्क प्रयोग होता; और वे धड़ल्लेसे रामायणमें मनुष्य कहे गये होते; तब तो रामायणमें वानर उनकेलिए लाक्षणिक प्रयोग भी कथञ्चित् माना जाता, पर वहाँ तो उनकेलिए 'वानर' शब्द बार-बार आता है, और वहाँ स्पष्टतया उन्हें 'वानर' बताया भी गया है, नर उन्हें कहीं भी नहीं कहा गया, तब उक्त शब्दों-का समाधानार्थ यहां प्रयोग देना 'विषम-उपन्यास' है।

(३५) जो कि आर्यपथिकने 'सुग्रीवने अपने-आपको मनुष्य कहा' यह कहकर उसमें 'अरण्यश्च मनुष्येण विज्ञेयाश्छन्नचारिणः' (कि. २।२२) यह रामायणीय प्रमाण दिया है, यह उसकी दयनीय दशा बता रहा है, और सिद्ध होता है कि—उसने बड़ा प्रयत्न किया है कि—कहीं हनुमानादिकेलिए 'मनुष्य' शब्द मिले; पर उस बेचारेको निराशा ही हस्तगत हुई। यहाँ पर 'मनुष्येण' यह सामान्य शब्द है, यह उसके अपनेलिए नहीं है, किन्तु अन्यकेलिए है, तभी यहाँ 'मया' आदि रूपसे 'अस्मद्'-

शब्दका प्रयोग नहीं आया। इसी प्रकार हितोपदेश आदिमें गीदड़-बिलाव आदि की कथाओंमें भी 'मनुष्य' शब्दका प्रयोग आता है, पर इससे वे मनुष्य नहीं हो जाते। पञ्चतन्त्रमें शशकने भासुरकसिंहकेलिए कहा है—'स्वभूमिहेतोः परिभवाच्च युध्यन्ते क्षत्रियाः' पर इससे सिंह क्षत्रिय मनुष्य नहीं बन जाता। 'न सोस्ति पुरुषो लोके' (१।२६४) यहाँ दमनकने पिङ्गलककेलिए 'मनुष्य' वाचक 'पुरुष' शब्दका प्रयोग किया है। 'वरं व्याधिर्मनुष्याणाँ' (१।३०३) यहाँ सञ्जीवक बैल अपने लिए कह रहा है। इससे यह पञ्चतन्त्रका बैल मनुष्य नहीं बन जाता। 'किमङ्गवाग-हस्तवता नरेण' (मित्रभेद)में दमनक शृगालने यह पद्य अपनेलिए कहा है, इससे वह शृगाल 'नर' (मनुष्य) नहीं बन जाता। इस प्रकारके सैंकड़ों पद्य दिये जा सकते हैं।

फलतः 'वानर' शब्द किसी प्राचीन ग्रन्थमें प्रशंसा-अर्थमें प्रयुक्त नहीं; हनूमानादिकी वहां पर प्रशंसा ही ग्रन्थकारको अभिमत है; तब वहां 'सिंह' आदि शब्दोंका क्वाचित्क प्रयोग न करके 'वानर' वा उसके पर्यायवाचकोंका सार्वत्रिक प्रयोग क्या हनुमानादिकी निन्दा करनेकेलिए लिखा है? 'देवदत्तो वानरः' यह लाक्षणिक प्रयोग, मनुष्योंकी 'बन्दर-घुड़की' आदि लाक्षणिक प्रयोग निन्दार्थक ही तो हैं। किसी लड़केको कहें कि—'अरे बन्दर!' तो वह लड़का भी उस शब्दको बुरा मनाता है। वहां अन्य भी कोई उसकी प्रशंसा 'वानर' शब्दसे नहीं समझता। तब महाकवि मुनि वाल्मीकि द्वारा हनुमानादि प्रशंसनीयपात्रोंको

बार-बार वानर वा उसके पर्यायवाचकों से बुलानेसे स्पष्ट है कि—श्रीवाल्मीकिको वहां उनकी वस्तुतः पशु-जातीयता ही अभिप्रेत है; मनुष्यता नहीं। स्वाभाविकतामें कुछ भी निन्दा नहीं होती।

क्या मनुष्य एक वृक्षसे दूसरे वृक्षपर या एक शाखासे अन्य शाखापर स्वाभाविकतासे उछल-कूद किया करते हैं? अथवा कटकटा शब्द करते हैं? किलकारियाँ मारते हैं? वीर पुरुष क्या दाढ़ों से दूसरेको काटते हैं, वा नाखूनोंसे स्वाभाविकतया नोचते हैं! यदि ऐसा नहीं, परन्तु रामायणमें वैसा उनके लिए मिलता है, जिसके प्रमाण हम पूर्व उपस्थित कर चुके हैं, तब स्पष्ट है कि—वे वहां वानर हैं, नर नहीं। यदि रामायणका यह निर्णय आजकलके सुधारकोंको मान्य नहीं है, 'तब हनूमानादि भी कोई थे' इस विषयमें भी वादियोंके पास रामायण, महाभारत, पुराणोंके अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं। आधार होनेपर ही तो चित्र होता है।

'छन्दोभङ्गके भयसे कविने 'वानर'के स्थान पर 'प्लवग' आदि शब्द रखे; वानरकी पर्यायवाचकताके नाते नहीं' इस प्रतिपक्षीकी बातसे तो बड़ी हँसी आती है। कवि इतना कमज़ोर नहीं होता कि—मनचाहा शब्द न रख सके। जहां 'प्लवगर्षभ' रखा जाता है, वहां 'वानरर्षभ' भी अनुष्टुप् जातीय (पथ्यावक्त्र) छन्दमें जहां-तहां आ सकता है, कोई छन्दोभङ्ग की बात नहीं। अतः यह वादीका हेत्वाभास उसके पक्षकी निर्मूलताका प्रमाण

है, उन युक्तियोंका प्रत्युत्तर न दे सकनेका यह स्पष्ट चिह्न है। यदि कवि अपना स्पष्ट शब्द नहीं रख सकता; तो यह उसकी कमजोरी होती है। उसे 'कवि' ही नहीं कहा जा सकता। 'एतेषां कपि मुख्यानां' (कि० ३३।१२)में 'एषां वानरमुख्यानां' यह पाठ स्पष्ट रखा जा सकता है। 'हरिभिः संवृतद्वारं' (कि० ३३।१६)में 'वानरैः संवृतद्वारं' यह पाठ विना किसी बलात्कारके आ सकता है, कुछ भी छन्दोभङ्गका अवसर नहीं आता; तब वानरके विविध पर्यायवाचकोंके देनेसे स्पष्ट है कि—यह सब वन्दर थे। हाँ, दिव्य वन्दर थे, साधारण नहीं। जो वानर ही हैं, उसके भिन्न-भिन्न पर्यायवाचक दिये जा सकते हैं। जो वन्दर नहीं है, केवल 'वानर' किसीका विशेष नाम है, जैसे 'अमरसिंह' वहां उसका पर्याय वाचक—देव-केसरी', अथवा 'देवता-शेर' आदि नहीं दिया जा सकता। 'नामग्रामयोर्न संस्कृतम्' यह लौकिक एवं शास्त्रीय व्यवहार है। इससे प्रतिपक्षीका पक्ष कट गया।

(३६) वादियोंका वानरोंको नर सिद्ध करनेमें प्रयत्न इसलिए है कि—उनके जो कार्य रामायण में किये दिखलाये गये हैं; उन्हें उनके मतानुसार बन्दर कभी नहीं कर सकते, इसलिए वे उन्हें 'मनुष्य' सिद्ध करते हैं; पर महाशयो! वहां का वर्णित कार्य मनुष्य भी तो नहीं कर सकते। वस्तुतः वे वानर देवताओं के अवतार थे; अतएव उनके लिए रामायणवर्णित कृत्य असम्भव नहीं थे—यह हम आगे कहने वाले हैं। यदि यह पक्ष वादी

लोग मान लें, तब उनको बार-बार लघुशङ्काएँ न हों; जो उनकी दुर्बलता की निशानी हैं; पर देवतावाद मान लेने से उनके साम्प्रदायिक-सिद्धान्तका भङ्ग होता है; तभी वे कुतर्कोंका सहारा लेकर पृथ्वी-आकाशके कुलावे मिलाकर असम्भूत विचित्र कल्पनाएँ किया करते हैं। वस्तुतः देवतावाद न मानने से सारा वैदिकसाहित्य एवं पौराणिक, ऐतिहासिक और लौकिक साहित्य व्यर्थ हो जाता है।

(३७) यदि हनुमानादिको लौकिक वानर भी मान लिया जाय; तब भी दोष नहीं आता? वन्दरोंको प्रयत्नपूर्वक सिखलाया जावे; तब वे सब प्रकारके कार्य कर सकते हैं। 'आर्यपथिक'की 'हनुमान आदि वानर' पुस्तकके पृ. ४ पं. ६-१४ में उन्होंने स्वयं लिखा है—

'एक वन्दर पिछले दिनों एक चित्रपट पर भी काम करता दिखाया गया था। उसकी मासिक वेतन भी इतनी थी कि—उसपर इनकमटैक्स लगता था। वह 'इन्सानियत' नामक फिल्म में काम करता था। वह बन्दर अनेक सुन्दर वस्त्र पहनता था'।

यहाँ वादीका यह लिखना व्यर्थ है कि—'ये वन्दर मलमूत्र-त्याग स्वयं करते हैं, खाना स्वयं खाते हैं, पर वस्त्र स्वयं नहीं पहनते हैं। इनको कोई वस्त्र पहनाता है, तो पहनते हैं। हनुमान् आदि स्वयं वस्त्र पहनते थे'। महाशय जी; अभ्यासकी महिमा बड़ी है। उससे सभी कार्य किये-कराये जा सकते हैं। श्रीकन्हैयालाल मिश्र प्रभाकरने 'ब्राह्मण-सर्वस्व' (पुराणाङ्क)में

लिखा था कि–'एक बन्दर अपना नाम लिखा करता था। कई बन्दर दुकानोंसे कई वस्तुएँ पैसा देकर ले आया करते थे; यह समाचारपत्र-संसारमें प्रसिद्ध है। आजकल सर्कसोंवाले रीछसे साईकल चलवाते हैं; हाथीको चौकीपर बड़े प्रयत्नसे बैठवाते हैं; जो उस समय पूरा गणेशजी लगता है। इस प्रकार पक्षियोंसे, पशुओंसे अन्य बड़े काम लिये जाते हैं; और लिये जाते रहेंगे।

हम गाजियाबादमें एक बगीचीमें रहते थे; उसमें वृक्षोंपर बन्दर रहा करते थे। एक बार एक बन्दर कहींसे एक चुन्नी उठा लाया; और शीशा भी। शीशेमें वह वार-वार अपनी शकल देखता था। सिर पर चुन्नी रखकर घूँघटसा निकालता था। बन्दर बड़ा नक्काल होता है, वह जैसा दूसरेको करते देखे; वैसा करता है। यदि गतजन्मका वह आरूढ़-पतित हो, और उसे पूर्व जन्मकी भी स्मृति हो; तो उसे वस्त्र पहननेमें भी कोई कठिनाई न पड़े।

आर्यसमाजके श्रीराजेन्द्र (अतरौली) जीने 'पूर्वजन्मस्मृति' (पृ. ३४)में एक सर्पको पूर्वजन्मकी स्मृति दिखलाई है। और पृ. ६०-६१-६२में एक जीवित वृद्धकी आत्माका एक मृतक युवाके शरीरमें योगविद्या द्वारा प्रवेश दिखलाया है, तव कोई योगी भी वन्दरके मृतक शरीरमें अपनी आत्माका प्रवेश कराकर फिर सब काम मनुष्यों जैसे कर सकता है; उसमें क्या असम्भव है? वताया जा चुका है कि–जन्मसिद्ध योगी देवोंने अपनी आत्माएँ वानरशरीरोंमें डाली थीं, तव वे अप्राकृत (दिव्य) वन्दर उन

जन्मसिद्ध योगी-देवताओंकी महान् शक्तिवाले कार्य करें, इसमें क्या असम्भव है? एक कुत्तेका वृत्त हम आगे लिखेंगे।

गत हिटलरी महायुद्धमें जापान वालोंने वन्दरोंसे काम लिया था; लङ्कापर आक्रमण भी किया था। लाहौरके दैनिक 'विश्वबन्धु' (२४।११।४४ के डाकसंस्करण)में यह घटना प्रकाशित हुई थी–'जापानियोंने वानरोंकी सेना तैयार कर ली। जापानियोंने मध्य-वर्मामें वानरोंको सिखानेकेलिए स्कूल खोल रखे हैं। साधारण रंगरूटोंकी भांति ट्रेनिङ्गके पश्चात् वे 'शिक्षित लड़ाका सैनिक' वन जाते हैं। वे वृक्षोंमें छिपकर बैठते हैं, और शत्रुपर हस्तबम फेंकते हैं। वानरोंको खच्चरोंपर चढ़नेकी शिक्षा भी दी जा रही है। वे उनपर चढ़कर वारूद आदि दूसरे स्थान पहुँचा आते थे'।

जब इस प्रकार गतयुद्धमें-साधारण वानरोंका उपयोग लिया गया; तव युद्धकलाविशारद श्रीरामने भी यदि युद्धमें आरूढ़-पतित दिव्य वानरोंको शिक्षित करके उनसे सहायता ले ली हो; उनसे वड़े-बड़े काम ले लिये हों, तव लौकिक दृष्टिसे भी इसमें क्या आश्चर्य? तभी तो रामायणमें 'तथा सर्वाणि भूतानि तिर्यग्योनिगतान्यपि। प्रियं कुर्वन्ति रामस्य त्यक्त्वा प्राणान् यथा वयम्' (वाल्मी. ४।५६।१०)में जटायु आदि गीध तथा हनुमान् आदिको तिर्यग्योनि (पशु-पक्षी) बताया है, इससे हमारा पक्ष पूर्ण पुष्ट होकर वादियोंका पक्ष सर्वथा कट जाता है। तभी तो एक कविका पद्य भी इस विषयमें प्रसिद्ध है-'यान्ति न्याय-

प्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम्'। शेष रहा वन्दरोंका बोलना-चालना। वन्दरकी भी एक भाषा हुआ करती है, जिससे वे परस्पर बातचीत किया करते हैं। तभी तो इकट्ठे हो जाते हैं, इकट्ठे भाग भी जाते हैं। उस भाषाका रूस आदि देशोंके वैज्ञानिकोंने उनके शब्दोंको ग्रामोफोनमें भरकर और उनके सामने वजा-वजाकर ज्ञान प्राप्त कर लिया था, और समाचार-पत्रोंमें उन शब्दोंका संग्रह भी अर्थों समेत किया था।

आर्यमुसाफिर श्रीलेखरामके बने 'पुनर्जन्म' (पृ. ५७)में 'सुवह-सादिक मदरास' पत्रके २०-१०-१८६५के अङ्कसे उद्धृत किया गया है कि–हैदराबाद और करनौलके बीचमें फर्रुखनगरमें एक हाथी मनुष्यकी भांति बातें करता है। फिर वहीं लिखा है–'यदि अँग्रेजी डाक्टर जो पशु-सम्बन्धी खोज करते हैं, इस ओर ध्यान दें; तो वे पशुओंकी बातचीतको बहुधा समझ लें (पंजाब अखबार लाहौर १-१२-१८६५) (पुनर्जन्म श्रीलेखराम आर्य-मुसाफिर पृ. ५६) आर्यपथिकको आर्यमुसाफिरकी बातपर ध्यान दे देना चाहिये। और योगी तो योगविशेषके बलसे 'सर्वभूतरुत-ज्ञान' (योग-विभूति १७) कर सकता है।

जबकि सन्त ज्ञानेश्वर-द्वारा सिरपर हाथ रखनेमात्रसे एक भैंसा भी 'सहस्रशीर्षा' आदि वेदमन्त्र बोल उठा था, यह उस इतिहासमें तथा चित्रपट-संसारमें प्रसिद्ध है, तब अवतारी पुरुष श्रीरामने भी उन आरूढपतित दिव्य वानरोंको भाषाका व्यापार भी सिखला दिया हो; तो इसमें क्या आश्चर्य? इस विषयमें

'पशुपक्षियोंका भाषण' निवन्ध आगे दिया जा रहा है। तब रामायणीय वानरोंको नर बताते हुए वादी प्रायश्चित्तीय सिद्ध हुए। वस्तुतः वानरगण देवताओंके अवतार थे–यह श्रीवाल्मीकिके अनुसार माननेसे सब सङ्गतियां लग जाती हैं। यह न माननेपर फिर रामायणकी काट-छाँट करनी पड़ जाती है। कई उसके वचन छिपाने पड़ जाते हैं; कहीं प्रक्षेप बताना पड़ता है; जैसाकि–आजकलके सुधारक चाहे वे सनातनधर्मी हों, वा आर्यसमाजी-करते चले आ रहे हैं।

(३८) 'हनुमान् आदि वानर नर थे या मनुष्य' (पृ. १५८) प्रतिपक्षीकी पुस्तक सन १६५६ में प्रकाशित हुई। उसकी उपजीव्य 'क्या रामसेना बन्दर थी?' यह पुस्तिका थी; जिसे स. ध. प्रतिनिधि सभाके सनातनधर्मी होते हुए भी लेखकने अमृतधाराके आविष्कारक जो आर्यसमाजी थे–सम्भवतः उन्हें प्रसन्न करनेके-लिए लिखा था। वह सन १६५५ में श्रीठाकुरदत्तजी द्वारा प्रकाशित हुई थी। उसीका सब कुछ लेकर प्रतिपक्षीने उक्त पुस्तकमें उसका अपने ढंगसे भाष्य किया था, जिसके आक्षेपोंका समाधान हम बीच-बीचमें कर चुके हैं; और आगे भी करनेवाले हैं।

उसी उपजीव्य पुस्तिकाके पृ. १२-१३ में सनातनधर्मी लेखक-महोदयने ढुलमुल-नीतिसे कुछ लिखा है, जिसका सार यह है–"दक्षिण-भारतमें रहनेवाली एक जाति थी; उसकी सेनाकी सहायतासे ही श्रीरामचन्द्रजीने लंकापर विजय प्राप्त

की थी; वाल्मीकि श्रीरामके समकालीन थे। उन्होंने रामके राज्यकालमें रामायणकी रचना की थी। इसलिए उसमें रामकी उस सहायक जातिका जो वर्णन किया गया है, वह अधिक विश्वसनीय है' (पृ. १) 'इन जातिवालोंकी इतनी ऊँची सभ्यता और संस्कृतिके होनेपर भी महर्षि वाल्मीकिने उन्हें नर न कहकर वानर कहा तो है, परन्तु वानर नाम सुनते ही हमें जिन प्राणियोंका बोध होता है, शायद वाल्मीकिका अभिप्राय उनसे न हो, क्योंकि-हम जिन्हें वानर कहते हैं, वे पशु हैं। वे रामायण-वर्णित काम नहीं कर सकते।'

यह बातें लेखकने श्रीपं० शालग्रामशास्त्रीजीकी 'रामायणमें राजनीति' (सं. १६८८)के १११-११२ पृष्ठसे लेकर फिर उन्हीं सूत्रोंका भाष्य किया है। आगे वे लिखते हैं-'जो लोग रामायण-को केवल एक शिक्षाप्रद कथामात्र समझते हैं, उन्हें वाल्मीकिके इस 'वानर' शब्दपर विचार करनेकी आवश्यकता नहीं, परन्तु जो उसे ऐतिहासिक ग्रन्थ मानते हैं, उनकेलिए यह बात अवश्य विचारणीय है' (पृ. १३)

यह लिखकर वे आगे लिखते हैं—'यह बात न थी कि-इस जातिको वानर कहना वाल्मीकिको खटका न हो। खटका उन्हें भी, और उन्होंने 'यस्य देवस्य यद् रूपं तेजो यश्च पराक्रमः' (वाल्मी. १७।१६) 'अजायत समं तेन तस्य तस्य पृथक्-पृथक्' (२०) देवगन्धर्व-पुत्रैश्च वानरैः कामरूपिभिः' (कि. ३३।६) देवसन्तान कहकर उसका सांकेतिक समाधान भी कर दिया गया, किन्तु यह समाधान

श्रद्धालु भक्तोंकेलिए भले ही हो, परन्तु इतिहासके जिज्ञासुओंके लिए यह उत्तर सन्तोषजनक न होगा' (पृ. १३)

पाठकोंने लेखक-महोदयका मत देख लिया। जब लेखकके अनुसार वाल्मीकि श्रीरामके समकालीन थे; उन्होंने रामका इतिहास लिखा, और उसमें रामकी सहायक उस जातिका जो वर्णन किया, वह यदि अधिक विश्वसनीय है, तो श्रीवाल्मीकिने तो उन्हें बड़े धड़ल्लेसे वानर (बन्दर) बताया है, एक-दो स्थानमें नहीं, किन्तु सभी स्थान, यह लेखक भी मानता है। श्रीवाल्मीकि जब लेखकके अनुसार श्रीरामके समयके थे; तब उन्हें उस समयका पूरा इतिहास ज्ञात था और उन्होंने उसे स्वयं लिखा भी, तब हनुमानादिका वानर होना वा लिखना भला महामुनिको क्यों खटकता? कोई एक स्थानपर ऐसा उन्होंने थोड़े ही लिखा है? उन्होंने तो स्थान-स्थान पर ऐसा लिखा है। एक-दो प्रमाण यह भी देख लीजिये।-

'हनूमन्तं कपिं व्यक्तं मन्यते, नान्यथेति सा' (५।३६।८६) अर्थात् सीता हनुमान्को वास्तविक बन्दर मानने लगी, रावण-प्रेषित माया-वानर नहीं। तब हनुमान्ने स्पष्ट किया—'ततोस्मि वायुप्रभवो हि मैथिलि! ऐरावतस्तत्प्रतिमश्च वानरः' (८८) अर्थात् मैं वायुपुत्र वानर हूँ।

ग्रन्थके तात्पर्यनिर्णयमें 'अभ्यास' (फिर-फिर उसीकी आवृत्ति) भी एक लिङ्ग होता है, उस अभ्याससे स्पष्ट तात्पर्य निर्णीत होगया कि—वे देवावतार अप्राकृत (दिव्य) बन्दर थे, तब

उसमें असम्भवकी क्या बात? जो बात अपनी संकुचित-बुद्धिमें न जम सके; तब क्या उसे मूल-लेखकसे विरुद्ध अपनी इच्छामात्रसे विरूप कल्पित कर देना—क्या यह 'सङ्गत मार्ग' है? महाभारतमें अर्जुनका ध्वज 'हनुमान'का प्रसिद्ध है; वहां उसे 'कपिध्वज' लिखा गया है, वहां कोई वनवासी मनुष्यका संकेत तक नहीं; अतः हनुमान्की वानरता स्पष्ट सिद्ध हुई।

(३६) जो कि वादियोंको 'हनुमानादिकी वानरतामें वेदविद्वत्ता, राजभवन आदिकी सत्ता समझमें नहीं आती; वह उनकी अपनी समझका दोष है। 'विद्वाँसो हि देवाः' (शत० ३।७।३।१०) देवता जन्मसे ही विद्वान् होते हैं; इस विषयमें 'आलोक' (४र्थ पुष्प) मंगाना चाहिये। सो उन्हीं देवताओंका जो रंगढंग, वेष, सुवर्णादिके मुकुट पहरना, गुण, पराक्रम आदि था; वह देवावतार (दिव्य) वानरोंमें भी आना स्वाभाविक था। इस प्रकार ठीक-ठीक समाधान प्राप्त हो जाता है; तब उसमें अविश्वासकी दृष्टि रखना प्रच्छन्न-बौद्धताको अपनाना है। देवताओंको यदि न माना जावे; तो वेद, पुराण, इतिहास आदि सारे प्राचीन साहित्यको हमें छोड़ना होगा। आर्यसमाजी देवताओंकी सत्ता नहीं मानते; इसीलिए वे नई संगतियां लगानेको तैयार रहते हैं। वे विद्वान्-मनुष्योंका नाम ही देव कहकर संगति लगाने को उद्यत रहते हैं, पर यह निर्मूल बात है; इस विषयमें हम 'आलोक' (४र्थ पुष्प)में स्पष्टता कर चुके हैं, शङ्ककोंको उसे भली-भांति देखना चाहिये; पर सनातनधर्मी भी यदि उन्हींके प्रवाहमें बह जाएँ, तो यह खेदका विषय है।

(४०) कई नये खोजी यह कहते हैं कि—'जब हनुमान् लङ्कामें सीताके पास पहुँचा; और उसे अपने कन्धेपर चढ़ाकर श्रीरामके पास ले जानेका उसने प्रस्ताव रक्खा; तब सीताने कहा कि—मैं पर-पुरुषके शरीरको स्पर्श नहीं करूंगी। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि—हनुमान् मनुष्य था। बन्दर होनेपर मनुष्य-स्पर्शका कोई प्रश्न ही नहीं।' यहाँपर पूर्वपक्षीको 'भर्तुर्भक्तिं पुरस्कृत्य रामादन्यस्य वानर! नाहं स्प्रष्टुं स्वतो गात्रमिच्छेयं वानरोत्तम!' (५।३७।६२) यह पद्य इष्ट प्रतीत होता है; पर यह पद्य तो पूर्वपक्षीका पक्ष काट देता है। यहाँपर 'हनुमान' को 'वानर, वानरोत्तम' यह दो सम्बोधन दिये गये हैं; तब यहां हनुमानकी मनुष्यताका प्रश्न ही नहीं हो सकता।

यहांपर 'रामातिरिक्तस्य' कहा है कि—मैं भर्ता रामकी भक्तिके कारण 'रामसे भिन्न' चाहे कोई भी हो, उसके शरीरको स्वतः स्पर्श नहीं करना चाहती। 'रामादन्यस्य नार्हामि संसर्गम्' (५।३८।४) यह भी पद्य पूर्वोक्त पद्यका अनुवादक है। तब हनूमान् भी तो 'रामातिरिक्त' थे। तब वह उसके शरीरका ही स्पर्श स्वतः क्यों करती? उसका भाव यह है कि—रामके अतिरिक्त चाहे कोई देवता हो, चाहे दैत्य हो, चाहे मनुष्य हो, चाहे पशु हो, चाहे पक्षी हो; उसके शरीरका स्वतः स्पर्श नहीं करूँगी। तब प्रश्न उपस्थित होता था कि—उसने रावणके शरीरका स्पर्श ही

कैसे किया; जब कि वह उसे उठा ले गया था। वह भी तो 'रामातिरिक्त' था। इसपर उसने ६३ वें पद्यमें स्वयं उत्तर दे दिया कि—'यदहं गात्रसंस्पर्शं रावणस्य गता बलात्। अनीशा (स्त्रीत्वात् स्वयं किमपि कर्तुमसमर्था) किं करिष्यामि विनाथा विवशा सती' कि—उस समयमें मैं विवश थी। जब वह रामातिरिक्त किसीके भी शरीरका स्पर्श नहीं करना चाहती थी. तब इससे हनुमान्की मनुष्यता सिद्ध न हो सकी। मूलमें 'मनुष्य' शब्द तो दूर, 'पुरुष' शब्द भी नहीं है; और 'वानर' शब्द प्रत्यक्ष है, तब बादीका पक्ष कट गया।

(४१) एक प्रश्न यह है कि—रावणने तपस्यासे प्राप्त वरमें देवता आदि सबसे अवध्यता मांगी, केवल मनुष्यको छोड़ दिया; 'मानुषान् न गणे देव!' (६।१६।४२); तब वानर यहां कहां टपक पड़े?' इसपर जानना चाहिये कि—यहां रावणको नन्दिकेश्वरका शाप था। नन्दी वानररूप किये हुए था; उसे देखकर रावणने उसका उपहास किया, तब उसने रावणको शाप दिया कि—बन्दर उत्पन्न होकर तेरे कुलका विध्वंस करेंगे—'तं (नन्दिनं) दृष्ट्वा वानर-मुखम् अवज्ञाय स राक्षसः। प्रहासं मुमुचे (चकार) तत्र (७।१६।१४) तं क्रुद्धो भगवान् नन्दी शङ्कररस्यापरा तनुः। अब्रवीत् तत्र तद् रक्षो दशाननमुपस्थितम्' (१५) यस्माद् वानररूपं मामवज्ञाय दशानन! अशनीपातसंकाशमपहासं प्रमुक्तवान् (१६) तस्माद् मद्वीर्य-संयुक्ता मद्रूप-समतेजसः। उत्पत्स्यन्ति वधार्थं हि कुलस्य तव वानराः। (१७) नख-दंष्ट्रायुधाः

क्रूरमनः-सम्पातरंहसः। युद्धोन्मत्ता बलोद्रिक्ताः शैला विसर्पिणः' (१८) ते तव प्रबलं दर्पमुत्सेधं च पृथग्विधम्। व्या नेष्यन्ति सम्भूय' (१६) यह शाप उत्तरकाण्डमें ही केवल नहीं बल्कि उसे सुन्दर-काण्डमें भी बतलाया गया है—'किमेष भग वान् नन्दी भवेत् साक्षाद् इहागतः। येन शप्तोस्मि कैलासे मया प्रहसिते पुरा। सोऽयं वानरमूर्तिः स्यात् (५।५०।२-३) यह राव सोच रहा है।

जब रावण नरोंको कुछ नहीं समझता था; तब वानरों क्या समझता? अतः उसने अपने अवध्यत्वमें देव-दैत्यों लिए कहा; पर नर-वानर छोड़ दिये। तब उसके मारनेके लि नर-वानर-रीछ आदि रूपसे ही देवताओंको अवतीर्ण हो था। वरके कारण वे देव-रूपमें तो रावणको मार सक नहीं थे। उसमें विष्णुदेवको राम-लक्ष्मणादि मनुष्य रूप तथा अन्य देवोंको जाम्बवान्-हनुमानादि रीछ-वानररूप अवतीर्ण होना पड़ गया। इस प्रकार वाल्मीकिरामाय महाभारतादिके बाह्याभ्यन्तरिक प्रमाणोंसे हनूमान् आदि वानरता स्पष्ट सिद्ध हो गई। इसमें हनुमान् तो अमर जाम्बवान्, मैन्द, द्विविद आदि अन्य भी कई रीछ-वा चिरंजीवी रहे; इसलिए वे महाभारत-कालमें भी दीखते है द्विविद वानरको श्रीबलरामने मारा था। जाम्बवान्की का रूपिणी लड़की जाम्बवतीसे श्रीकृष्णने विवाह किया था; वादियोंका उस पर प्रश्न व्यर्थ है।

(४२) अवशिष्ट प्रश्न यह है कि 'रामायणमें जो कार्य वानरोंने किया, वह वानरगण-साध्य नहीं है, तब वहाँ वानरों-से सम्बन्ध क्यों जोड़ा जाता है; उन्हें मनुष्य ही क्यों न मान लिया जावे ?' इस पर उत्तर यह है कि—यदि वह कार्य वानर-गण साध्य नहीं; तो वह मनुष्य-जातिसे भी साध्य नहीं। आप लोग उन्हें साधारण वन्दर मानते हैं; पर यह स्मर्तव्य है कि–वे साधारण वन्दर नहीं थे। वस्तुतः वे अप्राकृत वानर अर्थात् देवावतार ही थे। देवताओंने ही श्रीरामके कृत्यकेलिए विष्णुके कथनानुसार विशिष्ट वानररूपता स्वीकृत की थी।

देवताओंकी शक्ति अनन्त होती है; ऐसा वेदादि-शास्त्रोंका कथन है। इसलिए वेदमें मरुत् नामक देवोंकेलिए जिनके अवतार हनूमान् थे–कहा है–'अनन्तशुष्माः' (ऋ० १।६४।१०) वे अनन्त बल वाले होते हैं। 'अपारो वो महिमा' (ऋ० ५।८७।३४) (हे देवविशेष मरुतो, तुम्हारी महिमा अपार है।) इस विषय में अधिक हम किसी अन्य पुष्पमें रखेंगे। तब मरुत्देवके अवतार हनूमान् भी अनन्तवलशाली थे। तभी तो उन मरुतों-(देवों) के अवतार वानर भी कामरूप-(अपनी इच्छानुसार शरीर वना सकने वाले), हाथी, पहाड़ आदिके समान बड़े शरीर वाले, देवभाषा (संस्कृत) बोलने वाले, वेद-वेदाङ्गप्रवीण, मनुष्यकी भान्ति गति-चेष्टा वाले रामायणमें कहे गये हैं।

देवविशेष मरुतोंको वेदमें 'मर्या इव' (ऋ. ५।५६।३,५) 'न मर्या अरेपसः' (ऋ० १०।७८।१,४) १०।७७।३) इत्यादिस्थलोंमें मनुष्योंकी तरह कहा है। 'बृहद्देवता' (५।६७)मेंभी उन्हें पुरुषों (मनुष्यों) के शरीरवाला कहा है। 'ताँस्तुल्यवयसो दृष्ट्वा देवान् पुरुषविग्रहान्' (५।६७) 'ततः स मरुतो देवान् रुद्रपुत्रान् अबुध्यत' (६८)। तब यदि रामायणमें उन देवोंके अवतार अप्राकृत(दिव्य) वानर आदि मनुष्योंकी भान्ति राज्यकार्य तथा अन्य कार्य करते भी थे; तो इससे वे मनुष्य नहीं हो जाते। इससे पूर्वपक्षियोंका देवावतार वानरोंके मनुष्य-जैसे कार्य ढूंढनेका परिश्रम व्यर्थ गया। अब उन्हें हमारे कहे रामायणीय वचन देखकर वानरों-को मनुष्य न मान कर उन्हें देवावतार-विशेष वानर जानना चाहिये। इस प्रकारके मानुषी व्यवहारके अभिज्ञ वानरादि जो होते हैं; उनपर भी मानुषी व्यवहारकी मर्यादा कुछ-कुछ चलती है, जिससे श्रीराम द्वारा उसके उल्लंघनकर्ता वालीको मारा गया। उनसे किया हुआ लोकोत्तर कार्य वनवासी-मनुष्यों द्वारा भी सम्भव नहीं। रामायणमें वर्णित वानरोंकी पूंछ, उनकी मुखाकृति, शरीरपर बाल, कूदना-फांदना, दान्त पीसना, नखों-दाढ़ों द्वारा काटना-नोचना, किलकिला शब्द आदि स्पष्ट सिद्ध करते हैं कि वे आकृति और शरीरमें वानर-योनि वाले ही थे, पर उनसे बहुत सी विशेषताओं वाले थे।

(४३) उन वानरोंका देवावतारत्व वाल्मी.रा.में देखिये—'पुत्रत्वं तु गते विष्णौ राज्ञस्तस्य महात्मनः। उवाच देवताः सर्वाः स्वयम्भूर्भगवान् इदम्' (वाल. १७।१) (जब विष्णु भगवानने दाशरथि बनना स्वीकार किया; तब ब्रह्माने सब देवताओंको

कहा) 'विष्णोः सहायान् बलिनः सृजध्वं कामरूपिणः (२) मायाविदश्च शूरांश्च वायुवेगसमान् जवे। नयज्ञान् बुद्धिसम्पन्नान् विष्णुतुल्यपराक्रमान् (३)। असंहार्यान उपायज्ञान् दिव्यसंहनना-न्वितान। सर्वास्त्रगुणसम्पन्नान् अमृतप्राशनानिव (४) 'अप्सरःसु च मुख्यासु गन्धर्वीणां तनूषु च। यक्षपन्नगकन्यासु ऋक्षविद्या-धरीषु च (५) किन्नरीणां च गात्रेषु वानरीणां तनूषु च। सृजध्वं हरि (वानर) रूपेण पुत्रान् तुल्यपराक्रमान् (६) (तुम देवता लोग देवस्त्रियों गन्धर्वी, यक्षिणी, वानरी, किन्नरी आदि अप्सराओंसे बन्दर रूपमें दिव्य शरीरवाले अतुल-बलशाली पुत्रोंको पैदा करो)।

'पूर्वमेव मया सृष्टो जाम्बवान् ऋक्षपुङ्गवः। जृम्भमाणस्य सहसा मम वक्त्रादजायत (७) वानरेन्द्रं महेन्द्राभम् इन्द्रो वालिनमात्मजम्। सुग्रीवं जनयामास तपनः तप्यतां वरः (१०) (जाम्बवान्-ऋक्षकी ब्रह्माके मुखसे, तथा इन्द्रसे बाली तथा सूर्यदेवसे सुग्रीवकी उत्पत्ति हुई)। बृहस्पतिस्तु'...तारं नाम महाकपिम् (११) 'विश्वकर्मा त्वजनयद् नलं नाम महाकपिम्' (देवशिल्पी विश्वकर्मासे नल वानर पैदा हुआ; इसी कारण अपने पितृक गुण शिल्पके कारण उसने समुद्रकी पुल बनाई)। 'वरुणो जनयामास सुषेणं नाम वानरम् (१७।१५)। मानुषं रूप मास्थाय विष्णुः सत्यपराक्रमः। सर्वैः परिवृतो देवैर्वानरत्वमुपागतैः' (६।११३।१३-१४) (विष्णु भगवान्ने मानुषरूप (रामावतार) बनाया। देवता सब वानररूप बना कर उनके पास ठहरे) वानराश्च

स्विकां योनिम् ऋक्षाश्चैव तथा वपुः। येभ्यो विनिःसृताः सुरेभ्यः सुरसम्भवाः। तेषु प्रविविशे चैव सुग्रीवः सूर्यमण्डलम् (वाल्मी० ७।११०।२०-२१) (वानर-रीछ जिस-जिस देवतासे उत्पन्न हुए थे; अन्तमें उसीमें प्रवेश कर गये)।

इस उपक्रम-उपसंहार तथा अभ्यास, अपूर्वता, फल आदि तात्पर्य-निर्णायक लिङ्गोंसे वानरोंका देवतावतार होना स्पष्ट है। तभी 'आत्मा वै पुत्रनामासि' (मन्त्रब्राह्मण १।५।१६-१७ गोभिलगृ. २।८।२१-२५ हनुमानादि वानर पृ. १०६) इस वेद वचन द्वारा उनमें भी लोकोत्तर दिव्य बल था, क्योंकि-देव योनिवाला व्यक्ति जिस भी रूपमें अवतीर्ण हो; पर अपने बलको नहीं छोड़ता। नाटकमें पुरुष यदि स्त्री बने; तब भी उनमें पुरुषवाला बल रह ही जाता है। देवावतार होनेसे ही हनुमानादि वेदवेदाङ्गोंके विद्वान् थे; क्योकि-'विद्वांसो हि देवाः' (शत. ३।७।३।१०) अर्थात् देवता जन्मसे ही विद्वान् होते हैं। इसकी स्पष्टता 'आलोक' (४) में की गई है। इससे आदि वानर होनेपर भी देवांशके अक्षत होनेसे हनुमान् आदिका वेद-वेदाङ्गोंमें पाण्डित्य दिखलाया गया है। तब स्त्री-रूपधारी पुरुष-नटकी भांति, देवावतार-वानर भी दैवी बलको कैसे छोड़ें? तभी तो कामरूप (अपनी इच्छानुसार रूप बना सकनेवाले) थे।

'मारुतस्यौरसः श्रीमान् हनुमान् नाम वानरः। वज्र-संहननोपेतो वैनतेयसमो जवे' (१।१७।१६) सर्ववानरमुख्यो

बुद्धिमान् बलवानपि' (१७) (यहाँ हनुमान्के बल-बुद्धिका परिचय दिया गया है।' अन्य बन्दरोंका बलवृत्त यह है-) 'अप्रमेय-बला वीरा विक्रान्ताः कामरूपिणः। ते गजाचलसंकाशाः वपुष्मन्तो महाबलाः (१८) ऋक्षवानरगोपुच्छाः क्षिप्रमेवाभिजज्ञिरे। यस्य देवस्य यद् रूपं वेषो यश्च पराक्रमः (१९) अजायत समं तेन, तस्य-तस्य पृथक्-पृथक्। गोलाङ्गूलेषु चोत्पन्नाः केचिद् उन्नतविक्रमाः (२०) ऋक्षीषु च तथा जाता वानराः किन्नरीषु च (२१) चारणाश्च सुतान् वीरान् ससृजुर्वनचारिणः। वानरान् सुमहाकायान् सर्वान् वै वनचारिणः (२४) सिंहशार्दूलसदृशा दर्पेण च बलेन च। शिलाप्रहरणाः सर्वे-सर्वे पर्वतयोधिनः' (२५) नखदंष्ट्रायुधाः सर्वे, सर्वे सर्वास्त्रकोविदाः। विचालयेयुः शैलेन्द्रान् भेदयेयुः स्थिरान् द्रुमान्' (२६) इनमें कई पद्य हम पहले दे चुके हैं, और उनका अर्थ भी कर चुके हैं। यहाँपर सब पद्योंका संग्रह कर दिया गया है। इससे श्रीरामके सहायक हनुमान् तथा अन्योंको स्पष्टतया बन्दर, देवावतार और अलौकिक-बलशाली बताया गया है। शेष पद्य निम्न हैं, जो उनका अलौकिक बल बताते हैं-

'क्षोभयेयुश्च वेगेन समुद्रं सरितां पतिम्। दारयेयुः क्षितिं पद्भ्याम् आप्लवेयुर्महार्णवान्' (२७) नभस्तलं विशेयुश्च गृह्णीयुरपि तोयदान्। गृह्णीयुरपि मातङ्गान् मत्तान् प्रव्रजतो वने' (२८) नदमानांश्च नादेन पातयेयुर्विहङ्गमान्। ईदृशानि प्रसूतानि हरीणां कामरूपिणाम्। (२९) शतं शतसहस्राणि यूथपानां महात्मनाम्।

ते प्रधानेषु यूथेषु हरीणां हरियूथपाः (३०) बभूवुर्यूथपश्रेष्ठान् वीरांश्चाजनयन् हरीन्' (बालकाण्ड १७।३१)। युद्धकाण्डमें भी उन वानरोंकी देव, गन्धर्व आदिमें उत्पत्ति बताई गई है-हरयो देवगन्धर्वैरुत्पन्नाः कामरूपिणः' (२८।५) 'किष्किन्धाकाण्डमें भी कहा है-'देवगन्धर्वपुत्राश्च वानराः कामरूपिणः' (३८,२९)। युद्धकाण्डमें भी यही स्पष्ट है (६।११३।१४) 'सर्वैः परिवृतो देवैर्वानरत्वमुपागतैः' (१५)। यदि प्रतिपक्षियोंको वानरोंकी देवोंसे उत्पत्ति और देवोंकी मनुष्यसे भिन्न योनि और लोकोत्तर दिव्यशक्तिशालिता समझमें आ जावे, तो उन्हें कोई भी दीर्घ वा लघुशङ्का तंग न कर सके।

आर्यपथिकने (पृ. ६५) में लिखा है—'इतने गुणोंसे युक्त तो बन्दर क्या, सर्वसाधारण मनुष्य भी नहीं होते हैं'। सो मनुष्य-भिन्न देवयोनि-जिसके यह वानर अवतार थे—वादी रामायणकी भांति मान लें, तब उसको कोई भी इस विषयकी शंका भ्रान्त न कर सके। श्रीवाल्मीकिका स्वाभाविक अभिप्राय छिपानेसे काम नहीं चलेगा। 'सुरैर्हि सृष्टाः' (७।३६।४६) यहाँ वानरोंकी देवताओं द्वारा सृष्टि 'देवैर्वानरत्वमुपागतैः' (६।११३।१५) तथा देवताओंका वानररूप धारण करना श्रीवाल्मीकिमुनिने कहा है। पूर्ववचनका 'सुग्रीव आदिको विद्वानोंने विद्वान् बताया है' (पृ. ७६) यह आर्यपथिकका अर्थ ठीक नहीं। असङ्गत है। 'सुर'का अर्थ 'देवयोनि' है, 'विद्वान् मनुष्य' नहीं।

पूर्व लिखित श्लोकोंसे स्पष्ट है कि-वे साधारण आजकलके

से वानर नहीं थे। तभी तो श्रीसीताने भी हनूमान्को कहा
था—'न हि त्वां प्राकृतं (साधारणं) मन्ये वानरं वानरर्षभ ! यस्य
ते नास्ति संत्रासो रावणान्नापि सम्भ्रमः' (सुं. ३६।६) यहाँ
हनुमान्को साधारण वानरोंसे विलक्षण वानर कहा गया है।
'प्राकृतोऽन्यः कथं चेमां भूमिमागन्तुमर्हति। उदधेरप्रमेयस्य
पारं वानरपुङ्गव !' (५।३७।४१) अर्थात् इस अपार समुद्रको
साधारण वानर भला पार कैसे कर सकता है ? इस प्रकार हनूमान्
अप्राकृत वानर सिद्ध होते हैं। पहले श्रीसीताने भी उसे प्राकृत
वानर समझा था—'हनूमन्तं कपिं व्यक्तं मन्यते नान्यथेति सा'
(५।३५।८७) पीछे उसकी शक्तिका परिचय पाकर उसे अप्राकृत
वानर माना।

(४४) इस प्रकार प्राकृत (साधारण) वानरोंने भी हनुमान्को
साधारण (प्राकृत) वानर समझकर अपनी जातिके स्वभावानुसार
जब हनुमान् विशल्यकरणी आदि ओषधियोंवाला पहाड़ लाने
गया था, उस समय स्वयं भी उछलनेका यत्न किया; पर वे
गिर गये। जैसे कि—'स वृक्षखण्डान् तरसा जहार, शैलान्
शिलाः प्राकृतवानरांश्च। बाहूरुवेगोद्धतसम्प्रणुन्नाः ते (प्राकृत वानराः)
क्षीणवेगाः सलिले निपेतुः' (युद्ध. ७४।४६)। इससे हनूमान्
अप्राकृत (दिव्य) वानर सिद्ध हुए। यदि हनुमान् बन्दर न होते;
मनुष्य होते; तब अन्य बन्दर अपनी जातिके स्वभावानुसार उसके
पीछे न कूदते; क्योंकि—उनका एक मनुष्यके साथ उछलनेका कुछ
भी सम्बन्ध नहीं था। इससे वे भी बन्दर ही थे; पर

हनूमानादि विशेष दिव्य वानर सिद्ध हुए। वहीं पर ही हनुमानके
'स पुच्छमुद्यम्य भुजङ्गकल्पं विनम्य पृष्ठं श्रवणे निकुच्य,
विवृत्य वक्त्रं…आपुप्लुवे व्योम्नि स चण्डवेगः' (६।७४।४४)
पूछ उठाना, पीठको झुकाना, कानोंको सिकोड़ना, आकाशमें
उछलना कहा है, यह मनुष्योंमें नहीं हो सकता। दिव्य वानरोंमें
ही हो सकता है। इस प्रकार देवावतार अन्य बन्दर भी ऐसे थे।
वे कामरूप होनेसे मनुष्यरूप भी धारण कर सकते थे, इसलिए
वे मनुष्य-शास्त्रके बन्धनमें भी कुछ आ सकते थे, परन्तु युद्धमें
श्रीरामने उनके मनुष्यशरीरधारणका निषेध कर दिया था।
जैसे कि—

'न चैव मानुषं रूपं कार्यं हरिभिराहवे। एषा भवतु नः संज्ञा
युद्धेस्मिन् वानरे बले। वानरा एव वश्चिह्नं स्वजनेस्मिन् भविष्यति।
वयं तु (रामलक्ष्मणादयः) मानुषेणैव [रूपेण] सप्त योत्स्यामहे
परान् (६।३७।३३-३४) यहाँपर रामाभिरामने लिखा है—'अथ
वानराणामपि कामरूपतया रूपान्तरकरणे युद्धे स्वीय-परकी-
यविवेकाऽसम्भवाद् आह—'न चैवेति। संज्ञा—नित्यवानररूप-
धारणसंकेतः। एवञ्च अस्मान् सप्त हित्वा—मन्त्रिचतुष्टयसहितं
विभीषणं च त्यक्त्वा मनुष्याकारो निःशङ्कं वध्यः। वानररूप-
धारी वानरैर्युध्यते; तदा वध्य एव। वो युष्माकं स्वजने-स्वजनत्व-
ज्ञाने वानरा एव—वानरत्वविशिष्टा एव चिह्नं, तद्वैशिष्ट्यमेव
चिन्हमित्यर्थः'। (हम सात आदमियोंके अतिरिक्त कोई भी
बन्दर युद्धमें मनुष्यरूप न बनावे) इससे स्पष्ट सिद्ध होता है

कि–वानर वानराकृति ही थे, प्रतिपक्षियोंके अनुसार मनुष्य नहीं थे, न मनुष्याकृतिके थे। हाँ, कामरूप होनेसे मनुष्य रूप धारण कर सकते थे, पर उसका निषेध किया गया। यदि प्रतिपक्षियोंके अनुसार वानर मनुष्य ही थे, तब उनके मनुष्य रूपका निषेध व्यर्थ ही ठहरता है। केवल कपड़े पहननेके भेदसे नर-वानरका भेद कभी नहीं हो सकता। इससे प्रतिपक्षियोंका इस विषयका पक्ष कट गया।

(४५) इस प्रकार जब देवावतार होनेसे रामायणके वानरोंकी विशेषता सिद्ध हुई; तब उनमें ऐसा कार्य कौनसा अवशिष्ट रहा; जो असम्भव हो? जब ऐसा है, तब वानरयोनिसे जबर्दस्ती उनकी मनुष्ययोनि सिद्ध करनेकी तथा वास्तविकताको छिपानेकी क्या आवश्यकता? वस्तुतः यहाँ दोष प्रच्छन्न-बौद्धोंकी संकुचित तथा पक्षपात-कलुषित बुद्धिका है, जिसने ठीक सङ्गति लग रही होने पर भी असङ्गतिका शोर मचा रखा है। वे लोग इस मार्गको जानते अवश्य हैं, पर उसे छिपाते हैं। उसमें भी रहस्य है। वह यह कि–देवयोनि मान लेनेसे फिर उनके नेताओंके साम्प्रदायिक सिद्धान्तमें क्षति पड़ती है, क्योंकि–उनके नेता देवयोनिको नहीं मानते; न ही उसमें अलौकिक सामर्थ्य मानते मानते हैं। देवयोनि मान लेने पर उनको अपना सारा साहित्य बदल लेना पड़ेगा। परन्तु देवयोनि शास्त्रीय एवं वैदिक है। उसका कुछ विवरण हम 'आलोक' (४)में कर चुके हैं, शेष अन्य पुष्पोंमें करेंगे, उसमें उनकी अलौकिक शक्ति भी दिखलाई जायगी।

प्रत्यक्षदेव सूर्य आदिको ही देख लीजिये, जिनको उनके नेता भी देवता मानते हैं। उनमें कितना बल है, कितनी सामर्थ्य है? एक ही अग्निदेव हजारों मन भार उठाकर ट्रेन रूपमें दौड़ता दीखता है। एक ही सूर्यसे सारी पृथिवी अपनी शक्तिसे नियन्त्रित है। उसी कारणसे यह पृथ्वी आकाशमें स्थिर भी, नवीन-मतानुसार घूम रही भी, निराधार होती हुई भी नहीं गिरती। एक ही विद्युत्-रूपमें इन्द्रदेव संसारमें कितने कार्य पूर्ण कर रहा है। रोटी आदि बना रहा है। पंखा चला रहा है। चक्की चला रहा है, कपड़े प्रेस कर रहा है। शरीरमें बल बढ़ा रहा है। ट्रेनें चला रहा है। रेडियो, टेलीप्रिन्टर, टेलिविजन, टेलीफोन, टेलीग्राम आदिका कार्य कर रहा है।

देवोंमें कामरूपता भी जन्म-सिद्ध है; तब देवांश रामायणके वानर भी कभी मनुष्यका, कभी बिलावका, कभी हाथी वा पर्वत आदिका रूप भी बनानेमें समर्थ थे। इसीलिए 'मानुषं धारयन् रूपम् अयोध्यां त्वरितं ययौ। अथोत्पपात वेगेन हनूमान् मारुतात्मजः' (६।१२५।१६-२०) यहां हनूमान्का मनुष्यरूप धारण करना और उडना बताया है। यदि हनूमान् मनुष्य होते; तब वे अन्य मनुष्य-रूप कौनसा धारण करते।

इसी प्रकार 'ते कृत्वा मानुषं रूपं वानराः कामरूपिणः' (युद्ध. १३०।४३) यहाँ शरभ, पनस आदि वानरोंका कामरूपता-वश मनुष्यरूप धारण करना दिखलाया है। यदि वे पहलेसे ही मनुष्य थे, तो फिर उन्होंने अन्य कौनसा मनुष्य-रूप धारण

किया ? तब तो उनका 'कामरूपिणः' विशेषण भी असाभिप्राय हो जायगा; परन्तु वास्तविक बन्दर होनेपर भी फिर मनुष्यादि भिन्न योनिका रूप बनानेपर उनका 'कामरूपिणः' यह विशेषण साभिप्राय हो जाता है। यदि या वे बन्दर थे, और मनुष्यकी भांति कपड़े पहिनें, इससे भी उनकी मनुष्यता नहीं बन जाती, क्योंकि-वादी भी मानता है कि-कपड़े पहननेपर भी बन्दरका बन्दरपन छिप नहीं सकता।

इससे सिद्ध है कि-हनुमानादि मनुष्य नहीं थे; किन्तु वानर (बन्दर) थे। साधारण बन्दर भी नहीं थे; किन्तु देवांश, बल्कि देवताओंसे सीधे आये हुए विशेष वानर थे। हम 'रामायणकी राजनीति' (पृ. ११२) के अनुसार यह भी माननेको तैयार नहीं कि-'वानर एक वनेचर जाति थी। दक्षिण दिशाके जंगलोंमें इसका निवास था। इसकी सुन्दर राज्य-व्यवस्था थी. पढ़ने-पढ़ानेकी चाल थी। यह सब कुछ होने पर भी बहुत-सी बातें इन लोगोंमें जंगलीपनकी मौजूद थीं। यद्यपि यह प्रकृत जाति प्राचीनरूपमें आज नहीं दीखती; परन्तु यह सम्भव है कि-दक्षिण देशकी रहनेवाली अनेक जातियाँ इन्हीं रीछ-वन्दरोंकी सन्तान हों।'

वस्तुतः यह मत वाल्मीकि-रामायण एवं महाभारतसे विरुद्ध है। केवल यह मत कुछ दिमाग-फिरे सुधारकोंको प्रसन्न करनेकेलिए गढ़ा गया है। अस्तु ! कामरूपता होनेसे हनुमान्का 'ह्रस्वतां गतः' (५।२।४४) छोटा रूप तथा विलावका रूप

बनाना भी दिखलाया है-'सूर्ये चास्तं गते रात्रौ देहं संक्षिप्य मारु... वृषदंशक (बिडाल) मात्रोथ बभूवाद्भुतदर्शनः' (सुन्दर. २।... वनवासी मनुष्य अपने शरीरको छोटा-बड़ा करने वा बिलाव ब... समर्थ नहीं होते; 'स संक्षिप्यात्मनः कायं···बभूवाङ्गुष्ठमात्र' (सुं. १।१५६) यहां हनुमान्का अंगूठे-इतना रूप धारण करे... कहा है। परन्तु देवावतार वानरोंमें स्वभावसिद्ध अणिमा आ... अष्टसिद्धि अपने वश होनेसे वह शक्ति थी। रङ्गमञ्चमें स्त्रीरूप धारण करके भी अपने पुरुषत्व वा वैसे बलको नहीं छोड़ दिया करता, वैसे देवता वानर-योनिको पाकर अपनी दिव्यता वा शक्ति-विशेषको भला क्यों छोड़ दें ?

(४६) 'ज्येष्ठो हि त्वं तु सम्पाते ! जटायुरनुजस्तव। ... रूपमास्थायाऽगृह्णीतां चरणौ मम' (कि. ६०।२०) यहाँ ज... तथा उसके भ्राता सम्पातिके गीध-पक्षी होनेपर भी काम... (इच्छानुसारी शरीर-निर्माणमें समर्थ) होनेसे मनुष्य-रू... धारणमें शक्ति थी। यदि वे मनुष्य होते, तो फिर उन... कौनसा अन्य मनुष्यरूप धारण किया ? इसी प्रकार जाम्बवा... भी कामरूप होनेसे उसने अपनी कन्या जाम्बवतीको मानुषी रूपमें करके उसका श्रीकृष्णसे विवाह कर दिया।

इससे सिद्ध हुआ कि-देवतावतार होनेसे ही रामा... वानर, रीछ एवं गीधोंमें बड़ी शक्ति थी। 'माहाभा... देवतायाः' (निरुक्त. ७।४।८) देवताओंमें अणिमा आदि ... होता है, अतः वे कई प्रकारके रूप बना लिया करते हैं।

यद् रूपं कामयते, तत्तद् देवता भवति—'रूपं रूपं मघवा बोभवीति' (निरु. १०।१७।१) तब दूसरी योनिका रूप ग्रहण करनेपर भी उसकी स्वाभाविक अपनी शक्ति नष्ट वा कुण्ठित नहीं हो जाती। इसीलिए देवावतार हनुमान् वानर होनेपर भी विद्वान बताये गये हैं; क्योंकि—देवता जन्मसे ही विद्वान् हुआ करते हैं—'विद्वाँ सो हि देवाः' (शत. ३।७।३।१०) पर यह अदूरदर्शियों वा साम्प्रदायिकोंकी समझमें नहीं आता; अतः वे बलात् उन्हें मनुष्य बताते हैं। दमयन्तीको हँसने नलके विषयमें मधुर वाणीसे प्रेरित किया था; तब क्या उस दिव्य पक्षीको मनुष्य बना दिया जावेगा? इस प्रकार दिव्य होनेसे वानरोंमें भी मनुष्य-सदृशता, मनुष्योंवाले व्यवहार जिन्हें वादी उपक्षिप्त करते हैं—ब्राह्मणभोजनादि, दही बनाना, कपड़े आदि पहनना, सभी उपपन्न हो जाते हैं।

इसी प्रकार पुराणोंमें भी जो कि कई सर्पोंका मनुष्याकार भी दीखता है, वहाँ देवांश होना कारण रहा करता है। सभी सांप-वानरादिको हम भी मनुष्यसदृश वा वैसी शक्तिवाले नहीं बताते; किन्तु देवांश, देवावतार वा दिव्य पशुपक्षियोंको ही वैसा बताते हैं। इस प्रकार उनकी स्त्रियां तथा गरुड़, जटायु आदि पक्षियोंकी भी दिव्यता होनेसे उनके अलौकिक व्यवहार बताये गये हैं। इसी कारण ही दिव्यतावश अर्जुन आदिका मनुष्याकृति नागकन्याओंसे, श्रीकृष्णका ऋक्षकन्या-जाम्बवतीसे विवाह भी आया है। इसी कामरूपतासे वानर-कन्याओं—

रुमा, तारा आदिकी यदि पूंछ नहीं भी दिखलाई गई; उनका सुरा आदिका सेवन जो बताया जाता है वह भी उपपन्न हो जाता है। यह तो देवांश वानरादि हुए, विष्णु आदि भी जिन्हें परमात्मा माना जाता है और बन्धनरहित भी दिव्यतावश वे जब मनुष्य रामादिरूपमें* अवतीर्ण हो जाते हैं; तब वे भी मानुषी व्यवहार करते हैं; कुछ बन्धनमें आते ही हैं। तभी

*जो लोग कहते हैं कि—वाल्मीकिरामायणमें राम विष्णुभगवान्के अवतार नहीं बतलाये गये; वे तो अपने-आपको मनुष्य कहते हैं—'आत्मानं मानुषं मन्ये' (वाल्मी० ६।११९।११) इसपर यह जानना चाहिये कि—यह वचन तो उनकी मर्यादापुरुषोत्तमताको बता रहा है; नहीं तो मनुष्यका अपने-आपको मनुष्य कहना क्या अर्थ रखता है? वे आकृतिमें गाय-भैंस तो लग नहीं रहे थे। वाल्मी.में तो श्रीरामका विष्णुका अवतार होना, आदिसे लेकर अन्त तक व्याप्त है। यह हम इस निबन्धमें वाल्मीकिके वचन द्वारा भी संकेतित कर चुके हैं। अन्य पद्योंकी कुछ सूची देते हैं—१।१५।१९-२१-२२ १।७६।१७, २।१।७, ६।११३।११-१२-१३, ११९।१३, ७।१७।३५, ९८।१३, १०४।१५, ११०।१३ इत्यादि। महर्षि भारद्वाजने अपने आश्रममें आये भरतको भी यह संकेत किया था। चित्रकूटमें भी भरतके रामके लौटानेके अधिक आग्रहमें बीचमें बोलते हुए राक्षसवधाकाङ्क्षी ऋषि-मुनि-देवोंका इस रहस्यमें पूर्ण संकेत किया गया है। युद्धकाण्डमें बहुत स्थलोंमें रामका अलौकिक भाव प्रकट किया गया है। खर-दूषणके वधके बाद अगस्त्य ऋषिने भी यही संकेत किया था। रावणके मरनेके बाद मन्दोदरीने भी यही संकेत किया था। तब रामायणमें रामके अवतारकी कथाका कई संशयालुओं द्वारा प्रक्षिप्त मानना असङ्गत ही है।

श्रीबलरामने सूतवधके प्रायश्चित्तमें तीर्थयात्रा की। इसी प्रकार जब वे वानरादि भी मानुषी वाणी वा मानुषी ज्ञान रखते थे; तब कुछ-कुछ मानुषी शास्त्रके बन्धनमें आते हैं। दिव्यता भी साथ होनेसे अलौकिक (लोकोत्तर:कभी लोकविरुद्ध) कर्म भी वे कर डालते हैं; तब देवांश वानर-रीछ-गीध आदिका क्या कहना ? तब दैत्य भी महिषासुर आदि बन जाते हैं, राजा भी बनते हैं; प्रजापर शासन वा नियन्त्रण भी करते हैं।

यदि देवांश उन वानरोंने नगरियां भी बना रखी थीं; आदर्श मन्त्री एवं राजदूत भी उनके थे, धर्मशास्त्र वा कर्मकाण्ड भी यदि वे जानते थे; यदि अन्त्येष्टि क्रिया तथा सव्यापसव्य भी करते थे, जो कि अधिकारियोंका उपनयन-सूत्रसे तथा अनधिकारियोंका गोभिल आदिके अनुसार केवल वस्त्रके बाएँ-दाहने कन्धे पर करनेसे हो जाता है। इसमें असम्भव कुछ भी नहीं रह जाता। हाँ, इनकी आकृति प्रायः वानरादिकी रहती है, पर अप्राकृततावश उसमें मानुषी-पुट तथा देव-पुट भी रहता है। जिस पुस्तकमें जैसा वृत्त हो; उसकी तदुल्लिखित व्यवस्था भी माननी ही पड़ती है। श्रीवाल्मीकिने आजकलके साधारण (प्राकृत) वानरोंकी यह घटना नहीं दिखलाई, जिससे उसमें असङ्गति प्रवृत्त हो, किन्तु देवावतारोंकी। देवताओंकी शक्ति उच्च-योनि होनेसे लोकोत्तर ही होती है, उनकी शक्तिको प्रतिपक्षी अपनी शक्तिसे न तोलें। तभी वानरोंके लिए कहा है— 'कुलेषु जाताः सर्वस्मिन विस्तीर्णेषु महत्सु [देवसम्बन्धिषु] च।

क्व गच्छत भयत्रस्ताः प्राकृता हरयो यथा '(६।६२।२१) (तुम उन्न देवकुलोंमें पैदा होकर साधारण बन्दरोंकी भांति डरसे क्यों भागे जा रहे हो ? इस प्रकार विचार-चक्षु लगाकर और पक्ष- पातका काला चश्मा उतारकर वादी जब देखेंगे; तब कोई भी शंका उन्हें अविश्वासके गढ़ेमें गिरने नहीं देगी। आशा है—वे आग्रहवाद छोड़कर वास्तविकताके अनुसन्धानमें लग जावेंगे। इस प्रकार श्रीवाल्मीकिके वचनोंके उपन्याससे तथा वादियोंके तर्कोंके उच्छेदसे सिद्ध होगया कि—हनुमानादि असाधारण वानर थे। मनुष्य वा वनवासी अथवा वानरनामक क्षत्रिय- जातिवाले मनुष्य नहीं थे। इस विषयमें पहले युक्ति-विशारद श्री पं० कालूरामजी शास्त्रीने आवाज़ उठाई थी। फिर श्री डॉ. ला. शान्तिजीने। उनका अनुवर्तन करके हमने भी इस विषयमें यह महाभाष्य किया है।

(४७) हम इस निबन्धमें 'क्या रामसेना बन्दर थी?' तथा 'हनुमान आदि वानर बन्दर थे, या मनुष्य' इन दो पुस्तकोंकी आलोचना कर चुके। उनके प्रायः सभी तर्क-प्रमाणों पर विचार किया जा चुका है। वे आजकलके साधारण बन्दर नहीं थे, किन्तु देवावतार विशेष (अप्राकृत) वानर थे। आकृति वानरोंकी, चेष्टायें भी उन्हींकी, पर बल, ज्ञान एवं व्यवहार मनुष्यसे उच्च देवताओंका। 'शाखान्तरे लीनं' (सुं. ३२।१) आदिसे उनकी वानर-प्रकृति भी स्पष्ट है, जिसे पूर्व दिखाया जा चुका है। कई अवशिष्ट आपत्तियों पर यहाँ बिना उनके

उद्धरण दिये संक्षेपसे समाधान दिया जा रहा है।

(४८) 'मन्त्रविद् विजयैषिणी' (४।१६।१२) यहाँ विजयकी इच्छुका ताराका 'मन्त्र' विचार अर्थवाला है। 'सानुगाय इन्द्राय नमः' आदि वेदभिन्न भी मन्त्र कहे जाते हैं। अथवा 'वेदमन्त्र' अर्थ भी हो; तो 'देवांशत्वात् स्वस्त्ययनमन्त्रवेत्त्री' (रामाभिराम) आदि जान लेना चाहिये कि—देवावतार होनेसे वे उन मन्त्रोंको विना पढ़े स्वतः ही जानती थीं। जबकि—सन्त ज्ञानेश्वरने भसेके सिर पर हाथ रखा, तो वह भैंसा भी वेदमन्त्र बोलने लग गया था, तो देवांश वानरोंका तो कहना ही क्या ?

(४६) जब वन्दरोंका भी भवन बना हुआ हो; तब वे उसीमें रहते हैं, फिर वृक्षोंकी शाखापर क्यों रहें ? ऐसा वर्णन बाली-सुग्रीव, हनुमान्-अङ्गद आदि विशेष थोड़ेसे राजारूप वानरोंका आया है; सभी रामायणस्थ वानरोंका नहीं। 'इमां गिरिगुहां रम्यां' (कि. २६।७) 'तस्य तु शैलस्य महती शोभते गुहा' (कि. ७३।३६) (कि. ३३।४) इस प्रकार अन्य भी बहुतसे पद्योंमें पहाड़ी गुफाका वर्णन आया है; वहां निवास होनेसे वानरोंका नगर उसे कह दिया जाता है। वह जंगलमें था, जहाँ बहुत-से वृक्ष थे' (कि. ३३।५) इससे उनकी वानरता स्पष्ट है। 'वने त्रस्तौ' (कि. ५।२३) यहाँ वनमें एक किलेरूप खोहमें रहना लिखा है।

(५०) 'शुक्लैः प्रासादशिखरैः' (४।३३।१५)के 'शुक्ल'का अर्थ 'चूने-कलईसे पोते जाना' वादीकी अपनी कल्पना है, 'सुधा' शब्द साथ नहीं है। सुफेदी स्वाभाविक भी हो सकती है।

(५१) बाली-सुग्रीव आदिके राज्याभिषेक आदि इन्द्र-सूर्य देवोंके अंशसे उत्पत्तिवश राजा होनेके कारण दिखलाये गये हैं। (५२) 'विधिवत् अन्त्येष्टि' पर रामाभिरामने लिखा है—'देवांशत्वेन स्वयं ज्ञातवेदत्वात् तिर्यग्देहोचित-विधिवद्' (४।२।५०) आरूढपतित पशुदेहकेलिए जो विधि होती है, तदनुसार यह अन्त्येष्टि है। अपसव्यता वस्त्र (अंगोछे) के दाहिने कन्धे पर रखनेसे भी होती है—यह गोभिलगृह्यसूत्र आदिमें स्पष्ट है। द्विजोंसे भिन्नोंका यह हो सकता है, इस विषयमें 'आलोक'* (३) में देखना चाहिये।

(५३) अज्ञ वानरियोंका रुदन अपने बच्चे आदिके मर जानेपर अब भी होता है। अभिज्ञ वानरियों (देवतावतारों) के लिए तो क्या कहना ? (५४) 'उदकं कतु' (कि. २५।५१) का 'जलसे मृतकका तर्पण' अर्थ है, स्नान नहीं। सो अभिज्ञ देवावतार जो मनुष्यलोकमें आये हुए हैं, उनकेलिए कोई आश्चर्य नहीं। स्नान तो साधारण बन्दर भी तालाबोंमें अथवा वर्षा होनेपर गढ़ोंमें छलांगें लगाकर अब भी करते रहते हैं। (५५) 'पर्वतेन्द्रं समाश्रिताः' (४।२।१२) 'वानरेण मया सह' (४।५।१०) 'वने त्रस्तो' (४।५।२-३) इत्यादि लिङ्गोंसे उनकी वानरयोनिता स्पष्ट है। (५६) 'सन्ध्योपासनतत्परम्' (७।३४।१२) 'जपन् वै नैगमान् मन्त्रान्' (१८) 'सन्ध्याकालमवन्दत' (२७)

*'आलोक' तृतीय पुष्प समाप्त हो चुका है, समय पाकर उसकी द्वितीयावृत्ति होगी।

यहाँ सन्ध्याकालको उसका नमस्कार बताया गया है, जैसे कि-दूकानदार अब भी सायंके दीये जलनेपर उस समय हाथ जोड़ देते हैं, यह सन्ध्याकालको नमस्कार होता है। नैगम (वैदिक) मन्त्रोंका मनुष्यलोकमें आये देवावतार वानरोंकेलिए कोई आश्चर्य नहीं। वे तो उन्हें जन्मसे ही प्रतिभात होते हैं। तभी प्राचीन टीकाकार रामाभिरामने लिखा है-'बाल्यादयो हि स्वयं प्रतिभातसकलवेदा:' (१८) स्वयं प्रतिभातता देवावतार होनेके कारण है। (५६) 'क्षत्रियोऽहं कुलोद्भवः' (४।१८।२२) 'मैं कुलसे भी और गुण कर्म-स्वभावसे भी क्षत्रिय हूँ' (पृ. ८६) यहां 'गुणकर्मानुसार' शब्दका वादी द्वारा अर्थमें प्रक्षेप 'आर्यसमाजी-पन' है।

(५७) 'वानरोंकेलिए धर्मशास्त्र-प्रमाणके विषयमें रामाभिराम (तिलक) टीकाकार पहलेसे समाधान कर चुके हैं, इससे वादीकी अनेक आपत्तियोंका समाधान होगा। वे लिखते हैं-'न च मनुष्याधिकारस्य निषेधादिशास्त्रस्य कथं तिर्यक्षु (पशु-पक्षिषु) प्रवृत्तिरिति वाच्यम्, तिर्यग्योनेरपि मनुष्यवत् राजादिव्यवहार-दर्शनेन मनुष्यतुल्यज्ञानवत्त्वाद् अस्त्येवाऽयं [अनुजपत्नीगमनरूपः] दोषः। किञ्च-धर्मेऽनधिकारिणामपि इन्द्रादीनां वृत्रवधादौ ब्रह्महत्यादिदोषस्मरणेन, निषेधेषु तदतिक्रम-प्रायश्चित्तादौ च देवानामधिकारवद् एषामपि अधिकारे बाधकाऽभावः।...... तद्वद् ईदृशानां ज्ञानवतां तिरश्चाम् (पशुपक्षिणाम्) अधिकारे बाधकाऽभावः।...अत एव गृध्रराजस्य भगवता दाहादि कृतम्। अग्रे च सम्पातिना तद्भ्रात्रा करिष्यमाणमुदकदानादि नाऽसङ्गतम् इति दिक्'।

इसका निष्कर्ष यह है कि-जो देवादिसे आये हुए आरूढ-पतित* पशु-पक्षी भी मनुष्यके सदृश ज्ञान रखते हैं, उनका भी मनुष्याधिकार वाले शास्त्रका यदि कहीं आचरण दीखे, तो उसमें कोई बाधक नहीं। इससे बाली आदिकी प्रत्यक्ष दीख रही वानरयोनिताको छिपाया नहीं जा सकता। तभी श्रीरामने वालीको कहा था कि-'यस्मात् शाखामृगो ह्यसि' (४।१८।४१) तुम बन्दर हो, तुम्हें मैंने दण्ड दिया है, तुमसे युद्ध नहीं किया।

(५८) 'क्या वानरोंकी माताएँ बन्दरी थीं' (पृ. ६४) इस विषयमें पूर्व विचार कर चुके हैं। हनुमानकी माता अञ्जना केसरी वानरकी स्त्री (४।६६।८) स्वयं वानरी परन्तु कामरूपिणी (६) वानरेन्द्रकी लड़की (१०) थी। वह मनुष्यरूप बना लिया करती थी। कई अप्सराएँ वानराकृति वाली थीं, कई ऋक्षाकृति की, कई किन्नरियाँ (अश्वमुख वाली) थीं। अप्सरा देवस्त्रियाँ होती हैं-'ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्योऽप्सराभ्योऽकरं नमः' (अ. २।२।५) यहाँ वेदमें भी अप्सराओंको देवविशेष गन्धर्वोंकी पत्नी कहकर उनको नमस्कार की गई है। जो अन्य आकृति वाली भी अप्सराएँ थीं, तथापि यहाँ ब्रह्माजीका आर्डर था-'हरिरूपेण

*'आरूढ-पतित' वे होते हैं; जो गत जन्ममें तो उच्चयोनिमें रहे हों; पर इस जन्ममें अपनी वा देवाधिपतिकी इच्छासे अथवा कर्मवश निम्न पशु आदि योनियोंमें आये हों।

(वाल्मी. १।१७।६) वानर-आकृति वाले देवांश पैदा करो। वैसा ही किया गया। वनवासी कोई आकृति-ग्राहक जाति नहीं है। तभी रामायणके वानर नर न होकर वानर ही सिद्ध हुए। हाँ, विशेष वानर थे। यह यदि वादी जान लें; तब उनके समस्त सन्देह दूर हो जावें। उन्हें इस तरहकी पुस्तकें बनानेका कष्ट न करना पड़े। देवताओंकी विशेष शक्तिको न जान सकना अथवा जानते हुए भी अपने साम्प्रदायिक-पक्षपातवश उससे अनजान बने रहना भी ऐसी पुस्तकें बनानेका कारण है। 'ऋक्ष-वानर-गोपुच्छाः क्षिप्रमेवाभिजज्ञिरे' (१।१७।१६) इस विषयमें पूर्व लिखा ही जा चुका है।

(५६) श्रीहनुमान्को क्षेत्रज पुत्र बताते हुए वादीने 'न त्वां हिंसामि' इस श्लोकका वास्तविक पाठ नहीं दिया, और अर्थ भी ठीक नहीं दिया। वास्तविक पाठ और अर्थ यह है कि—'न त्वां हिंसामि सुश्रोणि! मा भूत् ते मनसो भयम्। मनसास्मि गतो यत् त्वां परिष्वज्य यशस्विनि!' (४।६६।१८) यहां 'हिंसामि' का अर्थ वादीने किया है—'मैं तुझको मारता नहीं हूँ'। यहां कोई उसे क्या जानसे मार रहा था कि निषेध किया गया है कि—मैं तुम्हें मारता नहीं हूँ'! यहांपर तात्पर्य यह है कि—मैं तुम्हारे धर्मका नाश नहीं करता हूँ। मैं तुमसे मानसिक गमन कर रहा हूँ। सो योनिभोगसे पतिव्रतधर्मका भङ्ग होता है, मानसिक गमनसे धर्मभङ्ग नहीं होता—यह यहां तात्पर्य है। इसलिए तिलकटीकामें लिखा है—'योनिसम्बन्धेन तावकमेक-

पत्नीव्रतं न नाशयामि। अनेन बलात् परपुरुषेण आलिङ्गनादावपि न पातिव्रत्यभङ्गः, किन्तु योनिभोगेनैव इति सूचितम्'। १६वें श्लोकके 'गतात्मा'का अर्थ रामाभिराममें लिखा है—'तद्गर्भ-प्रविष्टात्मतेजा बभूव! देवत्वाद् विनापि योनिसम्बन्धं निजतेजः-प्रवेशनम्—इति बोध्यम्' अर्थात् देवता लोग योनि-सम्बन्धके विना भी मनोबलके योग द्वारा पुत्रोत्पत्ति कर सकते थे। इस विषयको विशेषरूपमें जाननेके लिए 'आलोक' (८)में 'नियोग और मैथुन' (१) देखना चाहिये। वहां महाभारतके प्रमाणसे देवताओं द्वारा विना योनि-सम्बन्धके भी पुत्रोत्पत्ति प्रमाणित की गई है।

'मारुतोस्मि' पाठ माननेपर 'वायु देवता' अर्थ है। सो देवधर्मसे मानुषधर्म दूषित नहीं होता, यह यहां सिद्ध हो रहा है। तब 'वायुके वीर्यज—वीर्यसे उत्पन्न' यह लिखना गलत है। वायु या मरुत् कोई मनुष्य नहीं है, किन्तु देवता है। वादी लोग नामकरण-संस्कारमें द्वादशी तिथिके देवता तथा स्वाति-नक्षत्रके देवता 'वायु'को आहुति देते हैं। क्या यह मनुष्य है? यह तो वही है, जिसे 'हवा' कहते हैं। इसीको वाल्मी.में 'हनूमज्जनकश्चैव पुच्छानलयुतोनिलः' (वायुः) (५।५३।२८) 'अनिल' शब्दसे कहा है। यदि यह कोई मनुष्य व्यक्ति होता, तो इसके पर्यायवाचक न दिये जाते। 'अमरसिंह' व्यक्तिको 'देवताकेसरी' नहीं कहा जाता। अग्निके साथ वायु हवा ही होती है। उसी वायुके अधिष्ठाता चेतन देवताको यहांपर

हनुमान्‌का पिता कहा गया है। इसी प्रकार 'अथोर्ध्वं दूरमाप्लुत्य पितुः पन्थानमासाद्य जगाम विमलेऽम्बरे' (सु० १।१२७) यहां हनुमान्‌के पिताका मार्ग वायुमार्ग आकाश ही है, मनुष्य-विशेषका अर्थ यहाँ संघटित नहीं होता। इसी प्रकार पुच्छ-दहनके समयमें कि—मेरे पिता वायु अग्निके मित्र हैं—इसलिए मुझे अग्नि नहीं जलाता—'पितुश्च मम सख्येन न मां दहति पावकः' (सुं० ५३।३३) यहांपर भी वायुकी मनुष्यता संघटित नहीं होती। सो हनुमान्‌के पिताके मनुष्य न होनेसे वादीका यह कथन निर्मूल है।

जो कि प्रतिपक्षी 'मारुतस्यात्मजः श्रीमान् हनुमान् नाम वानरः' (१।१७।१६) यहांपर 'मारुतस्य आत्मजः'के 'आत्मज' शब्दसे 'वीर्योत्पन्न' अर्थ करता है. यह असंगत है। वीर्योत्पन्न, मैथुनोत्पन्न न होनेपर भी लड़केको 'आत्मज' कहा जा सकता है।

(क) वाल्मी.रा.में सीता 'अयोनिजा' थी, जनकके वीर्यसे उत्पन्न नहीं हुई थी। क्षेत्रकी पृथिवीमें हलके उल्लेखनसे हुई थी, देखो वाल्मीकिरामायण। फिर भी उस अयोनिज सीताको जनकजीने 'आत्मजा' कहा है। देखिये—'वीर्यशुल्केति मे कन्या स्थापितेयम् अयोनिजा। भूतलादुत्थितां तां तु वर्धमानां ममात्मजाम्' (१।६६।१५) (ख) महाभारतमें धृष्टद्युम्न और द्रौपदीको यज्ञकुण्डमें उत्पन्न होनेसे 'अयोनिज' (३।२७३।५) कहा गया है। फिर भी उन दोनोंको 'धृष्टद्युम्नमुखा वीरा भ्रातरो द्रुपदात्मजाः' (१।१६४।४)

'ततस्तु कुन्ती द्रुपदात्मजां तां (कृष्णाम्)' (१।१९०।१५) यहां द्रुपद... आत्मज-आत्मजा कहा है। (ग) कर्ण सूतसे पालित था, सूत... वीर्यसे उत्पन्न नहीं हुआ था; यह आबालवृद्ध प्रसिद्ध है। तथा... महाभारतमें उसे 'सूतजः' (कर्ण. ६।५१) 'सूतसुतः' (कर्ण. ८६।१... 'सूतात्मजः' (कर्ण. ८६।३७) कहा गया है। राधासे पालि... होनेपर भी, राधासे उत्पन्न न होनेपर भी उसे 'राधेय' (१।१६२।... कहा गया है। (घ) 'सुतां कण्वस्य मामेवं विद्धि' (महा. आदि... ७२।१८) यहाँ शकुन्तला अपने आपको कण्वकी सुता क... रही है, पर वह कण्ववीर्योत्पन्न नहीं थी। (ङ) विवाह-संस्कार... स्वा.द.जीकी संस्कारविधि (पृ. १५४)में 'मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं... प्रजया वर्धयन्तु' (अ. १४।१।५४) विवाहित हो रही नारी... मातरिश्वा एवं मरुतों द्वारा सन्तानका उत्पन्न होना कहा गया... है; तब क्या उस विवाह्यमान नारीका लड़का मरुतों वा मातरिश्वा... (वायु)के वीर्यसे उत्पन्न होता है ? यदि नहीं; तब यहाँ भी मरु... वा वायुका लड़का हनूमान् उसके वीर्यसे कैसे उत्पन्न मान... जावेगा ?

यदि यहाँ अञ्जनासे वायुदेवताका वास्तविक संयोग (मैथुन... होता; तब वह अञ्जना—जोकि पहले धमका रही थी कि... 'एकपत्नीव्रतमिदं को नाशयितुमिच्छति' (मेरे एक पति होनेके... व्रतको कौन नष्ट करना चाहता है ?) फिर यदि उसी मरुत्‌का... अञ्जनामें मैथुन माना जावे; तो धमका रही हुई वह 'एवमुक्ता... ततस्तुष्टा जननी ते महाकपे !' (२०) कि—मैं तुम्हारा एकपतिक...

धर्म मैथुनसे नष्ट नहीं कर रहा हूँ; मैं तुममें मानसिक गमन कर रहा हूँ—यह कहनेसे अञ्जना तुष्ट कैसे हो गई ? सो स्पष्ट है कि—वहाँ वायु-देवताका मानस-संयोग हुआ। एक दवाई मुखके द्वारा अन्दर डाली जाती है, और एक इन्जेक्शन द्वारा। पहलेमें 'पान' माना जाता है, दूसरेमें नहीं। अतः योनिमैथुन तो वास्तविक मैथुन होता है, पर मानस मैथुन जिसका उद्देश्य काम-विलास न हो; किन्तु सन्तानोत्पादन हो; वास्तविक मैथुन वा पापकारक नहीं होता।

तभी तो 'एकपत्नीव्रतमिदं को नाशयितुमिच्छति'के उत्तरमें ही तो वायुदेवने कहा था—'न त्वां हिंसामि (तव एकपतिकत्व-व्रतधर्मं न विनाशयामि) मनसाऽस्मि गतो यत् त्वां' (त्वया सह मानससंयोगं करोमि) तव मानसिक योगसे उसके एकपत्नीव्रत-को आघात न पहुँचनेपर ही तो वह तुष्ट हो गई। इससे अत्यन्त ही स्पष्ट है कि—वायुदेवताका वहाँ मैथुन नहीं हुआ था। तभी तो तत्क्षण हनुमान्की वहीं उत्पत्ति हो गई (६६।२०)। मैथुन होनेपर प्रकृतिनियमानुसार प्रसवमें १० मास लग जाते।

वादी लोग वैधव्यमें नियोग मानते हैं, यहाँ अञ्जना विधवा भी नहीं थी। केसरी वानर उसका पति विद्यमान था ही। अथवा वादियोंके अनुसार पति नपुंसक भी नहीं दिखलाया गया कि—वह वादियोंके स्वामीजीसे अभिमत आज्ञा देता कि—'अन्यमिच्छस्व सुभगे! पतिं मत्' उसने पत्नीको कहीं ऐसी रामायणानुसार आज्ञा दी भी नहीं। सो यहाँ वादिसम्मत

नियोग भी नहीं है। यदि नियोग होता; तो हनुमानको 'मारुतस्यौरसः' (१।१७।१६) 'औरस' शब्दसे न कहा जाता। सो वह मारुत-देवकी दिव्य शक्तिसे उत्पन्न हुआ था—यह स्पष्ट है, नियोगज नहीं था।

(६०) 'नरकी पूँछ तो बना ली, पर नारीकी पूँछ बनानेका साहस न हुआ। सारी रामायणमें हमको एक स्थान पर भी वानरियोंकी पूँछका उल्लेख नहीं दिखाई दिया' (पृ. १०१-१०२) इस वादीके आक्षेपके विषयमें हम पूर्व लिख आये हैं। कूदने-फांदने आदिमें पूँछका भी उल्लेख करना पड़ता है; पर वानरियोंका कूदना-फाँदना कहीं नहीं दिखलाया गया; अतः पूँछका उल्लेख भी नहीं मिलता; पर रामायणमें उनकी पूँछका निषेध भी तो नहीं मिलता। नारीकी यदि पूँछ लिख देते, तो श्रीवाल्मीकिकी क्या हानि पड़ती—यह प्रतिपक्षीने नहीं बताया।

यदि पुरुषोंकी दाढ़ी-मूछ होती है, और लड़की तथा स्त्रियोंकी दाढ़ी-मूँछ नहीं होती; तब इसमें क्या कोई दोष हो जाता है? वैसे ही यदि उस समय उन देवावतार वानरोंकी पूँछ रही हो; और वानरियोंकी नहीं; तो इसमें आश्चर्यको कोई अवकाश नहीं। हिरनोंके सींग होते हैं, हिरनियोंके नहीं, मेषके सींग होते हैं, मेषीके नहीं। कई हाथियोंके बाहरी दाँत होते हैं, कई हथनियोंके नहीं। अतः उन अप्राकृत दिव्य विचित्र वानरोंके पूँछ होती हो; और वानरियोंके नहीं; तो इसमें न तो कुछ आश्चर्यकी बात है, न दोषकी। न साहसका कोई अवकाश है।

शेष है 'देवोंकी पुच्छ, वानरोंकी आकृति कैसी थी' इत्यादि विषयमें पूर्व लिखा जा चुका है। 'हनूमानको ही ठोडी वाला नाम देना व्यर्थ है' यह वादीका तर्क ही व्यर्थ है। मतुप् प्रत्यय यहां अतिशय अर्थमें है। उसका इतिहास ही प्रश्नका उत्तर दे देता है, उसकी हनुपर इन्द्रने वज्र मारा था; इससे हनु टेढी होकर बड़ी हो गई, उससे उक्त नाम है। 'क्षिप्तमिन्द्रेण तं वज्रं···वामो हनुरभज्यत। ततोभिनामधेयं ते हनूमानिति कीर्तितम्' (४।६६।२३-२४) हर एकका हर एक नाम रखा जा सकता है। पर जब एकका रूढ हो; तब फिर दूसरेका नाम नहीं रखा जाता।

(६१) पाण्डुकी स्त्रीके नियोगके विषयमें 'आलोक' अष्टम पुष्पमें देखना चाहिये। स्वा.द.जीने तो नियोगमें भी दस-ग्यारह पति माने हैं, इसपर वादी स्वयं विचार करे। (६२) वादी कहता है कि-'मैं तो मानता नहीं कि-सूर्य, इन्द्र, वायु, बृहस्पति, अश्विनीकुमार आदि नाम वाले जो रामायण-कालमें थे; वे ही महाभारतकालमें थे', महाशय! आपके न माननेसे क्या होता है? वे तो स्वा.द.के कालमें भी थे, अब भी हैं। वे अमर हैं। उन देवताओंको कोई हटा नहीं सकता। स्वामीसे कराये हुए विवाहमें वे भी नारीको सन्तान देते हैं। देखिये सं.वि.पृ. १५४ 'इन्द्राऽग्नी, द्यावापृथिवी, मातरिश्वा, मित्रावरुणा, भगो अश्विना उभा। बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु' (अथर्व. १४।१।५४) इसमें वादीसे आक्षिप्त इन्द्र, द्यावा (स्वा.द.के

अनुसार)-सूर्य, मातरिश्वा-वायु, उभौ अश्विनौ-दोनों अश्वि कुमार विवाह्यमान नारीमें सन्तान उत्पन्न करने आते। वादीका यह तर्क कितना निकम्मा है कि-'सूर्यके पुत्र कर्ण पूँछ तो नहीं, पर सुग्रीवकी थी; वायु-पुत्र भीमकी तो पूँ नहीं थी; पर हनुमानकी थी' आदि। जबकि रावणको वान मुखवाले नन्दिकेश्वरका शाप मिला कि-वन्दर तुम्हारी कुल विध्वंस करने वाले होंगे (७।१६।१७) और ब्रह्माजीने इसीलिए देवताओंको आर्डर दिया था कि-'सृजध्वं हरिरूपे (१।१७।६) 'ते तथोक्ता भगवता प्रतिश्रुत्य च शासनम्। जनयाम सुरेवं ते पुत्रान् वानररूपिणः' (१।१७।८) तब वानरयोनि उत्पत्तिके कारण उनकी पूँछ भी होनी थी; पर भीमादिके सा वानररूपकी आवश्यकता नहीं थी; अतः वहाँ वानररूप पूँछका भी कोई काम नहीं था। कई पूँछधारिणी लड़कियों उत्पत्ति हुई है (पढ़िये समाचारपत्र), पर न तो उनके माता-पिता की पूँछ थी; न उनके भाई-बहिनोंकी। तब उनके माता-पिता वैसा प्रश्न करता हुआ वादी खण्डित है।

'देवोंको वन्दरोंकी ही योनि क्यों पसन्द आई' 'वन्द जाति सारी की सारी दूसरोंके घर बर्बाद करती है, रामायणमें उसने सँवारनेका कार्य किया' वादियोंके ऐसे स तर्क निस्सार हैं। उन्हींने ही तो शत्रुनगरी लङ्काके घरोंको बर्बाद किया। यह आजकलके साधारण वानर नहीं थे, कि देवावतार वानर थे। अतः वे ज्ञानशाली थे, उन पर यह प्र

ही व्यर्थ है। वानर-योनि उनको पसन्द हो वा न हो, उन्होंने ब्रह्माके आदेशसे नन्दिकेश्वरके शापवश वानररूप धारण करना ही था। आजका सिखलाया हुआ वानर भी संवारनेका काम करता ही है।

'मनुष्योंके वीर्य द्वारा बन्दरियोंको गर्भ असम्भव है' यह वादीका तर्क निस्सार है। ऐसी बातें मोघवीर्य पुरुषोंकेलिए हैं, अमोघ-वीर्य वालोंकेलिए नहीं। अमोघवीर्योंकेलिए तो स्त्रीकी भी बहुत आवश्यकता नहीं। मछलीको भी उपरिचर-वसुके शुक्रसे गर्भ हो गया था। 'अनेकधा कृताः पुत्रा ऋषिभिश्च पुरातनैः' यह बृहस्पतिका वचन इन बातोंका संकेत दे रहा है। यहाँ मनुष्य कोई था ही नहीं। वे तो देवता थे। देवता लोग तो 'सन्ति देवनिकायाश्च संकल्पाज्जनयन्ति ये' (महाभा. आश्रम. ३०।२२) संकल्प द्वारा अपनी मनचाही सन्तान पैदा कर सकते हैं।

'वन संन्यासीका एक नाम है, वनोंमें रहनेवाले वन्य, वानप्रस्थाश्रमीको वनी, वनवासी (मनु. ६।२७) कहते हैं, यह ठीक है; पर इन्हें 'वानर' कहीं नहीं कहा जाता। श्रीहर्षचरित तथा दशकुमारचरित-आदिमें आटविक-सामन्तों, आरण्यक आदिका वर्णन आया है, पर उन्हें कहीं भी बन्दर नहीं कहा गया। उनका अनन्तवर्मासे युद्ध भी हुआ था। कई जङ्गली भील आदि श्रीहर्षकी बहन राज्यश्रीको ढूँढ़ने भी गये थे। पर कहीं भी न तो उन्हें वानर कहा गया; न वानरके पर्याय-वाचक

शब्दसे, न उन्हें नखदंष्ट्रायुध वा कपि आदि कहीं कहा गया है। तब जो कई दयानन्दी रामायणकी अपनी की हुई टीकामें 'वानर'का 'वनवासी' अर्थ करते रहते हैं-यह गलत सिद्ध हो गया।

किरातार्जुनीयमें 'वनसंनिवासिनां पत्यौ' (१।२६) 'वनेचरः' (१।१) आदि, तथा कादम्बरीमें 'वनचरोपि कृतमहालयप्रवेशः' (हारीतवर्णनमें) इन स्थलोंमें 'वनचर' आदि तो कहा है, पर उन्हें 'वानर' वा उनके पर्यायवाचकोंसे कभी नहीं कहा, इसी प्रकार उन वानरोंको 'वनवासी मनुष्य' माननेवाले योरोपियन स्कालरोंके आधारपर लिखनेवाले श्रीनानूराम व्यास आदिका भी पक्ष निराधार है।

(६२) कई सुधारक सनातनधर्मिमित्र व, यहाँ अन्य कल्पना करते हैं। वे कहते हैं—'हनुमान वानर कपिगोत्रके ब्राह्मण थे; और जाम्बवान् ऋक्षगोत्रके। पर वाल्मीकिने उनका काव्यमय वर्णन किया है। वे इसमें 'कपिज्ञात्योर्ढक्' (पा. ५।१।१२७) तथा 'कपि बोधादाङ्गिरसे' (४।१।१०७) कपिष्ठलो गोत्रे' (८।३।९१) आदि पाणिनिके सूत्र, तथा 'शौनक-कापेय' (छान्दो० ४।३।५) 'कैशोर्य-काप्य' (बृह. २।६।३।५।१-३) 'पतञ्जलकाप्य' (बृ. ३।३।१, ३।७।१) इत्यादि प्रमाण उपस्थित करते हैं। यह सब निर्मूल कल्पनाएँ हैं। इसमें 'कपि' शब्द तो लिखा है, पर वानरादि उसके पर्यायवाचक कहीं भी नहीं, अतः स्पष्ट है कि यहाँ का 'कपि' शब्द नाम-विशेष है। जैसे-शाकटायन शकट का लड़का था; पर इससे 'शकट'

गाड़ी नहीं ली जाती। चाणक्य चणकका लड़का-चनेका लड़का नहीं माना जाता। पूर्वोक्त छान्दोग्य के ही वचनमें 'शौनक' आया है, जो 'शुनक' का लड़का है, इससे 'शुनक' कुत्तेका नाम नहीं हो जाता। यह सब तो नाम-विशेष हैं, इसी प्रकार 'कपि' भी गोत्रमें रूढ़ नाम है; वानर-वाचक नहीं।

हाँ, 'कपिज्ञात्योर्ढक्'में तो वन्दर ही अर्थ है, इसका उदाहरण 'कापेय:' है। यहाँ 'कपेर्भावः कर्म वा' यह अर्थ है। इसीका उदाहरण रामायणमें भी है, 'कच्चिन्न खलु कापेयी सेव्यते चलचित्तता' (६।१२६।२३) यहां बन्दर वाला भाव वा कर्म अर्थ है। यहां गोत्रका कुछ भी सम्बन्ध नहीं। दूसरे सूत्रमें आङ्गिरसगोत्रमें 'काप्य:' उदाहरण है, पर हनुमानादिकेलिये 'काप्य:' न आनेसे, तथा कपिके अन्य पर्यायवाचक आनेसे वे स्पष्ट वानरादि सिद्ध हुए। कपिगोत्र वालोंकी पूंछ तथा पूंछको स्वाभाविक ऊपर उठाना कहीं नहीं होता, वा वर्णित होता। ऋक्षगोत्रवालोंके शरीरपर रीछों वाले बड़े-बड़े रोम नहीं होते। सो यह सब अर्वाचीन लोगोंकी निर्मूल कल्पनाएँ हैं।

जो यह कहा जाता है कि—'यदि वे वानर पशु थे; तो सुग्रीवकी स्त्री रखनेसे बालीको क्यों मारा गया'। क्या धर्मशास्त्रका कानून पशुओंपर भी चलता है?' इसपर हम पहले निर्देश कर चुके हैं कि-यह साधारण वानर तो नहीं थे, देवताओंसे वानरयोनिमें मनुष्यलोकमें आये हुए थे। जब उनमें मानुषी ज्ञान था; तथा मानुषी व्यवहार भी थे; तब वे भी कुछ

मानुषी बन्धनमें आ ही जाते हैं।

यह तो देवता थे; जब देव-देव विष्णु भी मानुषी-अव[tar]में आते हैं, वे भी कुछ बन्धनमें आते हैं। जब शेषावतार बलरामजीने रोमहर्षण सूतको कुशासे मार दिया; तब अवतार होनेपर भी मानुषी व्यवहारमें आ जानेके कारण हत्याके दूर करनेकेलिए तीर्थयात्रारूप प्रायश्चित्त करना पड़ा। वाल्मी.रा.के ४।१८।१८ पद्यकी रामाभिराम-टीकामें स्पष्ट किया गया है—

'ननु सुग्रीवस्यापि ज्येष्ठभ्रातुः पितृसमस्य भार्याविम[र्श] तुल्यम्-इत्यत आह-'अस्य त्वं धरमाणस्य (जीवतः)' इ[ति] धरमाणस्य-प्राणान् धारयत एव जीवतः त्वया निश्चीयमा[न] जीवनस्यैव पत्न्यां तव स्नुषाभूतायां रुमायां यतो वर्तसे; अ[तः] त्वं स्पष्टं पापकर्मकृत्। सुग्रीवस्तु तव जीवन-निश्चयाऽभा[वात्] त्वत्पत्न्यां तारायां प्राग् अवर्तिष्ट; अतः परं [तव मरणे] वर्त[ते] च। किं च—त्रैवर्णिकेष्वपि [युगान्तरेषु, अत्र युगे वा शूद्रवर्णे] देवरस्य मृतभ्रातृस्त्रियाम् अपुत्रायां वृत्तिदर्शनात् तिर्यक्षु तस्यां वृत्तिर्न दोषः। तथा वृत्तौ च मरणज्ञानमेव प्रयोजकं इति भगवदाशयः। अनेन त्रैवर्णिकेतर-(शूद्रादिवर्ण) स्त्रीणां भर्तृकाणां तरुणीनां स्वजातीयपुरुषाङ्गीकारो नाधर्म इति सूचि[तम्] दृश्यते च तथा व्यवहारः शूद्रादिजातिषु [सो यहाँ ज्ञानवती ध[र्म] पक्षी जातिमें त्रैवर्णिकोंसे भिन्नों वाला व्यवहार बताया गया कि-जीवितभर्ता वाली स्त्रीको त्रैवर्णिकसे इतर लोग भी नहीं

परन्तु मृतभर्तृकाको त्रैवर्णिकोंसे इतर देवरादि ले लेते हैं। फिर प्रश्न होता है कि—पशुमें मानुष-नियमित धर्मशास्त्रकी प्रवृत्ति कैसे ? इसपर टीकाकार स्पष्ट करते हैं—]

'न च मनुष्याधिकारस्य निषेधादिशास्त्रस्य कथं तिर्यक्षु [पशुपक्षिषु] प्रवृत्तिरिति वाच्यम्, तिर्यग्योनेरपि मनुष्यवद् राजादि-व्यवहारदर्शनेन मनुष्यतुल्यज्ञानवत्त्वाद् अस्त्येव अयं दोष इत्याशयात् [पशु भी यदि आरूढ़पतित हैं; और मनुष्यों वाला ज्ञान रखते हैं, तथा मनुष्यों-जैसा व्यवहार करते हैं; तो वे भी मानुषी धर्मशास्त्रके कुछ बन्धनकी सीमामें आ जाते हैं। अज्ञानी उतना बन्धनमें नहीं आता; जितना कि ज्ञानी।] किंच—धर्मेऽनधिकारिणामपि इन्द्रादीनां वृत्रवधादौ ब्रह्महत्यादि-स्मरणेन निषेधेषु तदतिक्रमप्रायश्चित्तादौ च देवानाम् अधिकारवद् एषाम् [इन्द्र-सूर्याद्यवतारभूतानां वानराणाम्] अपि अधिकारे बाधकाऽभावः। किञ्च [इन्द्रादि] देवानां स्वयजनीयेन्द्रान्तराऽभावाद् अनधिकार इति पूर्वमीमांसायां निर्णीतम्। एवं च तदनपेक्षदानादिधर्मेषु ब्रह्मविद्यायां च अधिकारोऽस्त्येव-इति उत्तरमीमांसायां स्पष्टम्। तद्वद् ईदृशानां ज्ञानवतां तिरश्चामपि अधिकारे बाधकाऽभावः।

किञ्च—'सर्वदेवतावाचकपदानाम् ईश्वरवाचकत्वेन सर्वत्र देवानामधिकारोऽस्त्येव। न च ब्राह्मणत्वाद्यभावात् तेषामनधिकारः, तेषामपि क्षत्रियत्वाद् वैवस्वतमन्वादेरिव [अधिकारः], अतएव चन्द्र-वरुणादीनां यज्ञः स्मर्यते पुराणेषु; तत्र-तत्र कर्मणि अर्थवादतः फलकल्पनवत् पुराणस्थार्थवादैः तदधिकारस्यापि

कल्पयितुं युक्तत्वात्। किञ्च—'त्रैवर्णिकस्य अधिकार इति त्रैवर्णिकपदं वेदतदर्थज्ञानवत्परम्। अतः [तादृग्विधानां] देवादीनां तदधिकारः सिद्ध इति भगवतो व्यास-वाल्मीकिप्रभृतीनां च आशयः। जैमिनेस्तु एतदंशे [देवानधिकारोल्लेखे] अज्ञानमेव। अतएव तद्दूरीकरणार्थं मार्कण्डेयेन आत्मानं प्रति धर्मान् पृच्छतो जैमिनेः विन्ध्यारण्यवासितत्त्वज्ञपक्षिमुखेन धर्मबोधनं कृतम्। तेन हि पक्षिणां ज्ञानानधिकार इति स्वोक्ते अर्थे तस्य अप्रामाण्यग्रहो भविष्यतीति तदाशयः। अतएव गृध्रराजस्य भगवता दाहादि कृतम्। अग्रे च सम्पातिना तद्भ्रात्रा करिष्यमाणमुदकदानादि नाऽसङ्गतामिति'।

यह विषय पहले संकेतित किया जा चुका है। 'मया कपित्वं च प्रदर्शितम्' (४।२४।१२) इसमें सुग्रीव द्वारा अपना स्पष्ट वानरत्व बताया गया है। कपिगोत्रकी यहाँ कुछ भी संगति नहीं लगती। क्या कपिगोत्रवाले भाईको मरवा दिया करते हैं। वस्तुतः आक्षेप्ताओं द्वारा वानरोंका कपिगोत्र वा मनुष्य बताना निराधार है-यह सिद्ध हो गया।

(ख) इस प्रकार यही सुधारक लोग जरा व्याध-जिसने श्रीकृष्णको पैरोंमें बाण मारा था-का अर्थ करते हैं कि-'जरा' नाम वृद्धावस्थाका है। सो वृद्धावस्थाने ही श्रीकृष्णको मारा, किसी पुरुषने नहीं। नहीं तो उस पुरुषका नाम स्त्रीलिङ्गान्त क्यों होता' ? उन्हें यह जानना चाहिये कि-पुरुषका भी स्त्री-लिङ्गान्त नाम हो सकता है-'लुम्मनुष्ये' (पा. ५।३।९८) इस सूत्रके

उदाहरण 'चञ्चेव मनुष्यः चञ्चा' 'वर्ध्रिकेव मनुष्यो वर्ध्रिका' स्त्रीलिङ्गान्त दिये गये हैं, जो पुरुषके हैं। इस प्रकार 'जरा-व्याध'का भी यदि स्त्रीलिङ्गान्त नाम है, तो 'जरेव जरा' इस विग्रहवश कोई दोष नहीं। अतः इसमें आलङ्कारिकताका प्रयास व्यर्थ है। आजकल भी लड़कियोंके भी पुरुषों वाले नाम और लड़कोंके भी लड़कियां वाले नाम (दुर्गा आदि) देखे जाते हैं।

(६३) कई सुधारक लोग आजकलके नवशिक्षितोंकी हनुमानादिकी वानरतामें आस्था न देखकर कई प्रकारकी कृत्रिम कल्पनायें करके वानरोंको मनुष्य सिद्ध करना चाहते हैं। उनमें श्रीसातवलेकरजी देवताओं तथा भूत-प्रेतादिको भूटानके मनुष्य सिद्ध करनेकी चेष्टामें लगे रहते हैं। वे वानरोंको मनुष्य सिद्ध करनेकेलिए उपहासयोग्य कल्पनायें करते हुए कहते हैं— 'प्राचीनकालमें कई जातियाँ अपने चेहरेपर किसी न किसी पशु-पक्षीके कृत्रिम मुख लगा लेते थे। जो पुच्छ दीखता हैं, वह 'पाश' जो एक अस्त्र रस्सी जसा इनके पास रहता था, उसका अन्तिम भाग है। शेष पाशका भाग कमरेके चारों ओर लपेटा होता था' (बालकाण्डनिरीक्षण पृ. ४८१) 'वानरोंका पुच्छ यही पाश ही है। यह वानरोंके शरीरका भाग नहीं है। यदि वह इसके शरीरका भाग होता, तो मारुतिकी दुमको जब आग लगा दी गई; तो इससे उसको दुःख हो जाता, पर वैसा कष्ट नहीं हुआ। इससे स्पष्ट है कि–मारुतिकी दुम उसके शरीरका भाग

न था' (पृ. ४८२) वादियोंकी इन उक्तियोंका मूल्य हास्यसे अधिक नहीं।

यह बात रामायणसे सिद्ध नहीं होती, कि–जैसे दशहरेमें लोग हनुमान आदिका वन्दरोंवाला चेहरा लगाये हुए होते हैं, वैसे हनूमान आदि भी वानरोंके चेहरे लगाये होते थे। यह वादीकी बनावट है। रामायणमें तो वानरोंके दाँत न दिखलाकर दाढ़ें दिखलाई गई हैं। पूँछ भी स्वाभाविक दिखलाई गई है। उस पूँछका ऊपर करना 'उच्छ्रितलांगूलाः' (५।५७।४२) आदि शब्दोंमें रामायणमें स्पष्ट है। परन्तु पाश तो स्वाभाविकतासे स्वयं नहीं उठ सकता। वे राक्षस मूर्ख थोड़े ही थे कि–"वन्दरको अपनी पूँछ प्यारी होती है"–यह सोचकर (जैसा रामायणमें लिखा है) उसके पाशको जलाते; और वह हनूमान उस पाशसे लङ्काको जला देता।

यदि वह पुच्छके स्थान पर पाश था; तव तो वह वाह्य वस्तु थी; तव तो हनुमानको पीड़ा भी नहीं पहुँच सकती थी। इतना क्या रावणको मालूम नहीं था ? वस्तुतः हनुमान देवावतार होनेसे उसकी पूँछ अग्नि लगे होनेपर भी उसे दुःख नहीं लग रहा था। इधर रामायणमें यह भी लिखा है कि सीताकी अग्निसे प्रार्थना करने पर अग्नि हनुमानको नहीं जला रही थी। 'यद्यस्ति पतिशुश्रूषा···शीतो भव हनूमतः' (सुं. ५३।२७)। यदि पाशको अग्नि लगाई गई होती, तव हनुमान पाशको अपनी कमरसे उतार कर फेंक देते।

वस्तुतः यह सब कल्पनायें निरी निकम्मी वा निःसार हैं। फिर मनुष्योंने रीछका कौनसा चेहरा लगाया था? शरीर पर रोम कैसे लगाये थे? क्या वे रीछकी भांति चलते थे? ग्रन्थकारकी स्वाभाविक लिखी हुई देवतावतारमूलक वानरता इनकी छिप नहीं सकती, चाहे अर्वाचीन लोग लाख बल लगा लें! आशा है-विद्वान् पाठकोंने यह रहस्य समझ लिया होगा। इससे उन लोगोंकी यह बात भी कट गई कि-'आज भी बालिद्वीप, जावा, सुमात्रा वा आस्ट्रेलियाके कई मनुष्य मिलते हैं, जिनकी पूँछ-जैसा मांस-पिण्ड लगा हुआ है' पर वे 'वानर' नहीं कहे जाते। न ही उनमें 'उच्छ्रितलांगूलाः, कर्णौ निकुच्य' वाली रामायणप्रोक्त बात घटती है।

(६४) वाल्मी. में तारा लक्ष्मणको कहती है-'कृतात्र संस्था सौमित्रे! सुग्रीवेण यथा पुरा। अद्य तैर्वानरैः सर्वैरागन्तव्यं महाबलैः' (कि. ३५।२१) ऋक्ष (रीछ) कोटिसहस्राणि गोलाङ्गूल-(लंगूर) शतानि च। कोट्योऽनेकास्तु काकुत्स्थ कपीनां (वन्दर) दीप्ततेजसाम्। अद्य त्वामुपयास्यन्ति जहि कोपमरिन्दम!' (२२) यहाँ हजारों रीछ, लंगूर, वन्दर युद्धार्थ आवेंगे। यह सभी पशु हैं। मनुष्योंकी रीछ वा लंगूर एवं बन्दर जाति नहीं सुनी गई। ...व एक दयानन्दी टीकाकारका इसके अनुवादमें 'ऋक्ष जातिके ...वनवासी, गोलांगूल जातिके वनवासी, वनवासियोंके अनेक ...समूह आपके साथ जायेंगे' यह अर्थ करना गलत है। जहाँ भी ...वानर' शब्द आता है, वादी वहाँ 'वनवासी मनुष्य' अर्थ कर

देता है-यह उसका निर्मूल पक्ष है। यहां तो ऋक्ष, गोलांगूल तथा कपिके साथ 'वानर' शब्द ही नहीं है, तो वादीने यहां बनावटसे 'वनवासी' यह निर्मूल अर्थ कैसे कर दिया?

इन लोगोंको ऐसा असत्य व्यवहार करते हुए पापका डर भी नहीं रहता। खेद !!! 'वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः, पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः' शकुन्तलानाटकके ४र्थाङ्कके इस उत्तम पद्यमें कण्वमुनिने कहा है कि-मैं वनवासी, अपनी लड़कीके पतिगृहमें जा रही होनेपर दुःखी हो रहा हूँ, तब गृहस्थी लोग क्यों न दुःखी होते होंगे'।

यहांपर मुनिको 'अरण्यौकाः' (वनवासी) तो कहा गया है; पर उस मुनिको वानर वा कपि नहीं कहा गया है। इसी प्रकार किरातार्जुनीयमें एक 'वनेचर' को जिसने युधिष्ठिरको दुर्योधनकी रिपोर्ट दी थी, कहीं भी वानर नहीं कहा गया। इस प्रकार बहुत-सी प्राचीन पुस्तकोंमें आटविक, वनेचर, आरण्यक आदि शब्दोंसे वनवासियोंका बहुत वर्णन आया है। रघुवंश आदि काव्योंमें रघुका मूल सेना, आटविकोंकी सेना आदिका वर्णन तो बहुत आया है, पर यह याद रखनेकी बात है कि-उन्हें कहीं भी वानर वा कपि आदि नहीं कहा गया। अतः रामायणके वानरोंको 'वनवासी मनुष्य' बताना वादियोंकी बनावट है, निर्मूल कल्पना है। श्रीरामकेलिए 'वनगोचरः' (६।११३।६) आदि शब्द तो आये हैं; पर उन्हें 'वानर' नहीं माना गया; तब वादियोंका यह निर्मूल प्रयत्न है।

'हरिपुङ्गवाः'(वाल्मी. ४।३७।४) 'प्लवङ्गमाः' (५) 'वानराः' (६) 'महेन्द्र-हिमवद्विन्ध्यकैलासशिखरेषु च। मन्दरे पाण्डु-शिखरे पञ्चशैलेषु ये स्थिताः' (२) 'पर्वतेषु समुद्रान्ते पश्चिमायां तु ये दिशि' (३) अञ्जने पर्वते चैव' (४) महाशैलगुहावासाः' (६) वनेषु च सुरम्येषु...तापसानां च रम्येषु वनान्तेषु समन्ततः' (८) तांस्तान् समानय क्षिप्रं पृथिव्यां सर्ववानरान्' (६) यहां विविध पहाड़ोंकी चोटियों, गुफाओं, समुद्री तटोंके रहनेवाले वानरोंको भी दयानन्दी टीकाकार बलात् 'वनवासी मनुष्य' लिखता गया है, यह सारी उसकी निर्मूल कल्पना है।

इस प्रकार योरोपियन स्कालरोंके पदचिन्हों पर चलनेवाले सुधारकोंका पक्ष काटकर हमने हनुमानादिको देवावतार (अप्राकृत, दिव्य) वानर सिद्ध कर दिया है। इस पक्षमें रामायणके वचनोंमें कुछ भी असङ्गति वा प्रक्षिप्तता नहीं पड़ती है। जिस पुस्तकका जो अभिप्राय हो; उसे आप मानें या न मानें—यह आपकी इच्छापर अवलम्बित है, पर उसके वचनोंकी तोड़-मोड़ द्वारा ग्रन्थकारके तात्पर्यको बदलना—अत्यन्त अनुचित है, चोर-बाजारी है।

(६४) हनुमान्की पूजाके विषयमें यह जानना चाहिए कि—वे मरुतोंके अवतार हैं, जैसेकि हम पहले कह चुके हैं; और मरुतोंको रुद्रका अवतार माना जाता है, जैसे कि वेदमें—'विश्वा हि रुद्रियाणां शुष्ममुग्रं मरुतां' (ऋसं. ८।२०।३) 'रुद्रस्य ये मीढुषः सन्ति पुत्राः' (६।६६।३) यहाँ मरुत् देवता हैं। सो रुद्रके अवतार

होनेसे ही मारुति-हनुमान्की हिन्दुओंमें पूजा होती है, वन[illegible] होनेसे नहीं।

इसमें शिव-विष्णुका परस्पर अभेद वा प्रेम भी झलकता [illegible] जिससे साम्प्रदायिक कलह दूर हों। जब भगवान् राम[illegible] 'रामेश्वरलिङ्ग'को समुद्र पार करनेकेलिए पूजा था; तो विष्णु[illegible] अवतार श्रीरामने तो अपनी शिवभक्ति दिखलानेकेलिए इ[illegible] पदका तत्पुरुषसमासका विग्रह किया था कि—'रामस्य ईश्व[illegible] शिवः' यह महादेव रामके ईश्वर हैं, राम उनका सेवक है[illegible] पर भगवान् शिवने उक्त पदका बहुव्रीहि-समासका विग्रह कि[illegible] था कि—'राम ईश्वरो यस्य' राम शिवके ईश्वर हैं, और शि[illegible] सेवक हैं। परन्तु हरि-हरके भक्तोंने उक्त पदका कर्मधारय[illegible] विग्रह किया था—'रामश्चासौ ईश्वरश्च' राम और शिव दो[illegible] एक-कोटिके हैं। इस प्रकार अभेदवादको प्रोत्साहन दिया गया[illegible] था। भेदवादियोंने 'रामेश्वरम्'का समाहारद्वन्द्वका विग्रह कि[illegible] था—'रामश्च ईश्वरश्च तयोः समाहारो रामेश्वरम्'। 'ईश्व[illegible] महादेवका प्रसिद्ध नाम है, इस प्रकार रुद्र हनुमान्के रूप[illegible] विष्णुके सेवक हुए। विष्णुके अवतार राम-कृष्णने शिवकी पूजा[illegible] करके (जैसा कि महाभारत आदिमें प्रसिद्ध है) अपनेको शिवका[illegible] सेवक बताया है। कहीं शिव विष्णुके मोहिनीरूपमें विष्णुकी[illegible] मायामें मोहित हुए, और कहीं विष्णु शिवकी मायामें[illegible] (देखो शिवपुराण) मोहित हुए। इस प्रकार पुराणोंका भी[illegible] अन्तिम अभिप्राय हरि-हरके अभेदमें हैं, साम्प्रदायिक कलहोंका[illegible]

सृष्टिमें नहीं। कलह अज्ञानियोंमें होता है। कहनेका यह निष्कर्ष है कि-हनुमानकी मरुदवतार तथा रुद्रावतार होनेसे ही पूजा होती है, बन्दर होनेसे नहीं। हाँ, बन्दरोंका हनुमानके अङ्ग समझकर कहीं-कहीं सम्मान होता है। अस्तु।

अब हम 'पशु-पक्षियोंके भाषण' पर लिखेंगे। थोड़ी समझके लोग पशु-पक्षियोंका भाषण लिखा देखकर उसमें असम्भव समझते हुए उन्हें मनुष्य सिद्ध करने लग जाते हैं-यह ठीक नहीं। रघुवंशमें महाकवि कालिदासने शेरकी मनुष्य-वाणी दिखलाई है; और नन्दिनी गायकी भी मनुष्यवाणीमें वर देनेकी बात लिखी है। नलकी कथा महाभारतमें तथा नैषधीयचरितमें हंस पक्षीकी मनुष्यवाक् लिखी हैं, पर इससे यह सब मनुष्य नहीं सिद्ध हो जाते हैं, किन्तु यह सब दिव्य (देवांश) थे; जैसे कि-नैषधचरितमें दमयन्तीने हंसको 'हंसोपि देवांशतयासि वन्द्यः, श्रीवत्सलक्ष्मेव हि मत्स्यमूर्तिः' (३।५७) देवताका अंश कहा है, अतः इन बातोंको न समझकर उनको मनुष्य बनानेकी कल्पना करनी वस्तुतः निर्मूल है। आशा है-पाठकगण स्वयं भी इन बातोंका मनन करेंगे, केवल सुधारकोंके कथन पर विश्वासमात्र न कर लिया करेंगे। हमने मार्गप्रदर्शन कर दिया है। पाठकोंने ठीक-ठीक समझ लिया होगा। अब पशु-पक्षियोंके भाषणपर देखिये।-

---

(३) पशु-पक्षियोंका भाषण।

पहले तो वादी लोग हनुमान् आदि वानरों और जटायु आदि गीधोंको पशु-पक्षी योनिवाले नहीं मानते; जब रामायण-आदिके बाह्य और आभ्यन्तर प्रमाणोंसे हम उन्हें पशु-पक्षी सिद्ध करते हैं, जैसा कि हम गत निबन्धमें कर चुके हैं, और उन्हें निरुत्तर करते हैं, तब और कोई उपाय न रह जानेसे वे वहां चुप हो जाते हैं; फिर खण्डनका अन्य प्रकार लेते हैं कि-'यदि यह मनुष्य नहीं थे, किन्तु पशु-पक्षी थे; तब यह मनुष्यकी तरह व्यक्त वाणीसे बोल कैसे सके? इस प्रकार पुराणोल्लिखित पशु-पक्षियोंके संवादमें भी सङ्गति जाननी चाहिये कि-यह मनुष्य थे, पशु-पक्षी नहीं; क्योंकि-पशु-पक्षियोंका भाषण असम्भव है। वानर हनुमान् भला व्याकरणका विद्वान् कैसे हो सकता है? इन पुराणोंके असत्यवक्ता होनेसे वे प्रमाण नहीं।'

इस पर हम विचार करते हैं। थोड़ी देरकेलिए मान भी लिया जाये कि-पुराणोंमें पशु-पक्षियोंका भाषण असम्भव है; तब यहां क्या दोष हुआ? क्या पञ्चतन्त्र आदिमें पशु-पक्षियोंके भाषणके बहाने कथाएँ नहीं बताई गईं? क्या उन्हें कोई दोष-जनक मानता है? क्या उनसे शिक्षा नहीं मिलती? इस प्रकार पुराण-इतिहासमें भी पशु-पक्षियोंके संवादोंसे शिक्षा ही मिलती है कि-यदि पशु-पक्षी भी ऐसे संवाद करते हैं, तब मनुष्य भी वैसा क्यों न करें? जैसे कि-'वनस्पतयः सत्रमासत' 'सर्पाः सत्रमासत'

'हरिपुङ्गवाः'(वाल्मी. ४।३७।४) 'प्लवङ्गमाः' (५) 'वानराः' (६) 'महेन्द्र-हिमवद्विन्ध्यकैलासशिखरेषु च। मन्दरे पाण्डु-शिखरे पञ्चशैलेषु ये स्थिताः' (२) 'पर्वतेषु समुद्रान्ते पश्चिमायां तु ये दिशि' (३) अञ्जने पर्वते चैव' (५) महाशैलगुहावासाः' (६) वनेषु च सुरम्येषु...तापसानां च रम्येषु वनान्तेषु समन्ततः' (८) तांस्तान् समानय क्षिप्रं पृथिव्यां सर्ववानरान्' (६) यहां विविध पहाड़ोंकी चोटियों, गुफाओं, समुद्री तटोंके रहनेवाले वानरोंको भी दयानन्दी टीकाकार बलात् 'वनवासी मनुष्य' लिखता गया है, यह सारी उसकी निर्मूल कल्पना है।

इस प्रकार योरोपियन स्कालरोंके पदचिन्हों पर चलनेवाले सुधारकोंका पक्ष काटकर हमने हनुमानादिको देवावतार (अप्राकृत, दिव्य) वानर सिद्ध कर दिया है। इस पक्षमें रामायणके वचनोंमें कुछ भी असङ्गति वा प्रक्षिप्तता नहीं पड़ती है। जिस पुस्तकका जो अभिप्राय हो; उसे आप मानें या न मानें—यह आपकी इच्छापर अवलम्बित है, पर उसके वचनोंकी तोड़-मोड़ द्वारा ग्रन्थकारके तात्पर्यको बदलना—अत्यन्त अनुचित है, चोर-बाजारी है।

(६४) हनुमान्की पूजाके विषयमें यह जानना चाहिए कि—वे मरुतोंके अवतार हैं, जैसेकि हम पहले कह चुके हैं; और मरुतोंको रुद्रका अवतार माना जाता है, जैसे कि वेदमें—'विद्मा हि रुद्रियाणां शुष्ममुग्रं मरुतां' (ऋसं. ८।२०।३) 'रुद्रस्य ये मीढुषः सन्ति पुत्राः' (६।६६।३) यहाँ मरुत् देवता हैं। सो रुद्रके अवतार

होनेसे ही मारुति-हनुमान्की हिन्दुओंमें पूजा होती है, वान होनेसे नहीं।

इसमें शिव-विष्णुका परस्पर अभेद वा प्रेम भी झलकता है जिससे साम्प्रदायिक कलह दूर हों। जब भगवान् राम 'रामेश्वरलिङ्ग'को समुद्र पार करनेकेलिए पूजा था; तो विष्णु अवतार श्रीरामने तो अपनी शिवभक्ति दिखलानेकेलिए इस पदका तत्पुरुषसमासका विग्रह किया था कि—'रामस्य ईश्वरः शिवः' यह महादेव रामके ईश्वर हैं, राम उनका सेवक है पर भगवान् शिवने उक्त पदका बहुव्रीहि-समासका विग्रह किया था कि—'राम ईश्वरो यस्य' राम शिवके ईश्वर हैं, और शिव सेवक हैं। परन्तु हरि-हरके भक्तोंने उक्त पदका कर्मधारयका विग्रह किया था—'रामश्चासौ ईश्वरश्च' राम और शिव दोनें एक-कोटिके हैं। इस प्रकार अभेदवादको प्रोत्साहन दिया गया था। भेदवादियोंने 'रामेश्वरम्'का समाहारद्वन्द्वका विग्रह किया था—'रामश्च ईश्वरश्च तयोः समाहारो रामेश्वरम्'। 'ईश्वर' महादेवका प्रसिद्ध नाम है, इस प्रकार रुद्र हनुमान्के रूपमें विष्णुके सेवक हुए। विष्णुके अवतार राम-कृष्णने शिवकी पूजा करके (जैसा कि महाभारत आदिमें प्रसिद्ध है) अपनेको शिवका सेवक बताया है। कहीं शिव विष्णुके मोहिनीरूपमें विष्णुकी मायामें मोहित हुए, और कहीं विष्णु शिवकी मायामें (देखो शिवपुराण) मोहित हुए। इस प्रकार पुराणोंका भी अन्तिम अभिप्राय हरि-हरके अभेदमें हैं, साम्प्रदायिक कलहोंकी

सृष्टिमें नहीं। कलह अज्ञानियोंमें होता है। कहनेका यह निष्कर्ष है कि-हनुमानकी मरुदवतार तथा रुद्रावतार होनेसे ही पूजा होती है, बन्दर होनेसे नहीं। हाँ, वन्दरोंका हनुमानके अङ्ग समझकर कहीं-कहीं सम्मान होता है। अस्तु।

अब हम 'पशु-पक्षियोंके भाषण' पर लिखेंगे। थोड़ी समझके लोग पशु-पक्षियोंका भाषण लिखा देखकर उसमें असम्भव समझते हुए उन्हें मनुष्य सिद्ध करने लग जाते हैं-यह ठीक नहीं। रघुवंशमें महाकवि कालिदासने शेरकी मनुष्य-वाणी दिखलाई है; और नन्दिनी गायकी भी मनुष्यवाणीमें वर देनेकी वात लिखी है। नलकी कथा महाभारतमें तथा नैषधीयचरितमें हंस पक्षीकी मनुष्यवाक् लिखी हैं, पर इससे यह सब मनुष्य नहीं सिद्ध हो जाते हैं, किन्तु यह सब दिव्य (देवांश) थे; जैसे कि-नैषधचरितमें दमयन्तीने हंसको 'हंसोपि देवांशतयासि वन्द्यः, श्रीवत्सलक्ष्मेव हि मत्स्यमूर्तिः' (३।५७) देवताका अंश कहा है, अतः इन वातोंको न समझकर उनको मनुष्य वनानेकी कल्पना करनी वस्तुतः निर्मूल है। आशा है-पाठकगण स्वयं भी इन वातोंका मनन करेंगे, केवल सुधारकोंके कथन पर विश्वासमात्र न कर लिया करेंगे। हमने मार्गप्रदर्शन कर दिया है। पाठकोंने ठीक-ठीक समझ लिया होगा। अव पशु-पक्षियोंके भाषणपर देखिये।-

---

(३) पशु-पक्षियोंका भाषण।

पहले तो वादी लोग हनुमान आदि वानरों और जटायु आदि गीधोंको पशु-पक्षी योनिवाले नहीं मानते; जब रामायण-आदिके वाह्य और आभ्यन्तर प्रमाणोंसे हम उन्हें पशु-पक्षी सिद्ध करते हैं, जैसा कि हम गत निवन्धमें कर चुके हैं, और उन्हें निरुत्तर करते हैं, तव और कोई उपाय न रह जानेसे वे वहां चुप हो जाते हैं; फिर खण्डनका अन्य प्रकार लेते हैं कि-'यदि यह मनुष्य नहीं थे, किन्तु पशु-पक्षी थे; तब यह मनुष्यकी तरह व्यक्त वाणीसे बोल कैसे सके? इस प्रकार पुराणोल्लिखित पशु-पक्षियोंके संवादमें भी सङ्गति जाननी चाहिये कि-यह मनुष्य थे, पशु-पक्षी नहीं; क्योंकि-पशु-पक्षियोंका भाषण असम्भव है। वानर हनुमान् भला व्याकरणका विद्वान् कैसे हो सकता है? इन पुराणोंके असत्यवक्ता होनेसे वे प्रमाण नहीं।'

इस पर हम विचार करते हैं। थोड़ी देरकेलिए मान भी लिया जाये कि-पुराणोंमें पशु-पक्षियोंका भाषण असम्भव है; तव यहां क्या दोष हुआ? क्या पञ्चतन्त्र आदिमें पशु-पक्षियोंके भाषणके बहाने कथाएँ नहीं बताई गई? क्या उन्हें कोई दोष-जनक मानता है? क्या उनसे शिक्षा नहीं मिलती? इस प्रकार पुराण-इतिहासमें भी पशु-पक्षियोंके संवादोंसे शिक्षा ही मिलती है कि-यदि पशु-पक्षी भी ऐसे संवाद करते हैं, तब मनुष्य भी वैसा क्यों न करें? जैसे कि-'वनस्पतयः सत्रमासत' 'सर्पाः सत्रमासत'

यहाँपर कृष्णयजुर्वेदादिमें चित्तवर्जित भी वनस्पतियोंका यज्ञ कहा गया है। यह मीमांसादर्शनमें वर्णित है।

और देखिये—'पिप्पल्यः समवदन्त आयतीर्जननाद् अधि। यं जीवम् अश्नवामहै, न स रिष्याति [हिंस्यते] पूरुषः' (अथर्वशौ. सं. ६।१०६।२) यहांपर वादियोंके अनुसार अचेतन भी पिप्पली नामक ओषधिका संवाद (बातचीत) वेदमें भी दिखलाया गया है, तब चेतन अङ्गद आदि वानर तथा जटायु आदि पक्षियोंके इतिहासवर्णित संवादमें क्या विवाद? 'ओषधयः समवदन्त सोमेन सह राज्ञा। यस्मै कृणोति ब्राह्मणः, तं राजन्! पारयामसि' (यजु. माध्यं. १२।९६) (ओषधियाँ अपने राजा सोमको कहती हैं कि—ऐ राजा! ब्राह्मण वैद्य हम ओषधियोंका जिसकेलिए प्रयोग करता है, हम उसे रोगोंसे परे कर देती हैं) यहां भी वादियोंके अनुसार अचेतन भी ओषधियोंका अपने राजा सोमके साथ संवाद दिखलाया गया है। यहां इनका यदि अभिमानि-देवता स्वीकार किया जाता है; तब हिमालय-पर्वत आदियोंके संवादमें भी तथा उनकी पुत्री पार्वती आदिकी उत्पत्तिमें भी अभिमानी देवताका स्वीकार कर लेना चाहिये। यदि ऐसा है, तब चेतन पशु-पक्षियोंके भाषणमें थोड़ा भी संशय न रहा।

आगे देखिये—'भूमिरधिब्रवीतु मे' (अथर्व. १२।१।५९) यहां वादियोंके अनुसार अचेतन भी पृथिवीका भाषण दिखलाया गया है। 'ब्रवीतु'में 'ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि' धातु है। यदि ऐसा

है, तो चेतन पशु-पक्षियोंका पुराणस्थित संवाद (व्य... व्यभिचरित कैसे हो सकता है? 'ग्रावा यत्र वदति' (ऋ... २०।२५।६) इस लौकिक-व्यवहारमें अचेतन ग्रावा (पत्थ... भी बोलना बताया है। 'वदँ व्यक्तायां वाचि'। इस। कृष्णयजुर्वेदमें 'शृणोत ग्रावाणः' (कृ.य.तै.सं. १।३।१३।१) 'श्रोता ग्रावाणः' (शु.य.माध्यं. ६।२६) यहांपर पत्थरोंकी श... शक्ति दिखाई गई है।

इसका संकेत महाभाष्य (३।१।७ के सूत्रके भाष्य) में सूचित किया है। वहां पर 'कूलं पिपतिषति' पर प्रश्न है यदि इच्छा अर्थमें सन् होता है; तो यहांपर सन् नहीं सकता; क्योंकि—किनारेके अचेतन होनेसे उसमें इच्छा बन् सकती। तब 'आशङ्कायां सन् वक्तव्यः' इस वा... आशङ्का अर्थमें सन माना गया कि—किनारेके गिरनेकी आ... है। पर फिर वही बात भी रखी गई कि—यहांपर भी इच्छा... ही सन् किया जाय। तब प्रश्न उपस्थित होता है कि—कि... अचेतन होनेसे उसमें गिरनेकी इच्छा कैसे हो सकती... इस पर नया वार्तिक आया कि—'सर्वस्य वा चेतनाव... (अर्थात् सांसारिक सभी पदार्थ चेतना वाले (चेतन) होते... इस पर भाष्यकार उदाहरण कहते हैं—अथवा सर्वं चेतना... एवं हि आह—कंसकाः सर्पन्ति, शिरीषोऽयं स्वपिति, सुव... आदित्यमनुपर्येति। आस्कन्द कपिलक इत्युक्ते तृणमास्कन्द... अयस्कान्तमणिम् अयः संक्रामति। ऋषिः पठति-शृणोत ग्राव...

(कृ.य.तै.सं. १।३।१३।१) अर्थात्-इस संसारमें सभी वस्तुएँ चेतन हैं; तभी कहा जाता है-यह सिरसका वृक्ष सो रहा है, सूर्यमुखी फूल सूर्यके सामने रहता है-आदि। तभी वेदने कहा है- पत्थरो ! सुनो'।

तब लोक-दृष्टिमें अचेतन कहे जाते हुए भी पत्थर आदि वेदकी दृष्टिमें चेतन कहे हैं। तभी तो पत्थर घटते-बढ़ते रहते हैं। यह महाभाष्यकारका आशय है। इसी बातको 'प्रदीप'कार श्रीकैयटने भी स्पष्ट किया है-'सर्वस्य वेति-आत्माद्वैतदर्शनेनेति भावः। ऋषिरिति। वेदः सर्वभावानां चैतन्यं प्रतिपादयतीत्यर्थः। वैचित्र्येण च पदार्थानामुपलम्भात् सर्वचेतनधर्मः सर्वत्र नोद्भावनीयः'। इसीकी स्पष्टता उद्योतकार श्रीनागेशभट्टने की है- वैचित्र्येणेति। चेतनेषु मनुष्येष्वपि नानाजातीय-व्यवहारदर्शनादिति भावः। सर्वत्र परिणामदर्शनेन चेतनाधिष्ठानं विना च तदसत्त्वात् सर्वस्य तदधिष्ठितत्वं ज्ञायते-इति तात्पर्यम्। (अर्थात् वेदने सभी पदार्थोंको चेतन कहा है; क्योंकि-आत्मा सर्वव्यापक होता है। और फिर सब पदार्थ विचित्रतासे मिले हुए होते हैं; अतः सब चेतनोंके धर्म आपसमें एक-जैसे मिल जावें-यह सम्भव नहीं। चेतन-मनुष्योंमें भी किसीको सर्वाङ्गमें लकवा हो जावे; न वह हिल सकता है और न ही बोल सकता है। सब पदार्थोंमें परिणाम (परिवर्तन) दीखता है, अतः सभी पदार्थ आत्माधिष्ठित हैं।)

कई लोग आत्माको सर्वव्यापक मानकर भी जिसमें चित्त

नहीं होता; उसे अचेतन कहते हैं; और चित्तवालोंको चेतन मानते हैं, पर 'तच्च (मनः) प्रत्यात्मनियतत्वाद् अनन्तम्' (तर्कसं.) आत्माके साथ मन (चित्त) भी अवश्य होता है। हाँ, कहीं वह अभिव्यक्त होता है, कहीं अनभिव्यक्त। यही चेतन-अचेतनका व्यावहारिक भेद है; पर होते सभी चेतन हैं।

महाभाष्यके उक्त उद्धरणमें सबको 'चेतनावत्' कहा है- 'चेतनवत्' नहीं कहा। जोकि-'दुष्कृतं चरकाचार्यम्' नामक निबन्धमें उसके लेखकने पृ. ६ की टिप्पणीमें लिखा है-'वस्तुतः 'अभिमानी देवता'की कल्पना भी अर्वाचीन आचार्यों द्वारा सृष्ट हुई है। प्राचीन आचार्य 'अचेतनेषु चेतनावत्' अर्थात् अचेतनमें चेतनवद् व्यवहार औपचारिक (गौण) मानते थे, इसी नियमसे ही 'शृणोत ग्रावाणः' आदि वैदिक-वाक्योंका सामञ्जस्य उपपन्न हो जाता है। उसकेलिए अभिमानी देवताकी कल्पनाकी कोई आवश्यकता भी नहीं है'। यह उक्त लेखककी बात ठीक नहीं है। यह कथन महाभाष्यस्थ उक्त वार्तिकके आधारसे प्रवृत्त प्रतीत होता है। परन्तु उसमें 'चेतनावत्' है, 'चेतनवत्' नहीं; और यहाँ मतुप् प्रत्यय है, वति नहीं। मतुप्के 'म' को 'मादुपधायाश्च' (पा. ८।२।९) से 'व' हुआ-हुआ है। अतः यहाँ भाव यह है कि-सभी जड़-चेतन कहे जानेवाले पदार्थ चेतनावत् अर्थात् चेतनावाले (चेतन) हैं, उनमें चेतना हुआ करती है। जब ऐसा है; तब अभिमानी देवताकी सिद्धि स्वतः वैदिक हो जाती है। उसी कारण सभी पदार्थ लोकदृष्टिमें जड़ कहे जाते

हुए भी चेतन सिद्ध हुए। हाँ, कहीं चेतना अभिव्यक्त होती है, कहीं अनभिव्यक्त। मनुष्यमें भी जब सब अङ्गोंमें लकवा हो जाता है, तो वह हिल नहीं सकता, चल नहीं सकता, बोल नहीं सकता, तब क्या वह मनुष्य अचेतन कहा जायगा? कभी नहीं! वर्तमान विज्ञान भी अचेतन कही जाती हुई वस्तुओंकी चेतनताकी पुष्टि करता है। इस विषयमें 'आलोक' (५) देखना चाहिये। इस प्रकार जब पत्थरमें भी सुननेकी शक्ति दिखलाई गई है, तब पशु-पक्षियोंके बोलनेमें क्या आश्चर्य?

परमात्माकी विलक्षण महिमासे इसमें भी असम्भव कुछ नहीं। पशु-पक्षियोंमें कोई भाषा तो अवश्य है, जिससे वे आपसमें व्यवहार करते हैं, इसमें तो किसी भी संशयालुको नकार नहीं हो सकता, इसमें वैज्ञानिकोंकी गवेषणा भी है। एक अँग्रेजने वनमें रहते हुए बहुतसे बन्दरोंको अपना विश्वासी बना लिया। तब उसने उनके सभी तरहके शब्दोंका ग्रामोफोन-यन्त्रमें रिकार्ड कर लिया। जब वही रिकार्ड की हुई आवाज उसने अन्य बन्दरोंको सुनाई; उससे वे कभी प्रसन्न, कभी दुःखी, और कभी हैरान हो जाते थे। इस प्रकार उस अँग्रेजने बहुत बार अनुभव करके उनकी भाषाका ज्ञान ठीक-ठीक कर लिया। इससे सिद्ध हुआ कि—पशु एवं पक्षियोंकी भी भाषा अवश्य है, हम उसे नहीं जान सकते, यह अन्य बात है। क्या हम पहले अंग्रेजी वा अरबी वा जर्मनी वा फ्रांसीसी भाषाओंको सीखनेसे पूर्व जानते थे? केवल हमारी भाषाका जानकार अमेरिका

आदि देशोंमें जावे, क्या वह वहाँ वालोंकी और वहाँ वाले हमारी भाषाको जान सकेंगे? यदि नहीं; तब क्या वे सभी मनुष्य नहीं, अथवा हम मनुष्य नहीं?

इस प्रकार जब हमारी भी भिन्न-भिन्न भाषा है; तब यदि पशु-पक्षियोंकी भी हमसे भिन्न भाषा है; और हम उसे जान नहीं सकते; तो इसमें आश्चर्य क्या? इससे उनकी भाषा तो सिद्ध हो ही गई। जैसे एक अँग्रेजने अपनी निपुणतासे बन्दरोंकी भाषाका ज्ञान कर लिया, इस प्रकार यदि हमारे पूर्वज मुनियोंने भी 'यद् दुस्तरं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम्। सर्वं तत् तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्' (मनु. ११।२३८) (जो भी कठिनतासे प्राप्त होने योग्य, दुर्लभ वा दुष्कर पदार्थ है, वे सब तपस्यासे सिद्ध हो जाते हैं, तपस्याकी शक्तिका उल्लंघन नहीं किया जा सकता) इस अलौकिक अपनी तपस्या-शक्तिसे दिव्य अथवा आरूढपतित पशु-पक्षियोंकी भाषा जानकर उनकी बातचीतका अनुवाद करके उन्हें पुराणादिमें लिखा हो; और श्रीराम-जैसे दिव्य अवतारने उनके आशयको जानकर उनसे युद्ध आदिका काम ले लिया हो, तब इसमें असम्भव क्या रहा! इसीलिए ही तो योगदर्शनके विभूतिपादमें कहा है—'शब्दार्थ-प्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरः, तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्' (१७) इस सूत्रमें कही हुई यौगिक-प्रक्रिया द्वारा सब प्राणियोंके शब्दका ज्ञान हो जाना कहा है।

अब केवल एक ही प्रश्न बचता है कि—'पशुपक्षियोंका पुराण

इतिहासमें मनुष्यकी तरह बोलना भी आया है, उसकी सङ्गति कैसे है'? यहाँ भी दूरदर्शिताकी आवश्यकता है कि पशु-पक्षियों-में ऐसा विकास नहीं है कि-वे हमारी तरह स्वतन्त्र होकर बोलें; पर उनमें चाहे थोड़ी क्यों न हो, पर मनुष्यकी तरह भाषण-शक्ति है अवश्य। यदि मनुष्योंको भी जन्मसे वर्णात्मक शब्द न सिखलाये जाएँ; तब वे भी पशु-पक्षियोंकी भांति अव्यक्त ही बोलें। विना सिखाये जन्मसे वर्णात्मक शब्दका प्रयोग वे भी न कर सकें। इसमें मनुष्योंके बच्चे ही उदाहरण बन सकते हैं।

भेड़ियोंकी मांदोंसे प्राप्त हुए मनुष्य बालकोंमें जो चाहे अब युवा भी हो चुके हैं, यह देखा गया है। वे शिक्षकके बगैर न तो खुद पैरोंके बल ठहर सके, न चल सके, किन्तु पशुओंकी भांति चार पावोंसे चलते थे। वे शिक्षित मनुष्यकी तरह स्वाभाविक ज्ञानसे स्पष्टतासे नहीं बोल सकते थे, किन्तु 'हुँ-हुम्' आदि अव्यक्त ही बोलते थे। हाथोंसे कुछ भोजन लेकर नहीं खाते, किन्तु मुंहसे ही लेकर उसे खाते थे। और पानी भी पशुकी तरह ही पीते थे। इससे स्पष्ट है कि-मनुष्य-बालकोंमें भी जो कुछ वैशिष्ट बोलना-चालना आदि व्यवहार प्राप्त होता है; वह सिखलानेसे ही होता है। स्वतः नहीं। यह पहले कई मुसलमान राजा भी परीक्षित कर चुके हैं। उन्होंने सद्यः-प्रसूत बच्चोंको वन आदि एकान्तस्थानमें रखा कि जहाँ उनका किसी मनुष्यसे भाषण-शिक्षण सम्बन्ध न हो। वे स्वतः नहीं सीख सके, न स्पष्ट बोल सकते थे। पशुओंकी भांति वे चीखते-चिल्लाते थे, जैसे

गूंगे पुरुष किया करते हैं।

इससे पशु-पक्षियोंमें वर्णात्मक भाषाके शिक्षणार्थ उनके जन्मसे ही पुरुषके प्रयत्नकी अपेक्षा रहा करती है। इसमें सिखानेसे बोलने वाले तोते-मैंना ही प्रमाण हैं। वे पुरुष के प्रयत्नसे ही बोलते हैं—यह प्रत्यक्ष है। यदि उनमें भी पुरुषका प्रयास न हो, तब वे तोते भी मनुष्यकी भांति न बोल सकें, किन्तु अव्यक्त ही। मनुष्य-शिशुको जन्मसे ही जो भाषा मुलतानी, चाहे पञ्जाबी, हिन्दी, संस्कृत या अंग्रेजी आदि भाषा सिखलाई जाएगी; उसी भाषाको वह अनायास ही बोलनेमें समर्थ होता है; अन्य भाषाको नहीं। इस प्रकार पशु-पक्षी भी जन्मसे ही माता-पिता द्वारा जिस भाषाके संस्कारको पाते हैं, उसी भाषाको बोलते हैं; वे भी दूसरी भाषाको कैसे बोल सकें?

पाश्चात्य वैज्ञानिक-विद्वान् डार्विन के मतानुसार बन्दर ही उन्नति करके मनुष्य बने। इस प्रकार जब वे वानर नर बन कर व्यक्त भाषणमें सफल हो गये; तब भैंसे भी उन्नति करके महिषासुर, बगले भी उन्नत होकर बकासुर, बछड़े भी वत्सासुर, सांप भी अघासुर, गधे वा गायें धेनुकासुर बनकर यदि व्यक्त भाषणमें सफल हो जाएँ; तब पाश्चात्योंके अनुयायी वादी भी अपने सन्देहको अपने उक्त आचार्यसे ही दूर कर लें।

इन वर्तमान रीछ-वानर आदिका व्यक्त भाषण हम भी सामान्यरूपसे नहीं मानते, किन्तु हमारा यह अभिप्राय है कि-जो गतजन्मसे विशेषसंस्कारशाली अथवा आरूढ़-पतित पुरुष

कर्मवश, अथवा देवता, ऋषि, मुनि, योगी अपनी इच्छासे पशु वा पक्षी बनें, वे पहले जन्मके संस्कारोंको भी धारण करते हैं। उनसे यदि प्रयत्न किया जावे, तब वे मनुष्यकी भांति बोलने तथा अन्यान्य कार्योंको करनेमें अवश्य समर्थ हो सकते हैं; क्योंकि-वे प्रकृतिके दास साधारण पशु-पक्षियोंसे विलक्षण हुआ करते हैं, यह पुनर्जन्म मानने वाले लोगोंको पूर्व-जन्मके संस्कार इस जन्ममें अवश्य मानने पड़ेंगे। कभी किसी तपस्वीके तपोबलसे भी पशु-पक्षीको मानुषी वाणी बुलवाई जा सकती है, जैसे कि-सन्त ज्ञानेश्वर द्वारा सिरपर हाथ रखनेसे भैंसा भी वेदमन्त्र बोलकर संशयालु व्यक्तियोंके आश्चर्यका विषय बन गया था। श्रीकन्हैयालाल मिश्र नामके एक पण्डितने हरिद्वारके कुम्भमें एक ऐसे बन्दरको देखा था, जो हिन्दीमें अपना नाम लिख दिया करता था। वह पैसे लेकर बाज़ारसे विशेष-विशेष वस्तुओंको खरीद कर भी ला दिया करता था—यह बात 'ब्राह्मणसर्वस्व' (इटावा)के पुराणाङ्कमें लिखी गई है—यह हम गत निबन्धमें सूचित कर चुके हैं।

हमने मुलतानमें २१ अक्टूबर सन् १९३५ को एक बैल देखा था। वह भीड़मेंसे किसी विशेष नाम वाले पुरुषके ढूंढनेकेलिए कहा हुआ तीन चक्कर लगाकर उसी पुरुषके सामने जाकर ठहर जाता था। हमारे सामने की बात है। हमारे साथ ठहरे हुए एक व्यक्तिने अपने हाथमें रखी हुई इत्रकी दो शीशियाँ दिखलाते हुए, बैल वालेको कहा कि—बैलको कहो कि-इत्रकी

शीशियों वालेको ढूंढे। पर उसने वे शीशियाँ अपने पास न रखकर अपने सामनेकी भीड़में किसी एक के हाथ पकड़वा दीं, जिसका मुझे भी पता न लग सका। बैलने तीन चक्कर लगाये; और मेरे सामनेकी भीड़में एक पुरुषके पास जाकर ठहर गया। मैंने समझा कि—बैल यहाँ गलती कर गया; पर नहीं, तब उस सामनेके व्यक्तिने इत्रकी वे शीशियाँ दिखला दीं। कार्यकी सिद्धि होगी वा नहीं; इसपर वह विधि-निषेधका सिर हिलाता था। आजकल देहलीमें भी वैसा बैल दीखता है। इस प्रकारके चमत्कार विशेषरूपसे मननीय हैं।

इस प्रकार मुलतानमें हमारे 'श्रीसनातनधर्म संस्कृत कालेज-में एक कुत्तेका मास्टर एक छोटे कुत्तेको ४ फर्वरी सन् १९४१ को ले आया था। वह कुत्ता विशेष खेल दिखलाता था। उसके आगे चाकसे अङ्क लिख कर दें, तो वह उनका जोड़ लगाता था। अङ्क लोहेके बने होते थे; वह जमा वाले स्थानमें रखता जाता था। घड़ी, चाकू, ऐनकें भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की रख दी जाती थीं; जिसका नाम बताया जाता था कि-अमुककी ऐनक (चश्मा) उठा लाओ, वह मुंहसे उठा लाता था। पांच वा दस वा सौ के नोट रख देनेपर जिस नोटको उसे उठा देनेको कहा जाता था—उठा लाता था। उसका मास्टर कहता था कि-सब पशु-पक्षियोंको इसी प्रकार सिखलाया जा सकता है। कबूतर वा बाज़ नियत पुरुषको चिट्ठी दे आ सकते हैं। कुत्ते वा बन्दर लड़केका बस्ता उठाकर उसको स्कूलमें पहुँचाने जा सकते हैं, और

उस लड़केके वापिस आनेके टाइममें स्वयं उन्हें लेने चले जा सकते हैं। गायको इस प्रकार सिखलाया जा सकता है कि—उसे खूंटेसे न भी बांधा जावे, फिर भी वह घरमें ही बैठी रहेगी; कहीं चली नहीं जावेगी। नियत समयसे पहले बछड़ेको दूध नहीं पीने देगी। सर्कस वाले लोग हाथीको सिखलाकर चौकीपर इस प्रकार बैठाते हैं कि—वह गणेश-जैसा मालूम होने लगता है। रीछसे बाईसीकल चलवाते हैं। तोते द्वारा साइकल चलवाते हैं। एक कुत्तोंका विश्वविद्यालय अमेरिकामें खोला गया है, जहाँ कुत्तोंको सिखलाया जाता है, और उन्हें उपाधि दी जाती है—यह 'नव-भारत'में प्रकाशित हुआ था, साप्ताहिक 'संस्कृतम्'के १५।६ अङ्क २८-११-४४ में भी।

महाकवि बाणभट्टने कुमारपालित मन्त्रीके द्वारा शूद्रक-राजाको वैशम्पायन तोतेके बोलनेमें आश्चर्य प्रकट करनेपर कादम्बरीमें कहा था—'किमत्र चित्रम्? (इसमें हैरानीकी क्या बात है?) एते हि शुकसारिका-प्रभृतयो विहङ्गविशेषा यथाश्रुतां वाचमुच्चारयन्तीति अधिगतमेव देवेन। तत्रापि अन्यजन्मोपात्त-संस्कारानुबन्धेन वा, पुरुषप्रयत्नेन वा, संस्कारातिशय उपजायते-इति नातिचित्रम् (यह पक्षी सुनी हुई बातका उच्चारण कर सकते हैं। गत जन्मके संस्कारके कारण उनमें पुरुषके प्रयत्नविशेषसे अतिशयित संस्कार हो जाया करता है; इसमें बहुत हैरानीकी बात नहीं)। अन्यद् एतेषामपि पुरुषाणामिव अतिपरिस्फुटाभिधाना आसीत्। अग्निशापात्तु अस्फुटालापता शुकानामुपजाता'

(इनकी भी पहले पुरुषोंकी भांति स्फुट वाणी हुआ करती थी)।

इसके अतिरिक्त दैवी सृष्टिका कोई प्राणी जब हनूमान-आदि वानरोंका, जटायु आदि पक्षियोंका, जाम्बवान् आदि रीछोंका, वासुकि आदि सर्पोंका शरीर लेता है, तब भी वह अलौकिक-शक्तिशाली होनेसे दैवी गुणोंको नहीं छोड़ता। नट रङ्गमञ्चमें स्त्रीरूप धारण करता हुआ भी अपने पुरुषत्वको नहीं खो देता। तब उनका मनुष्यकी भांति भाषण अलौकिक-शक्ति वाला होना, अपना रूप परिवर्तन [1] करना, पर्वतोंका उखाड़ना, उनका उठाना, और समुद्रको लांघना, पर्वत खण्डों वा वृक्षखण्डों-को उखाड़कर लड़ना आदि उपपन्न हो जाता है। इन वानरों-का देवावतार होना हम गत निबन्धमें दिखला चुके हैं। 'यह मनुष्य थे' इसका भी गत निबन्धमें हम खण्डन कर चुके हैं।

इस प्रकार पुराण-इतिहासोंमें ऐसे पशु-पक्षियोंकी अपवाद-स्थल मानकर मनुष्यकी तरह भाषणशीलता समझनी चाहिये। अपवादस्थल माने वगैर कहीं भी निर्वाह नहीं होता। जब कि—अमेरिकाके मोण्टरीयल नगरमें एक सात वर्षका लड़का ऐसे रोगमें फँस गया, जिसके कारण उसकी बाहें और जांघें पत्थर की बन गईं। वैज्ञानिक इस बालकको देखकर बहुत हैरान हैं। इसमें यदि अपवाद-स्थल स्वीकार न किया जावे; तो उसके पत्थर होनेमें क्या युक्ति होगी? फिर सभीके अङ्ग वैसे पत्थर क्यों नहीं हो जाते?

बृहद्देवतामें श्रीशौनकाचार्यने कहा है—'तमृषिं निषिषेधेन्द्रो

मैवं वोचः कचिन्मधु। नहि प्रोक्ते मधुन्यस्मिन् जीवन्तं त्वोत्सृजाम्यहम्।' (३।१६) 'तमृषिं त्वश्विनौ देवौ विधिवद् मध्वयाचताम्। स च ताभ्यां तदाचष्ट यदुवाच शचीपतिः। (२०) तमब्रूतां तु नासत्यौ आश्वेन शिरसाऽभवन्। मध्वाशु आहृय त्वं तन्नेन्द्रश्च त्वां हनिष्यति (२१) आश्वेन शिरसा तौ तु दध्यङ्ङाह यदश्विनौ। तस्येन्द्रोऽहरत् सन्तं (?] व्यधातामथ तौ शिरः' (२२)।

यहाँ दधीचिने अश्वके सिरसे अश्वियोंको मधु-विद्या बताई, जिसे बतानेकेलिए इन्द्र निषेध कर गया था, और सिर काटनेका डर दे गया था। तब अश्वियोंने दधीचिका सिर काटकर उसपर अश्वका सिर चढ़ा दिया; उसी अश्वके सिरसे दधीचिने मधु-विद्या अश्वियोंको दी। इन्द्रने उस अश्व शिरको काट डाला। तब अश्वियोंने उसका काटा हुआ अपना सिर उसपर प्रतिष्ठित कर दिया। यहां जब सामर्थ्य-विशेषसे घोड़ेका सिर भी बोल सका; तब बन्दरोंके बोलनेमें क्या कठिनता रही?

ऊपरका इतिहास ब्राह्मणभागमें भी कहा गया है—'स हो-वाच-इन्द्रेण वै उक्तोस्मि, एतं चेद् अन्यस्मै अनुब्रूयाः, तत एव ते शिरः छिन्द्याम्-इति। तस्माद् वै बिभेमि, यद् वै मे स शिरो न छिन्द्याद्। न वाम् [अश्विनौ] उपनेष्ये' (शत. १४।१।१।२२) यह यज्ञकी पूर्णता सिद्ध करनेवाली विद्याके लेनेकेलिए आये हुए अश्वियोंको अथर्वाके लड़के दध्यङ् ऋषिने कहा था। तब उन्होंने कहा—

'तौ [अश्विनौ] ह ऊचतुः—आवां त्वा तस्मात् त्रास्यावः [हम तुम्हें इन्द्रसे बचावेंगे] (प्र.) कथं मा त्रास्येथे? (मुझे कैसे बचाओगे?) (उ.) यदा नौ उपनेष्यसे, अथ ते शिरः छित्त्वा अन्यत्र अपनिधास्यावः। अथ अश्वस्य शिर आहृत्य तत् ते प्रतिधास्यावः' (जब हमें विद्या दोगे; तब तुम्हारा सिर काटकर अन्यत्र रखेंगे, तुम पर घोड़ेका सिर लगा देंगे। उस सिरसे हमें विद्या दोगे। उस सिरको इन्द्र काट लेगा। तब फिर तुम्हारा अपना सिर लगा देंगे) तेन (अश्वशिरसा) नौ (आवाम्) अनुवक्ष्यसि स यदा नौ (अश्विनौ) अनुवक्ष्यसि, अथ ते (दधीचः) तत् (आश्वं) इन्द्रः शिरः छेत्स्यति। अथ ते स्वं शिर आहृत्य, तत् ते प्रतिधास्याव इति। तथा-इति' (श. १४।१।१।२३)

'तौ (अश्विनौ दध्यङ्) उपनिन्ये। तौ यदा उपनिन्ये, अथ अस्य शिरः छित्त्वा अन्यत्र अपनिदधतुः। अथ अश्वस्य शिर आहृत्य तद् ह अस्य प्रतिदधतुः। [तेन अश्वशिरसा] ह आभ्यां [अश्विभ्याम्] अनूवाच। स यद् आभ्याम् अनूवाच, अथ अस्य तद् इन्द्रः शिरः चिच्छेद। अथ अस्य स्वं शिर आहृत्य तद् अस्य प्रतिदधतुः' (शत. २४) (वैसा ही किया गया) ब्राह्मणभागात्मक वेदमें एक ऋषिकी घोड़ेवाले सिरसे सम्भाषणकी शक्ति बताई गई है। जब ऐसा है, तो पशु-पक्षियोंका भाषण भी वैदिक सिद्ध हुआ। शतपथ-ब्राह्मणको स्वा.द.जी प्रमाण मानते थे; इसलिए अपने भाष्यमें स्थान-स्थान शतपथके प्रमाण देते हैं; बल्कि अपने यजुर्वेदके भाष्यको स्वा

इसलिए प्रमाण बताते हैं कि–वह शतपथानुकूल किया गया है। उसी शतपथमें जब पशु-अश्वके मुख द्वारा मनुष्यकी भांति भाषण-शक्ति और विद्यादान-शक्ति दिखलाई गई है, और उसमें असम्भव नहीं, वैसे ही अपवाद-न्यायसे पौराणिक पशु-पक्षियोंके भाषणमें भी क्या असम्भव रहा ?

घोड़े वाले सिरसे मनुष्यकी भांति भाषणमें न केवल ब्राह्मणभागकी ही साक्षी है, बल्कि–वादिप्रतिवादिसम्मत, वादियोंसे वेद नामसे सम्मत मन्त्रभागकी भी इसमें साक्षी है। देखिये–'दध्यङ् ह यन्मधु आथर्वणो वाम् [अश्विनौ] [इस मन्त्रके अश्वी देवता (वाच्य) हैं] अश्वस्य शीर्ष्णा प्रयदीमुवाच' (ऋ.सं. १।११६।१२) (अथर्वाके लड़के दधीचिने हे अश्विनो ! तुम दोनों-को घोड़ेके सिरसे मधुविद्याका उपदेश दिया)। यही अन्य मन्त्रमें भी स्पष्ट किया गया है। जैसे कि–'युवं दधीचो मन आविवासथः, अथ शिरः प्रति वाम् [अश्विनौ] अश्व्यं वदत्' (ऋ.सं. १।११९।९) यहाँ पर अश्वमुखके द्वारा जैसे भाषणशक्ति तथा विद्याप्रदानशक्ति बताई गई है; वैसे ही अपवाद-न्यायसे पशु-पक्षियोंका पुराण–इतिहास वर्णित भाषण भी वैदिक सिद्ध हो गया। हाथी-द्वारा मनुष्य-जैसे बोलनेमें हम गत-निबन्धमें आर्य-मुसाफिर श्रीलेखराम जी की साक्षी भी दे चुके हैं।

सर्वसाधारण पशु-पक्षीका मनुष्यकी तरह भाषण तथा व्यवहार हम भी नहीं बताते, किन्तु देवांश पशु-पक्षियोंका ही; अथवा आरूढ़-पतितोंका बताते हैं। तभी महाभारतानुसार हंस-

से मनुष्यकी वाणी द्वारा दमयन्तीको जो नलका परिचय प्राप्त हुआ था; वहां भी नैषधचरितमें उसे देवांश होनेसे वन्दनीय माना है।

इस प्रकार सामवेद-छान्दोग्योपनिषद्में 'अथ ह हंसा निशायामतिपेतुः। तद्धैव हंसो हंसमभ्युवाद' (४।१।२) यहांपर हंसोंका संवाद कहा गया है। उसे जानश्रुति पौत्रायणने सुना (४।१।५) 'तं हंस उपनिपत्य अभ्युवाद' (४।७।२) यहां पर जबालाके लड़के सत्यकामको हंसने उपदेश दिया था। तब महाभारतमें हंसका नलदमयन्तीके साथ तथा मार्कण्डेय-पुराणमें जैमिनिके साथ हंसोंका संवाद भी समूल सिद्ध हुआ। इसी प्रकार 'अथ ह एनम् ऋषभोऽभ्युवाद-सत्यकाम ३ इति' (छान्दो. ४।५।१) यहां पर वृषभका संवाद कहा गया है। 'मद्गुष्टे पादं वक्ता' (४।८।१) यहांपर एक जलके हंसविशेषका संवाद कहा गया है।

यह बात सामान्य पशु-पक्षियोंकी है, परन्तु हनुमान्-आदि वानरों, जटायु आदि गीधों और जाम्बवान्-आदि रीछोंके पहलेसे ही देवता होनेसे उनके अवतार होनेके कारण, देवताओंके 'विद्वाँसो हि देवाः' (शत. ३।७।३।१०) जन्मसे विद्वान् होनेके कारण इस जन्ममें उनका मनुष्यकी भांति बोलने तथा मानुषी व्यवहार करने और शास्त्रादि-ज्ञान रखनेमें थोड़ा भी सन्देह न रह सका। तब यह विषय समाप्त होनेसे इस निबन्ध को हम यहीं रोकते हैं। अब इस इतिहासचर्चामें ७म पुष्पसे अनुवृत्त श्रीराम-सीताकी वैवाहिक आयुपर विचार दिया जाता है।

स० ध० ८

(४) श्रीसीतारामकी वैवाहिक अवस्था
(अवशिष्ट भाग)

'श्रीराम तथा श्रीसीताकी विवाहावस्था' श्रीवाल्मीकि-रामायणके अनुसार क्या थी-इस विषयमें हमने 'आलोक' (७)में ६३६ पृष्ठसे ७११ पृष्ठ तक ७५ पृष्ठोंमें लिखा था, जिसमें प्रतिपक्षियोंकी सभी शङ्काओंका समाधान दिया था; उसपर एक दयानन्दी-पथिकने कुछ थोड़ी-सी आपत्तियां 'वेदवाणी' (१५।११) में खड़ी की थीं, इस 'इतिहासचर्चा'में इस विषयमें लिखा जा रहा है। प्रतिपक्षी वाङ्मात्रसे 'उत्तराभास, कुतर्क, धृष्टता, वाग्जाल, बालकी खाल खींचना, प्रक्षिप्तताका प्रयोग' इन शब्दोंको लिखकर और अपने दयानन्दियोंके वा सुधारकोंके साध्य वचन उपस्थित करके अपने पक्षको सिद्ध हुआ समझ लेते हैं; और अपने विरुद्ध वचनोंको नाममात्रसे 'वेदविरुद्ध' कहनेका 'तकिया-कलाम' तो हर समय उसके गलेका हार बना ही रहता है। वह १८ पुराणोंको स्वा.द.की 'खोखली-तोप'से अपनी समझमें उडाकर भी (देखो उसके वै.सि.मा.में वह चित्र) फिर उन्हीं पुराणोंको अपने गलेका हार बना लिया करता है।

(१) पूर्व लेखमें प्रतिपक्षीने 'ऊनषोडशवर्षो मे' इस वाल्मी. रा.के वचनको माना था; उससे उसके पक्षका हम द्वारा खण्डन करनेपर इस लेखमें उसने उसकी भी प्रक्षिप्तताका फतवा दे दिया। अपने पक्षकी रक्षाकेलिए यही (प्रक्षिप्तता) तो इनके पास अस्त्र होता है, पर यह विद्वज्जनोंकी दृष्टिमें उनके पक्षकी दुर्बलता-

का प्रमाण है। हमने इन सबका उत्तर 'आलोक' (७) ऊहापोहके साथ दे रखा है, उस पर प्रतिपक्षीकी लेखनी न [चल] सकी। वहीं हमने 'सुश्रुत-संहिता'के अनुसार भी 'समुपस्थित यौवन' का संघटन किया था, पर साम्प्रदायिक-दलदलमें [फँसे] हुए प्रतिपक्षीके पास उसका प्रत्युत्तर है ही नहीं।

'युवा सुवासाः'

(२) हमने लिखा था कि—स्वा.द.जीकी 'संस्कार-वि[धि]' (उपनयनसं.)में उपनेय वटुकेलिए 'युवा सुवासाः' मन्त्र प्रयु[क्त] किया गया है। उपनयन स्वामीने वटुका मुख्यतया गर्भ वा जन्म[से] ८-११-१२ वर्षकी अवस्थामें माना है, और गर्भ वा जन्म[से] ५-६-८ वर्षमें भी माना है। क्षत्रियका जब स्वा.द.जीके अनुसा[र] ६ठे तथा ११वें वर्षमें भी उपनयन है; और मनुस्मृतिके अनुसा[र] 'वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः' (२।६[७]) स्त्रियोंका विवाह उपनयन-स्थानीय है; और उपनयनमें स्वामी[के] अनुसार 'युवा सुवासाः' मन्त्र उपनेय वटुकेलिए पढ़ा जाता है, तब प्रतिपक्षीकी सब आपत्तियाँ उड गईं। ६-७ वर्षकी विवाहि[त] सीता, १२ वा १५ वर्षके श्रीराम भी 'युवा' सिद्ध हो गये। [य]दि तो अब ६-८ वर्षके वटुकेलिए प्रयुक्त किये गये 'युवा सुवासा[ः]' मन्त्रको प्रतिपक्षी अपने स्वा.द.की उपनयन-विधिमें प्रक्षिप्त माने, या फिर अपना एतद्विषयक पक्ष अपने ही स्वामी द्वारा खण्डित माने।

क्या अब प्रतिपक्षीमें शक्ति है कि-वह 'युवा सुवासाः' मन्त्र के बलसे वादिप्रतिवादिमान्य ६, ८-११-१२, वर्षोंमें अनुशि[ष्ट]

उपनयनकी वेदविरुद्धताकी घोषणा करे ? यदि नहीं कर सकता; और गर्भसे ६-८ वर्षका वटु भी 'युवा' सिद्ध हो गया; तब सीताका उपनयनस्थानापन्न विवाह भी छठे वर्षमें उसको 'युवा' (युवति) बतानेवाला सिद्ध हो गया। १२-१५ वर्षके श्रीराम तो स्वतः ही उस विवाहावस्थामें 'युवा' सिद्ध हो गये; तब प्रतिपक्षीका पक्ष कट गया।

(३) इसपर वादी कहता है कि-'उपनयनमें स्वामीने 'युवा सुवासा:'का अर्थ नहीं किया, तब क्या इसका अर्थ होगा ही नहीं ? 'मुर्गा वा मुल्ला बांग न देगा; तो क्या सवेरा न होगा' ? जो कि वादी कहता है कि-'स्वामीके 'युवा सुवासा:'से यह कहाँ सिद्ध होता है कि-८ वर्षके वटुकेलिए यह मन्त्र प्रयुक्त किया गया है ? यह तो आपकी कपोलकल्पनामात्र है। आपका 'कुतक है'।

प्रतिपक्षीको धन्यवाद हो कि-उसने अपने महर्षि (?) की बातको भी कपोलकल्पित कह दिया। स्वा.द.जीने तथा उनके उपजीव्य सभी गृह्यसूत्रों तथा मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रोंने उपनयन-प्रकरणमें उपनयनकी जन्म वा गर्भसे ८-११-१२ वर्षकी अवस्था लिखी है; तब क्या स्वामी तथा सभी सूत्रकारोंका कथन कपोलकल्पित है ? प्रश्न यह है कि-स्वा.द.के अनुसार ५-६-८, ११-१२ वर्षकी अवस्थामें होते हुए उपनयनमें 'युवा सुवासा:' मन्त्र पढ़ा जाता है, या नहीं ? यदि पढ़ा जाता है; तब ५-६-८-११-१२ वर्षका वटु भी 'युवा' कहलाया गया। यदि यह ठीक है; तो सीता-रामकी हमसे रामायण द्वारा दिखलाई हुई

वैवाहिक अवस्था पर भी दोष न आ सका।

नहीं तो 'युवा सुवासा:' मन्त्रका यदि वादी 'पूर्ण ज्वान होके विद्या ग्रहण करके' स्वामीके अनुसार यह अर्थ करता है, तब पूर्ण जवानी तो स्वामीके अनुसार ४० वा ४८ सालमें होगी; क्योंकि-स्वा.द.जी २६ वर्षकी आदिमें तो युवावस्थाका आरम्भ मानते हैं, (देखो स.प्र. ३ पृ. २६), पूर्ण-युवावस्था नहीं; तब क्या प्रतिपक्षी आर्यसमाजियोंका उपनयन ४० वा ४८ सालमें मानता वा कराता है ? वेदारम्भ-संस्कार उपनयनके अनन्तर होता है; उसमें भी 'युवा सुवासा:' मन्त्र वटुकेलिए आया है, तब क्या वे वेद भी ४० वा ४८ वर्षमें पढ़ना आरम्भ करते हैं ? तब क्या वे शूद्र नहीं हो जाएँगे ? यदि ऐसा है, तो वह यज्ञोपवीत पतितका माना जावेगा।

स्वा.द. जी संस्कारविधिमें लिख गये हैं कि-'जन्मसे वा गर्भसे ८वें, ११वें, १२वें वर्षमें ब्राह्मणादिका यज्ञोपवीत करें; तथा १६-२२-२४ वर्षसे पूर्व-पूर्व यज्ञोपवीत होना चाहिये। यदि पूर्वोक्त-कालमें इनका यज्ञोपवीत न हो; तो वे पतित माने जावें' (उपनयन. पृ. ७६); तब दयानन्दी पथिक ४० वा ४८ वर्षकी (स्वामीजीके अनुसार) पूर्ण युवावस्थामें वटुका यज्ञोपवीत पतित (व्रात्य) अवस्थामें कराना वेदानुकूल मानेगा, वा वेद-विरुद्ध ? और १६-२२-२४ वर्ष स्वा.द.जीके अनुसार पूर्ण युवावस्था तो दूर रही, स्वामीके मतानुसार युवावस्था भी नहीं; तब स्वा.द.जीके शब्दोंमें १६-२२-२४ वर्षसे पूर्वकी अवस्था तो भला युवावस्था कैसे

रहेगी ? तब उसमें 'युवा सुवासाः' इस उपनयनमें पढ़े जाने वाले मन्त्रके 'युवा' पदके अनुसार यज्ञोपवीत कराना पथिक वेदानुकूल मानेगा, वा वेद-विरुद्ध ? या यह दोनों ही उपनयनकी अवस्थाएँ वेद-विरुद्ध हैं ? अथवा १६-२२-२४ वर्षसे पूर्वकी स्वा.द.जीसे उल्लिखित ८-११-१२ एवं ५-६-८ वर्षकी अवस्थामें भी 'युवा' शब्द-का प्रयोग किया जा सकता है, वा नहीं ? यदि किया जा सकता है; तो वादीका पक्ष खण्डित हो गया।

अब वादी बतावे कि-गर्भ वा जन्मसे ८-११-१२ वर्ष उपनयन की अवस्था बताते हुए और उसमें वटुको 'युवा' कह-लाते हुए स्वा.द.जी भ्रान्त हैं, या उस अवस्थाका खण्डन करता हुआ प्रतिपक्षी स्वयं भ्रान्त है ? वह यह भी बतावे कि-५,६,८, ११,१२ वर्षकी अवस्थामें होते हुए उपनयनमें 'युवा सुवासाः' मन्त्र पढ़ा जाता है, या नहीं ? यदि पढ़ा जाता है, तब प्रतिपक्षीके अनुसार ६ वर्षकी सीता तथा १२-१५ वर्षके श्रीराम भी 'युवा' हो गये। प्रतिपक्षीका पक्ष चूर-चूर हो गया; या फिर ५,६,८, ११,१२ वर्षमें होने वाले उपनयनमें स्वा.द. द्वारा प्रयुक्त किये गये 'युवा सुवासाः' मन्त्रके उल्लेख की भी वादी अशुद्ध वा वेद-विरुद्ध होनेकी घोषणा सब आर्यसमाजोंमें कर दे। है क्या उसमें यह शक्ति ? यदि है; तो वह यह घोषणा कर दे, जिससे आर्यसमाज-से स्वा.द.जीका नाम काट कर वादीको ही आर्यसमाजका महर्षि बना दिया जावे ! अब बता या जावे कि-दयानन्दी पथिक वेदोंका अधिक विद्वान् है; या स्वामीजी ? या दोनों वेदसे कोरे

और परस्पर-विरुद्ध वक्ता है ? एक कट्टर दयानन्दी पथि[क] दयानन्दपर आक्रमण कर रहा है, या नहीं ?

पथिक लिखता है—'स्वामीजीके अनुसार १६-२२-२४ पूर्व-पूर्व यज्ञोपवीत होना चाहिये, तो क्या 'युवा' शब्द [...] वर्षके वटुपर प्रयुक्त नहीं माना जा सकता है ? अतः आ[पका] कुतर्क व्यर्थ है'।

अब विद्वान् पाठक देखें कि यह हमारा कुतर्क है, वा [...] का, यह पथिककी लेखनी ही स्वयं बोल उठेगी। इसपर [...] बतावे कि-क्या आप लोग वटुका यज्ञोपवीत २२-२४ [...] अवस्था में कराते हैं ? और वह यह भी बतावे कि १६-[...] वर्षसे पूर्वकी ५-६-८-११-१२ वर्षकी अवस्था तथा १६-[...] वर्षकी अवस्था भी क्या स्वामीजी वा पथिकके अनुसार युवावस्था है ? स्वामीजीके वाक्यमें '१६-२२-२४ वर्षसे' यहाँ पूर्व शब्द था। पथिकने अपने वाक्यमें 'पूर्व' शब्द जनदृष्टिसे छिपा लिया है। इससे उसके अनुसार १६-[...] वर्षसे पूर्वकी अवस्था भी पूर्ण युवावस्था सिद्ध न हु[ई] स्वा.द.जी इस अंशमें वादीके अनुसार वेद-विरुद्ध [...] सिद्ध हो गये। अब पथिक यह कहकर जो कि हमें डांटता [...] कि—'क्या 'युवा' शब्द २२-२४ वर्षके वटुपर प्रयुक्त [नहीं] माना जा सकता है ? अतः आपका कुतर्क व्यर्थ है।' तब [...] १६-२२-२४ वर्षकी अवस्थाको पथिक पूर्ण युवावस्था मा[नता] है ? स्वा.द.जीने स.प्र., सं.वि. आदि अपने ग्रन्थोंमें [...]

वर्षके अन्त २६वेंके आरम्भमें यौवनावस्थाका आरम्भ माना है, पूर्ण युवावस्था नहीं। आशा है-पथिक अपने स्वामीजी के इस मतको वैदिक मानता होगा। यदि ऐसा है, तो १६-२२-२४ वर्षमें भी (यदि स्वामीजीके इस वाक्यमें ठहरे हुए 'इन वर्षोंसे पूर्व' इस 'पूर्व' शब्दको पथिक जनदृष्टिसे चुरानेमें सफल सिद्ध हो भी जावे), तब वादी इस १६-२२-२४ वर्षकी अवस्थाके उपनयनमें 'युवा सुवासाः' मन्त्रके 'युवा' पदका जिसका स्वामीने 'पूर्ण ज्वान' अर्थ किया है, सामञ्जस्य बैठा सकेगा क्या? क्या पथिक १६-२२-२४ वर्षोंको पूर्ण युवावस्था मानता है? तब गुरु-चेलोंमें कौन वेदानुकूल वक्ता है, और कौन वेद-विरुद्ध, यह बताना वादीका काम है। हम बतावें, तो वह हमारा 'कुतर्क' मान लेगा। अब आशा है कि दयानन्दी पथिक 'सांप-छछून्दर' वाली इस घटनासे अपने आपको बचा लेगा। व्यर्थ हमारी 'धृष्टता, वा कपोलकल्पना वा कुतर्क' न बतावेगा। दूसरेको गाली देनेसे अपना पक्ष सिद्ध नहीं हो जाता।

क्या पथिक अपने अनुसार बटुका उपनयन १६-२२-२४ वर्षमें करता है? यदि ऐसा है, तो स्वामीजीके अनुसार १६-२२-२४ वर्षसे पूर्व यज्ञोपवीत न होनेसे (क्योंकि-स्वामीजी संस्कार-विधिमें इन वर्षोंसे पूर्व यह 'पूर्व' शब्द लिख गये हैं, तब १६-२२-२४ में वा उसके बाद उपनयन करनेवाला दयानन्दी स्वा.द.की संस्कार-विधिके उपनयन-प्रकरण पृ. ७६ पं. ३-४ के अनुसार पतित हो जायगा। वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य न रहकर

शूद्र हो जायगा। क्या पथिक उसी शूद्रका यज्ञोपवीत करेगा? शूद्रका तो स्वामीकी सं.वि.में उपनयन-संस्कार करानेका आदेश कहीं है नहीं। क्या इसी बल-बूते पर पथिकने हमारे लेख पर लेखनी चलाई है? क्या उस १६-२२-२४ वर्ष वाले बटुका वेदारम्भ-संस्कार पथिक कराएगा? यदि ऐसा है, तो ८-११-१२ वर्षमें उपनयन करानेवाले तथा लिखनेवाले आर्यसमाजियों तथा स्वा.द.जीको भी पथिकने क्या वेदविरुद्ध सिद्ध नहीं कर दिया?

यदि वादी स्वा.द.जी पर कट्टर भक्ति रखता है, और उन्हें वैदिकपुङ्गव मानता है, उनके एक-एक अक्षरके आगे अपनी आंखें बिछानेको तैयार है, तो स्वामीने १६-२२-२४ वर्षसे पूर्व तकके ८-११-१२ वर्षके तथा ५-६-८ वर्षके भी बटुका उपनयन आदिष्ट किया है; और उपनयनमें स्वामीने 'युवा सुवासाः' मन्त्र उस ८-११-१२, ५-६-८ वर्षों वाले बटुकेलिए प्रयुक्त भी किया है; उस वेदमन्त्रमें उस बटुको 'युवा' कहा गया है; तब विवाहमें १२-१५ वर्षके श्रीराम भी १६-२२-२४ वर्षसे पूर्वकी अवस्था होनेके कारण प्रतिपक्षी वा उसके स्वामीके अनुसार भी 'युवा' सिद्ध होगये, 'जादू वह जो सिरपर चढ़कर बोले'। कमसे कम-'ऊनषोडशवर्ष' (वाल्मी. १।२०।२) के श्रीराम 'समुपस्थितयौवन' (१।५०।१७-१८) तो सिद्ध हो ही गये। यह तो पथिक स्वयं ही अपने वचनसे हमारा पक्ष सिद्ध कर रहा है। तब क्या वह ऊनषोडशवर्षके श्रीरामका विवाह २४ वर्षकी सीतासे करावेगा? 'बहू बड़ी घर छोटे लाला'? अथवा सुश्रुतसंहिताके अपने माने

हुए ६ वर्षके अनुपातके अनुसार ६-७ वर्षवाली सीताके साथ, यह बताना भी वादीका काम है। प्रतिपक्षीको हम प्रेरणा करते हैं कि-अपने इस निर्मूल पक्षको छोड़ दे; नहीं तो वह उसका पदे-पदे स्खलन कराएगा। हाँ, अपनी झेंप मिटानेको निराधार अपने अखबारोंमें 'कुछ' लिखमात्र देना अन्य बात है। अब पथिकको चाहिये कि-श्रीनानूराम तथा पादरी फादर द्वारा उपनयनमें स्वा.द.जीसे प्रयुक्त किये हुए 'युवा सुवासाः' मन्त्र पर अथवा स्वा.द.जी द्वारा ६-८-११-१२ वर्षमें उपनयन लिखने पर हरताल फिरवा दे।

स्वा.द.जीने अपनी संस्कार-विधिमें सृष्टिकी आदिमें प्रणीत अपनी महामान्य मनुस्मृतिके अनुसार पिता-पितामहकी परम्परासे नियतकाल तक ब्रह्मचारी रहनेवाले क्षत्रियके बालकका गर्भसे छठे वर्षमें भी उपनयन माना है। (देखो सं.वि. उपनयन प्र.) उस ६ वर्षवाले वटुके उपनयनमें भी स्वा.द.जीके अनुसार 'युवा सुवासाः' मन्त्र पढ़ा ही जाता होगा, क्योंकि-उसमें कुछ विशेषता नहीं बताई गई है। फिर ६ वर्षकी क्षत्रिय वर्णकी सीता भी प्रतिपक्षीके अनुसार १६ वर्षकी पूर्वकी होनेसे उसका 'वैवाहिको-विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः' [औपनायनिकः परः] (मनु. २।६७) उपनयनस्थानापन्न विवाह अनुपपन्न सिद्ध नहीं होता है, वह भी 'युवति' सिद्ध हो जाती है। जब तक स्वा.द.जी की सं.वि.में उपनयनमें 'युवा सुवासाः' मन्त्र विद्यमान है, तब तक पथिककी शक्ति नहीं कि-वह इस पर कुछ चीं-चपड़ कर

सके। हाँ, पथिक अपने सम्प्रदायके सञ्चालक स्वामी 'नाममझ वा परस्परविरुद्ध-वक्ता अथवा वेदविरुद्ध-वक्ता' मा लें, तब जाकर वह दयानन्दानुयायी न रहकर नानूराम व पादरी फादरका पूरा चेला सिद्ध हो जावेगा।

पथिक स्वयं भी बतावे कि-क्या वह स्वा.द.जीकी लि १६-२२-२४ वर्षसे पूर्वकी ६-८-११-१२ अवस्थाको 'युवावस्था' मानता है? यदि हाँ, तो उसे बधाई हो। उसने हमारा प सिद्ध कर दिया। सीता तथा राम भी १६ वर्षसे पूर्वके नहीं तो पथिक यह उपनयन जिसमें 'युवा सुवासाः' मन्त्र आ है, २५ वर्षके बादके वटुका तो वैदिक माने, और २५ व पूर्वके वटुका वेदविरुद्ध माने। अब प्रतिपक्षी बतावे कि-कुछ उसका अपना सिद्ध हुआ, या हमारा?

(४) आगे 'समुपस्थितयौवनौ'का 'यौवनावस्थाको प्रा अर्थ नहीं है, किन्तु 'यौवन जिसका उपस्थित है, निकट है' इ हमारे अर्थमें पथिक हमारा छल बताता है; और अपने अर्थ आर्यसमाजियोंके 'साध्य प्रमाण' देता है। जो स्वयं साध्य हो है, वह दूसरेको क्या सिद्ध करेगा? शब्दोंका अर्थ शब्दशा द्वारा हुआ करता है, वा आर्यसमाजियोंके वचनानुसार १२-१५ वर्षके श्रीराममें तो वह सुश्रुतानुसार भी घट ही गया क्योंकि-स्वा.द.जीसे उद्धृत 'आ षोडशाद् वृद्धिः, आ पञ्चविंश यौवनम्' इस सुश्रुतके वचनानुसार-जिसका अर्थ स्वा.द.जी ने पथिकने अशुद्ध किया है, जन्मसे १६ तक वृद्धि अवस्था औ

१६ से २५ तक यौवनावस्था सिद्ध हो जानेसे श्रीवाल्मीकिके 'ऊनषोडशवर्षो मे रामो राजीवलोचनः'की प्रक्षिप्तता कहाँ सिद्ध हुई ?

'आ षोडशाद् वृद्धिः, आ पञ्चविंशतेर्यौवनम्' इस सुश्रुत-सं.के वाक्यका अर्थ आर्यसमाजी विद्वान श्रीतुलसीराम स्वामीने अपने 'भास्कर-प्रकाश' (४र्थ समुल्लास)में लिखा हैं-'सुश्रुतके मतानुसार सोलहवें वर्ष तक वृद्धि अवस्था तथा २५वें वर्ष तक यौवन होता है'। तव २६ वर्षके आरम्भमें यौवनारम्भका अर्थ करते हुए स.प्र.का तथा '२५वें वर्षमें यौवन' अर्थ करते हुए पथिकका कथन ठीक सिद्ध न हो सका; क्योंकि-दोनों स्थलोंमें 'आङ्'का अर्थ बराबर है कि-'जन्मसे १६ तक वृद्धि अवस्था और १६ से २५ तक यौवनावस्था'। तव जन्मसे शुरू होकर १६वें वर्षसे पूर्व तक वृद्धि अवस्था समाप्त हुई, और १६से 'यौवन' शुरू हो गया, उसकी सीमा २५वें वर्ष तक रही। फिर २५ से सम्पूर्णता अवस्था शुरू होकर ४० वर्ष तक रही। फिर ४० वर्षसे 'परिहाणि' अवस्था शुरू हुई; और वह अन्त तक चली जाती हैं। इस प्रकार रामायणप्रोक्त 'ऊनषोडशवर्ष'के राम 'समुपस्थितयौवन' सिद्ध होगये। तब वैसा कहते हुए वेद-आयुर्वेदादि-शास्त्रज्ञ वसिष्ठ वा विश्वामित्र ऋषि अज्ञानी कैसे हुए? तो क्या 'ऊनषोडशवर्ष'के श्रीरामको २४ वर्षकी सीता दिलाई गई ?

स्वा.द.जीने सं.वि.प्र. १०३ में लिखा है—'स्त्री और पुरुषके

शरीरमें पूर्वोक्त चारों अवस्थाओंका एकसा समय नहीं है, किन्तु जितना सामर्थ्य २५ वर्षमें पुरुषके शरीरमें होता है, उतना सामर्थ्य स्त्रीके शरीरमें १६वें वर्षमें होता है'। यदि ऐसा है, तो उसी अनुपातसे १६ वर्षके रामको ६-७ वर्षकी सीता यदि दी गई; तो अवस्थाका अनुपात बराबर—होनेसे आयुर्वेदका व्याकोप भी न रहा।

(५) जोकि-'उषित्वा द्वादश समाः' को प्रतिपक्षी 'नानूराम व्यास तथा पादरी फादर एवं अखिलानन्द झरियाके अनुसार प्रक्षिप्त मानता है, तब क्या वे वाल्मीकि वा वेदव्यास हैं कि-इनकी बात मानी जाए! उन्होंने अपनी इच्छानुसार रामायणमें प्रक्षिप्त मान लिये हैं, और कहीं-कहीं परिवर्तन भी कर दिया है। जैसे कि-'अजातव्यञ्जनः श्रीमान्...काकपक्षधरो धन्वी' (वाल्मी. ३।१८।१४) 'बालचन्द्र इवोदितः' (१५) यहां श्रीरामकी छोटी आयु बताई गई है, इसमें नवोदित बालचन्द्रकी उपमा तथा काकपक्षका धारण जो छोटी आयुमें रखे जाते हैं-ज्ञापक हैं, पर अखिला-नन्द आर्यसमाजीने वहां 'स जातव्यञ्जनः' यह पाठ स्वयं बदल दिया, जिसका उसे कोई अधिकार नहीं। परिवर्तन तो कर दिया, पर उससे जो बालचन्द्रकी उपमा तथा काकपक्षका धारण असम्बद्ध हो जाता है, उसे अपने किये परिवर्तनकी चुगली खानेको रख दिया। इस प्रकार उसने 'वानरः'का सर्वत्र 'वनवासी' अर्थ कर दिया, जबकि वनवासी मुनियोंकेलिए कोई 'वानर' शब्दका प्रयोग नहीं करता। इस विषयमें हम 'हनुमान

आदि क्या नर थे' इस आरम्भिक निवन्धमें स्पष्ट कर चुके हैं। इस प्रकार उसने दण्डकारण्यविषयक ऋषिके शापको भी प्रक्षिप्त व्यर्थ ही माना है, जबकि—उसे योगदर्शनके स्वा.द. प्रमाणित 'व्यास-भाष्य' (४।१०) में प्रमाणित किया गया है।

श्रीराम विवाहके समय 'ऊनषोडश' वर्षके थे, राज्य तो उन्हें २५ वर्ष हो जानेके वाद मिलना था। अतः १२ वर्ष तक तो श्रीराम-सीताने घरमें रहना ही था; उस समयकी प्रतीक्षा करनी ही थी; तब 'उषित्वा द्वादश समाः' आदि पद्य रामायणमें प्रक्षिप्त कैसे हो सकते हैं? क्या प्रक्षिप्त कह देनेसे वे श्लोक प्रक्षिप्त हो जाएँगे; जबकि रामायणमें ही बहुत स्थलोंमें उनका अनुवाद वा अभ्यास आया है। रूसने ईश्वरका ही खण्डन कर दिया; उसको ही शास्त्रोंमें प्रक्षिप्त सिद्ध कर दिया; तब क्या ईश्वर अब नहीं रहा?

महाभारतमें १६ वर्षके लगभगके अभिमन्युको 'युवा' कहा गया है, उसका १२ वर्षकी उत्तराके साथ विवाह कहा गया है, उसे भी वहाँ 'वयःस्था' (युवति) कहा गया है। उनका लड़का परीक्षित् भी वताया गया है। इस विषयमें 'आलोक' (७)में हम प्रमाण दे चुके हैं। यह ऐतिहासिक घटना भी क्या प्रक्षिप्त है? 'षड्-वर्ष एव वालः स (भरतः) कण्वाश्रमपदं प्रति' (महा. आदि. ७४।६) 'तं कुमारमृषिर्दृष्ट्वा...समयो यौवराज्याय' (१।७४।९) यहां पर छः वर्षके भरतको युवराज होनेके योग्य वताया है। उसकी उत्पत्ति अप्सरासे होनेके कारण वह जन्मसे ही अतिकाय,

विशालकाय वन गया था। क्या वह भी प्रक्षिप्त है? १६ वर्षमें छोटे श्री गांधीजी 'पिता' वन गये थे। इस वातको वतानेवाली उनकी 'आत्म-कथा' तथा शाकुन्तलेय भरत भी प्रक्षिप्त हैं क्या?

(६) 'रेमिरे' पर हमने इतना लिख दिया था कि—उसपर पथिककी गति ही रुक गई। हमने उसमें सभी आपत्तियोंका समाधान कर दिया था, जिसपर पथिककी लेखनी वन्द होगई। हमने वताया था कि—श्रीवाल्मीकिको 'रम्' धातुका 'आमोद-प्रमोद' ही अर्थ इष्ट है। मुनिके 'रम' धातुके वहुतसे प्रयोग देखे गये हैं, उनमें मुनिको मनोरञ्जन अर्थ ही इष्ट है। रामायणके 'वालकाण्डके निरीक्षण' (पृ. ६१६) में वादीके मान्य श्रीपाद-दामोदर सातवलेकरने लिखा है—'संस्कृतभाषाका जिनको विलकुल ज्ञान नहीं, वे ही 'रम्' धातुकी 'रेमे, रमयामास, रेमिरे' आदि क्रियाओंसे अनर्थकारी भाव वता सकते हैं; पर जिनको संस्कृतभाषा कुछ-न-कुछ समझ पड़ती है; वे इन शब्दोंमें केवल मनोरञ्जनका ही भाव देख सकते हैं'।

वस्तुतः काव्यप्रणेता लोग ग्राम्यदोषके कारण मैथुनका वर्णन कभी नहीं करते। श्रीपाणिनिने 'रमु क्रीडायाम्' लिखकर, स्वा.द.जीने भी अपने आख्यातिकमें वही अर्थ लिख कर, मनुजीने अपनी स्मृतिमें 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' में 'रमन्ते' लिख कर स्वा.द.जीने उसका हमारे अनुकूल अर्थ करके पथिकका रास्ता वन्द कर दिया है। इनके मुकावलेमें 'श्रीद्वारकाप्रसाद' आदि नगण्य हैं। यदि पथिक श्रीद्वारकाप्रसाद

को प्रमाण मानता ही हैं, तो उनने अपनी रामायणकी टीकामें 'रेमिरे मुदिताः' (१-७७-१४) का मैथुनार्थ नहीं किया, किन्तु 'तदनन्तर वे सब अपने-अपने पतियोंके साथ राजभवनमें जा हर्षित हो निवास करने लगीं, यह अर्थ कियाहै; तब वादीका खण्डन होगया। श्रीवाल्मीकिको भी तथा महाभारतको भी हमारा ही अर्थ इष्ट है, इस विषयके प्रमाण 'आलोक' (७) ६७६-६७६ पृष्ठोंमें देखने चाहियें। मैथुनपक्षमें भी वहाँ अयोनिजताके कारण शीघ्र शारीरिक-वृद्धि होनेसे हमारे पक्षकी क्षति नहीं। जबकि स्वा.द.जीने अयोनिज सृष्टिका यौवन तथा संयोग उसीदिन उत्पन्न हुओंका भी बता दिया है; यहां तो अयोनिज सीता को ६ वर्षकी बताया है। मानुषी सृष्टिसे विलक्षण गाय २-२॥ वर्षमें ही गर्भ ले लेती है। पथिकके मान्य देवीभागवतमें भी श्रीरामको 'षोडशवार्षिक' (३।२८।७) तथा सीता को 'अयोनिजा' (३।३०।१२) माना हैं; तब क्या १६ वर्षके लगभग-के श्रीरामको सीता १६-२४ वर्षकी दी जाएगी ? या सुश्रुतसं. के अनुसार ६ वर्ष कम अवस्था वाली ?

चरकसंहितामें लिखा है—'नर्ते वै षोडशाद् वर्षात् सप्तत्याः परतो न च। श्रेयस्कामो नरः स्त्रीभिः संयोगं कर्तुमर्हति' (चिकित्सित २।४० चतुर्थ पाद)में १६ वर्षसे पुरुषको स्त्री-संयोगकी अभ्यनुज्ञा दी गई है। महाभारत आश्वमेधिकपर्वमें भी कहा है—'युवा षोडशवर्षो हि यदद्य भविता भवान्' (५६।२२) ददामि पत्नीं कन्यां च स्वां ते दुहितरं द्विज !' (५६।२३) कि–यदि तुम

१६ वर्षके युवक हो; तो मैं तुम्हें अपनी लड़की पत्नीरूपमें दूँ"।

मनुस्मृतिमें पादिक ब्रह्मचर्यके बाद भी पुरुषको स्त्री-विनाहकी अभ्यनुज्ञा दी गई है, 'षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्। तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा' (३।१) पादिक ब्रह्मचर्य ९ वर्षका माना जाता है। यह स.प्र. ३ समु. पृ. २५में स्वा.द.जीने भी माना हैं जैसे कि–'वा नौ वर्ष तथा जब तक विद्या पूरी ग्रहण न कर लेवे, तब तक ब्रह्मचर्य रखे' 'अथवा एक वेदको साङ्गोपाङ्ग पढ़के···गृहाश्रममें प्रवेश करे' (स. प्र. ४ पृ. ४६) आठवें वर्ष जनेऊका पक्ष मानने पर ९ वर्ष तक एक वेदका अध्ययन करनेसे १६ वर्षकी आयुका कुमार शास्त्रानुसार विवाह कर सकता है। क्षत्रियका काम्य उपनयन मनुस्मृतिके अनुसार छठे वर्षमें भी हो सकता है। इसे स्वा.द.जीने भी संस्कारविधिमें माना है–'जिसको शीघ्र बलकी इच्छा हो; तो क्षत्रियके लड़केका जन्म वा गर्भसे छठे वर्षमें यज्ञोपवीत करे' (उपनयन. पृ. ७६)। सो इसके अनुसार १४-१५वें वर्षमें भी कुमार विवाह कर सकता है। श्रीराम इसी (१५ वर्षकी) अवस्थामें विद्या पूर्ण कर लेनेसे विद्यास्नातक होगये थे, तभी उनके विवाहकेलिए सोचा जाने लगा। 'चरितब्रह्मचर्यस्य विद्यास्नातस्य धीमतः' (२।८२।११५) 'ते चापि (रामादयः) मनुज-व्याघ्रा वैदिकाध्ययने रताः।···धनुर्वेदे च निष्ठिताः। अथ राजा दशरथस्तेषां दारक्रियां [विवाहं] प्रति। (चिन्तयामास') १।१८।३६-३७)। तब वादि-प्रतिवादिमान्य धर्म-शास्त्रके अनुसार भी राम-सीताकी इस आयुके विवाहमें कुछ

भी विरोध न रहा। सीता अयोनिजा होनेसे जन्मते ही वढ़ गई थी। वह छः वर्षकी भी उस समयकी १२ वर्षकी लड़कीके समान शरीरवाली थी। तो 'अत्यन्त-वाला' न होनेसे वहां भी रमण (आमोद-प्रमोद) में कोई अनुपपत्ति नहीं आती। वहाँ गर्भाधान नहीं कहा गया। गर्भाधान तो लङ्कासे लौटनेके वाद कहा है। अतः आयुर्वेदका भी कुछ व्याकोप न रहा।

वस्तुतः नवीन-धाराके लोग अपना मनमाना एक सिद्धान्त स्थिर कर लिया करते हैं, फिर उससे विरुद्ध मिले हुए वचनोंका अर्थ तोड़-मरोड़कर वदलनेकी चेष्टा किया करते हैं। जव उसमें भी पूर्वापर-प्रकरणवश वे सफलता नहीं प्राप्त कर सकते; तव उन स्व-प्रतिकूल वचनोंको प्रक्षिप्त कहकर अपना बचाव करनेकी चेष्टा किया करते हैं। वस्तुतः यह पाश्चात्य-शैली है। इस प्रकारके ही लोग ऋसं.के प्रथम तथा दशम मण्डलको भी प्रक्षिप्त मान लिया करते हैं। वे व्यक्ति मान्य नहीं हो सकते।

जो कि वादीने 'वेदवाणी' (१५।११) में लिखा है-'कई सूत्रकार विवाहके समय ससुरालमें और कई पतिगृहमें चतुर्थीकर्म मानते हैं, यह गोभिलगृ.में स्पष्ट लिखा है। अतः सीताका यहाँ 'रमण' मैथुन ही है' यह वादीकी वात गलत है, चतुर्थी-कर्ममें मैथुन नहीं होता। रामायणमें सीताका चतुर्थी-कर्म कहीं भी दिखलाया नहीं गया। रमणका अर्थ यहाँ मैथुन नहीं है। चतुर्थी-कर्मके विषयमें आगे लिखा जायगा। 'सीताजी तथा अन्य वहिनें प्रौढा थीं' यह पथिककी 'साध्य' वात है, 'सिद्ध'

नहीं। 'प्रौढा' तो आयुर्वेदके अनुसार ५० वर्षसे ऊपरकी है, तव क्या पथिक उनकी यही अवस्था मानता है?। प्रति के अनुसार यहाँ 'चतुर्थीकर्म'का कुछ भी वर्णन वा सङ्केत चतुर्थीकर्म ब्राह्ममुहूर्तमें करना पड़ता है; उसमें मैथुन नहीं हुआ क उसमें एक कर्मविशेष हवनादि करना पड़ता है-यह पार आदि गृह्यसूत्रोंमें स्पष्ट है, यह हम आगे स्पष्ट करेंगे। रागात्मक होता है और ऋतुकालके नियत दिनोंमें करना प है। इसकी निश्चित तिथि वा विधि हो ही नहीं सकती। इस स्वा.द. सम्मत पारस्करगृह्यसूत्रमें 'त्रिरात्रमन्ततः' लिखा वर्ष तक वा भार्याकी योग्यता होनेपर अन्य विकल्प भी गये हैं। हमारे पक्षमें तो मैथुनपक्षमें भी कोई हानि नहीं, विषयमें हम 'आलोक' (७) में स्पष्टता कर चुके हैं, उस प्रतिपक्षी चुप्पी लगा गया। कुछ आगे भी हम स्पष्टता क वाले हैं।

'पतिसंयोग-सुलभं'के अर्थमें पथिक 'रेमिरे रहः'के स अर्थकी साक्षी व्यर्थ दे रहा है, इन सवका समाधान 'आलोक' (७) में कर चुके हैं; जिसपर उसकी लेखनी वन्द चुकी। 'ताः सर्वा राजसुताः अभिवाद्यान् भर्तृभिः सहिता वाद्य मुदिता रहः रेमिरे' यह वादि-सम्मत पद्यका 'शुद्ध अल दिखलाकर वादीके श्रद्धेय सातवलेकरजीने 'वालकाण्ड निरीक्षण' (पृ. ६१७) में 'मैथुन' अर्थ खण्डित कर दिया है।

'पुत्री जव प्रौढा होती है, तभी पिताको वर ढूँढनेकी चि

हो जाती है' यह पथिकका कथन है; सो सीता भी मनुष्य-जन्मसे विलक्षण उत्पत्ति होनेसे जन्मते ही बहुत बढ़ गई थी, अतः जनकजीका सीताके विषयमें चिन्तित होना—यह रामायण-में स्पष्ट है। पृथ्वीसे उत्पन्न वृक्ष वा लताएँ भी कितने शीघ्र बढ़ जाते हैं, कितने शीघ्र उनको पुष्प या फल लग जाते हैं। मानुषीसे भिन्न योनिवाली गाय तो २, २॥ वर्षमें ही गर्भग्रहण-योग्य हो जाती है; इन बातोंका मनन प्रतिपक्षीने नहीं किया मालूम होता है। मोटी मानुषी लड़कियोंकी भी शरीर-वृद्धि, और स्तन आदि शीघ्र हो जाते हैं; तब उसके रजःस्रावकी आशङ्का रहती है। शास्त्रविश्वासी उससे पूर्व ही उसका वर ढूंढनेकी चेष्टा करता है—इत्यादि। इस विषय में 'आलोक' (७) (पृ. ६७०-७२) में हम स्पष्ट कर चुके हैं; पर प्रतिपक्षी लोग उधर न तो दृष्टि डालते हैं, न उसका कुछ प्रतिसमाधान करते हैं। केवल पिष्टपेषण करके दिखलाते हैं कि—हमने 'कुछ' लिख दिया है; पर विद्वान् उनका यथार्थ रहस्य समझते हैं।

'स्मितवक्त्रा, स्मयमाना' आदि रूबका समाधान हम 'आलोक' (७) में कर चुके हैं। इस प्रकार 'वस्त्रान्तर्व्यञ्जित-स्तनी' (१।६।३०) पर भी हम वहीं उत्तर दे चुके हैं। उसमें जब मूलमें 'पीनपयोधर' शब्द सर्वथा नहीं है; तब वैसा बनावटी अर्थ किसी भी वर्तमान टीकाकारका हो, वह माननीय नहीं हो सकता। मोटी लड़कियोंका जब आरम्भिक स्तनोंका उद्गम छोटी आयुसे ही वस्त्रके अन्दरसे ही झलकने लगता है, उस

समय पीनता नहीं होती। वे धीरे-धीरे बढ़ते रहते हैं। मोटे लड़कोंके भी छोटी आयुमें स्तन दीखने लग जाते हैं मोटी लड़कियोंका तो कहना ही क्या? इससे उन लड़कियोंकी कोई बड़ी आयु सिद्ध नहीं हो जाती, अयोनिजा लड़कीके कुच तो और भी शीघ्र उद्गत हो सकते हैं। इससे श्रीसीताकी छः वर्षकी आयुके विवाहमें कोई रुकावट नहीं पड़ती—यह हम 'आलोक' (७) में स्पष्ट कर चुके हैं।

'दुकूलपरिसंवीता' का 'वह अति उत्तम साड़ी पहने हुई थी, जिसमें से उसके पीन पयोधर झलक रहे थे' यह वादीका किया अर्थ उपहासजनक है। क्या पयोधर साड़ीसे झलकते हैं? महाशय! 'दुकूल' का अर्थ 'साड़ी' नहीं होता।

शेष रावणके उस सीता पर मोहित होनेका जो आक्षेप वादीने दिया है, उसमें किये हमारे समाधानको वादीने छिपा दिया है। वह तो पृथिवीसे जन्मते ही बहुत बढ़ गई थी। उसी समयसे ही राजा लोग उसके वरणके लिए आने लग गये थे। जैसे कि—रामायणमें ही स्पष्ट है—"भूतलाद् उत्थितां तां तु वर्धमानां ममात्मजाम्। वरयामासुरागत्य राजानो मुनिपुङ्गव!" (१।६६।१५)। तब जब वह छः वर्षकी होगई, तब तो उस अयोनिजा सीता की शारीरिक-वृद्धिका क्या कहना?

(क) श्रीगणेशजी पार्वतीसे अयोनिज उत्पन्न हुए थे। पैदा होते ही उसी समय उनकी इतनी वृद्धि होगई कि—पार्वतीने उसे रक्षार्थ द्वारपर बैठा दिया; और उसका महादेवसे उस समय

युद्ध भी हुआ। (ख) श्रीव्यासजी दिव्य संयोगसे उत्पन्न होनेसे दिव्यतावश पैदा होते ही पराशरजी के साथ तपस्यार्थ वनमें चले गये थे। यह महाभारतमें स्पष्ट है। (ग) मत्स्यावतार कितनी जल्दी बढ़ गया था-यह शतपथ-ब्राह्मणादिमें स्पष्ट है। (घ) 'पितुर्गृहे सा ववृधे शुक्लपक्षे यथा शशी' (सत्यनारायणव्रतकथा) यहाँ पर साधुकी लड़कीका चन्द्रकलाकी तरह शीघ्र बढ़ जाना लिखा है; तभी उसका नाम भी 'कलावती' रखा गया। (ङ) कई बच्चोंकी पैदा होते ही वृद्धि होगई-यह हमारे 'आलोक' के परिशिष्टोंमें समाचारपत्रोंकी साक्षी देखनी चाहिये। तब रावण-की सीतानुरक्तिका उत्तर होगया। (च) त्रेतायुगमें आकार-प्रकार बड़े होते थे, कलियुगमें कद छोटे होगये। जब मुचुकुन्द गुफासे बाहर आये, और मनुष्य-वृक्ष आदिका आकार-प्रकार छोटा देखा; तो समझ गये कि-कलियुग आ गया। 'स वीक्ष्य क्षुल्लकान् (स्वल्पाकारान्) मर्त्यान्...मत्वा कलियुगं प्राप्त (श्रीमद्भा.१०।५२।२) इससे त्रेता-द्वापर आदिमें स्त्री-पुरुषोंका आकार-प्रकार बड़ा होता था; तब छः वर्ष की अयोनिजा-सीताके बड़े आकारका तो क्या कहना ?

यौवनकी मीमांसा 'आलोक' (७) प्र. ६६४ से ७०६ पृ. तक हम कह चुके हैं। उसके प्रत्युत्तरमें प्रतिपक्षी मूक होगया। श्रीरामके मर्यादापुरुषोत्तमत्व पर भी हमने वहीं (पृ.६८८-८६में) मीमांसा कर दी है। देवीभागवतको यदि पथिक प्रमाण मानता है; जो कि उसने उसकी साक्षी दी है, तो देवीभागवत (३।२८।७)

के अनुसार १६ वर्ष वाले श्रीरामका विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा करके अयोनिजा-सीतासे विवाह दिखलाया है। 'ऊन-षोडश-वर्षायां' इस सुश्रुतवचनके अनुसार वादी भी पति-पत्नीमें ... वर्षोंका अन्तर मानते हैं; तब १६ वर्षके लगभगके श्रीरामके ६-७ वर्ष वाली सीता न दिखवाकर क्या वादी २०-२४ वर्षकी सीता दिलवाकर 'बहू बड़ी घर छोटे लाला' को चरितार्थ करेगा ?

प्रतिपक्षीने सीता-रामकी विवाहकी नियत अवस्था रामायण के किसी भी प्रमाणसे नहीं दी; तब उसका सन्दिग्ध पक्ष स्वयं भी खण्डित हो गया। जो कि वह 'ऊनषोडशवर्षो मे रामो उषित्वा द्वादशसमाः, मम भर्ता महातेजाः, अष्टादश हि वर्षाणि मम' इत्यादि रामायणके वचनोंको प्रक्षिप्त बताता है; यह सब व्यर्थकी बातें हैं। सं. १९९२ में प्रकाशित 'दयानन्दमहाविद्या-लय-ग्रन्थमालाकी वाल्मीकि-रामायणमें जिसका सम्पादन लाहौरसे आर्य-समाजके कट्टरभक्त श्रीभगवद्दत्तजीने तथा श्रीविश्वबन्धुजीने किया था, इन पद्योंको कहीं भी प्रक्षिप्त नहीं माना। उसमें 'ऊनषोडशवर्षो' बालकाण्डमें १८।२में तथा 'उषित्वा द्वादश समाः' मम भर्ता तथा ब्रह्मन्! वयस सप्तविंशकः। अष्टादश तु वर्षाणि ममाप्यायुर्निगद्यते (३।४७।९(१०) में दिये गये हैं। इनमें कुछ पाठ-भेद तो है, पर प्रक्षिप्तता नहीं; बल्कि उनके दिये गये पद्य अन्य भी स्पष्ट हैं।

(७) अन्य प्राचीन टीकाकार भी इन्हें प्रक्षिप्त नहीं मानते

जिन्हें टीकाकार प्रक्षिप्त मानते हैं, उनकी टीका नहीं करते। इन श्लोकोंकी तो उन्होंने ऊहापोह-पूर्वक स्पष्ट टीका की है। हम उस टीकाको 'आलोक' (७) पृ. ६४५-६४६में दिखला चुके हैं। यहाँ हम अन्य टीकाकारोंकी टीका भी उद्धृत करते हैं, जिससे पथिकको इनकी तथाकथित प्रक्षिप्तता हटकर अन्य आशङ्काएँ भी दूर करनेवाली सिद्ध होंगी।

'ऊनषोडशवर्षो हि रामो राजीवलोचनः' यहाँपर महेश्वरतीर्थ लिखते हैं—'ऊनषोडशवर्ष' शब्दस्य द्वादशाब्दे पर्यवसानम्। तत् कथम्? कौशिकयागसंरक्षणार्थमागत-रामवयोविशेषमुद्दिश्य 'बालो द्वादशवर्षोऽयमकृतास्त्रश्च राघवः' इति अरण्यकाण्डे रावणं प्रति मारीचोक्तत्वात्' (अर्थात् यहाँ 'सोलह वर्षसे कम' का अर्थ रामका १२ वर्षकी आयु वाला होना है; क्योंकि-आगे मारीच रावणको श्रीरामकी आयु बारह वर्षकी बताता है)।

यहाँ भूषणटीका लिखती है-'ऊनाः-असंपूर्णाः षोडशवर्षा यस्य स तथोक्तः द्वादशवर्ष इति यावत्-'बालो द्वादशवर्षोऽयम्' इति विशिष्य वक्ष्यमाणत्वात् (यहाँ भी वही कहा है)। परिपूर्णषोडशवर्षो हि युद्धक्षमो भवति। द्वादशवर्षो बालः कथं युद्धाय प्रभवतीति बालः (यह दशरथके वाक्यका अनुवाद है, जो विश्वामित्रको कहा गया था)। यत्तु कौशल्यया वनप्रवेशसमये प्रोच्यते—'दश सप्त च वर्षाणि जातस्य तव पुत्रक!' इति, तत् कौसल्यावाक्ये 'जातस्य' इति द्वितीयं जन्म उच्यते, क्षत्रियस्यापि द्विजत्वात्। द्वितीयं जन्म च उपनयनम्, तच्च वृद्धेन दशरथेन काम्य-

पक्षमाश्रित्य गर्भाष्टम एव कृतम्। तथा च द्वितीय-जन्मापेक्षया सप्तदशत्वम्, उपनयनात् पूर्वं सप्त वर्षाणीति (एवं २५ वर्षीयस्तदा श्रीरामः)। 'वयसा पञ्चविंशकः' इति सीता-वचनमपि उपपन्नम्। 'ऊनषोडशवर्ष इत्यत्र पादोनत्वम्, द्वादशवर्षं इत्यन्यत्र उक्तत्वात्। अतः सर्वथा वनप्रवेशकाले पञ्चविंशतिवर्ष एव रामः। ननु विवाहितस्यैव सम्भोगः श्रूयते—'रामस्तु सीतया सार्धं विजहार बहून् ऋतून्' इति स कथं द्वादशवर्षस्य बालस्य सम्भवति? सम्भवत्येव। सौकुमार्यातिशयेन प्रौढशरीरतया। अतएव देव्याश्च षड्वर्षे एव यौवनारम्भः 'अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्मनि' इति वनप्रवेशे अष्टादशत्वम्। विवाहकाले सीतायाः षड्वर्षत्वमवगमयतीति सर्वं सुस्थम्'।

गोविन्दराजीय, रामानुजीय, तनिश्लोकी, महेश्वर-तीर्थकी टीकाओंमें—'मम भर्ता वयसा पञ्चविंशकः'। 'वयसा पञ्चविंशतिवर्षाणि अर्हतीति पञ्चविंशतिवर्ष इत्यर्थः। वयः-परिमाणं वनानिर्गमनकालिकम्। मम जन्मनि सति वर्षाणि अष्टादश-इति गण्यते। रामस्य जन्म आरभ्य द्वादशे वर्षे विश्वमित्रागमनम्। तदनन्तरं वैदेह्या सह नगरे द्वादशवर्षाणि वासं कृतवान्। ततः परं त्रयोदशे वर्षे यौवराज्याभिषेकारम्भः। ततः वनप्रवेशसमये रामः पञ्चविंशतिवर्षार्हः। ततो मुनीनामाश्रमेषु दश वत्सराः। पञ्चवट्यां त्रयः। वनवासस्य चतुर्दशे वर्षे सीताहरणम्। सीतायाश्च भूगर्भाद् आविर्भावानन्तरं मिथिलायां षट् संवत्सराः। ततो विवाहानन्तरमयोध्यायां द्वादश इत्येवम् अष्टादशवर्षा गता

वनवासारम्भे । इदानीं तु रामः अष्टात्रिंशद्वर्षः । मम तु एकत्रिंशद् वर्षा गताः । इदानीं तु द्वात्रिंशो वर्षो वर्तते' ।

रामानुजीय टीका—'ननु इदानीमेव रामः पञ्चविंशतिवर्षः, देवी चाष्टादशवर्षा इति किं न गण्यते–इति चेत्, तदानीन्तन-वृत्तान्तस्य इदानीमुच्यमानत्वाद् इदानीमष्टात्रिंशद्वर्षत्वाद् देव्यास्तु एकत्रिंशद्वर्षत्वाच्च पञ्चविंशकशब्दस्य न मुख्यार्थस्वीकारः स्यात् । तयोर्वयोगणनाक्रमस्त्वेवम्–रामस्य त्रयोदशे वर्षे सीता-पाणिग्रहणम् । तदारभ्य अयोध्यायां द्वादशसंवत्सरपर्यन्तं वासः । ततः पञ्चविंशे वर्षे वनवासारम्भः ।...मुन्याश्रमेषु दश, पञ्चवट्यां त्रयः । तथाच इदानीं रामस्य अष्टात्रिंशद् वर्षाणीति सिद्धम् । तस्मिन्नेव वर्षे सीतावियोगश्च । ततश्च एकोनचत्वारिंशे पट्टाभिषेकः । देव्यास्तु षष्ठे पाणिग्रहणम् । सप्तमे अयोध्याप्रवेशः । तदारभ्य अयोध्यायां द्वादश-संवत्सरपर्यन्तं वासः । ततश्च एकोनविंशे वनवासप्रारम्भः । ततो मुनीनामाश्रमेषु दश, पञ्चवट्यां त्रयः इति एकत्रिंशद् । द्वात्रिंशे रामवियोगो लङ्का-प्रवेशश्च । ततस्त्रयस्त्रिंशे रामेण सह पट्टाभिषेकः' ।

'मम इत्येतद् वनप्रवेशसमयमधिकृत्य उच्यते । वनप्रवेशसमये मम भर्ता वयसा पञ्चविंशकः–पञ्चविंश इव । पञ्चविंशतिवार्षिक इति व्यपदेष्टुं शक्यते, नातिपरिणत इत्यर्थः । मम जन्मनि तदानीं वर्षाणि अष्टादश गण्यते–गण्यन्ते । वचन-व्यत्यय आर्षः । जब इस प्रकार टीकाकारोंने इन पद्योंकी स्पष्ट टीका की है; किसी भी प्राचीन विद्वान्ने इन पद्योंको प्रक्षिप्त नहीं माना है;

तब नवीन अंग्रेजी चश्मा धारण करनेवाले, संस्कृतमें अल्प प्रवेश वाले आजकलके सुधारकोंके प्रक्षिप्त कह देनेसे यह प प्रक्षिप्त नहीं हो सकते । २५ वर्षकी आयुमें श्रीरामका राज्याभिषे होना था—अतः उन्होंने १२ वर्ष तक घरमें रहना ही था। यह १२ वर्ष उनके गृहनिवासको प्रमाणित करनेवाला पद्य-बहुत स्थान आवृत्त किया हुआ है, प्रक्षिप्त नहीं हो सकता।

(८) हमने लिखा था कि– सीता रामायणानुसार पृथिवी उत्पन्न होनेसे 'अयोनिजा' थी । अयोनिजों तथा मानुषी-सृष्टि भिन्न योनिवालोंकी शारीरिक-वृद्धि शीघ्र हो जाया करती है जैसे कि–स्वा.द.जीने सृष्टिकी आदिमें उत्पन्न अमैथुन-योनियों उत्पत्तिवाले दिन ही 'युवा' माना था; तब छः वर्षवाली सीता यौवनका तो क्या कहना'? सो छः वर्षकी सीता आजकलवा १२ वर्षजैसी लड़कीके समान थी । उसके शीघ्र-विवाह कारणका भी हमने 'आलोक' (७) में निर्देश कर दिया था पर प्रतिपक्षीने उन बातोंको छिपा लिया, और 'धन्यासुता सा सीता रामपत्नी भविष्यति' अपने सम्प्रदायके सञ्चालक शब्दोंमें 'विषसम्पृक्तान्न' पुराणका प्रमाण दे दिया । 'शिवलिङ्ग पूजापर्यालोचन'के मुखपत्रके चित्रमें तथा अपने वै.सि.मा. चित्रमें भी स्वा.द.की वैदिक-तोपके तर्कगोलेसे १८ पुराणों उड़ा दिया था; पोपदलको भी वैदिकतोपसे उड़ा दिया गया था पता नहीं, फिर शिवपुराण कैसे बच गया? पथिक भी 'पो कैसे बन गया? रामायण उसमें न उड़ने पर भी कहाँ उड़ गई

मालूम होता है कि-उस शिवपुराणने ही स्वा.द.जीकी तोपमें कील ठोंककर उसे बेकाम कर दिया; और स्वा.द.जी पर ही प्रत्याक्रमण करके उनको वा उनके प्रभावको समाप्त कर दिया। तभी तो दयानन्दके एक कट्टर भक्त पथिकने स्वा.द. सम्मत उपनयनावस्थाका भी खण्डन करना शुरू कर दिया। जैसे कि हम पहले दिखला चुके हैं। राम-सीता-चरित्र विषयमें आर्य-समाज वाल्मीकि-रामायणको अधिक प्रमाणित दृष्टिसे देखती है। तभी तो पथिकने रामायण-महाभारतको स्वा.द.जी की तोप की मारमें नहीं रखा। पर पथिकने यहाँ स्वामीके शब्दोंमें विष-सम्पृक्तान्नका प्रयोग करके अचेतस्कता (वेहोशी) प्राप्त कर ली; जब कि उसमें रामायणका पूरा चरित्र अंकित नहीं।

पथिक कहता है-"पुराणमें सीताकी माताका नाम 'धन्या' बतलाया है, तब आप उन्हें अयोनिजा कैसे कह सकते हैं? 'धन्या'को आप सरीखे शास्त्री पृथिवी समझकर अयोनिजा कहनेकी धृष्टता करते हैं।" तब क्या पथिकके अनुसार रामायणके प्रणेता श्रीवाल्मीकिने सीताको पृथिवीसे उत्पन्न एवं अयोनिजा बताकर 'धृष्टता' की है? उसका नाम सीता इसीलिए ही तो हुआ था कि-वह हलके अग्रभागसे पृथिवी द्वारा प्रकट हुई थी। सो पृथिवी भी पृथिवी-पति जनक राजाकी स्त्री होनेसे उससे उत्पन्न अयोनिजा सीताको यदि राजा जनकने 'वीर्यशुल्केति मे कन्या स्थापितेयमयोनिजा। भूतलादुत्थितां तां तु वर्धमानां ममात्मजाम्' इस पद्यमें अयोनिजा, पृथिवीसे उत्पन्न कहा है, और उसीमें उसे

'आत्मजा' और 'कन्या' कहा है; और उसके अग्रिम पद्यमें रामायणमें उसे 'सुता' कहा है; तो इसमें हमारी 'धृष्टता' कैसे हुई। उत्तररामचरितमें पृथिवीका पर्यायवाचक 'विश्वम्भरा' कहा है-'विश्वम्भरा भगवती भवतीमसूत' (१।६) आर्यसमाजी श्रीशिवशङ्करकाव्यतीर्थने 'जातिनिर्णय'में सम्भवतः उसे 'धरणी' शब्दसे कहा है; तब इसमें हमारी धृष्टता क्या हुई? यदि अन्य भी कोई 'अयोनिजा' आदि लड़की हो; उसे दम्पति स्वीकार कर लें; तब ममता हो जानेसे उस लड़कीको उन पति-पत्नियोंकी 'आत्मजा' भी कह दिया जाता है; इसमें वह लड़की उनकी अपनेसे उत्पन्न सिद्ध नहीं हो जाती। 'धन्या' भी तो 'पृथिवी' हो सकती है। 'धन्या धात्र्यामलक्योः स्याद्' यह विश्वकोष तथा मेदिनीकोषमें लिखा है (अमर. सुधा व्याख्या ३।१।३) 'धात्री स्यादुपमातापि क्षितिरप्यामलक्यपि' (अमर. ३।३।१७६)। पथिकसे प्रमाणित अमरकोषमें धात्री 'पृथिवी'का नाम कहा है।

रामायणमें जनकजीकी स्त्रीका नाम नहीं लिखा। पुराणमें यदि उसका नाम 'धन्या' लिखा है, और यही नाम रामायणमें भी मान लिया जाय; तब भी तो सीताकी अयोनिजतामें क्षति नहीं पड़ती। हमने 'आलोक' (७) में लिखा था कि-दत्तक वा पालित वा अन्यकी लड़की होनेपर भी उसे स्वीकार कर लेनेपर उसमें ममता हो जानेसे उसे उन दम्पतियोंकी 'सुता वा आत्मजा' कहा जा सकता है। इसपर हमने परपुत्री 'शकुन्तला' को पालक कण्वकी आत्मजा' भी शकुन्तलानाटकसे दिखलाया

था; जिसपर प्रतिपक्षीने अपनी आंख वन्द कर ली; परन्तु आंख वन्द कर लेनेपर प्रतिपक्षीकी वात थोड़े ही ठीक हो जावेगी ! तव पृथिवीसे अयोनिजा उत्पन्न होनेपर भी सीताको जनककी वा उसकी स्त्रीकी पुराणानुसार धन्याकी 'आत्मजा, वा सुता' जानकी आदि कहा जा सकता है।

(६) पथिक लिखता है—'संस्कृतकोषोंमें अपनेसे उत्पन्न पुत्रियोंको आत्मजा, तनया, सुता और जन्म देनेवाली माताओंको जनयित्री, प्रसू, जननी, माता कहा गया है (अमरकोष)। अवशिष्ट प्रकारकी [अर्थात् अयोनिजा वा पराई, वा पालित] लड़कियोंको 'कन्या' आदि कहा गया है। अतः सीताजी राजा जनक तथा उनकी पत्नी धन्याकी आत्मजा, सुता, तनया थीं' (वेदवाणी १५।११ पृ. १६ स्तम्भ २ पं. १६-१७-१८-१९-२०-२१)।

पथिकको धन्यवाद हो कि-वह अज्ञानियोंको भी मार्ग-प्रदर्शन करता रहता है। अव हम उसके आगे कुछ प्राचीन उद्धरण उपस्थित करते हैं, जहां अयोनिज उत्पत्ति होनेपर भी, वा दूसरों की सन्तान होने पर भी उसके पालक होने पर भी उस सन्तानको 'आत्मज वा आत्मजा, सुत वा सुता कहा जाता है। वादी अपनी युक्तिसे अपना खण्डन स्वयं देखे।

(क) महाभारतके अनुसार द्रुपदका लड़का शिखण्डी था, जो पहले लड़की था; फिर लड़का वन गया। इसलिए भीष्म उससे नहीं लड़े। फिर अग्नि-द्वारा धृष्टद्युम्न तथा कृष्णा (द्रौपदी) की अयोनिज उत्पत्ति हुई; यह महाभारतमें स्पष्ट है। इस

विषयमें हम 'आलोक' (७) में लिख चुके हैं। सो धृष्टद्यु आदि अयोनिज लड़कोंकेलिए भी महाभारतमें 'आत्मज' शब्द प्रयोग किया गया है—'धृष्टद्युम्नमुखा वीरा भ्रातरो द्रुपदात्मज (१।२०७।२१)। (ख) द्रौपदीकी उत्पत्ति भी अग्निमें हुई अव उस अयोनिजाकेलिए भी 'आत्मजा'का प्रयोग प देखे—'ततस्तु कुन्ती द्रुपदात्मजां तां' (१।१६४।४, १।२१०।१ तव क्या इन अयोनिजोंको पथिक द्रुपदके वीर्यसे उत्पन्न म लेगा ? पर यह निष्प्रमाण होगा। अयोनिज-उत्पत्ति वैशेषि आदि दर्शनोंमें भी वताई गई है।

(ग) पाण्डवोंको पथिक भी जानता होगा कि-वे पाण्डु उत्पन्न नहीं थे, किन्तु देवताओंके वरदानसे उत्पन्न हुए थे (विषयमें 'आलोक' (८) में 'नियोग और मैथुन' देखो); पर भी महाभारत उन्हें 'पाण्डव' वताता है—'पाण्डोरपत्यं पाण्डव यह शब्द सुप्रसिद्ध है; तव क्या उन्हें इससे पाण्डुके वी उत्पन्न मान लिया जावेगा ?

(घ) कर्णको तो पथिक भी जानता-मानता होगा कि- सूत तथा उसकी स्त्री राधासे उत्पन्न नहीं हुआ था; किन्तु सू प्रभावसे कुन्तीमें उत्पन्न हुआ था। सूत तथा उसकी स्त्री राधा उसे पाला मात्र था। फिर भी उसे महाभारतमें 'सूतज' (कर्ण ६।५१) सूतका आत्मज कहा गया है; तव क्या वह सूतके वी उत्पन्न हुआ था—यह पथिक सिद्ध कर सकता है ? तव क इससे उसका पक्ष खण्डित नहीं हुआ ? क्या यहां पथि

व्यासजीकी भी इसमें धृष्टता मानता है ?

(ङ) अन्य देखिये—महाभारतमें कर्णको 'सूतात्मजः' (कर्ण-पर्व ८६।३७) भी कहा गया है; तब क्या कर्ण सूतकी स्त्रीमें उसीके वीर्याधानसे पैदा हुआ था कि—उसे 'सूतात्मज' कहा गया ? यदि नहीं; किन्तु 'सूतात्मज' लिखा होनेपर भी वह कर्णको 'सूतपालित' ही मानेगा, वैसे सीताके लिए कहे हुए 'ममात्मजा' शब्दसे भी जनकसे पालितही मानना पड़ेगा। तब अयोनिज सीताकी छः वर्षकी होनेपर भी सृष्टिकी आदिमें उत्पन्न अयोनिज सृष्टिकी शीघ्रवृद्धिकी भांति उसके शीघ्रयौवनप्राप्तिमें क्षति नहीं पड़ती ।

(च) वादी अन्य भी प्रवल प्रमाण देखे—कर्णको महाभारतमें 'राधेय' भी कहा गया है। जैसे कि—'एवमुक्तस्तु राधेयो युद्धात् कर्णो न्यवर्तत' (१।१६२।२३) 'स्त्रीभ्यो ढक्' (पा. ४।१।१२०) यह ढक् प्रत्यय 'आत्मज' अर्थमें ही होता है, जैसे गाङ्गेयः, सौमित्रेयः, सौभद्रेयः। तब क्या कर्ण सूतकी स्त्री राधासे पैदा हुआ-हुआ था ? यदि नहीं; तब भी उसे 'राधेय' कहा गया है; तब यदि पालिता सीताको 'जनकात्मजा अथवा धन्यासुता' कहा गया है, तब इससे श्रीसीताके अयोनिजत्वमें भी क्षति नहीं पड़ती। (छ) अन्य देखिये—कर्णको 'सूतसुत.' (कर्णपर्व ८६।१६) भी कहा गया है। पथिक अपनेसे उत्पन्न पुत्रको 'सुत' कहता है; तब क्या कर्ण सूतके वीर्यसे उत्पन्न हुआ था ? यदि नहीं; और वह सूतसे पालित ही था; तब भी यदि उसे 'सूतसुत' कहा गया है;

वैसे ही सीताको 'जनकसुता' कहने पर भी वह जनकपालित ही सिद्ध होती है, जनक-वीर्यज नहीं। (ज) शकुन्तलाको पथिक विश्वामित्रके वीर्यसे उत्पन्न तथा कण्वसे पालित जानता वा मानता होगा। वही शकुन्तला अपने आपको 'सुतां कण्वस्य मामेवं विद्धि त्वं मनुजाधिप !' (महाभारत १।७२।१८) कण्वकी 'सुता' कहती है; तब क्या वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी कण्वके वीर्यसे उत्पन्न मानी जावेगी ? यदि नहीं, किन्तु पालित ही; वैसे 'धन्यासुता' भी 'धन्यासे पालित' ही मानी जावेगी। वादी से प्रमाणित अध्यात्मरामायणमें भी यह स्पष्ट कर दिया है—'यज्ञभूमिविशुद्ध्यर्थं कर्षतो लाङ्गलेन च। सीता (हल) मुखात् समुत्पन्ना···शुभ लक्षणा। तामद्राक्षमहं प्रीत्या पुत्रिकाभावभाविताम्। अर्पिता प्रियभार्यायै' (१।६।५६-६०) अर्थात् भूमिसे उत्पन्न हुई सीता को भूमिपति मैंने अपनी सुता (स्वसुतोदन्तं० १।६।५८) पुत्री बनाया।

(झ) अब पथिकसे प्रमाणित पुराणके प्रमाणपर भी विचार करना चाहिये—शिवपुराण रुद्रसं. पार्वती खं० २ य अध्यायमें हिमालय पर्वतकी स्त्री की तीन पुत्रियाँ बताई हैं, उसमें ज्येष्ठाकी लड़कीका नाम पार्वती (२८) बताया है, और दूसरीकी लड़की का नाम 'कन्या प्रिया द्वितीया तु योगिनी जनकस्य च। तस्याः कन्या महालक्ष्मीर्नाम्ना सीता भविष्यति' (२६) यहाँ सीताको धन्याकी 'कन्या' बताया गया है। 'कन्या' शब्दका प्रयोग पथिक अपनेसे न उत्पन्न हुई, अयोनिज आदि लड़कीके लिए मानता है। तब सीता भी इस प्रमाणसे जनकपालिता एवं

अयोनिज सिद्ध हो गई।

(ञ) अब स्व-प्रमाणित पुराणका अन्य स्पष्ट प्रमाण पथिक देखे—'तिस्रो भगिन्यस्ताः तात ! पितॄणां मानसीः सुता.' (२।४२) यहाँ पर उन तीन बहनोंको मानस (अयोनिज) बताया गया है। उन अयोनिजोंको पुराणके प्रमाणमें 'सुताः' कहा गया है। इस पथिक-प्रमाणित पुराणके वचनसे (क्योंकि–इस पुराणके वचनसे अतिरिक्त पथिकने अन्य प्रमाण कोई नहीं दिया) स्पष्ट सिद्ध होगया कि—'मानस सन्तान' (अयोनिज) को भी 'सुताः' कह दिया जाता है, तब धन्याकी सुता सीता भी 'अयोनिज' सिद्ध हो गई। इसी प्रकार रामायणमें भी अयोनिजा, पृथिवीसे उत्पन्न सीताकेलिए यदि उस पृथिवीके पति जनककी 'सुता, वा आत्मजा शब्द आया है, उसका भी समाधान इस पुराणके प्रमाण तथा पूर्वोक्त महाभारतके प्रमाणोंसे हो गया। सो यदि अब पथिक पुराणकी बात मानता है, तो पुराणमें भी सीताकी विवाहावस्था ६ वर्षकी लिखी है—यह 'आलोक' (७) पृ.६४७ में देखे, उसे भी मान लें; और अमैथुनोत्पन्नतामें शरीर शीघ्र बढ़ जाता है; जैसे कि—स्वा.द.जीने सृष्टिकी आदिमें अमैथुनोत्पन्न स्त्री-पुरुषोंको उत्पत्ति वाले ही दिन युवावस्थामें (स.प्र. १३९) माना है और उनका विवाह भी माना है, तब अमैथुनयोनि, पृथिवीसे उत्पन्न छः वर्षकी सीताके यौवनका तो भला क्या कहना? अतः देश-कालभेदके कारण ६ वर्षकी युवति सीताके विवाहमें कुछ भी अनुपपत्ति नहीं आती।

जब 'दयानन्दतिमिरभास्कर' में 'पं० ज्वालाप्रसाद जी...' १२ वर्षकी लड़कीका विवाह 'द्वादशवर्षीयां पत्नीमावहेत्' ... सुश्रुतसं.के वचनसे दिखलाया, तब उसके प्रत्युत्तरमें आर्य-समाजी श्रीतुलसीरामस्वामीने 'भास्कर प्रकाश' (४र्थ समुल्लास) में उक्त पाठकी साधुता मानते हुए समाधान किया कि—सुश्रुत... १२ वर्षकेलिए लिखा......हम तो यह मानते हैं कि—सुश्रुत... जो वैद्य थे; उन्होंने बङ्गाल आदि देशोंको लक्ष्यमें रखकर वहाँ... निर्वाहार्थ यह दूसरा वचन (१२ वर्षकी लड़कीके विवाह...) लिखा है, जिससे यह सिद्ध होता है कि—जहाँ जब युवा... होती हो; वहां तब ही विवाह करे। यही वेदका सिद्धान्त है। देश-भेदसे वर्ष-संख्या भले ही भिन्न-भिन्न रहे'।

जब ऐसा है; और स्वा.द.जीके आदि-सृष्टिके अमैथुनोत्पन्न... जोड़े, जब कि उत्पत्तिवाले दिन ही युवा पैदा हुए' (देखो स.प्र. ...) तब विदेह-देशकी अमैथुनोत्पन्न सीता जो उत्पत्तिवाले ही ... बहुत बढ़ गई; छः वर्षकी हो जाने पर भला उसे युवति क्यों ... माना जाए, और अमैथुनोत्पन्न डील-डौलवाले १२-१५ व... राम भी युवा क्यों न माने जावें?

इससे सिद्ध हुआ कि—सीतारामका विवाह वेद-वि... आयुमें नहीं हुआ। जब कि स्वामीने आदिम अमैथुनिक जोड़ों... का विवाह उत्पत्तिवाले दिन ही करवा दिया; वादी उसमें ... विरोध नहीं मानता; तब अमैथुनिक सीताराम की हमसे ... विवाहावस्थामें भी वेद-विरोध कुछ भी नहीं आता। इस वि...

में 'आलोक' (७) पृ. ६६८-७११ तथा पृ. ६८० भी देखना चाहिये; जिसपर वादी कुछ भी नहीं लिख सका।

सूचना—१२७-१२८ पृष्ठमें हमने वादि-प्रमाणित श्रीद्वारका-प्रसादसे किये—'रमण' अर्थका समाधान किया था। अब उसीके कोष (संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ पृ. ६३६)में पथिक देखे। उसमें 'रमण'का हमारे अनुकूल 'आमोद-प्रमोद' अर्थ भी किया है; तब उससे भी हमारे पक्षकी सिद्धि होगई। जो कि वादी सीता-रामकी वैवाहिक-आयुमें उपवेद-आयुर्वेद (सुश्रुत सं.) का विरोध बताता है; उसपर भी हम अब प्रकरणवश विचार करते हैं।

(५) कन्याकी विवाहावस्था एवं गर्भाधानावस्था।

वादी लिखता है—'ऐसे कालमें विवाह होना चाहिये, जब कन्या गर्भाधानके योग्य हो। वह समय १६ वर्षका है—'ऊन-षोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्। यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते' (सुश्रुत. शारीर. १०।४७) १६ वर्षसे न्यून वय वाली स्त्रीमें २५ वर्षसे न्यून आयुवाला पुरुष जो गर्भको स्थापन करे; तो वह कुक्षिस्थ हुआ विपत्तिको प्राप्त होता है (नीक्षीवि. पृ. ४३)

प्रत्युत्तर—'ऊनषोडशवर्षायां' यह सुश्रुत सं.में गर्भाधानका श्लोक है, विवाहका नहीं। विवाहकेलिए तो वहीं 'अथास्मै पञ्च-विंशतिवर्षाय द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत्' (१०।५३) यह पाठ है; जिसे भास्कर-प्रकाशके कर्त्ता श्रीतुलसीरामजी स्वामीने भी माना है; और उसे भिन्न-देशकालादिकेलिए माना है। यह हम अभी-अभी कह चुके हैं। इस वचनमें १२ वर्ष वाली लड़कीका

विवाह कहा है। तब प्रतिपक्षीका पक्ष कट गया।

'ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्' यह पद्य तो सुश्रुत-सं.में गर्भाधानका है, विवाहका नहीं। गर्भाधान तो ऋतुकालमें लड़कीकी योग्यता आदि देखकर तथा परस्पराभिलषिततामें जब-तब किया जा सकता है; निश्चितता तब भी उसमें नहीं की जा सकती।

यद्यपि गर्भाधानाभिधायक "ऊनषोडशवर्षायाम् अप्राप्तः पञ्चविंशतिम्' सुश्रु.के इस पद्यमें वर्तमानमें यह पाठ सब संस्क-रणोंमें पाया जाता है; तथापि हमारा विश्वास है कि—यहाँ पर भी प्राचीन पाठ 'ऊनद्वादशवर्षायां' ही था। इसमें हम पूर्वापरके समन्वय सहित अपने विचार उपस्थित करते हैं। वादी-प्रतिवादी इस पर यदि निष्पक्ष दृष्टि डालेंगे; तो यह विषय उनके हृदयङ्गम हो जावेगा।

(५) सुश्रुतमें कन्या-गर्भाधानावस्था।

(१) हमारे विचारमें 'ऊनषोडशवर्षायां' यह सुश्रुतसम्मत पाठ नहीं है, यद्यपि यह भी कुछ समयसे चालू है; तथापि—

'ऊनद्वादशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते॥
जातो वा न चिरं जीवेद् जीवेद् वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्माद् अत्यन्त-बालायां गर्भाधानं न कारयेत्'।

(शारीरस्थान १०।५४-५५)

यही पाठ प्राचीन तथा युक्ति-युक्त एवं सुश्रुतसंहितासम्मत है।

'ऊनषोडशवर्षायाम्' इस पाठके सुश्रुतके अभिमत न होनेमें पाँच-छः कारण हैं; उन्हें हम 'आलोक'-पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

(१) निर्णयसागर प्रेस मुम्बईमें प्रकाशित, श्रीडल्हणाचार्य टीका वाली, श्रीयादवजी त्रिकम महोदयसे सम्पादित सुश्रुतसंहिता प्रथम-संस्करण तथा द्वितीय-संस्करणमें 'ऊनषोडशवर्षायाम्' इस गर्भाधान वाले सूत्रकी टिप्पणीमें लिखा है—'ऊनद्वादशवर्षायाम्' इति हस्तलिखितपुस्तकेषु पाठ उपलभ्यते'। जब इस प्रकार प्राचीन हस्तलिखित सुश्रुतसंहिताकी पुस्तकोंमें 'ऊनद्वादशवर्षायाम्' पाठ मिला है, और उस पाठमें छन्दोभङ्ग आदि कोई दोष भी नहीं है; तब यही पाठ प्राचीन सिद्ध हुआ, 'ऊनषोडशवर्षायां' पाठ बहुत प्राचीन नहीं।

'ऊनषोडशवर्षायां' यह पाठ कुछ समयसे परिवर्तित किया हुआ मालूम होता है। यह पाठ सुश्रुतसंहितासे विरुद्ध भी है; क्योंकि भगवान् धन्वन्तरि 'रसादेव स्त्रिया रक्तं रजः-सञ्ज्ञं प्रवर्तते। तद् वर्षाद् द्वादशादूर्ध्वं याति पञ्चाशतः क्षयम्' (सुश्रुत-सूत्रस्थान १४।६) इस प्रमाणसे १२ वर्षोंके अन्तमें ऋतुकाल कहते हैं, १६ वर्षोंके अन्तमें ऋतुकाल नहीं कहते। और गर्भाधानका सम्बन्ध ऋतुसे होता है—यह सर्वसम्मत है, क्योंकि—ऋतु होता है पुष्प, और गर्भ होता है फल। ऋतु १६वें वर्षमें नहीं होता, किन्तु १२वें के अन्तमें। अतः यह 'ऊनद्वादशवर्षायां' पाठके सुश्रुतसंहितासे अभिमत होनेमें प्रथम कारण है।

(२) संहिताकार लड़कीका विवाह १२वें वर्षमें मानते हैं, जैसेकि—'अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय द्वादशवर्षीयां पत्नीमावहेत्' (सुश्रुत शारी. ५३)। इसपर हम अग्रिम निवन्धमें प्रकाश डालेंगे। जब ऐसा है; तो गर्भाधान-प्रतिपादक पद्यमें भी सुश्रुताचार्यको 'ऊनद्वादशवर्षायां' ही पाठ अभिमत था। यह इस पाठके होनेमें दूसरा कारण है।

(३) हस्त-लिखित प्राचीन पुस्तकोंमें 'ऊनद्वादशवर्षायाम्' यही पाठ उपलब्ध हुआ है—यह पूर्व कहा जा चुका है—यह 'ऊनद्वादशवर्षायां' पाठके सुश्रुतसंहिताको अभिमत होनेमें तृतीय कारण है। निर्णयसागरके सुश्रु. ३य-संस्करणकी टिप्पणीमें भी 'ऊनद्वादशवर्षायाम्' इति हस्त-लिखित पुस्तकेषु पाठ उपलभ्यते' लिखा है। अपने मान्य संस्करणको भी यदि वादी नहीं मानता तो यह उसकी धींगाधींगी है। चौखंभावाले संस्करणमें भी 'ऊनद्वादशवर्षायां' यह पाठान्तर मिलता है। डल्हणाचार्यकी टीकामें भी 'ऊनषोडशवर्षया सह' यहाँपर 'ऊनद्वादशवर्षया सह' यह पाठान्तर मिलता है।

(४) चतुर्थ कारण यह है— पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे। समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक्॥ (सुश्रुत सूत्रस्थान ३५।१३) इस वचनसे सोलह-पचीस वर्षमें स्त्री-पुरुष वीर्य सम माना गया है। इसी प्रमाणसे कतिपय व्यक्ति पचीस-सोलह वर्षके पति-पत्नीका आपसमें संयोग चाहते हैं। ... पति-पत्नी दोनोंके वीर्यके समान होनेसे नपुंसककी उत्पत्ति

प्रसंग होगा। जैसे कि कहा है—

'शुक्रबाहुल्यात् पुमान्, आर्तवबाहुल्यात् स्त्री, साम्यादुभयोर्नपुंसकम्, (सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थान ३।५) 'द्वाभ्यां समेन नपुंसको भवति' (निरुक्त १४।६) 'पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे, स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः। 'समेऽपुमान् पुंस्त्रियौ वा' (मनुस्मृति ३।४९) 'रक्तेन कन्यामधिकेन पुत्रं शुक्रेण' (चरकसंहिता-शारीरस्थान २।१२) 'बीजात् समांशादुपतप्तबीजात् स्त्री-पुंसलिङ्गी भवति द्विरेताः' (चरक. शा. २।१८) 'नपुंसकं तयोः साम्ये' (भावप्रकाश पूर्व खण्ड गर्भप्रकरण ४०)। 'पुरुषके अधिक वीर्य होनेसे पुत्रोत्पत्ति और स्त्रीके अधिक वीर्य होनेसे कन्योत्पत्ति, दोनोंके तुल्य वीर्य होनेसे नपुंसक होता है" (स्वा. दयानन्दजीकी 'प्रथमसंस्कारविधि' पृष्ठ १२-१३) तब सोलह वर्षकी लड़की और पचीस वर्षके पुरुषकी सुश्रुत (सूत्र. ३५।१३) के अनुसार समवीर्यतामें गर्भ करके नपुंसक उत्पन्न करना भला किस पिताको इष्ट हो सकता है?

इसी त्रुटिको दूर करनेकेलिए आयुर्वेदके ग्रन्थ "वृद्धवाग्भट" के वचनमें २१ वर्षके पुरुषका 'द्वादशवर्षदेशीया' लड़कीकें साथ विवाह कहा है, और चार वर्षके बाद गर्भाधान कहा है। 'पुमानेकविंशतिवर्षः कन्यां द्वादशवर्षदेशीयां···उद्वहेत्। तस्यां षोडशवर्षायां पञ्चविंशतिवर्षः-पुरुषः पुत्रार्थं यतेत'। तब पुरुष होगा २५ वर्षका और स्त्री होगी षोडशवर्षदेशीया। उक्त 'द्वादशवर्षदेशीया" शब्दमें 'देशीयर्' प्रत्यय साभिप्राय है। "ईषदसमाप्तौ कल्पब्-देश्यदेशीयरः" (५।३।६७) इस पाणिनि-

सूत्रसे 'देशीयर्' प्रत्यय कुछ 'न्यून' अर्थमें होता है। तब बारह वर्षसे कुछ न्यूनअवस्था वाली, चार वर्षके बाद सोलह वर्षसे कुछ कम अवस्थाकी होगी। उस समय समवीर्यता न होनेसे (क्योंकि-पूर्ण १६-२५ वर्षीय स्त्री-पुरुषोंकी ही समवीर्यता कही गई है)—नपुंसकोत्पत्तिप्रसङ्ग भी न होगा।

समवीर्य वाली स्त्रीके साथ विवाह वा गर्भाधान कभी नहीं करना पड़ता, किन्तु अपनी अपेक्षा हीनवीर्या स्त्री ही आधेय-गर्भा हुआ करती है। क्योंकि-समवीर्यतामें या तो सन्तान होती नहीं, या नपुंसक सन्तान होती है, यह लोकसिद्ध बात है। 'संशयो जायते साम्यात्' (महाभारत सभापर्व १७।५); तब 'ऊन-षोडशवर्षायां' यह पाठ सुश्रुतसम्मत न हुआ। स्वा.द.जीने अपनी 'द्वितीयसंस्कारविधि'में कहा है। '२५ वर्षका पुरुष और १६ वर्षकी स्त्री दोनों तुल्य-सामर्थ्य वाले होते हैं, इस [तुल्य-सामर्थ्यके] कारण इस अवस्थामें जो विवाह करना है, वह अधम विवाह है' (पृष्ठ १०३।१०४) तब 'ऊनषोडशवर्षायां' यह पाठ अनार्ष सिद्ध हुआ। वहाँपर 'ऊनद्वादशवर्षायां' यही पाठ आर्ष सिद्ध हुआ। उस अवस्थाके अन्तमें ऋतुमतीत्व हो जाने पर पुरुष स्त्रीकी अपेक्षा अधिक शुक्रवान् होता है; तब पुत्रोत्पत्ति भी अवश्य होगी। रजस्वलात्व ही गर्भाशय तथा गर्भाधानकी योग्यताको प्रमाणित करनेमें प्रकृतिका इङ्गित है।

रज वा वीर्य स्वयं बाहर तब आता है; जब वह भीतरकी पूर्ति कर ले। तब वह अधिकतासे बचा हुआ ही बाहर आता है।

स्वा.द.जीने स.प्र.के ३य समु. २६ पृष्ठमें लिखा है-'जब साङ्गोपाङ्ग शरीरस्थ सकल धातु पुष्ट होके पूर्णताको प्राप्त होते हैं, तदनन्तर जो धातु बढ़ता है वह शरीरमें नहीं रहता", इस प्रकार रजका बाहर आना सिद्ध करता है कि-गर्भाशय बढ़ रहा है। रज गर्भाधानकी योग्यतामें प्रकृतिका इङ्गित है। रजोधर्मकी समाप्ति गर्भाधान योग्यताकी समाप्तिका चिह्न होता है। रजस्वलात्व प्रारम्भ न होना गर्भाधानकी अयोग्यताका चिह्न हुआ करता है। 'सुश्रुतसंहिता'के सूत्रस्थानमें कहा है—'नारीणां रजसि च उपचीयमाने शनैः शनैः स्तनगर्भाशययोन्यभिवृद्धिर्भवति' (१४।१८) यह चतुर्थ कारण स्पष्ट हुआ।

(५) 'ऊनषोडशवर्षायां' इस पाठके सुश्रुतानभिमतत्वमें पांचवां कारण यह है कि-उक्त पद्य-द्वयके अन्तिम अंशमें उपसंहार किया है "तस्माद् अत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्'। उपसंहार सदा उपक्रमका अनुवाद किया करता है 'येन उपक्रम्यते येन च उपसंह्रियते, स वाक्यार्थः'। न्यायशास्त्रमें उपसंहारका नाम 'निगमन' तथा उपक्रमका नाम 'प्रतिज्ञा' हुआ करता है। 'प्रतिज्ञा'का लक्षण 'न्यायदर्शन'में 'साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा' (१।१।१३) कहा है, और 'निगमन'का लक्षण है 'हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्' (१।१।३९)। फलतः उपक्रमका पुनः अनुवाद करना ही उपसंहारका लक्ष्य हुआ करता है। इससे प्रयोक्ताका तात्पर्य निकल आता है।

तब 'ऊनषोडशवर्षायाम्' यह उपक्रम 'तस्माद् अत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्' इस उपसंहारसे भी विरुद्ध पड़ता है, क्योंकि-ऊनषोडशवर्षा, (१२, १३, १४, १५ वर्षकी) स्त्री बाला मान भी ली जाय, पर अत्यन्तबाला नहीं होती। इसलिए 'चरकसंहिता'में-'अतिबालामतिवृद्धां च वर्जयेत्' (शारीरस्थान ८।६) 'मैथुनादतिबालायाः पृष्ठकट्यूरुवङ्क्षणम्। रुजयन् दूषयेद् योनिं वायुः प्राक्चरणा हि सा, (च. सं चिकित्सितस्थान ३०।२०) इस प्रकार 'अतिबाला'को तो मैथुनमें वर्जित माना गया है, 'बाला'को नहीं। बारह वर्षके बाद ऋतु हो जानेपर कन्या 'अत्यन्तबाला' नहीं रहती। तब 'ऊनषोडशवर्षा' यह उपक्रमका पद 'तस्माद् अत्यन्तबालायाम्' इस उपसंहारके पदसे भी विरुद्ध पड़ता है। 'ऊनद्वादशवर्षायाम्' ऐसा उपक्रमका पाठ होनेपर तो 'तस्माद् अत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्' इस उपसंहारके वाक्यसे भी सङ्गति लग जाती है, 'येन उपक्रम्यते येन च उपसंह्रियते स वाक्यार्थः' यह न्याय भी चरितार्थ हो जाता है, क्योंकि गर्भाधानमें बारह वर्षसे कम की ही स्त्री अत्यन्तबाला कही जा सकती है, १६ वर्षसे कम की अत्यन्तबाला नहीं कही जा सकती। स.प्र.के ४र्थ समु. ४६ पृष्ठकी टिप्पणीमें उक्त पद्यके अर्थके अवसर पर लिखा गया है-'अतिबाल्यावस्थावाली स्त्रीमें गर्भस्थापन न करे' इससे गर्भाधानमें अतिबाल्य ही निषिद्ध है, बाल्य नहीं। अतिबाल्यमें कन्याविवाह वा गर्भाधान किसीका पक्ष नहीं। बारह वर्षकी अवस्था अतिबाल्य नहीं।

(६) कौटलीय 'अर्थशास्त्र'में कहा है-'विवाहपूर्वो व्यवहार

(धर्मस्थीय तृतीय अधिकरण २।१) अर्थात्-व्यवहार विवाहसे शुरू होता है। वहीं कहा है कि-बारह वर्षकी स्त्री व्यवहार-योग्य होती है, और सोलह वर्षका पुरुष-'द्वादशवर्षा स्त्री प्राप्त-व्यवहारा भवति, षोडशवर्षश्च पुमान्' (३।३।१) इससे कौटल्यने भी बारह वर्षकी कन्याकी व्यवहारयोग्यता बताकर बारहवें वर्षमें उसका विवाह सिद्ध कर दिया है। इसीसे 'शुक्रनीति'में १२वें वर्षके बाद लड़कीको गाली आदि देना निषिद्ध कर दिया है-'षोडशाब्दात् परं पुत्रं द्वादशाब्दात् परं स्त्रियम्। न ताडयेद् दुष्टवाक्यैः' (३।१६)

इस प्रकार बारह वर्षसे पूर्वकी ही लड़कीके अत्यन्तबाला होनेसे उसमें गर्भाधानका निषेध है, उसमें भी विवाहमात्रका निषेध नहीं है, क्योंकि विवाह और गर्भाधान संस्कार भिन्न-भिन्न संस्कार हैं, और भिन्नकालीन हैं। विवाहकालमें ही शास्त्र गर्भाधान नहीं कहता, किन्तु ऋतुकालमें ही। इस कारण आयुर्वेद कहता है-'आर्तवस्रावदिवसाद् ऋतुः षोडशरात्रयः। गर्भग्रहणयोग्यस्तु स एव समयः स्मृतः' ('भावप्रकाश पूर्वखण्ड' 'गर्भप्रकरण २श्लो.') 'बृहत्पराशरस्मृति'में भी कहा है, 'ऋतावृतौ स्त्रियं गच्छेत् स्वेच्छया वा वरं स्मरन्' (४।३६) 'वसिष्ठधर्मसूत्र'-में कहा है, 'ता अब्रुवन्-ऋतौ प्रजां विन्दामहै' (५।८) कृष्ण-यजुर्वेद (तै. सं.) (२।५।१।५) में भी यही कहा है (ऋत्वियात् प्रजां विन्दामहै') यहाँपर यह नहीं कहा गया है, कि-इतने ऋतु व्यर्थ करने चाहियें।

इस कारण बाह्य एवम् आभ्यन्तरिक साक्षीसे 'ऊनद्वादश-वर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्। यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते' यही सुश्रुतसम्मत तथा संगत पाठ है। इससे १२ वर्षमें कन्याविवाहप्रतिपादक सु. शा. १०।५३ के वचनकी संगति भी लग जाती है, और १२ वर्षके बाद गर्भकाल रजः-काल प्रतिपादक सूत्रस्थान (१६।६) के वचनसे भी एकवाक्यता हो जाती है।

(६) ऊनषोडशवर्षायां' इस पाठके सुश्रुतसे विरुद्धतामें छठा कारण है-प्रत्यक्षका व्याकोप। क्योंकि-ऊनषोडश वर्षकी स्त्रियों-का गर्भ कुक्षिमें विपद्यमान नहीं देखा जाता। उसकी सम्भावना तो बारह वर्षसे लड़कीके कम होनेमें गर्भ करने पर ही रहती है। सोलह वर्षसे कमकी स्त्रियोंके उत्पन्न बालक पिताके २०-२५ वर्षके निकटके होनेपर चिरायु देखे गये हैं, दुर्बलेन्द्रिय भी नहीं देखे गये। बल्कि सोलह वर्षके अभिमन्यु द्वारा (महा. आदि. ६७।११७-११८) १२ वर्षकी उत्तरामें जो कि गुड़ियाएँ खेला करती थी (महा. विराट. ३७।२६); निपिक्त परीक्षित् अल्पायु भी नहीं था, निर्वंश भी नहीं था, दुर्बलेन्द्रिय भी नहीं था। १५ वर्षकी, १४ वर्षकी लड़कियोंके तो जीवित, स्वस्थ और दृढ बालक देखे भी गये हैं, देखे जाते भी हैं। १३ वर्षकी लड़कियोंमें पैदा हुए लड़के भी बहुत हैं। १२ वर्षकी विवा-हिताओंके ऋतुमती हो जानेपर गर्भमें आये हुए और उत्पन्न हुए लड़के भी दृष्टिगोचर होते हैं।

(क) 'देशदर्शन' (हिन्दीग्रन्थरत्नाकर कार्यालय बम्बईसे

प्रकाशित श्री शिवनन्दनसिंह प्रणीत) १३२ पृष्ठमें लिखा है—'डाक्टर ग्रीन कहते हैं कि 'ढाकेमें मैंने एक लड़कीको १२ वर्षकी आयु में गर्भवती पाया'। डा० कन्हैयालाल कहते हैं कि-बंगालमें आमतौर पर १२ वर्षकी लड़कियाँ गर्भवती पाई जाती हैं, (मेडिकल ज्युरिसप्रुडेन्स फार इण्डिया आर. चीवर्स पृ. ६७३)

(ख) अमेरिकाकी कैलीफोर्नियास्थित सुप्रसिद्ध महिला-लेखिका 'मिसेज जोजेफ रेवेलो'ने एक वक्तव्य प्रकाशित किया है। उसका अनुवाद यह है—यदि १२ वा १३ वर्षकी लड़की विवाह चाहती है, तो उसमें रुकावट क्यों की जाय? मेरा विवाह भी इसी अवस्थामें हुआ था, इससे मुझे पश्चात्ताप नहीं हुआ। आज मेरे विवाहको ३५ वर्ष होगये हैं। मैंने २१ बच्चोंका मातृत्व प्राप्त किया है, जिनमें १६ बच्चे अभी भी जीते हैं। सभी स्वस्थ हैं। उनमें १० बालिकायें हैं। उन्होंने भी मेरा अनुकरण किया है, एक ने १२ वर्षमें विवाह किया, दूसरीने १३ वर्षमें। दोनों ही २-२ बालक पैदा कर चुकी हैं'। इस वक्तव्यके अंग्रेजी शब्द 'अनुभूत-योगमाला'के १७।३ अङ्क ३८७ पृष्ठमें देखे जा सकते हैं।

(ग) लाहौरके 'शक्ति' नामक दैनिक पत्र (१७।६।३७) (सम्पादिका श्रीशंनोदेवी) में कुमारी कौशल्यादेवी कपूरने लिखा था "हरी टहनीको जिधर चाहें घुमा लें, परन्तु पकी टहनी ऐसा करने पर टूट जाती है, पर झुकती नहीं। यही हाल इस समय लड़कियोंका है। बालविवाहसे तो उनके स्वभाव परि-

स्थितियोंके अनुकूल ही बन जाते थे, लेकिन अब परिपक्वावस्था-में पहुँचनेपर निजी स्वभाव वा आदतोंके बन जानेपर उनके स्वभावको परिस्थितियोंके अनुसार बदलना कठिन हो जाता है, और वैसे व्याह असफल सिद्ध होते हैं"।

(घ) 'गुनाहोंका देवता' (उपन्यास) (डा० धर्मवीर भारती) (पृ. ८६) में ईसाई लड़की पम्मीसे उसका अनुभव कहलवाया गया है—

"१४ बरससे ३४ बरस तक लड़कियोंको बहुत शासनमें रखना चाहिये। इसलिए कि-इस उम्रमें लड़कियाँ बहुत नादान होती हैं। जो कोई भी चार मीठी बातें करता है; तो लड़कियाँ समझती हैं कि-इससे ज्यादा प्यार उन्हें कोई नहीं करता। और उस उम्रमें जो कोई भी ऐरा-गैरा उनके संसर्गमें आ जाता है, उसे 'प्यारका देवता' समझने लगती हैं। नतीजा यह होता है कि वे ऐसे जालमें फँस जाती हैं कि जिन्दगीभर उससे छुटकारा नहीं मिलता। मेरा तो यह विचार है कि-या तो लड़कियाँ ३४ बरसके बाद शादियाँ करें, जब वे अच्छा-बुरा समझनेके लायक हो जाएँ। और नहीं तो मुझे तो हिन्दुओंका कायदा सबसे ज्यादा पसन्द लगता है कि-१४ बरसके पहले ही लड़कीकी शादी कर दी जाय और उसके बाद उसका संसर्ग उसी आदमीसे रहे, जिससे उन्हें जिन्दगी-भर निवाह करना है; अपने विकासक्रममें दोनों ही एक-दूसरे-को समझते चलें, लेकिन यह तो सबसे भद्दा तरीका है कि-१४ और ३४ बरसके बीचमें लड़कीकी शादी हो, या उसे आज़ादी

दी जावे"।

(ङ) देशनेता ला० लाजपतिरायने भी 'दुखी भारत' पुस्तकके २०६-२०७ पृष्ठमें लिखा है—'प्राचीनकालमें जिन जातियोंने बड़ी-बड़ी सभ्यताओंको जन्म दिया, उनमें से बहुतोंमें बालविवाहकी प्रथा प्रचलित थी। यूनानके लोग जो पूर्ण मनुष्यके सुन्दर विकास और उसकी सर्वाङ्ग उन्नतिके आदर्शसे आज भी हमें उत्साहित करते हैं, अत्यन्त बाल्यावस्थामें ही विवाह किया करते थे। रोमन लोग भी जिन्होंने उत्तम सैनिकों और शासकोंकी सृष्टिकी थी, बालकालमें ही विवाह करते थे—इत्यादि।

(च) लण्डन के प्रोवेशन अध्यक्षका निम्न वक्तव्य भी पत्रोंमें प्रकाशित हो चुका है कि—'यदि सत्य अवस्था पुरुषोंके आगे प्रकट हो, तो पता लगेगा कि—यहाँ कोई वर्ष भी खाली नहीं जाता, जिसमें १३ वर्षकी कुमारियां—सम्भवतः उनकी संख्या कई सैकड़े होगी—बच्चोंको न पैदा करती हों। मैं दावा करके कहता हूँ कि—१२ वर्षकी लड़कियां भी प्रति वर्ष बच्चोंको पैदा करती हैं। १३-१४ वर्षकी कुमारियोंको तो मैं बहुत संख्यामें जानता हूँ, जो उस अवस्थामें माताएँ हो चुकी हैं।

जब इस प्रकार १२-१३ वर्षकी अवस्थामें प्रसव प्रत्यक्ष है, तब 'ऊनषोडशवर्षायां' यह पाठ प्रत्यक्षसे भी विरुद्ध है, वहां 'ऊनद्वादशवर्षायां' यही पाठ प्रत्यक्षके भी अनुकूल पड़ता है। और फिर 'ऊनद्वादशवर्षायाम्'से 'बारह वर्षकी कन्यामें गर्भाधान अवश्य करे'—यह आज्ञा भी नहीं दी जा रही, प्रत्युत १२वें वर्षसे

पूर्व गर्भाधान कन्याका निषिद्ध किया जा रहा है। उससे ऊपर की कन्याको जब गर्भाधानकी योग्यता हो जाय, तभी उस लड़कीकी इच्छामें गर्भाधानकी विधि उचित है। ऋतु हो जानेपर क्रम-क्रमसे ऋतुकालमें (जब तब नहीं) मैथुन होनेपर कोई हानि भी नहीं होती। आजकलके पशु-सदृश दैनन्दिन मैथुनमें तो सोलह क्या, फिर २४ वर्षके विवाह वा गर्भाधानमें भी हानि सम्भव हो सकती है।

(च) १२ वर्षकी कन्यासे विवाह करने पर जब तक उसमें गर्भाधानकी योग्यता नहीं होती, तब तक संयम भी अवश्य-कर्तव्य है। विवाहका धार्मिक प्रयोजन होता है—अग्निहोत्र-ग्रहण। जैसे कि कहा है—'आवसथ्याधानं दारकाले' (पारस्कर गृह्यसूत्र १-२-१) विवाह प्रेमका पवित्र आदर्श हुआ करता है। वह प्रेम शीघ्र ग्राम्यधर्मकी अपेक्षा नहीं करता। ग्राम्यधर्म (मैथुन) तो स्वार्थमात्र होता है। अन्यथा यदि विवाहित होकर आई हुईसे झट मैथुन कर लेना वा उसमें गर्भका आहित करना ही प्रेम माना जायगा, तो बड़ा अनर्थ हो जावेगा। यदि आरम्भसे ही 'संयम'का अभ्यास न होगा तो 'महिषी प्रसवोन्मुखी, महिषो मदनातुरः' यह न्याय ही चरितार्थ हो जायगा। तब तो वैसे व्यक्ति चाहेंगे कि—इसे गर्भ ही न हो। क्योंकि गर्भके आहित होनेपर भी मैथुनका निषेध होता है। फिर तो असंयमी वे उसके रजस्वलात्वके चार दिन भी कैसे छोड़ सकेंगे? यदि आरम्भसे ही उन्हें 'सयम'का अभ्यास

होगा, तो आगे भी वे संयम कर सकेंगे।

(छ) वस्तुतः पहले पतिको प्रेममय व्यवहार तथा प्रेमालापोंसे पत्नीको अपना बनाना पड़ता है। जब दोनोंकी आपसमें ममता पैदा हो जावे, जो कि छोटी आयु, निर्मल हृदयतामें सम्भव है; एक-दूसरेके हृदयमें विरहमें उत्कट उत्कण्ठा उत्पन्न हो जावे, और जब पत्नीको गर्भाधानकी योग्यता हो जावे; तभी उसमें नियमतः गर्भ आहित करना चाहिये। नहीं तो आई हुई ही उससे झट ग्राम्यधर्म आरम्भ होनेपर पत्नी पतिको स्वार्थी समझ लेती है। इस पर कामशास्त्र पठितव्य हैं। वस्तुतः यह है भी स्वार्थ ही। जब तक उसकी पूर्ण अभिन्नता तथा गर्भाधान योग्यता न हो, क्योंकि आरम्भमें उसे पीड़ा भी होती है, तब तक यदि पति संयम नहीं कर सकता, तो जब वह 'पत्नी' अस्वस्थ हो, या उसके विशिष्ट अङ्गमें पीड़ा हो, तब पुरुष संयम कैसे कर सकेगा? तब क्या दोनोंमें विवाद न होंगे।

यदि पुरुष उसके विवाह हो जानेपर, आरम्भमें उसकी विद्यमानतामें भी संयमका अभ्यास कर सकेगा, तब आगे भी उसके रोग-विशेषमें तथा गर्भिणीत्वकी दशामें, रजस्वलावस्थामें, प्रसवावस्थामें, पितृगृह-गमनावस्थामें, किसी सम्बन्धीके निवासके अन्तरायमें संयम वा धैर्य कर सकेगा। नहीं तो फिर चतुर्थी-कर्म तक भी संयम न कर सकेगा। फिर गृहस्थाश्रममें अशान्ति सुलभ हो जायगी। तब पतिसे ही बलात् उत्तेजित की हुई स्त्री इतनी उत्तेजित हो उठती है कि फिर एक पुरुष तो क्या,

कई पुरुष भी उसे तृप्त नहीं कर सकते। 'आहारो मैथुनं निद्रा सेवनात्तु विवर्धते' जब वही पुरुष उसकी इष्टपूर्तिसे क्षमतावान् नहीं होता, या पति ही बाहर होता है तो फिर स्त्री अन्यत्र अटन करती है। यही प्रायः कलहका या स्त्रियोंके भाग जानेका निदान बनता है।

इस प्रकारके स्वार्थ उत्पन्न हो जाने पर जब स्त्री शीतला आदिके कारण कुरूप हो जाती है; या ऐसा कोई अन्य कारण आ पड़ता है; तब उसी स्वार्थी, कामी पुरुषकी उसमें अत्यन्त घृणा हो उठती है, क्योंकि—'पतनान्ताः समुच्छ्रयाः' (वाल्मीकि २।१०५।१६) अत्यन्त उच्चताका परिणाम अवनति ही हुआ करता है। तब वह स्वार्थमय बालूकी दीवार थोड़ा ही प्रहार पाकर गिर पड़ा करती है। उसमें यही कारण है कि—वह दाम्पत्य की दीवार नींवसे प्रेममूलक ममतासे पारस्परिक सहानुभूतिसे दृढ़ नहीं की जाती; किन्तु ग्राम्यधर्ममूलक या रूपमात्रमूलक ममतासे नाममात्र धारण की जाती है। तब उस कच्ची दीवालके गिरनेसे उसके दुष्परिणाम भी अवश्य होते ही हैं।

(ज) फलतः प्रत्यक्षानुकूलता होनेसे 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणान्तरेण' सुश्रुतको भी 'ऊनद्वादशवर्षायां' यही पाठ इष्ट है। जो लोग २४-२५ वर्ष तक लड़कीको कुमारी रखते हैं, वे आयुर्वेद-शास्त्रके प्रतिकूल करते हैं। 'भावप्रकाश' पूर्वखण्ड ऋतु प्रकरण २७८-२८० पद्यमें लिखा है—'नित्यं बाला सेव्यमाना नित्यं वर्धयते

वलम्। तरुणी ह्रासयेत् शक्तिं प्रौढोद्धावयते जराम्' यहाँपर तरुणीके सेवनसे शक्तिह्रास कहा गया है। 'वाला-स्त्री क्षीर-भोजनम्। घृतमुष्णोदकं स्नानं सद्यः प्राणकराणि षट्'। 'रति-मञ्जरी'में भी लिखा है—'वाला स्त्री प्राणदा प्रोक्ता तरुणी प्राण-हारिणी'। इन प्रमाणोंमें सर्वत्र वाला-सेवनको वलवर्धक तथा तरुणी-सेवनको वलनाशक कहा गया है। उसका आशय वही है, जो पूर्व कहा जा चुका है। उसका उपयोग शनैः-शनैः करना पड़ता है, कुछ संयम करना पड़ता है। तरुणीके ग्रहणसे उसमें ऊष्मा अधिक होनेसे, उसमें धैर्य न होनेसे वह पुरुषका वल-ग्रहण अधिक करती है, और हानिको पहुँचाती है। जैसे कि—'सुश्रुत-संहिता'में कहा है—'अतिब्रह्मचारिणीं चिरोत्सृष्टां नारी-मत्यर्थमुपसेवमानस्य मेढ्रमागम्य प्रकुपिता दोषाः श्वयथुमुपजन-यन्ति, तमुपदंशमाचक्षते' (निदानस्थान १२।७) तव कामी पुरुष उसका दास हो जाता है।

(झ) ऋतुकालके अनन्तर स्त्रियोंमें वेग हुआ करते हैं, उस समय यदि वह विवाहिता न होगी, तो उसे उन वेगोंको रोकना पड़ेगा, तव हानि होती है। जैसे कि—चरक-संहिताके निदान-स्थानमें कहा है—'वेगान् उदीर्णान् उपरुन्धत्याः...क्षिप्रं वातः प्रकोपमापद्यते' (३।१९) (उद्गत हुए वेगोंको रोकनेपर लड़कीमें वायुका प्रकोप हो जाता है)। इसी प्रकार उसीके चिकित्सित-स्थानमें भी कहा है—'ऋतौ अनाहारतया भयेन, विरूक्षणै-र्वेगविनिग्रहैश्च। संस्तम्भनोल्लेखनयोनिदोषैर्गुल्मः स्त्रियं रक्तभवो

ऽभ्युपैति' (५।१६)। इस प्रकार चिरकौमारधारण करनेवाली लड़कियोंके प्रदर, योनिकाठिन्य, सिफलिस, तसन्नुज, इत्यादि नामोंसे प्रसिद्ध दोष हुआ करते हैं। ये रोग ऋतु-विकारसे होते हैं। ऋतु-शुद्धि पुरुष-संयोगके विना नहीं होती। कन्याके विवाहमें देरी होनेपर ऋतु-शुद्धि कैसे हो?

(ञ) ऋतुमती हो गई हुई स्त्री नर-कामा हो जाया करती है, उसको स्वप्न भी इसी प्रकारके आते हैं, तव विवाहिता न होनेसे पति-निकटता न होनेके कारण हानि हुआ करती है। जैसे कि 'सुश्रुत-संहिता'में कहा है—

'ऋतुस्नाता तु या नारी स्वप्ने मैथुनमाचरेत्। आर्तवं वायुरादाय कुक्षौ गर्भं करोति हि। मासि मासि विवर्धेत गर्भिण्या गर्भलक्षणम्। कललं जायते तस्या वर्जितं पैतृकैर्गुणैः (अस्थ्यादिभिः)। सर्प-वृश्चिक-कूष्माण्डविकृताकृतयश्च ये। गर्भा-स्त्वेते स्त्रियाश्चैव ज्ञेयाः पापकृता भृशम्' (शारीर-स्थान ४३।४६)।

यही बात 'भावप्रकाश' गर्भप्रकरण ६३ पद्यमें भी कही गई है। (अर्थात् ऋतुस्नाग जव सपनेमें भी मैथुन सोचती है; तव उसका ऋतु गर्भाशयमें जा पड़े; तो उसे गर्भ हो जाता है; और उसमें उससे हड्डीके बिना लोथड़े पैदा हो जाया करते हैं, क्या इससे कुमारियोंकी हानि नहीं?'

(ट) इसी प्रकार ऋतुमतीत्वमें मैथुनेच्छाके स्वाभाविक होनेसे, जैसे कि—'जायेव पत्ये उशती सुवासाः' (ऋ. १०।७१।४) (वेदके इस मन्त्रमें ऋतुकालमें स्त्रीकी पतिकी कामना कही गई

है।) अविवाहितात्वमें पति न होनेसे 'यदि पुंसां गतिर्ब्रह्मन्! कथञ्चिन्नोपपद्यते। अप्यन्योन्यं प्रवर्त्तन्ते नहि तिष्ठन्ति भर्तृषु' (महाभारत अनुशासन पर्व ३८।२२) देखिये इसकी नीलकण्ठी टीका-'कृत्रिमं लिङ्गं निर्मायेति शेषः'। 'जारं न कन्या' (ऋ.सं. ६। ५६। ३) इत्यादि वेदशास्त्रानुसार दशा उपस्थित हो जाया करती है। इसका अर्थ लिखना उचित नहीं। अधिक-वयस्क कन्याओंके अपहरण वा स्वयं भाग जाने की घटनाएं एतदादि-मूलक ही हुआ करती हैं।

ला० लाजपतिराय-प्रणीत 'दुखी-भारत'के २३३ से २३५ पृष्ठ तक अविवाहित १४-१५ वर्षकी आयुकी लड़कियोंके दुश्चरित दिखलाये गये हैं।

(ठ) तब अधिक-वयस्क कन्याओंके विवाहमें कितनी हानि सिद्ध हुई। 'सुश्रुत'में भी 'महाभारत'के ऊपर कहे पद्यके अर्थको संकेतित किया गया है—'यदा नार्यौ उपेयातां वृषस्यन्त्यौ कथञ्चन। मुञ्चन्त्यौ शुक्रमन्योन्यमनस्थिस्तत्र जायते' (शारीर स्थान २। ४३) एतदादिक कारणोंसे सुश्रुत-संहिताके गर्भाधाना-भिधायक पद्यमें भी 'ऊनद्वादशवर्षायां' पाठ सुश्रुताभिमत है। विवाहाभिधायक सूत्रमें तो 'द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत्' (शारीर-स्थान १०।५३) यह पाठ तो प्रत्यक्ष है ही, और सुश्रुतको अभिमत है ही।

(ड) जैसे कुनाइन आदि दवाइयाँ विदेशों की हैं, विदेशी ही प्रकृतिके अनुकूल हैं, हमारे देशमें परिणति-हानिप्रद हैं,

उनका सेवन ठीक नहीं, वैसे ही लड़कीको बहुत वर्षों तक अविवाहित रखना शीतदेशताके कारण विदेशोंमें भले ही अनुकूल हो, पर इस देशकी प्रकृतिके अनुकूल नहीं। तब क्या हम विदेशोंके नक्काल बनकर अपनी आयुर्वेदकी संहिताओंमें भी तदनुकूल परिवर्तन करते फिरें? जब विदेशी चले गये हैं, तब उनकी प्रकृतिको भी हमें पार्सल करके वहीं भेज देना चाहिये।

(७) 'सुश्रुत-संहिता'में लिखा है—'षोडशसप्तत्योरन्तरे मध्यमं वयः। तस्य विकल्पो वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता हानिरिति' (सूत्रस्थान ३५।२६) यहां पर १६ से ७० वर्षके अन्दर-अन्दर मध्यम अवस्था मानी गई है। इसी मध्यम अवस्थाके वृद्धि, यौवन, सम्पूर्णता, हानि ये अवान्तरभेद कहे गये हैं। उसमें १६ वर्षसे लेकर २० तक वृद्धि (आ विंशतेर्वृद्धिः) २१ से ३० तक यौवन (आत्रिंशतो यौवनम्) (पाठान्तरमें—'आ षोडशाद् वृद्धिः आपञ्चविंशतेर्यौवनम्' जन्मसे १६ वर्ष तक वृद्धि अवस्था और २५ तक यौवन होता है)। ३१ से ४० वर्ष तक सम्पूर्णता (आ चत्वारिंशतः सर्वधात्विन्द्रियबल-सम्पूर्णता) ४१ से ७० तक हानि (अत ऊर्ध्वम् ईषत् परिहाणिर्यावत्-सप्ततिरिति) अवस्था मानी गई है। यहाँ पुरुषका यौवन २१ से ३० तक माना गया है। पाठान्तरमें १६ से २५ तक पुरुषका यौवन माना है।

२५ वर्षीय पुरुष और १६ वर्षीय स्त्रीकी सूत्र स्थानीय ३५।१३ वचनसे समवीर्यता बताई गई है। २५ वर्ष पुरुषकी यौवनकी मध्यमावस्था है; तब स्त्रीकी १६ वर्ष यौवनकी मध्यमावस्था हुई।

पुरुषके यौवनका २१ से प्रारम्भ माना गया है; उस गणनासे स्त्रीका भी यौवन १२ वर्षसे माना जावेगा। तब 'सुश्रुत'में 'द्वादशवर्षा पत्नीमावहेत्' 'ऊनद्वादशवर्षायाम्' यह पाठ सुश्रुताभिमत ही सिद्ध हुए।

(क) सोलह-चौबीस वर्षकी युवति ही अपने अनुकूल पतिको ढूँढ़ सकती हैं, यह विचार-धारा तो अँग्रेजी प्रसाद है। दूसरेके स्वभाव एवं चरित्रका परीक्षण कोई सुगम कार्य नहीं। उसमें दूरदर्शी भी संशयमें पड़ जाते हैं। 'विषरस भरा कनक घट जैसे' झट परीक्षित नहीं हो सकता है? उस समय तो इन्द्रिय-वृत्ति प्रवल होती है, अनुराग एकदम उन्मुख होता है। दूसरेकी प्रकृतिके परीक्षणमें जिस धैर्य, विवेक एवम् अनुभवकी अपेक्षा रहा करती है, वे उस समय अकर्मण्य होते हैं। एक सुतीक्ष्ण कटाक्ष, तथा मृदु मधुर हास्य और कुछ अङ्गलावण्य तब एकदम मनको अधिकृत कर लेते हैं। उस समय स्वभाव-चरित्र आदियोंकी परीक्षाका अवसर ही नहीं मिलता। उस अवस्थामें कामभावके आधिक्यसे सात्त्विक प्रेमका प्रभाव चित्तसे हट जानेकेकारण चित्तका मार्दव नष्ट हो जाता है। उस समय प्रकृति वहुपुरुषभावभावित होनेसे एकमें स्थिर नहीं हो सकती। पिताके घरमें स्वतन्त्रता अधिक और लज्जा कम होनेसे अधिक आयुमें पतिके वश होना और लज्जाशील होना दुःशक हो जाता है। उससें कई कुचेष्टायें हो जाती हैं, सास-ससुरसे भी नहीं शरमाती हैं।

(ख) पुरुष अङ्गी होता है और स्त्री अङ्ग। अङ्गी मुख्य होता है, अङ्ग गौण। अङ्गाङ्गिता होनेसे एकता होती है। दोनों अङ्ग या दोनों अङ्गी हों, तो पार्थक्य हो जाता है, एकता नहीं। इस प्रकार दोनोंका साम्यवाद पृथक् कर देनेवाला, तथा परस्पर विवाद वढ़ानेवाला होता है। जिस देशमें लड़कीके अधिक आयुमें विवाहका नियम होता है, वहाँ पति-पत्नीका अङ्गाङ्गिभाव लुप्त हो जाता है। वहीं विवाहोच्छेद प्रथा भी जारी हो जाती है। यदि उस अधिक आयुमें सम्यक्तया स्वभावादिकी परीक्षा तथा परस्पराभिलाषिततामूलक शान्ति होती, तो इङ्गलैण्ड आदिमें प्रचुर मात्रामें विवाहोच्छेद क्यों होते? इस देशमें भी उन हानियोंको क्यों आमन्त्रित किया जा रहा है? अपने आयुर्वेदका अनुसरण ही श्रेयरकर है। आयुर्वेदने इन सब हानियोंको लक्ष्य करके ही जनताको आदेश दिया था कि—

'अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत्' (सुश्रुत-शारीरस्थान १०।५३)। तदनुकूल ही सुश्रुत को—

'ऊनद्वादशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्। यद्याधत्ते पुमान गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते। जातो वा न चिरं जीवेद् जीवेद् वा दुर्वलेन्द्रियः। तस्माद् अत्यन्त-बालायां गर्भाधानं न कारयेत्' (शारीरस्थान १०।५४-५५)

यही पाठ इष्ट था, यह 'आलोक'के पाठकोंने अनुभव किया होगा। जो लोग 'ऊनषोडशवर्षायां' यही पाठ रखना चाहते हैं, वे 'तस्माद् अत्यन्त-बालायां' यह तृतीय-चतुर्थ पाद नहीं रखते, पर यह चतुर्थ पाठ बहुत प्रसिद्धहै; अतः तदनुसार प्रथम पाठमें भी 'ऊनद्वादशवर्षायाम्' ही पाठ वास्तविक है-यह सिद्ध हो गया।

(६) सुश्रुतमें कन्या-विवाहावस्था।

पाठकों ने 'सुश्रुतमें कन्यागर्भाधानावस्था' विषय देख लिया; अब उनके आगे 'सुश्रुतमें कन्याविवाहावस्था' यह विषय उपस्थित किया जाता है। इन दोनों ही विषयों पर पाठक गम्भीर दृष्टि डालेंगे।

(१) 'सुश्रुत-संहिता' शारीर-स्थानमें दसवें अध्यायमें संस्कारोंका निरूपण आया है। आरम्भमें उसमें गर्भिणीके प्रथम दिवससे लेकर प्रसव तक (१०।३-८) उसके कर्त्तव्य बताये गये हैं। फिर बच्चेका जातकर्म तथा रक्षाविधान करके नामकरण आदिसे विद्या-ग्रहण तकका वर्णन किया गया है (१०।५२)। फिर 'अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत् पित्र्य-धर्मार्थकामप्रजाः प्राप्स्यति' (१०।५३) यहां पर पुरुषकी विवाह-की आयु २५ तथा कन्याकी वैवाहिक आयु बारह वर्षकी आदिष्ट की गई है। 'सुश्रुत-संहिता'के सब संस्करणोंमें यही पाठ है, पर आज कल कई महाशय उसमें परिवर्तन करने लग गये हैं। 'द्वादशवर्षां' के स्थानमें 'षोडशवर्षां' पाठ करने लग गये हैं।

पूर्वपक्ष—उन महाशयोंका यह अभिप्राय है कि—'द्वादशवर्षां' यह पाठ ठीक नहीं, क्योंकि—वह सुश्रुतसे विरुद्ध है। 'षोडश-वर्षां पत्नीमावहेत्' यही पाठ ठीक है, क्योंकि इसका अग्रिम पद्य 'ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्' (१०।५४-५५) यह है, इसमें २५-१६ वर्षका अनुपात बताया गया है। 'पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे। समत्वागतवीर्यौ तौ' (सुश्रुत०

सूत्रस्थान ३५।८) इस पद्यमें भी पच्चीस वर्षके पुरुषका सोलह वर्षकी स्त्रीसे संयोग बताया गया है। प्राचीन संस्करणोंमें 'षोडश-वर्षां पत्नीमावहेत्' यही पाठ था, यह बात संवत् १९४७में प्रकाशित श्रीविश्वेश्वरानन्द स्वामीसे प्रणीत 'पुरुषार्थ-प्रकाश'-ग्रन्थ से मालूम होती है। उसमें युवति-विवाह समर्थनमें यही वचन 'षोडशवर्षां पत्नीमावहेत्' इस रूपमें उद्धृत किया गया है। विवाह-कालमें कन्याके बारह वर्षका निर्धारण करने पर और पुरुषके पच्चीस वर्षका निर्धारण करने पर सुश्रुतके गर्भाधान-प्रतिपादक वचनमें भी 'पञ्चविंशति'के स्थान 'एकोनत्रिंशत्' ही पाठ होता, क्योंकि लड़कीका विवाह हुआ १२ वें वर्षमें, गर्भा-धान हुआ १६वें वर्षमें, तो पच्चीसवें वर्षमें विवाहित पुरुष भी ४ वर्षके बाद २९ का हो जायगा। अतः 'द्वादशवर्षां' पाठ ठीक नहीं। 'षोडशवर्षां' पाठ होनेपर १६-२५ वर्षमें विवाहित कन्या और पुरुषका उसी अवस्थामें गर्भाधान हो जायगा, तब 'ऊन-षोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्' इस गर्भाधान-प्रतिपादक वचनकी पूर्वोक्त वैवाहिक-सूत्रसे ठीक संगति लग जायगी। विवाहका प्रयोजन ही 'पित्र्यधर्मार्थकामप्रजाः प्राप्स्यति' यह बताया गया है, अतः 'अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय षोडशवर्षां पत्नीमावहेत्' यही सुश्रुतसंहिताका पाठ है।'

उत्तरपक्ष—

(२) हम भी 'आलोक'-पाठकोंके समक्ष अपने विचार उपस्थित करते हैं, सुश्रुतसंहिताकी सभी पुस्तकोंमें 'अथास्मै

पञ्चविंशतिवर्षाय द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत्' यही पाठ है, और वह ठीक भी है। आयुर्वेद दृष्टशास्त्र होता हुआ भी अदृष्ट-शास्त्र वेद, स्मृति, पुराण आदिका सर्वत्र अनुवर्तन करता है-यह प्रत्यक्ष है। स्मृति आदि शास्त्रोंमें कन्याका विवाह ऋतुकालसे पूर्व ही कहा है। इस विषयमें 'काममामरणात् तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि। न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्' (९।८९) यह मनुस्मृतिका वादिप्रतिवादि-सम्मत वचन भी साक्षी है। इसमें गुणवान् वरकी प्राप्ति हो जानेपर कन्याका ऋतुमतीत्व होनेसे पूर्व ही विवाह सूचित किया गया है। ऋतुकाल 'द्वादशाद् वत्सरादूर्ध्वमापञ्चाशत् समाः स्त्रियाः। मासि मासि भगद्वारात् प्रकृत्यैवार्तवं स्रवेत्'॥ 'तद् वर्षाद् द्वादशादूर्ध्वं याति पञ्चाशतः क्षयम्' (सु. सू. स्थान १४।६) इन प्रमाणोंसे लड़कीके १२ वर्षके वाद कहा है, तब उससे पूर्व वारहवें वर्षमें कन्याके विवाहका उल्लेख उपपन्न ही है।

(३) जव कि वेद, मनुस्मृति, बृहद्यमस्मृति, अङ्गिरः-स्मृति, गौतमधर्मसूत्र, वशिष्ठधर्मसूत्र, देवलस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, वोधायनधर्मसूत्र, व्यासस्मृति, हारीतस्मृति, मानवगृह्यसूत्र, गोभिलगृह्यसूत्र, वृद्धवाग्भट, निर्णयसिन्धु, धर्मसिन्धु, स्मृतितत्त्व, पराशर-माधवीय, मदनपारिजात आदि कन्याका विवाह उसके ऋतुमतीत्वसे पूर्व कहते हैं, तव इनका अनुसरण करनेवाले आयुर्वेदमें भी वारह वर्षकी कन्याका विवाह क्यों न लिखा हुआ हो ?

किसी भी सुश्रुत-संहिताकी पुस्तकमें 'द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत्' यहाँ 'षोडशवर्षां' यह पाठान्तर भी नहीं है। सुश्रुत-संहिता जो निर्णयसागर प्रेसमें छपी है—के प्रथम-द्वितीय संस्करणमें 'द्वादशवर्षां' यह पाठ है, परन्तु उसके तृतीय संस्करणमें किसी संस्कर्ताने 'षोडशदशवर्षां' यह पाठ कर डाला है। यह स्पष्ट प्रक्षिप्त है। संस्कर्ताने 'द्वादश'के स्थानमें 'षोडश' पाठ वदल दिया, पर 'द्वादश'का 'दश' शब्द चुगली खानेकेलिए बच गया। जब कि प्राचीन हस्त-लिखित पुस्तकोंमें 'द्वादशवर्षां' यह पाठ है। उसी तृतीय संस्करणकी टिप्पणीमें भी लिखा है-'द्वादशवर्षां' इतीतरेषु हस्तलिखित पुस्तकेषु' इससे सिद्ध हुआ कि-प्रायशः हस्तलिखित पुस्तकोंमें 'द्वादशवर्षां' ही पाठ है। तव मुद्रित पुस्तकोंमें किसीने पाठ परिवर्तित कर दिया, यह स्पष्ट ही है। यह संस्कर्ताका स्वैराचार है। वह लड़कीका १२वें वर्षमें सुश्रुत-प्रोक्त विवाह न माने, यह उसकी इच्छा पर है, पर उसका यह अधिकार नहीं कि-प्राचीन पाठको ही वदल दे, यह उसकी अनधिकार-चेष्टा है।

(४) अव शेष प्रश्न यह रहता है कि-'यदि २५ वर्षके पुरुषका १२ वर्षकी स्त्रीके साथ विवाह होगा, तव स्त्रीका गर्भाधान १६ वर्षमें अभ्यनुज्ञात होनेसे, ४ वर्षके बाद १६ वर्ष लग जाने पर पुरुषकी उस समय २९ वर्षकी अवस्था हो जायगी। तव 'ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्' इस सुश्रुत-वचनका अन्वय नहीं लग सकेगा'। पर यह विरोध उनकी दृष्टिमें रहता है जो दयानन्दी दृष्टिकोणसे देखते हैं। वस्तुतः विवाह और गर्भाधान

ये दो भिन्न-भिन्न संस्कार हैं, और भिन्न-भिन्न कालीन हैं। विवाहका काल ऋतुकालसे कुछ पूर्व हुआ करता है; और गर्भाधानका काल ऋतुकालमें होता है।

गर्भाधानाभिधायक वर्तमानमें प्राप्त पद्यमें पति-पत्नी दोनोंका नौ वर्षका अन्तर सुश्रुतने आवश्यक नहीं बताया। उसका तो यह भाव है कि-गर्भाधानके समय स्त्री १६ वर्षसे कम न हो, और पुरुष गर्भको आहित करनेके समय २५ वर्षसे कम न हो, नहीं तो गर्भ नहीं होता, अथवा उसमें दुर्बलेन्द्रियता होती है। इससे पति-पत्नीकी उक्त वर्षोंसे न्यूनता ही निषिद्ध है, अधिकता निषिद्ध नहीं; और न नौ वर्षोंका अन्तर नियमित है, अन्यथा 'ऊन-षोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्'में 'ऊन-अप्राप्त' शब्द न होते।

(५) इसका यह आशय नहीं है कि—'विवाहके समय यदि पुरुष २५ वर्षका है, और स्त्री १२ वर्षकी है, ४ वर्षके बाद स्त्री यदि १६ वर्षकी हो जावे, और पुरुष २९ वर्षका हो जावे, तब पुरुष उस स्त्रीमें गर्भाधान करे, तो उसमें गर्भ ही आहित न होगा, अथवा उसकी सन्तान दुर्बलेन्द्रिय होगी। उस पद्यका यह आशय कदापि नहीं, यह पद्य तो गर्भाधानमें १६ वर्षसे स्त्रीकी, २५ वर्षसे पुरुषकी न्यूनता ही निषिद्ध कर रहा है। उक्त पद्य न उतनी गर्भावस्थाका नियमन कर रहा है, न ९ वर्षोंका अन्तर अनिवार्य बना रहा है। नहीं तो फिर इस अन्तरके न होने पर गर्भ ही आहित न होवे, अथवा उस अन्तरके न होने पर अर्थात् पुरुषकी २९ वर्षकी अवस्थामें और

स्त्रीकी १६ वर्षकी अवस्थामें पारस्परिक संयोग होने पर उत्पन्न सन्तानें सदा दुर्बलेन्द्रिय वाली ही हों! जो दम्पति विवाह करते हैं, क्या उनका परस्पर ९ वर्षका अन्तर होता है? यदि नहीं, तब तो वादियोंके सिद्धान्तानुसार गर्भ होने ही बन्द हो जावें। यदि सृष्टि नहीं रुक रही, दुर्बलता भी नहीं दीख रही, इससे स्पष्ट है कि-यह अनुपात अनिवार्य नहीं। वाग्भटमें तो २० वर्षके पुरुष और १६ सालकी लड़कीका संयोग कहा है।

नहीं तो फिर सुधारकोंको १४ वर्षकी पत्नी तथा १८ वर्षके पतिके विवाहके आदेष्टा 'शारदाबिल' का भी विरोध करना चाहिये, क्योंकि-उसमें सुश्रुत-सम्मत अन्तर नहीं। यदि सुधारकोंके अनुसार 'शारदाबिल'में न्यूनताका निषेध है, अधिकताका नहीं, और उसमें १४-१८ वर्षके अनुपातका नियमन नहीं, वैसे ही सुश्रुतोक्त गर्भाधानाभिधायक पद्यमें भी न्यूनताका ही निषेध है, अधिकताका नहीं, और १६-२५ वर्षोंका नियमन भी इष्ट नहीं। तभी तो उस पद्यमें 'ऊनषोडशवर्षा' 'पञ्चविंशतिमप्राप्तः' यहाँ पर 'ऊन-अप्राप्त' शब्द प्रत्यक्ष हैं।

(६) सुश्रुतोक्त अनुपातमें अनिवार्यता तथा उससे भिन्नतामें गर्भ आहित न मानने पर दयानन्दियोंको अपने स्वामीसे आदिष्ट वैवाहिक अनुपातके अन्तर खण्डित करने पड़ेंगे। प्रथम संस्कार-विधिमें स्वा.द.जीने लिखा है—'स्त्रीसे पुरुषकी आयु दो गुणा, अढ़ाई गुणा, वा ड्योढ़ा उमरवाला पुरुष होवे, तो उसके साथ विवाह कर अर्थात् १६ वर्षकी कन्याको ३२

वर्षका पुरुष, १८ वर्षकी कन्या होय, तो ३६ वर्षका पुरुष, २० वर्षकी कन्या हो तो ४० वर्षका पुरुष, एवं २४ वर्षकी कन्या हो तो ४८ वर्षका पुरुष, इसी प्रकार अढ़ाई गुणा और ड्योढ़ा भी समझ लेना (पृ. ६६-६७)। द्वितीय स.प्र.के ४८ पृ.में १८-३०, २०-३५, २०-४०. २४-४८ यह स्त्री-पुरुषका वैवाहिक अनुपात लिखा गया है। तब इन अनुपातोंमें भी दयानन्दियोंको गर्भका अभाव और सन्तानमें दुर्बलेन्द्रियता माननी पड़ जावेगी ?

(७) इसके अतिरिक्त स्वा.द.जीने सृष्टिके आरम्भमें एक समयमें ही पति-पत्नियोंकी उत्पत्ति मानी है, ऐसा होनेपर जब उनका विवाह हुआ, तब उनकी समान अवस्था ही सिद्ध हुई। फिर भी जब उनकी सन्तानें हुईं, उनसे सिद्ध है कि-सुश्रुतोक्त अनुपात अनिवार्य नहीं। स.प्र.के १४ समुल्लास ३७५ पृष्ठमें स्वामीने लिखा है-'यदि बराबर अवस्थावाली सुहागिन स्त्रियां पतिको पाके बहिश्तमें रहती हैं तो ठीक नहीं हुआ, क्योंकि स्त्रियोंसे पुरुषका आयु दूना, ढाई गुना होना चाहिये' इससे भी सुश्रुतोक्त उक्त (१६।२५) अनुपात स्वा.द.जीसे भी विरुद्ध सिद्ध हुआ। तब सुश्रुतने पुरुषकी आयु जो २५ वर्षकी कही है, जिसमें किसी भी वादी-प्रतिवादीकी विप्रतिपत्ति नहीं, उस अनुपातके अनुसार स्त्रीकी आयु १२ वर्षकी होनी चाहिये। तब 'अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत्' (शारीर. १०।५३) 'ऊनद्वादशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्' (१०।५४-५५) यह प्राचीन पाठ युक्त ही सिद्ध हुआ।

(८) 'पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे' इस पद्यमें १६-२५ के स्त्री-पुरुषोंका संयोग बताया गया है, ऐसा वादीका कथन तो निर्मूल है, क्योंकि-सुश्रुतके इस पद्यमें पति-पत्नीके विवाह वा संयोगका तो गन्धमात्र भी नहीं है, न ही प्रकृतस्थलमें वैसा प्रकरण है। इसमें तो १६ वर्षकी स्त्री तथा २५ वर्षके पुरुषकी समवीर्यता समान-बलता कही है, जिसमें इस अवस्थाके स्त्री-पुरुषोंको औषधिकी मात्रा समान देनी चाहिये-यह संकेत मिलता है, विवाह वा गर्भाधानका नहीं। 'समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक्' (सुश्रुत ३५।१३) यह भिषक्की प्रेरणा भैषज्यकेलिए है, विवाह वा गर्भाधानका वैद्यसे कोई सम्बन्ध नहीं। भैषज्यमें भिषक्को स्त्री-पुरुषोंका बलाबल देखना पड़ता है, इसलिए ही उसे यहां वैसी प्रेरणा दी गई है। गर्भाधान समवीर्यतामें नहीं हुआ करता, प्रत्युत समवीर्यतामें गर्भ आहित करने पर नपुंसकी उत्पत्ति सम्भव है-यह आगे कहा जायगा।

यदि वादियोंके अनुसार १६-२५ वर्षोंका अनुपात अनिवार्य होता, तो 'उत्तरां प्रतिगृह्णातु सव्यसाची धनंजयः। अयं ह्यौपयिको भर्ता तस्याः पुरुषसत्तमः' (विराटपर्व ७१।३४) जो उत्तरा अर्जुन-को दी जा रही थी, वह उसके पुत्र अभिमन्युको क्यों दी गई ? 'अभिमन्युर्महाबाहुः पुत्रो मम विशां पते! जामाता तव युक्तो वै भर्ता च दुहितुस्तव' (७२।६) क्या अर्जुन-अभिमन्यु दोनोंकी समान अवस्था थी ? अथवा अभिमन्युके योग्य वह अर्जुनको क्यों दी जा रही थी ? देवयानी कचसे विवाह चाहती थी; फिर

उसका राजा ययातिसे विवाह हुआ? क्या कच और ययातिकी बराबर आयु थी? इससे स्पष्ट है कि–इस ६ वर्षके अनुपातकी विवाह वा गर्भाधानमें अनिवार्यता नहीं। वह अनुपात उत्तरा-अभिमन्युमें था भी नहीं। उत्तरा १२ वर्षकी थी, अभिमन्यु १६ वर्षका था, तो क्या उनकी सन्तान नहीं हुई? अथवा क्या उसका पुत्र परीक्षित् दुर्बलेन्द्रिय था? यदि ऐसा नहीं, तब कन्याकी विवाहावस्था सुश्रुतप्रोक्त १२ वर्षकी ही ठीक है, गर्भाधान चाहे उसका १६ वर्षमें ही हो। क्योंकि–विवाह तथा गर्भाधान दोनों संस्कार भिन्न-भिन्न हैं और भिन्न-भिन्न कालीन हैं। इसी कारण वृद्ध वाग्भटने भी कहा है–'पुमानेकविंशतिवर्षः कन्यां द्वादशवर्षदेशीयामुद्वहेत्'। द्वादशवर्षदेशीयामें देशीयर् प्रत्यय है. और वह यहाँ साभिप्राय है। उसका अर्थ है १२ वर्षसे कुछ कम, १२ वर्ष उसके पूर्ण न हो चुके हों। उसका तात्पर्य यह है कि–चार वर्षके बाद पुरुष २५ का हो; और स्त्री पूरी १६ वर्षकी न हो, कुछ कम हो। तब पति-पत्नीकी समवीर्यता न होनेसे, पुरुषकी अपेक्षा स्त्रीकी कुछ अल्पवीर्यता होनेसे क्लीव सन्तति उत्पन्न न होगी।

(६) इसमें यह व्याज नहीं किया सकता कि २५ वर्षका पुरुष चार वर्ष तक संयम न कर सकेगा। जबकि प्रश्नकर्ताके नेता स्वामी दयानन्दजी पुरुषका ४८ वर्ष तक भी संयम कराते हैं, तो पच्चीस वर्ष तक संयम किये हुए पुरुष क्या चार वर्ष तक ही संयम न कर सकेगा? इसी कारण देशमें द्विरागमनकी प्रथा

भी होती है। २५ वर्षके बाद ४ वर्ष तक जिसके असंयम.. शङ्का है; वह २५ वर्ष तक ही संयमी रहा होगा, इसका ही .. निश्चय है? "विवाह होने पर ही असंयमकी शङ्का बनी रह.. है, अविवाहितत्वमें नहीं", ऐसा कथन भी निर्बल है। क्या .. आशङ्का करनेवाले अविवाहित वा स्त्री-हीन पुरुषोंको संय.. मानते हैं? क्या उनके श्रोत्रपथमें 'परकीयासु दोषोऽति स्वकी.. नैव विद्यते। प्रशस्ता तेन साधूनामुपास्या कर-सुन्दरी' यह सुन्द.. नहीं आई है? जिन्होंने इस सुन्दरीको अपना लिया है वे अविवाहमें भी असंयमी हो सकते हैं। जिन्होंने उसे अ.. नहीं किया है, वे विवाहमें भी संयमी हो सकते हैं। केव.. स्त्रीसे वाह्यविनोद तथा प्रेमवर्द्धन ही उनका कृत्य होगा।

'गर्भाधानसे रहित विवाहसे क्या लाभ है', यह आक्षेप .. ठीक नहीं, 'आवसथ्याधानं दारकाले' (पारस्करगृह्यसूत्र १।२।१) अग्निहोत्रधर्मका ग्रहण उस समय चरितार्थ हुआ करता है इसके अतिरिक्त विवाह होता ही पवित्र प्रेमका आदर्श है वह प्रेम विना ग्राम्यधर्मके भी हो सकता है। ग्राम्यधर्म तो स्वार्थमात्र है। नहीं तो यदि विवाहित होकर आई हुईसे मैथुन कर लेना ही प्रेम समझा जायगा, तो महान् अनर्थ हो जायगा। इस विषयमें हम पूर्व प्रकाश डाल चुके हैं।

यह सब कुछ हमने 'ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्' इस सुश्रुतके प्रचलित पाठको अवलम्बित करके लिखा है। वस्तुतः 'सुश्रुत'को 'ऊनद्वादशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्' यही

पाठ इष्ट है। इस विषयमें हम गत निबन्धमें 'सुश्रुतमें कन्या-गर्भाधानावस्था' विषय उपस्थित कर ही चुके हैं। जो लोग 'ऊनषोडशवर्षायां' ही पाठ मानते हैं, वे 'तस्माद् अत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्' यह उपसंहारका पद्यांश नहीं पढ़ते। पर यह उपसंहारांश बहुत प्रसिद्ध है, तब उसके अनुरोधसे सुश्रुतोक्त पाठ भी 'ऊनद्वादशवर्षायां' ही वास्तविक है।

(१०) जबकि स्त्रीके गर्भाधानावस्था-प्रतिपादक पद्यमें ही 'ऊनद्वादशवर्षायां' पाठ है, तब कन्या-विवाह सूत्रमें 'अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत्' (शारीर. १०।५३) यही पाठ स्वतः सिद्ध हुआ। जो लोग 'षोडशवर्षां पत्नीमावहेत्' यह पाठ 'द्वादशवर्षां' के स्थानमें कल्पित करते हैं, उनका यह आशय है कि विवाह युवतिका होता है, बालाका नहीं। अतः इसी लक्ष्यसे वे लोग १७ वर्षसे लेकर २४ वर्ष तककी लड़कीका विवाह मानते हैं, इसलिए ही यहाँपर भी 'षोडशवर्षां पत्नी-मावहेत्' पाठ प्रक्षिप्त करते हैं, पर 'भक्षितेपि लशुने न शान्तो व्याधिः' इस न्यायसे उनका यह परिश्रम जहाँ अवैध है, वहाँ व्यर्थ भी है, क्योंकि–स्त्रीका १६वाँ वर्ष भी उनके इष्ट प्रमाणोंके अनुसार बाल्य है। जैसे कि–'बालेति गीयते नारी यावद् वर्षाणि षोडश। ततस्तु तरुणी ज्ञेया द्वात्रिंशद्-वत्सरावधि' (भावप्रकाश पूर्वखण्ड ऋतुप्रकरण २७७ श्लोक) 'षोडशवार्षिकं यावद् बाल्यं तावत् प्रवर्तते' (हारीत-संहिता शारीरस्थान)। तब १६ वर्षमें लड़कीका विवाह भी बाल्यविवाह ही हुआ, तब १७–२४ वर्षमें

लड़कीका विवाह तो निषिद्ध ही हुआ; बल्कि आयुर्वेद तो तरुणीका विवाह निषिद्ध करता है जैसे कि–भावप्रकाशमें कहा है। 'नित्यं बाला सेव्यमाना नित्यं वर्द्धयते बलम्। तरुणी ह्रासयेत् शक्तिं प्रौढोद्भावते जराम्' (पूर्वखण्ड ऋतुप्रकरण २७६)। तब 'द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत्' यह पाठ धर्मशास्त्रानुमोदित होनेके साथ आयुर्वेदानुमोदित भी सिद्ध हुआ।

(११) जो कि यह कहा जाता है कि–सं० १६४७ में छपे हुए 'पुरुषार्थ-प्रकाश'में 'षोडशवर्षां पत्नीमावहेत्' यही सुश्रुतका पाठ श्रीविश्वेश्वरानन्द जी स्वामीने उद्धृत किया है, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि–स्वामी विश्वेश्वरानन्दजीसे पहले के उत्पन्न हुए स्वा.द.जीने अपने स.प्र. तथा 'संस्कार-विधि'में 'ऊनषोडशवर्षायां' यह सुश्रुतका गर्भाधानाभिधायक पद्य, तथा 'पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे' वह २५–१६ वर्षके पति-पत्नीकी समवीर्यताका प्रतिपादक सुश्रुत-पद्य उद्धृत करके भी 'अथास्मै...षोडशवर्षां पत्नीमावहेत्' ऐसा स्त्री-विवाहावस्था प्रतिपादक पाठ कहीं भी उद्धृत नहीं किया। इससे भी स्पष्ट है कि–सं. १६४७ से भी पूर्व सं. १६३२–१६३३ में प्रकाशित 'सुश्रुत-संहिता'में 'द्वादशवर्षामावहेत्' यही पाठ था, जिसे स्वामीने अपने पक्षसे विरुद्ध देखकर उद्धृत नहीं किया। अन्यथा वे अपने पक्ष १६–२५ वर्षके स्त्री-पुरुषके विवाहकी सिद्धिकेलिए दिये हुए 'ऊनषोडशवर्षायां' इस गर्भाधानाभिधायक पद्यके साथ ही ठहरे हुए 'अथास्मै...षोडशवर्षां' इस वादिसम्मत

विवाहावस्थाभिधायक पाठको अवश्य उद्धृत करते। पर स्वा.द.जीने सुश्रुत-संहिताके शारीरस्थानके प्रकृत स्थलमें 'द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत्' यह स्वपक्ष-विरुद्ध पाठ देखकर एक 'ऊनषोडशवर्षायां' यह गर्भाधानाभिधायक शारीरस्थानका पद्य लिखकर, फिर उसके साथ लिखे 'द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत्' इस विवाहाभिधायक शारीरस्थानके पूर्व अभ्यहित सुश्रुत-वचनको अपने विरुद्ध होनेसे न लिखकर सुश्रुतके सूत्रस्थानकी ओर दौड़ लगाई, और वहाँका 'पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे' (३५।१३) यह वचन जिसका स्त्री-पुरुषकी विवाहावस्थासे कोई सम्बन्ध नहीं था—उद्धृत कर दिया, उसका बलात् विवाहावस्थासे सम्बन्ध कर दिया। इससे स्पष्ट है कि-श्रीविश्वेश्वरानन्द स्वामीने ही 'द्वादशवर्षां पत्नीं' के स्थानमें 'षोडशवर्षां' पाठ कल्पित कर दिया। उसीको देखकर आजकलके सुधारकोंने भी सुश्रुतसं.में परिवर्तन कर दिया हैं।

(१२) इस प्रकार आह्निकसूत्रावलीमें भी 'द्वादशवर्षां पत्नी-मावहेत्' (अष्टाङ्गभागकृत्यानि पृ. २२६) यही पाठ श्रीधन्वन्तरि के नामसे उद्धृत किया गया है। (ख) वृद्ध वाग्भट भी यही साक्षी दे रहा है कि-'पुमानेकविंशतिवर्षः कन्यां द्वादशवर्ष-देशीयाम्...उद्वहेत्'। इस साक्षीसे भी 'द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत्' यही पाठ सुश्रुतसंहितामें था। (ग) श्रीघाणेकरने सुश्रुत-संहिता पर उत्तम व्याख्या की है, उस (प्र.सं.) में भी यही पाठ है। (घ) श्रीमुरलीधर कृत टीका वाली सुश्रुतसं.में भी यही पाठ है।

(ङ) मोतीलाल बनारसीदासकी छपवाई हुई मूल 'सुश्रुत-संहिता' में भी यही पाठ है। (च) भास्कर-प्रकाश ४र्थ समुल्लासमें भी श्रीतुलसीराम स्वामीने 'द्वादशवर्षा' पाठ कन्या-विवाहावस्थामें माना है। यदि आजकलके अर्वाचीन संस्करणोंमें कई "षोडशवर्षा' पाठ रख रहे हैं, इसके उत्तरदायी वे ही हैं, उसका सुश्रुतकर्तासे कोई सम्बन्ध नहीं।

(च) चरक-संहितामें कहा है—'नर्ते वै षोडशाद् वर्षात् सप्तत्याः परतो न च। आयुष्कामो नरः स्त्रीभिः संयोगं कर्तुमर्हति' चिकित्सास्थान २।४० चतुर्थपाद) यहाँपर वादि-प्रतिवादिमान्य चरकने १६ वर्षसे पूर्व और ७० वर्षके बाद पुरुषको स्त्री-संगके लिए निषेध कर दिया है। कौटलीय-अर्थशास्त्रमें भी पुरुषके ब्रह्मचर्यकेलिए कहा है-'ब्रह्मचर्यं च आ षोडशाद् वर्षाद्, अतो [ततो] गोदानं दारकर्म च' (१।५) यहाँपर म० म० पं० गणपति शास्त्रीने व्याख्या की है-'षोडशवर्षमभिव्याप्य ब्रह्मचर्यं रक्ष-मिति। अतः पश्चात् गोदानं-केशान्तकर्म, दारकर्म च विवाहश्च'

इस प्रकार जब कम से कम १६ वर्षके पुरुषको चरक तथा कौटल्यने स्त्री-संगकेलिए आदेश दिया है, तो 'वेदानधीत्य वेदौ वा, वेदं वापि यथाक्रमम्। अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रम-माविशेत्' (मनु. ३।२) तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा (मनु. ३।१) 'ग्रहणान्तं वा जीवितस्याऽस्थिरत्वात्' (बोधायन धर्मसूत्र १।३।४) इन प्रमाणोंसे जिसने पादिक ब्रह्मचर्याश्रम किया है, उस १७ वर्षके पुरुषको स्त्री क्या १७-२४ वर्षकी दी जायगी

स्वा.द.जीने भी स.प्र.के तृतीय समुल्लास २५ पृष्ठमें मनुस्मृतिके ३।१ पद्यके व्याख्यानमें पादिक ब्रह्मचर्य पुरुषका ८ वर्षके बाद ६ वर्ष तक माना है, तदनुसार १७ वर्षके पुरुषकी ब्रह्मचर्याश्रमकी समाप्ति हो जायगी। अब उसे विवाह करना है, उसे १७-२४ वर्षकी लड़की भला कैसे दी जा सकती है? वहाँ ११-१२ वर्षीय लड़कीका देना ही सर्वसम्मत होगा?

(१३) वेदसे भी सिद्ध होता है कि-२५ वर्षसे पूर्व भी विवाह हो सकता है—'श्वशुराय शम्भूः' (अथर्ववेदसं. १४।२।२६-२७) तथा अथर्व. (१४।१।४४) के अनुसार बहूका सास-ससुरके ऊपर भी राज्य करना कहा है। इसी तरह 'वधूं प्रतीक्षन्ते स्वशुरो देवरश्च' (अथर्व. १४।१।३६) यहाँपर भी बहूके राज्यमें ससुरकी स्थिति कही गई है।

यदि पुरुषका विवाह केवल २५ वर्षमें ही हो, तो कम से कम दो वर्षोंमें उसका पुत्र होगा। उस समय पिता २७ वर्षका होगा? तब वह पुत्र को आठ वर्ष की अवस्था में (जब कि वह स्वयं ३५ वर्षके लगभग होगा) गुरुकुलमें पठनार्थ भेजे, और पुत्र गुरुकुलमें २५ वर्षतक रहकर घर लौटे, उस समय पिता अपनी पत्नीसहित वानप्रस्थमें होगा। तब २६वें वर्ष पुत्र विवाह करे, उस समय उसके माता-पिताके गृहस्थाश्रममें न होनेसे उसकी स्त्रीके सास-ससुर पास न होनेसे उक्त वेदमन्त्रका कथन व्यर्थ रहेगा। यह गणना है अधम ब्रह्मचर्य (२५ वर्ष) के विवाहमें, और प्रथम लड़केकी। ४८ वर्षके ब्रह्मचर्यमें तथा वेद-सम्मत

१० लड़कोंमें तो भला क्या कहना? इससे स्पष्ट है कि वेदके मतमें १८-१९-२० वर्षमें भी पुरुष का विवाह हो सकता है। तभी तो पादिक ब्रह्मचर्य माना गया है। एक वेदाध्ययन का ब्रह्मचर्य मनुस्मृतिके ३।१-२ पद्योंमें आया है, जिसे स्वा. द. जीने भी अपने स. प्र. के ३य, ४र्थ समुल्लासमें माना है। उस समय विवाह करनेपर पिताके भी गृहस्थाश्रममें होनेसे, बहूका ससुर निकट होनेसे उक्त वेदमन्त्रकी सार्थकता सिद्ध होती है।

(ख) इसी प्रकार 'इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे (ऋ.१०।८५।४२) इस वेदमन्त्रके अनुसार दम्पतीका पुत्र-पौत्रोंसे खेलना कहा है, यदि २५ वर्ष का पूरा ब्रह्मचर्य माना जावेगा, तब दम्पती पौत्रोंसे न खेल सकेंगे, क्योंकि वे वानप्रस्थाश्रममें होंगे। इससे वेदानुसार २५वर्ष से पूर्व भी विवाह हो सकता है, तभी पौत्रोंसे खेलना सम्भव होगा। इस विषयमें 'आलोक' (८) पृ. ४०२-४०६ में स्पष्टता देखिये। इसलिए वाग्भटसंहिता आदि में पुरुष का २०वें वर्षमें भी संयोग लिखा है; तब विवाह उससे पूर्व स्वतः सिद्ध है। चरकका मत हम बता ही चुके हैं।

इस प्रकार जब १८-१९ आदि वर्षोंमें भी उपवेद आयुर्वेद को, तथा उसके वेद अथर्ववेद को पुरुषका विवाह सम्मत है, तो क्या वह १७-२४ वर्षकी कन्यासे विवाह करे? तब सुश्रुत आदि का अनुपात कैसे उपपन्न होगा? उस समय तो उस अनुपातके अनुसार उस पुरुष को ११-१२ वर्ष की लड़की मिलनी चाहिये।

(१४) पुरुषके विवाहकी अवस्थामें स्मृति आदि शास्त्रोंमें जो कि विलम्ब वा शीघ्रता कही गई है, वहाँ पुरुषके वीर्यकी पक्वता-अपक्वतासे सम्बन्ध नहीं हुआ करता। वीर्यपक्वता आदि का सम्बन्ध गर्भाधानसे तो कथञ्चित् हो, पर विवाहसे नहीं है। विवाहमें विलम्बका कारण तो शास्त्रोंमें वेदकी समाप्ति को ही माना है, वेदकी शीघ्र समाप्तिमें विवाह भी शीघ्र कहा गया है, तभी तो 'ग्रहणान्तिक ब्रह्मचर्य' भी माना गया है। इस कारण 'त्रिंशद्वर्षो वहेत् कन्यां' (९।९४) इस मनु-पद्य की व्याख्यामें पुरुषकी ३० वर्षकी अवस्थामें विवाह आदिष्ट करनेमें कारण लिखा है 'एतच्च योग्यकालप्रदर्शनपरम्, नतु नियमार्थम्, प्रायेण एतावता कालेन गृहीतवेदो भवति···गृहीतवेदश्च उपकुर्वाणको गृहस्थाश्रमं प्रति न विलम्बेत इति सत्वर इत्यस्यार्थः। इसी प्रकार 'मीमांसादर्शन'के (६।८।१२ सूत्रके, शावरभाष्यमें भी कहा है—'विद्याग्रहणोत्तर-कालश्च दारसंग्रहः (विवाहः)'। वेद-ग्रहण के निश्चय न होनेसे ही मनुस्मृतिमें पुरुषकी अवस्थाके लिए ३० वर्ष भी आये हैं, २४ वर्ष भी। जब इस प्रकार कहा गया है, तब व र्यपक्वता विवाहकी उपकारक नहीं, किन्तु गर्भाधानकी उपकारक कथञ्चित् हो सकती है। गर्भाधान विवाहसे भिन्न संस्कार है, तथा भिन्नकालीन है। गर्भाधानकी अवस्थामें भले ही मतभेद हो, यद्यपि चरकने तो १६ वर्षीय पुरुषको भी स्त्री-संयोग की आज्ञा दे रक्खी है, यह पूर्व कहा ही जा चुका है, फिर भी विवाहकी अवस्थामें तो विवाद ही व्यर्थ है।

फलतः १२ वर्षमें कन्या-विवाह किसी भी दृष्टिको निन्दित नहीं। सुश्रुतमें कन्याका विवाह ऋतुकालसे पूर्व इष्ट है। अतः वहाँ 'द्वादश-वर्षीयां पत्नीमावहेत्' यही सुश्रुत-सम्मत पाठ है, 'षोडशवर्षां' पाठ नहीं। तभी स्वामी दयानन्दजीने अपने पक्षसे विरुद्ध होनेसे उसे उद्धृत नहीं किया।

(१५) परन्तु स्वा.द.जीके कई चेले-चांटे इस बातको स्वी.का. नहीं करते। वे कहते हैं कि—"स्वामीजीके समय भी सुश्रुतमें कन्याविवाहके विषय"में 'अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय षोडशवर्षां पत्नीमावहेत्' यही पाठ था। 'द्वादशवर्षां' नहीं। इसके प्रमाणस्वरूप वे स्वामीजीकी 'संस्कारविधि' के गर्भाधानप्रकरण ३२ पृष्ठसे निम्न उद्धरण देते हैं "अब देखिये सुश्रुतकार परम वैद्य कि जिनका प्रमाण सब विद्वान् लोग मानते हैं, (सुश्रुतकार) विवाह और गर्भाधान का समय, न्यूनसे न्यून १६ वर्षकी कन्या और २५ वर्षका पुरुष अवश्य होवे, यह लिखा हैं" इससे स्पष्ट है कि स्वामीजीके समयमें भी सुश्रुत-ग्रन्थमें 'षोडशवर्षां पत्नीमावहेत्' यही पाठ था 'द्वादशवर्षां नहीं' (श्री ध.दे. 'श्रीः' में)

हम इस बात पर भी विचार करना चाहते हैं, जिससे स्पष्ट हो जावेगा कि 'सुश्रुतसंहिता' में स्वामीजीके समयमें 'षोडशवर्षां पत्नीं' पाठ था, वा 'द्वादशवर्षां'? 'आलोक'के विज्ञ पाठकगण इसमें ध्यान दें।

यदि सुश्रुतके उक्त स्थलमें 'अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय

'षोडशवर्षां पत्नीमावहेत्' यही पाठ कन्या-विवाह-विषयमें स्वामीजीके समय होता, तब स्वा.द.जी स.प्र. वा 'संस्कारविधि' वा ऋग्वेदादिभाष्यभू. में, वा अन्यत्र कहीं उस पाठको अपने ग्रन्थमें अवश्य उद्धृत करते। परन्तु उन्होंने उसे कहीं भी उद्धृत नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि–उन्हें 'षोडशवर्षां पत्नीमुआवहेत्' यह पाठ सुश्रुतमें प्राप्त नहीं हुआ; किन्तु 'द्वादशवर्षां' ही पाठ मिला, उसे अपने पक्षसे विरुद्ध होनेसे उन्होंने नहीं लिया।

जब स्वामीजीने अपना यह नवीन पक्ष १६ वर्षकी लड़कीके विवाहका प्रकाशित किया था, तब उन्हें इस प्रकारके प्रमाणों की अत्यन्त आवश्यकता थी। तब वे 'षोडशवर्षां पत्नीमावहेत्' वाले प्रमाणको कामधेनु मानकर अवश्य उद्धृत करते, परन्तु उन्होंने उद्धृत नहीं किया, किंतु गर्भाधान के श्लोकोद्धरणमात्रसे ही संतोष कर लिया; इससे स्पष्ट है कि–सुश्रुतमें 'द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत्' यही पाठ था, और अपने पक्षकी हानिके भयसे ही उन्होंने उसे उद्धृत नहीं किया।

(ख) अवशिष्ट प्रश्न यह रह जाता है कि सुश्रुतमें स्वामी-जी को 'द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत्' यह पाठ मिला, 'षोडशवर्षां' नहीं। तो स्वामीजीने फिर यह संस्कारविधिमें वैसे लिख डाला कि–'अब देखिये'''विवाह और गर्भाधान का समय न्यून से न्यून १६ वर्षकी कन्या और २५ वर्षका पुरुष अवश्य होवे', यह लिखते हैं, (गर्भाधानप्र. पृष्ठ ३२) इस प्रश्न पर हम रहस्य बताते हैं यहाँ पर स्वामीजी को गर्भाधानका तो 'ऊनषोडशवर्षायां'

पद्य इष्ट था; वह उन्होंने इस वाक्यके पूर्व उद्धृत कर ही दिया। उसमें १६-२५ वर्षके पुरुषका संयोग प्रत्यक्ष ही है। शेष जो स्वामीजीने विवाहकेलिए भी स्त्री-पुरुषकी १६-२५ वर्षकी आयु लिखी है, उसके लिए उन्हें 'अथास्मै पञ्चविंशति-वर्षाय षोडशवर्षां पत्नीमावहेत्' यही सुश्रुतवचन इष्ट है'–यह कल्पना ठीक नहीं। 'अब देखिये कि–सुश्रुतकार...विवाह और गर्भाधानका समय न्यूनसे न्यून १६ वर्षकी कन्या और २५ वर्षका पुरुष अवश्य होवे यह लिखते हैं। स्वा. दयानन्दजीके 'अब देखिये' इस वाक्यसे सिद्ध हो रहा है कि–उन्होंने इसी स्थानमें १६–२५ वर्षमें विवाह और गर्भाधान बतानेवाले सुश्रुतके वचन उद्धृत कर दिये हैं। सो सोलह-पचीस वर्षमें गर्भाधान बताने वाला वचन तो उन्होंने सुश्रुतका 'ऊनषोडशवर्षायाम्' दिया है, शेष विवाहका १६–२५ वर्ष बतानेवाला सुश्रुत-वचन स्वामीजीने यहाँ पर कौन-सा दिया है–यह द्रष्टव्य है। वह है–इससे पूर्वका 'पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे' यह सुश्रुत-वचन। इसीको स्वामीजीने १६–२५ वर्षके स्त्री-पुरुषोंका विवाह बतानेमें यहाँ प्रयुक्त किया है।

केवल यहाँ क्या; अपनी सभी पुस्तकोंमें स्वामीजीने जहाँ भी १६–२५ वर्षके स्त्री-पुरुषोंका विवाह प्रस्तुत किया है; वहीं सर्वत्र 'पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे' यही सुश्रुत-वचन उद्धृत किया है। शारीरस्थानके 'ऊनषोडशवर्षायां' इस गर्भाधान-प्रतिपादक पद्यको उद्धृत करके १६–२५ वर्षके स्त्री-

पुरुषोंके विवाहके साधनार्थ उसके साथके शारीरस्थानके वचनको उद्धृत न करके उससे बहुत दूरके सूत्रस्थानके 'पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे' (३५।१३) इस वचनको वार-वार उद्धृत करना, उसमें विवाह-प्रकरण न होने पर भी उसे स्त्री-पुरुषोंके विवाहमें बलात् जोड़ना स्पष्ट सिद्ध कर रहा है कि—स्वामीजी को शारीर-स्थानका स्त्री-पुरुषोंके विवाहका बतानेवाला सुश्रुत-वचन 'अथास्मै पञ्चविंशति-वर्षाय द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत्' इस रूपमें मिला था। उससे उन्होंने अपने पक्षकी हानि देखकर अपने सब ग्रन्थोंमें 'पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे' उसी सुश्रुतके वचनको ही स्त्री-पुरुषोंके विवाह-विषयमें बलात् योजित करके आत्म-सन्तोष कर लिया।

(ग) इसीलिए स.प्र.के प्रथम-संस्करण ५१ पृष्ठमें स्वा.द.जीने इस विषयमें बहुत स्पष्टता कर दी है। वहाँ 'पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे। समत्वागतवीर्यौ तौ' यह सुश्रुत-वचन उद्धृत करके लिखा है—'यह सुश्रुतका वचन है, इसका यह अर्थ है कि—१६ वर्षसे न्यून कन्याका विवाह कभी न करना चाहिए, और २५ वर्षसे न्यून पुरुषोंका भी विवाह न करना चाहिये (३ समु.)। इसी प्रकार प्रथम संस्कार-विधिमें भी स्वामीजीने 'पञ्चविंशे ततो वर्षे' इस पद्यको ही १६-२५ वर्षोंकी विवाहावस्था सिद्ध करनेके-लिए उद्धृत किया है। उनके वहाँके यह शब्द हैं—'न्यून-से न्यून १६ वर्षकी स्त्री और २५ वर्ष तकका पुरुष, इससे शीघ्र विवाह न करना, इसमें सुश्रुतका प्रमाण...'पञ्चविंशे ततो वर्षे

पुमान् नारी तु षोडशे' (गृहाश्रम-संस्कार १२० पृष्ठ)।

विवाहावस्था-साधनमें वार-वार जो कि स्वामीजीने 'पञ्चविंशे ततो वर्षे' इस सूत्रस्थानके वचनको दिया है-'अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय षोडशवर्षां पत्नीमावहेत्' शारीर-स्थानका ... वचन स्वामीजीने कही भी उद्धृत नहीं किया, इससे तो अत्यन्त ही स्पष्ट हो जाता है कि—स्वामीजीके समयमें 'अथास्मै पञ्चविंशति-वर्षाय द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत्' यही सुश्रुतका शारीर-स्थानका पाठ था। तब उनके पीछेके स्वा. विश्वेश्वरानन्दजीने जो कि 'षोडशवर्षां पत्नीमावहेत्' यह पाठ दिया है, इससे स्पष्ट है कि स्वा. विश्वे.जीने ही यही पाठ स्वयं प्रक्षिप्त किया है।

(घ) शारीर-स्थानमें 'अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत्' यही पाठ था, इसमें वृद्ध-वाग्भटकी भी साक्षी है। वृद्ध वाग्भटके समय सुश्रुतसं.में २५ वर्षके पुरुषका १२ वर्ष वाली स्त्रीके साथ विवाह तथा 'ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्' इस वचनमें १६ वर्षकी स्त्री तथा २५ वर्षके पुरुषका गर्भाधान वर्णित था। वृद्ध-वाग्भटने इसके समीकरणकेलिए 'पुमानेक-विंशतिवर्षः कन्यां द्वादशवर्षदेशीयामुद्वहेत्' इस अपने वचनमें २१ वर्षके पुरुषका १२ वर्षीया लड़कीके साथ विवाह आदिष्ट किया। फिर 'तस्यां षोडशवर्षायां पञ्चविंशतिवर्षः पुरुषः पुत्रार्थं यतेत, तदा हि तौ प्राप्तवीर्यौ वीर्यान्वितमपत्यं जनयतः' उस अपने वचनमें उन्होंने १२-२१ वर्षके स्त्री-पुरुषोंका ४ सालके बाद १६-२५ वर्षमें गर्भाधानकेलिए आदेश दिया है। इससे

स्पष्ट है कि-वृद्ध वाग्भटके समयमें भी 'सुश्रुत-संहिता'के शारीर-स्थानस्थ उक्त वचनमें 'द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत्' यही पाठ था।

(ङ) जो कि यह कहा जाता है कि-'अथास्मै···पत्नीमावहेत्' इस पाठके आगे सुश्रुत-संहितामें विवाहका प्रयोजन ही 'पित्र्यधर्मार्थकामप्रजाः प्राप्स्यति' यह लिखा है, यह बात 'षोडशवर्षां पत्नीमावहेत्' इस पाठमें तो सम्बन्धित होती है, 'द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत्' इस पाठमें नहीं'। इस पर यह जानना चाहिये कि—'पित्र्यधर्मार्थकामप्रजाः प्राप्स्यति' इस सुश्रुत-वचनमें 'प्राप्स्यति' यह भविष्यत् काल है। तव विवाहके वर्तमानकालमें प्रजाप्राप्ति इष्ट नहीं। १६ वर्षकी लड़कीका विवाह होनेपर भी प्रजा भविष्यत् कालमें होगी, तत्काल कैसे हो सकती है? 'प्रजायते इति प्रजा' उत्पन्न हुई सन्तानको 'प्रजा' कहते हैं। धर्म तो १२ वर्षकी लड़कीके विवाहमें प्रत्यक्ष है, क्योंकि-सोलह वर्षकी अवस्थामें उसके ऋतुमती होनेसे उसका विवाह करनेसे अधर्म ही होता है। शास्त्रोंमें ऋतुकाल वाली लड़कीके विवाह होनेके वहुतसे दोष सूचित किये गये हैं। इसके अतिरिक्त विवाहमें कन्याका दान हुआ करता है। दान शुद्ध वस्तुका हुआ करता है। ऋतुमती हो जाने पर उसकी शुद्धता नहीं रहती।

उक्त वाक्यका यह अर्थ है कि-पुरुषको १२ वर्षीय लड़की देने पर पितृ-ऋणका निर्यातन होगा, धर्म, अर्थ, कामकी प्राप्ति होगी और प्रजाकी प्राप्ति होगी। इससे हमारे पक्षकी कोई हानि नहीं होती। 'प्राप्स्यति' यह भविष्यत् काल है।

१२ वर्षमें भी ऋतुमतीके अनन्तर कामकी प्राप्ति हो सकती है। इस विषयमें हम 'देश-दर्शन' 'दुखी भारत' आदिके उद्धरण दे चुके हैं। ऋतुकालमें ही 'जायेव पत्ये उशती सुवासाः' (ऋ.सं १०।७१।४) स्त्रीका कामवती होना वेद तथा आयुर्वेदके अनुकूल है। 'नरकामां...विद्याद् ऋतुमतीमिति' (शारीर. ३।७।८) यह सुश्रुतका ही वचन है-'स्वायां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम्' (ऋ.सं. १०।१८३।२) इस वेद-वचनका अर्थ आर्यसमाजी विद्वान् श्रीनरदेवजी शास्त्रीने अपने 'ऋग्वेदालोचन'के २७० पृष्ठमें 'ऋतुकालमें तू पतिकी इच्छा करती है', यह किया है। 'ता अत्र वन-ऋतौ प्रजां विन्दामहै' (वसिष्ठधर्मसूत्र ५।८) कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय-संहिता २।५।१।५) 'रजस्वला तु या नारी विशुद्धा पञ्चमे दिने। पीडिता कामवाणेन ततः पुरुषमीहते' (शाक्तानन्द-तरङ्गिणी) 'यदा भवति संसर्ग ऋतुकाले' (चरक-संहिता शारीरस्थान ३।२) 'एतेन धर्मेण ऋतौ-ऋतौ सन्निपातयेत्' (मानवगृह्यसूत्र १।१४।२०) इन सव प्रमाणोंमें ऋतुकालमें गमन कहा है।

आयुर्वेदमें ऋतुकाल 'तद् वर्षाद् द्वादशाद् ऊर्ध्वं याति पञ्चाशतः क्षयम्' (सुश्रुत सूत्रस्थान १४।६) १२वें वर्षके वाद कहा है। तव सुश्रुतका 'अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत्' (शारीर. १०।५३) इस वचनसे १२ वर्षकी लड़कीका विवाह कहना सव दृष्टियोंसे सङ्गत ही है।

(१६) इन निवन्धोंसे वै.सि.मा.में लिखे पथिकके लेखका

निराकरण हो गया। हमने 'ऊनद्वादशवर्षायां' तथा 'द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत्' इन सुश्रुतके पाठोंकी युक्तता ऊहापोहके साथ बता दी है। यह ऊहापोह वादीको श्रीमिश्रजी, वा श्रीशास्त्रीजी तथा श्रीकविरत्नजीकी पुस्तकोंमें नहीं मिलेगा। हमारा इस विषयमें शास्त्रार्थ एक सिद्धान्तालङ्कारसे 'श्रीः' (सन् १६३५) में हो चुका है। हमने सुश्रुत-चरक दोनों अच्छी तरह देख रखे हैं। 'आयुर्वेदे सनातनधर्मः' आदि हमारे बहुतसे लेख २५-३० वर्ष पूर्व 'संस्कृतम्' पत्रमें निकल चुके हैं; उस समय पथिक कदाचित् अपनी बाल्यावस्था बिता रहा हो; तब उस पर चोरीका दोषारोपण करना प्रतिपक्षी अपनी स्वयं चोरीकी प्रकृतिको प्रमाणित कर रहा है।

सुश्रुतसंहिता (निर्णयसागर प्रेस बम्बई मुद्रित, श्रीयादवजी त्रिकम सम्पादित प्रथम-द्वितीय) संस्करणकी टिप्पणीमें भी यही पाठ था, और वैवाहिकसूत्रके तो मूलमें ही सब संस्करणोंमें 'द्वादशवर्षां' वाला ही पाठ था।

तृतीय संस्करणमें किसीने प्रक्षेप करके वहाँ 'द्वादश' के स्थान 'षोडश' पाठ कर डाला। "चोर चोरी करते हुए मोरी भी साथ छोड़ जाता है।" यह कहावत यहाँ पर भी घटी। 'द्वादश' के स्थान 'षोडश' पाठ नवीन संशोधकने कर तो डाला, पर उसकी साक्षीरूपमें 'दश' शब्द बना रहा, जिसे वहींसे 'षोडशदशवर्षां पत्नीमावहेत्' (पृ. ३६) पथिकने भी वही उद्धृत कर दिया। 'द्वादश' के 'द्वा'के स्थान 'षोडश' कर दिया;

और 'द्वादश' का शेष 'दश' शब्द हत्यासे बच गया। आगे चतुर्थ संस्करणमें अर्वाचीनसंस्कर्ता उस 'दश' शब्दकी भी हत्या कर डालेगा। अब वहीं 'दशवर्षां' भी लिखा है, तो क्या अब पथिक अपनी प्रमाणित पुस्तकसे दशवर्षवाली लड़कीका भी विवाह मानेगा या नहीं ?

जब उक्त प्रतिसंस्कर्ताने भी टिप्पणीमें बहुत-सी हस्तलिखित पुस्तकोंका पाठ 'ऊनद्वादशवर्षायां' माना है, चौखम्भा वालेमें भी 'ऊनद्वादशवर्षायां' पाठान्तर दिखलाया है, यह स्वयं वादी अपने दिये उद्धरण (वै.सि.मा.)में देख ले; तब हमारा पक्ष सिद्ध हो गया। जब कि स्वयं सुश्रुत 'तस्माद् अत्यन्त-बालायां गर्भाधानं न कारयेत्' यह कहकर 'ऊनद्वादशवर्षायां' पाठकी साक्षी दे रहा है, क्योंकि-'ऊनद्वादशवर्षा' केलिए तो 'अत्यन्त-बाला' कहा जा सकता है, 'ऊनषोडशवर्षा' केलिए 'अत्यन्त-बाला' कभी नहीं कहा जा सकता। इसका प्रत्युत्तर न तो प्रतिवादीने वै.सि.मा. में दिया, और न अब कभी दे सकता है। अन्य कारण भी हमने लिख ही दिये हैं; तब उसे वाणीमात्रसे 'अमान्य' कह देना पथिककी 'साम्प्रदायिक परवशता' बता रहा है।

वैवाहिकसूत्रमें तो 'द्वादशवर्षा' ही पाठ था। यदि उसमें 'षोडशवर्षां' पाठ होता, तो अपने पक्षकी सिद्धिके लिए स्वा.द.जी उसे उद्धृत करते। पर नहीं किया। अतः स्पष्ट है कि-आजकलके नवीन मत वाले लोग अपने मतानुसार परिवर्तन एवं प्रक्षेप करनेमें लगे हुए हैं। 'ऊनषोडशवर्षायां' वाला पाठ अवश्य

काफी समयसे परिवर्तित हुआ-हुआ है; पर मूलमें ऐसा नहीं था, ऐसा हम पूर्व लेखमें ऊहापोह-पूर्वक सिद्ध कर ही चुके हैं। 'कामं च यौवने' यह वात्स्यायनकामसूत्र भी हमसे विरुद्ध नहीं है; यह तो प्रतिपक्षीके विरुद्ध है, क्योंकि-प्रतिपक्षी (३८ पृष्ठमें) १६ वर्षकी कन्याका सम्भोगकाल बताता है, और (४२ पृष्ठमें) स्वप्रमाणित हारीत सं. (शारीर) से 'षोडशवार्षिकं यावत् बाल्यं तावत् प्रवर्तते' वचनसे १६ वर्षको बाल्यावस्था बताता है, तब बाल्यावस्थामें सम्भोग कराता हुआ वह स्वयं भी खण्डित हो गया। 'कामसूत्र'में 'राकां वर्जयेत्' यह लिखा है। 'राकां' का अर्थ उसकी टीकामें 'जातरजसं, रजसा क्षतयोनित्वात्' लिखा है। तब 'कामसूत्र'में भी वैवाहिक आयु हमसे कही स्पष्ट है।

हम अग्रिम निबन्धमें बतानेवाले हैं कि-छोटी आयुमें जिनका विवाह हुआ; उनकी संतानोंमें क्या लाभ-हानि पहुँची। पाठक उस निबन्धको मनोयोगसे देखें। 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणान्तरेण' इस न्यायको याद रखें। इससे यह सिद्ध होगया कि-लड़कीका ऋतुकालसे पूर्व बारहवें वर्षमें विवाह शास्त्रीय है। श्रीसीताका विवाह अवश्य छः वर्षमें हुआ; पर वह अमैथुनयोनि होने से १२ वर्ष जैसी थी। गर्भाधानका वहाँ कोई प्रसङ्ग नहीं; नहीं तो वह वनवाससे पूर्वही कई बच्चोंकी माँ बन बैठती। छोटी आयुमें विवाहिताका यदि शारीरिक योग्यता होने पर संयोग हो; इसमें हमारा कोई 'ननु-नच' नहीं। न संयोगकी आयु निश्चित की जा सकती है। मैथुन राग-प्राप्त होनेसे उसमें विधि कभी नहीं बन सकती, इस विषयमें कभी फिर लिखा जायेगा। अब कथित निबन्ध शुरू करनेसे पूर्व वादीकी 'चतुर्थी-कर्म' विषयक आपत्तियोंका समाधान प्रसङ्गवश किया जाता है।

---

(७) चतुर्थीकर्म गर्भाधानका अङ्ग है या विवाहका ?
(आपत्तियोंका निरास)

(१) प्रौढ़ा-विवाहके प्रमाण देते हुए वादीने लिखा था—'यदि आपके मतमें बालविवाह उचित है, तो प्रश्न उठता है कि-कन्याके साथ चतुर्थीकर्म कैसे होगा, विवाहके बाद ही चतुर्थीकर्मकी विधि है' (नी.च्ची.वि.)।

इसपर हम ७म पुष्पमें लिख चुके हैं कि-चतुर्थीकर्ममें कहीं भी गर्भाधानका विधान नहीं है; वह कर्म तो स्नानादि करके ब्राह्ममुहूर्तमें करना पड़ता है। उसमें हवनमात्र होता है, गर्भाधान नहीं। वादीके स्वा.द.जीने अपनी संस्कारविधि पारस्करगृह्यसूत्रके आश्रय-से लिखी है; उसी वादिप्रतिवादिमान्य पा.गृ.में चतुर्थीकर्मके विषयमें लिखा है—'चतुर्थ्यामपररात्रे अभ्यन्तरोऽग्निमुपसमाधाय' इत्यादि (१।११।१)में चतुर्थीकर्म 'अपररात्र'में करना लिखा है। 'अपररात्रे'-का विग्रह है-'रात्रेः अपरः' यहाँपर 'पूर्वापराधरोत्तर' (पा. २।२।१) इस सूत्रसे एकदेशी षष्ठी तत्पुरुष होता है, और 'अहःसर्वैकदेश' (पा. ५।४।८७) इससे एकदेशमें 'अच्' प्रत्यय करनेपर 'अपररात्र' शब्द बनता है, इसका अर्थ है-'रात्रिका पिछला पहर'। रात्रिका पिछला पहर 'ब्राह्ममुहूर्त' होता है। इसी 'अपररात्रे'का हरिहरने 'रात्रेः पश्चिमे यामे' अर्थ किया है; और गदाधरने तथा श्री-वेणीरामजी गौड़ने 'अन्तिम-प्रहरे' अर्थ लिखकर अन्य भी स्पष्ट कर दिया है। श्रीविश्वनाथने भी 'चतुर्थ्यां रात्रौ रात्रेरपरभागे, यद्वा चतुर्थीतिथिसम्बन्धिरात्र्यपरभागे' लिखकर यही भाव रखा

है, बल्कि उसने चौथे दिनकी बात हटाकर चतुर्थी तिथिका नाम (वह जब भी हो) लिखा है। 'आपस्तम्बगृ'में भी 'तं (दण्डं) चतुर्थ्यापररात्रे उत्तराभ्यामुत्थाप्य' (६।३।१०) 'अपररात्र' शब्द ही है, जिसका अर्थ हम बता चुके हैं। चतुर्थीकर्म उस समय करना पड़ता है, तो क्या उस प्रातःके समय स्नानादि करके मैथुन करना शास्त्रीय हो सकता है? कभी नहीं। वह तो दिनका भाग होता है।

(२) वादीके स्वा.द.जी प्रथम संस्कारविधिमें १० पृष्ठमें लिखते हैं—'जब-जब गर्भाधान करें; तब-तब इसी रीतिसे और रात्रिके मध्यभागमें करें, अर्थात् रात्रीके दश बजेके पीछे; जब तक दो बजे, यही गर्भस्थापनका समय है'। अब वही गर्भाधान प्रातःके चार-पाँच बजेके चतुर्थीकर्ममें कैसे हो सकता है? आजकलकी सं.वि.में भी गर्भाधानमें स्वामीने टिप्पणी दी है—'दिनमें ऋतुदानका निषेध है' (पृ. ३५) 'गर्भाधान क्रियाका समय प्रहर रात्रिके गये पश्चात् प्रहर रात्रि रहे तक है' (४४) यहाँ भी यही भाव है; क्योंकि—स्वामीके अनुसार गर्भाधानमें पिछला पहर तो छोड़ देना पड़ता है, यही 'प्रहर रात्रि रहे तक'का तात्पर्य है। पिछला पहर दिनका अङ्ग होता है, इसलिए संस्कृत-कोषोंमें रात्रिको 'त्रियामा' कहते हैं, पिछला पहर रात्रिका अङ्ग नहीं होता, किन्तु दिनका ही। सो यह चतुर्थीकर्म तो प्रातः चार-पाँच बजे शुरू होता है। उसमें स्नानादि करके अग्निके उपसमाधानसे शुरू करके आज्यभाग पर्यन्त करके फिर जया-होमादि परिषे-

चनान्त करके उस समयकी विशेष आहुतियाँ देनी पड़ती हैं, तब है। प्रातःकाल तैयार होता है। उस समय 'प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते' (प्रश्नोप. १।१३) 'परस्त्रीषु दिवा च यावज्जीवं [ब्रह्मचर्यम्]' (बोधायनगृह्यपरि. १।११।१) इन शास्त्र-वचनोंसे रतिका निषेध है। निरुक्तमें भी 'उषा उच्छतीति रात्रेः अपरः कालः' (२।१८।४)। रात्रिके अपर (पश्चिम) भागको उषाकाल माना है। आपस्तम्बधर्मसूत्रकी व्याख्यामें श्रीहरदत्त मिश्रने भी 'पश्चिमे यामे' यही अर्थ किया है।

(३) चतुर्थीकर्ममें तो स्नानादि करके 'अग्ने! प्रायश्चित्ते, वायो! प्रायश्चित्ते' आदि आहुतियाँ देनी पड़ती हैं। गर्भाधान तो उस समय नहीं होता। चतुर्थीकर्म तो विवाहका अङ्ग होता है, गर्भाधानका नहीं—यह अवश्य याद रख लेना चाहिये। इसलिए आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।१।१) के भाष्यमें श्रीहरदत्तने कहा है 'चतुर्थीकर्मान्तो विवाहः'। इसीलिए पारस्करगृह्यमें भी 'चतुर्थीकर्म'को श्रीकर्काचार्यने 'विवाहशेषोऽयमुच्यते' (१।११।१) विवाहका शेष भाग कहा है। श्रीजयरामने भी यही 'अथ विवाहशेषः कथ्यते' यही कहा है। श्रीगदाधरने भी 'चतुर्थीकर्मणो विवाहाङ्गत्वाद्' यही कहा है। सो यह चतुर्थीकर्म पारस्कर० १।११।१ से शुरू होकर १।११।५ तक समाप्त हो जाता है। इसीलिए १।११।६ में श्रीगदाधरने लिखा है—'समाप्तं चतुर्थीकर्म'। पदार्थ-क्रममें उसने 'चतुर्थीकर्म करिष्ये'का संकल्प भी लिखा है; इसमें गर्भाधान उसने कहीं नहीं लिखा; किन्तु इसके बाद पृथक् ही लिखा

है। इसी प्रकार विश्वनाथने भी १।११।५ तक लिखा है-'इति चतुर्थीकर्म'। सो स्नान करके एवं हवन करके भला उषाकालमें मैथुन कैसे शास्त्रीय हो सकता है, यह वादी कभी नहीं सोचते। स्वा.द.जीने गर्भाधान संस्कारमें जो हवनादि कर्त्तव्य वताया है, उसके वाद गर्भाधान नहीं बताया, किन्तु वह कार्य करके रात्रिमें जाकर गर्भाधान वताया है। इस तरह चतुर्थीकर्म जो उषाकालमें किया जाता है, उसके हवनादिके वाद गर्भाधान कैसे हो सकता है; क्या वादियोंको इतना भी ज्ञान नहीं है? प्रातः मैथुन तो शास्त्र-निषिद्ध है। चतुर्थीकर्म तो स्त्रीके भार्यात्वकेलिए होता है, विवाहकी पूर्ति उसीमें होती है। तब विवाहके चौथे दिन गर्भाधानका विधान कहीं भी सिद्ध न हुआ। वादीने समझा होगा कि-पाठकोंके सामने गृह्यसूत्र तो पड़े होंगे नहीं, तव मैं इन गृह्यसूत्रोंके नामसे लिख दूँगा कि-चतुर्थीकर्ममें गर्भाधान होता है, अतः मूर्खोंमें मेरा कथन मान्य हो जायगा। उसने यह नहीं सोचा कि इसकी पोल खुलने पर विद्वानोंमें कितना उपहास होगा ('त्वदीयं वस्तु...तुभ्यमेव')।

गर्भाधान अथवा स्त्रीगमनका विधान तो गृह्यसूत्रोंमें ऋतुकालके चौथे-पाँचवें दिनकी किसी रात्रिको होता है; विवाहकी चतुर्थ रात्रिको नहीं। तभी उसी पारस्करगृह्यसूत्रमें जव चतुर्थीकर्मकी समाप्ति १।११।५ तक होगई; तब १।११।६-७ से गर्भाधानकी प्रक्रिया वताई गई है। उसे चतुर्थीकर्मवाले दिन न वताकर ऋतुकालके नियत दिनमें वताया गया है।

(४) जो कि वादी कहता है कि-'तामुदुह्य यथर्तु प्रवेशनम्' (१।११।७) में 'चतुर्थीकर्मकी चर्चा' है' यह कहना जनताको ठगना है। यह तो चतुर्थीकर्मकी समाप्तिके वादका सूत्र है, इसका अर्थ यह है कि-'तां वधूम् उदुह्य-विवाहाङ्गेन चतुर्थीकर्मणा भार्यां सम्पाद्य तत ऋतुकाले स्त्रीगमनं कुर्यात्'। इसपर कर्कने लिखा है-'सा अनेन प्रकारेण ऊढा भवति' (वह चतुर्थीकर्मसे 'पूर्ण विवाहिता' हो जाती है।) 'ताम् ऊढ्वा ऋतौ-ऋतौ अभिगमनं कुर्यात्'। इससे स्पष्ट हो गया कि-स्त्रीका अभिगमन चतुर्थीकर्ममें सर्वथा नहीं होता; किन्तु चतुर्थीकर्मसे तो स्त्रीका विवाह पूर्ण होता है। अभिगमन तो उसका ऋतुकालमें होता है।

बात भी ठीक है। शास्त्रकार रजस्वलाका विवाह तो वताते नहीं कि-विवाहके चौथे दिन स्त्रीका ऋतु-स्नान करने पर ऋतु-काल हो जाये; और इसीलिए उसका अभिगमन हो जाए, वल्कि—'ऋतुकालाभिगामी स्यात्' (मनु. ३।४५) कहकर शास्त्र-कार स्त्रीका ऋतुकालमें गमन वताते हैं; और 'निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्। ब्रह्मचार्येव भवति यत्र-तत्राश्रमे वसन्' (मनु. ३।५०) इस वचनमें मनु आदि प्रमुख शास्त्रकारोंने ऋतुकी चार आरम्भिक रातें, तथा ११वीं-१३वीं, और पर्वकी अष्टमी-चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या आदि रात्रियोंको छोड़कर शेष ऋतुकालकी रात्रियोंमें गमन करने वालेको ब्रह्मचारी कहकर ऋतुकालसे भिन्न रात्रियोंमें गमन करने वालेको व्यभिचारी सूचित किया गया है। शास्त्रोंमें ऋतुमती-स्त्रीका विवाह निषिद्ध

होनेसे विवाहके चौथे ही दिन ऋतुकाल आ जावे—यह सम्भव नहीं; तब विना ऋतुकालके विवाहके चौथे दिन चतुर्थीकर्ममें शास्त्रकार आरम्भमें ही पतिको स्त्री-गमनकी आज्ञा देकर क्या आरम्भ-आरम्भमें ही पतिको व्यभिचारका पाठ पढ़ाने शुरू हो जाते हैं? ऐसा सम्भव नहीं, और फिर चौथे दिन ही यदि अष्टमी वा चतुर्दशी तिथि आ पड़े, अथवा वादियोंके ऋतुमती स्त्रीके विवाहके पक्षमें विवाहके चौथे दिन स्त्रीके ऋतुकालकी ११वीं वा १३वीं रात्रि आ पड़े; अथवा उसके विशिष्ट अङ्गमें पीड़ा हो जावे; तब भला चतुर्थी-कर्ममें स्त्रीका अभिगमन कैसे हो सकेगा? इससे स्पष्ट हो गया कि-चौथे दिन चतुर्थीकर्ममें स्त्रीका अभिगमन कभी नियत नहीं हो सकता। जब नहीं हो सकता; तब चतुर्थीकर्ममें मैथुनकी अनिवार्यता भी खण्डित हो गई। वल्कि-चतुर्थीकर्ममें गर्भाधान किसी शास्त्रमें लिखा ही नहीं-यह भी सिद्ध हो गया। गर्भाधान तो सर्वत्र ऋतुकालमें लिखा होता है, विवाहके चौथे दिन नहीं। इसमें पारस्करगृ.के एक टीकाकारकी सम्मति हम वता चुके; अब शेष टीकाकारोंकी सम्मति भी प्रतिपक्षीको देखनी चाहिये।

(४) श्रीजयरामने भी 'तामुदुह्य यथर्तु प्रवेशनम्' इस प्रतिपक्षीसे दिये पूर्व सूत्र पर भाष्य किया है—'सा अनेन प्रकारेण [चतुर्थीकर्म-हवनादिविधिना] ऊढा [पूर्ण-विवाहिता] भवति। ताम् एवम् [चतुर्थीकर्मणा] ऊढ्वा (विवाह्य) ऋतौ-ऋतौ अभिगमनं कुर्यात्'। अर्थात् चतुर्थीकर्मसे जब स्त्री पूर्ण विवाहित हो

जावे; उसके बाद स्त्रीका जब-जब ऋतुकाल आवे; तब-तब स्त्री-गमन करें'। इससे प्रतिपक्षीके मतका स्पष्ट ही निराकरण हो गया।

(ख) इसी प्रकार श्रीहरिहरने भी उक्तसूत्रपर भाष्य किया है, और उसे प्रतिपक्षीने उद्धृत किया भी है। वह यह है—'एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण [चतुर्थीकर्म-हवनेन] तां वधूं विवाहयित्वा-विवाहकर्मणा भार्यात्वं सम्पाद्य ऋतुकालम्-ऋतुकालं गमनम्' इससे श्रीहरिहरने भी सिद्ध किया कि-वधू चतुर्थीकर्मके हवनसे पूर्ण विवाहिता होकर भार्या बनती है—'भार्या चातुर्थकर्मणि'। यह प्रसिद्ध वचन है—'आ प्रदानाद् भवेत् कन्या, प्रदानान्तरं वधूः। पाणिग्रहे तु पत्नी स्याद् भार्या चातुर्थकर्मणि। चतुर्थीकर्म विवाह-संस्कारका अङ्ग होता है, गर्भाधान-संस्कारका अङ्ग नहीं। वह तो विवाहकी पूर्णताका निष्पादक है। जैसे कि १।८।२१ पारस्कर सूत्रके भाष्यमें श्रीकर्काचार्यने भी लिखा है—'संवत्सरादिपक्षाऽशक्तौ त्रिरात्रपक्षाश्रयणेपि चतुर्थीकर्मानन्तरं पंचम्यादिरात्रौ अभिगमनम्। चतुर्थीकर्मणः प्राक् तस्या भार्यात्वमेव नोत्पन्नम्, विवाहैकदेशत्वात् चतुर्थीकर्मणः' अर्थात् चतुर्थीकर्म तो विवाहका अङ्ग है, वह भार्यात्वको करने वाला है; स्त्री-अभिगमन तो चतुर्थीकर्म हो चुकनेपर फिर उसके बाद पांचवीं वा अन्य रात्रियोंमें होना चाहिये, पूर्व नहीं। इससे प्रतिपक्षिसम्मत चतुर्थीकर्ममें मैथुन खण्डित हो गया।

(ग) श्रीहरिहरने भी यही लिखा है—'त्रिरात्रपक्षाश्रयणेपि

चतुर्थीकर्मानन्तरं पञ्चम्यादिरात्रौ अभिगमनम्, चतुर्थीकर्मणः प्राक् तस्या भार्यात्वमेव न संवृत्तम्, विवाहैकदेशत्वात् चतुर्थीकर्मणः'। यहाँ भी वही हमारी बात सिद्ध हुई है। श्रीगदाधरने भी 'चतुर्थी-कर्मणो विवाहाङ्गत्वात्' (१।११)में चतुर्थीकर्मको विवाहका ही अङ्ग माना है, गर्भाधानका नहीं। सो पूर्वोक्त प्रकारसे हरिहरने भी चतुर्थीकर्मके प्रयोगको दिखलाकर और उस चतुर्थीकर्मको समाप्त करके लिखा है—'अथ ऋतुकाले रजोदर्शने संजाते गर्भा-धाननिमित्तं रात्रौ अभिगमनं कुर्यात्' इससे अत्यन्त स्पष्ट हो गया कि-चतुर्थीकर्ममें मैथुन सर्वथा नहीं होता, किन्तु उसमें भार्यात्व सम्पन्न होता है; फिर उसका अभिगमन ऋतुकालमें ही कहा है। बात भी ठीक है। ऋतुकालमें स्त्रीगमन करना तो मनु आदिके मतमें (मनु. ३।४५,५०) ब्रह्मचारित्व (वेदानुसार आचरण) है, इससे, विना ऋतुकालके स्त्री-गमन तो उनके मतमें अब्रह्मचर्य (अवैदिक आचरण, व्यभिचार) है, विवाहका कहीं ऋतुमतीत्वमें विधान नहीं, वल्कि निषेध है, तब ऋतुमतीत्वमें विवाह न होनेसे चतुर्थ दिन ऋतुकालके अनिवार्य न होनेसे चतुर्थीकर्ममें वादीसे अभिमत मैथुन खण्डित हो गया।

(घ) श्रीगदाधरने 'समाप्तं चतुर्थीकर्म' लिखकर 'स्वभार्या-भिगमनमाह—'तामुदुह्य' इस वचनसे इस सूत्रको चतुर्थीकर्मकी समाप्तिके बाद गर्भाधानका सूत्र बताया है—'तां वधूं पूर्वोक्तविधिना [चतुर्थीकर्म-हवनेन] विवाहयित्वा ऋतौ-ऋतौ अभिगमनं कुर्यात्'। इसलिए श्रीगदाधरने पदार्थक्रममें चतुर्थीकर्मकी समाप्तिके बाद-

के इसी १।११।७ सूत्रमें 'गर्भाधानाख्यं कर्म करिष्ये' यह लिखकर चतुर्थीकर्मके संकल्पसे पृथक् गर्भाधानका संकल्प कराया है। और इस वादिदत्तसूत्रसे पूर्व १।११।१ सूत्रमें 'विवाहाङ्गं चतुर्थीकर्म करिष्ये' यह संकल्प कराया है, इससे सर्वथा स्पष्ट हो गया कि-चतुर्थीकर्म विवाहका अङ्ग है; और वह १।११।५ सूत्रमें समाप्त हो गया है; उसमें तो मैथुन दिखलाया भी नहीं गया, क्योंकि-उसकी समाप्तिसे पूर्व तक विवाह पूर्ण नहीं हुआ; तब विवाहके पूर्ण न होनेसे अनधिकृत स्त्रीमें भला अभिगमन कैसे हो सकता है ? चतुर्थीकर्मकी समाप्तिमें प्रातःकाल हो जाता है, उस समयमें स्त्रीगमन कैसे ? वह (चतुर्थीकर्म) विवाहका अङ्ग है, गर्भाधान-का अङ्ग नहीं। स्त्रीगमन तो १।११।६-७ सूत्रसे स्त्रीके ऋतुकालमें दिखलाया है। सो यह ७वां सूत्र चतुर्थीकर्मकी समाप्तिके बाद गर्भाधानका सिद्ध हुआ; चतुर्थीकर्मका नहीं; यह अत्यन्त स्पष्ट हो गया। इसलिए 'संस्कारदीपक' पृ० ४०-४३ में 'अथ चतुर्थी-कर्मसूत्र व्याख्या' लिखकर पारस्करका 'चतुर्थ्यामपररात्रे' आदि ५ सूत्र तक पाठ उद्धृत करके और उसे व्याख्यात करके, फिर छठे सूत्रके अन्तमें लिखा है—'समाप्तं चतुर्थीकर्म' (पृ. ४३)। फिर पृ. ४३ से 'अथ गर्भाधानसूत्र-व्याख्या' शीर्षक देकर 'तामुदुह्य' इत्यादि प्रतिपक्षीसे उद्धृत सूत्र लिखकर उसे व्याख्यात किया है' (पृ. ४४)। इससे स्पष्ट सूचित किया गया है कि—चतुर्थी-कर्मके समाप्त हो जाने पर जब ऋतुकाल आवे; तब गर्भाधान करना पड़ता है। इससे 'तामुदुह्य यथर्तु प्रवेशनम्' यह पारस्कर-

का सूत्र गर्भाधान-विषयक है, चतुर्थीकर्म-विषयक नहीं–यह सम्यक्तया सिद्ध हो गया। तब इसे चतुर्थीकर्मका सूत्र बताते हुए वादीका पक्ष बिल्कुल कट गया; अब वह इसमें फड़फड़ा नहीं सकता।

(ङ) इसी प्रकार भाष्यकार श्रीविश्वनाथने भी 'इति चतुर्थीकर्म' ५ सूत्र तक समाप्त करके आगे 'एवं निष्पन्ने भार्यात्वे' लिखकर ७वें सूत्रमें–'अभिगमनमाह–'तामुदुह्य' एवं तामुद्वाह्य यथर्तु अभिगमनं कुर्यात्'। इत्यादि लिखकर अन्तमें लिखा है–'इति गर्भाधानम्'। इससे स्पष्ट हो गया कि विवाह संस्कार तथा गर्भाधान संस्कार भिन्न-भिन्न हैं, और भिन्न-भिन्न कालके हैं।

(च) श्रीवेणीराम जी गौड ने भी 'तामुदुह्य' (१।११।७) इस सूत्रपर लिखा है–'गर्भाधान माह'–और इस सूत्रसे पूर्वके ६ठें सूत्रके अन्तमें लिखा है–'समाप्तं चतुर्थीकर्म'। इससे अत्यन्त स्पष्ट हो गया कि–चतुर्थीकर्ममें गर्भाधानकी कुछ भी चर्चा वा गन्ध नहीं है, किन्तु चतुर्थीकर्म समाप्त हो जाने पर जब स्त्रीका ऋतुकाल आवे; तब उस ऋतुकालकी ४र्थ वा पञ्चम रात्रिमें मैथुन हुआ करता है। सो 'तामुदुह्य' यह सूत्र गर्भाधानका है, चतुर्थीकर्मका नहीं–यह सम्यक् सिद्ध हो गया। इससे पथिकके पक्षकी रीढकी हड्डी टूट गई है, अब वह उठने योग्य नहीं रहा। स्मृतियोंमें इसकी स्पष्टता की है–'आ प्रदानाद् भवेत् कन्या (प्रदान संकल्प तक लड़की कन्या कही जाती है) प्रदानानन्तरं वधूः (फिर वही कन्या प्रदानके बाद पाणिग्रहण-सप्तपदीसे पूर्व तक वधू कही

जाती है)। पाणिग्रहे तु पत्नी स्याद् (पाणिग्रहण-सप्तपदी हो जानेपर वह पत्नी हो जाती है) भार्या चातुर्थकर्मणि (चतुर्थीकर्ममें वह भार्या हो जाती है)। लिखित-स्मृति (२५) तथा यमस्मृति (८६) में भी लिखा है–'विवाहे चैव निर्वृत्ते चतुर्थेऽहनि रात्रिषु। एकत्वं सा गता भर्तुः पिण्डे गोत्रे च सूतके'। (अर्थात् चतुर्थीकर्ममें, विवाह पूर्ण हो जानेपर स्त्री पतिके गोत्र, पिण्ड और सूतक आदिके अधिकारको पा लेती है)

(छ) इससे अत्यन्त स्पष्ट हो गया कि–चतुर्थीकर्ममें हवन होता है, मैथुन नहीं। मैथुन तो ऋतुकालमें होता है, इतना भी वादी नहीं जानता–यह आश्चर्य है। इसलिए द्राह्यायणगृह्यसूत्रमें भी कहा है–'त्रिरात्रात् चतसृभिराज्यं जुहुयात्' (१।४।१२) इस प्रकार चौथे दिन होम दिखलाकर 'ऋतुकाले दक्षिणेन पाणिना' (१।४।१५) ऋतुकालमें गर्भाधान कहा है। यही खादिरगृह्यसूत्र (१।४।१२-१५) में भी लिखा है।

(६) अब वादी अपने सम्प्रदायाचार्यका भी मत देख ले। स्वा.द.जीने अपनी सं.वि. गर्भाधान-संस्कारमें–'गर्भाधानं स्त्रियाः पुष्पवत्याः चतुरहादूर्ध्वं' (पृ. ३६) यह वचन पारस्करका माना है; और ऐसा ही विधान गोभिलीय और शौनकगृह्यसूत्रोंमें भी उनने माना है, और स्वयं भी उसका अनुमोदन किया है कि–'जब स्त्री रजस्वला होकर चौथे दिनके उपरान्त ५वें दिन स्नान कर रजरोगरहित हो, उसी दिन जिस रात्रिमें गर्भस्थापन करनेकी इच्छा हो, उससे पूर्व दिनमें हवन करें'। इससे स्वामीने

भी स्पष्ट कर दिया कि–चतुर्थीकर्ममें गर्भाधान नहीं होता; किन्तु ऋतुकालके पञ्चमादि दिनोंमें होता है। उससे पूर्व तो दिनमें हवन होता है।

(ख) अब श्रीगोभिलका मत भी देख लीजिये—वहाँ 'अथातश्चतुर्थीकर्म' (२।५।१) कहकर उसे २।५।६ तक समाप्त कर दिया गया है। इसमें भी अन्य गृह्यसूत्रोंकी तरह श्रीगोभिलने भी होम ही बताया है। गर्भाधान तो 'यदर्तुमती भवति उपरतशोणिता, तदा सम्भवकालः' (२।५।८) अन्य गृह्यसूत्रोंकी तरह ऋतकालमें ही कराया है। 'ऊर्ध्वं त्रिरात्रात् सम्भवः' (७) का तो गोभिलने खण्डन ही कर दिया है। यह गोभिलने कहकर वादीका भी खण्डन कर डाला है। तभी तो रजस्वलात्वके चौथे-पांचवें दिन गर्भाधान कराते हुए स्वा.द.जीने सं.वि. पृ. ३६में गोभिलीयगृह्यसूत्रका नाम भी लिखा हैं–यह हम पूर्व लिख चुके हैं। "विवाह रात्रिसे तीन रात्रि व्यतीत कर चौथी रात्रिमें स्त्री-प्रसङ्ग करे" यह कई एक आचार्योंका मत है...किन्तु गोभिलाचार्य का यह स्वकीय मत नहीं हैं" वादीसे मान्य ठा० उदयनारायणसिंह की इस भाषासे भी गोभिल द्वारा उक्त मत अननुमत एवं खण्डित हो गया। तब पथिकका पक्ष भी गोभिल आदि सभी गृह्यसूत्रों द्वारा खण्डित हो गया। सामश्रमीजीका यहांका अर्थ निर्मूल है। इस विषयमें हमने बहुत विस्तीर्ण मीमांसा कर रखी है, उसे अन्यत्र बताया जायगा। श्रीसामश्रमीने यहाँ 'पुनः ऋृतुमती भवति' यह लिखकर यहाँ 'पुनः' शब्दका स्पष्ट प्रक्षेप

कर दिया है। वादी प्रमाण उनसे मांगे, जो उनने विना प्रमाण 'पुनः' शब्द प्रक्षिप्त कर दिया। हमने तो प्रमाण दे दिये हैं। सामश्रमी सनातनधर्मी नहीं थे। वे तो पौने आर्यसमाजी सुधारक थे। 'अनग्निका' वा 'नग्निका' पर आगे लिखा जायगा।

(७) अब वादी आगे चलें। यदि उसके अनुसार विवाहके चौथे दिन ही गर्भाधानकी अनिवार्य आज्ञा होती, तो गृह्यसूत्रकार छः रात, १२ रात, कई महीने वा एक वर्ष ब्रह्मचर्य रखनेकेलिए कैसे कहते ? देखिये श्रीपारस्करने लिखा है–'संवत्सरं न मिथुनमुपेयाताम्' (१।८।२१) अपने वै.सि.मा.में वादी पथिकने पृ.३५की पं. ८में 'संवत्सरं' शब्दको विन्दुओंमें छिपाकर आगे 'न मिथुनमुपेयातां द्वादशरात्रं' आदि लिख दिया। 'अर्थात्' लिखकर अर्थ करते हुए भी पथिकने उसमें भी 'वारह रात्रि' से पूर्व 'एक साल' शब्द जान-बूझकर छिपा दिया, यह कितना छल है; और परस्पर-विरोध भी ? वह लिखता है–'शास्त्रीजीने पार.गृ. १।८।२१ जो प्रमाण देकर 'वर्ष भर तक संयम करना' लिखा है, परन्तु उसी कण्डिकासे यह बात खण्डित हो जाती है, यह कहकर उसने 'संवत्सर' शब्द छिपाकर 'न मिथुनमुपेयातां आदि' आगेका पाठ लिख दिया। जब उसी कण्डिकामें 'संवत्सरं न मिथुनमुपेयाताम्' पारस्करने लिखा है; तब उसी कण्डिकामें 'सालके संयम' का खण्डन कैसे हो गया ? यहाँ तो पथिक 'वर्ष' शब्द छिपा गया, पर फिर आगे अपने लेखमें उसे न छिपा सका। लिखता है–

'सूत्रकार १ वर्ष, १२ रात्रि, छः रात्रि अन्तमें ३ रात्रि तक संग न करनेका आदेश देता है'। जब ऐसा पथिकका कथन है, तो 'वर्ष भर तक संयम करनेका खण्डन कैसे हो गया? बल्कि इससे बहुत स्पष्ट हो गया कि–विवाहके चौथे दिन गर्भाधान अनिवार्य पक्ष नहीं है, बल्कि उसमें गर्भाधान है ही नहीं।

(ख) केवल पारस्करने ही नहीं, 'संवत्सरं वा एक ऋषिर्जायते' (१।८।१२) यह आश्वलायनने भी वर्षका संयम लिखा है। कातीयगृह्यसूत्रकारने भी 'संवत्सरं न मिथुनमुपेयाताम्' यही माना है? केवल इन तीनोंने ही नहीं, मानवगृह्यसूत्रकारने भी 'संवत्सरं ब्रह्मचर्यं चरतः' (१।१४।१४) लिखकर यह माना है। 'अत ऊर्ध्वं त्रिरात्रं तु द्वादशाहमथापि वा। शक्ति वीक्ष्य तथाऽब्दं वा चरतां दम्पती व्रतम्' यह संस्कारकौस्तुभमें शौनकने भी वर्षका व्रत माना है। इसी प्रकार वाराहगृह्यसूत्रमें 'संवत्सरं ब्रह्मचर्यं चरतः' (१८ खंड) यह सालके संयमका पक्ष माना है। विष्णुस्मृतिमें भी लिखा है–'परिणीय तु षण्मासान् वत्सरं वा न संविशेत्' (१२७) 'ऋतुकाले तु सम्प्राप्ते पुत्रार्थी संविशेत् तदा' (१२८) यहां भी विवाहके बाद साल-छः महीने संयम तथा फिर ऋतुकालमें स्त्रीगमन माना है। यही 'ऋतौ च संनिपातो दारेणानुव्रतम्' (२।१।१७) यह आपस्तम्बध.सू. तथा 'इति ऋतौ एकमेव संवेशने' (१२७) यह जैमिनिगृ.में भी ऋतुकालमें ही संयोग माना है। वेदमें भी 'ऋत्व्ये नाधमानाम्' (ऋ. १०।१८३।२) कहकर स्त्रीको ऋतुकालमें पुरुषकी कामना कही है, चतुर्थीकर्ममें

कहीं नहीं। जब ऐसा है, तो वादीकी चतुर्थीकर्ममें मैथुनकी अनिवार्यता तो पीसी गई।

(८) नी.वी.वि. (पृ. ४२-४३) में पथिकने लिखा था–'शिवजीने हिमाचलके गृहमें ही पार्वतीका गर्भाधान संस्कार किया था– 'चतुर्थदिवसे प्राप्ते चतुर्थीकर्म शुद्धितः। बभूव विधिवद् ... विना खण्डित एव सः' (शिवपु.) (अर्थ– चतुर्थीकर्मकी शुद्धि... चौथा दिन आने पर विधिपूर्वक शिवने पार्वतीसे समागम किया'। यहाँ वादीने 'चतुर्थीकर्म' जो प्रथमान्त था, और 'शुद्धितः' पृथक् था, दोनोंको षष्ठी-समास मानकर 'चतुर्थीकर्मकी शुद्धि' यह अर्थ कर दिया। यह उसके संस्कृतका आचार्यत्व है, ... उसे आगरा विश्वविद्यालयने दिया है। जब हमने ... इसपर लिखा कि–'शिवपुराणके प्रतिपक्षि दत्त प्रमाणमें ... चतुर्थीकर्ममें समागम नहीं लिखा; वहाँ तो चौथा दिन प्राप्त होने पर शुद्धतापूर्वक चतुर्थीकर्म विधिसे करना लिखा है, ... समागमका कुछ भी वर्णन नहीं, उसका तो कुमारखण्ड (१अ.)में वर्णन आया है, यहाँ नहीं; अतः यहां उसका उल्लेख प्रतिपक्षीका छल है, यह प्रतिपक्षीका पुराणकी उक्तिसे बलात्कार है, ... प्रमाण 'उष्ट्रलगुड' न्यायसे प्रतिपक्षीके मतके खण्डक हैं' (पृ. ८६४)।

तब हमारी इस बातसे लज्जित होकर पथिकने वै.सि.मा... 'चतुर्थे दिवसे प्राप्ते' इस पुराणके पद्यका ठीक अर्थ किया कि 'चौथे दिन आने पर विधिपूर्वक चतुर्थीकर्म हुआ; जिसके न होने...

विवाह खण्डित रहता है' इसमें तो वादीके किये अर्थके अनुसार चतुर्थीकर्मको विवाहका अङ्ग बताया गया है, गर्भाधानका अङ्ग नहीं। विवाह और गर्भाधान भिन्न-भिन्न संस्कार होते हैं। वादीने स्वयं लिखा है-'चौथे दिन चतुर्थीकर्म हुआ, जिसके न होनेसे विवाह खण्डित रहता है'। यह बिल्कुल ठीक है। यदि चतुर्थीकर्म गर्भाधान-संस्कारका अङ्ग होता, तो वादी लिखता कि-विवाहके चौथे दिन चतुर्थीकर्म हुआ, जिसके न होनेसे गर्भाधान संस्कार खण्डित रहता है, पर ऐसा न लिखकर जो कि-अर्थमें स्वयं उसने 'चतुर्थीकर्मके अभावमें विवाहका खण्डित होना' माना है, इससे स्पष्ट सिद्ध हो गया कि-चतुर्थीकर्ममें कहीं भी गर्भाधान नहीं होता, चतुर्थीकर्म तो विवाहका पूरक है, उससे स्त्री 'भार्या' हो जाती है।

(ख) जो कि वादीने वहीं 'तत्रातिरमणीये च रत्नपर्यङ्क उत्तमे। अशयिष्ट मुदा युक्तः' (५२।२५) यह पद्य देकर शिवजीका पलंग पर आनन्दपूर्वक शयन बताया है', यह श्लोक तथा अर्थ प्रतिपक्षीने अपनी पुस्तकके पाठकोंको धोखा देनेकेलिए रखा मालूम देता है कि-पाठक शिवजीका पलंग पर सोना देखकर यहाँ चतुर्थीकर्ममें शिवजीका समागम मान लें। यह पूर्वके अध्यायमें वर्णन तो विवाहमे दूसरे दिनका है। तीसरे दिनका वर्णन अगले ५३ अध्यायमें २०वें पद्यमें है। चतुर्थे दिनका वर्णन ५३।२१में है, इसमें कहीं भी समागम नहीं दिखलाया-यह हम पहले लिख चुके हैं। शिवजीका पाँचवें दिन रहनेका २३वें पद्यमें, फिर

बहुत दिन रहनेका (५३।२५में) वर्णन है, इनमें कहीं समागमकी गन्धमात्र भी नहीं है। देखिये-यह पुराणकी उक्तिसे वादीका कितना बलात्कार है? (ग) जो कि-वह आगे लिखता है-'सूत्रग्रन्थोंसे चतुर्थीकर्ममें वर-वधूके साथ ससुरालमें ही संभोग करता है, अतः शिवजीने भी वही किया। चतुर्थीकर्ममें समागमका स्पष्ट वर्णन हो गया, फिर शास्त्रीजीका 'यहाँ समागमका कुछ भी वर्णन नहीं' यह लिखना अशुद्ध है'। इस वादीके कथनका स्वतः खण्डन होगया। हम पूर्व सिद्ध कर चुके हैं कि—चतुर्थीकर्ममें तो उषाकालमें स्नान आदि करके हवन करना पड़ता है, जोकि-विवाहकी पूर्त्यर्थ होता है। तो क्या मैथुन उषाकालमें स्नान करके होता है? यह है इन लोगोंके छलका हाल !!! पुराणमें भी शिवजीका समागम चतुर्थीकर्ममें कहीं नहीं लिखा। वादी प्रत्यक्षमें भी अननुसन्धात्री जनताकी आँखोंमें धूल झोंक रहा है; उसको चेलेञ्ज है कि-शिवपुराणमें चतुर्थीकर्ममें शिवजीका समागम दिखलावे! चतुर्थीकर्म गर्भ वा मैथुनका पर्यायवाचक नहीं; किन्तु वह विवाहका पूरक एक विशेष कर्म है।

(घ) अब जो कि-वादीने आपस्तम्बगृ. का 'त्रिरात्रमुभयोरधः शय्या···शेषं समावेशने जपेत्' यह प्रमाण दिया है, और उसमें पं० भीमसेनशर्मा जीका अर्थ दिया है, कि-'इत्यादि ऋचाओं-का समागमकालमें जप करे अर्थात् समागमसे पूर्व जपे'। जब ऐसा है; तो यह समागमकालसे पूर्वका जप हुआ। इससे

वादीकी क्या इष्ट-सिद्धि हुई ? जो कि—आगे उसने उनका यह वाक्य लिखा है 'दोनोंका समागम इसी चतुर्थ रात्रिको अवश्य होना चाहिये, यह सूत्रकारके मूलपाठके किन शब्दोंका अर्थ है—यह उन्हें प्रमाण मानने वाले वादीको बताना चाहिये। समागमका उनका भाव यह है कि—दोनोंको सुलानेका नाटक खेलें। यहाँ सम्भोग नहीं बताया गया। स्वा.द.जीने रमावाईको लिखा था—'आपका प्रेमास्पद, आनन्दप्रद पत्र मिला।...यदि आप इस समयके बीचमें आवेंगी, तो मेरा समागम होगा' यहाँ स्वा.द. जीका रमावाईसे 'समागम' वादी क्या मैथुन मान लेगा ? यदि ऐसा है; तो वह स्वीकृति दे; तब हम भी स्वा.द.जीके तथाकथित शिष्य पं० भीमसेनजीके वचनमें 'समागम'में मैथुन अर्थ मान लेंगे।

(ङ) महाशय ! यह एक रस्मविशेष है, आजकल भी कहीं-कहीं विवाहोंमें सबके सामने यह रस्म पूरी की जाती है—यह मैथुन नहीं होता। ब्रह्मचारी रहकर आये हुए दम्पतियोंको जिनको इन विषयोंका ज्ञान सर्वथा नहीं होता, उन्हें इन वातोंका ज्ञान करानेकेलिए यह नाटक उनसे कराये जाते हैं; खट्वा आदि पर सोना, तथा 'आरोह ऊरुम्' आदि मौखिक वातें भी कही जाती हैं—यह रहस्य है। आपस्तम्बगृ. में ही वहीं लिखा है—'अन्यो वैनामभिमन्त्रयेत्' (३।८।११) अर्थात् इस समावेशनमें दूसरा आदमी मन्त्र वोले। यदि यहाँ मैथुन होता, तो वधूके अभिमन्त्रणकेलिए दूसरेकी वधूके समीप कैसे स्थिति होती ? क्या

आपके यहाँ मैथुन सबके सामने होता है ? इससे स्पष्ट आपस्तम्ब मुनिको यहाँ पर दम्पतीका मैथुन इष्ट नहीं, पड़े हुए डण्डेको हटाना, तथा सुलानेका नाटक मन्त्र कराना—यही इष्ट है। जैसे कि काठकगृ.सू.में लिखा है— विशतः' (३०।२) यहाँ देवपालने टीकाकी है—'तौ एकस्मिन् शयने भवतः'। आदित्यशरणने भी लिखा है— शयितौ भवतः'।

इस सुलानेके नाटकमें प्रवल प्रमाण यह है कि जब विवाहिता लड़की पतिके घरमें पहुँचती है, तब उसकी एक लड़का देते हैं, और उस वधूको कहा जाता है— एषः' (अ. १४।२।२४) (यह तेरा पुत्र है); सो यह पुत्र नाटक खेला जाता है। तव क्या वादी इस लिंगको देखकर घरसे ही पुत्रको पैदा करके लाने वाली लड़कीका मानेगा ? यदि ऐसा है, तव उसे वधाई है। वस्तुतः पूर्वोक्त दिये हुए वचनमें 'समावेशन'का अर्थ 'इकट्ठा लिटाना' मात्र मैथुन नहीं। जैसे कि—मरे हुएके साथ सती होनेकेलिए पत्नी लिटाया जाता है, वहाँ 'वोधायनगृह्य पितृमेधसूत्र'में लिखा 'अथास्य [मृतकस्य] भार्याम् उपसंवेशयति' इयं नारीति' (१। १।८।१)। अथर्व. सायणभाष्यमें भी कौशिकसूत्रके आधार लिखा है—'भार्या प्रेतेन (मृतेन) यह सवेशयेत्' (१८।३।१)। गृ.सू.में भी लिखा है—'प्रेतं संवेशयन्ति उत्तरेण, उत्तरतः संवेशयन्ति, (४।२।१५-१६) इन सभी स्थानों पर 'संवेश

'लिटाना' अर्थ है, मैथुन नहीं। इस प्रकार पूर्वोक्त आपस्तम्ब-वचनमें भी 'समावेशन'का अर्थ इकट्ठा लिटानामात्र है, मैथुन नहीं, क्योंकि-मैथुन तो शास्त्रानुसार ऋतुकालके चतुर्थ दिन रात्रिमें कहा है, विवाहके चतुर्थमें नहीं। विवाहमें 'राता' (ऋतुमती आगृ.सू. १।३।१२)का निषेध है।

(च) तब फिर प्रश्न है कि यदि आपस्तम्ब मुनिको पूर्वोक्त वचनमें गर्भाधान इष्ट नहीं; तब वे मुनि विवाहिताका गर्भाधान कब कराते हैं; इसपर उत्तर यह है—उसीके आगे यह पाठ है—'यदा मलवद्वासाः स्यात्' (जब उस लड़कीका ऋतुकाल आवे) ···(३।८।१२) 'रजसः प्रादुर्भावात् स्नाताम् (और ऋतुस्नान कर ले) ऋतुसमावेशने उत्तराभिः ('विष्णुर्योनिं कल्पयति-इत्यादिभिः १३ ऋग्भिः) अभिमन्त्रयते' (तब निम्न मन्त्रोंसे ऋतु-गमन करे) (३।८।१३) इससे स्पष्ट है कि—आपस्तम्बमुनिको भी विवाह ऋतु-कालसे पूर्व ही इष्ट है; और जब अपने समयमें विवाहिताका ऋतु आवे; तभी मैथुन इष्ट है, तब लड़कीका विवाह स्पष्ट ही ऋतुकालसे पूर्व सिद्ध हुआ। सो मैथुन विवाहकी चतुर्थरात्रिमें विहित न होकर चतुर्थीकर्ममें तो हवनमात्र तथा आपस्तम्बके अनुसार दोनोंका शयनका अभिनयमात्र, और मैथुन ऋतुकालके चतुर्थरात्रिके पश्चात् जैसा कि—आपस्तम्बने अपने गृह्यसूत्रमें कहा है—'यदा च मलवद्-वासाः स्यात्···(३।८।१२) 'चतुर्थीप्रभृति आ षोडशीमुत्तरामुत्तरां युग्मां प्रजानिःश्रेयसम् ऋतुगमने इत्यु-पदिशन्ति (३।६।१) स्त्रीकी योग्यतामें सिद्ध हुआ। इससे वादी-

का पक्ष छिन्न-भिन्न हो गया। आपस्तम्बगृह्यसूत्र कृष्णयजुर्वेदका है। वादीका सम्प्रदाय कृष्णयजुर्वेदको वेद नहीं मानता; तब उसके गृह्यसूत्रको वह वैदिक कैसे मानता है ? हमने तो यहाँकी वास्तविकता बता दी है।

(६) अब 'त्रिरात्रमन्ततः'का भाव बताया जाता है, वह यह है कि—पारस्करमुनि कहते हैं कि—दम्पति साल तक ब्रह्मचारी रहें। यदि न रह सकें; तो बारह रात तक रहें, फिर भी सम्भव न हो, तो छः रात ब्रह्मचारी रहें। यदि छः रात तक भी ब्रह्मचारी न रह सकें, तो अन्तमें तीन रात्रि तक तो अवश्य ब्रह्मचारी रहें। क्योंकि—चतुर्थीकर्मसे पूर्व तक वह पूर्ण भार्या ही नहीं होती। तब उसमें पतिका अधिकार नहीं हो सकता। ब्रह्मचारीका भाव यह है कि—ब्रह्मचर्यमें खाट पर सोना नहीं पड़ता, संयम रखना पड़ता है, इत्यादि नियम होते हैं। फिर चतुर्थीकर्म करके पांचवें दिनसे दोनों खाट पर सोया करें। इसीकी स्पष्टता भाष्यकारोंने की है। उसमें जयरामने लिखा है—'संवत्सरादिपक्षाऽशक्तौ त्रिरात्रपक्षाश्रयणेऽपि चतुर्थीकर्मानन्तरं पञ्चम्यादिरात्रौ अभिगमनम्। चतुर्थीकर्मणः प्राक् तस्या भार्यात्वमेव नोत्पन्नम्। विवाहैकदेशत्वा-च्चतुर्थीकर्मणः' (१।८।२१) अर्थात् चतुर्थीकर्म विवाहका अङ्ग है। चतुर्थीकर्मसे पूर्व तो वह पूरी स्त्री (भार्या) भी नहीं होती; अतः उसमें पुरुषका कोई अधिकार नहीं होता। जब त्रिरात्र पक्ष ब्रह्मचर्यका माना जावे; तो चौथे दिन उषाकालमें चतुर्थीकर्म करके फिर उसके बाद पाँचवीं रात्रिसे पतिका उसपर अधिकार

हो जाता है। कितना स्पष्ट है ?

(ख) यही हरिहरने लिखा है—'संवत्सरं वर्षं यावद् मिथुनम् अभिगमनं नोपगच्छेताम्। अथवा द्वादशरात्रम्, अथवा षड्रात्रं, यद्वा त्रिरात्रम्, अन्ततः-सवत्सरादि-पक्षाणामन्ते त्रिरात्रम्।... संवत्सरादिपक्षाऽशक्तौ त्रिरात्रपक्षाश्रयणेपि चतुर्थीकर्मान्तरं पञ्चम्यादिरात्रौ अभिगमनं, चतुर्थीकर्मण. प्राक् तस्या भार्यात्वमेव न संवृत्तम्, विवाहैकदेशत्वाच्चतुर्थीकर्मण.'। इससे चतुर्थीकर्ममें वादीसे इष्ट गर्भाधान पारस्कर, गोभिल आदि स्वा.द.के मान्य गृह्यसूत्रोंसे ही खण्डित हो गया। सो वह चतुर्थीकर्मके बाद जब स्त्रीका ऋतुकाल आवे, तब उसकी योग्यता एवं इच्छा तथा स्वास्थ्यादि देखकर ऋतुकाल देना पड़ता है; अतः अनिवार्य नहीं होता। तब इससे वादीके पक्षकी कुछ भी सिद्धि नहीं। राग-प्राप्तकी विधि कभी हो भी नहीं सकती। तभी तो वादीके स्वामीने भी लिखा है—'यदि चौथे दिवस कोई अड़चल आवे; तो अधिक दिन ब्रह्मचर्य व्रतमें दृढ रहकर जिस दिन दोनोंकी इच्छा हो, और गर्भाधानकी रात्रि [ऋतुका चतुर्थदिन] भी हो; उसी रात्रिमें यथाविधि गर्भाधान करें (सं.वि.पृ. १६६) इससे विवाहके चतुर्थ दिन गर्भाधानकी वादिसम्मत अनिवार्यता खण्डित हो गई।

नग्निका-अनग्निका।

(१०) अब नग्निका-अनग्निका विषय पर विचार दिया जाता है। हमने गोभिलगृह्यका 'नग्निका तु श्रेष्ठा' यह पाठ दिया

था; वादी इस पर हमारा छल-कपट यह कहकर लिखता है कि-'आपने यहाँ पाठभेद कर दिया है। इन्होंने यह समझा होगा कि-पाठकोंके सामने तो मूलग्रन्थ होगा नहीं; अतः मूर्खोंमें मेरा प्रमाण मान्य हो जायगा'। पर वादीने इस विषयमें ऊहापोहपूर्वक अनुसन्धान नहीं किया मालूम होता, केवल सामश्रमीवाले गोभिलगृह्यपर विश्वास करके 'अनग्निका तु श्रेष्ठा' यह पाठ उसने लिख दिया, और हम पर आक्षेप भी कर दिया। पर यह उस बेचारेको पता नहीं कि-सामश्रमीजीने ही यहां पाठ बदल दिया। वे एशियाटिक सोसायटीमें काम करते थे, उन पाश्चात्योंके अनुसार ही विवाह-विषयक विचार-धारा रखते थे, उन्होंने 'नग्निका'के साथ 'अ' जोड़कर जघन्य पाप किया है, जो अक्षम्य है। अन्य स्थान भी उनने परिवर्तन किया है। उनने पहले 'यदर्तुमती भवति' इस गोभिलपाठके अर्थके अवसर पर मूलमें 'पुनः' शब्द न होनेपर भी अर्थमें 'पुनः' शब्दका प्रक्षेप कर दिया—यह हम पहले कह चुके हैं। इससे सामश्रमीजीकी उनके बिना कोष्ठक लगाये प्रक्षेप करनेकी तथा पाठ बदलनेकी प्रकृति स्पष्ट हो रही है। उन्हीका अन्धाधुन्ध अनुसरण करनेवाला वादी भी अन्धेरेमें है। इस विषयमें हम उपपत्तियाँ देते हैं—

१ ठा. उदयनारायण वाले गोभिलगृ. पृ. ८४ की टिप्पणीमें 'मातुरसपिण्डनग्निका तु श्रेष्ठा' यहाँ 'नग्निका' पाठ है; यह तो प्रत्यक्ष है। सामश्रमीजीने उसे ही 'अनग्निका श्रेष्ठा' कर दिया।

२ श्रीचन्द्रकान्ततर्कालङ्कारके भाष्य वाले गोभिलगृह्यसूत्रमें भी यही पाठ है– नग्निका तु श्रेष्ठा' (३।४।६) देखो उक्त पुस्तकका ५११वाँ पृष्ठ। ३ 'विवाहकालविमर्श' (जो मैलापुर संस्कृत-कालेजसे प्रकाशित है, जो आर्यसमाजी ध.दे.जीसे भी मान्य है) उसकी प्रमाणपट्टिकामें भी 'नग्निका तु श्रेष्ठा' गोभिलका यही पाठ है। ४ 'प्रिंसिपल आफ हिन्दु ला' (जी. सी. घोष कलकत्ता १९०३) की पुस्तकमें भी 'नग्निका तु श्रेष्ठा' यही गोभिलका पाठ उद्धृत किया गया है। ५ 'श्री' पत्रिकाके सम्पादक आर्यसमाजी श्रीकुलभूषणजी डी. पी. एच. (लण्डन) ने भी 'श्रीः' (१।३ पृ. ६ पं. ६) में 'श्रुतिस्मृत्योर्वैभवम्' इस अपने लेखमें गोभिलका 'नग्निका तु श्रेष्ठा' यही पाठ दिया है। ६ म.म. श्रीमुकुन्दशर्मासे व्याख्यात काशीमुद्रित 'गोभिलगृ.'में भी 'नग्निका तु श्रेष्ठा' (३।४।६) यही पाठ है। ७ गोभिलपुत्रकृत 'गृह्यासंग्रह' (२ प्रपा. १७ श्लो.)की अवतरणिकामें श्रीचन्द्रकान्त तर्कालङ्कार भट्टाचार्यने लिखा है–'नग्निका तु श्रेष्ठा' इति सूत्रोक्तां नग्निकां व्याकुरुते' यह कहकर वहां 'नग्निका' यही पाठ माना है। ८ गृह्यासंग्रहके २० पद्यके भाष्यमें भी श्रीचन्द्रकान्त तर्कालङ्कारने लिखा है— अरजाम्–अरजस्काम्। तद् ईदृशीं कन्यामभिप्रेत्य प्रशस्यते (कर्मकादपि भावे तिङ् छान्दसः) प्रशंसा क्रियते, 'आचार्येण' वाक्यशेषः। तथा च गोभिलसूत्रम्–'नग्निका तु श्रेष्ठा' इति। गोभिलगृ.के उक्त सूत्र पर श्रीचन्द्रकान्तका भाष्य इस प्रकार नग्निका इति अनागतार्तवा उच्यते, सा तु श्रेष्ठा, अतस्ता-

मुद्वहेत्।...'तस्मान्नग्निका दातव्या-इति वसिष्ठः'। १० गोभिलकी अन्तःसाक्षी भी 'नग्निका' पाठमें है; तभी तो उसने 'ऊर्ध्वं त्रिरात्रात् सम्भवः' इत्येके' (२।५।७) इस मतका 'यदा ऋतुमती भवति, तदा सम्भवकालः' (गो. २।५।८) यह कहकर खण्डन कर दिया। यदि गोभिलके मतमें 'आगतार्तवा' (अनग्निका) का विवाह होता; तब 'ऊर्ध्वं त्रिरात्रात्' इस मतके खण्डनकी तथा 'यदा ऋतुमती भवति' यहाँ 'यदा' लिखनेकी आवश्यकता भी नहीं थी। इसलिए इस सूत्रकी व्याख्यामें मूलमें न कहा हुआ भी 'पुनः' शब्द सामश्रमी जी ने उस व्याख्यामें अपनी कपोल-कल्पनासे प्रक्षिप्त कर दिया। उस मतका खण्डन सिद्ध कर रहा है कि–गोभिलको 'अनागतार्तवा'का विवाह इष्ट है, इसलिए वहाँ 'नग्निका' यही पाठ गोभिलका है।

११ इस प्रकार (मानवगृह्यसूत्र (१।७।८)में भी लिखा है–'बन्धुमतीं कन्यामस्पृष्टमैथुनामुपयच्छेत'''नग्निकां श्रेष्ठाम्' यहां भी अनागतार्तवाका विवाह बताया है। १२-१३ प्रदानं प्राग्ऋतोः' (२।६।२१) यहाँ पर गौतम-धर्मसूत्रमें भी ऋतुकालसे पूर्व ही विवाह माना है। यहाँ पर मिताक्षरा-टीकामें भी हरदत्त लिखते हैं—'ऋतुदर्शनात् प्रागेव देया कन्या'। 'अप्रयच्छन् दोषी' (२२) यहाँ मिताक्षरामें लिखा है—'तस्मिन् काले [ऋतुकालात् प्राग्] अप्रयच्छन् पित्रादिर्दोषवान् भवति। अत्र याज्ञवल्क्यः–'अप्रयच्छन् समाप्नोति भ्रूणहत्यामृतौ ऋतौ'। १४ इसलिए हिरण्य-केशीगृ.में भी 'भार्यामुपयच्छेत सजातां नग्निकां' (१६।६।१) यहाँ

नग्निकाका विवाह माना है। १५ वैखानसगृह्यसूत्रमें भी यही कहा है–'मातुरसपिण्डां···नग्निकां कन्यां वरयित्वा' (३।२)। १६ 'भार्यां विन्देत नग्निकाम्' यह 'उद्वाहतत्त्व'में स्थित निर्णय-सिन्धु, धर्मसिन्धुसे उद्धृत महाभारतके वचनमें भी नग्निकाका विवाह बताया है। १७ महाभारतमें भी लिखा है–त्रिंशद्वर्षो दशवर्षां भार्यां विन्देत नग्निकाम्' (अनुशासनपर्व ४४।१४) यहां भी 'नग्निकाम्' है। वसिष्ठधर्मसूत्रमें भी लिखा है–'प्रयच्छेन्नग्निकां कन्यामृतुकालभयात् पिता। ऋतुमत्यां हि तिष्ठन्त्यां दोषः पितर-मृच्छति' (१७।६२-६१-६३)। १९ वोधायन धर्मसूत्रमें भी कहा है–'दद्याद् गुणवते कन्यां नग्निकां ब्रह्मचारिणे' (४।१।१२)। २० यदि गोभिलमें 'अनग्निका' ही पाठ होता; और उसका अर्थ 'ऋतुमती' होता, तो गोभिलका वचन भी समय-समय पर देनेवाले वादीके स्वामी दयानन्द जी 'अनग्निका तु श्रेष्ठा' यह गोभिलका पाठ अवश्य उद्धृत करते; पर स्वामीने गोभिलका 'नग्निका' पाठ देखा; उसमें अपने पक्षकी हानि देखकर उस भयसे उसे छिपा लिया। यह तो हमारे पक्षमें प्रवल उपपत्ति है, जो पथिकके पक्ष को कभी उठने नहीं दे सकती। इन बीस प्रवल उपपत्तियोंसे यह स्पष्ट हो गया कि–गोभिलगृह्यसूत्रमें 'नग्निका तु श्रेष्ठा' पाठ था। किसी भी शास्त्रकारने ऋतुमतीके विवाहको श्रेष्ठ प्रमाणित नहीं किया; अतः 'नग्निका तु श्रेष्ठा' यह पाठ कभी अन्य शास्त्रोंसे विरुद्ध हो ही नहीं सकता।

प्रमाण इस विषयमें इतने हैं कि–उनको देखते-देखते

'पथिक' चक्कर खाकर अपना दयानन्दी रास्ता भी भूल जायगा इसलिए स्पष्ट है कि–संशोधनके बहानेसे ऋतुमती-विवाहके पक्षपाती श्रीसामश्रमीजीने ही 'मातुरसपिण्डानग्निका तु श्रेष्ठा' इस पाठको बदलकर 'अनग्निका' यह पाठ कर डाला वस्तुतः पाठका परिवर्तन ठीक नहीं; उन्हें अपनी स्वतन्त्र सम्मति देनी चाहिये थी। इससे सिद्ध है कि–गोभिलगृ.में प्राचीन पाठ 'नग्निका' ही है, जो पारिभाषिक है। यदि कहीं 'अनग्निका' पाठ भी मिले, तो वहां यह व्यवस्था है कि–यहाँ 'अनग्निका' शब्द यौगिक है। 'नग्निका' वस्त्रपरिधानाभावेपि लज्जाशून्या (वो.ध.सू. ४।१।१२) की व्याख्यामें गोविन्द-स्वामीने लिखा है 'योन्यादीन् नावगूहेत तावद् भवति नग्निका' (वायुपुराण) इस प्रकार की अवस्था जन्मसे लेकर ७–८ वर्ष तक होती है। उसके वाद उसे लज्जा शुरू हो जाती है, और १२वें वर्षमें तो उसे नग्न रहनेपर वड़ी लज्जा हो जाती है; यह काम-सञ्चारका चिह्न होता है। वही यौगिकरूपमें अनग्निका होती है। इसलिए 'अ वाससः प्रतिपत्तेरित्येके' (२।६।२३) इस गौतमधर्मसूत्रमें मिताक्षरा में लिखा है- 'एके मन्यन्ते-यदा कन्या वासः प्रतिपद्यते, अथ लज्जते, तावदेव प्रदेया'। इसलिए जहाँ 'अनग्निका' आवे; वहाँ जैमिनिगृह्यसूत्रके व्याख्याकार श्रीनिवासाध्वरीके 'अनग्निका यस्मिन् वयसि स्वयमेव लज्जया वासः परिदधाति, तद्वयस्का (१।२०) इस कथनके अनुसार ऋतुकालसे पूर्वकी अवस्था फलित होती है। श्रीसामश्रमीने भी दवी लेखनीसे यह

है—'यावच्च नग्ना उलङ्गापि विचरितुं शक्नुयात्-सा नग्निका' यह अर्थ किया है। इसका-अर्थ वादीने भी किया है कि—'जब तक वह उल्लंग भावसे नंगी खेल करनेमें लज्जित न होवे, उसे नग्निका कहते हैं, (पृ. ३३) सो उससे भिन्न 'अनग्निका' हो जावेगी। सो वैसी अवस्था ११-१२ वर्षकी प्रतिफलित होती है। जो कि-श्रीसामश्रमीजी ने अनग्निकाका ऋतुमती भी अर्थ लिखा है' सो ऋतुमतीत्व १२ सालके बाद कन्याका सुश्रुत आदि के अनुसार शुरू होता है; तो फिर उन्हें भी १२-१३ वर्षकी लड़कीका विवाह मानना पड़ेगा; क्योंकि-ऋतुकाल १७-२४ वर्षमें किसी भी देशमें शुरू नहीं होता। और वही ऋतुकालकी अवस्था उन्हें यौवनकी माननी पड़ेगी। 'भक्षितेपि लशुने न शान्तो व्याधिः'—इससे वादीको कुछ भी लाभ नहीं पड़ा।

(११) ला. लाजपतराय-प्रणीत 'दुखी भारत' पुस्तकके २३५ पृ. में अमेरिकाके जज लिण्डसेकी बनाई हुई पुस्तकके ४१ पृ. के अनुसार लिखा है कि 'हमने अनुसन्धान किया है कि—३१३ लड़कियोंमें २६५ लड़कियां ११-१२ वर्षकी आयुमें यौवनावस्थाको प्राप्त हो गई थीं। इनमें भी अधिकांश १२ वर्षकी आयुमें ही युवति हो गई। ३१३ बालिकाओंको यदि दो दलोंमें बांटें; तो २८५ इस प्रकार की होंगी, जो ११-१२-१३ वर्षकी आयुमें ही यौवना हो गई थीं, केवल २८ ऐसी होंगी, जिन्होंने १४-१५ वर्षोंमें ही यौवन प्राप्त किया'। जब यह शीतल देशका हाल है; तो यहांके उष्णदेशमें तथा सिनेमाके प्रचार वाले देशमें तो लड़कियोंका यौवन इससे

भी पहले होगा; तब यौवनविवाह-पक्षपाती सामश्रमी तथा उसकी बात माननेवाले वादीको भी अपनी प्रतिज्ञानुसार ११-१२ वर्षकी लड़कियोंका विवाह मानना पड़ेगा; तब 'भक्षितेपि लशुने न शान्तो व्याधिः' के अनुसार वादीका पक्ष विच्छिन्न हो गया। हमने तो यह विषय ५०० पृष्ठोंमें लिख रखा है। पर विस्तारवश यहां सब नहीं लिख सकते। वेदमें भी यही संकेत उपलब्ध होता है 'ऋत्व्ये नाधमानाम्' (ऋ.१०।१८३।२) इत्यादि। शेष रहे वादीके ऋतुमतीविवाहके संस्कार-कौस्तुभके तथाकथित दो श्लोक, अब उसपर भी लिखकर हम यह चर्चा समाप्त करेंगे।

(१२) 'ऋतुमती कन्याके विवाहमें कुछ अन्य प्रमाण' शीर्षक देकर वादी संस्कार-कौस्तुभका 'पिता ऋतून स्वपुत्र्याश्च गणयेद् आदितः सुधीः। दिनावधिगृहे यत्नात् पालयेच्च रजोवतीम्' (पृ.२१) यह वचन लिखकर अर्थ लिखता है—'पिता अपनी कन्या के ऋतुको आदिसे ही गिने। जितने ऋतुपर्यन्त कन्याको घरमें पालनेका विधान है—उतनी बार जब कन्या ऋतुमती होजाय, फिर कन्या का विवाह करे।' वादियोंको जन्मसे ही छलकी घुट्टी उनके सम्प्रदायके स्वामीने पिला दी है। यह लोग जिस पुस्तकका प्रमाण देते हैं; उसका पूर्वापर छिपाते हुए भी लज्जित नहीं होते। इन्होंने यही समझ रखा होगा कि—पाठकोंके सामने मूल पुस्तक 'संस्कार-कौस्तुभ' तो होगा नहीं; अतः मूर्खोंमें हमारा प्रमाण मान्य हो जावेगा। पथिक नहीं सोचता कि—इसकी पोल खुलनेपर विद्वानोंमें हमारा कितना उपहास होगा'

(वै.सि.मा.पृ.३३) पर इनको लज्जा कहाँ ?

यह प्रमाण वादीने कट्टर आर्यसमाजी स्वा० विश्वेश्वरानन्दजी के बनाये 'पुरुषार्थप्रकाश' के पृ.१४५-१४६ से उनपर विश्वास करके लिया है। जब उन स्वामीने इस श्लोकका पूर्वापर छिपाया; सुश्रुतके कन्याविवाहविषयक पाठको बदला; तब यह उनका अनुयायी भी क्यों न छिपावे ? वादीसे पूछना चाहिये कि-'जितने ऋतुपर्यन्त कन्याको घरमें पालनेका विधान है, उतनी बार जब कन्या ऋतुमती होजाय, फिर कन्याका विवाह करे' यह वादीने 'संस्कारकौस्तुभ' के उक्त पद्यके किन पदोंका अर्थ किया है ? हम उसे चैलेञ्ज करते हैं; वह उक्त श्लोकके वे पद इस पद्यमें दिखलावे। यदि वादी कहे कि-उक्त पद्यके अग्रिम श्लोकमें हैं; तो वादी उसे भी उद्धृत करे; पर वादी ऐसा नहीं कर सकेगा। अब हम इस पद्यकी व्यवस्था तथा अग्रिम श्लोक बताते हैं, पाठक उसे देखें। यह आश्वलायनका वचन है, यह वहां विवाहसे पूर्व आपत्कालादि परिस्थितिवश कन्याके रजो-दर्शन होजानेपर प्रायश्चित्तका वचन कहा है कि पिता जब विशेष परिस्थितिवश ऋतुकालसे पूर्व कन्यादान न कर सके, तो उसके विवाहतक जितने ऋतु होजावें, तो उनकी संख्या गिनता चला जावे, और उस रजोवतीका पूरा संरक्षण करे कि-कहीं किसीसे जुड़ न जावे। क्योंकि-रजस्वलात्वमें 'उशती' हो जानेसे वैसा सम्भव हो जाता है; फिर जब योग्य वर मिल जावे; तब उससे विवाह करे; और उस रजस्वलाके घरमें रखनेके प्रायश्चित्तस्वरूप

उतनी संख्याकी गौओंका दान करे। इस बातका प्रतिपाद[illegible] वहांका आगेका पद्य यह है—

'दद्यात् तदृतुसंख्या गाः शक्तः कन्यापिता यदि। दातव्[illegible] कापि च यत्नेन दाने तस्या यथाविधि'। यदि पितामें प्रायश्चित्त[illegible] उतने (ऋतुकाल-इतने) गोदानकी शक्ति न हो, तो आश्वलाय[illegible] उसके लिए अनुकल्प बताते हैं कि-यदि वह उतनी गौओं[illegible] दान न कर सके, तो एक ही गायका दान प्रयत्न से करे। अथ[illegible] यदि अतिनिर्धन व्यक्ति हो, तो उसके अनुपातके अनुस[illegible] रुपयेका एवं अन्नादिका ब्राह्मणोंको दान देकर वरको कन्या दे[illegible] जैसे कि-'दद्याद् वा ब्राह्मणेष्वन्नम् अतिनिःस्वः (अतिनिर्धन[illegible] सदक्षिणम्। तदतीतर्तुसंख्येषु वराय प्रतिपादयेत्'। अब कन्याके लिए तीन दिनका प्रायश्चित्तस्वरूप उपवास बताते हैं, 'उपोष्[illegible] त्रिदिनं कन्या रात्रौ पीत्वा गवां पयः'। प्रायश्चित्तस्वरूप लड़कीे[illegible] भी रत्नभूषण दिलाते हैं—'अदृष्टरजसे दद्यात् कन्यायै र[illegible] भूषणम्'। अब पतिका भी प्रायश्चित्त बताते हैं—'तामुद्व[illegible] वरश्चापि कूष्माण्डैर्जुहुयाद् घृतम्'। इससे पूर्व पिता [illegible] प्रायश्चित्तका संकल्प करता है—'...जनितप्रत्यवायपरिहारद्व[illegible] श्रीपरमेश्वर-प्रीत्यर्थं प्रतिसंस्कारमर्द्धकृच्छ्रप्रायश्चित्तं तत्प्रत्याम्[illegible] यगोनिष्क्रयीभूतयथाशक्तिरजतदानेन अहमाचरिष्यामि'।

पाठकोंने देख लिया कि-यह लोग पूर्वापर छिपा[illegible] अनुसन्धान न करनेवालोंकी आंखोंमें धूल झोंका करते [illegible] सो सनातनधर्ममें कोई पिता यदि विशेष परिस्थितिवश (गुण[illegible]

वरके यथासमय प्राप्त न हो सकनेके कारण) शास्त्र-विहित आयुमें कन्याका विवाह नहीं कर रुकता, तब वह पूर्वोक्त गोदानादि प्रायश्चित कर लिया करता है। तब वादियोंके व्यक्तिगत आक्षेप उड़ जाते हैं। अब पाठकोंने देख लिया होगा कि—यह भी वादीका पक्ष विच्छिन्न हो गया। इससे ऋतुमती-कन्याका विवाह सिद्धान्त नहीं बन पाता, अन्यथा प्रायश्चित्त न करना पड़ता। पूर्वापर-पाठका छिपाना और हमारे अनुकूल पाठको प्रक्षिप्त करना इन लोगोंका कार्य रहा करता है, जो कि शोचनीय है।

(१३) आगे वादी मनुस्मृतिका 'काममामरणात् तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि। न चैवेनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्' (९।८९) यह पद्य ऋतुमती कन्याके विवाहमें उपस्थित करता है। वह उसमें कुल्लूक भट्टका भाष्य देकर स्वयं हिन्दीमें अर्थ लिखता है—'ऋतुमती होकर कन्या मरणपर्यन्त पिताके घरमें बैठी रहे; परन्तु विद्यागुण-रहितकेलिए कभी दान न करे' परन्तु यह पद्य 'ऋतुमती कन्याके विवाहमें प्रमाण' नहीं है, किन्तु यह कन्याके ऋतुमती होनेसे पूर्वमें विवाह करनेको बतानेवाला प्रमाण है। वादी लोग जब तक पूर्वापर प्रकरण अथवा उस वचनका कोई पद न छिपावें; तब तक उनके पेटमें पानी नहीं पचता। इन्हीं बातोंसे वे अपना पेट भर रहे हैं; यहाँ पर 'कामं' और 'अपि' इन दो पदोंका अर्थ वादीने छिपाया है; अब इसका अर्थ यह हुआ कि—'चाहे कन्या ऋतुमती भी होकर

पिताके घर मरने तक बैठी रहे, पर लड़कीको पिता गुणहीनको कभी न दे'। उससे 'अपि' तथा 'कामं' शब्दकी ध्वनिसे यह स्पष्ट हो रहा है कि—'पिता कन्याको ऋतुकालसे पूर्व ही गुणवान वरको दे दे। यहाँ 'भले ही रहे' यह तो है, पर 'उसे रहना ही चाहिये' यह अर्थ सर्वथा नहीं है।

इस पक्षकी सिद्धिके डरसे ही स्वा.द.जीने स.प्र. (४ समु. पृ, ४९) 'ऋतुमती अपि' इसका अर्थ नहीं किया कि—ऋतुकालसे पूर्व कहीं कन्याका विवाह सिद्ध न हो जावे। इसी प्रकार सं.वि. (पृ. १२७) में भी स्वामीने इस पदका अर्थ नहीं किया। इस अर्थ चुरानेसे स्पष्ट है कि—'दालमें काला, चोरकी दाढ़ीमें तिनका' इन लोकोक्तियोंकी यहाँ चरितार्थता है; परन्तु इस छिपानेसे वह बात छिपती नहीं, किन्तु और अधिक प्रकट हो जाती है।

'यदि गुणवान वर न मिले, तो चाहे ऋतुमती भी होकर लड़की सारी उमर पिताके घर बैठी रहे ? इस कथनसे व्यक्त हो रहा है कि—पिताके घरमें विवाहसे पूर्व मनुजीको कन्याका ऋतुमती होना इष्ट नहीं। इसलिए मनुजी 'द्वादशवार्षिकीम... अष्टवर्षां वा' (९।९४) यहाँ ऋतुमतीत्वसे पूर्व ही १२वें वर्ष तक कन्याका विवाह कर देना चाहते हैं। ८-१२ का भाव यह है कि—किसी देशमें लड़कियाँ ९, १०, ११, १२-१३वें वर्षमें ऋतुमती हो जाती हैं, अतः वहां ८, ९, १०, ११-१२ वर्षमें कन्याका विवाह कर दे, यह 'अष्टवर्षा' शब्द इन्हीं आयुओंका उपलक्षक

है। प्रायः ऋतु १२ के बाद १३वें में हो जाता है; अतः वहां १२वें वर्षमें विवाह कर दे। कहीं अधिक से अधिक यदि १७वें वर्षमें भी 'ऋतुमतीत्व हो जाता हो, वहां पर १६वें वर्ष तक लड़कीका विवाह कर डाले, यह 'उद्वाहतत्त्व'में स्थित 'त्रिंशदब्दः षोडशाब्दां भार्यां विन्देत नग्निकाम्' इस पद्यसे 'नग्निकाम्' (अनागतार्तवां) इस विशेषणसे पता चलता है; पर वादी लोग इन आयुओंमें विवाह न करके १७वें से २४ वर्ष तक विवाह करना चाहते हैं, परन्तु वह शीत देशों यूरोप आदिकेलिए तो कदाचित् ठीक है; पर इस उष्णदेशमें ठीक नहीं। इस उष्ण-देशमें यूरोपकी कुनाइन जिस प्रकार बलात् लाई गई है, और हानि कर रही है, वैसे ही यह १७–२४ वर्षकी कन्याकी विवाहायु भी बलात् यूरोपसे लाई गई है, और हानि कर रही है। फलतः हमारे ग्रन्थोंमें कन्याकी विवाहायुमें भेदका परम तात्पर्य देश-कालानुसार ऋतुमतीत्वसे पूर्व कन्या-विवाह करनेमें है; पर लड़कीकेलिए गुणवान् एवं वृत्तिमान वरकी आवश्यकता अनिवार्य समझकर मनुजी 'कन्या कामम् आमरणात्-पितृगृहे ऋतुमती अपि तिष्ठेत्; परम् एनां कन्यां गुणहीनाय तु कर्हिचिद् न प्रयच्छेत्' यह कहते हैं; सो इस पद्यका तात्पर्य कन्याको गुणवान् वरसे विवाहनेमें है, ऋतुमती लड़कीके व्याहनेमें तात्पर्य नहीं–यह स्पष्ट सिद्ध हो गया।

(ख) जो कि–द.सि.प्र.में अन्य वादी तर्क करता है कि–'मनुके ९।९० श्लोककी व्याख्यामें स.प्र. (४समु.)में 'ऋतुमती'का

अर्थ कर दिया था; अतः प्रसंगमें इस श्लोक (९।८९) का भाव ही दे दिया। शब्दार्थ नहीं किया।' वहांनेवाले दयानन्दी होशियार होते हैं; यहाँ हमने यह थोड़े ही कहा कि–'ऋतुमतीका' स्वामीने अर्थ नहीं दिया, किन्तु–'ऋतुमती अपि'का अर्थ नहीं किया; सो 'ऋतुमती अपि' इन शब्दोंका अर्थ छोड़ देनेसे हमारी उक्त बात सिद्ध हो रही है। यदि ९० पद्यके 'ऋतुमती'के अर्थ करनेसे ९।८९ पद्यके 'ऋतुमती अपि' अर्थ करनेकी आवश्यकता नहीं, तो मनुजीने दोनों पद्योंमें 'ऋतुमती' शब्दको दो बार क्यों पढ़ा, यह क्या वादी समझमें नहीं आता? और फिर ९० में 'ऋतुमती सती' है, ८९ में 'ऋतुमती अपि' है; दोनोंमें सहचारी पदों की भिन्नता भी तात्पर्यभेद प्रत्यक्ष हो जाता है; तब हमारी कही हुई बात कि–स्वामीजी रजस्वला-विवाहके प्रेमी थे' यह स्पष्ट सिद्ध हो रही है; सो शब्दार्थ भी 'ऋतुमती अपि' का स्वामीने दिया, और 'ऋतुमती अपि'का भाव भी नहीं दिया। वादीका असत्य कथन स्पष्ट है। कि–'स्वामीने इसका भाव लिख दिया'। तभी स्वामीने ८९-९० पद्योंका अर्थ आगे करके व्युत्क्रम (आगे-पीछे)से किया। और 'त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमारी ऋतुमती सती' इस ९० पद्यमें भी लड़कीका ऋतुमती होनेपर सर्व साधारणतासे विवाह नहीं कहा गया, 'अदीयमाना' (९।९१) यह पिता आदिसे गुणवान् वरको न दी जाती हुई कन्याके लिए कहा है, अतः यह अपवाद है। अतः

से उत्सर्गकी निवृत्ति नहीं हुआ करती—'नचोत्सर्गस्य अपवादाद् निवृत्तिः' (योगदर्शन साधन १३) यह न्याय है। इसी रजस्वला-विवाह प्रेमके कारण स्वामीने ६।६० पद्यके व्यवस्थापक ६।६१ इस मनु पद्य तथा उसके अर्थको भी लोक-दृष्टिसे चुरा लिया।

सो 'कुमारी ऋतुमती अपि गृहे कामं तिष्ठेत्' इससे मनुजी ऋतुमती-विवाहको इष्ट नहीं करते–यह स्पष्ट है; इसके ज्ञापक 'पित्रे न दद्यात् शुल्कं तु कन्यामृतुमतीं हरन्। स हि स्वाम्याद् अतिक्रामेद् ऋतूनां प्रतिरोधनात्' (६।६३) तथा 'अलंकारं नाददीत पित्र्यं कन्या स्वयंवरा। मातृकं भ्रातृदत्तं वा स्तेना स्याद् यदि तं हरेत्' (६।६२) यह दो पद्य भी हैं, इसे हम अभी-अभी स्पष्ट करेंगे।

(ग) जो कि द.सि.प्र.में वादी कहता है कि–'असदृश वरको न देने में यह अपवाद बताया गया है' इसपर वह जाने कि–रजस्वलात्वसे पूर्व कन्या गुणवान् वरको दे देनी चाहिये–यह सिद्धान्त इस पद्यसे निकल रहा है। "२।६०।६१ श्लोकोंमें यह अपवाद तीन वर्षका है, और पुनः स्वयं कन्याको विवाह करने का अधिकार दे दिया गया है" यह वादीका कथन ठीक है, पर यह अपवाद परिस्थितिवश जब पिता ऋतुमतीत्वसे पूर्व गुणवान् वरके न मिलनेसे कन्याका दान न कर सका हो, उस समयका है, इसमें २।६१ पद्यमें कहा हुआ 'अदीयमाना' पद प्रमाण है। इस पदसे यह सिद्धान्त स्पष्ट हो रहा है कि–पिता कन्याका दान करे; और ऋतुमतीत्वसे पूर्व कर दे। ऋतुमती

लड़कीको स्वयं वर कर लेनेके अधिकार दे देनेसे मनुजीने यह स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि–अपने प्रमादसे लड़कीके ऋतुमती हो जानेपर फिर पिताका उस लड़कीपर अधिकार नहीं रह जाता। इसलिए 'काले दाता पिता वाच्यः' (६।४) में मनुजीने ऋतुकालसे पूर्व पिताकी कन्या दान न करने पर निन्दनीयता बताई है, जैसा कि श्रीकुल्लूकभट्ट ने भी स्पष्टता कर दी है–'प्रदानकाले पिता तामददद् गर्ह्यो भवति 'प्रदानं प्राग् ऋतोः' इति गौतम-वचनाद् ऋतोः प्राक् प्रदानकालः' (ऋतुकालसे पूर्व ही कन्याका दानकाल होता है।)

(घ) आगे द.सि.प्र.में वादीका यह आक्षेप है कि–१० वर्षके बाद कन्या रजस्वला हो जाती है, और उसे देखकर पिताआदि नरकको जाते हैं–इन वचनोंकी आपके यहाँ क्या स्थिति होगी'? १० वर्षके बाद रजस्वलात्व सम्भव है; अतः यहां ऐसा लिखा गया है। प्रायः १२-१३ वर्षके बाद ऋतुधर्म भारतीय प्रकृति है; सो वहां वही अवस्था विवाहकी होगी। भाव यह है कि–जहां जिस कालमें ऋतुकाल होता है, उससे कुछ पूर्व ही कन्याका विवाह कर देना चाहिये। शेष है मनुजीके अपवाद-वचन पर वादीका यह आक्षेप कि-घरमें रजस्वलाको रखकर नरकसे न डरकर पर्याप्त समय तक रजस्वलाका दर्शन करते रहनेसे अधिक रजस्वलाप्रेम और क्या हो सकता है' (पृ.२६७) इस पर उत्तर यह है कि–'विषं भुङ्क्ष्व, मास्म चास्य गृहे भुङ्क्थाः' इस न्यायसे जैसे विष खाना तात्पर्यविषय नहीं होता; किन्तु उस व्यक्तिके घरमें

भोजन न करना तात्पर्य-विषय होता है; वैसेही मनुजीका कन्याको गुणवान् वरको ऋतुमतीत्वसे पूर्व दे देनेमें तात्पर्य है; न कि ऋतुमती कन्याको घर बैठानेमें-यह वादीको आक्षेपमात्रशूर न बनकर स्वयं भी तो कुछ अपनी बुद्धि इसमें व्यापारित करनी चाहिये।

इसलिए विष्णुने तो 'ऋतुत्रयमुपास्यैव कन्या कुर्यात् स्वयं वरम्' पिता द्वारा यथासमय वरको न दिये जाने पर कन्याको तीन ऋतुके बाद स्वयं ही वर कर लेना कहा है; इसी प्रकार मनुवचनमें भी 'त्रीणि वर्षाणि' का 'तीन ऋतु' ही अर्थ प्रतीत होता है। एक ऋतुकाल उस लड़कीके वर्षके समान होता है-यह तात्पर्य है। जैसे मीमांसामें 'वर्ष'का अर्थ 'दिन' है, वैसे यहाँ 'वर्ष'का अर्थ 'ऋतु' है। मीमांसा.के शाबर-भाष्यमें भी इसका संकेत है-'सर्वे च ऋतवः संवत्सरः' (६।७।४०)।

सो मनुजी भी ऋतुकालसे पूर्व ही कन्याका विवाह चाहते हैं, ऋतुकालमें विवाहकी विधि कहीं नहीं करते। यह विधि-वचन नहीं, किन्तु अपवाद है। अपवादसे कहीं व्यवस्था नहीं हुआ करती। जो परिस्थितिवश ऋतुमतीत्वसे पूर्व कन्या का विवाह नहीं कर सकते, वे पूर्व कहे हुए संस्कार-कौस्तुभका संस्कारप्रदीप-स्थित आश्वलायनके वचनसे गोदान वा दक्षिणा-दानादिरूपमें प्रायश्चित्त कर लेते हैं।

(१४) अब हम स्पष्ट करते हैं कि-मनुजी आदि सभी शास्त्रकारोंको भी ऋतुकालसे पूर्व ही पिताद्वारा कन्यादान

इष्ट है।

कन्यामें पिताका स्वामित्वविवेचन।

पिता कन्याका वरको दान करता है; यह वेदादि शास्त्रोंमें स्पष्ट आदेश है। देखिये-'यस्मै दद्यात् पिता त्वेनां (५।१५१) इस मनु-वचनसे, 'सविताऽददात्' (ऋ. १०।८५।६ सविता सूर्याका पिता था) इस ऋसं.के वचनसे, 'जायां यामस्मै आवाक्षुः' (६।७८।... 'एषा ते कुलपा राजन्! तामु ते परिदद्मसि' (१।१४।३, विवाहमें वर राजारूप होता है, पत्नीको नियममें रखनेसे यम होता है) 'त्वष्टाऽस्मै त्वां पतिम्' (६।७८।३) इत्यादि अथर्व. के वचनोंसे 'पित्रा प्रत्तामादाय' (पार. १।४।१५) 'तां निष्ट्यायां (स्वातौ) दद्यात्' (आपस्तम्बगृ १।३।३) 'प्रत्यङ्मुखो दाता, प्रत्यङ्मुखी कन्या प्राङ्मुखः प्रतिग्रहीता' (मानवगृ. १।८।२) 'पिता भ्राता वा दद्यात्' (मानवगृ. १।८।६) 'अलंकृत्य कन्यामुदकपूर्वं दद्यात्' (आश्वलायनगृ. १।६।१) इत्यादि गृह्यसूत्रोंके वचनोंसे 'अमुकगोत्रोत्पन्नामिमाममुकनाम्नीमलंकृतां कन्यां प्रतिगृह्णातु भवान्' (पृ. १... संस्कारविधिमें इस स्वा.द.जीके लिखे कन्यादानके संकल्प 'पितृकर्तृकं कन्यादानं तु वैधम्' श्री पत्रिका (४।४ पृ. २५... आ.स. श्रीध.दे.जीके वचनसे इस प्रकार श्रीसातवलेकर आदिके वचनसे यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है।

दाता देयवस्तुका दान तब कर सकनेका अधिकारी होता है जब उसका उसपर स्वामित्व हो, यह सभीको मानना पड़ेगा। इसलिए मीमांसादर्शन शाबरभाष्यमें भी कहा है-'प्राप्त...

(स्वामिना) हि शक्यं दातुम्, नाऽप्रभवता (न अस्वामिना)।' पिताका स्वामित्व कन्यामें ऋतुकालसे पूर्व हुआ करता है, कन्याके ऋतुमतीत्व हो जानेपर नहीं। जैसे कि-'पित्रे न दद्यात् शुल्कं तु कन्याम् ऋतुमतीं हरन्। स हि स्वाम्याद् अतिक्रामेद् ऋतूनां प्रतिरोधनात (६।६३), (जो वर ऋतुमती कन्याको लेता है; वह कन्याके पिताको धार्मिक शुल्क* (देय) न दे; क्योंकि-उस पिताने लड़की की ऋतुओंमें प्रतिरोध डाला है; उसे ऋतुसे पूर्व पति नहीं दिया। अतः वह उसके स्वामित्वसे हट जाता है। उसका अधिकार कन्यापर नहीं रह जाता।)

इससे सिद्ध होता है कि-पिताका कन्यापर स्वामित्व कन्याके ऋतुकालसे पूर्व तक रहता है; ऋतु हो जानेपर नहीं। इसी प्रकार कौटलीय अर्थशास्त्रमें भी कहा है 'ऋतुप्रतिरोधिभिः स्वाम्याद् अतिक्रामति' (४।१२।१०)। इसलिए आपत्कालमें ऋतुमतीत्व हो जाने पर पिताद्वारा कन्याका दान भी नहीं बताया

*यह शुल्क धर्ममूलक होनेपर विक्रयरूप नहीं होता; जैसा कि मनुजीने कहा हैं—'यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः। अर्हणं (सम्मानन) तत् (गोमिथुन) कुमारीणाम् (३।५४) इसलिए इसमें श्रीकुल्लूकभट्टने स्पष्टता की है—'शास्त्रनियमित जाति संख्याकं ग्रहणं न शुल्करूपम्, शुल्कत्वे...विक्रय एव तदा स्यात्। किन्तु 'आर्ष विवाह सम्पत्त्यै...कन्यायै वा दातुं शास्त्रीयं धर्मार्थमेव गृह्यते। अतएव आर्षलक्षणश्लोके 'वरादादाय धर्मतः' (३।२६) धर्मत-धर्मार्थमिति तस्यार्थः।' यह बात ठीक है। स्वा.द.जी अपनी संस्का.वि.में यह बात नहीं समझ सके; नहीं तो फिर आर्षविवाहका कोई लक्षण ही नहीं रह जायगा।

गया है; किन्तु-'कुमार्यृतुमती सती...विन्देत सदृशं पतिम्' (मनु.६।६०) कन्याका पतिको स्वयं ले लेना कहा है। अतः वहां विवाहका लक्षण भी चरितार्थ नहीं होता। परन्तु आपत्तिको छोड़कर इसकी निन्द्यता ही मानी जाती है।

फलतः जबकि-ऋतुमती कन्यामें पिताका अधिकार ही नहीं है; तब वह उसका दान ही कैसे कर सकता है? यदि पिता वैसी लड़कीका दान ही नहीं कर सकता; तब उसका वैध विवाह ही क्या हुआ? क्योंकि-'प्रदानं स्वाम्यकारणम्' (मनु.५।१५२)(दान ही स्वामित्वका कारण हुआ करता है) यह विवाहभेदके लक्षणों में, मनुआदिकी स्मृतियोंमें, आश्वलायन आदि गृह्यसूत्रोंमें देखना चाहिये। परन्तु जब पिताद्वारा कन्याका दान वेदों एवं अन्यशास्त्रोंमें कहा है, जैसा कि हम पहले प्रमाण दे चुके हैं; तब स्पष्ट हो गया कि कन्या ऋतुमती नहीं है, और पिता कन्याका दान कर रहा है। इसलिए तो मनुजीने उक्त पद्य (६।६३) के साथ वाले ही पद्यमें ऋतुकालसे पूर्व उस पिताके स्वामित्वमें ही 'हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्' (६।६४) यह कन्या-विवाहकी वय बताई है। इससे हमारे पक्षकी सिद्धि है। और १६ वर्षके विवाहके लिये वहां पर 'अदीयमाना' (६।६१) कहा है।

इसपर हम सुधारकोंके मान्य श्रीपाददामोदर सातवलेकरजी के वेदभाष्य (अथर्व. १४वां काण्ड) से 'विवाहकी वैदिक कल्पना' (पृ.५६) से कुछ अंश उद्धत करते हैं। वे लिखते हैं— 'सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सविताऽददात्' (मं.६) सविताने

मनसे पतिके विषयमें पूज्यभाव रखनेवाली अपनी सूर्या (कन्या) का दान पतिके हाथमें किया था। इस (वेदमन्त्र) में सविता (पिता) अपनी पुत्रीको पतिके हाथमें दान करता है' ऐसा वर्णन है। यह ब्राह्मविवाहका आदर्श वेदने वैदिकधर्मियोंके सामने रखा है। इसमें वधूका पिता अपनी कन्याका दान करता है। इस दान-विधिसे कन्या वरको प्राप्त होती है। यहां गान्धर्वविवाहका आदर्श वेदने नहीं रखा।...कन्याका पिता सुमुहूर्तपर अपनी कन्याका दान करता है। इससे स्पष्ट है कि—कन्यापर अधिकार पहले पिताका होता है।...वैदिकधर्मकी दृष्टिसे स्त्री स्वतन्त्र न रहे।... (अददात्) दान जो होता है, वह स्वतन्त्रका नहीं हुआ करता। पुरुषका दान नहीं होता, क्योंकि वह स्वतन्त्र होता है। कन्याका ही दान यहां (वेदमें) लिखा है। 'सूर्यां सविता पत्ये अददात्' (अथर्व.१४।१।९) 'मह्यं त्वाऽदुः गार्हपत्याय' (ऋ. १०।८५।३६, अथर्व. १४।१।५०) इन दोनों स्थानों पर 'अददात्, अदुः' कन्यादान ही लिखा है।...वेदमें स्वयंवरके मन्त्र किसी स्थानपर अबतक देखनेमें नहीं आये हैं। इससे प्रतीत होता है कि—स्वयंवरकी प्रथा पीछेसे चल पड़ी है, (पृ. ५६-५७)

पाठकोंने श्रीसातवलेकरजीका वेदानुकूल अभिमत देख लिया। यह ठीक भी है, क्योंकि—पिता दानक्रियाका कर्त्ता है; और कन्या कर्म होती है। कर्म कभी स्वतन्त्र नहीं होता। सो कन्या पिता से दिये हुए ही वरका वरण करती है। अस्तु। अब आगे चलिये—

(१५) 'अलंकृत्य सुतादानं' (मनु.३।२८) यह मनुजीने, 'अलंकृत कन्यामुदकपूर्वं दद्यात्' (१।६।१) यह आश्वलायन गृह्यसूत्रने, 'दां दत्त्वा तु पिता कन्यां भूषणाच्छादनाशनैः' (६४) यह संवर्तस्मृतिने, 'कन्याऽलकृत्य दीयेत' (४।३-५) यह बृहत्पराशरस्मृतिने, 'स्नाताया वध्वा नववस्त्रालङ्कारायाः पुण्याहान्ते पाणिं गृहीत्वा' (३।३) यह वैखानसगृह्यसूत्रने, 'कन्यां सालंकारां तुभ्यमहं संप्रददे' (१।४,१।८) यह पारस्करगृ.के भाष्यमें हरिहरने, 'अमुकगोत्रोत्पन्नामिमा-ममुकनाम्नीम् अलंकृतां कन्यां प्रतिगृह्णातु भवान्' यह विवाह संस्कारविधिके संकल्पमें स्वा.द.जीने कह कर दी जा रही हुई कन्याका पितासे दिये हुए अलंकारोंसे युक्त होना माना है। वेद भी इस पक्षमें अनुग्रह है। 'न जामये तान्वो रिक्थमारैक् अन्य ऋन्धन्' (ऋ. ३।३१।२) यहाँ पर निरुक्तने कन्याके लिखा है—'अर्धयित्वा जामिः प्रदीयते परस्मै' (३।६।१) यहां भा यह है कि—वस्त्रालङ्कारादिभिर्ऋद्धां कृत्वा-विभूष्य कन्या परं प्रदीयते'। अस्तु।

उस कन्याका पितासे दिये हुए अलंकारोंसे अलंकृत हो पिताके स्वामित्व होने पर तथा पिताके द्वारा दान होने पर ही हु करता है। ऋतुमती हो जानेपर पूर्व कहे प्रकारसे 'स हि (पि स्वाम्याद् अतिक्राम्येद् ऋतूनां प्रतिरोधनात्' (मनु. ९।९३) कन्यासे पिताका स्वामित्व हट जाया करता है, तब कन्या उस आपत्तिकालमें 'विन्देत सदृशं पतिम्' (मनु. ९। 'गम्यं त्वभावे दातृणां कन्या कुर्यात् स्वयं वरम्' (याज्ञ. आचा

विवा. ६४) इस प्रकार वरको स्वयं लेती है। तब उस कन्यामें पिताका अधिकार न होनेसे उस कन्याका भी पिताकी वस्तुओंमें अधिकार नहीं होता। इसलिए वह उस समय अलंकृत (अलंकार पहने हुई) भी नहीं होती। पिताका दहेज (दाय) नहीं ले सकती। इसलिए मनुजी ने कहा है—'अलकारं नाददीत पित्र्यं कन्या स्वयंवरा। मातृकं भ्रातृदत्तं वा, स्तेना स्याद् यदि तं हरेत्' (कन्या वरको स्वयं लेती हुई पिताके भूषणोंको न लेवे एवं न पहने। यदि ऐसा करेगी, तो चोर मानी जावेगी)। गौतम ने भी अपने धर्मसूत्रमें यही कहा है—'त्रीन् कुमारी ऋतून् अतीत्य स्वयं युज्येत अनिन्दितेन, उत्सृज्य पित्र्यान् अलंकारान् (२।६।२०) यहाँ हरदत्तने वृत्ति लिखी है—'यदि कन्यां पित्रादिर्न दद्यात्, ततः त्रीन् ऋतून्* अतीत्य स्वयमेव अनिन्दितेन कुलविद्याशीलादियुक्तेन भर्त्रा युज्येत पित्र्यान् पितृकुलायातान् अलंकारान विसृज्य'। इस प्रकार कौटलीय-अर्थ शास्त्रमें भी लिखा है—'ततः परमतुल्योपि अनलङ्कृताया.' (४।१२।१२)

परन्तु जब कि वेदादि धर्मशास्त्रोंमें उस कन्याका विवाहके समय पिताके अलंकारोंसे अलंकृत होना माना है; इससे स्पष्ट है कि-वह स्वयंवरा नहीं होती, किन्तु पितासे दी जा रही होती है। पिता उसका दान तब कर सकता है, तब उसका उस कन्यामें स्वामित्व हो, अधिकार हो। पिताका स्वामित्व 'स हि स्वाम्याद्

*इससे 'त्रीणि वर्षाणि' (९।९०) इस मनु-वचनमें भी तीन ऋतुओं-का तात्पर्य प्रतीत होता है, जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं।

अतिक्रामेद् ऋतूनां प्रतिरोधनात्' (मनु ९।९३) 'प्रदानं प्राग् ऋतोः, अप्रयच्छन् [पिता] दोषी, (गौतमधर्म. २।६।२१-२२) इस प्रकार कन्याके ऋतुकालसे पहले ही हुआ करता है। और वही वैध विवाह होता है। उससे भिन्न विवाह तो निन्दित होता है। 'तस्माद् निन्द्यान् विवर्जयेत्' (मनु ३।४२) निन्दित विवाह निषिद्ध किया गया है। इसलिए मानवगृह्यसूत्रमें स्पष्ट कहा है—'बन्धुमतीं कन्याम्'''उपयच्छेत'''यवीयसीं [कनीयसीं] नग्निकां' (१।७।८) इस प्रकार अन्यत्र भी कहा है-यह हम पूर्व बता चुके हैं। नग्निकाकी परिभाषा 'नग्निकाऽनागतार्तवा' (अमर. २।६।८) है। सो कन्याका ऋतुकालसे पूर्व द्वादशादि वर्षोंमें विवाह प्रमाणोपेत तथा युक्ति-युक्त सिद्ध हो गया।

(१७) जो कि वादीने 'षोडशवार्षिकं यावत् बाल्यं तावत् प्रवर्तते' यह हारीतसं. (शारी. १ अध्या.)का प्रमाण लिखा है, यहाँ पर 'यावत्' शब्द है, 'आ षोडशाद् भवेद् बालः पञ्चविंश युवा नरः' (१।५।४) यहाँ 'आङ्' शब्द है, 'आ षोडशाद् वृद्धिः' इत्यादिमें भी 'आङ्' शब्द है। 'आङ्' तथा 'यावत्'का अर्थ १६ वर्षसे पहले होगा, १६वें से यौवन होगा। इसमें एक दो दृष्टान्त लीजिये।

'आ कडारादेका संज्ञा' (पा. १।४।१) यहाँपर 'आङ्' है, इसका मर्यादा अर्थके अनुसार 'कडाराः कर्मधारये' इत्यतः प्राक्' यहाँ 'प्राक् (पहले)' अर्थ किया गया है, 'कडाराः कर्मधारये' वाला सूत्र इसमें शामिल नहीं होता। 'वा आ उताप्योः'

स० ध० १६

पा. ३।३।१४१) यहाँ भी, 'आङ्'का 'उताप्योः' इत्यतः प्राक्' यह
अर्थ किया गया है। अब 'यावत्'का प्रयोग देखिये—'अनवक्लृ-
प्त्यमर्षयोः' इत्येतद् 'गर्हायां च' इति यावद् अनुवर्तते' (सिद्धान्त-
कौ. ३।३।१४६) यहाँ भी 'यावत्'का अर्थ 'पूर्व' है कि—'गर्हायां च'
(३।३।१४६) सूत्रसे पूर्व तक उक्त अर्थोंकी अनुवृत्ति जाएगी;
'गर्हायां च'में नहीं। बालमनोरमामें भी लिखा है—'यावदिति'—
'गर्हायां च' इत्यतः प्राग् इत्यर्थः'। एक और उदाहरण देखिये—
'स्त्रियाम्' (४।१।३)के अधिकारकेलिए लिखा है—'समर्थानामिति
यावत्' इसमेंके 'यावत्'का अर्थ बालमनोरमामें लिखा है—'याव-
दित्यवधौ' 'समर्थानां' इत्यतः प्राग्, इत्यर्थः'। इनके उदाहरण
अन्य भी बहुत से दिये जा सकते हैं। तब षोडशवर्षसे पूर्व
पुरुषकी बाल्यावस्था रहेगी, १६ वर्षसे यौवन। तब आयुर्वेदा-
नुसार 'ऊनषोडशवर्ष' के राम रामायणानुसार भी 'समुपस्थित-
यौवन' सिद्ध हो गये। स्त्रीका यौवन उस अनुपातसे ८ वा १२
वर्षसे प्रारम्भ हो जाता है। जो कि सीताके विषयमें कहा जाता है
कि—छः वर्षकी अवस्थामें उसने उपदेशग्रहण कैसे किया, इसपर
७म पुष्पमें हम लिख चुके हैं। ध्रुव, प्रह्लाद आदिने बचपनमें
ही उपदेश ग्रहण कर लिया था; तब अयोनिजा सीताकेलिए क्या
कठिनता है।

(१८) कई लोग मानवगृ. तथा याज्ञवल्क्यस्मृति आदिमें
विवाह्यमान लड़कीकेलिए 'यवीयसीं' देखकर युवति-विवाह
सिद्ध करना चाहते हैं, यह ठीक नहीं है। वहां 'वयसा प्रमाण-

तश्च न्यूनां' इस मिताक्षराके वचनानुसार 'अपनेसे काफी छोटी'
यह अर्थ है। इसीलिए अमर-कोषमें 'जघन्यजे स्युः कनिष्ठ-
यवीयोऽवरजानुजाः' (२।६।४३) 'यवीयस्' शब्दको 'छोटे' अर्थमें
लिखा है। 'युवाल्पयोः कन्'—(५।३।६४)की तत्त्वबोधिनीमें भी
लिखा है—'युवेति स्वरूपग्रहणम्, न तु युवापत्यस्य, अल्पप-
साहचर्यात्, व्याख्यानाच्च' अर्थात्—यहां 'युवा'का अर्थ 'छोटा'
है, तभी तो युवा और अल्पको कन् होकर 'कनीयान्, कनिष्ठ'
आदि बनता है, जिसका अर्थ 'छोटा' होता है। मनुस्मृति-
रामायणादिमें 'काफी छोटा' इस अर्थमें 'यवीयस्' पदके सहस्रों
प्रयोग दिखलाये जा सकते हैं। इसलिए 'युवराज'का 'छोटा राजा'
अर्थ होता है। 'जवान राजा' नहीं। नहीं तो 'यवीयसी'का 'बहुत
अधिक जवान' अर्थ होनेपर वादियोंका भी अनिष्ट हो जावेगा।
वे भी कन्याको पुरुषकी अपेक्षा 'काफी छोटी' चाहते हैं, अतः
यह पद स्त्रीके यौवन-विवाहका बोधक नहीं।

इससे प्रौढा-विवाहके प्रमाण देनेका विफल प्रयास करते हुए
पथिकका पक्ष सर्वथा विच्छिन्न हो गया। अधिक स्थान न होनेसे
अब अधिक नहीं लिखा जा सकता। वैसे हमारे लिखित ग्रन्थोंमें
अभी इस विषयमें प्रचुर सामग्री विद्यमान है। समयपर उसका
उपयोग होगा। अब पूर्व-प्रतिज्ञात 'बाल-विवाह-विमर्श'से पूर्व
'एक वैदिकविवाहके रहस्यपर 'होली हुलासका स्वप्न' दिखला-
कर फिर यह विषय दिया जायगा।

[प्रासङ्गिक]

(८) एक 'वैदिक-विवाह'का रहस्य।

(होलीके हुलासका एक विचित्र स्वप्न)

(१) होलीका रंग चल रहा है। कई बाबू रंगसे बचकर चल रहे हैं। एक सुधारक बाबू पर होलीसे मतवाले लोग रंग डालने लगे; तब उसने कहा—खबरदार, मुझपर रंग न पड़े। मैं मुसलमान हूँ। पर वह था हिन्दु ही। उसके चोटी-जनेऊ देखे गये, वे सचमुच नहीं थे। तब होलीके मतवालोंने उसकी पैंट खोल ली, और देख कर कहा-तुम्हारी 'सुन्नत' नहीं हुई-हुई है। तुम मुसलमान नहीं हो, हिन्दु हो। तुमने यह अपने हिन्दुत्वके छिपानेका नाटक खेला था, अब फल भोगो। उसपर रंग खूब डाला गया। पैंट वे लोग देना नहीं चाहते थे।

वह बहुत तिलमिलाया, बड़ी मुश्किलसे उन लोगोंसे उसने पैंट ली; और वहीं पासके बगीचेमें जाकर बैठ गया। वहीं पर बैठे एक पण्डितको देख कर वह उसे पहचान गया, और उससे बात-चीत करते-करते उससे वह सुधारक झगड़ने लगा। लोग इकट्ठे हो गये। पूछने पर सुधारकने कहा कि-मैं एक कलियुगी वैदिक सम्प्रदायका सुधारक हूँ, और उसके प्रवर्तक पर श्रद्धा रखता हूँ; पर यह उनकी कटु आलोचना करता है।

लोगोंने उस पण्डितसे पूछा कि-भले आदमी! क्या बात है? उसने कहा कि-मैं एक पण्डित हूँ। इनके मत-प्रवर्तकके पुस्तकोंके पढ़नेका रसिक हूँ, उनकी पुस्तकोंकी मैंने बहुत देख-

भाल कर रखी है। थोड़े दिन हुए-मुझे इन सुधारक जीने अपनी लड़कीका तथा-कथित 'वैदिक' विवाह-संस्कार ठीक स.प्र. एवं सं० वि. द्वारा उसमें प्रोक्त विधिके अनुसार करानेको विवश किया। मैंने कहा कि-यदि मैं आपकी कथाकथित विधिके अनुसार विवाह कराऊँ; तब फिर आप नाराज तो न होइयेगा? इन्होंने कहा कि-जब आप उन ग्रन्थोंकी कही विधिके अनुसार ठीक-ठीक विवाहसंस्कार पढ़ेंगे; तब नाराजगीका प्रश्न ही नहीं उठता।

मैंने मान लिया। विवाह वाले दिन मैं इनके घर पहुँच गया; और विवाहसंस्कार शुरू कर दिया। ग्रन्थप्रोक्त 'वैदिकविधि'के अनुसार मैंने कई बातें इनसे वा इनके घर वालोंसे पूछीं; तब यह मुझसे बिगड़ पड़े, और मेरी वेइज्जती की। तब मैं इनकी लड़की का विवाह अपूर्ण छोड़कर चला आया। वहाँ तो पड़ोसियोंके इकट्ठे होजानेके डरसे चुप होगये, मुझसे फिर कुछ नहीं कहा; पर यहां आज मुझे अकेला पाकर मुझसे कहा-सुनी कर रहे हैं।

वहां इकट्ठे हुए लोग कहने लगे कि-तुमने कोई असत्य बात कही होगी। पण्डित बोला-नहीं। मैंने कुछ भी गलत नहीं कहा। ठीक उक्त पुस्तककी विधिके अनुसार चला था। पर यह पहले तो बहुत गर्म होगये, पीछे मान भी गये। पर मैं इनके यहांसे चला आया।

लोगोंने सुधारकसे कहा कि-यदि सच्ची बात है; तो इसमें बुरा माननेकी कोई बात नहीं है। आपके मतप्रवर्तक लिख गये हैं—

'जो गुणोंमें दोष, दोषोंमें गुण लगाना वह निन्दा, और गुणोंमें गुण, दोषोंमें दोषोंका कथन करना स्तुति कहाती है, अर्थात् मिथ्याभाषणका नाम निन्दा और सत्यभाषणका नाम स्तुति है' (स.प्र. ४ पृ. ५६)

पण्डितने कहा—यह ठीक है, मैंने भी इन्हें यही बात कही थी, पर यह अपने ग्रन्थोंको पढ़ें; तब ही तो इन्हें पता चले; पर यह लोग अपने ग्रन्थोंको देखते ही नहीं, केवल मौखिक श्रद्धामात्र रखते हैं; लोगोंको वैसा करते देखकर स्वयं भी वैसा करने लग जाते हैं। इनकी अपने मत-प्रवर्तकमें श्रद्धा नाममात्र ही है, वास्तविक नहीं। यह लोग उनकी कोई बात नहीं मानते।

लोग कहने लगे; तो तुम कहना शुरू करो। हम भी इसमें तुम्हारे कथनकी गहरी जांच करेंगे। पण्डित बोला—मैं जो कुछ कहूँगा, उसमें प्रवर्तकके ग्रन्थके पृष्ठ भी साथ कहूँगा, जिससे आप लोग भी मिलान कर सकें। इस समय मेरे पास वे ग्रन्थ झोलेमें हैं भी सही। लोग कहने लगे कि—तुम बाहरी बातें न बनाओ; अपनी बात सुनाना शुरू करो।

(२) पण्डित कहने लगा कि—मैंने विवाह-संस्कार करानेके पूर्वही इन्हें कह दिया था कि—'यदि आप लोग चाहते हैं कि—विवाह-संस्कार मैं सं.वि. के अनुसार ठीक-ठीक कराऊँ, तो क्षमा कीजियेगा—आपको अपनी लड़कीको निर्लज्ज वा व्यभिचारिणी तथा विधवा बनाना पड़ेगा। मङ्गलके कार्यमें आपको अमङ्गल अपनाना पड़ेगा।' तब यह नाराज़ होगये और कहने

लगे कि—तुम निकम्मी बातें न करो, विवाहसंस्कार

मैंने कहा। बहुत अच्छा। मैंने विवाहित हो
पहले पूछा कि—क्या तुम रजस्वला होकर उसका स्ना
हो? अर्थात् ऋतुका तुम्हें चौथा वा पांचवां दि
सुनकर लड़की झेंप गई। उत्तर न दिया। पिताको
न हो; क्योंकि—कुमारी लड़कियाँ अपना रजस्वलात्व
नहीं करतीं, उसका कारण यह है कि—विवाह कन्याके
से कुछ पूर्व शास्त्रविहित है। अतः यह बड़ी लड़
ऋतुकालमें अस्पृश्यता भी नहीं करतीं, किन्तु विवाह
ही रजस्वलात्व भी प्रकट करती हैं; और उसमें अस्पृश्य
करती ही हैं; अतः यह स्पष्ट है कि—ऋतुमतीत्वसे कुछ
कन्याओंका विवाह शास्त्रविहित है; और परम्पराप्राप्त
इनके मतप्रवर्तक तो रजस्वलात्वके तीन वर्ष बाद १६वें वर्ष
विवाह ऋतुस्नान वाले (४र्थ वा ५म) दिन मानते हैं
पृष्ठ १३४); इसीलिए उसी दिन कन्याको स्नानार्थ आदिष्ट
यहाँ पूर्वोक्त ही कारण है, यह सोचकर मैंने उस लड़कीको
पूछा कि—यह लड़की क्या विवाहसे तीन दिन पूर्व रजस्वला
आज स्नान करके शुद्ध हो चुकी है?'

कुमारीकी माता भी तिलमिलाई तो सही; पर उसने कहा
कि—'नहीं। आज तो विशेष नक्षत्रवश विवाहकी साव
इसलिए हमने यह विवाह शुरू कर दिया है, ऋतुमती
प्रतीक्षा नहीं की।' तब मैंने कहा कि—स्वा. जीने विवाहसं

(१२१ पृष्ठकी टिप्पणी) में नक्षत्रादिका विवाहमें विचार कल्पना-युक्त एवं अप्रमाण माना है। उनने १२२ पृष्ठके अनुसार दोनोंकी प्रसन्नताके दिन और १३४ पृष्ठ के अनुसार 'जब कन्या रजस्वला होकर...शुद्ध होजाय' इस प्रकार ऋतुके ४थें वा ५वें दिन 'जिस दिन गर्भाधानकी रात्रि निश्चित की हो' (पृ. १३४) ऐसे समय विवाहार्थ कहा है। सो यह नक्षत्रका विचार तो उस टिप्पणीके अनुसार 'पोपगणकल्पित' है।

तब जब यह लड़की रजस्वला होकर सं.वि. (पृ.३५) तथा स.प्र. (४ पृ.५६) के अनुसार चतुर्थदिन स्नान करके शुद्ध होवे, तब ५वें दिनसे १६वें दिनतक ११वीं और १३वीं रात्रि छोड़कर जब संयोगकी इच्छा हो; तब यदि इसे पुत्रकी इच्छा हो; तो ६, ८, १०, १२, १४, १६वीं रात्रि, अथवा यदि इसकी कन्या पैदा होनेकी इच्छा हो, तो ५, ७, ९, १५वीं रात्रिको एक घण्टा रात्रि बीतनेपर विवाहसंस्कार शुरू कर देना चाहिये। यही 'वैदिक-विवाह-मुहूर्त' है। नहीं तो सं.वि.की विधिका भङ्ग हो सकता है। लड़कीको इसीलिए विशेषकर कहा जा रहा है कि-इस सम्प्रदायमें स्वयंवर श्रेष्ठ समझा जाता है, और लड़कीकी ही इच्छा मुख्य रखी जाती है।

(३) तब लड़कीकी माता और उसके यह पिताजी चिल्ला उठे कि-यह तो कहनेमात्रकी बातें होती हैं, सब विधि भला पूरी कैसे हो सकती हैं? दूसरा हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक थे-संन्यासी। उन्हें इन बातोंका भला क्या पता लग सकता था? उन्हें इस पचड़ेमें हाथ नहीं डालना चाहिये था, जिससे हमलोगों की बड़ी हानि होती है। ऋतुस्नान करनेपर उनसे कहा हुआ 'वैदिक विवाह-मुहूर्त' न तो माता-पिताके अधिकारमें है, और न संस्कार कराने वाले आर्योपदेशकके; न यह स्वयं कन्याके हाथमें है। प्रकृतिकी प्रेरणासे ही रजस्वलात्व होता है। उसका दिन यथावत् निश्चित नहीं किया जा सकता। कभी माससे एक-दो दिन पूर्व भी हो सकता है, कभी दो-चार दिन बाद भी। किसीका तो एक मासका भी अन्तर पड़ जाता है। तब हम कन्याका विवाह-दिन पहले तो कभी निर्णीत कर ही न सकेंगे।

विवाहकी तिथि कई मास पूर्व ही निश्चित कर देनी पड़ती है; क्योंकि-हमारे स्वा.जी उसी देशके वरसे तो विवाहार्थ आज्ञा देते नहीं; वे दूर देशके वरके साथ ही विवाह करनेकी आज्ञा देते हैं (स.प्र. पृ. ४७, सं.वि. पृ. १२८)। दोनों पक्ष वालोंने तैयारी करनी होती है। तब यदि स्वा.जीका कहा यही विवाह-मुहूर्त माना जावे; तो डेट फिक्स नहीं की जा सकती। तब सम्बन्धियोंको निमन्त्रण-पत्र भी नहीं भेजे जा सकते। जब ऋतुमतीत्वका दिन ही निश्चित नहीं; बल्कि कन्याको भी स्वयं यह निश्चित ज्ञान नहीं हो सकता; तब यह विधि यदि पूरी की जाय; तो निश्चित दिन कैसे लिखा जा सकता है?

अथवा यदि अनुमान करके ही कोई विवाहतिथि नियत कर दी जावे, तब उसके लिए सम्बन्धियों एवं वरपक्ष वालोंको सूचना दी जावे; और वे उस तिथिको आ जावें, पर ऋतुका

चतुर्थदिन पहले ही निकल जावे; तो चतुर्थीकर्म न हो सकनेके कारण वह वैदिक विवाह-मुहूर्त टल जानेसे आई हुई बारातको वापिस करना पड़ेगा; और उन्हें प्रार्थना करनी पड़ेगी कि–'महाशयो ! विवाहका मुहूर्त तो टल गया है, आप लोग फिर कृपा करना।'

अथवा बरात आनेके ही दिन ऋतु न आई हुई हो; और एक सप्ताहके अन्दर आनेकी आशा हो; तो बरात एवं सम्बन्धियोंको अपने घर ही हमें ठहराना पड़ जावेगा; और उनकेलिए भोजन आदिका प्रबन्ध भी करना पड़ जावेगा। इस प्रकार करनेसे तो हमारा एक वर्षका वेतन भी समाप्त हो जावेगा। दूर देशका विवाह स्वा. जीसे अभिमत होनेसे हमें यह खेल खेलना पड़ेगा। विवाहकालसूचक निमन्त्रण-पत्र यथा-समय भेजे ही नहीं जा सकेंगे।

वास्तवमें इस अव्यवस्थाका कारण यह है कि–स्वा. जी थे-संन्यासी; उनका भला विवाहोंसे क्या परिचय हो सकता था? ऋतुमतीत्वसे पूर्व विवाहके जो शास्त्रीय वचन मिलते हैं; उनको उन्होंने या तो छिपा लिया, या नहीं माना। यद्यपि गुणवान् वरके अन्वेषणमें 'कामम् आमरणात् तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि। नचैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्' (९।८९) आदिम धर्मशास्त्री इस मनुके वचनानुसार कन्याका ऋतुमतीत्व भी अपवादरूपसे सह्य कर लेना लिखा है; पर ऋतुमतीत्वके ४र्थ दिनका मुहूर्त किसी भी शास्त्रमें लिखा नहीं मिला। अस्तु,

पं.जी, आप इसे छोड़ो, अब आगे चलो, विवाह शुरू करो।

(४) तब मैंने कहा कि–बात तो आपने कही, पर मुहूर्त गलत हो गया–इस विषयमें आप जानें। अब यह बताना चाहिये कि–आज तक यह लड़की १४४ वार या १३२ वार रजस्वला हो चुकी है, वा नहीं ? क्योंकि–स्वा. जीने २४ वर्षमें कुमारीका विवाह उत्तम माना है। स.प्र. (४९ पृ.) में ३६ वार रजस्वला होने पर १५–१६ वर्षमें विवाह होना स्वा. जीने अधम माना है।

तब यह सुधारक-साहब कहने लगे कि–इन बातोंको तुम छोड़ते क्यों नहीं ? क्या यहाँ कोई रजिस्टर रखा हुआ है कि जिसमें रजस्वलापनका हिसाब-किताब लिखा हो। यह तो ऐसी ही बातें लिखी होती हैं।

मैंने कहा—तो फिर मैं विवाह कैसे पढ़ सकता हूँ, विधि पूरी होनी ही चाहिये। अस्तु। अब यह बताइये कि–इस लड़कीने संवि. (पृ. १३४) तथा स.प्र. (पृ. ५६) के अनुसार अपने अभिलषित (मन चाहे) वरसे 'गुप्त-व्यवहार' तो लिखकर पूछ लिया है न ? (स.प्र. पृ. ५६)। नहीं तो विधिव्यतिक्रम पाप हो सकता है। और कन्याने स्वयं ही इस वरको पसन्द कर रखा होगा। क्योंकि–तभी विवाह सफल हो सकता है।

तब यह सुधारक भी कहने लगे कि–तुम यह निर्लज्जताकी बातें क्यों करते हो ? इन बातोंके केवल लिखानेसे क्या

चलेगा ? यह तो विवाहसे पहले एकान्तमें अमेरिका-इङ्गलैण्ड आदिकी भांति दोनोंको मिलनेका अवसर दिया जावे; तब पूरा पता लग सकता है। मैंने कहा—यह आपकी बात ठीक है। इस सिद्धान्तके अनुसार तो एकान्त-सेवनका अवसर दिलानेमें हानि कुछ नहीं। पहले वर-कन्याको एक-दूसरेकी पूरी परीक्षा कर लेनी होगी; कि—आकर्षण-विकर्षण ठीक है, वा नहीं ? शीघ्र-पतनादि दोष तो नहीं ? केवल पूछने वा लिखने-लिखानेसे, वा ऊपर-ऊपरसे देखनेमें ठीक पता लग भी नहीं सकेगा। तब ही तो परस्पराभिलषित विवाह सम्पन्न होगा। तभी प्रीति होगी।

तब यह सुधारक जी गर्म हो उठे कि—तुम्हें यह कहते लज्जा नहीं आती ? तुम आगे क्यों नहीं चलते ? यह सब बातें सम्भव भी नहीं हो सकतीं। परस्पराभिलषितता उस थोड़े समयमें वा प्रश्नोत्तरसे पूर्ण नहीं हो सकती। आगेका भी क्या पता ? यदि आगे दोनोंमें किसी एकको बड़ी शीतला (चेचक) निकल आवे; तो रूपादिमात्र पर बना हुआ दोनोंका प्रेमका प्रासाद धराशायी हो जाया करेगा। अतः माता-पिताको ही इन सब बातोंका पता स्वयं कर लेना पड़ता है; और माता-पितासे दिये हुए वरको ही लड़कीको स्वीकार करना पड़ता है। क्योंकि—तभी तो पिता संकल्प करता है—'ओम् अमुकगोत्रोत्पन्नाम् इमाम् अमुकनाम्नीमलङ्कृतां कन्यां प्रतिगृह्णातु भवान्' (संवि. पृ. १४०) वेदमें भी पिता द्वारा कन्या-दान सुना जाता है—'सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीं सविता मनसाददात्' (ऋ. १०।८५।९)। यदि केवल

परस्पराभिलषितता ही होती; तो वर-वधू दोनों आपसमें हिल-मिल जाया करते, जैसे कि—आजकल सरकारी रजिस्टरोंमें विवाह रजिस्टर्ड किये जा रहे हैं। फिर पिता आदि द्वारा यह विवाहका नाटक करनेकी कोई आवश्यकता भी न होती। तब पिताको दहेज देना भी बच जाया करता। अस्तु, अब तुम आगे चलो।

(५) मैंने कहा—आपकी जैसी मरजी। पर मैं विवाह कैसे पढ़ूं ? अस्तु। अब इन वर-वधूको उठवाइये। यदि (सं.वि. पृ. १३४ के अनुसार) कन्याका सिर पुरुषके कन्धे तक आवे; तो दोनोंका विवाह हो सकेगा; नहीं तो फिर सं.वि.से विरोध होगा।

यह सुधारक जी बोले, इन बातोंमें क्या रखा है, अथवा ऐसा न होने पर हानि ही क्या है ? तुम आगे चलो। मैंने कहा कि—ऐसा न कहिये। इसमें एक बड़ी 'वैदिक-हानि' है। वह यह है कि—तब 'मुखके सामने मुख, नासिकाके सामने नासिका आदि (सं.वि. पृ. ४४) नेत्रके सामने नेत्र' (स.प्र. पृ. ५६) सूधे नहीं हो सकेंगे। अच्छा, अब बताइये कि—आपकी लड़कीकी तथा वर महाशयकी आयु कितनी है ? यदि (सं.वि.के पृ. १९२ के अनुसार) स्त्रीकी आयुकी अपेक्षा वरकी आयु कमसे कम डेढ़गुनी और अधिकसे अधिक दुगुनी न हो; अथवा स.प्र. (१४ समु. पृ. ३७५) के अनुसार ढाई गुना न हो; तब तक दोनोंका विवाह नहीं करना पड़ेगा; क्योंकि उसमें विधि-व्यतिक्रम होगा।

तब यह सुधारक जी कहने लगे कि-यह भी बात बहुत आवश्यक नहीं है। स्वा.द.जी १६-२५, १७-३०, १८-३६, २०-४०, २२-४४, २४-४८ यह आयु-भेद लिख गये हैं। ढाई गुना तो आयु-भेद इनमें उन्होंने कहीं नहीं दिखलाया है। पर यह हो नहीं सकता। फिर तो २४ वर्षवाली लड़कीको ६० वर्षका पुरुष मिलना चाहिये। और १६ वर्षवालीको ४० वर्षका पुरुष। पुरुषका ब्रह्मचर्य ८ वर्षके बाद शुरू होगा; और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यका ८-११-१२ वर्षमें स्वा.के अनुसार उपनयन होगा। तो लड़कीकी आयु रहेगी २४, और ब्राह्मण वरकी आयु ८-११-१२ वर्षमें उपनयनके अनुसार स्वा.जीसे प्रोक्त ४८ वर्षके ब्रह्मचर्यके अनुकूल ५६ वर्षकी, क्षत्रियकी ५६ वर्षकी, और वैश्य वरकी ६० वर्षकी रखनी पड़ेगी; फिर यह तो डेढ़ गुने-दुगुनेसे भी अधिक आयु हो जायगी; और फिर स्वा.जी ४० वर्षमें स्वप्नदोष आदि प्रारम्भ हो जाना लिखते हैं; तब क्या यह परिहाणि (क्षीणता) के समयमें विवाह उचित हो सकता है? तब स्वप्नदोषादिकी अवस्थामें शीघ्रपतन प्रारम्भ होजानेसे भरपूर २४ वर्षकी युवति-कन्याको यह बहुत बुरा लगेगा। अथवा फिर शीघ्र ही उसे 'अन्यमिच्छस्व सुभगे! पतिं मत्' इस 'वैदिक आज्ञा'को चरितार्थ करनेकेलिए किसी 'युवा'को निमन्त्रणपत्र भेजना पड़ेगा; क्या कोई लड़कीका पिता यह सहन कर सकेगा? फिर तो यह 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' (कीचड़ लगाकर हाथ धोनेसे कीचड़को हाथसे न छूना ही अच्छा होता है) न्याय

चरितार्थ हो जायगा, अतः आयुका प्रश्न तो पण्डित! तुम छोड़ ही दो। इतने समय तक कोई पूर्ण ब्रह्मचारी रह भी नहीं सकता। हमारे नेता श्रीदेहलवीजीके अनुसार (देखो उनका हापुड़ स.ध. सभासे पत्र-व्यवहार) उसमें दुस्सम्भावना बनी ही रहती है। कोई लड़का-लड़की श्रीदेहलवीजीके अनुसार पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं रह सकते। तब ब्रह्मचर्य व्रत होजानेसे उनका विवाह ही नहीं हो सकेगा। अब तुम आगे चलो।

उसके बाद मैंने कहा कि-स्वयंवर वाली इस लड़कीने दूसरे कमरेमें (स.प्र. पृ. ५६ संवि. पृ. ४४ के अनुसार) गर्भाधानकी सामग्री और गर्भाधानके बाद किये जानेवाले स्नानकेलिए अंक; सोंठ, असगन्ध, छोटी इलायची, कस्तूरी, जायफल, जावित्री और सालममिश्री डालकर औटा कर रखा हुआ दूध-इत्यादिका प्रबन्ध कर रखा है न? क्योंकि आधी रात तक विवाह-पूर्ति होते ही इसे सबके सामने ही गर्भाधानकेलिए जाना पड़ेगा। स्वा.जीने श्रीमुखसे स्वयं फरमाया है कि-जिस दिन ऋतुदान देना योग्य समझें, उसी दिन संवि. पुस्तकस्थ विधिके अनुसार सब कर्म करके मध्यरात्रि वा दश बजे अति प्रसन्नतासे सबके सामने पाणिग्रहणपूर्वक विवाहकी विधिको पूरा करके एकान्त-सेवन करें' (स.प्र. ४ पृ. ५६)।

तब यह महाशय कहने लगे कि-यह लड़की भी स.प्र. और संवि. की परीक्षा देकर पास हो चुकी है; और इन कामोंमें ट्रेण्ड होनेका सर्टिफिकेट भी ले चुकी है। इसने यह प्रबन्ध

कर ही रखा होगा; आपको पूछनेकी क्या जरूरत ?। मैंने कहा कि यदि यह सब काम स्वयं ही कर लें; तब फिर विवाहके आचार्यकी आवश्यकता ही क्या पड़े ? फिर भी जब हम लोगों-को बुलाया जाता है; तब हमें सारी सामग्रीकी जाँच करनी ही पड़ती है; और वे-वे बातें आचार्यत्वके नाते समझानी ही पड़ती हैं। अब यह लड़कीको समझ लेना चाहिये कि-इसका पति विवाहविधिके फौरन बाद ही सप्र. (पृ. ५६) के अनुसार⋯का आधान करेगा, यह भी उसका आकर्षण यथाविधि करे। सो यह 'वैदिक-गर्भाधानविधि' इसे याद रख लेनी चाहिये, जिससे कोई त्रुटि न रहने पावे, जिससे सन्तानमें त्रुटि न रह जावे। वह विधि यह है—

'जब⋯⋯का गर्भाशयमें गिरनेका समय हो; उस समय [तुम दोनों] स्त्री-पुरुष स्थिर और नासिकाके सामने नासिका, नेत्रके सामने नेत्र अर्थात् सूधा शरीर और अत्यन्त प्रसन्नचित्त रहना, डिगना नहीं। पुरुष अपने शरीरको ढीला छोड़ेगा, और [तुम] स्त्री⋯⋯प्राप्ति समय अपान-वायुको ऊपर खींचना। फिर⋯⋯को संकोच कर⋯⋯को ऊपर आकर्षण करके गर्भा-शयमें स्थिति करना'। फिर स्नान करके 'सालममिश्री'के पवित्र नुस्खेका प्रयोग करना।'

यह सुनकर यह महाशय फिर गर्म हो उठे; तो मैंने कहा कि—मैं अपनी ओरसे न तो कुछ कह रहा हूँ, और न कर रहा हूँ। फिर गरमानेकी क्या जरूरत है ? आपने ही तो कहा था

कि–ठीक सं.वि. स.प्र.के अनुसार ही कार्य करना है। मैं वैसा ही तो कार्य कर रहा हूँ। अस्तु।

(६) फिर मैंने वरको कहा कि–महाशय ! उठिये। अपनी वधूको स्नान कराइये और स्वयं भी स्नान कीजिये। यह तीन मन्त्र उसमें बोलने हैं, आप पहले कामको, फिर अपनी वधूको यह सम्बोधित करके कहेंगे–'ओं काम ! वेद ते नाम, मदो नाम असि, समानय अमुँ सुरा ते अभवत्। परमत्र जन्म अग्ने ! तपसो निर्मितोसि स्वाहा' (१) ओम् इमं ते उपस्थं मधुना सँ सृजामि, प्रजापतेर्मुखमेतद् द्वितीयम्। तेन पुँसः अभि-भवासि सर्वान् अवशान् वशिनी असि राज्ञी स्वाहा' (२)। ओम् अग्निं क्रव्यादमकृण्वन् गुहानाः स्त्रीणाम् उपस्थम् ऋषयः पुराणाः। तेनाज्यम् अकृण्वन् त्रैशृङ्गं त्वाष्ट्रं त्वयि तद् दधातु स्वाहा' (मन्त्रब्राह्मण १।१।१-३) इसका अर्थ एक आ.स.के प्रकाशक (गोविन्दराम हासानन्द कलकत्ता)से प्रकाशित तथा एक आ.स.के विद्वान् (श्रीरामगोपाल वेदालंकार–गुरुकुल कांगड़ी) से बनाये हुए 'संस्कार-प्रकाश' (पृ. १२३) में यह लिखा है–

पहले आप (वर) कामदेवको कहेंगे—'हे काम ! तेरा नाम सब जग जानता है। तू जगमें मदकारी प्रसिद्ध है। यह कन्या (अपनी स्त्रीका निर्देश करके कहना) तेरे मद करनेका एक साधन है। इसकी तू प्रतिष्ठा कर'। [फिर आप कामाग्निको कहियेगा–] हे कामाग्नि ! तेरा उत्कृष्ट जन्म इसी स्त्री-जातिमें हुआ है। तेरा निर्माण गृहस्थाश्रमरूप तपकेलिए ही किया गया

है ? [इसके बाद दूसरा मन्त्र आप अपनी स्त्री तथा उसके उपस्थ अङ्गको हाथ लगाकर कहियेगा–]

'हे स्त्री, मैं तेरे उपस्थेन्द्रियको प्रेम [मधु]से युक्त करता हूँ। सन्तानोत्पत्ति (प्रजापति) का यही [तेरा उपस्थ] द्वितीय द्वाररूप है। तू इसी [उपस्थेन्द्रिय] के द्वारा वशमें न होने वाले पुरुषोंको भी नीचा दिखाती है। हे घरकी स्वामिनी, तू [इसी अपने अङ्गसे] सबको वशमें करनेवाली है। २। तत्त्वकी खोज करनेवाले पुराने अनुभवी ऋषियोंने स्त्रियोंके उपस्थेन्द्रियको मांस खानेवाले अग्निके समान बतलाया है। उसमें साथ ही पुरुषके उपस्थेन्द्रिय-से उत्पन्न सन्तानोत्पादनमें समर्थ वीर्यको घृतके समान बताया है। हे स्त्री, वह वीर्य तेरे शरीरमें धारण होकर पुष्ट हो'।

यह कहकर दोनों वर-वधू एक-दूसरेकी उपस्थेन्द्रियको अथवा पुरुष ही वधूकी इन्द्रियको······से युक्त कर दे।

इसे सुन कर फिर यही सुधारकजी गर्मा उठे। मैंने कहा कि–यह मन्त्र मैंने तो बनाया नहीं; स्वा.जी मन्त्र-ब्राह्मणका मन्त्र लाये हैं, और अर्थ भी मेरा किया नहीं है, किन्तु आ.स.के विद्वानने किया है, प्रकाशक भी आ.स.के हैं। मालूम होता है कि–आप संस्कृत पढ़े हुए नहीं हैं। इस अर्थ करने वालेने तो अर्थको कुछ नर्म कर दिया है। यहाँ तो स्त्रीके उपस्थका वर द्वारा मधुसे लिपटाना लिखा है। स्वा.जी इस अवसर पर जातिपक्ष मानकर स्त्री-पुरुष दोनोंका अर्थ कर दिया करते हैं। इस प्रकार स्त्रीको पुरुषके अङ्गको मधुसे युक्त करना चाहिये।

यह सब स्नानागारमें एकान्तस्थलमें ही तो होगा। इससे एक-दूसरेका पता भी लग जा सकेगा। अन्तिम मन्त्रका इसी बातका संकेत कर रहा है।

यह सुनकर तो यह सुधारक जी आपेसे बाहर हो गये। बड़ी मुश्किलसे इन्हें शान्त कराया गया कि–आप संस्कृत भाषाका ज्ञान स्वयं कर लीजिये, फिर आपको स्वयं अर्थ पता लग जावेगा। अच्छा, अब हम आगे विवाहकी क्रियापर आते हैं—यह कहकर मैंने वर-पूजन कराना शुरू किया तब यह सुधारकजी जाकर कुछ शान्त हुए।

(७) फिर मैंने कहा कि–वर-महाशय! अब संवि. (पृ. के अनुसार आपको एक क्रिया करनी पड़ेगी। वह कौन मधुपर्कको उठा लीजिये, उसे तीन बार अँगूठे और अनामिका विलो दीजिये। फिर 'वसवस्त्वा गायत्रेण छन्दसा भक्षयन्तु' मन्त्र पढ़कर पूर्वदिशामें एक मधुपर्कका छींटा दे दीजिये जिससे वसु नामक पितर तृप्त हो जावें। फिर 'रुद्रास्त्वा त्रैष्टुभेन छन्दसा भक्षयन्तु' मन्त्रसे दक्षिणदिशामें मधुपर्कका छींटा दीजिये, जिससे रुद्र नामक पितर तृप्त हो जावें। 'आदित्यास्त्वा जागतेन छन्दसा भक्षयन्तु' मन्त्रसे पश्चिमदिशामें मधुपर्क जिसे आदित्य नामक पितर खावें। फिर 'विश्वे त्वा देवा आनुष्टुभेन छन्दसा भक्षयन्तु' मन्त्रसे उत्तर दिशामें थोड़ा मधुपर्कका अंश डालिये; जिससे उसे विश्वेदेवता खावें। इसके बाद 'भूतेभ्यस्त्वा परिगृह्णामि' इस मन्त्रसे ऊपर आकाश

और तीन मधुपर्कके छींटे दें, जिससे आकाशके भूत उसे खावें। फिर उनका उच्छिष्ट मधुपर्क तुम (वर) को खाना पड़ेगा। जो तुम्हारा जूठा मधुपर्क बच जावे; उसे अपने सेवक (नौकर) को खानेकेलिए देना।

तब यह सुधारकजी कहने लगे कि-आपने यह क्या 'पोप-लीला' लगा रखी है, यह तो आपने मृतकश्राद्ध कर दिया दिव्य-पितरोंका नाम कहकर। यह तो ब्रह्मचारियोंके नाम हैं। २४ वर्षका वसु ब्रह्मचारी, ४४ वर्षका रुद्र ब्रह्मचारी और ४८ वर्षका आदित्य ब्रह्मचारी।

मैंने कहा कि-ऐसा नहीं है। यदि वे स्थूल ब्रह्मचारी वहां बैठे होते, तो क्या वर दूरसे उनके मुँह पर छींटे देता; तो क्या वे तृप्त हो जाते? यह तो उन बेचारोंकी हँसी वा बेइज्जती हो जाती, और वरकी असभ्यता हो जाती कि-उनके मुँहपर थोड़ेसे छींटे देकर शेष आप गटक जाता। आपको जब वसु नामक ब्रह्मचारी भी नहीं मिल सकते, क्योंकि-गायत्री-छन्दवाले ब्राह्मण होते हैं। गायत्रीका १ पाद ८ अक्षरोंवाला होनेसे उन ब्राह्मणोंका भी ८ वर्षमें जनेऊ एवं ब्रह्मचर्य शुरू होता है। गायत्री छन्दके पूर्ण अक्षर २४ होनेसे वह ब्रह्मचर्य भी ८ वर्षके बाद २४ वर्ष तक करना पड़ता है; तब वे ३२ सालके अखण्ड ब्राह्मण ब्रह्मचारी जिनकी आयु १५०-२०० वर्षकी होगी; आपको कहां मिलेंगे। आप लोगोंके नेता शास्त्रार्थ-महारथी श्रीदेहलवीजीने हापुड़ स.ध. सभाके साथ किये हुए पत्रव्यवहारमें

लिखा था कि-कोई स्त्री वा पुरुष बुरी भावनासे बच नहीं सकता।

४४ वर्षके रुद्र ब्रह्मचारी भी आपको कहाँ मिलेंगे। इनका त्रिष्टुप्-छन्दसे योग है। त्रिष्टुप् छन्द वाले क्षत्रिय होते हैं। उस छन्दके १ पादके ११ अक्षर होनेसे उनका उपनयन तथा ब्रह्मचर्य ११वें वर्षमें शुरू होता है। उस छन्दके सारे ४४ वर्ण होनेसे पूर्ण ४४ वर्ष ब्रह्मचर्य होनेपर वे ५५ वर्षके हो जाते हैं। यह ५५ वर्षके अखण्ड ब्रह्मचारी क्षत्रिय आपको कहां मिलेंगे, उनकी आयु स्वा.द.जीके अनुसार ३०० वर्षकी होगी। हैं क्या कोई ऐसे आ.स.में?

४८ वर्षके ब्रह्मचारियोंका जगती-छन्दसे सम्बन्ध कहा गया है। जगती छन्द वैश्योंका होता है। जगती छन्दके १ पादके १२ अक्षर होनेसे वैश्योंका यज्ञोपवीत तथा ब्रह्मचर्य भी १२ वर्षमें शुरू होता है, उस छन्दके सारे ४८ अक्षर होनेसे उनका ब्रह्मचर्य भी ४८ वर्ष रह कर वह ६० वर्षका ब्रह्मचारी होता है। उनकी आयु स्वा.जीने सप्र. (पृ. २६) में चार सौ वर्षकी लिखी है। है कोई ऐसा तथा इतनी (४०० वर्ष) आयु वाला वैश्य ब्रह्मचारी आ.स.में?

शास्त्रोंमें लिखा है—'गायत्र्या छन्दसा ब्राह्मणमसृजत, त्रिष्टुभा राजन्यम्, जगत्या वैश्यम्' (वसिष्ठध.सू. ४।३)। यही बात पारस्करादि गृह्यसूत्रोंमें भी सूचित की गई है। उन सब ब्रह्मचारियोंकी मधुपर्कके एक छींटेसे तृप्ति होनी तो दूर, वह उनके

गले तक भी नहीं पहुँच सकेगा। क्या ऐसे ब्रह्मचारियोंको सं.वि.से संस्कार करानेवाले, उनके मुँह पर मधुपर्कके छींटे डालनेकेलिए कभी बुलाया करते हैं? ऐसे अखण्ड ब्रह्मचारियोंका उनकी १००, ३००, ४०० वर्षकी आयुसे स्वयं बोध हो जावेगा। क्या ऐसे और इतनी आयुके ब्रह्मचारी आ.स.में हैं? वस्तुतः यह सूक्ष्म दिव्य पितर हैं, जिनको स्वा.जीने अष्टमी, एकादशी, अमावस्या आदि तिथियोंका, तथा धनिष्ठा, आर्द्रा, मघा आदि नक्षत्रोंका देवता माना है। उनके नामसे वे नामकरणमें, अग्निमें एक आहुति भी दिलवाते हैं। यदि वे स्थूल होते, तो उनकी हवि तथा मधुपर्कका छींटा उनके मुखमें डाला जाता, अग्निमें न डाला जाता, वा दिशाओंमें न उडाया जाता, और केवल थोड़ासा छींटा वा थोड़ी-सी हवि उनके गले तक पहुँच भी न पाती; परन्तु दिव्य नित्य पितरोंके देवता होनेके कारण सूक्ष्मतावश उस स्थूल हविको सूक्ष्म करनेकेलिए उस हविको अग्निमें डाला जाता है, वे उसे गृहीत कर लेते हैं; और उस मधुपर्कके छींटेसे वे पुष्पसे मधुमक्खिकाकी भांति स्वयं सूक्ष्म होनेसे सूक्ष्म अंश ग्रहण कर लेते हैं। यही उनका भक्षण एवं तृप्त होना है। और ऊपर आकाशमें भूत भला मनुष्य कहां लटके हो सकते हैं? क्या राकेट पर चढ़ कर आकाशमें चढ़नेवाले भूत इष्ट हैं? क्या वे मुख पर मधुपर्कके छींटे डालनेकी प्रतीक्षामें अधरमें लटके रहेंगे? यदि नहीं, तो वहाँ भी सूक्ष्म भूत-प्रेतादि इष्ट हैं। अस्तु!

तब यह सुधारकजी कहने लगे--आप कैसे विवाह-संस्कारे आचार्य हैं; जो स्वा.जीकी विधियोंका पोपों वाला अर्थ करे बैठ गये। अब आगेकी विधि शुरू करो। मैंने कहा कि आ लोग अपनी पुस्तकोंको रहस्य-ज्ञानके विचारसे नहीं पढ़ते केवल सनातनधर्मियोंकी भांति 'बाबा-वाक्यं प्रमाणम्' मानक वैसी रस्म पूरी कर लेनेकेलिए कमर कसे रहते हैं; फिर आपक 'पोपों'से क्या भेद है? वस्तुतः आपके सम्प्रदायके लोग अपने ग्रन्थ मनोयोगसे नहीं पढ़ते, किन्तु पुराणोंके ही पढ़नेमें लगे रहते हैं, वह भी दोष-दृष्टिसे। अस्तु; अब हम आगे चलते हैं।

(८) फिर कुछ विधि कराकर क्रमागत एक मन्त्र वर द्वारा मैंने कन्याके प्रति कहलवाया–'ओम् अघोरचक्षुरपतिघ्न्या एधि ...वीरसूर्देवृकामा' (पृ. १४४) इसका अर्थ भी समझाया– वरानने! तू वीरोंकी उत्पादिनी हो। तू देवृकामा–अपने देवर मेरे भाईसे मैथुनकी कामना करती हुई (नियोगकी भी इच्छा करने हारी) सुखयुक्त हो'।

उस समय यह सुधारक जी फिर बिगड़ कर कहने लगे कि–यह आपने असभ्य शब्द क्या कहा? मेरी लड़कीको इस हो रहे हुए विवाहमें आप पतिव्रतधर्मका पाठ पढ़ा रहे हैं, या व्यभिचारका? कितने तुम्हारे असभ्य शब्द हैं? इसका एक विवाह हो रहा है, या दोसे?' मैंने कहा कि–यह बात आपके सम्प्रदायके अनुसार गलत नहीं है। आ.स.के स्वा. ब्रह्मर्षि जीने एक 'देवृकामा या देवकामा' ट्रैक्ट अपने पूर्व आश्रम

बनाया था। उसमें बड़े संरम्भसे लिखा है कि-वैदिक पाठ 'देवृकामा' है। यह भी उसमें सिद्ध किया है कि-'देवर दूसरा वर होता है; तभी वह वरकी घोड़ी पर वरके पीछे साथ चढ़कर आता है, वर और देवरको वेदमें समकक्षरूपमें रखा गया है। 'विधवेव देवरम्' इस वेद-मन्त्रकी साक्षीसे यह आजसे देवरकी कामना नहीं कही जा रही है, किन्तु जब इसका यह पति मृत्युको प्राप्त हो जावेगा; यह तबके लिए है।

इतनेमें वहाँ बैठा हुआ वरका पिता चिल्ला उठा कि-यह क्या असभ्यता करते हो? इस मङ्गलके समयमें अमङ्गलकी बात क्या कर रहे हो? क्या मेरे पुत्रको मारना चाहते हो? तुम-पागलको यहाँ किस पागलने विवाह-संस्कार करानेकेलिए बुलाया है?

यह सुधारकजी भी बोल उठे कि-तुम सचमुच पागल पण्डित हो, तुम मेरी लड़कीको विधवा करना चाहते हो। मङ्गलमें अमङ्गल करना चाहते हो, ऐसे व्याहसे तो हम बाज आये। बाकी कोई आ.स.का पण्डित विवाहमें ऐसा अर्थ नहीं सुनाता। केवल वह 'देवृकामा' वाला मन्त्र ही पढ़ देता है। तुम्हीं पहले मुंहफट पण्डित मिले हो। विना देश-कालका विचार किये बकने लग गये हो। और फिर 'देवृकामा' इस पदमें मरनेका शब्द ही नहीं लिखा है। तब इसका मतलब तो यह हुआ कि-तुम आजसे मेरी लड़कीको 'देवर-कामुकी' बताकर उसे व्यभिचारका पाठ पढ़ाने आये हो। क्या इसीसे भारतका मुख उज्ज्वल होगा?

'विधवेव देवरं' जैसे वचन तो वाग्दत्ता-लड़कीके वैधव्य होनेपर देवरके विवाहसे ग्रहण करनेके हैं, विवाहित-विधवार्थ यह वचन नहीं। इसकेलिए 'आलोक' ग्रन्थमालाका ८वां सुमन पृ. ५६८ की पं० १७से पृ. ५७५की ३ पंक्ति तक देखो, ऐसा मैंने किसीसे सुन रखा है। पर तुम अपना ही अंट-संट अर्थ करके मेरी लड़कीके ही बुरे विचार करना चाहते हो। अथवा दूसरे वरकी कामना वाली' कहनेसे स्पष्ट होगा कि-वह हृदयसे अपने पतिकी मृत्युको चाहती है; क्योंकि दूसरे वरकी कामना तो पहले वरकी मृत्यु होनेपर ही सं.वि.के अनुसार वह चाहेगी, अन्यथा व्यभिचारिणी होगी।

मैंने कहा कि-यह बातें आपकी ठीक हैं। आपने स्वा. जीके अभिप्रायके अनुसार मुझे व्याह पढ़नेकेलिए कहा था; वैसा ही कर रहा हूँ। मैं भी इस अर्थको नहीं मानता। मैं भी समझता हूँ कि-जैसे-'पुत्रकामा' शब्दका अर्थ यह है कि-'मेरा पुत्र होवे' ऐसी इच्छा वाली; वैसे 'देवृकामा'का भी यही अर्थ मैं समझता हूँ कि-मेरा देवर अर्थात् पतिका भ्राता भी रहे, इस इच्छा वाली'। सो इसमें कोई बुरा भाव भी नहीं।

(६) और भी एक रहस्यकी बात यह है कि-यह मन्त्र ऋ. सं. का है पर किसी भी ऋसं. में 'देवृकामा' पाठ भी नहीं है। सर्वत्र 'देवकामा' है, हाँ, एक-आध अंग्रेजकी पुस्तकमें ऐसा पाठ है; पर वह निर्मूल है। हमने अंग्रेजोंकी बात थोड़े ही माननी है। सभी गृह्यसूत्रोंमें भी 'देवकामा' पाठ है। यदि कहीं

ऋसं.में 'देवृकामा' पाठ भी है तब उसका भी बुरा अर्थ नहीं है। 'पुत्रकामा'की तरह ही 'देवृकामा'का अर्थ है, जैसे कि हम पहले बता चुके हैं। इसी प्रकार अथर्ववेदमें भी यदि 'देवृकामा' पाठ है; तब उसमें भी 'पुत्रकामा'की भांति ही अर्थ है।

अन्य रहस्यकी बात यह भी है कि—सं. वि.के प्रथम-संस्करणमें भी वैवाहिक मन्त्रोंमें 'देवृकामा' यह पाठ नहीं था, किन्तु 'देवकामा' था। पीछे शुद्धि-पत्रमें प्रक्षिप्त कर दिया गया। ऐसा श्रीसातवलेकर जीने लिखा था। तभी तो सं.वि.के द्वितीय सस्करणमें भी 'देवकामा' ही था; 'देवृकामा' नहीं। यद्यपि श्रीब्रह्ममुनिजीने इसका प्रत्युत्तर लिखा था; तथापि 'श्रीसातवलेकरजी तथा श्रीरामकौशिकने उसका प्रतिखण्डन किया था। जब स्वा.जीने आरम्भमें मैक्समूलरके वेद मंगवाकर छपवाये थे, उनमें ऋसं.में भी 'देवकामा' पाठ था, 'देवृकामा' नहीं। तब यह कारिस्तानी नियोगके लोभी स्वा.के पण्डितोंकी मालूम होती है, जो कि उन्होंने वेदमें भी 'देवृकामा' कर डाला। सं.वि.में भी वैसा ही पाठ कर दिया। सं.वि.में भी पीछे पाठ परिवर्तन करके नियोगका अर्थ स्थायी कर दिया गया। अथवा अविवाहित तथा नियोग-के लोभी स्वा. जीकी भी यह कार्यवाही हो सकती है, जिन्होंने अपने यहांके भारतीय शाखाध्यायी पण्डितों तथा वेदादि-ग्रन्थोंपर विश्वास न करके एक अंग्रेज़के कोषपर विश्वास करके 'देवृकामा' ऐसा पाठ कर डाला।

पर यदि आप (सुधारक जी) इससे विगड़ते हैं; तो फिर

इस सं.वि.से विवाह कराना बन्द कराइये। जो इस सं.वि.से अपनी लड़कीका विवाह कराना चाहते हैं; वे अपनी लड़कीको या तो व्यभिचारिणी बनाना पसन्द करते हैं; अथवा उसे विधवा बनाना पसन्द करते हैं; यह मैं पूर्व ही कह चुका हूँ। स्वा. जी भी सप्र. ४र्थ समु.में 'शूरवीर पुत्रोंको जनने वाली स्त्रीको भी 'हे पति और देवरको दुःख न देने वाली स्त्री, तू इस गृहाश्रममें...देवरकी कामना करने वाली और सुख देनेवाली पति वा देवरको प्राप्त होके' (पृ. ७१) यह लिख गये हैं।

इससे स्वा. जीके अनुसार सन्तान वाली स्त्री देवरको भी चाहने वाली हो, पतिसे भी विवाह करे; तभी तो स्वा. जीने भी उसे कहा—'देवर और पतिको दुःख न देने वाली'। तब यदि वह 'पतिकामा' तो हो, और 'देवृकामा' न हो; तब देवरको दुःख देनेवाली सिद्ध होगी। ऐसा होना स्वा. जीके वेदसे विरुद्ध होगा। इसलिए स्वा. जीने लिखा कि—'पति वा देवरको प्राप्त होके' यहाँ भी स्वा. जीने स्त्रीमें दोनों (पति और देवर)का भाव लिखा है। स्वा. जीके अनुयायी भी कदाचित् अन्य सब बातोंका खण्डन, पर नियोगका ज़ोरदार मण्डन करके नियोगको ही आ.स.का मुख्य उद्देश्य-सा मानते हैं, और उस व्यभिचाररूप नियोगसे ही अपने सम्प्रदायकी प्रतिष्ठा समझ कर उन्होंने उक्त शब्द और अर्थ सं.वि.में प्रक्षिप्त कर दिये हैं, इसमें मेरा क्या कसूर है? प्रक्षेपका एक प्रमाण लीजिये—सं.वि. के विवाहके आरम्भमें तथा स.प्र.के ४र्थ समु. (पृ. ५६)में स्वा. जीने गर्भ

करने वाले ही दिन विवाह-संस्कार माना है; पर फिर सं.वि.के विवाह-संस्कारके अन्त (पृ. १६६)में गर्भाधान चौथे दिवसमें लिखा है, कितना स्पष्ट यह उनके अनुयायियोंका प्रक्षेप है; जब कि स्वा. जी चतुर्थीकर्मक कोई भी कर्मविशेष नहीं मानते। तथापि यह हम अवश्य कहेंगे कि स्वा. जी स्त्रियोंका बड़ा ध्यान रखते थे; उन्हें कई-कई पति देनेको बड़े उत्सुक रहते थे।

तब वर तथा कन्याके यह पिता दोनों ही मुझे कहने लगे कि-क्या ऐसा कोई उनका अन्य भी सबूत दे सकते हो, जिससे हम समझ लें कि-वे स्त्रियोंको बहुत पति दिलानेको उत्सुक रहते थे। मैंने कहा-सुनिये-सं.वि.के अनुसार विवाहित हो रही वधूको उपदेशक भी, राजा भी तथा अन्य सभ्य मनुष्य भी सन्तानसे बढ़ाते हैं। देखिये सं.वि. (पृ. १५४)में 'इन्द्राग्नी······ बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु' (अ. १४।२।५४) का अर्थ उनने यह लिखा है-वर कहता है-'हे मेरे सम्बन्धी लोगो······जैसे सद्वैद्य और सत्योपदेशक···प्रजाका पालन करने हारा राजा, सभ्य मनुष्य···इस मेरी स्त्रीको प्रजासे बढ़ाया करते हैं, वैसे तुम [सम्बन्धी लोग] भी [मेरी स्त्रीको प्रजासे] बढ़ाया करो'।

दोनों वर-कन्याके पिता बोल उठे; यह तो बहुत बुरी बात हुई। स्वामी तो औरोंको भी वरकी स्त्रीमें प्रजा पैदा करनेका सङ्केत दे रहे हैं। हमारी श्रद्धा तो अब उनसे क्षीण होती जा रही है। पण्डित ! यह तो बताओ कि-स्वा. जी तो वधूका एक

पुरुषसे व्याह कराते हैं, एक पुरुषसे ही फेरा कराते हैं; फिर उस स्त्रीमें दूसरेका भाग कैसे रखाते हैं ?

मैंने कहा-ऐसी बात नहीं महाशयो ! स्वा.जी एक स्त्रीका दो आदमियोंसे फेरा कराते हैं। 'इसपर सबूत दो' ऐसा कहने पर मैंने कहा-सं.वि. पृ. १४२ में उन्होंने वरके पक्षके दूसरे पुरुषको जलपूर्णकलश डण्डा लेके उत्तराभिमुख बैठनेकेलिए कहा है। पृ. १५६में 'वही पुरुष वर-वधूके साथ-साथ कलश ले चले' यहाँ दूसरा पुरुष शायद द्वितीय-वर देवरका स्थानापन्न हो। उसको भी वधूके साथ फेरेमें लिया गया। तभी तो वरकी घोड़ीके पीछे देवर भी चढ़कर आता है, उसे श्रीब्रह्ममुनि (वि.र.आ.) जी 'पतिके समकक्ष तथा सहचर' बताते हैं।

(१०) यही क्या, इस सं.वि.के अनुसार पुरुष अपनी बहनसे भी विवाह कर सकता है'। यह सुनते ही दोनों महाशय फिर चिल्ला उठे, गलत ! गलत !! गलत कहते हो तुम, इतना तो स्वा. जी कभी नहीं लिख सकते। इसका सबूत दो। यदि यह साबित हो गया, तो हम इस सं.वि. से विवाह करवाना बन्द कर देंगे।

मैंने कहा-तो सुनिये सावधान होकर। सं.वि. (पृ. १२८)में यह प्रश्नोत्तर लिखा है। (प्रश्न) अपने गोत्र वा भाई-बहनोंका परस्पर विवाह क्यों नहीं होता ? (उत्तर) इनके विवाह होनेमें प्रीति कभी नहीं होती; क्योंकि-जितनी प्रीति परोक्ष पदार्थमें होती है, उतनी प्रत्यक्षमें नहीं, और बाल्यावस्थाके गुण-दोष भी विदित रहते हैं; तथा भयादि भी अधिक नहीं रहते। यह स्वा.जीके

शब्द हैं।

अब आप इस पर स्वयं सोचिये कि-गुरुकुलमें गये हुए भ्राताके परोक्षमें बहिन पैदा हो; तो उसके प्रत्यक्षमें न रहनेसे और बाल्यावस्थाके गुण-दोष भी विदित न रहनेसे स्वा.जीके अनुसार प्रीतिमें कोई बाधा नहीं रहेगी? अब सिद्ध हो गया-न भगिनी-विवाह !! वस्तुतः यह बातें (बहिनसे विवाह न करना) अदृष्टमूलक रखनी चाहियें, तर्कमूलक नहीं। ऐसे थोथे तर्कोंसे हिन्दुजातिका पतन ही होगा।

फिर स्वा.जी लिखते हैं—'जब तक दूरस्थ एक दूसरे कुलके साथ सम्बन्ध नहीं होता, तब तक शरीर आदिकी पुष्टि भी पूर्ण नहीं होती'। [यह दूसरा तर्क भी निस्सार है। फिर तो मुसलमानोंके शरीरकी पुष्टि भी नहीं होनी चाहिये, जो एक ही कुलमें चाचेकी लड़कीसे विवाह करते हैं] तीसरा दूर सम्बन्ध होनेसे परस्पर नीति, उन्नति, ऐश्वर्य बढ़ता है, निकटसे नहीं। [फिर तो वर विवाह कर लेनेपर अपनी स्त्रीको भी अपने समीप नहीं रखेगा, किन्तु उसके मायकेमें ही रखेगा, वा मित्र वा देवरके घरमें, क्योंकि-दूरमें ही वे प्रीति मानते हैं, निकटमें नहीं।]

इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि-सं.वि.से विवाह करानेवाला पिता अपनी पुत्रीको या तो दूसरोंसे भी काम-सम्बन्ध रखनेवाली बनाना चाहता है, वा उसे विधवा बनाना चाहता है, और १७४ पृ.के अनुसार उस विधवाके दस सन्तान भिन्न-

भिन्न दस पुरुषोंसे प्राप्त करना चाहता है। अपनी पुत्रीका गुरुकुलसे लौटे हुए भ्राताके साथ विवाह कराना चाहता है, और अपनी कन्याको विवाह करानेवाले आचार्यसे अश्लील बातें करवाना वा पुछवाना चाहता है।

यह भी सिद्ध हो गया कि-स्वा.जीकी सं.वि.से विवाह करने वाला वर अपनी स्त्रीमें अपने छोटे भाईका भी भाव रखना चाहता है, अथवा अपनी मृत्युको चाहनेवाला होता है। उस वरकी मृत्यु होनेपर ही तो उस स्त्रीका 'देवृकामा' होना चरितार्थ होगा। अपनी स्त्रीमें वर अपने सम्बन्धी वैद्य तथा उपदेशक द्वारा भी सन्तान बढ़ाना चाहता है। यदि ऐसा विवाह आप लोगोंको पसन्द हो; और १४४ वार रजस्वला हुई-हुईका विवाह पसन्द हो; जिसकी पृष्ठभूमि दूसरे सुन्दर-सुन्दर पुरुषोंको देखकर प्रायः मलिन हो चुकी होती है, तो फिर यह विवाह कराइये। उनमें भला पातिव्रत्यकी क्या सम्भावना हो सकेगी! जब किसी मकानकी नींव ही खोखली हो; कमजोर हो; उसपर खड़ा होनेवाला भवन अवश्य ही धराशायी होगा। ऐसा विवाह दुस्सम्भावनाओंको व्यक्त करनेवाला होता है।

उस समय कन्या तथा वर दोनोंके पिता बोल उठे—यह तो 'वैदिक-विवाह' नामसे प्रसिद्ध है; तभी तो हम इसके षड्यन्त्रमें जा फँसे। तब मैंने कहा कि-आप लोग ऋ.सं. आदि चार पोथियोंको ही वेद कहते हैं। उनके अनुसार संवि.के विवाह संस्कारमें मन्त्रगणना कीजिये। १३४ पृ.से विवाहविधि शु-

होती है; और १७६ पृष्ठ तक समाप्त होती है। तदनुसार ४७ मन्त्र तो ४ संहिताओंके हैं। शेष १४३ मन्त्र आपके अनुसार ४७के दुगनेसे भी अधिक हैं–अवैदिक हैं; अब आप ही बतलाइये कि–यह विवाह वैदिक हुआ या आपके अनुसार अवैदिक? अथवा फिर आप 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इस प्राचीन घोषको स्वीकार कर लीजिये। अथवा यदि आपको हमारी बात माननेकी इच्छा न हो; तो 'होलीका हुलास' मान लीजिये।

(११) जब यह बातें हो रही थीं; तो वरका छोटा भाई, लड़कीका देवर पिताजीको कहने लगा कि–जब आप भी स्वा.जीके सम्प्रदायके हैं; और लड़कीके पिता भी; तभी आप दोनोंने संवि.से विवाह कराया है; और विवाह पढ़नेवाले पं.जी भी स्वा.जीके ग्रन्थोंके रसिक हैं; तब आप सभी मिलकर स्वा.जी की प्रकारान्तरसे निन्दा क्यों कर-करा रहे हैं। आप उनकी बात पूरी कीजिये। वे दयाके सागर थे; वे दीन स्त्री-पुरुषोंपर पूरी दया करते थे। उन्होंने जो 'देवृकामा' का अर्थ 'देवरकी कामना करती हुई' लिखा था, तो यह सर्वथा ठीक है। यदि ऋसं.में 'देवकामा' है, 'देवृकामा' नहीं; तब अथर्ववेद भी तो अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है, उसमें 'देवृकामा' पाठ है, हम अथर्वसं.के मन्त्रसे ही विवाह कर लेंगे; क्योंकि–वहाँ भी विवाहसूक्त है। अब मेरा भी इस लड़कीमें भाग है। अब आप इस विवाहको बदलिये नहीं। नहीं तो फिर यदि मेरा भाग इसमें नहीं रहेगा;

तो यह मेरी हत्या-सी होगी। क्या मैं अपने भाईके पीछे घोड़ी पर चढ़कर नहीं आया था? मैं इस लड़कीका जिसे मैं भाभी कहूँगा; दूसरा वर हूँ, सहवर हूँ, पतिके समकक्ष हूँ। हमारे वैदिक नेता अभिनव-नैरुक्त देहलवीजी 'भाभी' का अर्थ करते हैं–'भावी पत्नी' (देखिये स.ध.सभाके साथ उनका पत्र-व्यवहार)। सो मेरी यह 'भाभी' जब मेरी 'भावी पत्नी' है, तो मैं भाभी देवीका अधिकारी सिद्ध हो गया।

आप क्यों वैदिकधर्मी अपनेको नामसे कहते हैं? वैदिक-धर्मका रहस्य जाननेवाले श्रीप्रियरत्न जी आर्षने (सं. १९९९में) 'देवृकामा या देवकामा' इस निबन्धमें यह रहस्य प्रकट किया है–'देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते' (निरुक्त ३।१५)। उनके अनुसार देवर 'दूसरा वर' अर्थात् दूसरा दूल्हा होता है। इसपर आर्षजीने पृ. ११में बड़ी भारी दलील दी है कि–निरुक्तने देवरको द्वितीय वर बतलाया है, तभी तो विवाहके अवसर पर घोड़ीके ऊपर वरके पीछे उसके छोटे भाईको साथ बिठलाने आदिकी प्रथा भी इसी बातकी साक्षी है, तथा उसे सहवर (सहायक वर) नामसे भी पुकारा जाता है।

यह लिख कर वे कहते हैं–'अदेवृघ्नि! अपतिघ्नि!' (अथर्व. १४।२।१८) यहाँ वधूको देवरका घात न करनेवाली, पतिका घात न करनेवाली' वहीं विवाहप्रकरणमें कहा है, यह कहकर आर्षजीने वहां एक मार्केकी बात लिख डाली है कि–'इस मन्त्रमें देवरको पतिके समकक्ष रखा है'। पृ. ९ की २री पंक्तिमें, तथा पृ. ११ की

१५वीं पंक्तिमें आर्षजीने यह दो बार लिखा है- । सो 'द्विबद्धं सुबद्धं भवति' यह बात पक्की हो गई ।

इसलिए मैं भी इस लड़कीका पति न सही. उपपति तो हूँ ही । मन्त्री नहीं, तो उपमन्त्री सही । जिस दिन मन्त्री सभामें न हो; तो उपमन्त्री सभाके कामका निर्वाह करता है । अतः जिस दिन हमारी 'भाभीजीके पति-मेरे ज्येष्ठ भ्राताजी यहाँ घरमें नहीं होंगे; उस दिन मैं ही अपनी भाभी (देहलवीजीके अनुसार भावी पत्नी) का रात्रिका निर्वाहक बनूँगा । 'देवृकामा' वाले मन्त्रमें पतिके मरने-जीनेकी बात थोड़े ही लिखी है । यदि इसका पति परलोक-यात्रा करेगा; तब तो यह लड़की विधवा होगी ही; तब इसकी कामपूर्ति करनेवाला देवर, दूसरा वर, उपपति, दूसरा खसम मैं ही बनूँगा । जब इसका पति परलोक न सही; परदेसमें गया होगा; महायात्रामें न सही, यात्रामें होगा; तब भी यह लड़की विधवा होगी-विगतः-बहिर्गतः धवः-पतिर्यस्याः सा । तब भी रात्रिमें इसकी शय्याका सहचर मैं ही रहूँगा ।

जब इस लड़कीका पति नपुंसक सिद्ध होगा; तब भी यह लड़की विधवा होगी, क्योंकि-तब यह पति इसका 'धव' (भर्ता) न रहकर इसका भ्राता ही हो जायगा; देखिये-इसपर आ.स.के विद्वान् श्रीजयदेवजी विद्यालङ्कारका भाष्य यमयमीसूक्तमें; तब भी देवर दूसरा खसम मैं ही होऊँगा; क्योंकि-श्रीप्रियरत्नजी आर्षके अनुसार वेदने पति और देवरको समकक्ष रखा है । तभी

तो देवर भी वरकी घोड़ीके पीछे बैठकर, लड़कीका दूसरा दू... बनकर आता है, उसे आर्षजीके शब्दोंमें 'सहवर' कहा है, अतः इस 'वैदिक-विवाह' का परिवर्तन न करें; नहीं तो 'अदेवृघ्नि' इस वेदमन्त्रके विरुद्ध इस लड़की द्वारा मुझ देवरका घात मा... जावेगा ।

यदि कहो कि-श्रीप्रियरत्नजी आर्षने 'देवृकामा' में स्त्री-लिङ्गका निर्देश किया है, इसलिए स्त्री तो देवरकी कामना करती है, देवर उसकी कामना नहीं कर सकता; यह भी बात ठीक नहीं होगी । हमारे स्वा.जी स्त्री-पुरुषका बराबर अधिकार मानते हैं । वेदमें ही लिखा है-'एयमगन् पतिकामा जनिकामो-ऽहमागमम्' (अथर्व. २।३०।५) श्रीप्रियरत्नजीके अनुसार देवर-द्वितीय वर, सहवर होता है; अतः यह मन्त्र वरकी भांति देवरमें भी चरितार्थ होता है । इसपर भी आर्षजी लिखते हैं—'यहाँ स्त्रीको 'पतिकामा' कहा है, इसके साथ 'देवृकामा' शब्द तुलना करने योग्य है' । इसी प्रकार 'अदेवृघ्नि ! अपतिघ्नि ! में देवरको पतिके समकक्ष रखा है' (पृ. ११ पं. १०-१५)

तब इस मन्त्रका यह अर्थ हुआ-यह लड़की 'पतिकामा' पतिके समकक्ष मुझ देवरको चाहती हुई आई है, और 'जनिकामः' इस स्त्रीका कामी मैं देवर भी आगया हूँ । इसलिए वेदानुसार देवर-भाभीकी परस्पर कामुकता तुल्य एवं वैदिक सिद्ध हुई । हमारे वृद्ध नेता, शास्त्रार्थमहारथी, अभिनवतर्क... श्रीदेहलवीजीका 'भाभी' का 'भावी पत्नी' अर्थ भी चरितार्थ

हुआ; देखो उनका स.ध. सभा हापुड़से पत्र-व्यवहार)। अब मैं इस मेरी भाभी (भावी पत्नी) जीके उपपतित्वसे कभी हट नहीं सकता।

स्वा.जी लिख गये हैं कि–देवताओंको परोक्ष वस्तुसे प्रीति होती है, मैं भी पढ़ा-लिखा विद्वान हूँ, इसलिए मैं भी 'देव' हूँ, 'विद्वांसो हि देवाः'। यह सीधी मेरी स्त्री होती; तो परोक्ष न होती; अतः मुझे उतना आनन्द न आता। अब चूँकि यह मेरे बड़े भाईकी स्त्री है; अतः यह मुझसे कुछ परोक्ष है; अतः इसके पति बाहर किसी यात्रा वा महायात्रा पर हों, तो मुझे इस भाभीसे बड़ा आनन्द आवेगा। अब आप बदलिये नहीं; इसमें अमाङ्गलिकता वा असभ्यता भी न समझिये। श्रीब्रह्ममुनिजी उसी पुस्तिका (के ६ पृष्ठ) में लिख गये हैं—

'कोई अमङ्गल कहे, [कोई असभ्यता कहे], इन दुनियावी अमङ्गल शकुनोंका प्रथाओंको वेद नहीं मानता। वेद राजनीति और लोकनीतिका भी प्रतिपादक है। वेद यहाँ शादीके कानून (Marriage Act) को बतलाता है' (पं. ५-६)

'इसी प्रकार 'वीरसूर्देवृकामा'में कोई अमङ्गल [वा असभ्यता] नहीं है, किन्तु कानूनको पूरा करना मिसलका पेट भरना है' (पृ. १० पं. ६-११) अब बताइये पं.जी! आप आ.स.के नेता श्रीब्रह्ममुनिजीकी बात न मानेंगे?

(१२) इतनेमें वरके पिताजी बोल उठे कि–श्रीब्रह्ममुनिजीको तो आर्यसमाजसे निकाल दिया गया था, ऐसा सुना गया है।

श्रीब्रह्ममुनिजीने यह स्वयं 'वैदिक-धर्म'में लिखा भी था। ऋग्वेदमें 'देवृकामा' नहीं है, 'देवकामा' है। अथर्ववेद पैप्पलाद-सं.में भी 'देवृकामा' नहीं है, 'देवकामा' है। इसी पैप्प.सं.को स्वा.जी अथर्ववेद मानते हैं, क्योंकि ऋभाभू.में इसीका 'शं नो देवी' प्रथममन्त्र-प्रतीक देकर वे इसे वास्तविक अथर्ववेदसं. बता गये हैं। इस प्रकार 'वेदसंज्ञाविमर्श' (पृ. ८६)में आर्य-समाज-मेस्टन रोडके संयुक्तमन्त्री श्रीविद्याधरजीने भी पैप्पलाद-सं.को अथर्ववेद माना है, अजमेरकी छपी अथर्ववेद शौनकी संहिताको उनने खण्डित प्रतिलिपियोंके अनुसार होनेसे हेरफेर-वाली माना है। तब उसमें यदि 'देवृकामा' पाठ है, तो वह वैदिक न हुआ। जिस सैन्टपीटर्सवर्गकी डिक्शनरियोंकी ऋसं.में 'देवृकामा'की साक्षी दी जाती है; वे अथर्ववेदसं.में 'देवकामा' मानते हैं, इसलिए सब वेदोंमें 'देवकामा' ही है। कहीं 'देवृकामा' भी हो; तो उसका अर्थ 'पुत्रकामा' की तरह अच्छा ही है, बुरा नहीं।

यदि अपनी हठीली प्रकृतिके अनुसार तुम लोग इस लड़कीमें 'देवृकामा'का वैदिक अर्थ 'देवरका अधिकार' मानते हो, तब तो मुझ ससुरका अधिकार भी इस लड़की पर रहेगा। श्रीब्रह्ममुनिजीका यह लिखना कि–'अदेवृघ्नि! अपतिघ्नि!' यह वेदका कहना भी रहस्य रखता है। देवरको वेदने पतिके समकक्ष रखा है, ज्येष्ठ वा श्वसुरको नहीं (पृ. ६ पं. १-२-३) यह आर्षजीका कथन वेदविरुद्ध होनेसे गलत है। देखिये वेदमें–'प्रती-

क्षन्ते श्वशुरो देवरश्च' (अथर्व. १४।१।३६) यहांपुर जैसे वेदने देवर-को वधूकी प्रतीक्षा करना कहा है, वहाँ ससुरको भी उक्त वधूकी प्रतीक्षा करना कहा है। यहाँपर श्रीआर्षजीकी नीतिसे वेदने 'देवर और ससुर'को समकक्ष रखा है। यदि देवर वधूकी इसलिए प्रतीक्षा करता है कि-'देवृकामा' इस लड़कीसे जाकर मिले; और उसे अपनी प्रीतिका दान दे, वैसे मुझ ससुरको भी प्रीतिका दान दे—यह भी तो वेदानुसार है। देखिये वेदमें लिखा है—'स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये' (अ. १४।२।२७); इस मन्त्रमें वधूका ससुरको भी सुख देना कहा है; यहाँ आर्षजी ध्यान दें यहाँ श्वसुर और पतिको वेदने समकक्ष कहा है।

हमारे वैदिक महर्षिजीने इसका अर्थ यह लिखा है-'वर कहता है—'हे वरानने! तू मेरा पिता जो तेरा श्वसुर है; उसमें प्रीति करके...मेरे भाई [चाहे छोटे, चाहे वड़े] जो तेरे देवर हैं, उनमें प्रीतिसे अधिकार-युक्त हो' (संवि. पृ. १७४) यहाँ भी वधूकी ससुर और देवरोंसे समान प्रीति कही है; तो यह वधू जैसे तुम देवरको अपनी प्रीतिका दान करेगी; वैसी प्रीतिका दान मुझे भी करेगी-इनमें कुछ भी अन्तर नहीं लिखा है-यह वैदिक व्यवहार है।

और सुनो—'सम्राज्ञी श्वशुरे भव''''''सम्राज्ञी अधि देवृषु' (ऋ. १०।८५।४६) इस वेदके मन्त्रमें भी इस वधूका 'सम्राज्ञी' रानी वनना ससुर और देवर दोनोंकेलिए समान कहा है।'''

इतनेमें वीचमें वात काटकर लड़कीका जेठ वोल उठा-श्रीब्रह्म-मुनिजीने मुझे (जेठको) इसमें 'ज्येष्ठको या श्वसुरको पतिके समकक्ष नहीं रखा गया है' (पृ. ६) इन अपने शब्दोंमें वञ्चित क्यों किया है? 'सम्राज्ञी अधि देवृषु'में 'देवृषु' यह बहुवचन है, इसलिए छोटे-वड़े दोनों जेठ वा देवर सभीकी रानी बनाना वेदको इष्ट है; तभी बहुवचनकी सार्थकता है। इसलिए आर्षजी-की उक्त बात ठीक नहीं कि-'ज्येष्ठको या श्वसुरको पतिके सम-कक्ष नहीं रखा गया है'। हमारे स्वा.जीने 'दस पति' स्त्रीके रखे हैं; उसका भी रहस्य यही है कि-वेदमें 'दशास्यां पुत्रानाधेहि' (ऋ. १०।८५।४५) इस मन्त्रके अनुसार स्वा. जी दश सन्तानें उत्पन्न करना वैदिक मानते हैं; इसलिए हम देवर भी दस हुए। सो उन सभीका पहला अधिकार इस लड़की पर है, वादमें 'पतिमेकादशं कृधि' ११ वाँ पति इस लड़कीमें अधिकृत रहता है। पिताजी, वीचमें टोकनेकी क्षमा करें, अपनी वात अब पूर्ण कर लें।

उसके वाद फिर लड़कीके श्वशुर जी वीचमें काटी हुई वात-को पूर्ण करते हुए कहने लगे कि-उक्त मन्त्रमें ससुर भी सारे देवरोंके साथ उस वधूका भागीदार माना गया है। इसलिए कहींके जाट जो कि पहले एक लड़कीके साथ एकके विवाहित होनेपर सब भाइयोंका उस लड़कीसे विवाह समझ लेते थे; और सब अपना भाग उससे लेते थे। इसलिए स्पष्ट है कि-वे वेदके इसी प्रकारके अर्थोंको अपनी परम्परासे समझे हुए थे। उन्हींसे स्वा. जीने भी यह वैदिक अर्थ लिये। अस्तु।

उक्त मन्त्रोंके अनुसार इस वधूमें जैसे तुम देवरोंका व्यवहार होगा, वैसे उक्त मन्त्रोंमें श्वशुरके भी सहचारी होनेसे मुझ ससुरका भी इस वधूमें वैसा ही व्यवहार वैदिक रहेगा। यदि मुझे यह अधिकार नहीं दोगे; तो मैं भी 'वैदिक अदालत'में मुकदमा चलाऊँगा। फिर 'द्वितीयो वरः' इस निरुक्तके स्वा. जी से प्रदर्शित अर्थके अनुसार मैं भी यौगिक देवर बन ही सकता हूँ।

उसी समय ससुरका भाई भी बोल उठा कि—अजी, मेरा भी इसमें साथ अधिकार होगा; क्योंकि 'स्योना भव श्वशुरेभ्यः' (अ. १४।२।२७) 'सम्राज्ञी एधि श्वशुरेषु सम्राज्ञी उत देवृषु' (अ. १४।१।४४) यहांपर 'श्वशुर'में बहुवचनहैं, और श्वशुर एवं देवरको समकक्ष भी रखा गया है, सो मेरा भी ध्यान रख लीजियेगा।

(१३) यह सब सुनता हुआ घबड़ा कर वर कहने लगा वाह! तुम लोगोंने मेरी इस स्त्रीको सभी तुम पुरुषोंके चढ़नेकी स्पेशल ट्रेन समझ रखा है क्या? और सब इस मेरी स्त्रीके लिए जीते रहना चाहते हो; केवल मुझे ही मारना चाहते हो? मेरे जीते होनेपर तुम लोगोंका यह हाल है, मेरे मरनेपर तुम लोग इस मेरी पत्नीकी क्या दुर्दशा नहीं करोगे! यह मेरा इस लड़कीके साथ विवाह न हुआ, तुम सब लोगोंका भी मानो इसके साथ विवाह हो गया! क्या यह तुम लोगोंकी 'वैदिक' सभ्यता है? क्या वेदके ऐसे गन्दे अर्थ करनेकेलिए ही तुम लोग

अपने आपको 'वैदिक' कहते हो? क्या यही पतिव्रत धर्म है? तुम लोगोंने पता नहीं, किस अर्वाचीन गन्दे सम्प्रदायकी कुसङ्गति प्राप्त की है कि ऐसे-ऐसे गन्दे अर्थ निकाल रहे हो!

याद रखो—तुम सबके यह गलत अर्थ हैं। स्त्रीको पतिव्रता कहा जाता है, श्वसुरव्रता वा देवरव्रता नहीं कहा जाता। तुम लोग समूह हो गये हो; और मुझे अकेला कर दिया है। मैं ऐसी बातें कभी नहीं सहूँगा। क्या ब्रह्ममुनि भी पूर्वाश्रममें अपनी भाभीके 'सहचर' बने थे? वस्तुतः इन पण्डितम्मन्योंने अपने सम्प्रदायके चस्केमें पड़कर इस वधूमें देवरका भाग भी बलात् निकाल दिया; तब उसी हिसाबसे इसमें ससुरका भी भाग फिर वैदिक हो जायगा। यदि वे लोग ससुरका भाग वेद-विरुद्ध मानते हैं, वैसे देवरका भी इसमें अधिकार वेद-विरुद्ध है। याद रखो कि—'जीवन् वापि मृतो वापि पतिरेव प्रभुः स्त्रियाम्' (बृहत्पराशर. ४।४८) इसमें जीने अथवा मरनेपर केवल मेरा ही अधिकार है, अन्य किसीका भी नहीं, यह सूचित किया गया है। हाँ, वे इसके भाई वा पिता—जैसे बन सकते हैं, पति कभी नहीं। पति सदा एक ही होता है। आप लोगोंकी उक्त साम्प्रदायिक बातें वेदके नामसे जनताके चरित्रको बिगाड़ने वाली हैं; उनका कोई भी सदाचारी समर्थन नहीं कर सकता। वैसा अर्थ उन 'देवृकामा' आदि मन्त्रोंका है भी नहीं। इस विषयमें 'आलोक' ग्रन्थमाला अष्टम-पुष्प देखो। यह तो ऐयाश लोग 'मक्खीको मलमल कर भैंसा' बना रहे हैं। बन्द करो इस तथा-

कथित वैदिक वस्तुतः अवैदिक विवाह को।

(१४) उस समय वह विवाहित हो रही लड़की भी बोल उठी कि-तुम सब लोग वेदके नामसे यह व्यभिचार-प्रसार क्या कर रहे हो? तुम लोग योनि-कीट हो। वेदको 'देवृकामा'में कुछ भी बुरे विचारका अर्थ इष्ट नहीं। वेदमें 'अन्नकामः, क्षेमकामः, देवकामा, पुत्रकामा, सोमकामः आदि 'काम'-शब्दवाले बहुतसे मन्त्र आये हैं; तब क्या इन सब स्थलोंमें आप लोग 'कामना' का अर्थ 'मैथुन' लो गे? ऐसा सोचनेवाले तुम लोगोंको सहस्रों बार धिक्कार है। कामी लोग विधवाओंको उत्तेजना देकर उनका सत् बिगाड़ा चाहते हैं। महाशय लोग वेदका नाम लेकर विधवाओंको वा सधवाओंको कुपथमें ले आकर उनसे गुलछर्रे उड़ाते या उड़वाते हैं।

वस्तुतः वेदके यह बुरे भाव नहीं हैं। यदि विवाहके समय ही वधूको ऐसे गलत उपदेश वेदके नामसे आप लोग दे रहे हैं; तो स्पष्ट है कि-आप लोग स्त्रियोंमें पतिव्रतधर्म उड़ाना चाहते हैं, और उसमें मनमाना नियोग-जो आप लोगोंके मतानुसार 'मैथुन'का पर्यायवाचक है-प्रवृत्त करना चाहते हैं। स्त्रियाँ बिगड़ी नहीं होतीं, उनको पुरुष-समाज ही बिगाड़नेवाला होता है। कइयोंने उन्हें गुप्तरूपसे बिगाड़ा; और कइयोंने उन्हें वेदका नाम लेकर बिगाड़ा है, बात तो एक ही हुई। यह सब पुरुष-समाजका ही दोष है। सभी बातें तुम्हीं लोग करते रहो; और हम बेचारियां गूँगी-बहरी बनकर बैठी रहें; और तुम लोग

हम पर अत्याचार करते रहो। ऐसा नहीं हो सकता। अब जमाना बदल गया है, साम्यवादवश हम स्त्रियां भी पुरुषोंके बराबर हैं; बल्कि उनसे बढ़ कर हैं'।

और यह आर्ष बनाम ब्रह्ममुनिजी 'देवरः'का 'द्वितीयो वरः' कहकर उसका अर्थ गलत करते हैं। यह तो वाग्दत्ता लड़कीके पतिकी मृत्युमें उसका देवरसे विवाह विवर्जित है, इसकेलिए आप लोग 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाका ८म पुष्प पढ़ें। ब्रह्ममुनिजी अपना अर्थ सिद्ध करनेकेलिए कहते हैं कि-'पतिके छोटे भाईका नाम देवर है, निरुक्तने उसको द्वितीय वर बतलाया है; तभी विवाहके अवसर पर घोड़ीके ऊपर वरसे पीछे उसके छोटे भाईको साथ बिठलानेकी प्रथा भी इस बातकी साक्षी दिखलाती है, तथा उसे सहवरके नामसे भी पुकारा जाता है' (पृ. ११) यह कहना कितनी नासमझी है। २५ वर्षका वर घोड़ी पर चढ़ा होता है, तब क्या उसके साथ घोड़ी पर कभी २२-२३ वर्षके छोटे भाईको बैठाते हैं? कभी नहीं; किन्तु छोटे लड़केको साथ बैठाते हैं। नहीं तो घोड़ी ही बैठ जाए। चल न सके। वह भला छोटा लड़का दूसरा वर कैसे हो सकता है? क्या वह छोटा लड़का उस स्त्रीसे कामसम्बन्ध वा नियोग करेगा! और फिर छोटे भाईको अधिकार देते हो; वह तो उस स्त्रीकी आयुके बराबर भी हो सकता है, बल्कि कुछ कम होगा; तब तुम लोग गर्भाधानमें सुश्रुतके नौ वर्षोंके अनुसन्धानका खण्डन करते हो!

इन भले मनुष्योंसे पूछो कि–स्वा.जी तो पतिके छोटे भाईको 'देवर' नहीं कहते, किन्तु दूसरे पतिमात्रको। तब क्या दूसरे दश पति भी उसी वरकी घोड़ीके पीछे सभी मिलकर चढ़ कर आते हैं? क्या वे पहलेसे निर्णीत कर लिये जाते हैं? धन्य हैं–यह स्वा.जीके अनुयायी! 'सहवर' नाम तो वरके साथ होनेसे होता है, यह नहीं कि–वह भी दूसरा वर उसके साथ वेदीमें विवाहार्थ बैठता हो। यदि ऐसा होता; तो उसे भी वरके साथ ही दूसरे आसन पर बैठाया जाता। निरुक्तका 'देवर'का 'दूसरे वर' कहनेका अन्य रहस्य था। वाग्दत्ता कन्याके वाग्दानकालीन पतिकी यदि मृत्यु हो जाती थी; तब उसी पुरुषका भाई वर बनकर उसे विवाहने जाता था। यहाँपर नैयोगिक पुरुषका कोई मतलब नहीं। क्योंकि–न तो वह नियोगी कभी दूल्हा बनकर उस लड़कीसे विवाह करने जाता है, न पति ही बनकर। न उस समय कोई वेदमन्त्रसे संस्कार होता है। न नियोग कोई संस्कार है। यह तो सीधा व्यभिचार है, नहीं तो विवाह ही क्यों मन्त्रोंसे किया जाता है? नियोगको क्यों वेदमन्त्रोंसे नहीं किया जाता; इसलिए कि–वेद नियोगका हामी नहीं है, यह कितना स्पष्ट है। यह महाशय लोग उन मन्त्रोंका जिन्हें यह नियोगका मानते हैं, अर्थ ही गलत करते हैं। प्राचीन समयमें ऋषि-मुनियोंके नियोगमें मैथुन नहीं होता था; इसलिए वहाँ व्यभिचारकी सक्ति ही नहीं थी। इसकेलिए 'आलोक' (८)में 'नियोग और मैथुन' (१) देखिये, सब शङ्काओंका समाधान हो जायगा।

आ.स.के नियोगमें कोई भी मन्त्र-संस्कार नहीं होता; और उस पुरुषको वर वा पति भी कभी नहीं कहा जाता। उसे तो 'व्यभिचारी' कहा जाना अधिक उपयोगी होगा। केवल उन व्यभिचारको उस सम्प्रदायके नेताओंके द्वारा 'वेदका लेबिल' लगा दिया जाता है। दूधकी बोतलमें शराब भर कर दिया जाता है। जैसे अपनी संस्थाका नाम लेकर उसके प्राप्त रुपयोंको उस संस्थाके लोग बड़ी खूबसूरतीसे अपने ही लोगोंकी पेटशालाका चन्दा बना लिया करते हैं, वैसे ही नियोगमें भी यह विषय-कामुक लोग वेदका नाम लेकर अपना काम बना लिया करते हैं। हम लोगोंका विवाह २४ वर्षमें वैदिक कहकर, कर दिया जाता है, उस समय लड़की १४४ बार रजस्वला हो चुकती है। रजस्वलात्वमें स्नानके बाद स्त्रियोंको पुरुषकी प्रबल इच्छा हो जाती है, पर वे बेचारियाँ इनके गलत-प्रचारसे मन मसोस कर रह जाती हैं। कई फिर गुप्त भ्रूणहत्यायें कराती हैं। कई उससे डरकर लैदरोंका उपयोग करती हैं। कई अंगुलि-प्रयोग करती हैं। इस प्रकार स्त्री-पुरुष दोनोंकी हानि हो रही है, और हानिके उत्पादक हैं यह लोग; जो वेदके नामसे इन अपने-मनमाने यूरोपीय सिद्धान्तोंको यहाँ चालू कर रहे हैं।

इन नासमझोंको इतनी समझ नहीं कि–यूरोप जो शीतल-देश है, जहाँ रजस्वलात्व देरीसे होता है, उनके नियम इस उष्णदेशमें लाना चाह रहे हैं। वहांके उपयुक्त कुनाइनको इस गर्म मुल्कमें चालू कर रहे होते हैं। इसलिए कन्या-विवाहकी

अवस्था भी यह लोग यूरोपकी रख रहे हैं। चाहते हैं-जैसे वहाँ तलाक हो रहे हैं, नये-नयीका आस्वाद प्राप्त हो रहा है, और वे सभ्यदेश माने जाते हैं; वैसे यहां भी व्यवहार चालू हो। विवाहसे पूर्व कोई भी लड़की अक्षतयोनि रहकर न आवे, जिससे कठिनता न रहे। यह इनका आन्तरिक विचार रहता है। कितना यह देशका सत्यानाश कर रहे हैं! मैं बाज आई इस वैदिक कहे जाते हुए विवाहसे।

पिताजी, आश्चर्य है कि-आप इस वैदिक-षड्यन्त्रमें फँस गये! क्या अभी तक आपको अनुभव नहीं हुआ? युवावस्था-वाली मुझको युवक-पुरुषोंके पास पढ़ने भेज दिया करते थे; इसलिए मेरी पृष्ठभूमिको कलुषित करके आपने अपने सम्प्रदायमें अन्धे होकर मुझे क्या-क्या हानि नहीं पहुँचाई।

यह सुनकर वरका पिता, चाचा, तथा भाई आदि कहने लगे कि-स्वा. जीने 'देवृकामा'का बड़ा कुत्सित अर्थ किया था। स्वा. ब्र.मु. भी ऐसा करते हैं; उसी नीतिसे हमने भी इस कन्यामें अपना अधिकार बताया था; पर अब वर तथा उसकी वधूका किया वास्तविक अर्थ समझकर हमें अनुभव हुआ कि-वास्तवमें देवर श्वशुर आदिका विवाहित हो रही हुई इस लड़कीमें वेदा-नुसार बुरा भाव कुछ भी नहीं है। उक्त अर्थ करके स्वा. जीने कामुकोंको अपने कुत्सित अर्थ करनेका अवसर दे दिया। अब हम कभी भी ऐसे कुत्सित अर्थोंका विचार भी मनमें नहीं लावेंगे, और न वेदमें वे कुत्सित अर्थ हैं ही।

(१५) तब प्रभावित होकर लड़कीके पिता कहने लगे-हा! आज मुझ अन्धेकी आँखें खुलीं। अब तो हम अपने लड़के-लड़कियोंका यह नाममात्रसे 'वैदिक' वस्तुतः अवैदिक विवाह कभी नहीं करेंगे—और न ही लड़कियोंकी वैवाहिक आयु बढ़ाएँगे।

विवाह-संस्कारमें एक अन्य दर्शक भी बैठा हुआ था। वह कहने लगा कि-देखिये। उक्त विधिमें 'देवृकामा' शब्दसे विधवा होनेपर देवरसे कामना यह लोग बताते हैं, पर यह लड़की विवाहकी समाप्ति पर सं.वि.के आदेशसे दो घण्टेके बाद 'क्षतयोनि' हो जायगी। फिर विधवा होनेपर पूर्वसे क्षतयोनि होनेसे स.प्र.के अनुसार द्विज यह विधवा-विवाह न कर सकेगी। शेष रहा नियोग, तो इस सम्प्रदायने नियोगका कई शास्त्रार्थ करते हुए भी कभी अपने यहां उसको असभ्यतावश चालू नहीं किया, तब इसका नियोग भी नहीं हो सकेगा। तब १० पतियोंका वैदिक पाठ पढ़ी हुई यह लड़की उन दस पुरुषोंको क्या व्यभिचारसे लेगी? तभी क्या 'वैदिक-धर्म' पूर्ण होगा? वस्तुतः यह सब कामुकोंके अपने ही दुरभिप्राय हैं; वेदका इसमें कुछ भी कुत्सित अभिप्राय नहीं।

तब कन्याका पिता कहने लगा कि-इस 'वैदिक' विवाह तो-कि एक व्यभिचारका षड्यन्त्र है-के इन दुष्परिणामोंका मुझे पता नहीं था; नहीं तो मैं कभी इधर प्रवृत्त न होता; पर अब तो मेरा सर्वनाश उपस्थित हुआ चाहता है, अब मैं क्या करूँ!

अब तो 'सर्वनाशे समुत्पन्ने ह्यर्धं त्यजति पण्डितः। अर्धेन कुरुते कार्यं सर्वनाशो हि दुस्सहः' इस नीतिका आचरण करूँ।

यह कहकर यह सुधारकजी मुझे कहने लगे कि-पं.जी! यदि अब हम स.ध.की शैलीसे कन्या-विवाह करें; तो मुझे क्या करना होगा। मैंने कहा कि-तब आपको कन्याके रजस्वला हो जानेका प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। वह प्रायश्चित्त सुनिये—

(१६) संस्कारदीपकमें संस्कारभास्करसे आश्वलायनका यह वचन आया है—'पिता ऋतून् स्वपुत्र्यास्तु गणयेद् आदितः सुधीः। दानावधि गृहे यत्नात् पालयेच्च रजोवतीम्।' यह वही श्लोक है, जिसको आ.स.के स्वा. विश्वेश्वरानन्द जीने अपनी पुस्तक 'पुरुषार्थ-प्रकाश' (पृ. १४५-१४६)में 'संस्कार-कौस्तुभ'के नामसे रजस्वला-विवाहकी सिद्धिकेलिए दिया था। देखो इसपर पथिककी पुस्तक वें.सि.मा. (पृ. ३४); पर आगेके जो पद्य थे, उनको अपनी साम्प्रदायिक-परम्पराकी प्रकृतिके कारण उन स्वामीने छिपा दिया।

तब कन्याके पिताने कहा—यह स्वामी लोग भी क्या पूर्वापर प्रकरण छिपा लिया करते थे? मैंने कहा कि—हां, यह पूर्वोत्तर प्रकरण छिपा लेनेकी शैली सबसे पूर्व इस सम्प्रदायके संस्थापक बड़े स्वा. जीने शुरू की थी; फिर उनके अनुयायिवर्गमें छोटे नये रंगरूटसे शुरू करके बड़े नेता तक सब इसी थैलेके चट्टे-बट्टे हैं। इसीसे वे अब तक अपना निर्वाह करते चले आये हैं; और उनके सम्प्रदायकी बालूकी दीवार इसी पूर्वापर-प्रकरणके छिपानेसे यथाकथञ्चित् गिरती-पड़ती भी बनी रही; पर अब 'आलोक'-ग्रन्थमालामें वह इन लोगोंसे छिपाया हुआ पूर्वापर-प्रकरण जनताके समक्ष रखना शुरू कर दिया गया है, इसीसे इन लोगोंका पराजय शुरू हो गया है; और आगे इस साम्प्रदायिक खोखली नींवके शीघ्र गिर जानेकी सम्भावना है।

तब यह कन्या-पिता कहने लगे; यह वो बड़ी अच्छी बात है; 'आलोक'-ग्रन्थमालाके अष्टम पुष्पकी मेरी लड़कीने भी (१४ वें सन्दर्भमें) बड़ी प्रशंसा की है। इस लड़कीके पतिने भी (१३ वें सन्दर्भमें) उक्त ग्रन्थमालाकी यथार्थता पर प्रकाश डाला है। मैंने भी सुन रखा है। मैं भी अब उक्त ग्रन्थमाला मंगवाऊँगा; और उसे पढ़कर इन लोगोंके षड्यन्त्रका ज्ञान करके फिर उनका भाण्डा-फोड़ करूँगा। अस्तु। पं. जी, बताइये वे उक्त स्वामीसे छिपाये हुए श्लोक, और उनका वास्तविक अर्थ भी बताइये।

मैंने कहा—सुनिये फिर सावधान होकर। पूर्वसे आगेके पद्य यह हैं—'दद्यात् तदृतुसंख्या गाः शक्तः कन्या-पिता यदि। दातव्यैकापि च यत्नेन दाने तस्या यथाविधि। दद्याद् वा ब्राह्मणेभ्यन्नम् अतिनिःस्वः सदक्षिणम्। तदतीतर्तुसंख्येषु वराय प्रतिपादयेत्। उपोष्य त्रिदिनं कन्या रात्रौ पीत्वा गवां पयः। अदृष्टरजसे दद्यात् कन्यायै रत्न-भूषणम्। तामुद्वहन् वरश्चापि कूष्माण्डैर्जुहुयाद् घृतम्' (संस्कार-दीपक पृ. ६३-६४)

इनका पूर्वापर-प्रकरणसे भाव यह है कि-यदि आपत्ति आदि विशेष परिस्थितिवश गुणवान् वर न मिलनेकी दशामें विवाहसे

पूर्व ही कन्याका रजोदर्शन हो जावे, फिर भी वर न मिल सके, तो पिता अपनी स्त्रीकी सहायतासे कन्याके उन ऋतुओंको पतिके न मिलने तक कन्यादान तक गिनता चला जावे, और उस कन्याका बड़े प्रयत्नसे संरक्षण करे, क्योंकि-ऋतु होने पर लड़कीकी पुरुषप्राप्तिकी इच्छा प्रबल हो उठती है। जब उस लड़कीकेलिए वर मिल जावे; तब विवाह वाले दिन यदि पिताकी शक्ति हो; तो जितने उस कन्याके ऋतु हो चुके, उतनी संख्याकी गौओंका दान प्रायश्चित्तरूपमें करे। इतनी दानकी शक्ति न हो; तो प्रायश्चित्तस्वरूपमें एक ही गायका दान दे। अथवा बहुत निर्धन हो; तो ब्राह्मणको दक्षिणा-सहित अन्नदान दे। कन्या भी तीन दिनके उपवासका प्रायश्चित्त करे। वर भी कूष्माण्ड घृत आदिका प्रायश्चित्तस्वरूप हवन करे। ऐसा करनेसे उस ऋतुमती कन्याके प्रदानका दोष हट जाता है। ऐसे अनुकल्प विशेष-परिस्थितिमें करने पड़ते हैं।

यह सुनकर कन्याके पिता यह सुधारकजी प्रसन्न होकर कहने लगे कि-मैं यह प्रायश्चित्त करनेकेलिए प्रस्तुत हूँ। आगेसे मैं कभी भी सं.वि.से किसी लड़की-लड़केका विवाह नहीं कराऊँगा। वरके पिताने भी प्रतिज्ञा की।

(१७) यह पूरा 'होलीके हुलास'का विवरण सुनाकर होलीमें इकट्ठी जनताको पण्डितजी कहने लगे कि-यह इनकी बात सुनकर भी मैंने इन्हें विवाह पढ़नेका निषेध कर दिया कि-अब मैं सनातनधर्मी विवाह नहीं पढ़ूँगा; आप किसी अन्य सनातन-

धर्मी पण्डितके पास जाइये।

पर यह सुधारक जी बहुत नाराज हो गये; और कहने लगे- "हा! न मैं इधर का रहा, न मैं उधर का रहा। जब मैं सनातन-धर्मकी रीतिके अनुसार शास्त्रीय प्रायश्चित्त करनेको तैयार हूँ; तब आप यह विवाह-संस्कार क्यों नहीं करते?"

वे कहने लगे कि-सनातनी पण्डित हमें कट्टर द...... सम्प्रदायका मानते हैं; अतः वे हमारे पास आवेंगे नहीं; अपने सम्प्रदायके पण्डितोंको और उनकी विधिको अब चाहता नहीं; तो क्या मैं अब सिक्खों विवाह करूँ? सरकारी रजिस्टरमें लिखा-पढ़ी वाला विवाह करके इहलोक और परलोकको बिगाड़ूँ"?

यह सुनाकर वे पं.जी होलीमें मस्त जनताको कहने लगे कि-मैंने इन सुधारकजीकी एक भी न सुनी; क्योंकि-यह पहले मेरी बहुत बेइज्जती कर चुके थे, मुझे पागल तक कह चुके थे। मैंने कहा कि-आप अपनी इच्छानुसार करें-यह कहकर मैं वहाँ चला आया। सो आज यह सुधारकजी यहाँ मिल गये हैं। होलीका रंग पड़नेसे बिगड़े हुए हैं। मुझे देखकर उस दिनकी घटनाका स्मरण आजानेसे यह मुझसे यहाँ बिगड़ पड़े हैं और मुझसे झगड़ने लग गये हैं। यही है मेरी होली-हुलासकी कथा, जिसे आप लोगोंने सुना है।

जनताने सभी बातें बड़ी तन्मयतासे सुनीं, और प्रभावित भी हुई; और उन लोगोंने अनुभव किया कि-इसमें असत्यवाद

लेश भी नहीं है; और तब उन लोगोंने दोनोंको समझाया। पण्डितजीको कहा कि-जब यह सुधारक जी प्रायश्चित्तकेलिए तैयार हैं, तब इनका आपत्तिकाल समझ कर आप अपनी प्राचीन सनातनी-पद्धतिके अनुसार इनकी कन्याका उद्धार कर दो।

जनताने सुधारक जीको भी समझाया कि-अब इस नामको भी छोड़ दो। पूर्ण सनातनधर्मी बन जाओ, आगेसे तदनुकूल आचरण करनेकी प्रतिज्ञा करो। 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' (गीता २।४०) (इस सनातनधर्मका अंशतः आचरण भी बड़े भयों-सङ्कटोंसे बचानेवाला है।) और इन प.जीसे पूर्व किये हुए दुर्व्यवहारकी क्षमा मांगो-यह कहकर उस सुधारकसे पण्डितजीके चरणोंका स्पर्श करवाया। फिर पण्डितजी उन सुधारकजीसे उस विषयकी बातें करने लगे। जनताने उन पण्डितजीको सुगन्धित फूलोंकी एक बड़ी माला पहराई। और पण्डितजीका बड़े ज़ोर-शोरसे गर्जकर जयजयकार किया। इससे मेरी नींद उचट गई, देखा कि प्रातःकाल होने वाला है; और यह गर्जना उस जय-जयकारकी नहीं थी; यह बादल गर्ज रहे थे। मुझे अनुभव हुआ कि-यह तो 'होलीके हुलासका सपना' था। ऐसे विचित्र स्वप्नके आनेसे विस्मित होकर मैंने नित्यकृत्य करनेकेलिए खाट छोड़ दी।

---

(६) बाल्यविवाह-विमर्श।

आजकल कितने ही लोग बाल्यविवाह प्रथाकी निन्दा करते हैं। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि-वास्तविक विचार-पूर्वकता न होनेसे ही बाल्य-विवाहमें बहुत दोष हो जाया करते हैं! दोष कहां नहीं होते; 'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' (गीता १८।४८) परन्तु बाल्यविवाहमें दोषोंकी अपेक्षा गुण अधिक हैं। जो लोग बाल्यविवाह-प्रथामें केवल दोष देखते हैं; वे पाश्चात्योंका ही अनुकरण करना चाहते हैं-इस कथनमें थोड़ा भी संकोच नहीं। हम यहाँ उन विचारोंका संग्रह करते हैं?

(१) एक बार बहुत योग्य किसी अँग्रेजकी एक भारतीयके साथ बातचीत हुई। विचार फर उसने कहा कि-बाल्यविवाहकी प्रथामें जातिगत शान्ति तथा व्यक्तिगत सुखकी अधिकता होती है; और यौवनके विवाहमें जातिगत उद्यम तथा व्यक्तिगत ओजस्विताकी अधिकताका अनुभव होता है। फिर उसने कहा कि-दोनों प्रथाओंमें सामंजस्य करनेका कोई मार्ग नहीं दीखता। भारतीयने उत्तर दिया कि-हमारे प्राचीन व्यवस्थापकोंने इसी सामंजस्य-विधानके उद्देश्यसे ही स्त्रियोंकी आयुमें न्यूनता और पुरुषोंकी आयुमें अधिकता रखकर विवाहप्रथाके नियमको सुव्यवस्थित कर दिया।

अँग्रेजने कहा कि-यह भी ठीक नहीं। माताके अपक्व शरीरसे उत्पन्न सन्तान निर्बल पैदा होती है। भारतीयने कहा—आप लोगोंकी भाषामें पशु-पालन सम्बन्धी जितनी पुस्तकें हैं,

उनमें किसी माननीय ग्रन्थमें ऐसी बात नहीं देखी गई। पिताके शरीरके बलवान् होनेसे ही सन्तानकी सर्वाङ्गपूर्णता तथा बलवत्ता हो सकती है। स्त्रीकी निर्बलतामें सन्तानकी निर्बलताका नियम नहीं। यही मत मनुष्य-जननमें भी देखा गया है।

अँग्रेजने कुछ विचारकर माना कि-ठीक है। पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंका बुद्धि आदिका परिपाक छोटी आयुमें ही हो जाता है। सो अल्प-वयस्क स्त्रीके साथ अधिक-वयस्क पुरुषका विवाह उचित है। इससे सब ठीक हो जाता है। उससे प्रेम, शान्ति तथा सुखकी अधिकता हो जाती है। उद्यम और ओजस्विताकी उत्पत्तिका भी अवसर मिलता है। सन्तान भी दुर्बल नहीं होती।

साधारण विचारसे भी अधिक-वयस्क कन्याका विवाह युक्त प्रतीत नहीं होता। १७-२४ वर्षकी जो युवति वैसे ही पतिको पाकर अपने माता-पिता, भाई-बहन आदि बचपनके सारे साथियोंको छोड़ सकती है; वह कैसी 'लज्जाभय-विभूषणा' है, इसका अनुभव भी नहीं किया जा सकता। बाल्यावस्थासे ही माता-पिता जिन्हें दम्पती बनाकर मिला देते हैं; वे दोनों एक होकर धीरे-धीरे नवीन लताओंकी तरह एक-दूसरेको आश्रित करके एक हो जाते हैं। उनकी जितने चिरस्थायी प्रेमकी उत्पत्तिकी सम्भावना होती है, अधिक-वयस्क विवाहमें वैसा प्रेम भला स्थायी कैसे हो सकता है? छोटी आयुमें विवाहित हुई स्त्री ही 'लज्जाभयविभूषणा' हो सकती है, २०-२४ वर्षमें

विवाहिता तो निर्लज्जा और निडर हुआ करती है।

(२) उस समय मन परिपक्व हो जाता है, अभ्यास स्थिर हो जाता है, और चरित्र अपना एक ढंग पकड़ लेते हैं। फिर वह जोड़ी एकरूप भी नहीं हो सकती। नई शाखाको हम जिस रास्ते मोड़ना चाहें, मोड़ सकते हैं; परन्तु प्रौढ-शाखा ऐसा करने पर टूट जाती है; झुकती वा मुड़ती नहीं। बाल्यविवाहमें कन्याओंका स्वभाव पतिकी परिस्थितिके अनुकूल हो जाता है, परन्तु परिपक्वावस्था प्राप्त होने पर उनके अपने-अपने स्वभाव नियत होकर फिर परिवर्तित नहीं हो सकते। तब वैसे विवाह असफल हो जाते हैं; और कलहका साम्राज्य शुरू हो जाता है।

फलतः दम्पतिका पारस्परिक अधिक प्रेम पैदा करना ही यदि विवाहका मुख्य उद्देश्य माना जाता है; तब १७-२४ वर्षकी युवतिकी अपेक्षा १२ वर्षवाली लड़कीका विवाह ही ठीक रहता है। बाल्यावस्थाका प्रेम ही सात्त्विक प्रेम हुआ करता है। माता-पितासे, भाई-बहिनोंसे वा मित्रोंके साथ चित्तका जैसा प्रेम बचपनमें होता है; अधिक वयमें परिचित हुओंसे उतना प्रेम नहीं हुआ करता है; वहां तो स्वार्थपरता ही हुआ करती है। बाल्यकालीन किसी मित्रके दोषोंके देखनेकी इच्छा भी प्रायः नहीं हुआ करती। वह जो करता है, वही ठीक लगता है। वह जो कहता है, वही मधुर मालूम होता है। उनमें किसीके भी देखने वा स्मरण करनेमें वा उसका नाम सुननेमें भी अन्तः तत्काल ही सरलताको तथा स्निग्धताको प्राप्त हो जाता है। जो

लोग बाल्यमें दाम्पत्य-प्रणयके बीजको न बो कर उसमें देरी करते हैं, वे प्रेमपीयूषके वास्तविक रसास्वादनसे वञ्चित ही रहते हैं। भोगोंका भोगना वास्तविक प्रेम नहीं होता।

(३) कई लोग कहा करते हैं कि-'अधिक अवस्थामें बुद्धिकी परिपक्वतादशामें पारस्परिक स्वभाव एवं चरित्र आदिको जानकर युवति और युवक विवाहित होकर प्रेमसूत्रमें आबद्ध हो जाते हैं', पर यह बात कथनमात्र ही है। दूसरेके स्वभाव एवं चरित्रकी परीक्षा कोई सुगम काम नहीं है। इसमें बहुत सुविज्ञ तथा बहुदर्शी पुरुष भी पदे-पदे फेल हो जाते हैं। १७-२४ वर्षकी स्त्रीकी बात तो न पूछिये। उस अवस्थामें इन्द्रिय-वृत्ति प्रबल तथा कल्पना-शक्ति तेजस्विनी होती हैं, और अनुराग एकदम ही दोनोंके उन्मुख होता है। एक दूसरेके स्वभावकी परीक्षामें जिस धैर्य एवं विवेककी आवश्यकता होती है, वे उस समय प्रायः अकर्मण्य होते हैं। एक सुतीक्ष्ण कटाक्ष तथा मृदु-मधुर मुस्कान एवं हास्य, और कुछ अङ्ग-लावण्यका वैचित्र्य तब सहसा ही मनरूप दुर्गपर अधिकार कर लेते हैं; स्वभाव तथा चरित्र आदि-की परीक्षाका तब अवसर भी नहीं मिलता। इस कारण अधिक-वयस्कताका विवाह साधारणतः चिरस्थायी प्रेमके पैदा करनेमें समर्थ नहीं हुआ करता।

(४) यह भी भूलनेकी बात नहीं है कि-जिस देशमें अधिक आयुमें विवाह करनेके कानून बने हुए हैं; वहाँपर विवाहोच्छेद-प्रथा भी अवश्य चालू हो जाती है। यदि उस समय स्वभाव-

आदिकी परीक्षा ठीक-ठीक हो सकती; तब ऐसा कैसे होता? फलतः अन्धानुरागमूलक विवाहके बन्धनमें अकृत्रिम प्रेमकी उत्पत्तिकी सम्भावना अतिकठिन होती है। इसलिए साधारण-सी बातोंमें ही वह बन्धन स्वयं ही टूट जाता वा ढीला हो जाता है।

इङ्गलैण्डके लोग अधिक अवस्थामें विवाह करते हैं; वहाँ पर तलाकका कानून भी बना हुआ है। इसलिए वहां प्रतिवर्ष अधिक-मात्रामें तलाक हुआ करते हैं। ऐसी व्यवस्था उनके अनुरूप न होनेसे इससे वे बहुत दुःखी हैं। अमेरिकामें भी अधिक वयमें विवाह हुआ करता है। अब कई लोग वहां विवाह-प्रथाको रोकनेकेलिए तैयार हो रहे हैं। यदि अधिक-वयस्क विवाहका परिणाम सुखजनक होता, तब उस सुखके हटानेकेलिए इस प्रकार यत्न वा आग्रह क्यों होते? बल्कि ऐसे ही देशोंमें ऐसी गड़बड़ियां हुआ करती हैं। यह सब अधिक-वयस्क विवाहके ही फल हैं—इसमें कोई अतिशयोक्ति वा असत्य नहीं।

(५) स्पेन, इटली, ग्रीस आदि देशोंकी स्त्रियां भी पढ़ती-लिखती हैं, पर उनमें इङ्गलैण्ड-अमेरिका आदिकी भांति परस्पराभिलषित अधिक-वयस्कताके विवाहकी प्रथा प्रायः चालू नहीं। इससे वहां दम्पतियोंका परस्पर प्रेम भी खूब होता है।

फलतः जिस देशमें अधिक वयमें विवाह होता है; वहीं विवाह-बन्धन की शिथिलता, तथा दम्पतियोंका प्रेम अन्धानुराग-मूलक होनेसे अचिरस्थायी हुआ करता है। हमारे धर्मशास्त्री, अतीत-अनागतदर्शी मुनि लोगोंने स्त्रियोंके अधिक-वयस्कताके

विवाहोंसे होने वाली हानियोंका दूरदर्शितासे विचार करके ही उनका अल्प वयमें विवाह निर्धारित किया था। यदि वर्तमानके शिक्षितम्मन्य उनके वचनों पर आचरण नहीं करना चाहते; तब उन्हें विवाहोच्छेद तथा अशान्ति आदि कण्टकोंसे समाजके अङ्ग-भङ्गकेलिए भी तैयार रहना चाहिये, जिसका सूत्रपात वैसे कानून बन जानेसे हो चुका है, क्योंकि विवाहोच्छेद अधिक-वयस्क विवाहका ही लड़का है। (श्री सू. दे. च.)

(६) कई लोग कहते हैं कि-बाल्यविवाह भावी सन्तानोंकी शारीरिक दुर्बलता तथा बुद्धिमन्दता आदि दोषोंको पैदा करता है; पर उनका यह कथन प्रत्यक्षका अपलाप है। देखिये-१ भगवती जानकी त्रेतायुगमें छठे वर्षमें विवाहित हुई थी, और भगवान् राम उस समय 'ऊनषोडशवर्ष' थे। (इसको 'आलोक' (७) में तथा इस पुष्पमें ४थं निबन्धमें सिद्ध किया जा चुका है)। उसने समय पर लवकुश नामके अनन्य साधारण, अतुलित-बलशाली पुत्रोंको पैदा किया-यह इतिहासविज्ञोंसे तिरोहित नहीं। २ इस प्रकार द्वापरयुगके भूषण भगवान् नन्दनन्दन श्रीकृष्णको जिसने दिव्य जन्म दिया था; वह देवकी भी बाल्यावस्थामें विवाहित थी; उसे वहां 'बाला' कहा गया है।

३ वीरवर अभिमन्युका विवाह सोलह वर्षसे पूर्व ही किया गया था। १६ वर्षमें तो उसकी हत्या कर दी गई थी—'तस्या (अर्जुनस्या)ऽयं भविता पुत्रो बालो भुवि महारथः (अभिमन्युः)। ततः षोडशवर्षाणि स्थास्यंत्यमरसत्तमाः। अस्य षोडशवर्षस्य स

संग्रामे भविष्यति' (महाभारत आदिपर्व ६७।११७-११८)। इस प्रकार उसकी स्त्री उत्तराका विवाह भी बाल्यमें ही हुआ था, यह तो महाभारतसे स्पष्ट ही है; उनके पुत्र परीक्षितका भी इतिहासमें प्रसिद्ध है—'एकं वंशकरं पुत्रं (परीक्षितं) वीरं हि जनयिष्यति' (१।६७।१२३)। इस प्रकार स्पष्ट हो गया कि-छोटी आयुमें विवाहित स्त्रियोंकी भावी सन्तानोंमें कोई भी हानि नहीं हुई।

(७) अथवा-बहुत पुराना इतिहास छोड़ दीजिये, निकट भूतकालको ही देख लीजिये। ४ अकबर शाहके समयमें मेवाड़-केसरी श्री प्रतापसिंहको ही देख लीजिये, जिनकी असा-साधारण देश-भक्तिको सुनकर शरीर रोमाञ्चित हो जाता है। उनकी माता बाल्यावस्थामें ही विवाहित हुई थी। ५ महाराष्ट्रके स्वामी श्रीशिवाजी जिनने औरङ्गजेबके दांत खट्टे करके स्वराज्यको स्थापित कर गेरुई पताका फहरा दी थी; वे भी बाल्यावस्थामें ही विवाहित माताकी सन्तान थे। उनकी माता तीन वर्षमें व्याही गई थी। ६ सुप्रसिद्ध बाजीराव पेशवा भी ९-१० वर्षके भीतरकी माँकी सन्तान थे। ७ इस प्रकार पंजाब-केसरी रणजीतसिंह जी भी बाल्यविवाहिता माताकी सन्तान थे। ८ प्रसिद्ध-कीर्तिवाले गो. तुलसीदासकी माता हुलसीदेवी भी बाल्यविवाह-संस्कृता हुई थी। अब वर्तमान-समयको भी देखिये—९ वङ्गाल-देशके रत्न श्रीईश्वरचन्द्र विद्यासागरकी माता भी बाल्यावस्थामें ही व्याही थी। १० ब्राह्मसमाजके

प्रवर्तक श्रीराममोहनराय भी छोटी आयुमें विवाहित मातासे पैदा हुए थे। ११ काशीको प्रकाशित करनेवाले श्रीवाल शास्त्री, श्रीशिवकुमार शास्त्री, श्रीकैलासनाथ शास्त्री, म.म. श्रीगंगाधर शास्त्री, व्याकरणकेशरी एवं साहित्यार्णव-कर्णधार गो. दामोदर शास्त्री, आदि दिग्गज पण्डित-वरेण्य भी बाल्यविवाहित माताओंके ही गर्भमें निवास करके उत्पन्न हुए थे।

१२ जिस भारतविख्यात यशवालेकी देश-सेवा, सत्यनिष्ठा, तथा स्पष्टवादिता आदि गुण भारतके कोने-कोनेमें आवाल-वृद्धमें व्याप्त होकर अतुलकीर्तिकारक हुए, जिनकी न्यायशीलता और सत्यवादितासे प्रसन्न हुआ-हुआ वायसराय उन्हें अपनी दाहिनी बांह मानता था; वे न्यायाधीश (जस्टिस) रानाडे भी बाल्यमें विवाहित माताके ही आनन्दवर्धक पुत्र थे।

१३ कौन भारतीय लोकमान्य श्रीवालगङ्गाधर तिलकका आदर नहीं करता, जिन उदारचित्तवाले महोदयकी विद्वत्ता, दृढ़-प्रतिज्ञा, निर्भीकता आदि गुणोंको न केवल हमीं, वल्कि समस्त विश्वके विद्वद्धुरीण भी तथा अन्य लोग भी मुक्तकण्ठसे गाते हैं, जन्मसिद्ध स्वराज्यके मूलमन्त्रके उपासक जिनके सिद्धान्त हिमालयकी भांति अचल, और युक्तियुक्त राजनीतिज्ञता अपरिवर्तित रही, अव्यभिचारी धैर्य और गाम्भीर्य जिनका समुद्रके समान था, समस्त कलाओंमें अभिज्ञ, अगण्यगुण-मण्डित पण्डित श्रीतिलकजी भी छोटी अवस्थामें विवाहित ही माताके सन्तान थे।

१४ कौन भला 'गोखले' इस उपनामवाले श्रीगोपालकृष्णको नहीं जानता, जिनके विद्वत्ता एवं माधुर्य एवं सारसे सम्भृत प्रश्नपूर्ण व्याख्यानको सुनकर उसके उत्तर ढूंढनेमें व्यस्तचित्त लार्डकर्जन नामक वायसराय भी अन्तमें चुप हो गया। जिन अर्थशास्त्रोंके परिशीलनमें यूरोपीयनोंमें भी दो-तीन ही सफल हुआ करते थे, उनको सम्पूर्ण रूपसे जानकर जो राजा-प्रजा दोनोंके विश्वासपात्र हुए थे, वे श्रीगोखले भी छोटी आयुमें ब्याही माताके गर्भसे उत्पन्न हुए थे।

१५ वह असाधारण चिरजीवी सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी जिनकी वाक्पटुता बहुत प्रसिद्ध हो गई थी, जो बङ्गालमें विना छत्रके दूसरे राजा माने जाते थे, जिनने अस्वास्थ्यका आक्रमण स्वप्नमें भी नहीं देखा था; उनकी माता भी बाल्यावस्थामें ही विवाहित थी। १६ जिनने स्वराज्यदल निकालकर भारतके वायसरायको भी किंकर्तव्यविमूढ वना दिया था, जिनके प्रकाण्ड पाण्डित्यके वैभवसे और विमुग्धताको पैदा करनेवाले चातुर्यसे वश हुई समस्त देशी जनता अपने जीवनधनके अर्पणको भी साधारण-सा मानती थी; वे श्री सी. आर. दास बालविवाहवाली लड़कीसे यथासमय उत्पन्न हुए थे।

१७ प्रतिपक्षियोंके नेता जिनने पांच-सात लाख जनताको अपने सम्प्रदायकी छत्रछायामें प्राप्त कराया था; वे भी सनातन-धर्मी पिताके पुत्र स्वा. दयानन्द बाल्यविवाहित माताकी सन्तान थे, जो बल, बुद्धि, तर्क और उत्साहमें अनन्य-साधारण थे।

१८ अथवा बहुत दूरके व्यक्तियोंको क्यों लिया जावे, सारे संसारको अपने प्रभावसे विस्मित कर देनेवाले श्रीयुत गांधीजीकी ही माताने बाल्यावस्थामें विवाहित होकर भी भारतके सारभूत, निराधार जनताके आधारभूत, विश्ववन्द्य कहे जानेवाले महात्माकी पदवीको प्राप्त किये सुपुत्रको पैदा किया, जिनने स्वराज्य लेकर अँग्रेजोंको बहिष्कृत कर दिया; जो १२० वर्षकी अवस्थाको प्राप्त करनेका विश्वास रखते थे। उन श्रीगान्धिजीने भी बाल्यविवाह करके देवीदास आदि प्रसिद्ध पुत्रोंको पैदा किया। १९ स्वराज्य-पक्षपाती, जनताके प्रधान नायक श्रीमोतीलाल नेहरुकी, नारीजनोंमें अद्वितीय माताने भी बाल्यविवाहित होकर भी ऐसे अनुपम, राष्ट्रमहासभा तथा दूसरी जनताके, विना छत्रके राष्ट्रपतिको पैदा किया, यह किससे छिपा है ?

२० भारतके भूषण महामनाः पण्डितप्रवर श्रीमदनमोहन मालवीय भी बाल्यविवाहित विश्वजनीन जननीकी कुक्षिसे पैदा हुए भी कैसे सर्वमाननीयतासे सम्पन्न उत्पन्न हुए। २१ झाँसीकी रानी लक्ष्मीबाई जिसने ब्रिटिश सेनापति सर ह्यू रोज़को भी हरा दिया था, जिसकी प्रशंसा गदरके समय ब्रिटेनके सेनापतियोंने भी की। उसका विवाह भी आठ वर्षकी आयुमें ही हुआ था। २२ म.म. पं० प्रभुदत्तजी अग्निहोत्री म.म. पं० विद्याधर शास्त्री गौड तथा पं० अम्बिकादत्त व्यासजी की पत्नियां भी छोटी आयुमें विवाहित थीं; इससे इनमें किसीको भी हानि नहीं पहुँची। २३ हमारे एक शिष्य व्रजलाल आर्य हैं,

उनका विवाह १६ वर्षसे पूर्व हुआ; उनकी पर्याप्त सन्तानें हैं वे आर्यसमाजके उपदेशक हैं। कुछ भी अस्वस्थता नहीं।

(८) अब पाठक सोचें, भारतमें जितने पुण्यधन्य गण्यमान क्षत्रियमूर्धन्य, जिनकी सज्जनता विश्रुत है, दानिश्रेष्ठ, विद्वद्धुरीण राजनीति-प्रवीण, अपना सारा धन छोड़कर विश्वजनके लि अवतीर्ण हुए, जितने तपस्वी, प्राणिहितकर्ता, देशहितैषी शुद्ध आचार-विचारवाले लोग हुए, जो अपने सांसारिक सुखोंको छोड़कर परोपकारमें लगे हुए हैं, उनमें प्रायः बारह वर्ष तक विवाहिता, शुद्ध विचारवाली लड़कियोंके ही यथासमय गर्भ आहित हुए। सो इस बालविवाहको कौन दूषित कर सकता है।

ला० लाजपतरायसे बनाई हुई 'दुखी भारत' पुस्तकके पृ २०६-२०७ में लिखा गया है—'प्राचीनकालमें जिन जातियों बड़ी-बड़ी सभ्यताओंको जन्म दिया है, उनके अधिकांशमें बाल विवाहकी प्रथा प्रचलित थी। यूनानके लोग जो पूर्ण मनुष्य सुन्दर विकास तथा उसके सर्वाङ्गीण उन्नतिके आदर्शसे आज भी हमें उत्साहित करते हैं, अत्यन्त बाल्यावस्थामें ही विवाह करते थे। रोमन लोग भी जिन्होंने उत्तम सैनिक शासकोंकी सृष्टि की—बाल्यमें ही विवाह करते थे। यही प्रथा [बाल्यविवाह] हिब्रू लोगोंमें भी प्रचलित थी। इङ्गलैंडमें तो स्टुअर्ट्सके समय तक बालविवाह प्रचलित था। यदि केवल बालविवाह ही राष्ट्रोंको अशक्त करनेका एकमात्र कारण होता, तो इतिहासमें यूनान रोम तथा हिब्र जातियोंका इतना स्थायी प्रभाव न पड़ता

(२०६-२०७ पृष्ठ)।

'रिसले तथा गेट नामक दो साहिबोंने सन् १६०१ की मनुष्य-गणनाके विवरणमें ४२३ पृष्ठमें लिखा है—जिसने पंजाबी सैनिकोंका दल कहींसे निकलते देखा है, अथवा ग्रामके कुओंपर स्वस्थ-जाट स्त्रियोंको जलसे भरे बड़े-बड़े घड़ोंको उठाये हुए देखा है: उसके हृदयमें यह बात पैदा नहीं हो सकती कि—बाल्यविवाहका जातीय स्वास्थ्य पर दुष्प्रभाव पड़ता है' (दुखी भारत २०७ पृष्ठ)।

स्थाली-पुलाक न्यायसे हमने यहाँ इस विषयमें कुछ दिग्दर्शन करा दिया है। स्वा.द. जीसे पूर्व तथा उनके ४० साल तक बाल्य-विवाह जारी रहा, अब भी अधिकांशमें हो रहा है। मुसलमानी युगमें तो वादी भी मानते हैं कि—उस काल बाल्य-विवाह रहा, पर उससे लोगोंके स्वास्थ्य पर वा वैदुष्यपर कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ा।

(६) पर कई लोग आशंका करते हैं—बाल्यविवाहसे बालकों की मृत्यु संख्या अधिकांश बढ़ती है; पर यह भी ठीक नहीं। १६११ सन्की जनगणनाकी लिपिमें दीखता है कि—जिन प्रान्तोंमें बाल्यविवाह प्रथा अधिक है, उनमें बच्चोंकी मरण-संख्या थोड़ी है। यह प्रथा बङ्गाल, बिहार, उड़ीसा प्रान्तोंमें अधिक है। उनमें दरभङ्गा और भागलपुर जिला देखिये—वहाँकी १०-११ वर्षके भीतरकी लड़कियोंकी हजारके पीछे ५६५, ४३४ संख्यक विवाह होते हैं। मृत्युएं इन जिलोंमें प्रतिशत १३ हैं। इस प्रकार बाला-

सार, जलपाद गोड़ी, दार्जिलिङ्ग नामक जिलोंमें हजार पीछे ६५, ५२, ५७ संख्यक बाल-विवाह हुआ करते हैं; इस प्रकार थोड़ी संख्या होनेपर भी २७, २७, २२ बालकोंकी मृत्युएं हुआ करती हैं। वर्मामें बाल्यविवाह प्रायः नहीं है, परन्तु वहाँके बालकोंकी मरण-गणना सारे भारतकी अपेक्षा अधिक है। तब सुधारकों-की उक्त आशङ्का भी निर्मूल निकली।

(ख) यह सुधारकोंका दूसरा ब्रह्मास्त्र है कि—बाल्य-विवाह पति-पत्नी दोनोंके स्वास्थ्यको विकृत करता हुआ स्त्रियोंकी मरण-संख्या बढ़ाता है। इसमें भी १६११ सन्की जनगणनाके रजिस्टरमें ३३ वें पृष्ठको देखकर बाल्यविवाहका खण्डन करना चाहते हुए भी मि. ओमलेको बाल्यविवाहके समर्थक और विरोधी देशोंकी मृत्यु-संख्याकी तुलना करनेमें बाल्यविवाहकी मृत्युकारणताको निर्धारित न कर सकनेसे अन्य उपाय न होनेसे स्वयं स्वीकार करना पड़ा कि—हमारा निश्चय अप्रमाण है। उस पृष्ठके देखनेसे मालूम पड़ता है कि—बङ्गालमें हर वर्ष ६१ तथा बिहारमें ८६, पर यूरोपमें उससे भी अधिक ६५ मृत्युएं हुआ करती हैं।

फिर उस लिपिके ३०२ पृष्ठ देखनेसे पता लगता है कि—आयर्लेण्ड, स्काटलेण्ड, दोनों देशोंकी अपेक्षा भारतवर्षकी स्त्रियोंकी मरण-संख्या थोड़ी है। उसके १३३ पृष्ठ देखनेसे मालूम पड़ता है कि—मुसलिम स्त्रियोंकी अपेक्षा भी अधिक बाल्यावस्थामें विवाहित होती हुई हिन्दु-नारियोंका जीवन-काल

अधिक मिलता है, और २३३ पृष्ठमें वहाँ लिखा है कि-भारतीय स्त्रियोंकी अन्य-धर्मावलम्वी स्त्रियोंकी अपेक्षा अधिक आयु होती है। (पं०रा०रा०शा०द्र०)

इस प्रकार ऊपर किये हुए आलोचनसे यह स्पष्ट हो जाता हैं कि-वाल्यविवाहसे स्त्रियोंकी आयु न्यून होती है, और बच्चों-की मृत्यु-संख्या बढ़ जाती है-ऐसा सुधारकोंका कथन गलत है। यह प्रत्यक्षद्रष्टा नास्तिक-लोग नाममात्रसे ही अपने आपको आस्तिक कहा करते हैं। कर्मव्यवस्थामें अविश्वासी यह लोग उसे कारण न मानकर जोकि सनातनधर्मी शास्त्रोंपर आक्रमण करते हैं; उसमें कारण इनकी अपनी उदारदरीकी पूर्ति, तथा अपने सम्प्रदायका प्रचार तथा सनातनधर्मके साथ द्वेषविशेष ही है। इसलिए धार्मिकोंको उचित है कि-शास्त्रोंके उल्लंघनमें उत्साहित न हों। परिस्थितिवश आप यदि उनका आचरण नहीं कर सकते; पर जो उस पर चलना चाहते हैं; उन्हें मत रोकिये।

(१०) शास्त्राज्ञाका आचरण करनेमें जहाँ पारलौकिक लाभ हैं; वहां ऐहिक लाभ भी हो सकते हैं। सुधारकोंके जन्मसे पहले जबकि वाल्यविवाह प्रचुरमात्रामें था, तब आजकी अपेक्षा मृत्यु भी न्यून थी; और दुर्वलता भी नहीं थी। वाहरी दृष्टि भी मानी जावे; तब भी असंयम तथा खाने-पीनेकी वस्तुओंकी निस्सारता ही कारण उसमें सम्भव है, वाल्यविवाहमात्र उसमें कारण नहीं। यह तो आजकलके यौवनविवाहमें भी कारण हो सकता है। इसीलिए तो टी.बी.की बीमारियां, और अश्रुत-

पूर्व हार्टफेल, कैंसर आदि तथा अन्य भयानक रोग बढ़ रहे हैं; जो वाल्यविवाहके युगमें सुने भी नहीं जाते थे। डाक्टरों-वैद्योंकी संख्या तथा रोग-संख्या भी आजकल वढ़ती चली जा रही है, ऐसा पहले नहीं था। पहले छोटी आयुके लड़कोंके विवाह होनेपर भी उनमें असंयम नहीं होता था। आजकल वड़ी आयुमें विवाह होनेपर भी छोटे लड़कोंमें ही वुरी कुटेवें, तथा असंयम बढ़ रहा है; जीवन विषमय हो रहा है; आजकलके सिनेमा, नाटक आदि उनमें और चार-चांद लगा रहे हैं। शुक्रमें उष्णता छोटी आयुमें ही बढ़ जानेसे लड़कों-लड़कियोंमें जो विशेष अश्लील छेड़-छाड़ें हो रही हैं; यह वाल्यविवाहसे भी अधिक भयावह है। सुधारकोंके इन शास्त्रविरुद्ध प्रचारोंसे लड़कियोंके विवाहकी आयु जो बढ़ाई जा रही है; तब तदनुसार कोई भी लड़की शायद भविष्यमें विवाहसे पूर्व अक्षतयोनि नहीं मिलेगी। तदनुसार ही कुमारियोंकी विवाहसे पूर्व ही भ्रूणहत्याएँ हो रही हैं-यदि यही वैदिकता है, इसीसे वे आजके भारतका मुख उज्ज्वल करना चाहते हों, तो आशा है उन्हें सफलता मिलती जा रही है, उन्हें बधाई हो। इन्हीं हानियोंको दूर करनेकेलिए ही श्रीराम-सीताका छोटी आयुमें विवाहका नाटक हुआ था।

हम इस निवन्धसे यह नहीं बता रहे कि-दो-तीन वर्षके लड़के-लड़कियोंका विवाह कर दिया जावे। नहीं, शास्त्रानुसार ऋतुकालकी निकटतामें उससे कुछ पूर्व १२वें वर्षमें कन्याविवाह कर देना चाहिये। जिस देशमें जितनी देरमें ऋतुप्राकट्य होता

है, वहां उसी अनुपातसे कन्याविवाह हो। लड़कोंका १६ वर्षसे पूर्व विवाह तो नहीं करना चाहिये। १८-१६-२० वर्षमें प्रायः परिस्थितिवश उनका विवाह कर देना चाहिये। ऐसा न करनेसे उनमें कई दुष्प्रवृत्तियां जन्म लेकर उनका भविष्यमें सर्वनाश कर देती हैं। वे फिर स्त्रीके योग्य भी नहीं रह जाते। सर्वनाशकी अपेक्षा अल्प-नाश सहन करना ठीक ही है।

लड़कियोंकी भी जो कि-आजकल परीक्षा-सम्बन्धी पढ़ाई बढ़ाई जा रही है; इससे उनकी २६-२८ वर्षकी आयु हो जाती है। इससे उनको उनकी अवस्थाके अनुपातके अनुसार पति नहीं मिलता, जो कुमार बैठा हो। या तो उन्हें विधुर पति मिलता है, या अपना सर्वनाश कर चुका हुआ पति मिलता है; अथवा दोनोंकी अवस्थाका अनुपात ठीक नहीं बैठता। अतः उनकी १४ वर्षसे ऊपर तो विवाहकी आयु नहीं बढ़नी देनी चाहिये। १६ तक भी उस समय रखनी चाहिये, जब मनु-अनुसार उनके गुणवान् अनुकूल वर ढूँढ़नेमें कठिनता पड़ रही हो। गुणवान् वर मिल जानेपर शास्त्रानुसार उनका ऋतुकालसे पूर्व ही विवाह कर डालना चाहिये।

अथवा विशिष्ट परिस्थितिवश उनका विवाह १५-१६ वर्षमें करना भी पड़े; तब उनका वाग्दान तो पहलेसे ही कर डालना चाहिये; क्योंकि-वह भी एक प्रकारका विवाह ही होता है-'प्रदानं स्वाम्यकारणम्' (मनु. ५।१५२) और विवाहपर संस्कार-कौस्तुभ, संस्कारभास्कर और संस्कार-दीपक आदिके अनुसार

कन्यापिता प्रायश्चित्तस्वरूप गोदान आदि प्रायश्चित्त कर लें।

'अब 'अष्टवर्षा भवेद् गौरी' इस विषयका एक अन्य भी निबन्ध देकर फिर 'सीता-राम विवाहायुविषयक' लेखमाला समाप्त हो जायगी। इतिहास-चर्चा भी समाप्त हो जायगी। फिर 'कण्टकशोधन' होगा।

---

१० "अष्टवर्षा भवेद् गौरी"

यद्यपि इस विषयमें विस्तार तो बहुत होगया है; तथापि 'हाथी निकल गया, पर उसकी पूँछ रह गई' कहीं यह कहावत चरितार्थ न हो जाय-इस विचारसे एक छोटासा निबन्ध देकर यह विषय समाप्त किया जाता है।

(१) 'विश्वसंस्कृतम्' (२।२) में 'नारी' (एक बनावटी कहानी) में उसके सनातनधर्मिमित्र व लेखकने 'अष्टवर्षा भवेद् गौरी, गौरी ददन्नाकलोके' इत्यादि पद्योंकी आत्रेयी-वासन्तीके बनावटी संवादसे अवैदिकता बताई है। पहले इस बनावटी संवादको श्रीभवभूतिने बनाया; फिर उसकी भी बनावटको उक्त लेखकने बनाया, परन्तु 'रोमकाले तु सम्प्राप्ते सोमो भुङ्क्तेऽथ कन्यकाम्। पयोधरेण गन्धर्वो, रजसाऽग्निः प्रकीर्तितः' इस संवर्तके पद्यको लेखकने प्रमाण मान लिया है; और उसकी 'सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः। तृतीयोऽग्निष्टे पतिः, तुरीयस्ते मनुष्यजाः'। 'सोमो ददद् गन्धर्वाय गन्धर्वो ददद्ग्नये। रयिं

च पुत्राँश्चादाद् अग्निर्मह्यमथो इमाम्' (ऋसं० १०।८५।४०-४१) इन वेदमन्त्रोंसे सङ्गति लगाई है; और लिखा है कि-'संवर्तस्मृति-के इस वचनसे पता लगता है-जब तक रजः-प्रवृत्ति नहीं होती; तब तक कन्या सोम, गन्धर्व, अग्निदेवके अधीन रहती है। रजः-प्रवृत्ति होनेपर वह वह्निके अधिकारमें आ जाती है; और वह्नि उसको रजसे शुद्ध करके उसे मनुष्यके अधिकारमें सौंपता है। तभी अग्निकी साक्षीमें कन्याविवाह होनेकी आर्यमर्यादा है। शीघ्रबोधकर्ता काशीनाथने ही मुसलमानी समयसे डरकर सब पुस्तकोंमें अपने शिष्यों द्वारा 'त्रयस्ते नरकं यान्ति' आदि श्लोकोंका प्रक्षेप करवा डाला"।

(२) यह सनातनधर्मित्रुव लेखकका कथन सनातनधर्मसे नितरां विरुद्ध है। इस विषयमें विस्तार तो हमारे संस्कृतमें लिखित 'श्रीसनातनधर्मालोक'के ५०० पृष्ठोंमें है; पर यहाँ उतना स्थान न होनेसे यथासम्भव संक्षेपसे लिखते हैं।

यदि वादी संवर्तके वचनको प्रमाण मानता है, और उसका 'रोमकाले तु सम्प्राप्ते' वचन देता है; तब उसी संवर्तकी स्मृतिमें लिखा है—'तस्माद् विवाहयेत् कन्यां यावन्नर्तुमती भवेत्' (६८) अर्थात्-ऋतुकालसे पूर्व कन्याविवाह करे; तब वादी संवर्तके उक्त वचनको मान ले। यदि नहीं मानता, तो यह उसका 'आर्यसमाजीपन' है, 'अर्धजरतीय' है।

(३) उसके इष्ट 'रोमकाले तु सम्प्राप्ते' इस पद्यके 'संप्राप्ते'में 'क्त' प्रत्यय भविष्यत्कालार्थक है; जैसेकि-'भवत्कृतां भूतिमपेक्ष-

माणाः' (किरातार्जु. ३।४६) यहाँपर 'भवत्कृतां'के 'क्त' का 'भवत्करिष्यमाणाम्' यह भविष्यत्का अर्थ है। 'प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते' (गीता १।२१) यहाँ भी 'प्रवृत्ते'के 'क्त' का अर्थ 'प्रवर्त्स्यमाने' यह भविष्यत्का है; तभी तो 'योत्स्यमानानवेक्षेऽहं' (१।२३) इस अर्जुनके वाक्यमें भविष्यत्कालका प्रयोग है। इस प्रकारके बहुतसे प्रमाण हैं। इस विषयमें 'आलोक' (८) के ६२४ से ६२६ पृष्ठ तक देखना चाहिये।

(४) अब हम यहाँ वास्तविकता बताने जा रहे हैं। वेदमें लिखा है—'सोमो गौरी अधिश्रितः' (ऋसं० ९।१२।३) सोम गौरीमें रहता है। यहाँपर 'सुपां सुलुक्' (पा० ७।१।३९) से सप्तमीका लुक् हुआ है और 'ईदूतौ च सप्तम्यर्थे' (पा० १।१।१९) से प्रगृह्य संज्ञा और प्रकृतिभाव होकर सन्धि नहीं हुई। इस मन्त्रमें सोम देवताका 'गौरी' संज्ञावाली लड़कीमें अधिपत्य बताया गया है।

इसपर प्रश्न होता है-'गौरी' क्या होती है? उसपर उत्तर यह है कि-'अष्टवर्षा भवेद् गौरी' इसे वादी प्रमाण मानता है। यह शीघ्रबोध (१।५२) में पद्य है। यही पद्य संवर्तस्मृति (६५) में भी है। इससे पूरे ८ वर्ष वालीका नाम-जिसका ९वाँ वर्ष शुरू हो रहा होता है-'गौरी' होता है; उसमें सोमका आधिपत्य शुरू होता है। यही बात 'सोमः प्रथमो विविदे' इस वेदमन्त्रसे प्रतीत होती है।

श्रीकाशीनाथका 'शीघ्रबोध' संग्रहग्रन्थ है, उसने इन पद्योंको

को अन्य मुनियोंके स्मृतिग्रन्थोंसे लिया है। यही 'अष्टवर्षा भवेद् गौरी' पद्य 'अङ्गिरः-स्मृति' (१२६) में भी है। 'पराशरस्मृति' (७।६) में भी है, तब काशीनाथके सर्वत्र प्रक्षेपकी बात भी वादीकी निष्प्रमाण है। यह 'आर्यसमाजीपन' है। मुसलमान तो विवाहित स्त्रियोंको भी चुरा लेते थे, याद कीजिये पद्मिनी आदि को। तभी तो विवाहिता स्त्रियाँ मुसलमानोंके युद्धमें अपने पतियोंके युद्धमें जूझ रहे होनेपर अपने चुराये जानेकी आशङ्का-में सती हो जाती थीं। यदि विवाहिताओंको डर न होता; तो वे सती क्यों होतीं ? कुमारियाँ ही जल जातीं; पर उनका ऐसा वर्णन कहीं नहीं आता; अतः वादीका यह हेत्वाभास है। तब कुमारियोंका छोटी आयुमें विवाह होनेपर भी कोई लाभ नहीं था। अतः यह लेखकका मुसलमानीकालके कारण छोटी आयुमें विवाह 'हेतु' नहीं, किन्तु हेत्वाभास है। अस्तु।

फिर वेदमें लिखा है-'गन्धर्वो विविद उत्तरः' (ऋ. १०।८५। ४०) सोमके बाद कन्याका अधिपति गन्धर्व बनता है; क्योंकि सोम अपना आधिपत्य उस लड़कीसे हटाकर गन्धर्वको उसका अधिपति बना देता है। तभी वेदमें कहा है-'सोमो ददद् गन्धर्वाय' (ऋ. १०।८५।४१)। गन्धर्वका रोहिणी-संज्ञाकी लड़कीमें स्वामित्व होता है। 'नववर्षा तु रोहिणी'। सोम उस लड़कीका पूरे आठ वर्षकी हो जानेपर, जबकि उसका नवम वर्ष शुरू हो रहा होता है, अधिपति एक वर्ष तक बनकर फिर वह लड़कीके पूरे नौ वर्षकी हो जानेपर जबकि वह दश वर्षकी

हो रही होती है उसे गन्धर्वको सौंप देता है, और गन्धर्व एक वर्षकेलिए उसमें अधिकृत रहता है।

फिर गन्धर्व उस कन्याको अग्निको सौंपता है; उस कन्या-पर अग्निका आधिपत्य शुरू होता है-'दशवर्षा भवेत् कन्या' (संवर्त.)। 'कन्या' संज्ञामें 'अग्नि'का आधिपत्य होता है, इसपर वेदका भी संकेत है—'जारः कनीनाम्' (ऋ. १।६६।८) 'कनी' यह 'कन्या'के स्थान वैदिक शब्द ङीप् प्रत्ययमें सम्प्रसारणमें रखा गया है। कनीनां-कन्यानां जारः (पतिः, अग्निः)' (निरुक्त १०।२०।२)। 'दशवर्षा भवेत् कन्या' यह 'कन्या' शब्दकी परि-भाषा है। पूरे १० वर्षकी होजानेपर जब उसका ११वाँ वर्ष प्रारम्भ होनेको होता है, पूर्ववत् एक वर्ष ११ वर्षकी समाप्ति तक जबकि बारहवाँ वर्ष लड़कीका प्रारम्भ होनेको होता है, अग्नि कन्याका अधिपति रहता है, तभी वेदमें कहा है-'तृतीयोऽग्निष्टे पतिः' (ऋ. १०।८५।४०) 'गन्धर्वो दददग्नये' (४१)।

यह सोम, गन्धर्व तथा अग्नि कन्याके शरीरके भीतर ही रहते हैं। जो-जो कन्याका अङ्ग बाहर आता है, वह पहले शरीरके अन्दर ही प्ररूढ होता है; अर्थात् उसकी उद्गमक शक्ति अन्दर उत्पन्न होती है। पीछे क्रम-क्रमसे उस अङ्गका बाहर प्ररोहण शुरू होता है। जबतक वह शारीरिक अङ्ग शरीरके अन्दर रहता है; तब तक उस-उस देवका भोग शुरू हो जाता है। जब वह अङ्ग भीतरसे बाहर आना चाहता है; तब भीतरसे उस पूर्व देवका अधिकार भी समाप्त हो जाता है; और अग्रिम

देवका अधिकार शुरू हो जाता है। वह अधिकार पूरा एक वर्ष रहता है, जैसे कि-हम पहले मीमांसा कर चुके हैं।

तो जो 'रोमकाले तु सम्प्राप्ते सोमो भुङ्क्तेऽथ कन्यकाम्। पयोधरेण गन्धर्वो, रजसाऽग्निः प्रकीर्तितः' यह वादीद्वारा संवर्तका वचन दिया गया है, सो सोम, गन्धर्व एवं अग्निदेवोंका कन्याके भीतर रहनेका सम्बन्ध होनेसे, भीतर प्ररूढ हुए रोम, पयोधर, तथा रजकेलिए है। सो सोम, गन्धर्व तथा अग्निका भी अधिकार उन अङ्गोंके भीतर रहने तक होता है। सो जब रोम कन्याके बाहर शुरू होना चाहते हैं; उस समयसे पूर्व सोमका; जब पयोधर बाहर शुरू होना चाहते हैं, उस समयसे पूर्व गन्धर्वका; और जब रजका कन्याके अङ्गसे बाहर आनेका अवसर आनेको होता है, उससे पूर्व अग्निका अधिकार समाप्त होने लगता है; उस समय सोम गन्धर्वको और गन्धर्व उस कन्याको अग्निको और अग्नि अपना आधिपत्य छोड़कर उस कन्यामें उसके माता-पितासे नियत किये वरका आधिपत्य कर देता है। इसी कारण वर अग्निकी साक्षीमें उस कन्याको उसके माता-पितासे लेता है। सो यह अवस्था कन्याके १२वें वर्षके आरम्भमें हो जाती है। उसी समय 'अग्निर्मह्यमथो इमाम्' (ऋ. १०।८५।४१) 'तुरीयस्ते मनुष्यजाः' (अथर्व. १४।२।३) 'पुनः पत्नीमग्निरदाद्' (अथर्व. १४।२।२) इन वैवाहिक वेदमन्त्रोंकी चरितार्थता होती है। इसीका नाम देवदत्तत्व (देव-द्वारा मनुष्य-को देना) होता है। तभी मनुजीको जो पूर्ण वेदज्ञ थे (मनु. २।७)

कहना पड़ा—'वहेत् कन्यां हृद्यां द्वादश-वार्षिकीम्' (९।९४) 'देव-दत्तां पतिर्भार्यां विन्दते, नेच्छयात्मनः' (९।९५) यह उसमें दिया गया है कि-अग्निदेवसे दी हुई कन्याको वर लेता है, अपनी इच्छासे नहीं।

सो कन्याका विवाह रजके अन्तःसञ्चयमें ही सिद्ध हुआ, बाहरके प्राकट्यमें नहीं। बाहरके प्राकट्यमें तो अग्निदेवका अधिकार रहता ही नहीं। तब वह उस कन्याको अनधिकारी हो मनुष्य वरको दे ही कैसे सकता है? सो उस रजः-प्राकट्यसे पूर्व ही 'अग्नि' द्वारा कन्या मनुष्य-पतिको दे दी जाती है, अग्निमें लाजाहोम हो जानेपर वह अग्नि उस लड़कीकी कन्या-संज्ञाको जीर्ण कर दिया करता है, इसलिए वेद अग्निको कन्याओंका जार कहता है—'जारः कनीनां (कन्यानाम् अग्निः)' (ऋ. १।६६।८)। इसपर श्रीसायणाचार्यने लिखा है—'विवाहप्रवेश-समये अग्नौ लाजादिद्रव्यहोमे सति तासां कन्यात्वं निवर्तते। अतो जारः-जरयिता इत्युच्यते'। तब उसका विवाह कन्याके रजके बाहर प्राकट्यसे पूर्व ही अग्निके आधिपत्यके समाप्त होनेके लगभग ही हो जाता है।

वादी कहता है—'रजसाऽग्निः प्रकीर्तितः' इति संवर्त-वचसा यावद् रजः-प्रवृत्तिर्न भवति, तावत्तु कन्या सोमादिदेवा-धीनैव तिष्ठति' (विश्वसंस्कृतम् पृ १३४) इसमें वादीने 'आधीन' शब्द रखा है; सो अग्निकी अधीनता भी रजःप्रवृत्तिसे पूर्व ही आगई। तब वादीका यह कहना कि-'रजःप्रवृत्तौ जातायां

...न्हेरधिकारे समायाति' गलत है। हाँ, यदि यहाँ कन्याके रजका भीतरी सञ्चय माना जावे; तो ठीक है, वाहरी रजका प्राकट्य अर्थ ठीक नहीं; क्योंकि-देवोंका कन्याके अन्दर ही निवास रहता है, वाहर नहीं; अतः रोम, पयोधर, और रज आदि भी भीतरी इष्ट हैं, अर्थात् उन-उन देवोंके आधिपत्यमें उन-उन अङ्गोंकी उद्गमक शक्ति भीतर-ही-भीतर क्रम-क्रमसे हो जाती है।

इसमें हम वादीको वेदका ही प्रबल प्रमाण देते हैं। उसीके दिये मन्त्रके उत्तरार्धमें लिखा है—'रयिं च पुत्राँश्चादाद् अग्नि-र्मह्यमथो इमाम्' (ऋ. १०।८५।४१) यहाँपर वर कह रहा है कि-अग्निने मुझे यह कन्या भी दी है, और ऐश्वर्य और पुत्र भी दिये हैं। इसीका नाटक यह खेला जाता है—जब वधू वरके घर प्रवेश करती है; तो उसकी गोदमें 'पुत्रस्ते एषः' (अ. १४।२।२४) 'दक्षिणोत्तरम् उपस्थं कुरुते वधूः। ब्राह्मणायनं कुमारं शुभनामकं अस्या उपस्थे (अङ्के) उपवेशयति' (कौशिक. ७७।२४) 'जीव-पुत्रायाः पुत्रमंके उत्तरया उपवेश्य' (आपस्तम्बगृ. २।६।११) छोटा बच्चा दिया जाता है, तब वादी बतावे कि-क्या अग्निदेव साक्षात् ही होकर और पुत्रको भी वाहर साक्षात् लाकर मनुष्य वरको देता है? क्या वादी यह मानता है कि-पुत्रको पैदा कराकर साथ ले आई हुई ही लड़कीका वरसे विवाह होता है? यदि नहीं; तब इसी वैज्ञानिक अर्थसे स्पष्ट हो रहा है कि-अग्नि देव भीतर ही भीतर पुत्रोत्पादक रजःसञ्चय कराकर भीतर-ही-

भीतर लड़कीकी पुत्रोत्पादक शक्तिको प्रवृत्त कर रहा होता है। क्योंकि-सन्तानका सम्बन्ध कन्याके भीतरी रजसे होता है।

जब उस शक्तिका वाहर प्राकट्य होना चाहता है; उससे पूर्व ही अग्नि उस लड़कीमें वरका अधिकार करके रजके वाहर आ जानेपर स्वयं भी वाहर निकल जाता है। इससे ध्वनित हो रहा है कि—रजोदर्शनसे पूर्व ही उसके लगभग लड़कीका विवाह हो जावे; वह अवस्था कन्याका १२वाँ वर्ष प्रतिफलित होता है, जैसा कि मनुजीने ९।९४ में लिखा है।

निष्कर्ष यह है कि-सोम, गन्धर्व, अग्निदेव सूक्ष्म होनेसे कन्याके भीतर ही रहकर अपना-अपना कार्य करते हैं। सर्वज्ञ होने से 'विद्वाँसो हि देवाः' (शतपथ ३।७।३।१०) वे भीतर उस-उस रोम आदि चिन्हकी शक्ति देखकर ६ वर्षसे लेकर ग्यारह वर्ष तक लड़कीमें निवास कर रहे होते हैं। जब वह-वह अङ्ग वाहर आनेको होता है; तब वह-वह देव भी अपनी आभ्यन्तरिक स्थितिमें ही अर्थात् अपने अधिकारमें ही दूसरे देवका आधि-पत्य कर देता है; तब अन्यके अधिकार क्रमशः हो जाने पर स्वयं भी क्रमशः वाहर हो जाता है। इस वैज्ञानिक अर्थसे कन्याकी विवाह-योग्य वय ध्वनित हो रही होती है। इन्हीं वेदमन्त्रोंके वैज्ञानिक अर्थका निष्कर्ष वादीकी मान्य संवर्त-स्मृतिने लिखा है—'तस्माद् उद्वाहयेत् कन्यां यावन्नर्तुमती भवेत्' (६८)।

कहीं लड़कियोंकी विवाहावस्था ८, कहीं १२, कहीं १६

लिखी मिलती हैं; वहाँ देशकालके भेदका कारण होता है,
अन्तिम निष्कर्ष सब स्थान ऋतुमतीत्वसे पूर्व विवाह ही प्रति-
फलित होता है। जिस अत्युष्ण बङ्गाल आदि देशकालमें ६
वर्षमें कन्याओंका ऋतुदर्शन होता है, वहाँ आठ वर्षमें कन्या-
विवाह करे। वहाँ जन्मसे २॥-३॥ वर्ष तीन देवताओंका निवास
होकर ७। वर्षके बाद ८वें वर्षके नैकट्यमें कन्याका विवाह करना
उचित है। जिस मध्यम (अर्थात् न बहुत गर्म, न बहुत ठंडे)
देश-कालमें (जैसे यह हमारा देश) १२वें के अन्त वा १३वें के
आरम्भमें रजोदर्शन हो; वहाँ १२वें वर्षमें लड़कीका विवाह हो।
जहाँ बहुत शीतल देशकाल (जैसे यूरोप आदि) हो; वहाँ १६वें
वर्षमें ही कन्याविवाह कर दे। स्मृति आदियोंमें परस्पर-विरुद्ध
वचनोंका देशकालादि भेदवश तत्तद्देशके ऋतुकालसे पूर्वताका
समन्वय कर लेना चाहिये। सो हमारे इस देशकालमें लड़का
१२वें वर्षके अन्दर ऋतुकालके निकट विवाह शास्त्रीय एवं
वैज्ञानिक सिद्ध हुआ।

जब ऐसा है; तब 'रजोदर्शनकाल-व्यपगमे कन्यानां विवाह-
काल इति वैदिकं विज्ञानम्' (पृ० १३५) यह वादीका कथन--
'वह्निश्च रजसा शुद्धिं विधाय तां मनुष्याधिकारे समर्पयति'
(पृ० १३४) उसके इस अपने कथनसे भी विरुद्ध है। स्त्रीका
रजोदर्शनकाल तो ५० वर्ष तक रहता है; और रजोदर्शनकालका
व्यपगम तो ५० वर्षके बाद हुआ करता है; तब क्या वादी
५०-५१ सालकी कुमारीका विवाह करावेगा ?

रजःकाल सामान्यतया आयुर्वेदानुसार १२ वर्षके अन्तमें
होता है (सुश्रुत सं. सूत्र. १४।६); तब क्या वादी कन्याका
विवाहकाल १२ वर्षका मानेगा ? यदि ऐसा हो तो वह भी फिर
हमारे मार्ग पर आगया। केवल इतना भेद रहा कि-हम १२वें
वर्षका आरम्भ चाहते हैं; और वह १२वें वर्षका अन्त चाहता है;
तो आर्यसमाजी पक्ष १७ वर्षसे २४ वर्ष तक कन्याविवाह तो
खण्डित होगया।

१६ वर्ष वा उसके बाद कन्या-विवाह तो यूरोपका अनुकरण
है। यूरोप-जैसे शीतल-देशका अनुकरण करके इस उष्ण-देशमें
कुनाइन बलात् लाई गई है; जैसे वह हानि कर रही है; वैसे
ही इस उष्णदेशमें यूरोपका १७-२४ वर्षका कन्याविवाह भी
बलात् लाया गया है, और वह देशकी हानि कर रहा है। इससे
कन्याओंके कई विवाहसे पूर्व ही अन्योंसे अवैध-सम्बन्ध भ्रूण-
हत्याएँ तथा विवाह होजानेपर विवाहोच्छेद आदि हो रहे हैं।

मनुजी स्पष्ट कह रहे हैं--'हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्' (९।९४)।
इसमें वा 'अष्टवर्षा'में १६ वर्षकी कन्या-विवाहवस्था कहाँसे
टपक पड़ी ?। मनुजी कभी भी किसी संख्यामें ऐकदेशिक
छन्दोजातिका निर्देश नहीं करते। यह तो डॉ० भगवान्दासजी
की अपनी निर्मूल कल्पना है; जिसने वादीको प्रभावित कर
दिया है। यह किसी भी शास्त्रमें नहीं लिखा कि--कन्या इतने
ऋतुकाल व्यर्थ करके तब विवाह करे। 'त्रीणि वर्षाण्युदी-
क्षेत, (मनु. ९।९०) ऋतुत्रयमुपास्यैव' इत्यादि पद्य पिताके द्वारा

लड़कीके ऋतुमती होजानेपर भी न देनेपर उसके आपत्तिकालमें चरितार्थ हैं; इसीलिए पूर्वप्रोक्त मनुके उक्त पद्यके आगे लिखा है-'अदीयमाना भर्तारं' (९।९१)। इस पद्यपर हमने विवेचन अन्यत्र दिया है।

'रोमकाले तु सम्प्राप्ते' जैसे परस्पर-विरुद्ध वचन तथा कन्या-विवाह-वयमें भिन्न-भिन्न निर्देश कहीं भिन्न-भिन्न स्मृतियोंमें यदि मिलें; उन सबका तात्पर्य भिन्न-भिन्न देशकालमें ऋतुकालसे पूर्व कन्याविवाह कर देनेमें है; तभी वादीकी मान्य संवर्तस्मृतिमें उपसंहार किया है—'तस्माद् विवाहयेत् कन्यां यावन्नर्तुमती भवेत्' (६७); पर वादीने अपनी मान्य भी संवर्तस्मृतिके इस वचनको जन-दृष्टिसे छिपा दिया है, यह आर्यसमाजी नीति है। ऋतुकालके प्रारम्भ हो जानेपर कन्यामें सम्भोगकी इच्छा, पुरुषके मिलनेकी इच्छा स्वभावतः शुरू हो जाती है। जैसे कि-वेदमें भी सूचित किया है—

'जायेव पत्ये उशती सुवासाः' (ऋ. १०।७१।४)। 'मलवद्-वासाः' शास्त्रमें ऋतुमतीको कहते हैं; क्योंकि-उस रजस्वलात्वके समय उसके कपड़े रजोलिप्त हो जानेसे मलयुक्त एवं मलिन होते हैं। 'शुक्र और असृक् (रुधिर) मल (मनु. ५।१३५) माने गये हैं। उस 'मलवद्वासाः' का प्रतियोगी शब्द है 'सुवासाः' उसका अर्थ है ऋतुस्नाता। उस समय अर्थात् रजस्वलात्वके चार दिनके बाद वह ऋतुस्नान करती है, उन मलवाले कपड़ों-को वह धोती है; तब वह 'सुवासाः' कही जाती है। उस समय

वह 'उशती' होती है, 'वश् कान्तौ'का शतृमें 'उशती' बनता है। इस समय उसको पतिकी इच्छा होती है। इस प्रकारके मन्त्र वेदमें अन्य भी मिलते हैं। उपवेद आयुर्वेदमें भी लिखा है—'नरकामां प्रियकथां···विद्याद् ऋतुमतीमिति' (सुश्रुत. शारीर. ३।७-८)। शाक्तानन्दतरङ्गिणीमें भी लिखा है—'रजस्वला च या कन्या विशुद्धा पञ्चमे दिने। पीडिता काम-बाणेन ततः पुरुष-मीहते'।

तब उस रजःस्रावमूलक कामुकतासे पूर्व ही उस कन्याकी भावनाका केन्द्र वही पति बना रहे; वह ऋतुमती होकर कामुकताको प्राप्त होकर अन्य युवकोंकी ओर आकृष्ट होकर अपनेको कहीं कलुषित न कर बैठे; यही अन्तर्भावना उसके रजःस्रावसे पूर्व ही सुन्दर पति चुनकर उसके विवाह कर देनेकी होती थी। इससे वह विवाहकालीन पति उस कोमल-भाववाली कन्याके मनमें दृढ हो जाता था।

यदि रजःस्रावसे पूर्वसे ही उसे पति न मिला; तो वह ऋतु-मती होती हुई वेदानुसार उशती (कामुकी) हो जानेसे विभिन्न युवकोंकी ओर आकृष्ट होती रहेगी, तब उसके वासना-पूर्तिके नानाविचार उत्पन्न होंगे। यदि वर ऋतुकालसे पूर्व ही नियत हो जावेगा, तो रजोधर्मसे पूर्वसे ही उसके स्थित होनेसे उसका अन्तःकरण उसी ओर आकृष्ट होगा, उससे ममता बढ़ेगी; और 'प्राणैस्ते प्राणान् सन्दधामि, अस्थिभिरस्थीनि, मांसैर्मांसानि, त्वचा त्वचम्' (पारस्करगृ. १।११।५) इन मन्त्रोंसे पूरा एकीकरण

हो जायगा। तभी 'स्वायां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम्' (ऋसं. १०।१८३।२) इस मन्त्रकी चरितार्थता होगी। यहाँ लड़कीका विशेषण 'ऋत्व्ये नाधमाना' है, अर्थात्-ऋत्व्ये-ऋतुकालमें नाधमानाम्-'पतिसङ्गको चाहती हुई'। स्वा.द.जीने भी सं.वि. गृहाश्रमप्र. (पृ. १७६) 'ऋत्विये'का अर्थ 'ऋतु समयमें' किया है। आर्यसमाजके स्व. पं. नरदेव शास्त्रीजीने भी 'ऋतुकालमें तू पतिकी इच्छा करती है' यह अर्थ 'ऋग्वेदालोचन' (पृ. २७०) में किया है। श्रीसातवलेकरजीसे सम्पादित वेदामृत (प्र.सं. १९८१) में स्वा. स्वतन्त्रानन्दजीने भी 'ऋतुकालीन संयोग चाहती हुई' यह अर्थ किया है। आर्यसमाजके श्रीराजाराम शास्त्रीजीने भी अ. १२।३।२६ में 'ऋतुकालीन संयोग चाहती हुई' यह अर्थ किया है। 'नाधमानाम्' का अर्थ है माँगती हुई, चाहती हुई-'नाधृ याच्ञायाम्' (भ्वा.आ.से.)।

काठकगृ. (१६।१) सूत्रके भाष्यमें आदित्यशरणने लिखा है-'ब्रह्मचर्यान्तं निमित्तम्, 'दशवार्षिकं ब्रह्मचर्यं कुमारीणां द्वादशवार्षिकं वा। अत ऊर्ध्वं पुरुषं प्रति इच्छया, स्वप्ने वा रेतः-सेकः सम्भाव्यते'।

इस उल्लेखसे सिद्ध हुआ कि-वह ऋतुकालमें पुरुषको चाहती है। सो ऋतुकालमें पतिकी निकटता वा पतिके प्रति प्रार्थना तब हो सकती है, जब ऋतुकालसे कुछ पूर्व ही उसका विवाह हो जावे; क्योंकि-ऋतुकालका पता तो पूरा होता नहीं कि-कब शुरू हो जावे; क्या वह कुमारी ऋतुवाले दिन किसीका

कुण्डा खटखटाने जावे? 'यदा भवति संसर्गं ऋतुकाले' (... सं. शारीर. ३।२) यहां ऋतुकालमें संयोग कहा है। ... शुद्धस्नातां चतुर्थेऽहनि अहतवाससम् अलङ्कृतां...भर्तारं दर्श... (सुश्रुत. शारीर. २।२५) यहां भी ऋतुके चतुर्थ दिन पति... कहा है; यदि वह विना विवाहके ही ऋतुमती बराबर ... रहेगी; तब उसको भर्तुदर्शन, विना विवाहके कैसे हो सकता ... तब यह सब श्रुति-स्मृति तथा उपवेदादिके वचन व्यर्थ ... जाएँगे।

फलतः वेद भी बाह्यऋतुके प्राकट्यसे पूर्व ही अग्नि-दे... द्वारा वरको कन्याका दान कराता है। दान होता भी ... वस्तुका ही है, रजस्वला हो जानेपर लड़कीका दान सात्त्वि... नहीं रहता। यह रजस्वलात्व कृष्णयजुर्वेदानुसार स्त्रियोंको ब्र... हत्याका भाग दिया गया है। देखिये-'विश्वरूपो वै त्वाष्ट्र... तस्य-त्रीणि शीर्षाणि आसन्...तस्माद् इन्द्रोऽबिभेद्... वज्रमादाय शीर्षाणि अच्छिनत्...ब्रह्महत्यामुपागृह्णात्। ... पृथिवीमुपासीदद्-अस्यै ब्रह्महत्यायै तृतीयं प्रतिगृहाण।.... वनस्पतीनुपासीदद्-अस्यै ब्रह्महत्यायै तृतीयं प्रतिगृह्णीत... स (इन्द्रः) स्त्री ष ँ सादमुपासीदद्-अस्यै ब्रह्महत्यायै तृतीयं प्र... गृह्णीतेति। ताः [स्त्रियः] अब्रुवन्-वरं वृणामहै, ऋत्वियात् प्र... विन्दामहै...तृतीयं ब्रह्महत्यायै प्रत्यगृह्णन्। सा मलवद्-वासा अभ... तस्माद् मलवद्वाससा न संवदेत, न सह आसीत; नाऽस्या अ... मद्याद्; ब्रह्महत्यायै ह्येषा वर्णं प्रतिमुच्यास्ते' (तै.सं. २।५।१।१-...

सो परिस्थितिवश ऋतुमती हो चुकी हुईके विवाहमें प्रायश्चित्त कर्तव्य हो जाता है। जैसे कि–संस्कार-कौस्तुभ, संस्कारभास्कर, एवं संस्कार-दीपक आदिमें वह प्रायश्चित्त आया है। जैसे कि–'पिता ऋतून् स्वपुत्र्याश्च गणयेद् आदितः सुधीः। दिनावधि गृहे यत्नात् पालयेच्च रजोवतीम्। दद्यात् तद्दतुसंख्या गाः शक्तः कन्यापिता यदि। दातव्यैकापि च यत्नेन दाने तस्या यथाविधि' इत्यादि वचन द्वारा प्रायश्चित्तस्वरूप गोदान करना पड़ता है। दयानन्दी भी इसका पूर्व पद्य उद्धृत कर लेते हैं; शेषको जनदृष्टिसे छिपा देते हैं।

सर्वसाधारणतया ऋतुमतियोंके विवाह करनेपर अँग्रेजी सभ्यताका अनुकरण करनेसे विवाहोच्छेद (तलाक) आदिके भी शुरू हो जानेसे समाजका अङ्गभङ्ग ही होगा। अधिक स्पष्टता किसी अन्य पुष्पमें होगी।

श्रीसीताकी विवाहावस्थाके प्रसङ्गसे कन्याविवाहावस्थाका विषय, न चाहते हुए भी कुछ विस्तीर्ण हो गया है। एक ही स्थान पूरा विषय आजानेसे सभीको सुविधा रहती है। अब इसे समाप्त करके 'कण्टकशोधन' दिया जा रहा है, पाठक उसे भी ध्यानसे देखें; उसमें भी विचारणीय अनेक विषय पढ़नेको मिलेंगे। अन्तमें इस विषयमें इतना याद रखना चाहिये कि–'अष्टवर्षा भवेद् गौरी'का यह भाव नहीं कि–२-३ वर्षकी वा ६-७ वर्षकी लड़कीका विवाह कर दिया जावे। ऐसा कभी नहीं। इसका तात्पर्य तो यह है कि–१२ वर्षके लगभग लड़कीका विवाह

ऋतुकालसे पूर्व होजाना शास्त्रीय है। यदि गुणवान पति मिलनेमें देरी भी हो जाय, वा परिस्थितिवश विलम्बके अन्य कारण बन जाएँ; तब कन्याके पिताको शास्त्रीय प्रायश्चित्त गोदानादि वा दक्षिणादि दान कर लेना चाहिये। 'गौरीं ददन्नाकलोके' आदि वचन ऋतुकालसे पूर्व विवाह करनेके अर्थवाद हैं, ऋतुकालमें अविवाहिता लड़कीके बिगड़नेकी वा कई प्रकारके गर्भाशयके कठोर होनेसे भीतरी रोगोंकी जो कि भाविपतिकी भी हानि करनेवाले होते हैं, आशङ्का रहती है; इसलिए 'न नौ मन तेल होगा, न राधा नाचेगी' इस कहावतके अनुसार अपने वा अपनी लड़कीके परित्राणार्थ उक्त वचनोंकी चरितार्थता है। अत्र कण्टक-शोधन देखिये।

कण्टकशोधन

(११) भ्रान्त-पथिक

हमने 'आलोक' (७) में दयानन्दी-पथिकके नोचीचि. पर विवेचन दिया था; उसपर उसने कुछ लिखा है। उसमें उसने अपने पक्षकी सिद्धिमें अन्य दयानन्दियों एवं सुधारकाभासोंके साध्य वचन देकर–जो कि उसकी सदाकी प्रकृति रही है, अपनी पुस्तककी तोंद बढ़ा दी है। यदि उन वचनोंको जो स्वयं साध्य हैं, उस पुस्तकसे निकाल दिया जाय, तो उसकी वह पुस्तक दो फर्मोंकी भी कठिनतासे बनेगी।

पुस्तक 'वै.सि. मार्तण्ड' नामसे है। इस नामका पथिकके

तथाकथित ऋषिके 'वेदविरुद्ध-मतखण्डन' के ढङ्गसे खण्डन यह है कि-'वैदिक-सिद्धान्त' प्रकाशरूप है, वा स्वभावसे अन्धकार-रूप ? प्रकाशस्वरूप हो; तो सूर्यके तुल्य स्वयं प्रकाशरूप होनेसे 'मार्तण्ड' नामक पुस्तक देखनेके अर्थ सूर्यकी अपेक्षा न होवे। सूर्यप्रकाशकी अपेक्षा विना ही कार्य सिद्ध कर सके; सो सम्भव नहीं। स्वभावसे वैदिक-सिद्धान्तमें अन्धकारस्वरूप होना द्वितीयपक्ष भी ठीक नहीं; क्योंकि-स्वभावसे ही अन्धकारस्वरूप हो; तो सूर्यसे भी उसका प्रकाशित होना असम्भव हो जावे। इसी प्रकार 'वै. सि. मार्तण्ड' का भी खण्डन जानो। अतः इस पुस्तकका नाममात्र भी शुद्ध नहीं है, ग्रन्थके अशुद्ध होनेका तो कहना ही क्या है' (शताब्दीसं पृ. ८१२)

यदि यह स्वा.द.जीकी युक्ति वा शब्द ठीक हैं; तो पथिककी पुस्तकका नाम गलत सिद्ध हुआ। तब वह उस वेदविरुद्ध गलत नामको हटा दे। यदि स्वा.द.जीकी युक्ति वा यह शब्द ही गलत हैं; तो स्वा.द.जी भी गलत शब्द वा गलत युक्तियाँ देनेवाले सिद्ध हो गये, तब पथिक स्वामीके इन शब्दोंका खण्डन करके अपनी पुस्तकके नामका समर्थन करे; और स्वा,द.जीको अपने ग्रन्थोंमें गलत युक्तियां देनेवाला सिद्ध करके अनाप्त सिद्ध करे; और उनके मतको मानना बन्द करे।

इस पुस्तकके सम्पादक हमारे 'विद्यार्थी' जीने लिखा है कि-'नी.ची.वि.' का पं० माधवाचार्यजीने कोई उत्तर नहीं दिया'। पहले तो हमने ही 'आलोक' (७) में उसका प्रत्युत्तर दिया था,

कैसी वह अकाट्य पुस्तक थी कि-उसका प्रत्युत्तर ही न हो सके। पं० माधवाचार्यजीने भी 'लोकालोक'के शङ्कासमाधानाङ्कके परिशिष्टमें उसका प्रत्युत्तर दे दिया है। समय न मिलने पर यदि कोई उसपर कुछ न लिख सके; तो क्या यह कहा जावे कि-उसमें उसकी सामर्थ्य ही नहीं ? वाह !!!

फिर 'वै.सि.मा.'के प्रत्युत्तरके सम्बन्धमें हमारे 'विद्यार्थी' जीने हमारेलिए लिखनेकी कृपा की है कि-'इसका अवलोकन कर शास्त्रीजी भी कभी लेखनी उठानेका दुःसाहस नहीं करेंगे'। कदाचित् यह इस कारण लिखा गया है कि-वह पथिकको संस्कृत-साहित्यका अप्रतिभट विद्वान् समझता हो; पर यह 'विद्यार्थी' जीकी आशा 'शल्यो जेष्यति पाण्डवान्' की भांति दुराशा है; अथवा यह अपने प्रचारका उपाय सोचा गया हो। अस्तु ! जो हो; अब हम वह 'दुस्साहस' शुरू करते हैं। विद्यार्थी जी भी उनकी आशा झुठलानेकी हमें क्षमा देंगे।

वादीकी पुस्तकमें अपना तो प्रायः कुछ रहता नहीं-पर भगवान्की उसपर बड़ी दया ही रहती है; हाँ, उसमें अन्य दयानन्दियों एवं सुधारकोंका मतसंग्रह रहता है; अतः उसके खण्डनसे उन सभीका निराकरण हो जावेगा; यह, तथा इसमें बहुत विषय आगये हैं-यह सोचकर हम इधर प्रवृत्त हो रहे हैं। पाठकोंको एक ही स्थान सब प्रकारकी मनोरञ्जनकी सामग्री मिल जावेगी।

१ स्वामीजीकी दो जातियां जो प्रसिद्ध थीं, हमने लिख डाली

थीं। हमने उसमें स्वामीका कापड़ी होना वा औदीच्य ब्राह्मण होना, जो दूसरोंका मत था; वह दे डाला था। वादीका आग्रह देखकर हमने उन्हीं लोगोंका उसपर अनुसन्धान भी दे दिया था; वादी उसपर चुप रहा। यह व्यक्तिगत बात है; अतः हम उसपर अधिक लिखकर उसे महत्त्व देना नहीं चाहते। अच्छा तो यह था कि-वादी उनको कापड़ी मानकर अपने 'गुणकर्मणा वर्णः' सिद्धान्तको पानी देता; पर यदि वह इस सिद्धान्तके चकनाचूर होनेकी पर्वाह न करके स्वाम को 'औदीच्य-ब्राह्मण' बड़े धड़ल्लेसे मानकर 'जन्मसिद्ध वर्ण-व्यवस्था' को, अपने शब्दोंमें 'पौराणिकता'को प्रश्रय देता है; तो बधाई हो। अधिक कुछ कहा जावे; तो दयानन्दी पथिक स्वामीजीसे उत्तराधिकारमें प्राप्त गालियाँ देता है; अतः हम वैयक्तिक-चर्चा छोड़कर शास्त्रीय बातोंपर विचार करेंगे।

(ख) श्रीदु.द. त्रिपाठीजीने वादीके एक लेखपर कुछ लिखा था; तब मैंने उनकी ओरसे वादीका खण्डन किया था; तो फिर श्रीत्रिपाठीजीको लिखनेकी आवश्यकता नहीं थी। वादीने इसका अभिप्राय उनकी उत्तरमें असामर्थ्य दिखलाया; और हमारे लेखपर कुछ कुतर्क लिखे। तब श्रीत्रिपाठीजीने वादीकी दुराशाके दमनार्थ मेरी और अपनी, दोनों ओरसे वादीका प्रबल निराकरण किया; तब मुझे पृथक् लिखनेकी आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि-वादीका वाद श्रीत्रिपाठीजीसे चला था; अतः उपसंहार भी उन्होंने ही करना था। वादीने 'सिद्धान्त'के वे

अङ्क उनसे मँगाये थे कि-'मैं उनका प्रत्युत्तर दूँगा'। पर बेचारी उसकी लेखनीने जबाब दे दिया; सिर झुक गया। चुप लगा गये। अब उस लेखपर यदि वादी लिखे; तो हम बैठे ही हैं, सम्भाल लेंगे। बहानेबाजीका क्या लाभ? पर उस पूरे लेख पर लिखना होगा।

(२) 'क्या महीदास शूद्र थे'? यह लेख मैंने 'वैदिक-धर्म' (३०।२ फर्वरी ४९) में दिया था। उसपर 'क्या ऋषि महिदास ब्राह्मण थे?' यह पथिकका लेख उस पत्रके (३१।३ मार्च ५०) अङ्कमें छपा। उसमें आर्यसमाजियोंकी सम्मतिके सिवाय कुछ भी नहीं था। हमने उसके प्रत्युत्तरमें 'श्रीमहिदास शूद्र थे?' यह लेख उसीके ३१।५ (मई ५०) अङ्कमें प्रकाशित किया। इसपर पथिक चुप्पी लगा गया।

(ख) मेरा 'क्या ऐलूष कवष शूद्र थे?' यह लेख 'वैदिक-धर्म' (३१।२ फर्वरी ५०) में निकला। इसका प्रत्युत्तर पथिकने 'वैदिक-धर्म' में न देकर-जिससे मुझे पता न लग सके-'ऋषि कवष इलूषका वर्ण निर्णय' शीर्षकसे 'सार्वदेशिक' (३१।१ अप्रेल ५०) में दिया। यह अङ्क अचानक मुझे मिल गया। उसका प्रत्युत्तर मैंने 'वैदिकधर्म'में तुरन्त छपने भेजा; पर उन्होंने उसके छापनेमें बहुत देरी कर दी। अन्तमें वह उसके दिसम्बर १९५६ अङ्कमें निकला। पर हमने उससे पूर्व ही उन दोनों प्रत्युत्तरात्मक लेखोंको अनेक प्राचीन प्रमाणोंसे पुष्ट करके (वैशाख सं.२०१०)में 'आलोक'के ३य पुष्पमें छपवा दिया था; पर वादी उन दोनों ही

लेखोंका अशक्तिवश प्रत्युत्तर न दे सका।

हमने उसे पत्र द्वारा पूछा भी कि-कदाचित् उसने अन्य पत्रोंमें उसका प्रत्युत्तर दिया हो। क्योंकि-यह उसकी प्रकृति है, जिस तटस्थ पत्रमें उसका लेख छपा हो; यदि हमारा भी उसी पत्रमें प्रत्युत्तर निकल जावे, तब वादी उस पत्रको छोड़कर अन्य पत्रमें उसपर कुछ लिख देता है, जिससे हमें पता न लगे; और फिर उल्टा उलाहना भी दे दिया करता है कि-इन्होंने हमारे लेखका उत्तर नहीं दिया; पर उसने अपने श्रा.शु. १० रवि २००८ के पत्रमें मुझे लिखा था कि-मैंने आपके इन लेखोंपर कुछ नहीं लिखा'। पर अब वह अपनी झूठी डींग मार रहा है कि-मेरे लेखपर शास्त्रीजीकी लेखनी न चल सकी। यह लिखकर स्वामीजीकी ऋभाभू.के निम्न वचनको चरितार्थ कर रहा है-'ये चानृतवादिनः, अनृतकारिणः; अनृतमानिनश्च, ते मनुष्या असुरा एव' (पृ. ३३०) 'जो अविद्वान् झूँठ बोलने, झूँठ मानने और मिथ्याचार करनेवाले हैं, वे असुर कहाते हैं' (पृ. ३३२)। 'जो-जो मनुष्य स्वार्थी...तथा कपट छल आदि दोषोंसे युक्त हैं, वे 'असुर' कहाते हैं' (पृ. ३३२) इस पदवीको प्राप्त करनेमें सफलता प्राप्त कर ली मालूम होती है। इस उन्नतिपर उसे वधाई! सम्भवतः एक वार उसने वैदिक-धर्म'में स.प्र. ३य समुल्लासकी व्याख्यामें इस विषयमें लिखनेकी कुछ चेष्टा की थी; उसमें भी 'वही ढाकके तीन पात' वाली कहावत चरितार्थ कर दी। केवल सुधारकाभासों वा आर्यसमाजियोंका उसमें

अनुमोदन दिखला दिया। महिदास वा कवषके शूद्रत्वमें प्राचीन प्रमाण कुछ भी नहीं लिखा। अतः वह तो व्यर्थ ही है। अपने ही व्यक्तियोंकी साक्ष्य सम्मतियोंका भला क्या मूल्य? अब भी हमने उससे पत्र द्वारा यह पूछा था; पर 'उत्तर देनेका समय मेरे पास नहीं है' यह कहकर टाल गया।

दयानन्दी पत्र बहुतसे हैं; अतः यह लोग जहाँ चाहें, अपने लेख छपवा सकते हैं; और वे हमारे पास आते भी नहीं; इस कारण हमें क्या पता लग सकें कि-पथिकका हमारे विरुद्ध लेख कहाँ निकला। हम उसे प्रेरणा करते हैं कि-जिस पत्रमें वह हमारे विरुद्ध लेख छपवाये; वह पत्र हमें भिजवा दिया करे। जिस अप्राप्य पुस्तकसे वह कोई नई युक्ति लिखे; उसे भी हमारे पास भेज दिया करे, तो हम पथिकको विश्वास दिलाते हैं कि-समय प्राप्त करके हम उस पर अवश्य प्रत्युत्तर देंगे; कारण यह है कि-यह लोग पूर्वोत्तर-प्रकरणको छिपाकर असत्य व्यवहार किया करते हैं; छोटेसे लेकर बड़े तक सभी दयानन्दी इसी असत्य प्रकृतिमें ओत-प्रोत हैं। सो इन लोगोंका प्रत्युत्तर दे देना कुछ कठिन नहीं होता। यह प्रेरणा करके अब हम आगे लिखना प्रारम्भ करते हैं। स्थान न होनेसे हम पृथक् पृथक् शीर्षक नहीं देंगे।

(३) ब्रह्माका अपनी पुत्रीसे व्यभिचार, ब्रह्माका वीर्यपात आदि दोनों विषयमें 'आलोक' (७) में जो आलोचना हमने दी थी, उसपर वादी कुछ भी लिख नहीं सका। पुराणमें ब्रह्माका पुत्रीसे

पीछे भागना तो आया है, जो कि-'कामः प्रथमो जज्ञे नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः। ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महान्' (अथर्व. ६।२।१६) इस श्रुतिके तथा 'मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नैकशय्यासनो भवेत्। बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति' (मनु. २।२१५) इस स्मृतिके वचनका अर्थवाद है, पर व्यभिचार नहीं दिखलाया गया। अतः वादीका यह असत्य व्यवहार है। हाँ, वेदमें वैसा कुछ आभास दीखता है। जैसे कि-'स्वायां देवो दुहितरि त्विषिं (रेतः) धात्' (ऋ. १।७१।५) सो जो वहाँ अर्थ होगा, वही पुराणमें भी हो जावेगा। जब वादी उसपर कुछ लिख ही नहीं सका; तब उसपर हम क्या लिखें ? स्वा.द.जीने उस ब्रह्मा वाली सारी कथाको सूर्यपरक ही लगाया है; कहा है कि-'अस्याः कथाया अलङ्काराभिप्रायत्वात्। तस्यामुषसि दुहितरि किरणरूपेण रूपेण वीर्येण सूर्याद् दिवसस्य पुत्रस्योत्पन्नत्वात्' (पृ. ३१७।१६)। स्वामीसे पूर्व श्रीकुमारिलभट्टने भी इस कथाका तत्त्व यही बताया था। तब उस पर कलङ्क कुछ भी न हुआ। प्रजापति वा ब्रह्मा यहाँ सूर्य ही सिद्ध हुआ। यह वादीकी चाल समाप्त हो गई।

(४) ऋष्यशृङ्गका वेश्यागमन तो वादी सिद्ध न कर सका; शेष विश्वामित्रका उत्तर हमने भविष्यपुराणसे ही दे दिया था। तब अब पुराण अप्रमाण कैसे हो गया ? यह वादीकी प्रकृति है कि-जिस पुस्तकसे वह आक्षेप करता है; और हम उससे छिपाये हुए पाठको प्रकट करके उसका जब उत्तर देते हैं; तब

वह उस पुस्तकको अप्रमाण कहने लग जाया करता है, अथवा वहाँ प्रक्षिप्तताका बहाना कर देता है। इससे इन लोगोंका निर्वाह होता जा रहा है। पर विद्वानोंकी दृष्टिमें इसीसे इनके पक्षकी दुर्बलता प्रकट है। विश्वामित्रके कुकर्मसे क्या स्वामीके कुकर्मका समाधान हो जायगा ? ऐसा हो तो बधाई हो।

वाल्मी.रा.में लिखा है-'महर्षयो धर्मतपोभिकामाः कामानुकामाः प्रतिवद्धमोहाः' (४।३३।५७) इसका अर्थ वादी श्रीअखिलानन्द झरियाका देखे—'धर्म-तपश्चर्यासे अलंकृत, मोहादि विकारोंसे निर्धूत महर्षि लोग भी कामासक्त देखे गये हैं' (पृ. ८८७)। इसी प्रकार 'घृताच्यां किल संसक्तो दशवर्षाणि लक्ष्मण ! अहोमन्यत धर्मात्मा विश्वामित्रो महामुनिः' (४।३५।६-७-८) यहाँपर भी सूचित किया है। मनुजीने तपस्यासे पापका फल दूर हो जाना लिखा है—'महापातकी और शेष उपपातक वाले तपके अनुष्ठानसे उस पापसे छूटते हैं' (११।२३६) मनुष्य मन, वाणी, कामसे जो कुछ पाप करते हैं, उन सबको तपस्वी लोग तपसे जला देते हैं' (११।२४१)।

यह सब उदाहरण स्वा.द.जीकी संस्कारविधिमें लिखे हुए 'इमं ते उपस्थं मधुना सँसृजामि, प्रजापतेर्मुखमेतद् द्वितीयम्। तेन पुँसोभिभवासि सर्वान् अवशान् वशिनी असि राज्ञी' (पृ. १३५) इत्यादि 'मन्त्रब्राह्मण'के तीन मन्त्रोंके अर्थवाद हैं। इस इन मन्त्रोंका अर्थ एक आर्यसमाजी विद्वान् गुरुकुलस्नातक श्रीरामगोपाल विद्यालंकार द्वारा बनाये हुए 'संस्कार-प्रकाश'

(गोविन्दराम हासानन्द कलकत्ता प्रकाशित)से दिखलाते हैं; जिससे वादी यह न कह सके कि-आपने गलत अर्थ कर दिया। वह अर्थ यह है-'हे काम, तेरा नाम सब जग जानता है। तू जगमें मदकारी प्रसिद्ध है। यह कन्या तेरे मद करनेका एक साधन है। इसकी तू प्रतिष्ठा कर। हे कामाग्नि, तेरा उत्कृष्ट जन्म इसी स्त्रीजातिमें हुआ है।...हे स्त्री, तेरे उपस्थेन्द्रियको प्रेमसे युक्त करता हूँ।...तू इसी [उपस्थेन्द्रिय] के द्वारा वशमें न होनेवाले पुरुषोंको भी नीचा दिखाती है।...तू सबको वशमें करनेवाली है। तत्त्वकी खोज करनेवाले पुराने अनुभवी ऋषियोंने स्त्रियोंके उपस्थेन्द्रियको मांस खाने वाले अग्निके समान बतलाया है'।

हमारे लोग किसीका गुण-दोष छिपाते नहीं थे; पर वादी लोग छिपाते हैं, बल्कि दोष बतानेपर गालियाँ देनेपर उतारू हो जाते हैं।

(५) त्रिदेवोंके वादीसे दिये हुए चरित्रके 'स्वकीयां च सुतां ब्रह्मा' इस भविष्यपुराणके पद्यमें हमने सुता, माता, भगिनी आदिकी परिभाषा 'सत्त्वभूता च भगिनी' आदि भविष्यपुराणके पद्यसे ही दे दी थी, उसपर वादी चुप हो गया। (ख) 'बोधप्राप्ति' होनेपर भी स्वामीमें भांगके व्यसनका समाधान वादी कुछ न कर सका।

(६) 'मधु, मैरेयकं शुचि' में 'शुचि' विशेषणसे वहाँ विशुद्ध मद्य बताया गया है; तब 'ब्राह्मणेन नात्तव्यं' इस मनुपद्यमें 'अशुचि-मद्य'का तथा निषिद्ध मांसका यदि निषेध है; तो ठीक

है; वहाँ भी ब्राह्मणको ही निषेध कहा है। श्रीमाधवाचार्यजी जो अर्थ वादीने दिया है, वहाँ 'ब्राह्मणको' यह प्रूफकी त्रुटि छूट गया है। क्योंकि-मूलमें जब ब्राह्मण शब्द है; तो अर्थमें भी 'ब्राह्मण' शब्द होगा ही। श्रीतुलसीराम स्वामीने भी लिखा है-'देवताओंका हवि खानेवाले ब्राह्मणको सुरा आदि भक्षण करने चाहियें'। तब क्षत्रियका वादी द्वारा दिये मनुके पद्यसे निषेध कट गया।

शुद्ध-मद्य सोम, आसव, अरिष्ट आदि हैं; उनका निषेध नहीं। देखिये वेदमें-'मद्य' मदम्' (साम. उत्त. ... 'मादनः' (६।१।३) 'सिञ्चता मद्यमन्धः' (ऋ. २।१४।१) ... सह गच्छति' (साम. पवमान. ५।८।८) 'त्वं मद्य' मदं... (ऋ. ६।६।२) 'यस्य ते मद्य' रसं तीव्रं' दुहन्ति अद्रिभिः ... ६।६५।१५) 'सुरा त्वमसि शुष्मिणी' (बलकारिका) (यजु. ... १६।७) 'सोमश्च सुरा च देवहितम्। इति देवहिते ... १२।७३।१४) 'सुरायां च यद् (वर्चः) आहितम्। ... अश्विना! वर्चः, तेन इमामवतम्' (अ. १४।१।३५) 'मदिरं मद्य ... (साम. उत्त. ७।३।३) 'सोमं पिबतं मद्य' (ऋ. ६।६८।१०) ... आसिञ्चतं मधूनाम्' (ऋ. १।११७।६) 'कुम्भान आसिञ्चतं सुरायाः ... १।११६।७) 'अन्धो मद्य' (ऋ. ७।६२।१) 'मधु' तो वेदमें ... पड़ा है। सो जो अर्थ उसका वेदमें होगा; वही श्रीराम ... बलरामके शुद्ध मधुपानमें भी होगा। उनमें भी वादी ... 'शराब' अर्थ क्यों करता है ?

वस्तुतः 'मधु मैरेयक'का भाव मीठा नीरेका रस है। खजूरके तनोंका रस निकालते हैं; उसे बोतलोंमें भरा जाता है; जब वह ताजा होता है; तो मीठा होता है। बहुत घण्टे हो जावें; तब वह खट्टा हो जाता है। जब बहुत दिन सड़ाया जावे; तो मद्य बन जाता है; वह अशुचि हो जाता है; उसका निषेध हो सकता है। पर यहां शुचि और मधु यह मैरेयकके विशेषण होनेसे यहाँ ताजा नीरेका रस विवक्षित है, उनमें किसी भी शास्त्रका निषेध नहीं। अब देखिये—अंगूरका रस हरएक पीते हैं; पर उसका बहुत दिन तक सड़ाया गया रस मद्य बन जाता है। गुड़का रस भी पीया जाता है, लाभप्रद होता है; पर उसका भी मद्य सड़ा कर बनाया जाता है। सो मद्यका भले ही ब्राह्मण-केलिए निषेध हो; पर इन रसोंका निषेध नहीं। मैरेयका तो वेदाङ्ग व्याकरणकी स्वर-प्रक्रियामें भी वर्णन आता है—'अङ्गानि मैरेये' (पा. ६।२।७०) 'मधुमैरेयः' इनके उदाहरणमें आद्युदात्त हुआ है। सो वहां शुद्धता होनेसे दोष नहीं। वैसे तो अन्नमें भी मद्य होता है, यवकी सुरा भी मानी जाती है। चरक-संहिताके हमसे दिये वचन पर तो वादी चुप्पी ही लगा गया। आयुर्वेदके आसव-अरिष्ट आदि गृहस्थी पीया ही करते हैं। क्या वादी द्राक्षासव, लोहासव नहीं पीते ?

स्वा.द.के स.प्र. प्रथम संस्करणमें स्वामीने 'श्राद्ध' का ही क्षेप बताया था; सारेको बहिष्कृत नहीं किया गया था; अतः सका तथा प्रथम-संस्कारविधि आदिका भी प्रमाण दिया ही

जा सकता है। पीछे स्वामीका कई बातोंमें मत बदल गया हो; यह तो सम्भव है। यदि वे अब होते; तो अब इस वर्तमान-स.प्र.को भी परिवर्तित कर देते।

स्वा.द.के भङ्गापान पर हमने लिखा था; उसपर वादीने सम्मति दे दी। 'मांस' शब्द वेदमें 'मांसं' (ऋ. १।१६१।१०, १६२।१३) (अथर्व. ४।१२।४; ५।२६।५,१५; ६।७०।१, ८।६।२३, ६।८।६, ६।७; १०।२।१, ६।१८, ११।१०।११-१२, १८।४।४२) 'मांसवान्' (१८।४।२०), मांसस्य (४।१२।३) मांसानि (५।२४ १-२-३-४-५-६-७-८, ११।३।७, १२।११।८) मांसे (१।११।५, ४।१७।५, ५।३१।१, यजुः २५।३२, १६।८१, २०।१३) आदिमें आता है, वादी जो उसका अर्थ वेदमें करेगा, वही रामायणमें भी हो जावेगा। 'खजूर' आदिके ऊपरके भागको भी 'मांस' कहा जाता है। जैसे—'खर्जूरमांसान्यथ'।

'सुरया सोमः' का वादीसे दिया हुआ स्वा.द.जीका 'उत्पन्न होती हुई क्रियासे उत्पादित' यह अर्थ बनावटी कर दिया गया है, जो चाहो अर्थ करते जाओ, पूछने वाला कौन है ? फिर आक्षिप्त पौराणिक स्थलोंमें भी वैसा अर्थ क्यों नहीं करते ?

(७) 'यथा मांसं यथा सुरा' मन्त्रका उत्तरभाग 'यथा पुंसो वृषण्यतः' को वादीने छिपा लिया था। हम द्वारा लज्जित किये जानेपर उसने उसे कुछ अब लिखा; अब फिर उसका भी शेष 'एवा ते अघ्न्ये ! मनोऽधिवत्से निहन्यताम्' यह अंश वादीने फिर छिपा दिया। तब उसका अर्थ गलत क्यों न हो ? 'यथा पुंसो

वृषण्यतः' का अर्थ वादीने 'उसी प्रकार पुरुषका मन' कर दिया। 'यथा'का 'उसी प्रकार' अर्थ उसने कैसे कर लिया? जैसे चाहा, अर्थ कर दिया, कौन दयानन्दी पूछता है? 'सर्वं वै...मण्डलम्'। 'एवा'में जो 'उसी प्रकार' अर्थ था, उसे वादीने छिपा लिया। 'इस कारण इनको कोई भला मनुष्य न करे' यह वादीका किया अर्थ उक्त मन्त्रके किसी पदका नहीं। 'वृषण्यतः'का अर्थ वादीने किया ही नहीं। 'निहन्यते'का अर्थ 'जाता है' है, 'मारा जाता है' नहीं। इसीके अन्तिम भागमें 'गायके मनका बछड़ेमें 'जाना' कहा है, 'मारा जाना' नहीं। दोनों उपमान-उपमेयका साधारण धर्म 'निहन्यते, निहन्यताम्' है। इनका समान ही अर्थ होगा। पर वादी अर्थ करनेके अवसर पर श्रुतिसे बलात्कार करता है। खेद !!!

(ख) वैदिक-निघण्टु (२।१४)में 'गति' अर्थवाली धातुओंमें 'हन्' धातुका तो प्रयोग है। मारने अर्थ वाली धातुओंमें निघण्टु (२।१९)में 'हन्' धातुका प्रयोग नहीं, यह वादी याद रख ले। स्वा.द.जीसे प्रकाशित वैदिक-निघण्टु भी देख ले। इससे उसका पक्ष गिर गया।

(८) वादी स्वा.द.को 'वेदमन्त्रद्रष्टा' होनेसे 'महर्षि' मानता है, वे कौनसे मन्त्र हैं, जो लुप्त थे, और उन्हें स्वामीने समाधिद्वारा प्रकट किया? अतः यह वादीका असत्यवाद है। यदि वादीके अनुसार मन्त्रार्थ करनेसे जयदेव आदि भी ऋषि हैं; तब आप लोग उनके साथ 'ऋषि'का प्रयोग क्यों नहीं करते? श्रीसायणाचार्य

आदिको वेदार्थ करनेके कारण ऋषि क्यों नहीं कहते; जो स्वा.द. और जयदेव आदि आजकलके सभी भाष्यकारोंके उपजीव्य हैं? यदि जयदेव क्षेमकरण आदिको भी आप 'ऋषि' कहते हैं; तो स्वा.द.के ऋषित्वमें कोई विशेषता नहीं रही। शौनकादि ऋषियोंमें बहुतसे मन्त्रद्रष्टा थे ही। वादीकी अथर्ववेद-सं.के द्रष्टा शौनकजी ही थे। तभी इसे 'शौनकसंहिता' भी कहा जाता है। वेदोंके एक लक्ष मन्त्र माने जाते हैं; क्योंकि सभी ११३१ संहिताएँ ही मिलकर चार वेद बनते हैं। जब उनमें एक भी मन्त्रका द्रष्टा 'ऋषि' कहाता है; तब ८८ सहस्रोंके ऋषित्वमें क्या कठिनता है। वादी कोई प्रमाण बतावे कि वे मन्त्रद्रष्टा नहीं थे। कहीं यदि किसी प्राचीनको मन्त्रद्रष्टा न होनेपर भी पूज्यतावश 'ऋषि' कह भी दिया गया हो; जैसे कि श्रीयास्क आदिको; तो उससे आजकलके बहुत अशुद्धियों वाले तथा छल-बलसे मलिन स्वामीको 'ऋषि' कहना तो व्यर्थकी बात है, 'कहाँ राजा भोज और कहाँ भोजुआ तेली'। 'ऋषि' तो टण्डन जी तथा सातवलेकर जीको भी कहते हैं। उस रूपसे अपने स्वा.द.को 'ऋषि' कहो; तो अन्य बात है: मन्त्र-द्रष्टृत्व वाला वास्तविक ऋषित्व नहीं है। पाणिनि आदि भी जब ऋषि नहीं; तब स्वा.द. भला किस गिनतीमें हैं?

(९) वेदविषयक हमारी मीमांसाका प्रतिपक्षी कुछ भी उत्तर नहीं दे सकता। हम इस विषयमें पूरा निबन्ध आगे देने वाले हैं। उसमें 'दयानन्दसिद्धान्त-प्रकाश'के पक्षकी अव्यवस्थितता भी

हमने दिखलाई है। हम यहां केवल एक ही बात वादीके सामने रखते हैं। वह यह कि-निरुक्तमें श्रीयास्कने मन्त्र अनर्थक-सार्थक प्रकरणमें 'प्रोहाणि' इति प्रोहति' यह मन्त्र दिखलाया है? वेदमें वादी न्यूनाधिकता नहीं मानता। इस पर वादी 'जातिनिर्णय'में श्रीशिवशंकर काव्यतीर्थका कथन भी देख सकता है। अब वादी बतावे कि-उसके वेदमें 'प्रोहाणि' वाला मन्त्र कहाँ है? यह उसे चैलेञ्ज है। यदि वह वेदमें न दिखला सका; तो उसका तथा उसके सम्प्रदायका वेद-विषयक मत स्वयं कट गया-यह वह स्वयं समझ ले।

(१०) 'कृतकं चाभिधानम्' (२।१४।१२) यह मीमांसासूत्र वादीने व्यर्थ ही दिया है, उसकी ऋसं. भी तो 'शाकल्यसंहिता' है. अथर्वसं. शौनकीसंहिता है, इसी प्रकार शेष माध्यन्दिनीसं., कौथुमीसंहिता-यह सभी शाखाएँ हैं। स्वा.द.जीको अपने समय-में यही चार शाखाएँ चार वेदोंकी मिलीं, तो उन्होंने इन्हें ही चार वेद मान लिया। यदि काण्वसंहिता, पैप्पलादसंहिता आदि शाखाएँ पहले उन्हें मिलतीं, तो वे उन्हें ही चार वेद मान लेते। उनमें कर्म एक है-यह सिद्धान्त है। इन वादीकी शौनक-माध्यन्दिन आदि शाखाओंमें भी 'कृतकं चाभिधानम्' सूत्र वैसा ही प्रवृत्त होता है।

महाभाष्यकारने यह कहीं नहीं लिखा कि-वेदोंकी चार संहिता हैं, किन्तु ११३१ सभी संहिताओंको उन्होंने चार वेद लिखा है। वे सभी मिलकर मन्त्र-ब्राह्मण समेत चार वेद हैं। स्वा.द.

जीके भी मान्य तथा वेदज्ञ महाभाष्यकारको अमान्य करना यह पथिकका दुस्साहस है। वेदसे ही तो जानकर भाष्यकारने वेदकी स्वरूपसत्ता बताई है। यहां महाभाष्यकारने वेदविरुद्ध कहाँ लिखा है? वादीने भी वेदका कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया था; केवल स्वा.द.जीका नामभर लिख डाला था; तब महाभाष्यके मुकाबलेमें स्वा.द.जीका मत मान्य नहीं हो सकता।

वादीने जो चार वेदोंके आदिम-अन्तिम मन्त्र लिखे हैं. यह महाभाष्यमें कहां हैं? महाभाष्यने तथा स्वा.द.जीने ऋभाभू.में अथर्वका आदिम मन्त्र 'शं नो देवी' लिखा है, 'ये त्रिषप्ताः' नहीं; तब वादीका पक्ष कट गया। यह भी वादीका कितना निकम्मा प्रश्न है कि-११३१ शाखा वेदकी हैं; तो शाखाएँ किसकी हैं? महाशय, मूल नहीं दीखा करता है, वह मूल तो वेद ही है; सो वह कहीं पृथक् नहीं मिला करता। शाखादि सभी अवयव मिलकर ही वृक्ष हुआ करता है। वस्तुतः मूल है-परमात्मा। उसीसे यह वेद-वृक्ष विकसित हुआ है; और वह परोक्ष है। आगे जो वादीने श्रीवैद्यनाथजीका मत लिख भर दिया है, उसकी प्रत्युत्तर वह आगे देखे।

(११) 'कन्याओंकी प्रौढावस्थामें विवाह'पर जो गोभिल आदिके वचन वादीने (पृ. ३०-३७में) तथा 'कन्याके गर्भाधानकी वास्तविक आयु' पर जो वचन (पृ. ३८-४२में) वादीने दिये हैं, उनका प्रत्युत्तर हम इस पुष्पमें पृ. ११४से ३२५ पृष्ठ तक में दे चुके हैं।

(१२) मूर्तिपूजा-विषयमें स्वा.द.जीका चित्र ऊँचे स्थानपर

रखना सम्मानकेलिए होता है। स्वा.द.जीके वचन 'किसी जड़ पदार्थके सामने सिर झुकाना वा उसकी पूजा करना सब मूर्ति-पूजा है' (स.प्र. ११ पृ. २३०) 'पूजा'का अर्थ स्वामी 'सत्कार' मानते हैं—'अभ्यर्चनं-सत्करणं कर्तव्यमिति' (ऋभाभू. शता. पृ. ६३६) 'देवताभ्यर्चनं'...'वहाँ जाना, बैठना और उन लोगोंका सत्कार करना' (पृ. ६३६) 'पूजनं. पूजा, सत्कारः, प्रियाचरणम्, अनुकूलाचरणञ्च-इत्यादयः पर्याया भवन्ति' (ऋभाभू. शता. पृ. ३४४) 'जो दूसरेका सत्कार, प्रियाचरण, इसीका नाम पूजा है' (पृ. ३४५) इससे स्पष्ट हुआ कि-पूजाका अर्थ सत्कार है।

सो यह मृतक स्वा.द.जीके चित्रका सत्कार करना-चाहे वह मानसिक ही क्यों न हो, वह मूर्ति-पूजा ही प्रतिफलित हुई। तो क्या वह स्वामीजीका कथन 'ऊटपटांग' है ? १७ नवम्बरको ला. लाजपतरायकी मूर्तिपर आर्यप्रतिनिधि सभा पञ्जाब; तथा अन्य समाजें, डी.ए.वी. कालेजका सारा स्टाफ पुष्प चढ़ाते थे, यह 'हिन्दी मिलाप लाहौर'में प्रतिवर्ष छपता था; अब भी सम्भवतः ऐसा होता है' इसपर वादी चुप्पी लगा गया। झण्डेका भी वे अभिवादन करते हैं-यह सब मूर्तिपूजा है ? इसपर वादी कहता है कि-"आपका यह 'वाग्जाल' है"।

जब वादी किसी बातका प्रत्युत्तर नहीं दे सकता, तो वहां 'वाग्जाल' शब्द तथा 'ऊटपटांग' शब्द लिखकर उस बातको टाल दिया करता है ? यह पाठक जान रखें। अनुभवी जान जाते हैं कि-यह सब वादी-की 'यावज्जीवमहं मौनी' न्यायकी चरितार्थता है। वेद तो स्वयं

मूर्तिपूजाके उदाहरण हैं-यह वादी समझ रखे। वेदोंको वादी 'ईश्वरका ज्ञान' मानते हैं, तो निराकार-ज्ञानके चार मन्दिर (चार पोथियाँ) बनाकर चार मूर्तियोंकी प्रतिष्ठा तथा उन निराकार अक्षरोंके प्रतीक साकार अक्षरोंकी उपासना की जाती है; उनका सम्मान, उनपर श्रद्धा आदि की जाती है, उनकी उपासनासे ब्रह्मका ज्ञान किया जाता है। सन् १९१५में ला. मुन्शीराम (स्वा. श्रद्धानन्द) जीने गुरुकुल काँगड़ीमें वेद-सम्मेलनमें वेद-पुस्तकोंको सभापति भी बना दिया था; यह सब मूर्तिपूजा है। तब वेदग्रन्थ द्वारा ब्रह्मज्ञान करनेवाले वादी मूर्तिपूजक हैं। नहीं तो वादी निराकार वेदसे निराकार ब्रह्मकी उपासना करे। साकार वेदमूर्तियोंका अपने सिद्धान्तानुसार जलप्रवाह कर दे; उन्हें अपने घरमें न पधरावे, यदि वह मूर्तिपूजा नहीं मानता।

जब बुद्धदेवजीने स्वा.द.जीके चित्रपर पाँवकी ठोकर मार दी थी, तब आर्यसमाजियोंने बड़ा होहल्ला मचाया था। बुद्धदेवजीने इसकेलिए पश्चात्ताप भी किया था-यह सब मूर्ति-पूजा ही तो है। इसी प्रकार सं. १९८० के लगभग महाशय कृष्णके 'प्रकाश' पत्रके ऋष्यङ्कमें स्वा.द.जीका मुखपृष्ठमें चित्र था, दूसरी ओर 'भल्लाके बूट'का चित्र था; जो ठीक स्वा.द.जीके मुखपर दूसरी ओरसे लग रहा था; आर्यसमाजियोंने उस समय महाशय कृष्णको लोभी लालची कहकर खूब झाड़ा था। भविष्यमें म. कृष्णने वैसा न करनेकी प्रतिज्ञा की, और क्षमा माँगी। बुद्धदेवजीके स्वा.द.के चित्र पर पाँव रखनेपर महाशय

कृष्णजी ही ने बड़ा प्रबल विरोध किया था; यह सब मूर्तिपूजा ही तो है? ७म पुष्पमें लिखे होनेपर भी वादीने इसपर कुछ न लिखकर मूर्तिपूजाके आगे सिर झुका दिया।

वेद तो 'नमस्तेस्तु अश्मने' (अथर्व. १।१३।१) कहकर पत्थर (अश्मा)को भी नमस्कार कहता है, सिर झुकाना होनेसे नमस्कार पूजा होती है; 'णम प्रह्वत्वे'। अश्मा यद्यपि यहाँपर वर्षाके पत्थर 'ओले' का नाम है; तथापि उसके उपलक्षणसे जड़ मानी जाती हुई सभी वस्तुओंको नमस्कार भी आ गई है। कारण यह है कि—यह वस्तुएँ ऊपरसे जड़ होती हुई भी वस्तुतः चेतन हैं। यह बात 'सर्वस्य वा चेतनावत्त्वात्' ऋषिः पठति-'शृणोत ग्रावाणः' (महाभाष्य ३।१।७) में स्पष्ट है। श्रीयुधि०-मीमांसकजीका यहाँ 'दुष्कृतं चरकाचार्यम्' में 'चेतनवत्' अर्थ करना ठीक नहीं; यहाँ 'चेतनवत्' नहीं है, 'चेतनावत्' है, और यहाँ 'वति' प्रत्यय नहीं है, किन्तु 'मतुप्' है, तभी तो भाष्यकारने यहांपर वेदका 'शृणोत ग्रावाणः' (पत्थरो सुनो) यह प्रमाण दिया है।

वेदाङ्ग व्याकरणमें भी 'जीविकार्थे चापण्ये' (पा. ५।३।९९) 'देवपथादिभ्यश्च' (पा. ५।३।१००) 'यास्तु एताः [मूर्तयः] सम्प्रति पूजार्थाः, तासु भविष्यति, शिवः स्कन्दः इति' (महाभाष्य ५।३।९९) आदि कहकर वेदाङ्गने अपने मूल वेदमें भी मूर्तिपूजा बता दी है। इसीलिए तत्त्वबोधिनीमें भी लिखा है—'यास्तु आयतने (देवमन्दिरे) प्रतिष्ठाप्यन्ते पूज्यन्ते च, तासु उत्तरसूत्रेण लुप्'।

तदुक्तम्—'अर्चासु पूजनार्हासु' शिवः, विष्णुः' यह वृत्तिमें लिखा है। स्वा.द.जीने भी 'ताद्धित'में 'शिवः, विष्णुः, आदित्यः' आदि उदाहरण दिये हैं। इससे स.ध.के पक्षकी सिद्धि हो गई। मन्दिरमें देवमूर्तिकी प्रतिष्ठापना वैदिक है—इस विषयमें 'आलोक' (६) (पृ. २२१-२२२)में हमने स्पष्ट किया है।

आर्यसमाजियोंका हवन भी देवमूर्तिपूजा है। स्वा.द.जी 'वेदविरुद्ध-मतखण्डन'में लिख गये हैं, "यत्र होमः क्रियते, तदेव 'देवालय' शब्देन उच्यते (कथम्) होमस्य देवपूजा-शब्देन गृहीतत्वात्। 'होमो दैवः' 'होमैर्देवान्' [अर्चयेत्] (मनुः) होमेनैव देवपूजनं भवतीति मनुना उक्तत्वात्।...अतो होम-स्थानं यज्ञशालैव 'देवालय' शब्देन ग्राह्या-इति निश्चयः' (शता. पृ. ७८६-८७) सो वहां प्रतिपक्षियोंके अनुसार तिथि-नक्षत्र आदियोंके जड़ देवता अग्नि, वरुण, सोम आदियोंको हवि देकर उनकी पूजा की जाती है—सो यह भी मूर्तिपूजा प्रतिफलित हुई।

(१३) हमने 'शार्ङ्गी' एक चटका (चिड़िया-पक्षिणी) थी, यह प्रमाण देकर बताया था। वादीने भी सनातनधर्मियोंके प्रमाण दिये हैं, जिनमें स्पष्ट रूपसे उसे चटका (चिड़िया) लिखा गया था। यहां वादीने अज्ञानियोंको तुष्ट करनेकेलिए वे वचन तो लिख दिये, परन्तु जनताकी आंखमें धूल झोंक दी है। उनसे वह यह न सिद्ध कर सका कि—वह मानुषी थी। वादी लिखता है—'तीनों पौराणिक पण्डितोंने शारङ्गी (चटका) को स्पष्ट स्त्री

लिखा है'। जब वह चटका (चिड़िया) थी, तो वे क्या उसको स्त्री न लिखकर 'पुरुष' लिखते ? उसे उन्होंने मानुषी कहां लिखा है ? क्या 'स्त्री' मानुषीको कहते हैं ? क्या पक्षिणियां स्त्री नहीं होतीं, क्या पुरुष होती हैं ? यह है 'आगरा विश्वविद्यालयकी संस्कृत-परीक्षाकी उपाधिका परिणाम' !!! 'निकृष्टयोनिजा'का अर्थ तो चिड़िया नहीं, पर पक्षिणी होनेसे वह निकृष्टयोनिजा थी। 'अक्षमाला' तो सारस्वत-ब्राह्मणकी वृक्षपर रहनेवाली लड़की नहीं थी; जैसा कि वादीने उपहास किया है, मनुष्य होनेसे वे वृक्षपर क्यों रहें, और न ही वे उड़ती थीं, पर शार्ङ्गिकी तथा उनके बच्चोंका वृक्षपर रहना, तथा बच्चे होनेसे पंख न उगनेसे उड़नेकी शक्तिमें असामर्थ्य बताया है। इसपर भ्रान्त पथिकको कुछ उत्तर तो न सूझ पड़ा, केवल आक्षेपमात्र कर दिया। यह है 'आचार्यकी आचार्यता'। तभी तो उसने एक 'काव्यतीर्थ'को भी 'वेदोंका उद्‌भट विद्वान्' लिख दिया। 'अक्षमाला'को 'स्त्री' होनेसे 'निकृष्टयोनि' लिखा गया है; क्योंकि-पुरुषोंकी अपेक्षा निकृष्ट-कर्म होनेसे स्त्री बनती है; तभी तो स्वा.द.जीने भी स.प्र. में लिखा है—'जो स्त्रीके शरीर धारण करने योग्य कर्म हों, तो स्त्री, और पुरुषके शरीर धारण करने योग्य कर्म हों; तो पुरुषके शरीरमें प्रवेश करता है' (९ समु. पृ. १५९) इनसे पुरुषके पतित होनेसे स्त्री बनना उनकी निकृष्टयोनिता बता रहा है। फलतः वादी हमारे किसी भी युक्ति-प्रमाणपर नहीं लिख सका। आगे 'हरिणीगर्भसम्भूतः 'उलूकी-गर्भसम्भूतः' आदिपर वादीने कुछ

भी नहीं लिखा। शायद वह हरिणी और उलूकी भी [illegible] 'कुशवाहा' जातिकी स्त्रियां हों !! वादिमान्य 'वज्रसूचि[illegible] उपनिषद्'में भी इन्हें जात्यन्तर-जन्तुओंसे उत्पन्न माना है।

(१४) 'आचार्य'का अर्थ वादीने 'अचारज' बताया था, हमने लिखा कि-'द्रोणाचार्य आदि क्या अचारज थे' इसपर वादी[illegible] चुप्पी लगा गया। क्या कृपाचार्य आदिको किसी विश्वविद्यालयसे उपाधि मिली थी ? अब तो अपने आपको 'आचार्य' लिखने वाले 'पथिक' जी भी 'अचारज' बन गये। बधाई हो इस उन्नति पर। पथिकजीके 'परमहंस परिव्राजकाचार्य' स्वा. विरजानन्द[illegible] तथा आचार्य स्वा.द.जी तथा आचार्य वैद्यनाथजी भी 'अचारज' बन गये, इस उन्नतिपर बधाई ! अब तो वे आगरा यूनिवर्सिटी एम.ए.में द्वितीय श्रेणीमें उत्तीर्ण होना लिखकर हमें कहते हैं 'अब तो आप नहीं कहेंगे कि-कुशवाहा संस्कृत नहीं जानता' (आषा. कृ. ८ मंगल २०२२) इससे उसने स्वयं सिद्ध कर दि[illegible] कि-पहले मैं संस्कृत नहीं जानता था; पर अब जान गया। इस उन्नति पर भी बधाई हो।

(१५) प्रमत्तापर हम आगे लिखेंगे। वादीके प्रमाणमें 'प्रमत्ता' का नाईसे विवाह कहीं नहीं बताया गया है। वहाँ तो नापित[illegible] व्यभिचारसे मतङ्गकी उत्पत्ति बताई गई है। क्या वादी किसी स्त्रीके व्यभिचारको वैध विवाह मानता है ? यदि नहीं; [illegible] वादीकी यह बात भी कट गई।

(१६) आगे 'मतङ्गकी एक सहस्र वर्षकी घोर तपस्याको'

मीमांसादर्शनसे विरुद्ध बताता है। यद्यपि वादीकी यह बात 'मत्ताके नापितसे विवाह' को तो सिद्ध नहीं कर सकी; बल्कि यह बात अप्रकृत-चर्चा होनेसे न्यायके अनुसार 'अर्थान्तरनिग्रह-स्थान' ग्रस्त है; तथापि वह यह बतावे कि-यदि वादी 'वर्ष'का अर्थ 'दिन' मानता है; तब जो कि-सौ वर्षकी आयु शास्त्रोंमें लिखी हुई है; वादी क्या 'वर्ष' का अर्थ 'दिन' करके उसे सौ दिनकी आयु (३॥ महीनेकी) मानेगा? 'आसन् वर्ष-सहस्राणि' (६।१२८।२) इस वाल्मीकिके वचनमें क्या वादी उस समय ३३-३४ वर्षकी आयु मानेगा? 'तेनायुरमितं लेभे भरद्वाजः' (चरक. सूत्र. १।१२५) 'संस्कृत व्याकरणका इतिहास' (पृ. ६८) में आर्यसमाजी विद्वान् श्रीयुधिष्ठिरजी मीमांसकने भरद्वाज आदि ऋषियोंकी एक सहस्र वर्षकी आयु मानी है। तब क्या वे तीन वर्षके लगभग थे? आर्यसमाजी-अनुसन्धाता श्रीभगवद्दत्त जीने अपने 'भारतवर्षके बृहद् इतिहास'में भी लम्बी आयु मानी है। तब क्या वैसा लिखते हुए यह आर्यसमाजी विद्वान् नासमझ हैं? क्या मीमांसकजी मीमांसादर्शन नहीं पढ़े?

(ख) अथवा कुछ क्षणकेलिए मान भी लिया जावे कि-मतङ्गने उतने वर्ष नहीं; किन्तु उतने दिन तपस्या की; तब भी वहाँ उस चाण्डालको ब्राह्मणत्व मिलना तो कहीं नहीं कहा गया। तब वादीके स्वामीने जो उसे ब्राह्मणत्व मिलना कह दिया-यह उनकी बात इतिहाससे विरुद्ध सिद्ध हो गई। इसलिए सिद्ध हुआ कि-स्वा.द.जी बहुत-सी गलत बातें इतिहासके नामसे कह दिया

करते थे। देखिये-'व्यासजीने चित्राङ्गद और विचित्रवीर्यके मर जानेके पश्चात् उन अपने भाइयोंकी स्त्रियोंका नियोग महाभारतमें लिख दिया' यह स.प्र. (४ पृ. ७३)में स्वामीने लिखा है; जबकि महाभारतानुसार चित्राङ्गद विवाहसे पूर्व ही एक गन्धर्व द्वारा मारा गया था। तब उसकी स्त्री कहांसे पैदा हो गई; विधवा वह कैसे हुई? और उसका नियोग कहाँ हुआ? देखिये महाभारतमें-

चित्राङ्गदका गन्धर्वके साथ युद्ध हुआ, उसने उसे मार डाला। 'तस्मिन् विमर्दे तुमुले शस्त्रवर्षसमाकुले। मायाधिकोऽवधीद् वीरं गन्धर्वः कुरुसत्तमम्' (१।१०१।७-८) 'हते चित्राङ्गदे भीष्मो बाले भ्रातरि' (१०२।१) 'संप्राप्तयौवनं दृष्ट्वा भ्रातरं धीमतां वरः। भीष्मो विचित्रवीर्यस्य विवाहायाकरोन्मतिम्' (२) यवीयसस्तव भ्रातुर्भार्ये' (१०५।३७) 'अम्बिकाम्बालिके भार्ये प्रादाद् भ्रात्रे यवीयसे' (१०२।६६) इन पद्योंसे स्पष्ट है कि-यह दोनों स्त्रियाँ अकेले विचित्रवीर्यकी थीं, चित्राङ्गदकी इनमें एक भी नहीं थी। वह तो विवाहसे पूर्व मर गया था। इससे स्वामी गलत इतिहास भी लिख दिया करते थे-यह स्पष्ट हो जाता है। 'भीष्म वर लाये थे' ऐसा जो श्रीवैद्यनाथ कहते हैं, सो वरण विवाहसे पृथक् होता है। यह भीष्मजी तो विवाह न करनेकी प्रतिज्ञा कर चुके थे, सो यह भीष्मकी स्त्री भी नहीं हो सकती। स्वा.द.जीकी इस गलतीको वादी कभी ठीक नहीं कर सकते।

(१७) जो कि वादी लिखता है-"मतङ्गकी कथाके खण्डनमें अगली कथा मौजूद है; जिसमें क्षणमात्रमें भृगुके वचनसे वीत-

हव्य ब्राह्मण हो गया'।

वादी बतावे कि-क्या वीतहव्य चाण्डाल था? यदि नहीं; तब उसकी बात कट गई। इससे मतङ्गकी कथाका खण्डन कैसे हुआ? मतङ्गके ब्राह्मणत्वका तो कहीं किसी ऋषि-मुनिका वचन भी नहीं था कि-वह उस वचनके बलसे ब्राह्मण हो जाता। अतः जहां वादीका पक्ष पीसा गया, वहाँ स्वा.द.जी भी पीसे गये। दोनों गुरु-चेला असत्यवक्ता सिद्ध हो गये।

(१८) अब सूतपर वादी लिखता है—'वास्तवमें सूतजी वर्णसंकर थे' पर इसमें उसके क्षत्रिय पिता कौनसे थे, माता ब्राह्मणी कौनसी थी, जिससे वह सूतजाति पैदा हुआ; यह वादीको इतिहाससे बताना पड़ेगा; पर उसके पास ऐसा प्रमाण 'शशशृङ्ग' है; अतः निराधार है। अयोनिज शरीर वैशेषिकदर्शन आदिमें स्पष्ट है। इस अग्निसे उत्पत्तिमें केवल सृष्टिनियम-विरुद्धता लिख देनेसे काम नहीं चल सकता; जैसे कि-वादीने लिखा है। द्रौपदीकी अग्निसे उत्पत्ति महाभारतमें प्रसिद्ध है ही।

कौटलीय-अर्थशास्त्र आदिने स्पष्ट लिखा है-'पौराणिकस्तु अन्यः सूतः' (३।७।३१)। वादीके आर्यसमाजी अनुसन्धाता श्रीभगवद्दत्तजी भी लिखते हैं—'लोमहर्षण आदि तो विद्वान् ब्राह्मण थे' ('भारतवर्षका बृहद् इतिहास' १म भाग ३य अध्याय पं. ३) अब श्रीभगवद्दत्तजीको वादी झूठा सिद्ध करे। ६८ पृष्ठमें भी श्रीभगवद्दत्तजीने पौराणिक सूतको सारथिसूतसे भिन्न बताया है। श्रीमद्भागवतमें जो उसे प्रतिलोमज कहा है, वह तिरस्कारार्थ

है-यह हम पुराणोंके प्रमाणोंसे तथा श्रीमद्भागवतकी टीकाओंसे 'आलोक' (३) में प्रमाणित कर चुके हैं। श्रीरामतेज पाण्डेयकी अपेक्षा पुराण-वचन अधिक प्रमाण है। क्या रामतेजजीको वादी प्रमाण मानता है? हमने इसपर पुराणोंकी पूर्वापरकी संगति दिखलाकर सूतजीके प्रतिलोमजत्वका भाव स्पष्ट किया था; वादी उसपर कुछ भी नहीं लिख सका। तब उसके क्षितिमोहनसेन जो आजकलका सुधारक है—का कैसे प्रमाण माना जा सकता है? उसने इधर-उधरका अनुसन्धान नहीं किया।

वर्णसङ्कर, शूद्रसे भी निकृष्ट होता है; उसे ब्राह्मण नमस्कार नहीं करते। उसके मारनेसे ब्रह्महत्या भी नहीं लगती; पर उन ब्राह्मण होनेसे अन्य ब्राह्मण सूतजीको नमस्कार भी करते थे। उनके मारनेसे ब्रह्महत्या भी बलदेवजीको लगी; तभी तो उन्होंने उसके प्रायश्चित्तार्थ तीर्थयात्रा भी की थी। कुछ प्रमाण अन्य भी देखिये—

शिवपु. कैलाससं.में 'तस्मिन्नवसरे सूतं...[मुनयः] मुदा तं ववन्दिरे' (१।६) 'तं दृष्ट्वा सूतमायान्तं मुनयो हृष्ट-चेतसा। अभ्युत्थानासनार्घ्यादिपूजया समपूजयन्' (१०।५) 'सूत! सूत! महाभाग! त्वमस्मद्गुरुरुत्तमः' (११।१)। देवीभागवतमें भी 'नमश्चक्रुः पुनः सूतं' (१२।७४।३०-३१ पद्यमें) मुनियोंका सूतको नमस्कार और सूतका उन्हें आशीर्वाद बताया है, इससे सूतजीका ब्राह्मणत्व स्पष्ट है।

(१६) आगे वादी शूद्रोंके यज्ञोपवीत-धारण पर लिखता है। इतना उसको ज्ञान नहीं कि-स्मृतिकारोंमें मूर्धन्य तथा वादि-प्रतिवादिमान्य मनुजी तो शूद्रोंको यज्ञोपवीत दें नहीं; बल्कि निषेध करें; वादीके ऋषि स्वा.द.जी भी अपनी सं.वि.में उपनयन तथा वेदारम्भमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके अतिरिक्त शूद्रादिको उपनयनका अधिकार न लिखें; तब 'वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्। मन्वर्थ-विपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते' (बृहस्पतिः) 'उत्पद्यन्ते च च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्। तान्यर्वाक्-कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च' (मनु. १२।९६) मनुस्मृतिसे विरुद्ध वादीसे उद्धृत निबन्ध-ग्रन्थोंके वचन मान्य नहीं हो सकते। श्रीगङ्गाप्रसादजी शास्त्रीकी नीति सुधारवादकी है, वे पूर्ण सनातनधर्मी नहीं हैं, हम उनका खण्डन कई बार कर चुके हैं, अतः वे इन विषयोंमें माननीय नहीं। वादी मनुको मानता है, या गङ्गाप्रसादजीको? इसमें कौन अधिक विद्वान् हैं? अथवा कौन अधिक प्रामाणिक है? पौराणिक विद्वान्को यदि पथिक मानता है; तो वह भी अपने-आपको पौराणिक लिखना शुरू करे। स्वा.द. निर्णयसिन्धुको जालग्रन्थ लिखते हैं; वादी अब जालग्रन्थको भी प्रमाणित ग्रन्थ मानने लगा।

(२०) 'शूद्राणामदुष्टकर्मणां' पर हम मीमांसा 'आलोक' (७) में कर चुके हैं, वादी उस पर चुप्पी लगा गया। अतः उसका पक्ष गिर गया। दूसरोंका मत वह उद्धृत कर लेता है; उसको उनका स्वयं ज्ञान तो होता नहीं, जब हम उसपर ऊहापोह करते हैं; तब ज्ञान न होनेसे बेचारा चुप हो जाता है, यह अन्याश्रित होनेसे स्वाभाविक है। 'संस्कारगणपति'में भी वही उत्तर है।

(२१) शार्ङ्गधर भी 'द्विजानां षोडशैव स्युः शूद्राणां द्वादशैव हि' कहकर स्पष्टतया हमारा पक्ष मण्डित करता है, इतना भी पथिकको-आश्चर्य है-ज्ञान नहीं। शूद्रको द्विजसे भिन्न बताकर शार्ङ्गधरने उसको 'एकज' बता दिया है। सो द्विजत्वापादक यज्ञोपवीत, वेदारम्भ, समावर्तन आदि संस्कार उसके कट जाते हैं; यह वादीके विरुद्ध प्रमाण उसीके पक्षका खण्डन करनेवाला है।

(२२) निर्णयसिन्धुमें ही 'गर्भाधानं पुंसवनं...संस्काराः षोडश स्मृताः' यह कहकर 'नवैताः कर्णवेधान्ता मन्त्रवर्जं क्रियाः स्त्रियाः। विवाहो मन्त्रतस्तस्या शूद्रस्याऽमन्त्रतो दश' यहाँपर लड़कीके ९ संस्कार अमन्त्रक करना कहा है, और विवाह समन्त्रक। पर शूद्रका तो विवाह भी अमन्त्रक कहा है। सो अमन्त्रक होनेसे उसे जनेऊका अधिकार सिद्ध न हुआ-यह स्पष्ट है। 'शूद्राणां ब्रह्मचर्यत्वं'में ब्रह्मचर्यका अर्थ 'कौमार्य' है, उन्हें उपनयनका अधिकार तो कोई भी श्रुति-स्मृति नहीं देती। इधर वहाँ 'केचित्' कहा है। 'केचित्' वाला मत सर्वसाधारण न होनेसे मान्य नहीं होता।

(२३) आगे वादी कहता है-'अपरार्कमें लिखा है-'एतच्चातुर्वर्ण्यपरं न-द्विजातिपरम्' पर वादीने इसका पूर्ववचन अपनी गुरु-परम्परानुसार छिपा लिया है। वह वचन यह है-'गर्भाधानमृतौ पुंसः'

इत्यत्र आह-'एतच्चातुर्वर्ण्यपरम्, न द्विजातिमात्रपरम्' अर्थात् गर्भाधान केवल द्विजोंकेलिए नहीं है, इसे चारों वर्ण कर सकते हैं, इससे सिद्ध हुआ कि-शेष संस्कार द्विजोंके हैं, शूद्रके नहीं। आगे उसी निर्णय-सिन्धुमें मेधातिथिका वचन लिखा है—'उपनयनाख्यं संस्कारं च शूद्रो नार्हति, ते च तूष्णीं कार्याः'। अर्थात् शूद्रके संस्कार विना मन्त्रके होते हैं। शूद्रोंका उपनयन अमन्त्रक भी नहीं हुआ करता। शूलपाणिने लिखा है-'अमन्त्रस्य शूद्रस्य विप्रो मन्त्रेण गृह्यते। इयं परिभाषा सर्वार्था, तेन शूद्रधर्मेषु सर्वत्र विप्रेण मन्त्रः पठनीयः, सोपि पौराण एव' अर्थात् कहीं शूद्रका मन्त्र आ भी जावे; वहाँ उसे ब्राह्मण ही पढ़ता है, वह भीं पुराणका मन्त्र ही। इससे जब शूद्रको पुराणके मन्त्रका भी साक्षात् अधिकार नहीं; तब वेदका क्या अधिकार होगा? इससे वादीका पक्ष निर्णयसिन्धु द्वारा ही कट गया। पूर्वापर छिपा लेनेका यही परिणाम हुआ करता है।

(२४) शूद्रको उपनयन आदिका अधिकार कोई भी संस्कारविधि नहीं बताती; वादी अपने स्वामीकी संस्कारविधि ही देख ले। क्या वादीके आचार्य अनभिज्ञ थे; जो उन्होंने शूद्रको उपनयनकेलिए अधिकृत नहीं किया? वादिप्रतिवादिमान्य मनुजी क्या वेदानभिज्ञ थे? (क) मनुजीने वेद न पढ़नेवाले द्विजको शूद्र-जैसा माना है; 'योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः' (२।१६८) तो यदि शूद्रका भी वेदाधिकार होता; तो वेदरहित-द्विजको शूद्र न कहा जाता। यह पद्य वादिप्रतिवादिमान्य है; अतः इसको प्रक्षिप्त भी नहीं कहा जा सकता। इससे शूद्रका वेदाधिकार कट रहा है। (ख) अन्य भी वादिप्रतिवादिमान्य मनुपद्य वादी देखे-'शूद्रेण हि समस्तावद् यावद् वेदे न जायते' (२।१७२) यहां द्विजको उपनयन न होनेपर शूद्र-जैसा माना गया है। यदि शूद्रका उपनयन होता, तो उपनयन-रहित द्विजको शूद्र न कहा जाता। (ग) अन्य भी देखिये-'न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्। स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः' (२।१०३) यह मनुपद्य भी वादिप्रतिवादिमान्य है, अतः इसे भी कोई प्रक्षिप्त नहीं कह सकता। इसमें दो काल सन्ध्या न करनेवाले द्विजको शूद्रके समान बहिष्कृत कहा गया है। इससे सन्ध्या आदि वैदिक द्विज-कार्यमें शूद्रका अनधिकार सिद्ध होता है; तब वादीने जोकि आर्यसमाजी वा सुधारकोंके शूद्रादिके अधिकारके कई वचन दिये भी हैं वे वादिप्रतिवादिमान्य मनुस्मृतिसे विरुद्ध होनेसे मान्य नहीं। वे तो आर्यसमाजियों वा सुधारकोंके व्यक्तिगत वचन हैं; उनका कुछ भी मूल्य नहीं। यहाँ तो शास्त्रीय प्रमाण अपेक्षित हैं, व्यक्तिगत-विचार नहीं। उन आजकलके शूद्रसेवकोंके वचनोंका कुछ भी मूल्य नहीं। हम 'आलोक' (३) में इस विषयमें प्रमाणवाद पर विचार कर चुके हैं।

(२५) भविष्यपुराणमें चारों वर्णोंकी यज्ञोपवीत-संस्कारकी विधि कहीं भी नहीं कही गई है। जिन शूद्रोंने षड्यन्त्रसे ऐसा किया था, इन्द्रने उनसे वेद छिनवा लिये, और वे बौद्ध बन गये।

इस विषयमें हम 'आलोक' (३) और (७) में दिखला चुके हैं। तभी तो त्रिशङ्कु-चाण्डालके यज्ञमें देवता नहीं आये; तब विश्वामित्रको नये देवता बनाने पड़े। चाण्डाल-त्रिशङ्कुको जब यज्ञबलसे देवलोकमें विश्वामित्रने भेजा; तब उस त्रिशङ्कुको देवेन्द्रने स्वर्गसे गिरवा दिया। अतः वादी खण्डित हो गया। वादी उसका उत्तर न दे सका; और न सात जन्मोंतक उसका उत्तर दे सकता है। उसका कारण यह है कि यह दूसरोंके लेख उद्धृत भर कर लिया करता है, स्वयं वह विचार उसपर नहीं करता; इसलिए शीघ्र ही निगृहीत हो जाता है। उसने भविष्य-पुराणका प्रकरण छिपाकर अनृतवादको महत्त्व दिया है। स्वा.द. पञ्चमहायज्ञविधि (शता.सं.पृ. ८७७-७८)में लिख गये हैं, 'जो सत्यसे अलग होके झूठको प्राप्त हों; वे मनुष्य असुर और राक्षस कहे हैं' अब वादी यह पदवी पसन्द करता है; तो उसकी इच्छा। असत्यवादीको (देवीभा. ६।११।४३में) राक्षसावतार कहा है। उसीका अपना प्रमाण 'उष्ट्रलगुड'-न्यायसे उसका विरोधी बन गया। बुद्ध विष्णुके अवतार थे; तभी तो शूद्रोंका वेदोंमें अनधिकार देखकर उनसे वेद श्रीविष्णुभगवान्ने छिनवा लिये। उनसे वेद छिनवानां कोई पक्षपात भी नहीं था। सबके अपने-अपने अधिकार होते हैं। आपके स्वामीजीने ही उपनयनसंस्कार में शूद्रोंको क्यों नहीं गिना, क्या वे पक्षपाती वा अनभिज्ञ थे? हम बुद्धको वेदविरोधी कहाँ कहते हैं; वह तो उन्होंने नीति बरतकर बाहरसे वेदोंका खण्डन किया कि-अनधिकारी उन्हें

न छुएँ।

(२६) गरुडपुराणके प्रमाण पर हमने इतना लिख दिया कि-उसपर वादीकी लेखनी चल ही न सकी। यह बेचारे करें भी क्या; दूसरेके विश्वासपर दूसरोंका वचनमात्र दे देते हैं। उसपर ऊहापोह होनेपर फिर चुप्पी धारण कर लेते हैं, क्योंकि-यह तथा इनके उपजीव्य लोग पूर्वापर-प्रकरणको छिपा देनेके अभ्यासी हैं, इसीसे अपने निर्वाह करते जा रहे हैं। गरुड़-पुराण जब शूद्रको उपनयन देना नहीं मानता; यह हम 'आलोक' (७) में दिखला चुके हैं; यदि वादी उसका प्रत्युत्तर नहीं दे सकता; तब उसका नाममात्रसे स्पर्श करना क्या आवश्यक हो जाता है? क्यों हमसे लिखे हुए गरुड़पुराणके शूद्रके उपनयनके अनधिकार पर उसने लेखनी नहीं चलाई? इसलिए कि-उसका पक्ष निर्मूल है।

वादी कहता है कि-'सूत्र'का अर्थ यज्ञोपवीत भी होता है, यह कहकर वह प्रमाण मनुका देता है-'शणसूत्रमयं राज्ञः, वैश्यस्याविकसौत्रिकम्' पर हमें उसकी संस्कृतविद्वत्ता (?) पर बड़ी दया आती है। यहाँ 'शण- सूत्र'का अर्थ 'सनका धागा' है, 'जनेऊ' अर्थ नहीं। 'आविक- सौत्रिकम्'में भी 'सूत्र'का अर्थ 'धागा' (तन्तु) है, जनेऊ अर्थ नहीं। तब वादीका प्रश्न इसपर होगा कि-यदि मनुके उक्त पद्यमें 'सूत्र'का अर्थ जनेऊ नहीं है, तो उक्त पद्यमें 'सूत्र'से पृथक् जनेऊवाचक कौन-सा पद है? तब वादी सुन ले, वह है इसके पूर्वार्धमें 'उपवीत'

शब्द। पर गरुड़पुराणमें सूत्रसे पृथक् 'उपवीतं' शब्द नहीं।

कुल्लूकभट्टका नाम भी वादी असत्य लिखता है, वहां तो लिखा है-'शणसूत्रमयं' मेषलोमनिर्मितम्'। 'सूत्रका अर्थ जनेऊ यहां उसने कहीं नहीं लिखा। 'सूत्र'का अर्थ उसने 'सूत' ही रखा है, जनेऊ नहीं। जो गोभिल-सूत्र वादीने दिया है, उसमें भी 'यज्ञोपवीतं कुरुते सूत्रं' 'सूत्र' शब्द 'यज्ञोपवीतसे भिन्न' है। इस प्रकार श्रीसामश्रमीके अर्थमें भी। वादीसे प्रमाणित ठा० उदयनारायणने भी 'सूत्र'का अर्थ 'सूत' किया है, यज्ञोपवीत नहीं। 'यज्ञोपवीत' शब्द वहां पर पृथक् है, पर गरुड़पुराणके वचनमें 'यज्ञोपवीत' शब्द तक नहीं। जब गरुड़पुराणके वचनमें 'शणसूत्रमयम् उपवीतं राज्ञः' इस मनुवचनकी भांति, 'कुशसूत्र-मयम् उपवीतं' शब्द ही नहीं; और गरुड़पुराणने (४६।४, ६६। २८,-८४।२४-२५-२६, ६३।१०, ६४।१) इन पद्योंमें शूद्रको जनेऊ का अधिकार नहीं दिया, यह हम आलोक (७) पृ० ४३०-४३१-४३२ में स्पष्ट निर्देश कर चुके हैं, जिस पर बेचारे पथिककी लेखनी टूट गई, तब उसका पक्ष सदाकेलिए छिन्न-भिन्न हो गया।

पाठकोंने देख लिया कि-यह लोग प्रत्यक्षमें भी साधारण-जनताकी दृष्टिमें धूल झोंकते हैं, तब 'सम्भवतः उस कालमें कुश-रज्जु आदिके जनेऊ पहनते हों'; यह वादीका कथन 'अभित्ति-चित्र' है। ब्राह्मणोंका कुशका जनेऊ कभी सुना वा देखा नहीं गया। कुशका रस्सा हो सकता है, जनेऊ नहीं। वादी कहता है-'आपने 'पवित्रा' की कोरी कल्पना कर ली है' हमने यह कल्पना

कहां की है; यह तो वादीके मान्य गरुड़पुराणने स्वयं ही कहा है—'ये मर्त्या नार्चिष्यन्ति पवित्रकं' (४३।५) अब वादीको कुछ तो लज्जा करनी ही चाहिये। हमने 'आलोक' (७) पृ. ४३१ से ४३३ पृष्ठ तक इसमें विवेचन दिया था; वादीने उसे छुआ तक नहीं; और कहता है कि-हमारी पुस्तकका कोई उत्तर दे नहीं सकता। 'निरस्तपादपे देशे एरण्डोपि द्रुमायते'के न्यायके यह लोग उदाहरण बन रहे हैं। यह सोचते हैं कि-'जो हम लिख देते हैं; अविद्या-महारानी की कृपासे दयानन्दी-भाई उसे वेदवाक्य ही समझ लेते हैं। सनातनी यदि नहीं मानते, तो हम उन्हें दो-चार गाली देदेंगे, वा उनपर पक्षपात थोप देंगे।

(२७) वादी लिखता है-'अष्टादश-पुराण केवल आपकी पैतृक सम्पत्ति नहीं हैं' इससे दयानन्दी पथिकने १८ पुराणोंको अपनी सम्पत्ति भी माना है। उसे बधाई हो। अपने आपको पथिकने 'पौराणिक' भी लिखा करे। जो १८ पुराण वादीकी इस पुस्तकके टाइटलके २ य पृष्ठमें छपी 'महर्षिजीकी वैदिक तोप'से उड़ गये थे; वे ही १८ पुराण वादीके गलेके भी अब 'हार' बन गये। इससे वादीके तथा उसके ऋषिके गोले 'घास-फूस'के लिये हो गये।

(२८) आगे वादी व्यर्थकी उट्टङ्कना करता है।-'ग्यारह आर्य समाजी विद्वानोंके शूद्रोंके यज्ञोपवीत होनेके प्रमाण साध्य नहीं हैं, और जियालाल-आलाराम आदिके वचन प्रामाणिक हैं' यह वादीकी कितनी विषम बात है? सिद्धान्तके सम्बन्धमें व्यक्ति

बात कभी माननीय नहीं होती। उसमें शास्त्रीय प्राचीन प्रमाण ही मान्य होंगे। शेष है जियालाल आदि की बात; उनको हम सिद्धान्तके सम्बन्धमें कब प्रमाणित करते हैं? उनका तो इसलिए वचन दिया जाता है कि-उन्होंने भी स्वा.द.जीके सम्बन्धमें यह खोज की थी। यदि वादी उनमें विद्वेषके कारण मान्यता नहीं समझते; तब आप लोगोंके वचनोंकी भी तो मान्यता नहीं हो सकती। आप लोग स्वामीके चेले-चांटे बने हुये हैं; आप उन्हें चढ़ावेंगे ही। अब देखिये स्वा.द.जीके यदि तीन बाप नहीं; तो दो बाप तो सिद्ध हो ही गये। थोड़े दिनों तक कोई तीसरा बाप भी शायद निकल पड़े। 'परोपकारी'में उनकी भिन्न जन्मभूमि भी बताई गई है। अतः आप लोगोंके स्वामिविषयक वचन सिद्ध नहीं।

श्रीरामचन्द्र देहलवीजीकी तो यह धारणा है कि-'किसीके पिताका पता किसी प्रमाणसे लग ही नहीं सकता' (देखिये हापुड़में उनका छपा हुआ इश्तिहार) तब वादी ही यह निश्चयपूर्वक कैसे कह सकता है कि-वे अम्बाशङ्करके लड़के हैं, वा कर्शनलाल जी तिवारी के? या किसी तीसरेके? 'पौराणिकोंके भ्रम'में पथिकने स्वामीके पिताका नाम करसनजी तिवारी लिखा है; और स्वामीका नाम दयाराम। 'दयानन्दसिद्धान्तप्रकाश'में उसके प्रणेताने स्वामीके पिताका नाम अम्बाशङ्कर और स्वामीका नाम मूलशङ्कर बताया है। अब वादी बतावे कि-ये दो लड़के, ये दो पिता कहांसे आ गये? इनमें कौन सा ठीक है, कौन सा ना-ठीक?

श्रीलेखरामकी बात को भी काट दिया गया। इससे तो स्पष्ट है कि-कुछ दालमें काला है'। आप लोग स्वामीके सम्बन्धमें अभी अन्धेरेमें हैं'। अतः दोनों ही ठीक नहीं। यदि ठीक हैं; तो फिर जीयालालका कथन भी ठीक हो सकता है?

(२६) "यथेमां वाचं' का दयानन्दका अर्थ सही है" इस अपने कथनमें वादीने न तो इस अपनी पुस्तकमें, न ही गत पुस्तकमें कोई प्रमाण दिया है। और न वह हमारे 'आलोक' तृतीयपुष्पकी आलोचना की प्रत्यालोचना कर सका। ७म पुष्पमें भी ८७६ पृष्ठमें जो वादीकी शङ्काओंका समाधान हमने किया था; वादी उसपर भी चुप्पी लगा गया। कुछ बोल नहीं सका। श्रीगङ्गाप्रसादजीके वादीसे लिखे विचार उनके व्यक्तिगत विचार हैं; अतः मान्य नहीं। हम ३य पुष्पमें उनका भी खण्डन कर चुके हैं। वादीने जब उनका मत अपनाया था; तब हमसे किये हुए उनके खण्डनका उसे उद्धार करना उचित था; पर तब न, जब कुछ उसके अपने पास होवे। केवल नकल करना ही आता है। दिल्लीके पाँच सवारोंमें अपनी गिनती चाहता है। बड़े लोगोंके साथ जूझने और पस्त होनेमें भी अपना वह गौरव समझता है 'दन्तभङ्गो हि नागानां श्लाघ्यो गिरिविदारणे'।

(ख) यह जो कहा जाता है कि-'यही उपदेश महाभारत (शा. अ. ३२७) में व्यासजीने वैशम्पायन आदिको दिया है' इसका प्रत्युत्तर हम 'आलोक' (३) पृ. ४३से पृ. ४८ तकमें दे चुके हैं।

(३०) शूद्रके मुँहपर पट्टी बान्धना—इस विषयपर हम 'आलोक' (७) पृ. ८७६ पर लिख चुके हैं, उसका प्रत्युत्तर वादीने कुछ भी नहीं दिया। मूर्खके श्वासमें अशुद्धताका कोई प्रमाण नहीं। श्वास तो मूर्ख-विद्वान् सभी का भी अशुद्ध होगा; तब आप अपनी स्त्रियोंके मुखपर भी पट्टी क्यों नहीं बंधवाते ? स्वा.द. रसोइया ब्राह्मण रखते थे, मूर्ख होनेपर भी उसे शूद्र नहीं मानते थे; तभी तो उसके मुखपर कभी पट्टी नहीं बंधवाते थे। मुखपर पट्टी बाँधनेकी व्यर्थता हमने स्वा.द.जीके ही शब्दोंमें बताई थी, वादी उसपर भी चुप्पी साध गया।

(ख) 'योऽनधीत्य द्विजो वेदम्' की आलोचना हम अन्यत्र करेंगे। इसमें वादीने 'शूद्र-ब्राह्मण' मानकर नई वर्ण-व्यवस्था बना कर अपने पक्षका खण्डन कर दिया, क्योंकि उसे ब्राह्मण भी माना और शूद्र भी।

(३१) आपस्तम्बके वचनमें भी जिसे वादीने स्पष्टतया नहीं लिखा, क्योंकि—उससे शूद्र आर्योंसे भिन्न सिद्ध होता था—और इससे आर्यसमाजके पक्षका खण्डन होता था—में 'संस्कर्तारः'का अर्थ झाड़ू देना आदि है; अथवा गेहूँका झाड़ना-बुहारना साफ करना आदि है, वह भी केवल वैश्वदेवबलिमें। स्वयं भोजनकेलिए नहीं; क्योंकि—उसका आपस्तम्बमें निषेध है। जैसे कि—'अप्रयतोपहृतमन्नमप्रयतम्' (१।१६।२१) यहांपर अशुचिसे स्पृष्ट अन्नको भी अशुचि कहा है, और 'अप्रयतेन तु शूद्रेण उपहृतमन्नमभोज्यम्' (१।१६।२२) यहाँपर स्वभावसे अशुचि शूद्रका अन्न अभोज्य कहा

है। 'अमेध्यैरवमृष्टम्' (१।१६।२५) में भी यही बात है, शूद्र अमेध्य होता है। जैसे कि—'ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः। यान्यधस्ताद् अमेध्यानि' (मनु. ५।१३२) नाभिसे नीचेके पाद आदि अङ्गोंको अमेध्य कहा है; सो पाद उत्पन्न होनेसे (क्योंकि—मनु शूद्रको पज्ज (पादज १।३१,१० कहते हैं) अमेध्य है। 'ऊर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्ति तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयम्भुवा' (मनु. १।९२) मुखसे उत्पन्न होनेसे ब्राह्मणको मेध्यतम कहा है। 'शुना अपपात्रेण दृष्टम्' (१।१६।३०) यहाँपर अपपात्र (चाण्डाल- आदि) से दृष्ट भोजन भी निषिद्ध माना गया है। ('चाण्डाल पचानां तु बहिर्ग्रामात् प्रतिश्रयः। अपपात्राश्च कर्तव्याः' (१०।५१) यहाँ चाण्डाल आदि अन्त्यजोंको 'अपपात्र' कहा है) १।१७।१ में भोजन करते हुए शूद्र स्पर्श करले; तब भोजनका निषेध कर दिया गया है। 'सर्ववर्णानां स्वधर्मे मानानां भोक्तव्यं शूद्र-वर्जमित्येके' (१।१८।१३) में शूद्रके भोज का निषेध कहा है। 'तस्यापि धर्मोपनतस्य' (१४) सूत्र आप लीन है, क्योंकि—'कृष्णधान्यं शूद्रान्नं [वर्जयेत्]' (२।८।२) शूद्रान्नका निषेध कहा है। स्वा.द.जीने भी स.प्र.में लिखा है शूद्रके पात्र तथा उसके घरका पका हुआ अन्न आपत्कालके बि न खावें' (पृ. १६६)। 'चाण्डालादि नीच भङ्गी-चमार आदि न खाना' (स.प्र. १० पृ. १६६)। श्रीमद्दयानन्दप्रकाश (सं काण्ड नवम सर्ग पृ. ३६७) के अनुसार स्वा.द.जीने कृपारा

से यह सुनकर कि-घोष महाशयके घर पर भङ्गिन पाचिका है, इसका भोजन पीछे लौटा दीजिये। महाराजने उसी समय घोषमहाशयका थाल लौटा दिया'। आशा है-अब वादीको कुछ समझ आ जायगी।

(३२) गोभिलगृ.में हवनमें शूद्रकी अग्निका निषेध है, इसपर हमने स्वा.द.का वचन, गोभिलगृ. का तथा, उसीके अनुवादक खादिर-गृ. का 'बहुयाजिनो वा आगारात् शूद्रवर्जम्' (१।५।५) दिया था, जिसमें शूद्रकी अग्निका निषेध किया था। उसमें हमने साक्षीरूप आर्यसमाजी श्रीतुलसीरामस्वामीका वचन भी दिया था; उसका प्रतिपक्षी उत्तर न दे सका। तब उसका खण्डन स्वयं होगया।

(३३) आगे जो वादीने श्रीगङ्गाप्रसादजीका तीन वेदोंके कथन-से उसमें चौथे वेदके अन्तर्भावकी तरह तीन वर्णोंमें चौथे वर्ण शूद्रका अन्तर्भाव बतलाया है, इसमें दृष्टान्तमें वैषम्य है। तीन वेदोंका वहाँ भाव तीन प्रकारके मन्त्र हैं, ऋचा (पद्य), यजु: (गद्य), साम (गान)। चौथा इनसे भिन्न मन्त्र कोई नहीं होता। अथर्वमें तीनों हैं। शेषमें एक-एक प्रधान है, अतः वहाँ 'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति' इस न्यायसे उनका ऋग्वेदादि नाम है, पर अथर्वमें किसी एकको प्रधानता न होनेसे उसका मन्त्रके नामसे नाम नहीं; किन्तु उसके द्रष्टाके नामसे नाम है; पर चातुर्वर्ण्यमें यह बात नहीं घटती। शूद्रका वैश्यमें अन्तर्भाव कभी नहीं होता। शूद्र पादज है, और वैश्य ऊरुज। दोनोंका कारण भिन्न-भिन्न होनेसे भेद है। 'अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद् विरुद्धधर्मा-

ध्यासः कारणभेदश्च' यह न्याय इन्हें एक नहीं होने देता। वैश्य द्विज है, शूद्र एकज। इसलिए गीतामें 'ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप !' (१८।४१) में शूद्रको ब्राह्मणादि तीन वर्णोंसे पृथक् कर दिया गया। वैश्य, शूद्रके गुण-कर्म भी भिन्न-भिन्न हैं। शूद्रका सेवाके अतिरिक्त कुछ भी कर्तव्य नहीं। अतः वैश्यमें शूद्रका अन्तर्भाव कभी नहीं हो सकता। स्वा.द. भी यह कल्पना नहीं मानते। आश्चर्य है कि-दयानन्दी पथिक एक पौराणिककी निर्मूल कल्पनामें फँस गया, शायद उसको यह रोचक लगी। हम उसका खण्डन कर चुके हैं। उसमें खादिरगृ.की तथा श्रीतुलसीरामस्वामीकी मनुटीकाकी साक्षी भी हम दे चुके हैं। शास्त्रोंमें भी यह स्पष्ट है-'नाऽधीयीत प्रतिषिद्धोस्य (शूद्रस्य) यज्ञः।...एवं स्मृतः शूद्रधर्मः पुराणः' (महा. उद्यो. २६।१६) 'तस्मात् शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' (कृ. य. तैत्ति. सं. ७।१।४।६) इस विषयमें हमने 'आलोक' (६) पृ. २५०-२५४ में स्पष्टता की है। अतः वादीका यह पक्ष भी कट गया। गोभिल, शूद्रका यज्ञोपवीत नहीं मानते।

(३४) 'अथास्य वेदमुपशृण्वतः' पर हमने 'आलोक (६) पृ. ८७३ से ८७७ तक लिख दिया था, वादी उसका प्रत्युत्तर नहीं दे सका। श्रीधर्मदेवजीके लेखको ही देखकर वादीने सब कुछ लिखा। थोड़ासा यदि उसमें परिवर्तन कर दिया, तो इसमें यह सिद्ध नहीं होता कि-वादीने श्रीध.दे.जीका लेख सर्वथा नहीं देखा। 'अपना लिखना' यह उसके अपने ही लेखसे चोरी सिद्ध

हो रही है। वादी वा उसका सम्पादक हमारी चोरी कभी सिद्ध नहीं कर सकते। प. भीमसेनजी आदिके विषयमें हमने 'आलोक' (५) में पृ. (ग) और (च) में इस विषयमें उनके सम्मानार्थ लिख दिया था। पर वादी यह नहीं सिद्ध कर सकता।

(३५) वादी लिखता है—'वेदान्तके लेखक श्रीवेदव्यास स्वयं ब्राह्मण न थे, वरन् केवट (कहार) जातिके थे, जिसको वेदाधिकार नहीं है' यह लिखना वादीकी अज्ञताकी पराकाष्ठा है। क्या उनके पिता श्रीपराशर केवट जातिके थे, जो कि—वादी उनके लड़के व्यासजीको केवट जातिके कहता है। वेदव्यासजीकी माता भी केवट जातिमें उत्पन्न लड़की नहीं थी; केवटसे पालित होनेसे वह उस जातिकी कैसे होगई? स्वा.द. छः दिनके बाद लड़केको धाय द्वारा दूध पिलाना तथा पालना लिख गये हैं; तब दयानन्दजीकी माताको वैदिक माननेवाले सभी 'पथिक', 'विद्यार्थी' 'चौधरी' आदि दयानन्दी तथा उनके वर्तमान लड़के जिन्होंने स्वामीके वैदिक मतके अनुसार छठे दिनसे धायका दूध पीया होगा; शूद्रा-धायके लड़के हो जानेसे सभी क्या शूद्र सिद्ध नहीं हुए? सभीको शूद्र हो जानेकी बधाई हो; अब समस्त आर्यसमाज पथिकजीकी मान्यताके अनुसार 'शूद्रसमाज' सिद्ध होगया। स्वा.द.जीने भी शूद्रा धायका दूध अपने वैदिक वचनानुसार पीया होगा; उससे पाले गये होंगे; वादीके अनुसार वे भी शूद्र सिद्ध होगये। इस उन्नतिपर बधाई!! पर हम यह बात

स्वयं नहीं मानते, पर वादीको ऐसी गाली देनेपर धिक्कार अवश्य देते हैं। केवटसे पालित होनेसे लड़की केवट जातिकी नहीं हो जाती। इस विषयमें हम अन्यत्र स्पष्ट कर चुके हैं कि—[illegible] उपरिचर-वसुकी पुत्री थी; उपरिचर-वसु केवट जातिके नहीं थे। यहाँपर वादी जाति-व्यवस्था जन्मसे सिद्ध कर रहा है, [illegible] हो। फलतः वादीका पक्ष गिर गया।

(३६) श्रीशि.शं. आदि दयानन्दियोंके लिखनेसे शम्बूककी कथा असत्य सिद्ध नहीं हो जाती। जब वादी गौतमसूत्रको प्रामाणिक मानकर शूद्रोंको दण्ड दिला रहा है; उसका उदाहरण भी रामायणमें शम्बूक-वधमें मिल रहा है; और महाभारत (शान्ति. १५३।६७) में भी उसका समर्थन प्राप्त है; तब वह कथा सत्य सिद्ध होगई। जो कि वादी इसपर शबरी-विषयक आक्षेप करते हैं; वे यह जानें कि—शबरी तो उसका नाम था; जाति नहीं। जैसे कि—लड़केसे उपनयनमें पूछते हैं—'को नामासि' [illegible] ही रामायणमें उसे 'श्रमणी शबरी नाम' शबरी नाम वाली श्रमणी (तपस्विनी) कहा गया है। 'श्रमणोऽश्रमणः' (शत. १४।[illegible] १।२५) 'वातरशना ह वा ऋषयः श्रमणाः' ''बभूवुः' (तै.आ. २।[illegible]) 'कुमार श्रमणादिभिः (पा. २।१।७०) इत्यादि वचनों द्वारा 'श्रमणी' का अर्थ 'तपस्विनी' है। इस विषयमें वादी 'आलोक' (३) पृ. ३१०-३१६ में देखे। दयानन्दियोंके कहने मात्रसे यह बात नहीं कट सकती।

(ख) 'न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।'

शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विज-कर्मणः' (२।१०३) स्वा.द.जी तथा उनके अनुयायी मनुजीके इस पद्यको प्रमाणित करते हैं। कोई भी इस मनुपद्यको प्रक्षिप्त नहीं मानता। इससे शूद्र सन्ध्या (वैदिक-उपासना)में अनधिकृत सिद्ध हो रहा है; तभी तो सन्ध्या (उपासना) न करनेवाले द्विजको शूद्रकी भाँति द्विजकर्मसे बहिष्कृत करनेका मनुजीने आदेश दिया है, तब शूद्र वैदिक-तपस्या भी नहीं कर सकता। उसके करनेसे उसको दण्ड होना ही था; क्योंकि-'शूद्राः स्वकर्मनिरताः त्रीन् वर्णान् उपचारिणः' (वाल्मी. १।६।१६) यह रामराज्यमें कानून था; कि-शूद्र केवल तीन वर्णोंकी सेवा करें, अन्य कुछ भी न करें। और यही त्रैवर्णिकोंकी सेवा ही शूद्रकी तपस्या थी, इससे भिन्न नहीं, जैसे कि वादि-प्रतिवादिमान्य मनुजीने लिखा है—'तपः शूद्रस्य सेवनम्' (११।२३५) 'यद् अतोऽन्यद्धि कुरुते तद् भवत्यस्य निष्फलम्' (मनु. १०।१२३)

(ग) फिर मनुजीने यह विशेष प्रेरणा की है कि-'वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत्। तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत्' (८।४१८) (शूद्रादिको राजा प्रयत्नसे उनके कर्म (सेवा कृषि आदि) करावे। वे यदि अपने कर्मसे च्युत हुए; तो जगत्में हलचल मची) इसी मनुके नियमानुसार श्रीरामने शूद्रको दण्ड दिया; क्योंकि-श्रीराम मनुस्मृतिके अनुसार चलते थे; तभी तो उन्होंने बालिवधके समय मनुस्मृतिके दो पद्य पढ़े थे; वे अब भी मनुस्मृतिमें मिलते हैं (वाल्मी. ४।१८।३०-३१-३२,

मनु. ८।३१६-३१८)। मनुजीने भी शूद्रको कड़ा दण्ड देना लिखा है। देखिये—'जिह्वायाः प्राप्नुयात् छेदं' (८।२७०) 'निक्षेप्योऽयोमयः शङ्कुर्ज्वलन्नास्ये दशाङ्गुलः (२७१) 'तप्तमासेचयेत् तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः' (८।२७२)।

(घ) कड़े दण्डकेलिए स्वा.द.जीने भी लिखा है-'जो इसको कड़ा दण्ड जानते हैं; वे राजनीति नहीं समझते; क्योंकि—एक पुरुषको इस प्रकार दण्ड होनेसे सब लोग बुरे [निषिद्ध] काम करनेसे अलग रहेंगे; और बुरे कामको छोड़कर धर्ममार्गमें स्थित रहेंगे' (स.प्र. पृ. १०६)

(ङ) श्रीरामकेलिए रामायणमें लिखा है—'हन्त्येष नियमाद् वध्यान् अवध्येषु न कुप्यति' (वाल्मी. २।२।४६) (श्रीराम वधके योग्यको मार डालते थे।) 'नाऽदण्ड्यो नाम राज्ञोस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति' (मनु. ८।३३५) (जो अपने धर्ममें नहीं रहता, वह कोई भी हो; राजासे दण्डित किया ही जा सकता है)। 'तान् सर्वान् घातयेद् राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः' (मनु. ६।२२४) (जो शूद्र द्विजोंका लिङ्ग तपस्या आदि धारण करते हैं, राजा उनको मरवा दे) 'ये व्यपेताः स्वधर्माच्च परधर्मेष्ववस्थिताः। तेषां शास्तिकरो राजा स्वर्गलोके महीयते' (अत्रि.१७) (जो शूद्रादि अपने धर्मको छोड़कर दूसरेके धर्मका आश्रयण करते हैं; उन्हें दण्ड देनेपर राजा सम्मानित होता है); तब इससे द्विजोंके लिङ्ग तपस्या आदि रखनेवाले शूद्रको मार कर श्रीरामजीने मनुस्मृति (६।२२४) की टेक रखी। इससे वादीका तथा आर्यसमाजी भूमित्रादिका पक्ष कट गया।

(च) श्रीगङ्गाप्रसादजीका पक्ष भी गलत है। राजाके पापका फल प्रजाको भी मिला करता है। 'पापोऽधर्मस्य कर्तारं' (८।१८) यहां प्रजाके पापका फल राजाको भी मिलना कहा है। महाभारत (शान्ति. १२९।११, आदिपर्व ८०।३), मनु. (४।१७३) में भी स्पष्ट है। इसी प्रकार 'राजाके पापका फल प्रजाको मिलता है' यह बात स्वा.द. भी मान गये हैं। स.प्र. ६ समु.में स्वा.द.जीने अधर्मके चार विभाग माने हैं। एक भाग अधर्मके कर्ता, दूसरा साक्षी, तीसरा सभासदों (प्रजा आदि) और चौथा राजाको प्राप्त होना माना है (पृ. १०२) राजाके पापका फल, भागनेवाले भृत्यको भी स्वा.द.ने (पृ. ९२ में) माना है। तब श्रीगं.प्र.जी आदिका पक्ष कट गया।

(२७) वेदमें 'तपसे शूद्रं' (यजु. ३०।५) जो लिखा है; यहां 'तपः शूद्रस्य सेवनम्' (११।२३५) इस मनुकी व्याख्यानुसार त्रैवर्णिकोंकी सेवा ही शूद्रकी तपस्या है। आर्यसमाजी भी इसका 'कड़ा काम' अर्थ करते हैं। इस विषयमें 'आलोक' (६) पृ. ८१९-८२०में देखना चाहिये। 'तपसे शूद्रं'का वादिमान्य-'जातिनिर्णय'में श्रीशि.शं.का.ती.जीने 'बहुत परिश्रमी कठिन कार्य करनेवाला शूद्र' यह 'तपः'का अर्थ किया है (पृ. २८७)। 'आलोक' (७) में पृ. ८८० में इसका निर्देश होनेपर भी वादी उसपर चुप्पी लगा गया। इस प्रकार पृ. ८८१-८८२ में जो हमने लिखा था, उसपर भी वादी चुप है। इस प्रकार जहाँ-जहाँ हमने मीमांसा की है; वहाँ-वहाँ वादी चुप्पी लगा गया है, क्योंकि-

जिसके पास अपना ज्ञान नहीं है; जो केवल दूसरोंकी पुस्तकोंसे चुरा-चुराकर लिखा करता है-वह तो थोड़ी ही ऊहापोह करनेपर चुप हो ही जावेगा-यह स्वाभाविक है, और कहता है-अपनी पुस्तकको हमारी पुस्तकका उत्तर। भला निराधार पक्षवाले यह बेचारे जीव कहां तक उडान भरेंगे। हां, वे कई सुधारकोंके नये साक्ष्य वचन उपस्थित कर देता है, पर उससे उसका कुछ बन नहीं सकता। प्राचीन प्रमाण तो उसके पक्षमें हैं ही नहीं। यदि कहीं देखा भी है; तो अपने आर्यसमाजियोंके साक्ष्य आ… उद्धृत भर कर दिया करता है, इससे अधिक बेचारा वादी कुछ नहीं कर सकता। हमें लोग उसके प्रत्युत्तर देनेसे निषेध करते हैं; और कहते हैं, कि-इससे एक नगण्य बड़ा हो जायगा; और उससे उसका महत्त्व हो जायगा, क्योंकि-उसने यह नीति अपना रखी है कि-'महद्भिः स्पर्धमानस्य विपत्तिरपि शोभते। दन्तभङ्गो हि नागानां श्लाघ्यो गिरिविदारणे' उसे पराजयमें भी लाभ है, पर हम स०ध०का पक्ष सुस्पष्ट करनेकेलिए यह ग्रन्थमाला निकाल रहे हैं। यदि एक नगण्यका इससे कुछ नाम बढ़ता है, इसमें कोई हानि नहीं। पर असत्पक्षको हमने काटना आवश्यक है।

(ख) "शम्बूक, ब्राह्मणके बालकको मारकर वनमें छुपकर तप करता होगा"-यह श्रीगङ्गाप्रसादजीकी सन्दिग्ध एवं निराधार वादीसे उद्धृत बात निष्प्रमाण है, केवल उनकी कपोलकल्पित है। वे ऐसी कल्पनाएँ सुधारक जनताको प्रसन्न करनेकेलिए

लिख वा कह दिया करते हैं। रामायणमें ऐसा कहीं नहीं लिखा। आश्चर्य तो यह है कि—इस निर्मूल पक्षको वादीने कैसे प्रमाण मान लिया? वादी अब उनके उत्तरदायित्वसे रामायणका ऐसा प्रमाण दे कि—ब्राह्मणके बालकको उस शूद्रने मारा, और वनमें छिप गया। हाँ, 'आत्मीये संस्थितो धर्मे शूद्रोपि स्वर्गमश्नुते। परधर्मो भवेत् त्याज्यः सुरूपपरदारवत्' (अत्रि. १८) इस श्रीगं.प्र.जीके इष्ट प्रमाणसे शूद्रने अपनी अनधिकृत, परधर्मकी तपस्याको ग्रहण करके उस पापसे एक ब्राह्मणके लड़केको मरवाया था। इसीसे श्रीरामने उस अनधिकृत-कर्मके दण्डविधानार्थ उसे मारा था। देवता शूद्रको स्वर्गमें नहीं आने देते, इसका प्रमाण इतिहासकी वह प्रसिद्ध घटना है जिसमें त्रिशङ्कु शापवश चाण्डाल बन गया था। विश्वामित्र-द्वारा यज्ञ करानेपर भी, उसे स्वर्गमें भेजनेपर भी वह स्वर्गसे ढकेल दिया गया था, वह वहीं अधरमें लटका रह गया। इससे वह शूद्रकी तपस्या देवताओंको भी इष्ट नहीं—यह सिद्ध होता है। मनुस्मृतिमें भी लिखा है—'दैवपित्र्यातिथेयानि तत्-[शूद्रा-] प्रधानानि यस्य तु। नाश्नन्ति पितृ-देवास्तद् न च स्वर्गं स गच्छति' (३।१८)। भविष्यपुराणसे वादी जिस प्रकरणसे पूर्वापर-प्रकरण छिपाकर शूद्रोंका यज्ञ आदि सिद्ध किया करते हैं, वहीं इन्द्र देवताने स्पष्ट कहा है—'तथा च शूद्रजनितैर्यज्ञैः तृप्तिं न चाप्नुयाम्। मम शत्रुर्बलिर्दैत्यः कलिपक्षमुपागतः। निस्तेजाश्च यथाऽहं स्यां तथा वै कर्तुमुद्यतः' (भविष्यपु. ३।२०।७४-७७) तब यह शूद्रोंका यज्ञ

करना 'दैत्यमत' सिद्ध हुआ, 'देवमत' नहीं। इससे वादीके पक्षका कचूमर निकल गया, क्योंकि—उसने भी 'दैत्यमत' स्वीकृत कर रखा है। 'स्वर्गभाङ् नहि शूद्रोऽयं'में शूद्रकी तपस्याका निवर्तन करके उसे स्वर्गसे गिरवाके यह 'आपने देवकार्य किया' यह कहकर देवताओंने शूद्रकी तपस्या इष्ट नहीं मानी है। तभी तो चाण्डाल-त्रिशङ्कुके यज्ञमें कोई देवता नहीं आया। देवलोकमें भेजे गये त्रिशङ्कु- चाण्डालको देवेन्द्रने स्वर्गलोकमें नहीं आने दिया।

(३८) 'दशास्यां पुत्रान् आ धेहि' (ऋ. १०।८५।४५) इस मन्त्रका स्वा.द. कृत अर्थ अशुद्ध था, यह हमने भली-भांति सिद्ध कर दिया था। उसपर वादीकी कमर टूट गई। अब उसने शेरसिंह-कृत 'नियोग-मीमांसा' पुस्तक देखनेकेलिए कहा है। उसका यदि वादी उद्धरण यहीं दे देता; तो हम उसका खण्डन कर देते; क्योंकि—इन लोगोंके पास चालाकीके सिवाय और कुछ आधार तो होता नहीं। असत्य-पक्ष शीघ्र ही गिर जाया करता है। यदि वादी उसकी बातोंमें कुछ महत्त्व समझता है; तो उसकी पुस्तक हमारे पास भेज दे, हम उसका प्रत्युत्तर दे देंगे। क्योंकि—इनका पक्ष निरा निर्मूल एवं असत्यके आश्रयपर हुआ करता है। अतः उसके काटनेमें कुछ भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

'ऋग्विधान'के 'भ्रातुर्भार्यामपुत्रस्य' का उत्तर हम अन्यत्र दे चुके हैं। इसके सिवाय तो वादीके पास अन्य कोई प्रमाण

नहीं; और 'ऋग्विधान' वादीकी धर्मपुस्तक नहीं; अतः उसका पक्ष गिर गया। 'उदीर्ष्व नारि !' का अर्थ श्रीभीमसेनजी तथा श्रीअखिलानन्दजी यदि आर्यसमाजमें रहकर नियोगपरक करते थे; यह सम्भव है; पर जब वे उस अज्ञानसे निकल आये; तब उन्होंने सनातनधर्ममें आकर उसका वास्तविक अर्थ लिखा है, वादी उसे मानकर अपना मत छोड़ दे। वह अब उनका आर्यसमाजके समयका अर्थ देकर उनके नामसे सनातनधर्मियों को धोखा क्यों देता है ? यह उसकी बहुत बुरी असत्य प्रकृति है।

(३६) नियोगविषयमें मनुजीने पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष लिखे हैं; तब क्या एक ही व्यक्तिकी लेखनीसे ऐसा नहीं लिखा जाया करता ? देखिये न्यायदर्शनमें 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघात-पुनरुक्तेभ्यः' (२।१।५७) 'न कर्मकर्तृसाधन-वैगुण्यात्' (२।१।५८) यह पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष। स्वा.द.जीने स.प्र.में नियोगमें पहले पापकी बात, वेश्याका धर्म आदि लिखा है; फिर दूसरा पक्ष लिखकर उस पूर्वपक्षका खण्डन कर दिया; तब क्या वादी यह एक ही स्वामीका, तथा श्रीगोतमसुनिका परस्पर विरोध मान लेगा ? ऐसे ही 'आचार्य' (वादीके शब्दोंमें 'अचारज') आ.स.के भाग्यमें लिखे पड़े हैं। श्रीतुलसीरामस्वामीजीने जो कि मनुजीके उत्तर-पक्षको प्रक्षिप्त माना है; वे तो नियोगके पक्षी हैं, तब वे नियोगके खण्डनको प्रक्षिप्त नहीं मानेंगे; तो और क्या करेंगे ? तभी आप लोग प्रक्षिप्तता तथा स्वैराचारके अनुसार प्रामाण्याप्रामाण्य

मानकर अनुसन्धान-विरहित जनतामें स्थिति प्राप्त कर रहे हैं। यदि जनता अनुसन्धानवाली होती; तो आप लोगोंको मुंह छिपाने लायक स्थान भी कहीं न मिलता। हम इस विषयमें अधिक स्थान न होनेसे संक्षेपमें ही लिखेंगे।

(ख) पूर्वपक्षोक्त 'देवराद् वा सपिण्डाद् वा' आदि पद्योंका खण्डन 'नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः। अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम्' (९।६४) इस पद्यसे 'न' शब्दके द्वारा शुरू होता है। इसमें 'अन्यस्मिन्' से पूर्वपक्षोक्त 'देवर' तथा 'सपिण्ड' गृहीत होते हैं, सो द्विजातियोंमें विधवाका भर्तासे अन्य देवरादिसे नियोगका निषेध किया गया है, शूद्र भले ही नियोग करे। यहाँपर 'अन्यस्मिन्'का 'अन्यस्मिन् वर्णे' अर्थ करना श्रीतुलसीरामजीका गलत है, क्योंकि पूर्वपक्षके पद्यमें 'वर्ण' शब्द है ही नहीं, किन्तु उसमें ठहरे 'देवर वा सपिण्ड' शब्द ही यहां अनुवृत्त हो रहे हैं। यहां श्रीमेधातिथिने अवतरणिका बांधी है कि—'पूर्वेण विहितस्य नियोगस्य प्रतिषेधोऽयम्'। इसे वादीने छिपा लिया है। इससे नियोगका मेधातिथिके अनुसार खण्डन सिद्ध हो रहा है; फिर वह श्रीमेधातिथिको नियोगका मण्डक इन पद्योंमें कैसे सिद्ध कर सकता है ? यह लोग कब तक पूर्वापर छिपाकर अपने पक्षको सिद्ध करते रहेंगे। अन्तमें तो कलई खुल ही जाती है। श्रीतुलसीरामस्वामीका वर्णसंकरतामें नियोगकी निन्दा ज़बर्दस्ती अर्थ करना अपने स्वा.द.जीसे भी विरुद्ध है; क्योंकि

स्वामीजीने ब्राह्मण वर्ण-श्रीव्यासजीका क्षत्रिय वर्ण वाली स्त्रियोंसे नियोग कहा है। वादीके अनुसार तथाकथित केवटजातिके शूद्रने क्षत्रिय वर्ण वाली स्त्रीसे नियोग किया है; तब उक्त मनुपद्यमें 'अन्यस्मिन्'का 'अन्यस्मिन् वर्णे न नियोक्तव्या' यह श्रीतुलसी-रामजीका अर्थ कैसे ठीक हो सकता है? द्विजोंमें नियोग तथा विधवाविवाहके निषेधका कारण 'नौद्वाहिकेषु मन्त्रेषु' (९।६५) में मनुजीने स्पष्ट कर दिया है। इस पद्यकी टीका भी श्रीमेधातिथि आदि सभी भाष्यकारोंने नियोग-निषेधपरक ही की है।

(ग) इस प्रकार जब इस स्थलमें नियोगके निषेधक पद्य चल रहे हैं; तब 'अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः। मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति' (६६) इस अग्रिम पद्यमें भी नियोगका निषेध ही सिद्ध है, विधान नहीं। वादी इससे पूर्वके पद्य तथा उनके भाष्य छिपाकर केवल इसी पद्यको जनताके सामने अपना मनमाना अर्थ करके रख देते हैं; इसीसे जनता भ्रान्त हो जाती है। तब इस पद्यमें पाठ चाहे 'विद्वद्भिः' हो, चाहे 'अविद्वद्भिः', नियोगका निषेध चालू होनेसे इस पद्यमें भी नियोगके निषेधका ही अर्थ है, विधि कभी नहीं हो सकती। आश्चर्य है कि-वादी यह मोटी बात भी नहीं समझ सकता। उसमें कारण पक्षपातके गदले आवरणका आँखोंमें आ जाना ही है। जब वादीको किसीके वचनमें अपने पक्षकी गन्ध आती हो; तब वह उसे 'प्रसिद्ध भाष्यकार 'श्रीमेधातिथिजी' आदि विशेषण लिखने लग जाता है। अपनेसे विरुद्ध अर्थ हो; तो वह

उसे 'पौराणिकभाष्यकार' लिखकर उससे अपनी जान छुड़ा लेता है।

वादी श्रीमेधातिथिका उद्धरण देता है-'अर्थवाद एव नियोग-प्रतिषेधशेषः। ये अविद्वांसः सम्यक् शास्त्रं न जानते, तैरयं पशु-धर्मः। स च अत्यन्तगर्हितो मनुष्याणामपि प्रोक्तः प्रवर्तितः'। वादीने इसे श्रीशिवशर्माके 'शास्त्रार्थमहारथी'से उद्धृत किया है। इस उद्धरणका गलत अर्थ लिखता हुआ वादी अपनी संस्कृतानभिज्ञता सूचित कर रहा है। लिखता है—'नियोग पशु-धर्म है-यह वे लोग कहते हैं, जो शास्त्रको नहीं जानते, ऐसे ही मनुष्य इसको निन्दित जानते हैं'।

यह वादीका अर्थ गलत और प्रकरण-विरुद्ध है। इसमें प्रमाण यही है कि-'अर्थवाद एव नियोगप्रतिषेधशेषः' इस स्वलिखित मेधातिथिके वचनका वादीने अर्थ छिपा लिया है। यहाँ यह भाव है कि-मनुजी नियोगका निषेध-शेष बताते हुए अर्थवाद (पुराकल्प) देते हैं'। इससे यह पद्य मेधातिथिके मतसे भी नियोगका निषेधक सिद्ध होगया। तब वादीका किया अर्थ गलत सिद्ध होगया। अब हम बताते हैं कि-चाहे उक्त पद्यमें 'विद्वद्भिः' पाठ हो, चाहे 'अविद्वद्भिः' अर्थ यहाँ दोनों ही पाठोंमें नियोगके निषेधका ही है।

(घ) पहले 'विद्वद्भिः'पाठके अनुसार अर्थ देखिये।—'अयं-नियोगः, विद्वद्भिर्द्विजैः 'पशुधर्मः' इति विगर्हितः। वेने राज्यं प्रशासति अयं पशुधर्मो मनुष्याणामपि प्रोक्तः'। इस नियोगको

विद्वान्-ब्राह्मणोंने 'पशुओंका धर्म' (क्योंकि-इसमें बिना वेद-मन्त्रीय विवाहके किसीकी स्त्रीको ले लेना पड़ता है।) कह कर निन्दित किया है। इस पशुओंके धर्म (नियोग)को राजा वेनके राज्यमें मनुष्योंमें भी चालू किया गया था'। इससे नियोगका पूर्वपक्ष राजा वेनसे चलाया हुआ था, और यह पशुओंका धर्म था-मनुष्योंका नहीं; पर वेनने उक्त पशुधर्मको मनुष्योंका धर्म बना दिया, यह सूचित किया गया है। इससे पाठकोंने नियोग-की पशुधर्मता, इसी कारण निन्दनीयता मनुजीके मतमें जान ली।

(ङ) अब 'अविद्वद्भिः' पाठके अनुसार अन्वय एवं अर्थ देखिये-'अयं विगर्हितः पशुधर्मः (नियोगः) वेने राज्यं प्रशासति अविद्वद्भिर्द्विजैः मनुष्याणामपि प्रोक्तः'। अर्थात्-इस निन्दित पशु-धर्म नियोगको अविद्वान् द्विजोंने राजा वेनके शासनकालमें 'यथा राजा तथा प्रजा' इस न्यायसे मनुष्योंमें भी जारी कर दिया था। उन नियोग चालू करने वाले द्विजोंको अविद्वान् कहनेका भाव यह है कि-था तो यह कामी पशुओंका धर्म ही, पर उन अविद्वानोंने उसे कामी वेन-राजाके संकेतसे मनुष्योंमें भी चलवा दिया।

(च) अब विद्वान्-पाठकोंने समझ लिया कि-इस अर्थमें भी नियोगका मनुष्योंमें निषेध ही सिद्ध हुआ। अब पाठक वादीसे दिये हुये श्रीमेधातिथिके भाष्यका भी अर्थ देखें-

'ये अविद्वांसः-(जो अविद्वान् हैं) सम्यक् शास्त्रं न जानते

(शास्त्रको ठीक-ठीक नहीं जानते हैं) तैरयं पशुधर्मः [यहां वादीने जान-बूझकर विराम-चिन्ह दे दिया है, जिससे उसका इष्ट अर्थ निकल सके, पर अभी यह वाक्य समाप्त नहीं हुआ] (उन अविद्वानोंने इस पशुधर्म नियोगको) स च अत्यन्तगर्हितः (और वह अत्यन्त-निन्दित था) मनुष्याणामपि-प्रवर्तितः (मनुष्योंमें भी चालू कर दिया)। अब पथिकजीका अर्थ कहां चला गया कि 'नियोग पशुधर्म है, यह वे लोग कहते हैं, जो शास्त्रको नहीं जानते। ऐसे ही मनुष्य इसको निन्दित जानते हैं'।

उल्टा शास्त्रको न जानने वाले लोग इसकी निन्दा कैसे करेंगे? वे तो गुलछर्रे उड़नेसे उसे उल्टा पसन्द करेंगे। शास्त्रज्ञ लोग ही इसको पशुधर्म कहेंगे। वादीने 'मनुष्याणामपि प्रोक्तः प्रवर्तितः' इसका अर्थ न करके इस मेधातिथिके वाक्यको असम्बद्ध कर दिया; तथा छिपा दिया। पहला वाक्य भी छिपा लिया ही था। अब वादीका 'शास्त्रार्थ-महारथी'भी असत् गया। उसके आगे पाठ था, 'स च इदानीन्तनो न। आदिमे राज्ञि प्रशासति-राष्ट्रं पालयति [सति]' इसे भी वादीने छिपा लिया। इससे नियोग राजा वेनसे चालू होनेसे अर्वाचीन सिद्ध होता है। यह वादी लोग प्राचीन प्रमाणोंके पूर्वापर छिपाकर अपने नाककी नाकको छिपानेका प्रयत्न किया करते हैं, पर जब वह पूर्वापर प्रकट कर दिया जाता है, तब वादी चुप्पी लगा जाते हैं। अब वादीकी शक्ति नहीं है कि-इसपर कुछ लिख सके। यहां पूर्व-कल्पके वेन राजाका वर्णन किया है; सृष्टिके आदिम बहुतसे कल्प बीत

होनेसे पुराकल्पके वेनका उद्धरण देनेसे मनुस्मृतिकी सृष्ट्यादिता-में कोई क्षति नहीं पड़ती; अतः प्रक्षिप्तता भी इन पद्योंकी नहीं हो सकती।

(छ) आगे श्रीमेधातिथिका 'ननु च लिङ्गानि नैव सन्ति' इत्यादि रूपसे वादीने उद्धरण दिया है, वह उद्धरण बहुत अशुद्ध छपा है। इससे मालूम होताहै कि—वादीने मेधातिथिका भाष्य स्वयं नहीं देखा, श्रीशेरसिंहका अशुद्ध उद्धरण और अशुद्ध अर्थ उसकी पुस्तकसे उद्धृत कर लिया है। शेरसिंहजीकी अशुद्ध बातें लिख देनेकी प्रकृति है। उनकी 'नमस्ते की प्राचीनता' मेरे पास है। उसके पृ.२६में 'राम की सीता को नमस्ते' पृ.२७में 'राम को लक्ष्मणको नमस्ते', 'जनकको याज्ञवल्यकी नमस्ते'। पृ.२४में 'ऋषिकी राजाको नमस्ते' आदि बहुतसे अशुद्ध उद्धरण दियेहैं; इस विषयमें 'आलोक' (१-२)में हम लिख चुके हैं। इससे मालूम होताहै कि—शेरसिंहजी आर्यसमाजका पक्ष असत्य बोल-कर भी सिद्ध करना चाहते हैं। पर वादी बेचारा भी क्या करे। संस्कृतका स्वयं ज्ञान उसे बहुत न्यून है; सो जैसा कि दूसरा आर्यसमाजी यदि अशुद्ध भी अर्थ कर दे; वह उसे गद्गद होकर उद्धृत कर दिया करता है; और अपने पक्षकी सिद्धि समझ लेता है। यह नहीं समझता कि अन्तमें असत्यका पर्दाफाश होगा।

मेधातिथिके भाष्यमें शङ्का 'नैव' से शुरू होती है, वादीने वहाँ छिपाकर 'अन्यत्र तु दृश्यते' से कर दिया। मेधातिथिका तात्पर्य यह है कि-वैवाहिक मन्त्रोंमें नियोग अथवा विधवाविवाह-

का वर्णन नहीं आता है, पर 'विधवेव देवरम्' इस मन्त्रमें है, जो विवाहित-विधवाकेलिए नहीं है किन्तु वाग्दत्ता-विधवाकेलिए आया है। उसीका अनुवाद 'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः। तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः' (९।६९) इस मनुपद्यमें आया है। सो उस वाग्दत्ता-विधवाका नियोग 'विध-वेव देवरं'के कथनसे हुआ करता है—यह मेधातिथिका अभिप्राय है। परन्तु उसी नियोगको कलियुगकेलिये व्यवस्थापित पराशर-स्मृतिने 'क्लीबे च पतितेपतौ' द्वारा विवाहरूपमें परिणत कर दिया है, सो वह तो अब भी हुआ करता है। सगाई की हुई लड़कीका पति मर जावे; तो उसका विवाह तो अब भी यथासम्भव देवरसे कर दिया जाता है। 'प्रदानं स्वाम्यकारणम्' (५।१५२) इस मनुवचनके अनुसार उस वाग्दत्ताके पति मर जानेपर भी वह विधवा होती है, सो उसका विवाह अभ्यनुज्ञात है। इससे वादीका पक्ष तो कभी सिद्ध होवा नहीं। वादी तो अपना माना हुआ नियोग भी नहीं करते। वे तो स्वा.द.जीसे विरुद्ध शूद्रता-पादक विधवाविवाह कर दिया करते हैं। हमारे यहाँ नियोगको कलिवर्जित माना जाता है। इससे हमारे पक्षमें कोई भी दोष नहीं आता।

आगे वादी 'अन्यैर्विद्वद्भिरिति पठितम्' यह मेधातिथिका पाठ देता है, पर उसके आगे जो श्रीमेधातिथिने लिखा था—'गर्हितो मनुष्याणां प्रोक्तः। पशूनामेव धर्मो भ्रातृस्त्रीगमनं नाम। स च प्रवृत्तो वेनस्य राज्ये' इस पाठको तथा अर्थको वादीने

जान-बूझकर छिपा दिया; क्योंकि-इससे उसका प्यारा नियोग पशुओंका धर्म सिद्ध होता है, तथा राजा वेनके कालसे जारी होनेसे आदिमान् सिद्ध होता है। विना पूर्वापर छिपाये आर्यसमाजका यह पक्ष त्रिकालमें भी सिद्ध नहीं हो सकता; तब यह बेचारे वादी पूर्वापरको छिपा कर ही अपना निर्वाह किया करते हैं; और क्या करें।

(ज) जो कि श्रीतुलसीराम-स्वामीने उक्त पद्योंको प्रक्षिप्त न माननेके पक्षमें वेनके जारी किये हुए नियोगको भिन्न वर्णोंमें जारी कर देनेकेलिए निषिद्ध ठहराया है, वह भी गलत है। वेद-व्यास ब्राह्मणके पुत्र (पराशरोत्पन्न) होनेसे ब्राह्मण थे, यह सर्वसम्मत है। अथवा वादीके अनुसार वह केवटकी पुत्रीसे उत्पन्न होनेसे जन्मना केवट थे-यद्यपि यह बात गलत है-हम इसका पहले खण्डन कर चुके हैं-फिर उनका अपनेसे भिन्न वर्णकी क्षत्रिया अम्बा-अम्बालिकासे जो नियोग बताया है, वह भी फिर वर्णसङ्करता होनेसे निषिद्ध सिद्ध हो गया, फिर स्वा.द.जीने उसे कैसे समर्थित किया ?

वस्तुतः यहाँ यह अर्थ नहीं है; वहाँ नियोगको ही-चाहे वह एक वर्णमें हो, चाहे भिन्न-भिन्न वर्णमें हो; सङ्करताकारक होनेसे ही निषिद्ध ठहराया गया है। जैसे कि-'अवेद्यावेदनेन च।... जायन्ते वर्णसङ्कराः' (मनु. १०।२४) 'परदाराभिमर्शेषु जायते वर्णसङ्करः' (मनु-८।३५२-३५३) यहाँ अवेद्याके वेदनसे ही, चाहे वह अपने वर्णकी भी हो, तथा परस्त्री-गमन दोनोंसे ही सङ्करता

बताई गई है। क्योंकि-छोटे भाईकी स्त्री बड़े भाईकी बहूके समान होती है, और बड़े भाईकी स्त्री छोटे भाईकी माताके समान होती है। जैसे कि मनुजीने कहा है-'भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा। यवीयसस्तु या भार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता। ज्येष्ठो यवीयसो भार्यां यवीयान् वाग्रजस्त्रियम्। पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तौ अप्यनापदि' (९।५७-५८) दोनोंके इतरेतरकी स्त्रीमें गमन होनेसे पतितता होती है।

इसी अवेद्या (गमन करने अयोग्य)के वेदनसे तथा परदारा-भिमर्श होनेके कारण नियोगसे वर्णसङ्करता तथा इसीलिए उसकी अकर्तव्यता मानी जाती है। स्पष्ट है कि-यहां श्रीतुलसीरामजी-का 'वर्णसंकरता'का व्याज गलत है। नहीं तो फिर वादी क्षत्रिया स्त्रियोंका महाभारत-द्वारा ब्राह्मणोंसे नियोग करना कैसे शुद्ध मानते हैं? वर्णसङ्करता तो विवाहमें भी अच्छी नहीं; तब नियोगमें उसका निषेध कुछ विशेषता नहीं रखता। इस विषयमें हमने 'स्वा. दयानन्दीय नियोग निरीक्षण' में विशेष विचार किया है; वह सम्भवतः अग्रिम पुष्पमें निकलेगा। अतः श्रीतुलसीरामजीका अर्थ भी गलत है। नियोगको कुल्लूकभट्ट भी निषिद्ध मानते हैं, तथा इन श्लोकोंको नियोगका निषेधक मानते हैं। शेष जो कुल्लूक-ने इस निषेधको कलिविषयक माना है, वह भी ठीक है। तभी तो स्वा.द.जीके बल लगाने पर भी, आर्यसमाजके इस विषयमें शास्त्रार्थ करने पर भी नियोग कलिमें उनके सम्प्रदायमें भी चालू न हो सका।

अन्य युगोंमें जो नियोग कुल्लूक मानते हैं, उन्होंने इस विषयमें कारण बताया है—'युगक्रमाद् अशक्योऽयं कर्तुमन्यैर्विधानतः।' अर्थात् भिन्न युगोंमें तपस्वी लोग शक्तिशाली विधिपूर्वक (विना मैथुन के) नियोग कर सकते थे, पर इस युगमें वह शक्ति नहीं रही। तब कोई वैसा प्रयत्न न कर सके; अतः नियोग निषिद्ध कर दिया गया। तभी श्रीकुल्लूकने बृहस्पति की साक्षी दी है—'तपोज्ञानसमायुक्ताः कृतत्रेतायुगे नराः। द्वापरे च, कलौ नृणां शक्तिहानिर्हि निर्मिता। अनेकधा कृताः पुत्रा ऋषिभिश्च पुरातनैः। न शक्यन्तेऽधुना कर्तुं शक्तिहीनैरिदन्तनैः'। इससे नियोगके सम्बन्धमें प्रकाश पड़ रहा है कि-वह कर्तव्य नहीं, विशेष कर कलियुगमें। तब वादीका पक्ष गिर गया। किसीने भी नियोग को, विशेष करके कलिमें ठीक नहीं माना। तब 'पौराणिक विद्वान् भी मनुस्मृतिसे नियोग सिद्ध कर रहे हैं' यह वादीकी बात खण्डित होगई।

(४०) 'उत यत् पतयः' के वादीके किये अर्थमें हमने ८८४ पृ. में वादीपर आपत्ति बताई थी; वादी उसपर चुप रहा। फिर हमने श्रीधर्मदेवजीका अर्थ दिया था, उससे भी उसका खण्डन होगया, वे तो अब भी लिखते हैं—'मैं तो अब भी ब्रह्मविद्यापरक अर्थको ही वेदोंकी उच्च भावनाके अनुकूल समझता हूँ'; इससे ११पति अर्थ करनेको वादीके गुरुजीने भी नीच-भावना और वेदोंकेलिए अयोग्य बतलाया है। अब वादीकी इच्छा है कि-वह वेदसे नीच भावनावाला अर्थ करे, वा उच्च भावना वाला। 'मेरा दिया

हुआ अर्थ आधिभौतिक है' इस वादीके वाक्यपर हंसी आती है, इसमें 'अधिभौतिकता' कैसी है? हमने दश देवता आदि कई अर्थ किये थे; उसमें 'आलोक' (८) में प्रमाणोपपत्तियाँ भी दी थीं, पर वादी इन प्रमाणोंको छिपा गया। यहांपर 'ब्राह्मण'का अर्थ वह 'विद्वान्' करता है; वहाँ उसने प्राचीन प्रमाण न देकर आर्यसमाजी श्रीनित्यानन्दजीका वचन दे दिया। वह साध्य होनेसे सिद्ध नहीं। यदि 'ब्राह्मण' का अर्थ 'विद्वान्' होता; तो 'विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे' (गीता ५।१८) 'विद्वांसं ब्राह्मणं' (अथर्व. १३।३।१) 'मनीषी (विद्वान्) ब्राह्मणः' (ऋ. १।१६४।४५) 'विदुषा ब्राह्मणेन' (मनु. ११०३) यह शब्द इकट्ठे न आते; और 'ब्राह्मणेषु च विद्वांसः (मनु.१।९७) यहांपर विभक्तिभेद न होता। अतः 'ब्राह्मण' का अर्थ 'विद्वान्' नहीं होता। यदि ऐसा होता; तो 'देवद्विज' (ब्राह्मण) गुरु-प्राज्ञ-(विद्वत्) (गीता ७।१४)में प्राज्ञ (विद्वान्) और 'द्विज' (ब्राह्मण) इन दोनोंकी पुनरुक्ति न होती। श्रीनित्यानन्दजीके अर्थमें १० पतियोंकी संगति भी नहीं लगाई गई है।

(४१) आगे वादीके लिखे 'मारिषा'के दशपतिपर हमने लिखा था कि-न यह विधवाविवाहके थे, न नियोगके, तब १० पतियोंका नियोग इस दृष्टान्तसे कट गया। इस दृष्टान्तका उपन्यास व्यर्थ होगया। पुराणने जो कुछ लिखा है, उसकी व्यवस्था हमने दिखला दी। फिर वादी यदि पुराणको नहीं मानता, तब उसका प्रमाण देकर 'अर्धजरतीय' क्यों करता है? हमने वादीसे दिये

हुए ही मारिषाके उदाहरणसे सिद्ध कर दिया था कि–उसका छोटी आयुमें विवाह हुआ था; और विधवा होनेपरभी उसने पुनर्विवाह नहीं किया; तब यदि वादी इस इतिहासको वेदविरुद्ध वा सृष्टिक्रम-विरुद्ध समझता है; तब तो उसके दस पति भी वेदविरुद्ध हैं, तब पुराणाश्रित उसका पक्ष गिर गया। हमने तो उसकी व्यवस्था बता दी है। मारिषाके ६३-६५ पद्यमें वादीने जान-बूझकर ५९-६० संख्या लिख दी थी; जिससे एक गलत सिद्धान्त सिद्ध होता था; पर अब उसने उसका दोष मुद्रकोंपर डाल दिया, यह असत्यता है। यही उसने १९३ पृष्ठमें (उपयोग लें) इस अपने लिखे ब्रैकेटको जो नी.चीवि.के १७२ पृष्ठमें लिखा था कि–उनके भाष्यमें 'भोग करें' के आगे 'ब्रैकेटमें' (उपयोग लें) लेख स्पष्ट दिया है, यह लिख कर भी उस अपने लेखमें 'ब्रैकेट' लिखनेका दोष मुद्रणालय पर डाल दिया है। यह है इन लोगोंका सत्य-व्यवहार !!!

मारिषा और वार्क्षीको वादी भिन्न-भिन्न मानता था; हमने जब उसका अज्ञान दिखलाया; तब वह उसपर चुप होगया। वार्क्षीको 'अयोनिजा' पुराणने ही बताया था, वह हमने सिद्ध कर दिया। यह भी लिख दिया था कि–अयोनिजमें योनिजों वाली व्यवस्था नहीं होती। इसमें हमने द्रौपदीका उदाहरण भी दिया था। इससे भी वादीका पक्ष कट गया; और चुप हो गया। अब भी कभी नहीं बोल सकता। जो कि वह वार्क्षीके 'अयोनिजा' होनेमें सृष्टिक्रमविरोध मानता है; तब तो फिर वार्क्षी भी कोई नहीं

हुई। वादीका पक्ष वेदविरुद्ध दृष्टान्त देनेसे स्वयं कट गया। फिर स्वयं मरे हुएको क्या मारा जाए? और फिर इस दृष्टान्तसे १०पति नियोगसे भी वह सिद्ध न कर सका। इसलिए उसके पक्षकी कमर टूट गई। वह सदाकेलिये उठने योग्य न रहा।

(४२) अब वह 'पद्मपुराणमें २१पतिका विधान' यह गलत शीर्षक देता है, हम उसका ७म पुष्पमें निराकरण कर ही चुके हैं। उसका वादी कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं दे सका। केवल वह उन विषयोंको फिर दुबारा छू-भर लेता है कि–जनता यह न समझे कि–कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं दिया गया। अब कहता है कि–'मैंने कोई पाठ नहीं छिपाया'। 'विवाहसमये प्राप्ते', 'प्राप्ते विवाहसमये', तस्या विवाहकाले तु, 'अनुद्वाहितायाः कन्यायाः' आदि पाठ उसने छिपा ही तो लिये थे; जिससे उसका पक्ष कटता था।

वादी लिखता है –'जितने पाठकी आवश्यकता होती है, वह प्रदर्शित कर दिया जाता है। आप तो व्यर्थका सारा प्रकरण लिखकर साधारण जनतामें अपनी विद्वत्ताकी धाक जमाना चाहते हैं'। यह वादीके सन्तप्त हृदयके उच्छ्वास हैं। पूर्वापर-प्रकरण दिखलानेसे ही तो आप लोगोंकी चोरी वा चाल पकड़ी जाती है, और आप लोगोंका पक्ष गिर जाताहै, पर आपलोग अपने पक्षके गिरनेके डरसे उन पद्योंको छिपा देतेहैं; जिनसे हमारा पक्ष सिद्ध होता है।

अब वादी बतावे कि–जब दिव्याका विवाह पूर्वके प्रमाणों द्वारा किसीसे सम्पन्न हुआ ही नहीं; न सप्तपदी हुई, न चतुर्थी

कर्म, तब उसके २१ पति कैसे हो गये ? अब वादी स्वयं बतावे कि-उसका पक्ष खण्डित हो गया, या नहीं ?

(ख) आगे वादी अपनी इस निरुत्तरताकी झेंप मिटानेके-लिए हमें डाँटता हुआ लिखता है—'आपने यहाँ भी पाठभेद करके जघन्य पाप किया है; और अपने पक्षपुष्टि करनेका कुप्रयास किया है। 'उद्वाहितायाः' पाठ है, जिसे आपने 'अनुद्वहित' में परिवर्तन कर दिया है। आनन्दाश्रममें 'उद्वाहितायां कन्याया-मुद्वाहः क्रियते बुधैः' यह पाठ है'।

अब पाठक देखेंगे–भ्रान्त पथिकका पक्ष अभी-अभी कट जावेगा। वादीसे प्रष्टव्य है कि–वह 'उद्वाहितायाः कन्याया-उद्वाहः क्रियते बुधैः' यह पाठ ठीक मानता है, अथवा 'अनुद्वाहित-कन्याया उद्वाहः क्रियते बुधैः' इस पाठको ठीक मानता है ? यदि वह 'उद्वाहितायाः कन्याया उद्वाहः क्रियते बुधैः' इस पाठको ठीक मानता है; तो उसका अर्थ क्या करता है ? उसका अर्थ तो यह होगा कि–'पण्डित लोग विवाहित हुई लड़कीका विवाह किया करते हैं'।

यदि वादी इसका यही अर्थ मानता है; तो अपने सम्प्रदायमें यह घोषणा कर दे कि–'महाशयो ! आप लोग कुमारी-(अविवाहिता लड़की)का विवाह न करके विवाहिता-स्त्रीका विवाह किया करो'। फिर आर्यसमाजी भी इस बातको मानकर कुमारीका विवाह कराने वाले स्वा.द.जीकी तथाकथित 'महर्षि' पदवी छीनकर इस 'पथिक' को वह पदवी दे डालें, जिसकेलिए

यह पथिक समय-समयपर स्वा.द.जीकी बातोंको भी काटकर उसमें अपनी इच्छा ही रख दिया करता है।

अब वादी बतावे कि–'अनुद्वाहितायाः कन्याया उद्वाहः' पाठ संगत हुआ, या 'उद्वाहितायाः कन्यायाः' ? क्या वह विवाहिताको 'कन्या' माना करता है ? ब्याही हुई स्त्रीका विवाह कोई भी नहीं करता। स्वामी भी ब्याही हुई विधवाका नियोग तो कराते हैं; विवाह नहीं। सो यहाँ अब वादी बतावे कि–'अनुद्वाहितायाः कन्याया विवाहः' पाठ संगत हुआ; या 'उद्वाहितायाः कन्यायाः' पाठ ? अब वह जैसा पाठ कहे; उसपर हम उसे समझा देंगे।

यदि वह कहे कि–'उद्वाहितायाः कन्याया उद्वाहः क्रियते बुधैः' पुराणमें यह पाठ है, क्योंकि–श्रीबदरीदत्त जोशी, मनसाराम आदिने यही पाठ दिया है; तब वादी बतावे कि–वह इसका अर्थ क्या करता है ? क्या यह कि–'पण्डित लोग विवाहित हो चुकी लड़कीका विवाह किया करते हैं'। क्या वादी इस अर्थको मानता है ? अविवाहिताका विवाह तो सर्वसम्मत है, विवाहिताका विवाह भला कैसे हो ?।

अथवा मान भी लिया जावे कि–यहाँ 'उद्वाहितायाः कन्याया उद्वाहः क्रियते बुधैः' यह पाठ है; तब भी 'अनुद्वाहित-कन्यायाः' वाला ही तात्पर्य निकला। क्योंकि–सप्तपदी हो चुकने पर उसे 'कन्या' नहीं कहा जाया करता; किन्तु 'भार्या' वा 'वधू' कहा जाता है; और उक्त पद्यमें 'कन्यायाः' यह पाठ है, क्या

वादी यह स्पष्ट बात भी नहीं समझ सकता ?। सो वहाँ 'विवाहिताका विवाह' अर्थ तो असम्भव है; उसमें 'उद्वाहितायाः कन्यायाः' का यह अर्थ होगा कि–'उद्वाहयितुमारब्धायाः' 'जिसका विवाह शुरू होनेवाला है' पूरा विवाह न हो चुका हो।

यहाँपर 'क्त' प्रत्यय भूतकालमें नहीं है, किन्तु आदि-कर्ममें है। जैसेकि–'सम्प्रस्थितो वाचमुवाच कौत्सः' (रघुवंश ५।३२) यहाँ 'क्त' का अर्थ 'सम्प्रस्थास्यमानः' (चलनेको तैयार) है, न कि 'चल चुका हुआ'। इसी प्रकार 'उद्वाहितायाः' का अर्थ भी 'उद्वाहयिष्यमाणायाः' अथवा 'उद्वाहयितुमारब्धायाः' है; सो यहाँ वही 'अनुद्वाहितकन्यायाः' का अर्थ निकला। बात वही हमारी निकली। 'भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः' वादीका इष्ट 'उद्वाहितायाः कन्यायाः' का पाठ भी उसके पक्षके अर्थवाला न होकर हमारे ही कहे अर्थवाला हुआ। इसपर यदि वादी पूरा ज्ञान प्राप्त करना चाहे, तो 'आलोक' (८) (पृ. ६२३-६२६) देखे। उसको पूरा समाधान प्राप्त हो जायगा।

अब पूरा प्रकरण देते हुए वादीके पद्यमें 'प्रथमे वयसि सा च वर्तते' (५६) यहाँपर दिव्याकी छोटी आयुमें विवाहकी तैयारी सिद्ध होती है। वहीं 'तस्या विवाहकाले संप्राप्ते' कहा है कि–विवाह शुरू होनेका समय जब होने लगा, 'मृतोऽसौ चित्रसेनस्तु' यहाँ विवाह समाप्त होनेपर दिव्याके पतिकी मृत्यु न कहकर, विवाहकाल प्राप्त होनेके समय मृत्यु कही गई है। पूरे प्रकरणने वादीके पक्षकी कमर तोड़ दी है। पूरे प्रकरणमें वादीने 'अनुद्वा-

हितायाः कन्याया उद्वाहः क्रियते बुधैः' यह पाठ पृ. ८४ पं. १ देकर हमारा पक्ष सिद्ध करके अपने पक्षका निराकरण स्वयं कर दिया है। बधाई। पर उसका ८५ पृष्ठमें 'विवाहिता कन्या बुद्धिमान् लोग फिर दूसरेके साथ विवाह कर देते हैं' यह अ कर दिया है। 'अनुद्वाहितायाः'का 'विवाहिता' अर्थ वादी कैसे किया ? और 'फिर' अर्थका वाचक 'पुनः' शब्द पुरा मूलपाठमें कहाँ पड़ा है कि–उसने 'फिर' अर्थ कर दिया–वादीको बताना पड़ेगा।

वस्तुतः इन लोगोंने असत्य अर्थोंका व्यवहार करके भोले लोगोंको अपने षड्यन्त्रमें फँसा लिया है ?। पृ. ८ वादीने 'विवाहके समीप ही रूपसेनका मरना कहा है। इससे वादीका ही पक्ष कटा; क्योंकि–दिव्याका विवाह अभी हो नहीं पाया था; तब वह 'अनुद्वाहिता' ही सिद्ध हुई। 'विवा महाराज उद्यमं कृतवान् नृप !' में राजाका दिव्याकेलिए वि हार्थ उद्यम तो कहा है, पर वादीका लिखा 'दिव्या देवी बार 'विवाहं चक्रे' ऐसा पाठ हमें कहीं नहीं मिला, 'विवाहका पूर्ण हो चुकना' अर्थ सिद्ध होता है। इससे वादीसे किया हुआ प्रक्षेप मालूम होता है। सप्तपदीसे पू विवाह होना नहीं माना जाता; तब वहाँ 'अनुद्वाहि कन्यायाः' पाठ ही संगत सिद्ध हुआ। जो पूनाका पत्र छपवाया है, वहाँ भी 'अनुद्वाहितायां' यह पाठान्तर स्वयं दिया है; तब भी वादीका ही पक्ष खण्डित है। 'जब-जा

दिव्यादेवीका विवाह करता; तब-तब समय पर ही पति मर जाता।' यह वादीका अर्थ 'प्रवञ्चनापूर्ण' है। यहाँपर 'जब-जब राजा विवाह करने लगता; तब-तब विवाहके समय अर्थात् आरम्भमें ही उसका भावी पति मर जाता' यही अर्थ वहाँपर है। वहीं ६६ पद्यमें 'भर्ता च म्रियते काले प्राप्ते लग्नस्य सर्वदा' में भी वही हमारी बात सिद्ध होती है कि-उसका विवाहलग्न अभी उपस्थित ही होता था कि-उनका वर उसी समय मर जाता था; लग्न पूरा ही नहीं हो पाता था।

(ग) आगे जो श्रीशिवस्वामीका उद्धरण वादीने दिया है, उसमें लिखा है कि-'परन्तु इन स्वार्थी जीवोंको इतना ज्ञान नहीं हुआ कि-'अनुद्वाहितायाः कन्यायाः' यहांपर 'छन्दोभङ्ग' होगया। पहले चरणमें ८ मात्राएँके स्थान ९ मात्राएँ होगई"।

विद्वान् पाठक शिवस्वामीजीका छन्दोज्ञान भी देखें कि— ९ अक्षरोंके स्थान ९ मात्राएँ लिखते हैं। यहाँ मात्राएँ कहाँ हैं? यहाँ तो अक्षरोंकी बात है। सो 'विषमाक्षरपादं वा...गाथेति तत् सूरिभिः प्रोक्तम्' इसके अनुसार कहीं ९ अक्षर आ जावें; तो वहां 'गाथा' छन्द माना जाता है। इस प्रकारके पद्य पुराणोंके पर्याप्तमात्रामें दिखलाये जा सकते हैं। जैसे कि-इसी पथिकने अपने वैसिमा. (पृ. ३७) में 'गालीदानं व्यदधुर्मुदा' यह शिव-पुराणका पद्य दिया है। इसमें वादी स्वयं गिन ले कि-यहाँ ९ अक्षर हैं या नहीं?

जिस 'उद्वाहितायाः कन्यायाः' पाठको वादी छन्दः-शास्त्रके

अनुसार शुद्ध मानता है, उसमें भी दोष आता है-'श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्। द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः' (श्रुतबोध) इस नियमके अनुसार पांचवां अक्षर 'लघु' आना चाहिये। वादीसे सम्मत पाठमें पांचवाँ अक्षर 'याः' गुरु है, तब वादिसम्मत पाठमें भी छन्दकी शुद्धता न रही; तब यदि 'अनुद्वाहितायाः कन्यायाः'में छन्दमें त्रुटि आती है; तब 'यश्चोभयोः समो दोषः परिहारोपि वा समः। नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थ-विचारणे' इस न्यायसे समान उत्तर है। उक्त पद्यमें यदि वृत्त-रत्नाकर अथवा पिङ्गलसूत्रके अनुसार 'पथ्यावक्त्र' छन्द भी माना जावे; तब 'उद्वाहितायाः कन्यायाः' में चतुर्थ अक्षरके बाद 'यगण' न आनेसे छन्दका दोष आता है; तब छन्दः-शास्त्रके नियमानुसार 'अनुद्वाहित-कन्यायाः' यह पाठ ही शुद्ध रहेगा; जिसे हमने लिखा था। या फिर 'अनुद्वाहितायाः कन्यायाः' पाठ भी ठीक रहेगा; उसमें 'गाथा छन्द' रहेगा। गाथा छन्दमें किसी पादमें नौ अक्षर भी हो सकते हैं। या फिर 'उद्वाहितायाः कन्यायाः' पाठ भी मानें; वहां वादीका कहा अर्थ न होकर 'उद्वाहयितुमिष्टायाः, अथवा प्रवृत्तायाः' यह अर्थ होगा। वादीका किसी भी ढंगसे पक्ष सिद्ध नहीं हो सका।

यह जो शिवशर्माजीने लिखा है—'भला यह तो सोचिये कि-'फेरे फिर गये, लाजाहोम हो गया, सप्तपदी होनेको है कि-आपत्तियोंका पहाड़ टूट गया' इसपर वादी जाने कि-'पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम्। तेषां निष्ठा तु विज्ञेया

विद्वद्भिः सप्तमे पदे' (८।२२६-२२७) यह वादिप्रतिवादिमान्य मनुका वचन है, जिसके लिए कहा गया है–'यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः। स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः' (मनुः) (२।७)। पूर्व पद्य पर श्रीमेधातिथिने लिखा है–'तेषां [पाणिग्रहणिकदार-लक्षणमन्त्राणां] निष्ठा-समाप्तिः, सप्तमे पदे (सखा सप्तपदी भव) विज्ञेया। तस्मिन् प्रक्रान्ते कन्यायाः पदे प्रक्रान्ते कन्यापितुर्वोढुर्वाऽनुशयो नास्ति'। इसी प्रकार अन्य टीकाकारोंने भी लिखा है। आर्यसमाजी श्रीतुलसीरामजीने भी लिखा है–'पाणिग्रहणके मन्त्र निश्चय स्त्री होजानेके लक्षण हैं। उन मन्त्रोंकी समाप्ति सप्तपदीके ७वें पदमें विद्वानोंको जाननी चाहिये' (पृ. ४४१) इससे वादीका आक्षेप कट गया।

सो सप्तपदीसे पूर्व तक विवाह पूर्ण नहीं माना जाता। सप्तपदी हो जानेपर वह भार्या (भर्तव्या) हो जाती है। वह पति भी पूर्ण हो जाता है। तब "किसी शास्त्रमें सप्तपदीसे पूर्व विवाह पूर्ण नहीं होता' ऐसा नहीं लिखा है" यह वादीकी बात कट गई। हम मनुजीका प्रमाण दिखला चुके हैं। अब शिवशर्माजीका पक्ष छिन्न-भिन्न हो गया। जब विवाह ही पूर्ण न हुआ; तो स्वयं ही 'अपूर्णपति, तथा अविवाह अथवा अपूर्ण विवाह' सिद्ध हो गया।

'वाचा सत्ये कृते पतिः' (मनु. ६।६६) का भी यही आशय है कि–वाग्दान होने पर भी उसे 'पति' कहा जाता है। श्रीतुलसीराम स्वामीने भी इसका वही अर्थ किया है–'जिस

कन्याका सत्य वाग्दान (कन्यादान संकल्प) करनेके पश्चात् ... मर जावे; उसको इस विधानसे देवर प्राप्त हो' (पृ. ५००) 'प्रदानं स्वाम्यकारणम्' (मनु. ५।१५२) इस कथनसे वाग्दान-कालीन प्रदानसे उस पुरुषका लड़कीपर स्वामित्व हो जाता है, जैसे कि–इसपर श्रीकुल्लूकभट्टने लिखा है–'प्रथमं प्रदानं वाग्दानात्मकम्, तदेव भर्तुः स्वाम्यजनकम्। ततश्च वाग्दानादारभ्य ... भर्तृ-परतन्त्रा'।

सो उसकी मृत्युमें भी उसे गौणरूपसे 'विधवा' कहा जा सकता है, तब दिव्यादेवीको इस रीतिसे 'विधवा'–धवरहित कहा जा सकता है। 'इति तिष्ठामि दुःखेन वैधव्येन समन्विता' (८८।१३) यहां पर भी 'वैधव्य'का अर्थ 'धवरहित-पतिरहित दुःखिनी' है; अपने गत जन्मके पापोंसे वेचारी दिव्याको बिना पूर्ण पतिकी प्राप्तिके भी औपचारिक वैधव्य भोगना पड़ा। उसका विवाह न हो सका, पर ऐसी अपूर्णपतिका स्त्रीकेलिए ... कलि-व्यवस्थापक 'पराशरस्मृति'में विवाहका विधान है। ... शिवशर्माजीका पण्डितोंको गाली देना उसके पक्षकी शिथिलताका प्रमाण है, और पथिकको उसे उद्धृत करना उसकी अभिज्ञताका प्रमाण है।

शेष जो श्रीशिवशर्माने वैधव्यमें भ्रूणहत्याके पापसे जनताको डराया है, सो यह भ्रूणहत्याएँ तो वाद.के सम्प्रदाय द्वारा ... वर्षकी अविवाहित लड़कियोंमें भी हो रही हैं; तब क्या आप ... को कन्याओंकी विवाहायु बढ़ानेपर दुःख होता है या नहीं

आजकल तो सधवाएँ भी सन्तानके भारसे अपनेको बचानेके-लिए भ्रूणहत्याएँ कर रही होती हैं; अपने गर्भ गिरवा रही होती हैं। इसमें भी आप पाप मानते हैं वा नहीं? फिर इन्हें क्यों नहीं रुकवाते?

आगे वादी लिखता है—'कविरत्न-अखिलानन्द जी और शिवशर्माके मध्य विधवाविवाहपर शास्त्रार्थ हुआ था; उसमें कविरत्नजी बुरी तरह पराजित हुए थे। शिवशर्माजीने कहा था—११ दूने २२ के लगभग तो पुराणोंमें दिव्याके खसम बताये हैं-'एकविंशति-भर्तारः काले-काले मृतास्तदा' (यहाँ वादीने ११ के दूने २१ करके अपना गणितशास्त्रका अच्छा परिचय दिया है।) इसपर कविरत्नजीने कहा था कि-'दिव्याके २१ पति फेरे फिरनेसे पहले मर गये थे' यह उत्तर बिल्कुल ठीक था। आगे शिवशर्माजी-ने कहा-'यहाँ पद्मपुराणमें 'उद्वाहितायां कन्यायामुद्वाहः क्रियते बुधैः' ऐसा पाठ है-'उद्वाहिता'के अर्थ 'व्याही हुई' के हैं, न कि कुमारीके'।

यह लिखने वाला पथिक कविरत्नजीका पराजय दिखला रहा है। हम पहले दिखला चुके हैं कि-जहाँ 'उद्वाहिता' भी पाठ है; वहाँ आदिकर्ममें निष्ठा है, उसका अर्थ है-'विवाहयितुं प्रवृत्तायाः' इसमें हम मीमांसा कर चुके हैं, और फिर हमारे पक्षमें इतिहासका प्रत्यक्ष अनुग्रह भी है। दिव्यादेवीका पुराणमें कोई भी विवाह पूर्ण नहीं बताया गया; सप्तपदीसे पूर्व ही उसका पति मर जाता था। क्या किसी आर्यसमाजीमें शक्ति है कि-

दिव्याका पूर्णविवाह पुराणसे १०० वर्षतक भी, अथवा १०० जन्मों तक भी दिखला दे? जब नहीं दिखला सकता; तब 'उद्वाहिता'का 'क्त' प्रत्यय आदि-कर्ममें सिद्ध हुआ। जैसे कि-गीतामें 'प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते' (१।२०) में 'क्त' प्रत्यय आदिकर्ममें है कि-'प्रवर्तिष्यमाणे'। तभी तो अर्जुनके 'योत्स्यमानानवेक्षेऽहं' (१।२३) इस वाक्यमें भविष्यत्-काल है। तब शिवशर्माजीके आर्यसमाजी पक्षका सदाकेलिए पराजय हो गया; और कविरत्न-जीके सनातनधर्मी पक्षका सदाकेलिए विजय हो गया। अब पथिकजीकी प्रसन्नता हट गई, इसमें वह स्वयं साक्षी है। यदि वह यह नहीं मानता; तब प्रत्यक्ष असत्यवक्ता है।

(४३) आगे वादी 'पतितेपतौ' पर लिखता है-'आप 'अपतौ' पाठभेदका घृणित प्रयास करके वाक्छलसे वाग्दत्ता कन्याकेलिए विवाह मानते हैं। सभी विद्वान् 'पतौ' को शुद्ध पाठ और 'आर्ष' प्रयोग मानते हैं'।

वादीको पता होना चाहिये कि-'आर्ष'का अर्थ 'ऋषि' (वेद) का' यह होता है। जैसे-'सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे' (पा. १।१।१६)में 'आर्ष'का अर्थ 'वेदका' यह है। वैदिक-प्रक्रियामें 'षष्ठीयुक्तः छन्दसि वा' (१।४।९) षष्ठी पूर्वपदवाले 'पति' की 'घि' संज्ञा मानी जाती है। जैसे-'क्षेत्रस्य पतिना वयम्' (ऋसं. ४।५७।१) यहाँ 'क्षेत्रस्य' षष्ठ्यन्त' होनेसे पतिकी 'घि' संज्ञामें 'टा'को 'ना' हुआ। अन्यत्र घिसंज्ञा नहीं होती। इसी प्रकार 'ब्रह्मणस्पतेः' (ऋ. २।२४।१४) आदिमें भी।

पर वेदमें भी जहाँ 'पति'से पहले षष्ठ्यन्त पद नहीं होता; वहाँ 'घि' संज्ञा नहीं होती। जैसे-'पत्यो मे श्लोक उत्तमः' (ऋसं. १०।१५६।३) में तथा 'पत्यौ' (ऋ. ६।८२।४) 'पत्ये' (अ. ३।३०।३) 'पत्युः' (अ. १४।१।४२) आदि स्थलोंमें 'घि' संज्ञा न होनेसे 'पतौ' नहीं आया। इससे 'पतितेपतौ' में भी षष्ठ्यन्त-पूर्वपद न होनेसे इसमें आर्षत्वकी कल्पना कट गई। अब इसमें वादी फड़फड़ा नहीं सकता। हमने पाठभेद नहीं किया; पूर्वरूप होनेसे 'अपतौ'का 'पतौ' दीख रहा है।

सो 'क्लीबे च पतितेपतौ' में भी षष्ठ्यन्त पूर्वपद न होनेसे 'घि' संज्ञा नहीं हो सकती है। तब यदि यह आर्ष प्रयोग माना जाता, तो वादीसे मान्य म.म. पं. शिवदत्तजी तथा तत्त्वबोधिनी-कार जिनको वादीने सम्मानकी दृष्टिसे देखा है-इसकी अन्य प्रकारसे सिद्धि न करते। सीधा इसे आर्ष मान लेते; पर उन्होंने वैसा नहीं माना; बल्कि किसी भी प्राचीनने 'पतितेपतौ'में आर्षताकी कल्पना नहीं की। अकेले 'पतौ'की अशुद्धता प्राप्त होनेपर ही उन्हें यहाँ 'वाग्दत्तापति'के अर्थका बोध हो गया। तभी तो उन्हें अन्य प्रकारकी सिद्धि करनी पड़ी।

(ख) जो कि पथिक इसमें म.म. पं० शिवदत्तजीकी सम्मतिको सम्मान-दृष्टिसे देखता है; तो वह यहाँ अपने मान्य उनका भी मत सुने, जिससे वह फिर चीं-चपड़ नहीं कर सकेगा। वे लिखते हैं-'क्लीबे च पतिते पतौ' इत्यत्र तु 'अकृत-चतुर्थीकर्म' इति पूर्वपदस्य 'विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदलोपो

वक्तव्यः' इत्यनेन लोपे, 'अकृतचतुर्थीकर्म' इति पूर्वपदान्तर्गत-'चतुर्थीकर्मे'त्युत्तरपदस्य शाकपार्थिवादेराकृतिगणत्वेन लोपे, 'अपतौ' इति वा समास एव इति न घिसंज्ञाऽनुपपत्तिः' (सिद्धान्तकौ. श्रीवेङ्कटेश्वरप्रेसमें सं. १६८२ में मुद्रित सटिप्पण पृ. ३६ 'पति' शब्द पर) यहां वादीसे अपने साक्षी किये हुए म.म. पं० शिवदत्तजीने भी 'अपतौ' मानकर वादीके पक्षका कचूमर निकाल दिया है। अब तो वादीका दावा उष्ट्रलगुडन्यायसे अपने ही साक्षीसे बुरी तरह खारिज होगया।

तत्त्वबोधिनीकी टिप्पणीमें भी वादीसे अपने साक्षी किये हुए म. म. पं० शिवदत्तजीने हमारी भांति घिसंज्ञा मानी है। सुने वादी म. म. जी का सिंहनाद- 'वस्तुतस्तु पराशरस्मृतौ तु 'अपतौ' इत्येवच्छेदः। तथाच ईषदर्थकेन नञा सह समासे घिसंज्ञा निर्बाधैव। सप्तपदीतः प्राग् ईषत्पतित्वस्यैव सत्त्वेन'...(पृ. ८७) यहां पर पथिकजीका अपने ही साक्षीने उसका पक्ष गिराकर पथिकजी-को बुरी तरह पराजित कर दिया। फिर उसे अपील करने लायक भी नहीं रखा। इसमें हमारा पक्ष पूर्णरूपेण सिद्ध हो रहा है।

(ग) अब शेष रहा वादी-द्वारा तत्त्वबोधिनीकारके मतका उद्धरण। आश्चर्य तो यह है कि-जिस विषयमें वादीको ज्ञान नहीं है, उसमें भी वह अपनी टांग अड़ाता है। उसमें 'बहुव्रीहि'-प्रत्ययवाले 'बहुपति'-शब्दका उद्धरण तो अप्रकृत है। अब आगे 'क्लीबे च पतितेपतौ' यह पराशरका वचन प्रकृत है। वादी-द्वारा

अपने साक्षी बनाये हुए इस तत्त्वबोधिनीकारकी की हुई सिद्धि-से भी वादीका पक्ष अभी विच्छिन्न हो जायगा, यह विद्वान् 'आलोक' पाठक कौतुक देखें।—

(घ) वादीने 'पतौ'को शुद्ध पाठ तथा आर्ष प्रयोग सिद्ध करनेकेलिए तत्त्वबोधिनीका उद्धरण दिया है। यदि ऐसा होता; तो तत्त्वबोधिनीकार लिख देते कि-'पतौ' यह आर्ष प्रयोग है; तब फिर उन्हें 'तत्करोति' इस णिच्से सिद्ध करनेकी क्या आवश्यकता थी? इससे स्पष्ट सिद्ध हो रहा है कि-तत्त्वबोधिनी-कार श्रीज्ञानेन्द्रसरस्वतीने 'क्लीबे च पतिते पतौ' में 'पतौ' को वास्तविक (पूर्ण विवाहित) पति नहीं माना, किन्तु उसे अपूर्ण पति माना है; नहीं तो उन्हें इतने विस्तारकी क्या आवश्यकता थी? तभी तो तत्त्वबो.में उस 'पति' का विग्रह किया है कि-'पतिरित्याख्यातः पतिः' और अन्तमें लिखा है—'इति निष्पन्नोऽयं 'पति' शब्दः 'पतिः समास एव' इत्यत्र न गृह्यते, लाक्षणिकत्वात्'। अर्थात् यह 'पति' वह प्रतिपदोक्त (वास्तविक, पूर्णविवाहित) नहीं है; वह लाक्षणिक (अपूर्ण-विवाहित) है, 'पतिशब्द-व्यपदेश्य' है, नामधारी पति है, 'पति' इस नामसे कहा जाता है, सो वह गौणपति है, वास्तविक पति नहीं है। इस प्रकार उसका भाव भी वाग्दत्ता पतिसे है, पूर्णविवाहित पतिसे नहीं। नहीं तो श्रीज्ञाने. सर.को सुगम सिद्धि छोड़कर इस कठिन सिद्धिकी आवश्यकता नहीं थी। उन्हें यह प्रक्रिया-गौरव इसलिए ही करना पड़ा कि-पूर्णपति का तो सप्तमीमें 'पत्यौ' बनता है, पर पराशरके वचनमें उन्हें

वह पति इष्ट नहीं, किन्तु अपूर्ण, लाक्षणिक पति इष्ट है; अतः उन्हें यह प्रक्रियागौरव करना पड़ा कि-यह वह विवाहित, प्रतिपदोक्त 'पति' नहीं है, किन्तु उन्होंने बताया है कि-पराशरके पद्यमें 'लाक्षणिक-पति' (वाग्दानकालीन-पति) अर्थ है, जो 'पतिः समास एव' में गृहीत नहीं। इससे स्पष्ट है कि-तत्त्वबोधिनीकार पराशरके उक्त पद्यके 'पति'को 'विवाहित-पति'का वाचक भी नहीं मानते; और उसे 'आर्ष' प्रयोग भी नहीं मानते। अब वादीने समझ लिया होगा कि-उसका पक्ष कैसी प्रबलतासे विध्वस्त होगया। यह नामधातुका लाक्षणिक-पति अर्थ बताने-वाला प्रयोग है, वास्तविक-पतिवाचक नहीं। वह होता तो वहाँ उसे 'पत्यौ' लिखा जाता, 'पतौ' लिखनेपर वहाँ अशुद्धि होती।

(ङ) आगे वादी उस समयके आर्यसमाजी श्रीअखिला-नन्दजीका मत लिखता है, उसे हम क्या करेंगे? यदि वादी कहे कि-उसका खण्डन करो, तो वादी कान खड़े करके उसका खण्डन सुने। श्रीदीक्षितने मनोरमामें यही जो समाधान किया है, इसलिए कि-वे इस लाक्षणिक पतिको वाग्दानकालीन (सप्त-पदीसे पूर्वतकका) मानते हैं; तभी तो अपने 'चतुर्विंशतिमतसंग्रह'-में श्रीदीक्षितने स्पष्ट ही लिखा है—'दुष्टे तु पूर्वे वरे वाग्दत्ताऽपि वरान्तराय देया। तथा च पराशरः-'नष्टे...पतिते पतौ' अस्यार्थः-'वाग्दानानन्तरं पाणिग्रहणात् प्राक् पतौ-सम्भावितोत्पत्तिक-पतित्वे पूर्वस्मिन् वरे नष्टे' इत्यादि (पृ. ८७) श्रीदीक्षितने इस पतिको वाग्दानकालिक मानकर वादीके पक्षका खण्डन कर दिया है।

(च) जो कि आर्यसमाजी अखिलानन्दजीने लिखा था—'अकारको यदि अव्यय मानो गे; तो उसका पूर्वरूप नहीं होगा। इसलिए 'नञ्' का लगाना ठीक नहीं है' यह पथिकसे उद्धृत पाठ तो मूल-लेखक (श्रीअखि.) का आर्यसमाजके समयका व्याकरणमें अज्ञान सिद्ध कर रहा है। यदि ऐसा है; तो 'समुद्राङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे' (पा. १।३।७५)में श्रीपाणिनिने नञ् अव्ययका अकार सामने होनेपर पूर्वरूप कैसे कर दिया? यदि वादी चाहे; तो इस विषयमें हम स्वा.द.जीके भी कई उद्धरण दे सकते हैं।

(छ) 'अविधीयते' इस आख्यातिक-क्रियामें 'नञ्'का सम्बन्ध नहीं होता, यह वैयाकरणोंका सिद्धान्त है' यह पथिकका उद्धृत आर्यस. अखि.जीका लेख कुछ भी महत्त्व नहीं रखता। इस विषयमें 'आलोक' (८) पृ. ६४७ में देखना चाहिये। हम वहाँ पूर्ण समाधान कर चुके हैं। वादीने श्रीमेधातिथिके 'ये अविद्वांसः सम्यक् शास्त्रमजानते' (पृ. ७१) में इस वाक्यमें भी 'जानते' क्रियाके साथ नञ्-समास 'अजानते' के रूपमें कर डाला है। इसपर अब वह स्वयं अपने अखिलानन्दजीको उत्तर दे। अब पथिक बतावे कि—अब होगया न 'वैधव्यविध्वंसनचम्पू-' का विध्वंस! उसने जिसका खण्डन असम्भव समझ रखा था; अब वह सम्भव होगया। अब वादीके पास उत्तर नहीं।

अब वादीके दिव्यादेवीके २१ विवाह तो कहाँ, एक भी पूर्ण-विवाह वा पूर्ण-पति सिद्ध न हो सका। अपूर्ण विवाह होने

पर भी फिर भी बेचारी दिव्याको पति प्राप्त नहीं हो सका। यदि प्राप्त हुआ हो; तो वादी प्रमाण बतावे। तब दिव्याकी कथासे 'विधवा-विवाह'के स्वप्न देखना वादियोंके कल्पित ... की निराधारता बता रहा है। वादी किसी आर्यसमाजी-... भी ११ पतियोंसे विवाह न दिखला सका। वादी आदिके ... नियोगसे वा विधवा-विवाहसे दस पति न दिखला सका। ... ईश्वरचन्द्र-विद्यासागरका 'पतौ' को ठीक मानना भी खण्डित होगया। उनके विधवा-विवाहका तो स्वा.द.जीने ही खण्डन कर दिया; फिर हम किसलिए खण्डन करें। क्या वादी ईश्वरचन्द्रजीको स्वा.द.जीसे अधिक विद्वान् मानता है? यदि ऐसा है; तो अल्पज्ञ स्वा.द.जीका सम्प्रदाय वादी छोड़ दे।

(ज) नीचीवि. (पृ. ८३) में वादीने विधवाविवाहकी सिद्धिके लिए 'सा चेदक्षतयोनिः स्याद् गत-प्रत्यागतापि वा। पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति' (९।१७६) यह स्वा.द.जी ... लिखा हुआ मनुवचन दिया था। सप्तमपुष्प (पृ. ८६३) में ... स्थान न होनेसे इसपर अन्य पुष्पमें लिखनेकेलिए प्रतिज्ञा ... चुके थे। अब स्थान यहाँ भी न होनेपर भी 'यह प्रमाण आलोचनासे छूट न जाय'—इस विचारसे इसपर हम कुछ लिखते हैं। कई अन्य व्यक्ति इससे मिलता-जुलता 'निसृष्टायां हुते वा यस्या भर्ता म्रियेत सा। सा चेदक्षतयोनिः स्याद् गतप्रत्यागता सती। पौनर्भवेन विधिना पुनः संस्कारमर्हति' (४।१।१८) ... बोधसू. का वचन भी दिया करते हैं।

इसमें बोधायनका वचन तो स्पष्ट है। इसमें सन्देह कुछ भी नहीं। यहां 'निसृष्टायां' का अर्थ है—'उदकपूर्वं प्रत्ता' (कन्या-दानसंकल्पमें जल-द्वारा दान दी गई हुई)। 'हुते' का अर्थ 'होमे' है (जब हवन हो जाए), उस समय भर्ताकी मृत्यु हो जावे; तो उसका फिर संस्कार हो सकता है'। सो यह वचन भी सप्तपदीसे पूर्वताका बोधक है; उस समय तो उसका अन्य पुरुषसे विवाह शास्त्रीय है। सनातनधर्म मनुजीके अनुसार सप्तपदीके बाद-क्योंकि मनुजी सप्तपदीमें विवाहकी पूर्णता मानते हैं (८।२२७) अथवा जो गृह्यसूत्रोंके अनुसार चतुर्थीकर्मको ही विवाहकी पूर्णता करनेवाला मानते हैं, तदनुसार चतुर्थी-कर्मके बाद मृत-पतिका स्त्रीका पुनर्विवाह वैध नहीं मानता; उससे पूर्व तो मानता है। क्योंकि-वह उस समय वास्तविक विधवा नहीं होती; कारण-उस समय उसका विवाह पूर्ण ही नहीं होता। अतएव वह विवाह्यमान पति भी पूर्ण पति (धव) नहीं होता। अवशिष्ट है—मनुपद्य, इसपर हम लिखते हैं।—

उक्त मनुपद्यसे पूर्वका पद्य यह है—'या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया। उत्पादयेत् पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते' (मनु. ९।१७५) इसका अर्थ यह है कि—जिस बालाको पतिने स्वयं छोड़ दिया है; इसलिए औपचारिक विधवा (पति-रहिता) कही जा रही हो; अथवा अपनी इच्छासे ही जिस बालाने पति-को छोड़ दिया हो; इसलिए उपचारसे विधवा कही जा रही हो; यदि वह क्षतयोनि नहीं है; संस्कारमात्र जिसका हुआ हो; वा

वह भी न हुआ हो; वह स्त्री यदि अन्य पुरुषसे विवाह करके जिस लड़केको पैदा करती है; उस लड़केका नाम पौनर्भव हुआ करता है। यह 'पौनर्भव'की परिभाषा है। इस प्रकारकी स्त्रीका पुनर्विवाह भी सर्वसाधारणसे नहीं हुआ करता; बल्कि ऐसी स्त्रीसे पैदा हुए पौनर्भव (पारिभाषिक पूर्वोक्त) पुरुषसे हुआ करता है।

स्पष्ट है कि-यह पद्य भी सप्तपदी वा चतुर्थी-कर्मसे पूर्वताका बोधक है। कई वर ऐसे होते हैं; जब विवाह हो रहा होता है, तब 'परस्परं समञ्जेथाम्' के समय जब उस स्त्रीका मुख देख लेते हैं, क्योंकि-तब ऐसी विधि है—उस समय उसे अपने अनुसार सुन्दर न जानकर उस समय अपना हो रहा हुआ विवाह उससे कैन्सिल कर देते हैं; इसी प्रकार कई निर्लज्ज लड़कियां भी उसी 'समञ्जन'के अवसरपर पतिको सुन्दर न समझ कर उससे अपना विवाह तोड़ देती हैं; ऐसे दोनों ही अवसरों पर 'प्रदानं स्वाम्यकारणम्' (मनु. ५।१५२) के अनुसार स्वामिहीन हो जानेसे स्त्री औपचारिकरूपमें विधवा कही जाती है; क्योंकि-उस विवाहके मध्यकालमें पतिने उसे छोड़ दिया, वा पतिको इसने छोड़ दिया; दोनों ही प्रकारसे वह उपचारसे विधवा कही जाती है।

यद्यपि सप्तपदीसे पूर्व पति मर जावे; उस विधवा तथा पूर्व-प्रोक्त विधवामें कोई अन्तर तो नहीं दीखता; तथापि अन्तर है-अवश्य। वह यह है कि—उस अवसरपर सप्तपदीसे पूर्व उसका

पति यमराजके कारण मरा; इसलिए वहां न तो उस लड़कीका कोई कसूर है, और न मरनेवाले पति का। परन्तु जिसने अपनी इच्छासे ही उस पतिको छोड़ा; वह तो अपराधिनी है ही; और जिसे पतिने छोड़ा, उसमें भी कुछ विधिव्यतिक्रम उसने प्राप्त कर ही लिया। इसलिए वह कुछ दोष वाली है। उस अवसरपर सप्तपदीसे पूर्व मृत-पतिका बालाका विवाह तो स्मृतियोंमें माना गया है, यद्यपि उत्तम तो वह भी नहीं माना जाता; क्योंकि—'सकृत् कन्या प्रदीयते' (मनु. ९।४७, ९।७१, ९।९९) तथापि उसका अच्छे कुल वालेसे विवाह वैध माना जाता है। जैसेकि—वसिष्ठने कहा है—

'अद्भिर्वाचा च दत्तायां म्रियेतोर्ध्वं वरो यदि। न च मन्त्रोपनीता स्यात् कुमारी पितुरेव सा' (१७।६४) पाणिग्राहे मृते बाला केवलं मन्त्रसंस्कृता। सा चेद् अक्षतयोनिः स्यात् पुनः संस्कारमर्हति' (६६) इस प्रकारके पद्य सप्तपदीसे पूर्वताके बोधक हैं। परन्तु उक्त मनुदर्शित लड़कीका तो कुलीनसे विवाह नहीं हो सकता; इसी कारण पौनर्भव (वैसे ही निन्दित) के साथ विवाहकी अभ्यनुज्ञा दी गई है। परन्तु इसपर यह जानना चाहिये कि—इस प्रकारके पद्य विधिशास्त्र नहीं हुआ करते। विधिशास्त्र ही धर्म होता है; जैसे कि कहा गया है—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (मी. १।१।२)। विधिशास्त्र तो मनु आदिकी स्मृतिमें यह कहा गया है—'न तु नामाऽपि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते (मृते) परस्य तु' (५।१५७), 'न विवाहविधावुक्तं विधवा-वेदनं पुनः' (मनु.

९।६५)। इस प्रकारके व्यक्तियोंका समाजमें थोड़ा स्थान है—इसी बातको सूचित करनेकेलिए ही इनकी कहीं अभ्यनुज्ञा आती है। इससे वादियोंकी भी इष्टसिद्धि नहीं, क्योंकि—वे तो मृतपतिका बालाका विवाह चाहते हैं; पर वह कही विधवा तो वस्तुतः विधवा नहीं है, किन्तु जीते हुए वाली है; तब उसके विवाहसे विधवाविवाह कैसे सिद्ध सकता है?

यदि इस प्रकारके वाक्योंको भी विधिशास्त्र माना तब तो स्मृतियोंमें कानीन (क्वारीका लड़का), चाण्डाल, कुण्ड, गोलक आदिका भी वर्णन एवं व्यवस्था आती है; भी वर्णन तथा प्रायश्चित्त आता है; तब क्या एतदादिक कर्तव्य मान लिये जावेंगे? ऐसा कभी नहीं होता। कहती हैं कि—ब्राह्मणी शूद्रके सङ्गमसे चाण्डालको पैदा है, तब क्या स्मृतिमें इतने उल्लेखमात्रसे ब्राह्मणीका सङ्गम वा विवाह विधिशास्त्र हो जावेगा? ऐसा नहीं न कोई ऐसा मान ही सकता है। ऐसा माननेपर तो वैसी सन्तानोंकी निन्दाके वचनोंका व्याकोप हो जावे! पारिभाषिक पौनर्भव लड़केसे वैसी विधवाका संस्कार है, जिस उस जैसीका पुत्र 'पौनर्भव' माना गया है; विषयमें स्मृतियोंकी सम्मति देखिये कि—वह उस विषयमें अपना क्या मत रखती हैं?—

'पौनर्भवश्च काणश्च यस्य चोपपतिर्गृहे' (मनु. ३।१५५)

विगर्हिताचारान् अपाङ्क्तेयान् नराधमान्। द्विजातिप्रवरो विद्वान् उभयत्र विवर्जयेत्' (मनु. ३।१६७) 'भस्मनीव हुतं हव्यं तथा पौनर्भवे द्विजे' (मनु. ३।१८१) 'पौनर्भवस्तथा वर्ज्यः' (प्रजापतिस्मृति ८२-८४) 'पौनर्भवस्तथा। षड् अदायादबान्धवाः' (मनु. ६।१६०-१६१) 'परपूर्वा (पुनर्भू) पतिस्तथा। वर्जनीयाः प्रयत्नतः' (३।१६६) 'दिधिषूपपतिर्यः स्याद् अग्रे दिधिषुरेव च।···पूर्वपूर्वस्तु गर्हितः' (महा. शान्ति. ३४।४) 'अप्रशस्तास्तु कानीन-गूढोत्पन्न-सहोढजाः। पौनर्भवश्च, नैवैते पिण्डरिक्थांशभागिनः' (वीरोदयमित्रमें विष्णुका वचन)। इस प्रकार बृहत्पराशरस्मृतिमें भी कहा है—'आसां (चार प्रकारकी स्वैरिणियोंका) पुत्राश्च ये जाताः ते वर्ज्या हव्यकव्ययोः। तथैव पतयस्तासां वर्जनीयाः प्रयत्नतः' (५।३६५)। 'सर्ववर्णेषु तुल्यासु' इस मनुपद्यकी व्याख्यामें मेधातिथिने भी कहा है—'अक्षतयोनिग्रहणं पुनर्विवाहे पत्नीत्वमाशङ्क्यमानं निवर्तयति'। अक्षतयोनिषु—परिणेतुरन्येन असंस्पृष्टासु। एतेन पौनर्भवस्यापि अब्राह्मण्यमुक्तम्' यह यहां राघवानन्दने कहा है।

'अस्या अपि न भोक्तव्यं पुनर्भूः कीर्तिता हि सा' (बृहत्परा. ५।६४) 'उपपत्न्याः सुतो यस्तु यश्चैव दिधिषूपतिः। परपूर्व-पतेर्जातः सर्वे वर्ज्याः प्रयत्नतः' (५।३६७)। 'उपपतिः स्मृतो यश्च यश्चैव दिधिषूपतिः। परपूर्वापतिर्यश्च वर्ज्याः सर्वे प्रयत्नतः' (३६८)। इस प्रकार नारदस्मृतिके व्यवहारपादमें भी देखा जा सकता है। उस (१२।४६-४७) में पौनर्भव आदि पुत्रोंको जघन्य माना गया है।

जब मनु आदियोंने इस प्रकार पौनर्भवकी निन्दा कही है; तब क्या वे वैसा करनेकी विधि कभी कर सकते थे? इससे स्पष्ट है कि—यह विधिशास्त्र नहीं हैं। विधिशास्त्र तो इसे निषिद्ध करते हैं, जैसे कि—'पूर्ववत्यामसंस्कृतायां वर्णान्तरे च मैथुनं दोषः' (आपस्तम्ब ध.सू. २।१३।३) तत्रापि दोषवान् पुत्र एव' (४)।

'नहीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते। यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम्' (४।१३४) यहाँपर मनुजीने परस्त्रीका सेवन निषिद्ध एवं निन्दित ठहराया है। तब जो लोग कहीं 'पौनर्भव' तथा 'पुनर्भू' शब्दोंको देखकर अपने पक्ष विधवाविवाहकी पुष्टि देखते हैं; उनका अभिप्राय सिद्ध न हुआ। वैसे उल्लेखमात्रसे वैसी विधि सिद्ध नहीं हो जाती, किन्तु विधिवाक्यसे ही विधि हुआ करती है। नहीं तो—नाम तो चोरका भी स्मृतियोंमें आता है, तथा चाण्डाल आदिका भी, कुण्ड-गोलक आदिका नाम भी आता है; पर उससे वैसी विधि नहीं हो जाती। पुनर्भू, पौनर्भव आदियोंकी शास्त्रोंमें निन्दा दीखनेसे 'पुनर्भू' शब्दमात्रसे विधवाविवाहकी सिद्धि नहीं हो सकती।

जो कि कई व्यक्ति कहते हैं कि—'या पत्या वा परित्यक्ता' इत्यादि पुनर्विवाहकी सन्तान अन्ययुगमें 'पौनर्भव' भले ही कही जावे, परन्तु कलियुगमें भगवान् पराशर उसे औरस ही मानते हैं। यदि वह उसे औरस न मानते; तब औरस, क्षेत्रज, दत्त (कृत्रिम) इन तीन सन्तानोंको बता कर वह चतुर्थ संख्यामें 'पौनर्भव'को भी अवश्य रखते, पर नहीं रखा; इससे स्पष्ट है कि—

कलिकेलिए व्यवस्थापित पराशरस्मृतिमें पौनर्भव औरसमें ही अन्तर्भूत होता है'।

यह कथन ठीक नहीं। विधवाके पुनर्विवाहमें उसकी संज्ञा 'पुनर्भू' और उसके पुत्रकी संज्ञा पौनर्भव कही जाती है। स्मृतिकारोंने दोनोंकी निन्दा की है—'भस्मनीव हुतं द्रव्यं तथा पौनर्भवे द्विजे' (मनु. ३।१८१) विधवाविवाह माननेवालोंके सामने यह प्रश्न बड़ा विकट होता है; उसका उत्तर कोई भी विधवाविवाहप्रेमी आज तक नहीं दे सका। उस निन्दित पौनर्भवको पराशरस्मृतिसे उडानेकेलिए वादियोंका यह प्रयत्न है। इससे वादियोंके मतमें भी पराशरस्मृतिसे भिन्न अन्य सभी स्मृतियोंमें पौनर्भवकी सत्ता तथा निन्दितता सिद्ध हो चुकी। अवशिष्ट रही पराशरस्मृति, उसमें केवल दत्तक पुत्रका लक्षण लिखा है, औरसका नहीं लिखा। और वहाँ यह तीन पुत्र उपलक्षणमात्र हैं, केवल इतनी इयत्ताकेलिए नहीं हैं कि—इससे भिन्न न हों। जैसे कि उसकी व्याख्या पराशरमाधवमें कहा है—'औरसः क्षेत्रजश्चैव' एतश्च द्वादशविधानां पुत्राणामुपलक्षणम्। ते च मनुना दर्शिताः, 'औरसः क्षेत्रजश्चैव' इत्यादि। तब उसके मतमें भी पौनर्भव पुत्रकी सिद्धि हो जानेसे उसकी औरसता खण्डित हो गई।

इस प्रकार 'पौनर्भवेन भर्त्रा सा' यह मनुपद्य व्याख्यात होगया।

(४४) आगे वादीने भविष्यपुराणसे एक त्रिपाठीकी स्त्रीका

व्यभिचार दिखलाकर उसका नियोग बताया था; इसपर हमने लिखा था कि—'तब तुम्हारा नियोग भी व्यभिचार सिद्ध होगया'। इसपर झेंपकर वादी कहता है कि—'मैंने उसे 'विचित्र नियोग' लिखा था; पर भविष्यपुराण'में 'विचित्र नियोग' शब्द भी नहीं वहाँ तो 'बुभुजे कामपीडिता' लिखा है, तब 'कामपीडित' पुरुषोंका अन्यसे व्यभिचार भी यदि 'नियोग' है; तो वादीको बधाई हो। आर्यसमाजियोंका 'आचार्य' (उसके शब्दोंमें अचार्य) वह स्वयं जब व्यभिचारको भी नियोग कह रहा है; तब आर्यसमाजियोंको भी व्यभिचार (नियोग) के प्रचारकी बधाई हो। इस व्यभिचारके आदेशका श्रेय वादीके तथाकथित 'महर्षि' देना पड़ेगा; भविष्यपुराणको नहीं, क्योंकि—स्वामीने स्त्री लिख दिया है 'यदि स्त्रीसे न रहा जाय (वह कामपीडित जाय); तो किसीसे नियोग (पथिकके शब्दोंमें व्यभिचार) सन्तान पैदा कर ले'। भविष्यपुराणमें विधि नहीं।

(ख) हमने लिखा था कि—'इतिहासका आचरण प्रमाण नहीं होता'। इसपर वादी कहता है कि—'यह ठीक नहीं' अर्थात् वादीके मतमें इतिहासका सभी प्रकारका आचरण होता है; तब तो रावण जो ब्राह्मण था, उसका आचरण वादी ग्राह्य मानकर दूसरोंकी स्त्रियोंको चुराया करता है युधिष्ठिरका ऐतिहासिक-आचरण जुआ भी खेलता है स्वा.द.जीका आचरण मानकर हुक्का-भांग पीया करता है नसवार सूँघा करता होगा। अपने बच्चोंको मूर्तिपूजा

करता होगा। छोटी आयुमें अपने घरसे भाग गया होगा; और शुरूसे ही संन्यासी बन गया होगा। स्वामीजी वादीके अनुसार राक्षस तो थे नहीं; कि-उनका आचरण ग्राह्य न हो; वादी अपने स्वामीके ऐतिहासिक-आचरणको क्यों नहीं लेता? अपनी स्त्रियोंको (कामिनीवाला) ऐतिहासिक आचरण वह क्या करानेकेलिए तैयार है?

सनातनधर्म तो यह कहता है कि-'यानि अस्माकँ सुचरितानि; तानि त्वया उपास्यानि नो इतराणि' (तै. उ. शि. ११।२) इसीलिए 'वेदः स्मृतिः सदाचारः' (मनु. २।१२) में 'सदाचार'को तीसरा पद दिया गया है, प्रथम-द्वितीय नहीं। इसी विषयमें वादीको 'आलोक' (७) (पृ. ३१-३६, ४३-४७) में देखना चाहिये। मनुस्मृतिके परिशिष्टमें 'धर्मव्यतिक्रमो वै हि महतां साहसं तथा। तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदत्येव रजोबलः।' यह स्मृतिचन्द्रिकामें मनुपद्य उद्धृत किया गया है। तब इतिहासाचरण सारा ग्राह्य नहीं होता।

(ग) वादी लिखता है—'आपके विश्वासके अनुसार तो पुराण पञ्चम वेद है, फिर इस प्रमाणको माननेमें आप आनाकानी क्यों करते हैं?' वादीको याद रखना चाहिये कि-कोई भी ग्रन्थ हो, चाहे वेद भी; उसमें विधिवाक्य ही प्रमाण एवं अनुसरणीय होता है, विधिसे भिन्न वाक्य अनुसरणीय नहीं होता। वेदमें 'योषा जारमिव प्रियम्' (ऋ. ६।३२।५) 'जारं न कन्या' (६।५६।३) 'जारः कनीन इव' (१।११७।१८) 'प्रियां न जारः' (६।६६।२३) यह लिखा है; तब क्या इस वेदवाक्यसे कोई वादीकी स्त्री वा कन्या जारका ग्रहण कर लें, कोई दयानन्दी 'एत्यभि सख्युर्जामिम्' (ऋ. ६।६६।२२) इस मन्त्रके निर्देशसे मित्रकी स्त्रीके गमनको वैदिक मान लें, तो यह क्या वैदिक हो जायगा? 'रहसूरिव' (ऋ. २।२६।१) कोई २४ वर्षकी आर्यसमाजिन कुमारी गुप्त प्रसव कर ले; तब वह क्या वैदिक हो जायगा? हमारे मतमें तो उक्त पुराणवचन वा वेदवचन भी विधिवाक्य न होनेसे ग्राह्य नहीं।

स्वा.द.जीने ऋभाभू.में लिखा है—'यथा मांसाहारी पुष्टं पशुं दृष्ट्वा तन्मांसभक्षणेच्छां करोति' (शता.पृ. ६७५) 'यथा मांसाहारी पुष्टं पशुं दृष्ट्वा तं हन्तुमिच्छति' (पृ. ५५१) 'जैसे मांसाहारी-मनुष्य पुष्ट पशुको मारके उसका माँस खा जाता है' (पृ. ६८०), तब क्या वादी स्वा.द.जीके इस लेखमात्रसे इसे ग्राह्य मान लेगा?

वस्तुतः ऐतिहासिक आचरण ग्राह्य नहीं होता। जैसे कि-श्रीमद्भा. में लिखा है-'नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः। विनश्यत्याचरन् मौढ्याद् यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्' (१०।३३।३१) ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्। तेषां यत् स्ववचो युक्तं (धर्मशास्त्रसिद्धं) बुद्धिमान् तत् समाचरेत्' (३२) तब व्यर्थ बातें लिखनेवाले भ्रान्त-पथिकका भटकना ही सिद्ध हो गया। 'ब्रह्माके मुखसे कामिनीका विचित्र नियोग' कहीं भी नहीं निकला, हाँ, स.प्र.में वादीके तथाकथित 'महर्षि'के मुखसे ही विचित्र

नियोग निकला है कि-'पुरुषसे...वा स्त्रीसे न रहा जाय, तो किसीसे नियोग (मैथुन वा व्यभिचार) करके' (पृ. ७४)

सो कामिनीकी कथाका उदाहरण मानकर वादी स्त्रियाँ भी अपने उपदेशक पतिके किसी अन्य नगरकी समाजमें जानेपर, न रह सकनेपर विचित्र 'नियोगधर्म' पूरा कर ही लिया करती होंगी। 'जारं न कन्या' इन पूर्वोद्धृत वेद-मन्त्रानुसार वादीकी कन्याएँ जार-सम्बन्ध वैदिक समझकर अनुसृत कर लेती हैं-क्या? हमारे यहाँ तो इतिहासका आचरण प्रमाण नहीं होता; नहीं तो नल-युधिष्ठिर आदिका जुआ खेलना भी अनुकर्तव्य हो जावे? मालूम होता है कि-पथिकके पास इन निकम्मी वातोंके-लिए समय वहुत है। उसका वह प्रमाण विधिशास्त्र न होनेसे अनुचित है। 'लोकव्यवहार-व्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः' (न्याय. ४।१।६२) यह व्यवस्था धर्मशास्त्रके अधीन होती है, लोकवृत्त वनानेवाले इतिहासके आचरणके अधीन नहीं।

(घ) वादीने स्वा.द.के भाष्यपर म.म. गिरिधरशर्माजीकी सम्मति देते हुए म.म.जीका वास्तविक अभिप्राय बिन्दियोंमें छिपा दिया था; हमने उस रहस्यको खोल दिया। अब वादी बतावे कि-उनका पूरा उद्धरण उसने क्यों नहीं दिया? बिन्दियोंमें क्यों छिपाया? अब म.म. द्वारा स्वामीके भाष्यकी आलोचना भी बिन्दियोंमें छिपानेसे वादीका अपने शब्दोंमें क्या 'छिछोरपन' प्रकट नहीं हो गया। इस प्रकार श्रीरामगोविन्द त्रिवेदीने भी जो पृ. ३३६ के ३य ४र्थ पैरेमें तथा पृ. ४०३ पं. १४ आदिमें

स्वा.द.के भाष्यका विरोध किया था; उसे छिपा दिया। इ... वादीकी प्रकृति पूर्वापरके छिपानेकी सिद्ध हो जाती है।

(४५) वादीका पृ. ६२ में यह कहना गलत है कि-'आश्वलायन आपस्तम्ब आदि ऋतुमती-विवाह चाहते हैं'। यह ठीक नहीं... सभी शास्त्र ऋतुमतीत्वसे पूर्व ही विवाह बतलाते हैं, यह ह... अन्यत्र सिद्ध कर चुके हैं। 'अष्टवर्षा भवेद् गौरी' से एक... वर्षकी कन्याका विवाह सिद्ध नहीं होता। इससे ऋतुमतीत्वसे कुछ पूर्व विवाह सिद्ध होता है। यह हम गत निबन्धों... लिख चुके हैं।

सो जब कन्या पतिके घर आकर ऋतुमती हो, तभी ... चतुर्थ दिनके वाद आश्वलायन आदि गर्भाधान आदिष्ट करते हैं। परन्तु स्वामीने विना किसी निमित्तके, ऋतुमती होनेके ... कम से कम चौथे वर्ष बाद, अथवा १४४ बार रजस्वला हुई-हुई... विवाह माना है-यह शास्त्रविरुद्ध है।

शेष है गान्धर्वविवाह, वह 'निर्मन्त्रो रहसि स्मृतः' (... आदि. ७३।२७) बिना मन्त्रके माना जाता है, पर स्वा.द.ने... विवाहसंस्कार मन्त्रमय माना है, अतः वह गान्धर्वविवाह... विषय नहीं। तव उसमें सत्यवतीके विवाहका संघटन नहीं... सकता। उसमें तो दिव्य संयोग हुआ, उसी समय व्यास ... भी हो गये, और उसी समय पिताके साथ चले भी गये। ... वादी इसे सृष्टिक्रमविरुद्ध होनेसे यदि नहीं मानता, तब तो ... इतिहासका उद्धरण वादी कर भी नहीं सकता। 'सति कुक्ष्यं ...

भवति' ।

(ख) अब तो वादी आगे सनातनी बन गया। सप्तपदीके समय पतिकी मृत्युमें वह लड़कीका विवाह कराने लगा है। सनातनधर्मी भी तो यही शुरूसे कहते चले आ रहे हैं। उस समय तो वह 'यथा कन्या तथैव सा' होती है; पर क्या वादी उस समय उसे विधवा मानता है ? यदि वादी आर्यसमाजमें पुनर्विवाहका अवसर कम मिलना मानता है; तब आर्यसमाजी विधवाविवाह क्यों कराते हैं ? नियोग क्यों नहीं कराते ? हमारे शास्त्रोंमें विवाह ऋतुमतीत्वसे कुछ पूर्व ११-१२ वर्षकी अवस्थामें कन्याका माना जाता है। हाँ, गुणवान् वर मिलनेमें देरी हो जानेपर, अथवा विशेष परिस्थितिवश लड़कीका १५-१६ वर्षमें भी विवाह माना है (मनु. ६।६०) एक-दो वर्षकी कन्याओंका विवाह कोई भी सनातनधर्मका ग्रन्थ नहीं मानता; तब उसपर उपालम्भ व्यर्थ है।

यह हर्षकी बात है कि-वादीने विवाह होजानेपर अपने यहां अक्षतयोनि लड़की कोई नहीं मानी; क्योंकि-उनमें तुरन्त ऋतुदान हो जाता है। तब आर्यसमाजियोंसे चालू किया विधवा-विवाह भी खण्डित हो गया; क्योंकि-स्वा.द.जीके अनुसार वह शूद्रोंमें होता है, द्विजोंमें नहीं। तब जो क्षतयोनिका विवाह करनेवाले आर्यसमाजी हैं; वे स्वामीके अनुसार शूद्र हुए। वे तो सन्तानवाली विधवाओंका विवाह भी कर रहे होते हैं, तब तो वे अतिशूद्र होंगे।

(ग) जो कि वादी याज्ञवल्क्यके वचनसे क्षता और अक्षता दोनों स्त्रियोंका विवाह सिद्ध करता है, उसका यह कथन तो व्यर्थ है। याज्ञवल्क्यने तो 'अविप्लुत-ब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्। अनन्यपूर्विकां कान्ताम्' (१।३।५२) यहाँ पर 'अनन्यपूर्विका' लड़कीके विवाहका आदेश दिया है। फिर वहाँ बताया है कि-'अनन्यपूर्वा'से विरुद्ध 'अन्यपूर्विका' क्या होती है ? उसीकेलिए उसने लिखा है-'अक्षता च क्षता चैव'। यह वचन किसी विधिके-लिए नहीं दिया गया।

यही बात प्रकृतपद्यकी अवतरणिकामें मिताक्षरामें भी दी है। देखिये-'अनन्यपूर्विकाम्' इत्यत्र अनन्यपूर्विका परिणेयर (विवाहनीया) उक्ता; तत्र 'अन्यपूर्वा' कीदृशी-इत्याह-'अक्षता-चेति') श्रीयाज्ञवल्क्यने अनन्यपूर्विकाका [जो पहले और की न रही हो] विवाह कहा है, तो 'अन्यपूर्विका' क्या होती है; अब यह बताते हैं-'अक्षता च इति'।) सो वह तो 'पुनर्भू' (अन्यपूर्वा) का लक्षण है, पुनर्भूत्वकी विधि (आज्ञा) नहीं। नहीं तो उसीके उत्तरार्धमें 'स्वैरिणी या पतिं हित्वा सवर्णं कामतः श्रयेत्' (आचारा. ३।६७) यह लिखकर स्वैरिणी (स्वेच्छाचारिणी, व्यभिचारिणी) का लक्षण भी किया गया है; तब क्या व्यभिचार भी वादीका 'वैदिकधर्म' होगा ? वादीने जो यहाँ उच्छृङ्खल भाषण किया है, ऐसी स.ध.के किसी ग्रन्थमें आज्ञा नहीं। यह तो वादियोंके स.प्र.में लिखा मिलता है कि-'न रह सके' इत्यादि। सो उसीके प्रचार होते रहनेसे, इस विषयमें शास्त्रार्थ करते रहनेसे, स्त्री-

पुरुषोंपर उसके दुष्प्रचार पड़ते रहनेसे उसके दुष्परिणामस्वरूपमें उन्हींको देखकर यह गड़बड़ियाँ कहीं-कहीं होती हैं; पर वादीके सम्प्रदायमें स्त्रियोंकी 'शुद्धि' तथा उनसे जो 'वैदिकधर्म' उनकी विधवा-संस्थाओंमें कर लिया करते हैं-यह कोई छिपी हुई बात नहीं-यह समाचारपत्रोंमें प्रकट है। इस प्रकारके लैक्चर करके आप लोग शान्त-विधवाओं और पुरुषोंको उत्तेजित करके और लड़कियोंके विवाहकी आयु बढ़ा-बढ़वाकर उनसे 'आर्यसमाज' करके भ्रूणहत्याओंके कारण बनकर 'स्वयमक्षि आकुलीकृत्य अश्रुकारणं पृच्छसि' के उदाहरण बन रहे होते हैं।

(४६) याज्ञवल्क्यने 'अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्। अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम् (अपनेसे छोटी)' (१।५२) इस विधिवचनसे अन्यपूर्विका (जो पहले दूसरेकी रही हो) से विवाहका निषेध किया है, तब श्रीयाज्ञवल्क्यके मतमें पुनर्भू (अन्यपूर्विका) के विवाहकी विधि न होनेसे उसका आदेश सिद्ध न हुआ। इसी प्रकार वसिष्ठने भी लिखा है—'अस्पृष्टमैथुनां यवीयसीं (आयुमें छोटी) सदृशीं भार्यां विन्देत' (८।१) यहाँ भी स्पृष्टमैथुनासे विवाहका निषेध कर दिया गया है। इससे स्पृष्ट-मैथुना आर्यसमाजी विधवाओंका विवाह कभी नहीं हो सकता, तब यदि कहीं पुनर्भूका वर्णन आ जावे, उससे पुनर्भूत्वकी विधि नहीं हो जाती है। धर्मशास्त्रोंमें 'चाण्डाल'का वर्णन भी आता है। पति शूद्र और ब्राह्मणी स्त्री होनेपर चाण्डालकी उत्पत्ति कही है; तब क्या मनुस्मृति-आदिमें चाण्डालका वर्णन दिखलाकर

उससे वादी ब्राह्मणीकी शूद्रसे विवाहकी विधिको न्याय्य [illegible] लेगा? शास्त्रोंमें तो पुनर्भूके अन्न खानेका भी निषेध है। जैसे कि–'अन्यदत्ता तु या कन्या पुनरन्यस्य दीयते। अपि [illegible] न भोक्तव्यं पुनर्भूः सा प्रकीर्तिता' (बृ. पराशर. ५।५६) 'पर[illegible] पतिस्तथा।...वर्जनीयाः प्रयत्नतः' (मनु. ३।१६६) 'भस्मनीव [illegible] हव्यं तथा पौनर्भवे द्विजे' (मनु. ३।१८१) इत्यादि वचनों[illegible] अन्यपूर्विका स्त्रीकी निन्दा की गई है।

वेदमें भी 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्' (अ. ११। ५।१८) कन्याका विवाह कहा है, पूर्व-विवाहिताका नहीं, क्योंकि वह कन्या नहीं रहती। सो विवाहिताका विवाह वेदविरुद्ध है। गौतमस्मृतिमें भी 'भार्यां विन्देत अनन्यपूर्वां यवीयसीं' (छोटी आयुकी) (४।१)। व्यासस्मृतिमें भी 'अनन्यपूर्विकां [illegible]' (२।३) 'अनन्यपूर्विकाम्' इति, दानेन उपभोगेन वा पुरुषान्तर[illegible] गृहीताम्'। अनेन पुनर्भूर्व्यावर्तते। याज्ञ. मिताक्षरोंमें भी लि[खा] है—'अनन्यपूर्विकाम्-दानेन उपभोगेन वा पुरुषान्तरापरिगृही-ताम्'। वात्स्यायनकामसूत्रमें भी लिखा है—'सवर्णायाम् अन[न्य]-पूर्वायाम्'। तब क्या वादीके अनुसार स्वा.द.जीने पौराणिक टीकाकारको प्रमाण मानकर विधवाविवाह लिखकर वादी[के] शब्दोंमें 'छिछोरपन' किया है? अब 'वैदिक' (?) जीने [illegible] पौराणिकोंके आगे माथा टेक दिया !!!

(४७) अब आगे वादी 'नारदस्मृति'से 'अष्टौ वर्षाण्युदीक्षेत ब्राह्मणी प्रोषितं पतिम्। अप्रसूता तु चत्वारि परतोऽन्यं [illegible]

श्रयेत्' (१२।६८) इत्यादि पद्यसे क्षतयोनिका पुनर्विवाह दिखलाता है, तब क्या स्वा.द.जीने नारदस्मृतिसे ही क्षतयोनिका पुनर्विवाह माना है ? स्वामी तो क्षतयोनिका पुनर्विवाह शूद्रमें मानते हैं; द्विजोंमें नहीं। और वे मनुस्मृतिके अतिरिक्त अन्य किसी भी स्मृति-को नहीं मानते। तब इन वचनोंको शूद्रोंमें चरितार्थ माना जा सकता है।

नारदस्मृतिके विषयमें यह जानना चाहिये कि-इसमें धर्म प्रधान नहीं, किन्तु राजनीति प्रधान है; तब राजनीतिका वचन धर्मशास्त्रोंसे बाँधा जाता है। श्रीयाज्ञवल्क्यने अपनी स्मृतिमें लिखा है—'अर्थ-(राजनीति.) शास्त्रात्तु बलवद् धर्मशास्त्रमिति स्थितिः' (व्यवहारा. २१)।

कादम्बरीमें राजकुलका श्लेषसे वर्णन करते हुए लिखा है—'नारदीयमिव वर्ण्यमानराजधर्मम्'। इससे सिद्ध होता है कि-नारदीय-शास्त्रमें राजधर्मका वर्णन है। नारदस्मृति स्वयं भी यही बताती है। उसमें १ व्यवहार-दर्शन १ ऋणादान, २ औप-निधिक, ३ सम्भूयसमुत्थान, ४ दत्ताप्रदानिक, ५ अभ्युपेत्य शुश्रूषा, ६ वेतनस्य अनपाकर्म, ७ अस्वामिविक्रय, ८ विक्रीया-सम्प्रदान, ६ क्रीत्वानुशय, १० समयस्यानपाकर्म, ११ क्षेत्रविवाद, १२ स्त्री-पुंसयोग, १३ दायविभाग, १४ साहस, १५ वाग्दण्ड-पारुष्य, १६ द्यूतसमाह्वय, १७-१८ प्रकीर्णक आदि १८ विवादपद हैं। इन विषयोंसे ही स्पष्ट हो रहा है कि-नारदस्मृति धर्मशास्त्र नहीं, किन्तु उसमें राजनीतिशास्त्र ही प्रधान है। सो उसका

वचन जब धर्मशास्त्रोंसे विरुद्ध हो, तो बाधित हो जाता है।

स्वयं नारदस्मृतिमें भी लिखा है—'मनुः प्रजापतिर्यस्मिन काले राज्यमबूभुजत्। धर्मैकतानाः पुरुषास्तदासन सत्यवादिनः' (१) अर्थात् मनुजीके समय तो लोग धर्मपरायण थे; परन्तु 'नष्टे धर्मे मनुष्येषु व्यवहारः प्रकल्पितः। द्रष्टा च व्यवहाराणां राजा दण्डधरः कृतः (२) अर्थात् धर्म नष्ट होनेपर राजव्यवहार चालू किया गया। नारदस्मृतिमें यह भी स्वयं लिखा है—'यत्र विप्रतिपत्तिः स्याद् धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयोः। अर्थशास्त्रोक्तमुत्सृज्य धर्मशास्त्रोक्त-माचरेत्' (व्यवहार ३३) धर्मशास्त्रविरोधे तु युक्तियुक्तोपि धर्मतः। व्यवहारो हि बलवान धर्मस्तेनापचीयते' (३४) अर्थात्-जहाँ धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्रका विरोध हो, वहाँ अर्थशास्त्रकी बात छोड़कर धर्मशास्त्रकी बात माननी चाहिये। व्यवहार (अर्थशास्त्र) की प्रबलता माननेपर धर्म क्षीण हो जाया करता है।

कौटलीय-अर्थशास्त्रमें भी यही कहा है-'संस्थया धर्म-शास्त्रेण शास्त्रं वा व्यावहारिकम्। यस्मिन्नर्थे विरुध्येत धर्मेणार्थं विनिर्णयेत्' (३।१।५६) 'तस्य [धर्मस्य] अतिक्रमे हि लोकः सङ्कराद् उच्छिद्येत' (१।३।१५) अर्थात् धर्मशास्त्रका उल्लंघन करनेपर लोगोंमें संकरता प्रसक्त होनेसे लोकोच्छेद हो जावेगा। सो नारदस्मृतिका जो वचन वादीने दिया है, वह विवाहोच्छेद-को बताने वाला है। विवाहोच्छेद धर्मशास्त्रसे विरुद्ध है। धर्मशास्त्र कहता है-'न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या प्रमुच्यते' (मनु. ६।४६) तो जब धर्मशास्त्र विवाहोच्छेदका निषेध करता

है; तब वह स्त्री प्रोषित (परदेसी) भर्ताका उल्लंघन करके उसे छोड़ कैसे सकती है ? 'वेदविरुद्धमतखण्डन'में स्वा.द.जीने लिखा है—'येन यया सह यस्य यस्याश्च विवाहो जातः, तयोः परस्परं समर्पणं जातमेव, नान्यथेति' (शता. पृ. ८०५) 'जिसका जिसके साथ विवाह हुआ, उनका परस्पर समर्पण हो ही गया, [वह] अन्यथा नहीं हो सकता' (वे.वि.म.ख.)

स.प्र. ११ समु. में लिखा है—'तन तो विवाह-समयमें स्त्री का पतिके समर्पण हो जाता है, पुनः मन भी दूसरोंके समर्पण नहीं हो सकता; क्योंकि-मन ही के साथ तनका भी समर्पण करना बन सकता, और जो करें, तो व्यभिचारी कहावेंगे' (पृ. २३६), तब एक पुरुषको तन-मन दे चुकी हुई स्त्री फिर विधवा होकर दूसरेको तन-मन दे; तो स्वा.द.जीके अनुसार भी व्यभिचारिणी मानी जावेगी; क्या वादीको यह व्यभिचार पसन्द है, जो कि-वह उसकी पुष्टि करता है ?

वस्तुतः वादीको इन बातोंका अपना ज्ञान तो है नहीं; वह दूसरोंका लेख विना-विचारे ही उद्धृत कर लिया करता है। नारदस्मृति ही स्वयं कहती है कि-'सकृत् कन्या प्रदीयते' (१२।५८) अर्थात् कन्या एक बार ही दी जाती है, फिर दूसरी बार उसे नहीं दिया जाता। तब वादी 'क्षतयोनिका पुनर्विवाह' उक्त वचनसे कैसे सिद्ध करता है ? उसमें पुनर्दान उसका कैसे होगा ?

आगे स्मृतिकार स्वयं कहता है-'ब्राह्मादिषु विवाहेषु पञ्चस्वेष विधिः स्मृतः' (१२।२६) अर्थात् यह दानादि विधि ब्राह्म, प्राजापत्य,

आर्ष, दैव, गान्धर्व इन पाँच विवाहोंमें होती है, अन्य और आसुर, राक्षस, पैशाचोंमें नहीं। क्योंकि-पहले चार विवाह धर्म्य होते हैं, ५वाँ गन्धर्व साधारण होता है, शेष आसुर आदि अधर्म्य होते हैं; जैसाकि स्वयं नारदस्मृतिमें कहा है—'एषां धर्म्याश्चत्वारो ब्राह्माद्याः समुदाहृताः। साधारणः स्याद् गान्धर्वः त्रयोऽधर्म्यास्त्वतः परे' (१२।४४) इससे स्पष्ट है कि-धर्म्यविवाहोंमें विवाहोच्छेद नहीं हुआ करता। मन्त्र-संस्कार भी धर्म्यविवाहोंमें ही हुआ करता है। इसलिए कौटल्य-अर्थशास्त्रमें भी कहा है—'अमोक्षो धर्मविवाहानाम्' (३।३।२२) अर्थात्-धर्म्यविवाहोंमें विवाहोच्छेद नहीं हुआ करता। सो वादीसे दिये हुए वचन पैशाच आदि अधर्म्य विवाहोंमें चरितार्थ हो सकते हैं। 'पितृप्रमाणाश्चत्वारः पूर्वे धर्म्याः' (कौट. ३।२।१०) पितृप्रदानक धर्म्य विवाहोंमें नहीं। इस विषयमें स्पष्टता 'आलोक' (८) पृ. ७६३-७६४ में देखनी चाहिये। वादीका पक्ष अधर्म्य-विवाहोंके होनेसे, अधर्म्यविवाहोंके वैध न होनेसे गिर गया। आश्चर्य तो यह है कि-वादीका तथाकथित 'ऋषि' क्षतयोनिका पुनर्विवाहको 'अवैदिक' मानता है, और वेदविरहित शूद्रोंमें मानता है; पर यहाँ वादी ऐकदेशिक काचित्क वचनोंको देकर अपने 'ऋषि' का भी खण्डन कर रहा है, हमने उनका समाधान कर दिया। वस्तुतः इन लोगोंमें भी कुछ भी धर्म-कर्म नहीं। विधवाविवाह का समर्थन कर अब वादी स्वा.द.के अनुसार 'शूद्र' तथा वैदिक धर्मका विरोधी बनने जा रहा है। 'न विवाहविधावुक्तं विधवा

वेदनं पुनः' (६।६५) इस मनु-पद्यके अनुसार स्त्रीके विवाह-संस्कारमें पुनर्विवाह नहीं कहा गया, तब 'विधवाविवाह' दिखलाता हुआ वादी स्वयं खण्डित होगया।

(ख) स्वा.द.जीसे आदिष्ट की हुई 'वीर्याकर्षणविधि' वादीको वेदमें मिल गई, बधाई हो, पर यह सिखोंको मत बतलाना, नहीं तो 'मुखसे मुख' करते हुए उनकी दाढी पत्नीके मुखमें चली जाया करेगी। छोटे-बड़े कदके दम्पतियोंको भी न बताना, नहीं तो फिर 'मुखसे मुख आदि' नहीं हो सकेगा। ऋ. ७।६७।६ में तो केवल अपने शुक्र होनेकी प्रार्थना है। इसमें 'नाकसे नाक तथा...को संकोच कर...के आकर्षण'की स्वामीजीकी प्रिय विधिकी तो गन्ध भी नहीं। ऋ. १०।८।२ में भी...संकोचन आदि कुछ भी नहीं। यजुः १६।७६ का उल्लेख भी व्यर्थ ही है, उसमें भी 'नाकसे नाक मुखसे मुख' नहीं लिखा। और फिर मुख्य अङ्गोंका नाम तो स्वामीने लिखा नहीं; तब क्या केवल 'मुखसे मुख' होकर आकर्षण हो जायगा; यह विधि यदि स्वामी-ने अनजानको सिखलानेकेलिए लिखी; तब तो स.प्र. का पाठक केवल इतनेमात्रसे तो सन्ततिसे वञ्चित रह जावेगा? यदि यह स्वामी न लिखते, तो क्या लोगोंको ज्ञान होता? वा स्वामीके लिखनेसे पहले जनसाधारणको ज्ञान न था? फिर स्वामीको इसका ज्ञान किसने कराया?

(ग) वादी कहता है-'यदि आप विधवाविवाहका समर्थन नहीं करते हैं, तो शुद्र हैं'। ऐसी कहीं राजाज्ञा तो लिखी नहीं;

उल्टा 'नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः' (६।६४) इस मनुके पद्यमें विधवाका अन्य पुरुष (देवर वा सपिण्ड आदि) में नियोजन द्विजोंको निषिद्ध कहकर शूद्रोंमें विधवाविवाह सूचित कर दिया गया है।

बल्कि-वादीके राजाकी आज्ञाके अनुसार विधवाविवाह करनेवाले आर्यसमाजी लोग शूद्र हैं, और उसके समर्थनकर्ता पथिकजी भी शूद्र हुए। यह हम नहीं कह रहे, स्वयं वादीसे तथाकथित वैदिक स्वामीजी कहते हैं। देखिये-ऋभाभू. (पृ.२२२) 'पुनर्विवाहस्तु खलु शूद्रवर्णे एव विधीयते, तस्य विद्याव्यवहार-रहितत्वात्'। 'इत्यनेनापि एकस्याः स्त्रिया, एक एव पतिर्भवतु; एकस्य पुरुषस्य एकैव स्त्री चेति। अर्थाद् अनेक-स्त्रीभिः सह विवाहनिषेधो नरस्य, तथाऽनेकैः पुरुषैः सह एकस्याः स्त्रियाः। सर्वेषु मन्त्रेषु एकवचनस्यैव निर्देशात्' (पृ. २२०) अब वादी विधवा-विवाहका समर्थन करता हुआ विधवाके एकवार पूर्व विवाहित होनेसे अब उसका पुनर्विवाह कह रहे होनेसे स्वामीके अनुसार वेदविद्याके ज्ञानसे शून्य शूद्र सिद्ध होगया-यह हम नहीं कहते, वादीके तथाकथित 'महर्षि' कह रहे हैं, बधाई !!! अथवा 'सर्वेषु मन्त्रेषु एकवचनस्यैव निर्देशात्' यदि स्वामीके इस वचनको वादी वेदविरुद्ध मानता है; तब वादी उनकी 'ऋषि' पदवी छीनकर स्वयं उसका प्रयोग करे। यह हमें अनिच्छा होते हुए भी वादीके कुव्यवहारवश कहना पड़ा।

(४८) भविष्य-पुराणके 'म्लेच्छ' का अर्थ 'मुसलमान' नहीं

हो सकता, न उसमें शुद्धि अर्थ है–यह हम 'आलोक' (७) पृ. ८६३-८६६ में, तथा तृतीय पुष्पमें लिख चुके हैं, उसका उत्तर देनेकी शक्ति वादीमें नहीं हो सकी। जब उसमें शुद्धिकी बात ही नहीं; तब वादीने शुद्धि-विरोधियोंको 'राष्ट्रका शत्रुसदृश' कैसे बना दिया? कीजिये आप शुद्धि, हम निषेध थोड़े ही करते हैं; पर शास्त्रका झूठा नाम लेकर मत करो। जब हमने वादीसे दिये पुराणके वचनपर ऊहापोह दिया; तब वादी ब्र. प्रभुदत्तजीकी दुहाई देता है, इससे स्पष्ट सिद्ध हो रहा है कि–वादीको स्वयं इन बातोंका ज्ञान नहीं; केवल दूसरोंकी चोरी करके अपना निर्वाह किया करता है। हम उनसे क्यों पूछें?। वादीने ही वह प्रमाण उपस्थित किया; तो उत्तरदायित्व भी उसपर उसीका है, अब दूसरों की दुहाई देना सिद्ध कर रहा है कि–उसका मत गलत है, निराधार है। वे ब्र. प्रभुदत्तजीके व्यक्तिगत विचार हो सकते हैं; पर भविष्यपुराणके वचनमें वैसा कुछ भी नहीं लिखा। मालूम होता है, उन्होंने श्रीरामचन्द्रकी 'शुद्धि' पुस्तकसे वह प्रमाण विना विचारे ही उद्धृत कर लिया।

(ख) जब वादीके अनुसार भविष्यपुराणमें १००० वर्ष संख्याके कलियुगके वर्षमें कश्यपमुनिने म्लेच्छों (अशुद्ध बोलने वालों, जैसे कि–महाभाष्यमें कहा है–'म्लेच्छा मा भूम–इत्यध्येयं व्याकरणम्' इसका क्या वादी यह अर्थ करेगा कि–'हम मुसलमान न होजाएँ, इसलिए व्याकरण पढ़ना चाहिये)को संस्कृत सिखलाई; तब ३६८१ कलिमें होनेवाले मुसलमान यहां

'म्लेच्छ' शब्दसे कैसे गृहीत हो सकते हैं–यह वादी न बता सका। तब बेचारा वादी अपने दिये हुए ही प्रमाणसे अप्रतिभा-निग्रहस्थानमें निगृहीत होगया।

फिर एक लघुशङ्का वादीके मुखसे निकलती है कि–'रविवारे च सण्डे च फाल्गुने चैव फर्वरी' अर्थात् रविवारको सण्डे, फाल्गुनको फर्वरी कहेंगे' यह अर्थ करके वादी लिखता है कि–क्या उस समय अँग्रेज थे, तथा उनकी अँग्रेजी भाषा प्रचलित थी? क्या आपके व्यासजी अँग्रेजी जानते थे?" यह वादीकी भारी विद्वत्ता पाठकोंने देखली। जबकि यह 'भविष्यपुराण' है, वादीने भी इसका अर्थ 'रविवारको 'सण्डे' कहेंगे' इस प्रकार भविष्यत्में दिया है; तब छोटे बच्चोंवाली यह लघुशङ्का उसने कैसे की? इस विषयमें वादी 'आलोक' (६) पृ. ६४६-४७में देख ले।

हमने लिखा था कि–पुराणानुसार १००० कलिमें होनेवाला महामद ३६८१ में उत्पन्न हुआ मुहम्मद कैसे हो सकता है? यह स्पष्ट ही तो वादीसे दिया हुआ प्रमाण है–'सहस्राब्दे ... प्राप्ते' (भविष्य.प्रति. ४।२१।५) तब वादीका कहना कि–'पुराण... महामद कौन था, इसमें प्रमाण देना चाहिये था, ... 'लिङ्गच्छेदी शिखाहीन मुसलमान नहीं तो कौन हैं?" ... वादीने हमारे प्रश्नपर प्रश्न कर दिया, तब क्या स्वा... अनुसार शिखाहीन, विधवाविवाह करनेवाले आर्यसमाजी वादीके अनुसार 'मुसलमान' हो जाएँगे? हम इसपर 'आलोक' (७) पृ. ८६६-८६६ में उत्तर दे चुके हैं कि–भविष्यपुराण...

महामद मुसलमानी मुहम्मदसे भिन्न हैं, स्वा.द.का उदाहरण भी हमने दिया था; वादी बेचारा इसपर चुप्पी लगा गया; तब वे वर्तमान मुसलमान कैसे सिद्ध हुए? आगे वादीने आर्यसमाजी जयदेवजीका प्रमाण दे दिया, इसे हम क्या करेंगे? इसी प्रकार मूसा तथा ईसामसीहका वर्णन भी भविष्यकालमें समझना चाहिये। यदि वहां कहीं भूतलकार है; तो वहाँ पृष्ठ ८६७-६८ 'आलोक' (७) में हम प्रत्युत्तर दे चुके हैं। इस विषयमें आगे भी समझ लेना चाहिये।

कालिदासके समय वर्तमान मुसलमान नहीं थे। स्वामीने वेदमें 'तरुतारं'में 'तारं'का 'ताराख्यं यन्त्रं' अर्थ कर दिया; तब क्या वेद अँग्रेजी जमानेमें बनाये गये? क्या वेद 'तारं' इस शब्दको भी जानते थे? जब पुराणका नाम 'भविष्यपुराण' है, तब उसमें भविष्यका वर्णन भूतवत् भी आ जावे, तो सम्भव हो सकता है। देखिये—'परिणामत्रयसंयमाद् अतीतानागतज्ञानम्' (योग. विभूति. १६) इसमें योगी की भविष्यद्-दृष्टि भी कही है। इसमें आश्चर्य भी नहीं। पर जहाँ वह अर्थ सम्भव न हो; जैसे १००० कलियुगमें उत्पन्न महामदका ३६८१ कलिके पैदा मुहम्मदसे कालभेदवश कुछ भी सम्बन्ध नहीं हो सकता, वहाँ बलात् वह अर्थ करना युक्त नहीं। विलसन आदिका मत उनके अनुसन्धान-तत्परतासे लिखना पड़ता है; क्योंकि आप लोग अँग्रेजी मतको शीघ्र मान लेते हैं। अँग्रेजी मतको ही वेदपर लाद देते हैं। हमने पर्वतोंके पंख वेदसे बताये थे, पर वादीने

नहीं माना, और लिखा कि—साइन्सदान (अँग्रेज) इसे कहीं नहीं मानते। यदि वादीके इस मतको माना जावेगा, तो आर्य-लोगोंको भी विदेशी मानना पड़ेगा।

(४६) शिखाछेदनके विषयमें जितने प्रमाण वादीने दिये हैं; वे स्वा.द.जीके पक्ष (गर्मीके कारण चोटी कटाना) को सिद्ध नहीं करते; अतः वे व्यर्थ उपन्यास होनेसे अनादरणीय हैं। गर्मीके लिए चोटी नहीं कटानी पड़ती, वह तो उल्टा गर्मीसे रक्षा करती है। बाल तो बाहरी गर्मीको रोकते हैं, गर्मी करते नहीं। तालुके स्थान पर तो शीतलताकेलिए बाल भले ही कटाए जाएं, पर शिखावाले स्थान पर तो उल्टा, बालोंकी गर्मी अपेक्षित है। स्त्रियोंके यद्यपि तालुपर बाल नहीं कटाये जाते; तथापि वे तालुवाले स्थान पर माँग इसीलिए निकालती हैं कि—वहांके तालुके स्थानको शीतल वायु पहुँचती रहे, पर शिखावाले स्थानमें उनकी भी माँग नहीं होती; और निकल सकती भी नहीं, क्योंकि—वहाँ शीतलताकी आवश्यकता नहीं होती; अतः वहाँपर गर्मीका प्रश्न ही नहीं उठता; तब वहांपर उष्णतावश चोटी कटाना बिल्कुल असम्बद्ध बात है। विशेष पञ्चमपुष्पमें शिखा-रहस्यमें देखना चाहिये। क्या अफ्रीकामें सिरमुण्डे आर्यसमाजी दिखला सकते हो? यदि वे बड़े-बड़े बाल रखते हैं, तो चोटी भी रख सकते हैं। इस विषयमें हम 'आलोक' (७) तथा (५) में कह चुके हैं; पर वादीमें प्रत्युत्तरकी शक्ति कहाँ? प्राचीन-वचनोंमें कहाँ लिखा है कि—गर्मीसे चोटी कटाओ? श्रीमहीधरादिके

अर्थ पर हम ५म पुष्पमें लिख चुके हैं। श्रीमहीधरको यदि गालीवक्ता वादी वाममार्गी मानता है; तो उसे स्वयं भी वाममार्गी बनना पड़ेगा। चोटी कटाना फिर वादीके शब्दोंमें 'वाममार्ग' हो जायगा। बधाई।

(५०) आगे वादीने निकम्मी बातें लिखी हैं कि—'श्री-अखिलानन्द तथा श्रीकालूराम इसलामका प्रचार करते थे'। वादी बतावे कि—उन्होंने इस्लामका क्या प्रचार किया? क्या मूर्तिपूजाका उन्होंने खण्डन किया? क्या मथुराके मन्दिरकी मूर्तियोंको झाकियां मारीं-मरवाईं, क्या ईश्वरकी साकारताका खण्डन किया, क्या चोटी कटानेकी प्रेरणा की? क्या छुवाछूतको हटवाया? यह उन लोगोंका काम आप लोगों ही ने तो सम्भाल रखा है; तब आप क्या लियाकतअली वा अयूब एवं भुट्टोके नौकर हुए? 'चाँद' ने जो हसननिजामीकी चिट्ठी प्रकाशित की थी; वह 'भारतधर्म' से दी थी। उसके सम्पादक तथा शुक्ल दोनोंने नोटिस देनेपर क्षमा मांगी थी। इस हमारे लिखने पर वादीने चुप होकर स्वीकार कर लिया।

'वेदत्रयी-समालोचन' यह पुस्तक कविरत्नजीने आर्यसमाजमें रहते हुए लिखी थी। यह उन्होंने 'सत्यार्थप्रकाशालोचन'की भूमिकामें स्वयं लिखा है। भा.ध. महामण्डलका उन्होंने कई वैयक्तिक कारणोंसे विरोध किया। श्रीराजनारायणजी पहले आर्यसमाजी रह चुके थे। यदि उन्होंने 'शिवलिङ्ग ओंकारात्मक नहीं है' यह कहा है, तो इससे उनकी शिवपुराणसे अनभिज्ञता

स्पष्ट है। शिवपुराणमें तो यह बात स्पष्ट लिखी है, इसपर हम ७म पुष्पमें सप्रमाण लिख चुके हैं।

जब वादीकी कोई बात किसी सुधारक-सनातनधर्मीके अनुकूल हो, तब तो वह उसे 'सनातनधर्मी-विद्वान्' शब्दसे कहता है। प्रतिकूल हो; तो उसे 'पौराणिक' लिख दिया करता है। राजनारायणजीने कलियुगकी समाप्ति सं. २००० में 'चेतावनी' में मानी थी। क्या वादी उनकी यह व्यवस्था मानता है? वा केवल उनने अखिलानन्दजी वा श्रीमाधवाचार्यजीकी निन्दा की; इसीलिए वादी उन्हें स.ध.का विद्वान् मानने लगा।

श्रीराजनारायणजी लिखते हैं—'कुछ वाममार्गी मतके पण्डितोंकी...पहचान यह है कि—वह भगवान्की भक्ति और विशेषकर कीर्तनके विरुद्ध कहा करते हैं'। डा. श्रीराम आर्यकी भांति वादी भी कीर्तनके विरुद्ध होगा। तब वादी तथा डा. श्रीराम भी राजनारायणजीके शब्दोंमें वाममार्गी हो गये! क्या उसे यह स्वीकार है?

(५१) 'अष्टादशपुराण वेदके भाष्य नहीं' यह वादीका कथन कपोलकल्पनामात्र है। निष्पक्ष तटस्थ विद्वान् भी पुराणोंको वेदकी व्याख्या मान चुके हैं। इस बार मैं वाराणसेय राजकीय संस्कृत विश्वविद्यालयमें (१।६।६५) 'पुराणगोष्ठीमें' आहूत हुआ था। समय पाकर श्रीवासुदेवशरण अग्रवालसे मिला था, जिनका आर्यसमाजी भी आदर करते हैं। प्रसङ्गमें उन्होंने कहा कि—पहले मैं भी पुराणोंको गप्प मानता था; पर अब मुझे

अनुभव हुआ कि-पुराणोंके विना वेदार्थ खुल ही नहीं सकता। उन्होंने 'प्रथमं सर्वशास्त्राणां पुराणं ब्रह्मणा स्मृतम्। अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः' यह पुराणवचन भी सर्वथा ठीक माना। ब्राह्मणभाग तो वेद है, उसमें जो वादीने स्वामीके वेद न होनेके हेतु दिये हैं, उनका हम 'आलोक' (६) में खण्डन कर चुके हैं। यदि पुराण, नाराशंसी आदि ब्राह्मणग्रन्थोंके नाम हैं, तो बधाई हो। मन्त्रभागमें भी इनका वर्णन है, सो मन्त्रभाग भी वादीके अनुसार उनसे पीछेकी वस्तु होगई। आर्यसमाजी भाष्यकार श्रीजयदेवजी विद्यालङ्कारने भी 'ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे' (अ. ११।७।२४) इस मन्त्रका अर्थ करते हुए लिखा है—'यजुषा सह पुराणं-यजुर्वेद कर्मप्रवर्तक मन्त्रोंके साथ सृष्टि, उत्पत्ति, प्रलय आदिके वर्णन करने हारे मन्त्र और ब्राह्मणभाग...उस सर्वोत्कृष्ट परमेश्वरसे उत्पन्न होते हैं' (३य खण्ड पृ. २५५) इससे यजुर्वेदके साथ ब्राह्मण भी सृष्टिकी आदिमें परमात्मासे उत्पन्न हुए बताये गये हैं। उसी ब्राह्मणभागमें उससे भिन्न पुराणोंका नाम भी आया है—'एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः...सब्राह्मणाः...सेतिहासाः, सपुराणाः' (गोपथ. १।२।१०) इससे भिन्नतासे कहनेसे पुराण-इतिहास ब्राह्मणभागसे भिन्न भी हैं। मन्त्रभागमें भी पुराणका बहुत वर्णन है— 'तमितिहासश्च पुराणं च' (अथर्व. १५।६।११-१२) इत्यादि।

न्यायदर्शनमें भी पुराणोंका नाम मन्त्र-ब्राह्मणसे भिन्न कहा

गया है- 'प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेन इतिहासपुराणस्य प्रामाण्यम-भ्यनुज्ञायते-'ते वा खल्वेते अथर्वाङ्गिरस एतद् इतिहासपुराणम-भ्यवदन् पञ्चमं वेदानां वेदम्' (४।१।६२) 'यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य, लोकवृत्तमितिहास-पुराणस्य' (४।१।६२)। इससे पुराण सृष्टिके आदिके ही हैं। इस विषयमें 'आलोक' (७) (पृ. ३७७-३८५) देखना चाहिये। कोई भी प्राचीनसे प्राचीन धार्मिक साहित्य ले लीजिये, उसमें पुराणका नाम आता है। वाल्मीकि-रामायणको लीजिये, जो त्रेतायुगकी मानी जाती है, उसमें भी पुराणोंका वर्णन स्पष्ट है—'पुराणेषु मया श्रुतम्' (१।६।१)।

रामका नाम राघव आया है, सो इस सारे वंशका रामायणमें वर्णन न होकर पुराणोंमें ही पूरा वर्णन है, रामायण भी पुराणसे ली गई है। पुराण वेदके भाष्य हैं। यदि पुराणोंमें परस्पर-विरोध वादीको दीखता है, तब वेदोंमें भी उसको विरोध दीखने लग सकेगा; क्योंकि-वेदमें भी भिन्न-भिन्न देवोंका अतिशयोक्तिसे वर्णन है (आलोक (७) पृ. १२६-१३०)। जो वसिष्ठ आदिके इतिहास वेदमें हैं, वही पुराणमें भी। जोकि वादी वेदमें उनका अर्थ बदल लेते हैं, वह पुराणमें भी बदला जा सकता है।

(५२) यदि आजकलका विज्ञान पर्वतोंके विषयमें सृष्टिकी आदिका उड्डयन नहीं जान सका है, इससे प्राचीन विज्ञान गलत नहीं हो जाता। वेदमन्त्रोंमें तोड़-मरोड़ तो वादी लोग ही करते हैं, हम नहीं। यह तो वादीका उल्टा उपालम्भ है। हम इस

सम्बन्धमें 'पर्वतोंके पंख' विषयपर आगे लिखेंगे।

वादी कहता है—'श्रीक्षेम. श्रीजय. दोनोंके ही अर्थ उचित प्रतीत होते हैं; क्योंकि-'इन्द्र'का जो अर्थ मैंने लिखा है. उसके अनुसार ही इन विद्वानोंने अर्थ किया है'। इसका तात्पर्य यह हुआ कि-वेदोंके अर्थोंकी कसौटी होती है-'दयानन्दी 'पथिक'का किया अर्थ। जो पथिकसे विरुद्ध अर्थ करे, उसका भाष्य गलत !! उसको कुछ भी ज्ञान नहीं होता। उसे डाँट पिला दी जा सकती है'।

स्वर्गलोक-जिसे द्युलोक कहा जाता है, वह जहाँ तारे, सूर्य, चन्द्र आदि हैं, उनमें माना जाता है। उन ग्रह आदियोंमें भी पहाड़ हैं; सो सुमेरु पहाड़ कोई इस लोकका प्रसिद्ध नहीं है। मर कर तो स्वर्गमें पहुँचता ही है, विशेष-शक्तिशाली लोग युधिष्ठिरादि की भांति सशरीर भी जा सकते हैं। आजकल वह कार्य राकेटों द्वारा करनेका प्रयत्न हो रहा है।

(५३) 'ये ते पूर्वे···तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु' (अ. १८।३।७२) में इस लोकका वर्णन नहीं, किन्तु पितृलोकमें मृतककेलिए घृत-प्रवाह दिया जाता है। 'सुरोदकाः' में यदि वादीसे उल्लिखित निघण्टुके अनुसार 'सुरा' जलका नाम है, तो 'सुरोदकाः'में पुनः 'उदक' शब्द पृथक् क्यों आया ? क्या वादीमें इतना समझनेकी भी बुद्धि नहीं है ? निघण्टु (१।१५) में वादीने 'सुरा'का अर्थ 'जल' माना है। मालूम होता है-वादीने निघण्टु कभी देखा नहीं, वा किसी अन्यकी चोरी करके लिखा है। निघण्टु (१।१२)

में जलके नाम हैं, १५ में नहीं। मूलपाठ 'सिरा' है, ... नहीं। देखो श्रीवेङ्कटेश्वरप्रेस बम्बईके निरुक्तमें 'निघण्टु'। ... वैदिकप्रेस अजमेरका 'निघण्टु वैदिककोश' देखो। पाठभेद ... 'सूरा' भी है। निरुक्त (१।४।१०) में तथा १।११।२ में 'सुरा' ... अर्थ 'मद्य' है। वेदमें सुरा, मधु आदिका जो अर्थ वादी माने ... वादी वही पुराणोंमें भी मान ले, क्योंकि-पुराण भी वेदों... भाष्य हैं।

'वास्तविक स्वर्गलोक' गृहस्थाश्रम है, यह वादीका ... 'अपना देश ही वास्तविक-कश्मीर है' की भांति है, इससे ... कश्मीरकी भिन्न सत्ता लुप्त नहीं हो जाती। नहीं तो वादी... अपना देश कानपुर, कश्मीर बन कर उसपर भी शेख-अब्दुल्ला... की पार्टी अपना आधिपत्य समझ ले सकती है। 'सुरोदकाः'... श्रीक्षेमकरणजीने 'ऐश्वर्य वा तत्त्वमथनका सेवन करनेवाली' ... स्त्रीलिङ्गान्त-अर्थ कर दिया। कितना यह श्रुतिपर बलात्कार है! ... तब पुराणमें भी अर्थ बदल सकते हो, उसपर आक्षेप क्यों!

(५४) 'गवां द्वादशलक्षाणां' आदिपर जो वादीने आक्षे... किया है, पूर्वापरसंगति दिखलाकर उसका अर्थ हम 'आलोक' (६) में दिखला चुके हैं। उससे वादी हमें 'वेदानभिज्ञ तथा धूर्त' बताकर आर्यसमाजमें कुख्यात होनेकेलिए गालिप्रदान करता है और अपने अर्थको वह 'नितान्त सही' बताता है, पर जब तक वह हमारे अर्थका सोपपत्तिक खण्डन न करेगा, तब तक वह ... अपने शब्दोंमें वेदानभिज्ञ 'धूर्त' बना रहेगा। क्योंकि-जब ...

और पुराण दोनों गायको 'अघ्न्या' कहते हैं; तब गायको मरवानेसे महादेवजी सुयज्ञकी प्रशंसा भला कैसे कर सकते? इतना भी ज्ञान वादीको नहीं-यह बड़ा आश्चर्य है! वेदमें 'अतिथिग्व' का वर्णन आया है कि-'अतिथ्यर्था गावो यस्य सः' 'जिसकी गौएँ अतिथियोंकेलिए हैं'; तब क्या वादी वेदानुसार गायका अतिथिको खिलाना मान लेगा? इसी 'अतिथिग्व'का विस्तीर्ण भाष्य पुराणोंमें है। इस विषयमें 'आलोक' (६) पृ. ४१६-४३६ में देखना चाहिये।

वादीने ब्रह्मवैवर्तके १५वें श्लोक तक तो लिखा है; १६वें पद्यमें जहाँ 'सगव्यं मांसवर्जितम्' पाठ लिखा था; उसे वादीने जान-बूझकर छिपा लिया है कि-किसी प्रकार पुराण कलङ्कित होवें। सो जब पुराण वहाँपर माँसरहित खीर आदिका वर्णन कर रहा है, वहाँ वादीका बलात् गायको मरवाना-क्या यही उसकी वैदिक सभ्यता है? वस्तुतः पुराणोंको झूठ-मूठ किसी भी प्रकार कलङ्कित करना-यह वादीका मुख्य कार्य रहता है; क्योंकि-इससे आर्यसमाजमें लीडरशिप मिलती है। जब पूर्वापर प्रकरण-द्वारा हम सिद्ध कर चुके हैं कि-पुराणमें यहाँ गोवधका वर्णन नहीं है, तो पुराणके पूर्वापरको छिपाकर बलात् पथिकका गायों-को मरवाना उसको क्या वधिक सिद्ध नहीं कर रहा?। 'पञ्च-कोटि गवां मांसं' पर 'आलोक' (६) पृ. ४३०-४३८ को देखनेके-लिए हमने प्रेरित किया था; पर वादीने उसका कुछ भी प्रत्युत्तर न देकर अपना पक्ष स्वयं खण्डित सिद्ध कर दिया।

इसके अतिरिक्त यह हम पहले कह चुके हैं कि-पुराण वेदसूत्रोंके भाष्य हैं। जैसे भाष्यमें सूत्रोंके उदाहरण-प्रत्युदाहरण रहते हैं; वैसे वेदसूत्रोंके भाष्यभूत पुराणोंमें भी वेदसूत्रोंके उदाहरण-प्रत्युदाहरण हों, यह स्वाभाविक है। वेदमें एक मन्त्र आता है-'मुग्धा देवा उत शुना अयजन्त उत गोरङ्गैः पुरुधाऽयजन्त' (अ. ७।५।५) यहाँ बताया गया है कि-कई (मुग्ध) मूढ (देव) यज्ञकर्ता अथवा देवयोनिके अधम राक्षस-पिशाच आदि अथवा वैसे मनुष्य (शुना अयजन्त) अत्यन्त गर्हित और अखाद्योंकी परम अवधि कुत्तेसे यज्ञ किया करते हैं, और कई मूढ (गोरङ्गैः) अवध्योंकी परम अवधि गायके अङ्गोंसे भी यज्ञ करते देखे गये हैं, सो इस वेदसूत्रोंके अर्थवादरूप पुराणोंमें भी कहीं मुग्धोंके ऐसे उदाहरण दिखलाये गये हों; वहाँ उनकी मूढता बताना व्यङ्ग्य हुआ करता है, वह विधि नहीं हुआ करती। इसीलिए उपवेद-आयुर्वेदकी चरकसंहिता (चिकित्सितस्थान १६।३) में गौओंके यज्ञसे अतीसार व्याधिकी उत्पत्ति भी बताई गई है। पर जहां उस यज्ञकर्ताकी मुग्धता न बताकर प्रशंसा हो, वहाँ परोक्ष वर्णन समझकर पूर्वापर-प्रकरणके औचित्यानुसार वास्तविक तात्पर्य को समझने का प्रयत्न करना चाहिये। उसके-लिए व्यापक तथा वैदुष्यपूर्ण दृष्टिकोणकी आवश्यकता रहा करती है, उसमें आपाततोदर्शी तथा केवल अभिधावृत्तिका उपासक पुरुष स्खलित हो जाता है। यही बात यहाँ वादीकी है। जब वेद और पुराण दोनों गायको 'अघ्न्या' मानते हैं, तब उसी

दृष्टिकोणसे वेदमें तथा पुराणमें अर्थ समझना चाहिये। यदि उसमें केवल शब्दकी वृत्तिसे काम लिया जायगा; तब उससे जैसे वेदके अर्थ वा तात्पर्यमें सफलता नहीं मिलती; वैसे पुराणमें भी उस साधारण-पुरुषकी गति स्खलित हो जाया करती है। आशा है-पथिक पुराणनिन्दाका व्यसन छोड़कर जब पुराणोंमें भी वेदार्थ वाली दृष्टि रखेगा; तब उसे पुराण समझनेमें भी कठिनता नहीं रहेगी, अन्यथा तो पद-पदमें वह ठोकरें खाता रहेगा; और स्खलित होता रहेगा।

(५५) आगे राजधनवारके शास्त्रार्थमें श्रीअमरसिंहजीकी छपाई 'दो शास्त्रार्थ' पुस्तकसे वादीने कुछ उद्धरण दिया है, वह श्रीमाधवाचार्यजीकी पुस्तक छपनेके बाद उसीका मैटर अपने ढंग पर रखकर छपाई गई है, पर अपने पक्षको उसमें बढ़ा-चढ़ा दिया है, पं० माधवाचार्यजीकी जो जोरदार बातें थीं, उसे आर्य-पथिकजीने बदलकर ढीला कर दिया है, या बिल्कुल छोड़ ही दिया है; अन्य भी कई पूर्वापर-विरुद्ध परिवर्तन उसमें वादीने कर दिये हैं, इस विषयमें हमने अपने पास तुलनात्मक समालोचना कर रखी है; अतः उस पुस्तकका कुछ भी महत्त्व नहीं।

प्रमाणोंके अर्थोंपर याद रखना चाहिये कि-जहाँ जो अर्थ प्रकरणानुकूल हो, वहाँ वही अर्थ करना पड़ता है। 'सैन्धवमानय' का सवारीके समय लवण अर्थ नहीं किया जा सकता। 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ. ६।४६।४) में 'गौओंके साथ सोमरसको

पकाओ' अर्थ नहीं हुआ करता, वहां 'गौ'का अर्थ दूध ही होगा। 'मुनिहोमधेनुः' (रघुवंश २।३६) में क्या वादी यह अर्थ करेगा कि-मुनि गायका होम किया करता था? 'गोमांसं भक्षयेन्नित्यं' हठयोग-प्रदीपिकाके इस वचनमें क्या वादी 'हररोज गोमांस खाया करे', यह अर्थ करेगा? फलतः सर्वत्र एक-जैसा अर्थ नहीं हुआ करता। तब उपालम्भ कैसा?

'सर्वाणि नामानि आख्यातजानि' यह सिद्धान्त केवल वेदकेलिए नहीं है, न ही श्रीयास्कने ऐसा कहीं लिखा है। महाभाष्यकार भी इसी सिद्धान्तको मानते हैं। लोकमें यौगिकता यदि सर्वथा न होती; तो अमरकोषकी सुधा-टीकामें उन-उन पदोंकी व्युत्पत्तियाँ न की जातीं। 'मांस' शब्दका अर्थ यदि कहीं प्रकरणवश पुराणमें यौगिक किया जाता है, इसका यह तो भाव नहीं कि-युधिष्ठिर आदिका भी यौगिक अर्थ करते चलो। 'मांस' तो ऐतिहासिक शब्द नहीं, सो उसका 'सारभाग' अर्थ हो ही सकता है। कादम्बरी जो वैदिकग्रन्थ नहीं है-लौकिक है; उसमें आश्रमके वर्णनमें 'हनूमन्तमिव शिलाशकलप्रहार-संचूर्णिताक्षाऽस्थिसञ्चयम्' यहाँपर आश्रमपक्षमें बहेड़ेकी 'अस्थि' हड्डी न मानकर 'गुठली' ही मानी गई हैं, इसी प्रकार 'मांस' का भी अर्थ समझ लें।

शेष रहा 'रुक्मीका कथन' (ब्रह्मवै. ४।१०६।६१-६३); वह तो दैत्यप्रकृतिका था, दैत्योंका संगी था, अतः वहाँ 'मांस' अर्थ ही वह सम्भव है, वहां 'खोया' अर्थ घट भी नहीं सकता, शब्दार्थ

अनवधारणमें 'संयोगादियों'में 'औचिती'के अनुसार उचित अर्थ भी रखना पड़ता है, परन्तु उसके पिताने जो सात्त्विक प्रकृतिका पुण्यात्मा था; अपने तमोगुणी पुत्रकी कोई भी बात कार्यरूपमें परिणत नहीं की। न तो अपनी लड़की रुक्मिणी अपने पुत्रके कथनानुसार शिशुपाल दैत्यको दी, न ही दैत्योंवाला भोजन बनवाया; किन्तु श्रीकृष्णको ही रुक्मिणीकेलिए बुलाने भेजा, और वहाँ भोजन भी खीर आदिका दिया—'ददौ योग्याश्रमं तेभ्यो भक्ष्यपूर्णं सुधोपमम्' (१०७।३३)। 'अमृतं क्षीरभोजनम्'। उसमें मांस नहीं आया। शिशुपाल आदिको भगा दिया गया। इस विषयमें 'आलोक' (६) पृ. ४३३-४३६) में देखना चाहिये। वादीने ब्रह्मवै. ४।१०५।६१-६३ पद्य देकर आगे ६४-६५ श्लोक जिनमें द्वारकामें श्रीकृष्णको आनेकेलिए ब्राह्मणको भेजा गया था—को छिपाकर फिर ६६ पद्य दे दिया। छिपाये हुए श्लोकोंमें यह था कि–रुक्मीके पिताने रुक्मीकी बात न मानकर एकान्तमें मन्त्रीके साथ विचार करके श्रीकृष्णके पास विवाहकेलिए सन्देसा भेज दिया। वैसे निमन्त्रण तो पुत्रके कहनेसे शिशुपालादि सबको भेज दिया। पर जब उसके पिताने दैत्य शिशुपालके साथ पुत्र-सम्मत कन्याविवाह ही नहीं माना; तब वह उसकी कही हुई दैत्य-सम्मत मांसादि सामग्री भी क्यों इकट्ठी करता? जैसे वादीने यह दो श्लोक छिपाये हैं, वैसे 'सद्धर्म-प्रचारक'में भी छिपा दिये हैं। पुराणमें तो दहेजमें गौओंका दान कहा है, मारना नहीं (ब्रह्म. १०६।४२-४३) इससे

वादीका, आर्यपथिकका, तथा विवेकानन्द आर्यसमाजीका भली-भांति खण्डन हो गया। उनकी मनचाही बात ब्रह्मवैवर्तसे सिद्ध न हो सकी; और न अब वे कभी सिद्ध कर सकते हैं।

आगे वादीने लिखा है कि–'शास्त्रार्थमें कालूरामजी संस्कृत श्रीअखिलानन्दसे लिखा रहे थे' तब इसमें क्या हुआ? डीडवानाके शास्त्रार्थमें श्रीलोकनाथजीकी ओरसे संस्कृत श्री-हरिदत्त शास्त्री लिखते रहे। देखिये लेखबद्ध शास्त्रार्थ डीडवाना (पृ. ३४) 'दो शास्त्रार्थोंमें' नाम तो पं० लोकनाथका रखा गया, परन्तु संस्कृत लिखना-पढ़ना सब काम श्रीहरिदत्त शास्त्री करते रहे। म० लोकनाथ संस्कृतानभिज्ञ होनेके कारण मूललेखका अनुवाद न सुनाकर मनमाना व्याख्यान फटकारते रहे। अब वादी पं० लोकनाथजीको क्या कहेगा?

(ख) आगे वादीने वेदमें एक मगके द्वारा 'गोमांस'का आभास दिखलाया है, इसी प्रकार पुराणोंमें भी उसका आभास ही है, अर्थ दोनों ही स्थान समान है। आगे महाभारतसे वादी मोक्षधर्मपर्वके कई पद्य देता है, सो मोक्षधर्ममें भला हिंसा कैसे मानी जा सकती है? उसकेलिए तो अहिंसा ठीक ही है। वह भी एक राजा विचख्नुका वैयक्तिक-वाक्य है, इससे इस पद्यकी कुछ विशेषता न हुई।

(५६) आगे स्मृतिके संन्यासविषयक वचनकेलिए यह समझना चाहिये कि–'श्रुतिस्मृतिपुराणानां विरोधो यदि दृश्यते। तत्र श्रौतं प्रमाणं तु द्वयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा' (व्यास. १।४) स्मृति

और पुराणके विरं धमें स्मृतिकी बात मानी जाती है। तदनुसार गङ्गाकी स्थिति तक संन्यासाश्रम अपवादवश हो सकता है; क्योंकि सामान्य-शास्त्रके अपवाद भी हुआ करते हैं; सो यदि निर्णयसिन्धुमें व्यवस्था लिखी गई है कि-अमुक तरहका संन्यास और अमुक प्रकारका अग्न्याधान कलिवर्ज्यमें नहीं आता; तो 'नचोत्सर्गस्य अपवादान्निवृत्तिः' (योग. साधन. १३) इस न्यायसे कलिवर्ज्यतामें कोई त्रुटि नहीं आती। मयूखकारने यदि वह व्यवस्था नहीं मानी, सो यह उसका व्यक्तिगत विचार है, इससे दूसरोंका वचन बाधित थोड़े ही हो जावेगा?

वादीका यह कहना कि-'ये संन्यास लेना आदि धर्म है वा पाप? यदि धर्म है, तो कलिमें इसका निषेध क्यों? यदि पाप है, तो सतयुग आदिमें इसका आदेश क्यों?' इस विषयमें 'आलोक' (६) में ४५५-४५६ में तथा पृ. ४०३-४१३ में तथा 'आलोक' (८) पृ. ६३४-६३५-६४० पृष्ठ तकमें देखना चाहिये। साधारण रूपसे वह जान लेना चाहिये कि-संन्यास कलियुगमें सवसाधारणसे यथावत् निभ नहीं सकता, इसलिए कई हानियाँ उपस्थित हो जाती हैं, एतदर्थ निषिद्ध कर दिया गया था। इसमें पापकी कोई बात नहीं।

(५७) 'हिन्दु' की व्याख्या'। 'शूद्र आर्य नहीं' इस विषयमें 'आलोक' (४) 'हिन्दुके महाभाष्य'में देखें।

(क) जो कि वादी हमें लिखता है-चारों वर्ण गुणकर्मसे आर्य हैं। 'शूद्र भी आर्य होता है-इस विषयमें आप प्रसिद्ध

सनातनधर्मी विद्वान् पं० गङ्गाप्रसादजी शास्त्री कृत 'सनातनधर्म शास्त्रीय अछूतोद्धार निर्णय' वा पं० शिवशंकर काव्य-कृत 'जाति निर्णय' तथा जे. पी. चौधरी काव्यतीर्थ कृत 'वैदिक वर्णव्यवस्था पुस्तक देखें'।

इससे मालूम होता है कि वादी उनके लेखसे बहुत प्रभावित हुआ है, स्वा.द.जीने अधर्माचरणसे तथा मूर्खतासे शूद्र माना है; तब क्या अधर्म तथा मूर्खता असत्यादि आर्यता करने वाले हैं? यदि नहीं तो स्वा.द.जी विद्वान् थे; वा पौराणिक श्रीगङ्गाप्रसादजी उनकी अपेक्षा अधिक विद्वान् हैं? वेदमें आर्यको ज्योति देना लिखा है आर्यसे भिन्नको नहीं। वे सुधारक सनातनधर्मी हैं, केवल इसलिए ऐसा लिखा करते हैं कि-आर्य जैसे आर्यसमाजी उनके काबूमें रहें। अब हम श्रीगङ्गाप्रसादजी 'अछूतोद्धार-निर्णय' तथा 'जाति-निर्णय' से पूर्वपक्ष तथा अपना उत्तरपक्ष लिखते हैं; अब वादीको आह्वान है कि-वह इसका प्रत्युत्तर लिखे—

पूर्वपक्ष (क)—'प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्रे उतार्ये' (अ. १९।६२।१) हे मनुष्यो तुम केवल ब्राह्मणका ही प्रिय न करो, किन्तु सभीका प्रिय करो चाहे वह शूद्र हो; चाहे वैश्य। यहाँपर 'उत अर्ये' यह छेद है जिसका अर्थ होता है वैश्य। 'उत आर्ये' छेद तो ठीक नहीं क्योंकि-ऋसं.में 'विजानीहि आर्यान् ये च दस्यवः' (ऋ. १।५१।८) यहाँ आर्योंसे अतिरिक्तको 'दस्यु' कहा गया है। 'उत आर्ये'

करनेपर शूद्र 'दस्यु' बन जायगा। जब उक्त मन्त्रमें चार वर्णोंका ग्रहण है, तब मन्त्रमें वैश्यवाचक 'अर्य' शब्द भी तो होना चाहिये। इससे वेदने चारों वर्णोंका समानभाव और समान-श्रेणीमें निवासका उपदेश दिया है। (अछूतो. पृ. ११-१२)

पूर्व. (ख) 'रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि। रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्' (यजु. १८।४८) 'हे भगवन्! ब्राह्मणों, राजाओं, वैश्यों तथा शूद्रोंमें ज्योति दीजिये'। यहाँ सब वर्णोंकेलिए समान प्रार्थना है। इसी प्रकार 'प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु। प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्रे उतार्ये' (अ. १९।६२।४) 'हे भगवन्! ब्राह्मणोंमें, राजाओंमें, सब देखनेवालोंमें मुझे प्रिय बनावें, उत शूद्रे उत अर्ये-शूद्र और वैश्योंमें मुझे प्रिय बनावें'। 'प्रियं मा, दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च' (अ. १९।३२।८) ब्राह्मण क्षत्रियकेलिए शूद्राय च अर्याय च-शूद्र और वैश्यकेलिए अर्थात् सबकेलिए मुझको प्रिय करो इन वेदमन्त्रोंमें सर्वोंकेलिए एकसी प्रार्थना है कि-शूद्रादि चारोंमें प्रकाश स्थापित करो। यदि शूद्र निकृष्ट, अधम, धर्मविहीन माना जाय; तो उसकेलिए ऐसी प्रार्थना क्यों? तब तो ऐसी प्रार्थना होनी चाहिये थी कि-शूद्रोंको मेरा दास बनाओ' (जातिनिर्णय ११-१२)।

उत्तरपक्ष (क)-वादी लोग वेदमन्त्रोंका अर्थ कैसे छलसे करते हैं; वहाँ यही प्रमाण पर्याप्त है। वेदमन्त्रोंके अर्थ करनेमें वेदका स्वर तथा पदपाठ भी सहायक हुआ करता है-यह बात

विद्वत्समाजमें प्रसिद्ध है। इस विषयमें 'वैदिक-स्वरमीमांसा' आदि पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। उक्त 'प्रियं मा कृणु' मन्त्रमें 'मा' अनुदात्त है। वेदमें 'मा' उदात्त भी मिलता है, अनुदात्त भी। उसमें निषेध वाची 'मा' शब्द अव्यय होनेसे उदात्त हुआ करता है; परन्तु 'माम्' (मुझको) अर्थको बतानेवाला 'त्वामौ द्वितीयायाः' (पा. ८।१।२३) सूत्रसे निष्पन्न 'मा' शब्द तो 'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' (पा. ८।१।१८) सूत्रसे अनुदात्त हुआ करता है। 'प्रियं मा कृणु' मन्त्रमें 'मा' अनुदात्त ही है, इसमें पदपाठ तथा वेदपदानुक्रमणी देखी जा सकती है, तब 'मा'का अर्थ 'नहीं' कैसे हो सकता है? और वहाँपर 'केवल' शब्दका निर्मूल अध्याहार कैसे हो सकता है? तब उक्त मन्त्रमें 'मा'का अर्थ 'मुझे' है, 'नहीं' नहीं। और उक्त मन्त्रमें 'कृणु' एकवचनान्त क्रिया होनेसे 'हे मनुष्यो!' इस बहुवचनान्त पदका अध्याहार भी गलत है।

इसके अतिरिक्त उक्त मन्त्रमें 'अर्ये' छेद नहीं है, किन्तु 'आर्ये' ही छेद है। इसमें पदपाठ तथा पदानुक्रमणी भी देखी जा सकती है। उसमें पदपाठ तो सायणभाष्यवाले अथर्ववेदमें देखा जा सकता है। पदानुक्रमणी आर्यसमाजी श्रीस्वामी-विश्वेश्वरानन्द स्वा. नित्यानन्दजीसे संगृहीत 'अथर्ववेदपदसूची' (पृ. ४४)में 'आर्ये' (१९।६२।१) यही उक्त मन्त्रका पद स्वीकृत किया गया है।

'चरणव्यूह'की टीकामें पदपाठका तो इतना महत्त्व कहा

गया है—'यस्य मन्त्रस्य पदाऽभावः, तस्य खैलिकत्वं सिद्धम्' (जिस मन्त्रका पदपाठ नहीं, उस मन्त्रको 'खिल' (परिशिष्ट) समझना चाहिये। इस प्रकार पदपाठ मान्य सिद्ध हुआ। इसी प्रकार वादियोंके मान्य श्रीसत्यव्रत-सामश्रमीने भी 'निरुक्ता-लोचन'के 'देवराजादीनां कालादि' प्रकरण (पृ. २८६) में कहा है-'वस्तुतोऽस्याभिः सर्वत्र तथैव अर्थः कल्पनीयः, यथा न विरुध्येत पदपाठः। आर्षं पदपाठमवमत्य अर्थकरणं तु साहसमेव-इत्यत्र कास्ति वक्तव्यता' (हमें पदपाठके अनुकूल ही मन्त्रार्थ करना चाहिये; उसका उल्लंघन करके अर्थ करना तो साहसमात्र होता है)। इस पदपाठकी भी असन्दिग्धताकेलिए क्रम, घन, जटा, माला, शिखा, लेखा, ध्वज, दण्ड, रथ आदि ६ पद्धतियाँ अन्य भी वेदरक्षार्थ नियमित हैं। यदि पदपाठको न माना गया; तो 'न तस्य प्रतिमास्ति'के स्थान 'नतस्य (सर्वलोकनमस्कृतस्य परमात्मनः) प्रतिमास्ति' पाठ किया जा सकता है, इसमें भी वादियोंकी ही क्षति होगी।

उक्त मन्त्रके पूर्वार्धमें प्रधानतावश ब्राह्मण, क्षत्रियोंकी प्रियताकी प्रार्थना की गई है। 'यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च'(यजुः माध्यं. २०।२५) 'नाऽब्रह्म क्षत्रमृध्नोति' (मनु. ६।१२२) इत्यादि-श्रुतिस्मृतियोंमें ब्राह्मण-क्षत्रियोंकी प्रधानता प्रसिद्ध है। उसके बाद सामान्यरूपसे आर्यमात्र तथा शूद्रमें प्रियता कही गई है। इससे शूद्रकी आर्यसे भिन्नता सिद्ध हो रही है। तब यहां बलात् 'अर्य' छेद अप्रामाणिक है। वस्तुतः उक्त मन्त्रमें 'देवेषु'का

'ब्राह्मणोंमें' यह अर्थ कैसे हो सकता है? ब्राह्मण तो भूदेव... मनुष्यदेव कहा जाता हैं, उसे केवल 'देव' नहीं कहा जाता... इस कारण यहाँपर 'देव' शब्द देवता-वाचक है; सो ... देवताओंमें अपने प्रिय होनेकी प्रार्थना है। फिर देवताके सम... अतिमानुष राजामें अपने प्रिय होनेकी प्रार्थना है। 'राज्ञो विश्वजनीनस्य यो देवो मर्त्यान् अति' (अथर्व. २०।१२...) इत्यादि श्रौत-मन्त्रों तथा 'महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति' (मनु. ७।८) इत्यादि स्मार्त-पद्योंमें राजाको देवताके समान अतिमानुष कहना प्रसिद्ध ही है।

उसके बाद उक्त मन्त्रके तीसरे पाद 'प्रियं सर्वस्य पश्यत...' में सारे मनुष्यसंसारमें अपनी प्रियताकी प्रार्थना की गई है। आगे स्पष्टताकेलिए मनुष्यसंसारके दो भाग कर दिये गये हैं-'उत शूद्रे उत आर्ये'। इसका अर्थ है कि-चाहे वह आर्य हो, चाहे शूद्र। इससे शूद्र आर्यभिन्न सिद्ध हुआ। इस प्रकार 'सर्वस्य' पदकी व्याख्या होगई। दो 'उत' शब्द उस व्याख्यानको स्प... करनेवाले हैं।

यदि उक्त मन्त्रमें 'उत शूद्रे उत अर्ये' यही छेद माना जाय, तब 'सर्व' शब्दके ग्रहणमें अस्वारस्य पड़ जाता है-यह सूक्ष्मतया विचार करना चाहिये। 'मुझे सबका प्यारा बना, चाहे वह शूद्र हो, चाहे वैश्य' इस अर्थमें 'सर्व' शब्द अपूर्ण हो जाता है; क्योंकि-वैश्य और शूद्रमें सर्वत्वकी पूर्ति नहीं होती है। यदि 'आर्ये' यही छेद किया जाय, जो है; तब 'मुझे सबका प्यारा...

बना, चाहे वह शूद्र (अनार्य) हो, चाहे आर्य (शूद्रातिरिक्त), अर्थात् त्रैवर्णिक हो-इस प्रकार यह मन्त्र ठीक सम्बद्ध हो जाता है।

बल्कि पूर्वार्धमें 'देव' शब्दके 'भूदेव' अर्थ, और 'राजन्' शब्दका क्षत्रिय अर्थ करनेपर भी 'उत शूद्रे उत आर्ये' यही छेद ठीक है; क्योंकि-पहले तो प्रधान होनेसे ब्राह्मण-क्षत्रियोंकी प्रियताकी प्रार्थना की गई है। फिर कहा गया है कि-सबका मुझे प्यारा बना, बादमें 'सर्व' की स्पष्टता चतुर्थपाद 'उत शूद्रे उत आर्ये'में की गई है, अर्थात् चाहे वह शूद्र (अनार्य) हो, चाहे आर्य। इससे सारे संसारकी पूर्ति होगई; क्योंकि-सभी आर्य एवं अनार्यमें अन्तर्भूत हो जाते हैं। 'मुझे सबका प्यारा बना, चाहे वह शूद्र-हो, वा अर्य (वैश्य), इस अर्थमें 'सर्वस्य' वह शब्द तथा दो बार प्रयुक्त किया हुआ 'चाहे' अर्थवाला 'उत' शब्द अस्वारस्यवाला हो जाता है; क्योंकि-वादीके अनुसार पहले ब्राह्मण-क्षत्रियका नाम आ ही चुका है, तब वैश्य और शूद्रका नाम भी आगया; तब तीसरे पादमें 'सर्व' शब्द और चौथे पादमें दो बार प्रयुक्त किया गया 'उत' शब्द व्यर्थ होता है। इसी कारण 'रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु, रुचं राजसु नस्कृधि। रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्' (यजु. माध्यं. १८।४८) इस मन्त्रमें चारों वर्णोंका नाम कहा है, तभी यहाँपर न तो 'सर्व' शब्द कहा गया; और न ही दो बार 'उत' शब्दका प्रयोग किया गया; परन्तु 'प्रियं मा कृणु' मन्त्रमें देव और राजाका

नाम लेकर, तब 'सर्व' शब्द लिया, फिर चतुर्थपादमें 'उत' शब्दका दो बार प्रयोग किया; इससे वेदको स्वयं भी 'आर्ये' यही छेद इष्ट है।

अन्य मन्त्रोंमें भी शूद्र वेदको आर्यसे भिन्न इष्ट है-यह हम आगे दिखलावेंगे। जिनके दिखलाये मार्गका अनुसरण करके वादी 'आर्य' शब्दके प्रसारणार्थ उत्साहित है; वे स्वा.द.जी भी स.प्र.में उक्त मन्त्रमें 'उत शूद्रे, उत आर्ये' यही छेद स्वीकार करते हैं; उसीके अनुसार ही स्वामीने हिन्दीमें अनुवाद किया है। जैसे कि-'द्विज विद्वानोंका आर्य, और मूर्खोंका शूद्र और अनार्य···नाम हुआ' (स.प्र. ८ पृ. १३६)। अन्य भी कहा है-'उत शूद्रे उतार्ये' (अ. १९।६२) यह लिख चुके हैं···ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य द्विजोंका नाम आर्य, और शूद्रोंका नाम अनार्य··· है। जब वेद ऐसे कहता है, तो दूसरे विदेशियोंके कपोल-कल्पितको बुद्धिमान् लोग कभी नहीं मान सकते' (स.प्र. ८ पृ. १४०) ऋभाभू.के वर्णाश्रमविषय (पृ. २६८) में स्वामीने लिखा है-'उत शूद्रे उत आर्ये' इस मन्त्रमें भी आर्य ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य और अनार्य (अनाडी) जो कि शूद्र कहाते हैं, ये दो भेद जाने गये हैं', इस प्रकार शूद्र अनार्य (आर्यभिन्न) सिद्ध हुआ। तब क्या वादी स्वा.द.जीके इस 'आर्ये' छेद तथा अर्थको मूर्खता-मूलक मानता है? कहां किया है यहाँ स्वामीने 'अर्ये' छेद और 'वश्य' अर्थ, उन्होंने हमारे अनुकूल 'आर्ये' ही छेद किया है। वादी स्वयं बतावे-देखे। तब क्या पं० गङ्गाप्रसादजी पौराणिक

वादीके महर्षिसे अधिक वेदके विद्वान् हैं ? यदि ऐसा है, तो अल्पज्ञ तथा अवैदिक स्वा.द.जीका सम्प्रदाय भी अवैदिक सिद्ध हुआ ?

आर्यसमाजी विद्वान् श्रीराजाराम शास्त्रीजीने भी अपने अथर्ववेदभाष्यमें 'चाहे शूद्र हो, चाहे आर्य' (१६।६२।१) यह अर्थ करके यहाँपर 'आर्य' ही छेद स्वीकार किया है। 'अस्पृश्य-निर्णय'में आर्यस्वराज्यसभाके मन्त्री श्रीरामगोपाल शास्त्री वैद्यभूषण (लाहौर) ने भी 'उत शूद्रे उतार्ये'का 'चाहे शूद्र हों; अथवा द्विज' (पृ. ४) यह अर्थ किया है। उनके मतमें भी यहाँ 'आर्ये' छेद इष्ट हुआ। 'आर्य' शब्दका अर्थ उन्होंने 'द्विज' किया है; 'अर्य' शब्दका अर्थ 'द्विज' नहीं होता। इसलिए उनके मतमें भी शूद्र आर्य सिद्ध न हुआ।

इस प्रकार आर्यसमाजी चतुर्वेदभाष्यकार श्रीजयदेव विद्यालङ्कारने भी 'सबके देखते हुए चाहे वे शूद्र हों, चाहे वे आर्य हों' यह अर्थ करके 'आर्य' यही छेद यहाँ किया है। यद्यपि आर्यसमाजी-भाष्यकार श्रीक्षेमकरणदासने अपने अथर्व-वेदभाष्यमें छेद तो 'आर्ये' ही किया है; और वहाँ 'अत्र ब्राह्मण-राजन्यशब्दयोः श्रवणाद् वैश्यवाचकः' 'आर्य' शब्दको यहां परिशिष्ट वैश्यका वाचक माना है; तथापि उनके मतमें भी शूद्र आर्य सिद्ध न हुआ। इसलिए वहाँ उनने 'आर्य' इति ब्राह्मण-क्षत्रियवैश्यानां पर्यायवचनम्' कहकर त्रैवर्णिकको ही आर्य माना है, शूद्रको आर्य नहीं माना।

इसीलिए ही 'यश्च शूद्र उत आर्यः' (अ. ४।२०।४) यहाँ भी श्रीक्षेमकरणजीने 'जो कोई शोचनीय शूद्र अथवा आर्य-प्राप्त करने योग्य आर्य अर्थात् विद्वान् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य' यह अर्थ किया है। इस प्रकार 'न मे दासो नार्यो' (अ. ५।११।६) मन्त्रमें भी उनने 'दासः-शूद्रः, न आर्यः-न प्राप्तुं योग्यः, अनार्यः' यही अर्थ किया है। इसी प्रकार श्रीजयदेवजीने भी 'चाहे कोई शूद्र हो, व आर्य-उससे उच्च कोटिका पुरुष' यह अर्थ किया है। इस प्रकार अथर्व. १६।३२।८ में भी उनने शूद्र और आर्य श्रेष्ठ पुरुषोंका' यह अर्थ करके शूद्रको अनार्य सिद्ध कर दिया।

इस प्रकार श्रीपाददामोदर सातवलेकरजीने भी 'छूत और अछूत'के पूर्वार्ध ५६ पृष्ठमें लिखा है-'उत शूद्र उत आर्यः' (अ. ४।२०) के सदृश प्रयोग वेदमें कई स्थानोंपर नजर आते हैं, इससे स्पष्ट होता है कि-'आर्य त्रैवर्णिक लोग हैं, और अनार्य शूद्र हैं'। श्रीनरदेवशास्त्री, श्रीदेवशर्मा आदि आर्यसमाजी पण्डित भी अपने-अपने ग्रन्थोंमें उक्त मन्त्रमें 'आर्य' यही छेद स्वीकार कर चुके हैं। आर्यसमाजी श्रीविश्वेश्वरानन्द तथा श्रीनित्यानन्द स्वामीकी वेदपदसूचीकी साक्षी हम पूर्व दिखला ही चुके हैं।

शूद्रके आर्य न होनेमें दूसरे वेदमन्त्रोंकी साक्षी भी लीजिये। जैसे कि-'शूद्राय चार्याय च' (अ. १६।३२।८) यहां भी पूर्वकी ही भांति 'शूद्राय च आर्याय च' यही छेद है। आर्यसमाजी श्रीराजाराम शास्त्रीजीने भी 'शूद्र और आर्यकेलिए' यही अर्थ किया है। श्रीविश्वेश्वरानन्द-नित्यानन्द स्वामियोंसे संगृहीत

अथर्ववेदपदसूचीके ४४ पृष्ठमें भी 'शूद्राय च आर्याय च' यही पद यहाँ निर्णीत किया है, इसी प्रकार श्रीजयदेव-विद्यालङ्कारजीने भी। इस प्रकार शूद्र वेदके मतमें आर्य न रहा।

इसी तरह 'न मे दासो नार्यो' (अ. ५।११।३) में भी पूर्वकी ही भांति 'आर्य' छेद है। इसलिए श्रीराजारामजी शास्त्रीने भी 'न दास, न आर्य' यही अर्थ किया है। दास शूद्रको कहते हैं। इस प्रकार श्रीपाददामोदरसातवलेकरने भी 'छूत और अछूत' पुस्तकके प्रथमभाग (२४ पृ.)में 'न दास-शूद्र समर्थ और न आर्य' यह अर्थ किया है। इस प्रकार श्रीविश्वेश्वरानन्द नित्यानन्द स्वामीसे संगृहीत अथर्वपदसूची (पृ. ४४) में भी उक्त मन्त्रका 'आर्यः' यही पद स्वीकृत किया है। 'यो नो दास आर्यो वा' (ऋ. १०।३८।३) यहाँ 'दास'का अर्थ 'शूद्र' है, इसलिए शूद्रका नाम दासान्त रखा जाता है, यहाँपर तो 'आर्य' शब्द स्पष्ट है ही। इस प्रकार शूद्र आर्यसे इतर सिद्ध हुआ। 'यश्च शूद्र उत आर्यः' (अ. ४।२०।४) यहाँ श्रीराजाराम शास्त्रीने लिखा है-'जो शूद्र, और जो आर्य है'। इस प्रकार बहुत मन्त्रोंकी साक्षी दीखनेसे सिद्ध हुआ कि वेदको शूद्र आर्यसे इतर इष्ट है।

'यथा वशं नयति दासमार्यः' (ऋ. ५।३४।६) यहाँपर भी 'दास' शब्द शूद्रपरक है। यहाँपर आर्य स्वतन्त्र होनेसे कर्ता है, शूद्र परतन्त्र होनेसे कर्म है। 'दासस्य वा मघवन्। आर्यस्य वा' (ऋ. १०।१०२।३) 'दासमार्यं' (अथर्व. ४।३२।१) यहाँपर भी आर्य और दासके अलग-अलग कहनेसे शूद्र आर्यसे भिन्न सिद्ध

हुआ। 'आर्याय वा पर्यवदध्यात्, अन्तर्धिने वा शूद्राय' (१।३। ४०-४१) यह आपस्तम्बधर्मसूत्रका सूत्र भी शूद्रको आर्यसे भिन्न कह रहा है। जब इस प्रकार शूद्र आर्यभिन्न सिद्ध हुआ; तब दस्युकोटिमें अन्तर्भूत हो जाता है, इसीलिए 'विजानीहि आर्यान् ये च दस्यवः' (ऋसं. १।५१।५८) इस मन्त्रकी सार्थकता हुई। इसमें आर्य तो त्रैवर्णिक है-यह स्पष्ट ही है, सो दस्यु त्रैवर्णिकसे भिन्न शूद्र-अन्त्यजादि सिद्ध हुए। दास-दस्यु पर्यायवाचक हैं। इस प्रकार ऋसं.में अन्यत्र भी कहा है-'न यो ररे आर्यं नाम दस्यवे' (ऋसं. २०।४९।३) (मैं-इन्द्रने दस्यु-दास (अनार्य)को आर्य नाम नहीं दिया)।

स्वा.द.जीने भी यह स्वीकार किया है—'यह लिख चुके हैं कि आर्य नाम धार्मिक, विद्वान्, आप्त पुरुषोंका और इनसे विपरीत जनोंका नाम दस्यु...है, तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य द्विजोंका नाम आर्य और शूद्रका नाम अनार्य...है' (स.प्र. ८ पृ. १४०)· 'विजानीहि आर्यान् ये च दस्यवः' यह ऋग्वेदका वचन है। श्रेष्ठोंका नाम आर्य...और दुष्टोंके दस्यु नाम होनेसे आर्य और दस्यु दो नाम हुए' (स.प्र. ८ पृ. १३६)। ठीक भी यही है, क्योंकि-त्रिगुणात्मक सृष्टिमें शूद्र तमोगुणसे बनाया गया है। तब तमः-प्रधानतावश वह दास, वा दस्यु वा आर्येतर कहा जा सकता है।

'प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्रे उतार्ये' (अ. १६।६२।१) इस मन्त्रमें प्रेमभावकी प्रार्थनासे शूद्रसे समान व्यवहार वैदिक

नहीं हो जाता। प्रेमवाद अन्य वस्तु है, और व्यवहारवाद अन्य। 'यो दासं वर्णमधरं गुहाऽकः' (ऋ. २।१२।४) इसमें दास वर्ण (शूद्र)को अधर (निम्न) तथा गुहा (अन्धेरे)में स्थित कहा है। इससे सब वर्णोंका साम्यवाद वेदको इष्ट सिद्ध न हुआ। तब शूद्रको भी द्विजके समान श्रेणीमें रखना जो पूर्वपक्षीसे अभिमत था, वह वेदविरुद्ध ही सिद्ध हुआ। तभी भगवद्गीतामें भी 'ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप!' (१८।४१)में शूद्रोंको ब्राह्मणक्षत्रिय-वैश्यके समाससे विच्छिन्न कर दिया गया।

जब वेदमें शूद्रवर्ण ही आर्य सिद्ध न हुआ; तब अवर्ण अन्त्यज तो स्वयं अनार्य एवं दस्यु सिद्ध हो ही गये। इसलिए मनुजीने भी कहा है—'मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः। म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः' (१०।४५) बहिर्जातिका अर्थ है बाह्यजाति चाण्डाल आदि। आर्यसमाजी श्रीरघुनन्दनशर्माने भी अपनी 'वैदिकसम्पत्ति' (पृ. ४१८)में कहा है 'वर्णाश्रमहीन जातियाँ चाहे आर्यभाषा बोलनेवाली हों, चाहे म्लेच्छ भाषा बोलती हों, सब दस्यु हैं'। पं० नरदेव शास्त्री वेदतीर्थने भी 'आर्यसमाजका इतिहास' (प्रथमभाग पृ. ४३)में लिखा है—'आर्यसे इतर दस्यु कहलाते हैं'। उस दस्युको ऋसं (१।३३।४-५) में अयज्वा और अव्रत कहा है, तब वैदिक-यज्ञ तथा वेदमन्त्रसंस्कृतमूर्तिमें उसका अधिकार नहीं। हाँ, पुराणमन्त्रोंसे संस्कृत भैरव आदिके दर्शनमें तो उसका

अनधिकार नहीं। इस प्रकार चारों वर्णोंमें साम्यवाद वेदविरु[द्ध] सिद्ध हुआ।

(ख) इस मीमांसासे श्रीशिवशङ्करकाव्यतीर्थका भी खण्ड[न] हो गया। उन्होंने 'आर्ये'के स्थान जो 'अर्ये' यह छेद किया है, यह पदपाठसे, स्वा.द.से तथा अन्य विद्वानोंसे तथा स्वयं वेदसे विरुद्ध है। यह अपने वैयक्तिक मतको सिद्ध करनेकेलिए वेदपर किया हुआ सीधा आक्रमण है। काव्यतीर्थजी ऐसे साहस[के] कार्य कर डाला करते थे; जैसे कि—बृहदारण्यक उपनिषद्में जहाँ 'मांसौदन' पाठ था; जिसकी व्यवस्था हमने 'आलोक' (६)में बताई है, उनने 'माषौदन' कर डाला। यह वेदके अभिप्राय[के] विरुद्ध वेदपर छुरी चलाना है। जो कि—उन्होंने कहा है—'[इन] वेदमन्त्रोंमें सबकेलिए एकसी प्रार्थना है कि—ब्राह्मण शूद्र[ादि] चारोंमें प्रकाश स्थापित करो'। यह बात भी काव्यतीर्थजी[की] गलत है, न यह वेदको इष्ट है, नहीं तो उनमें चार संख्या [न] होती। चारोंमें रुक् (प्रकाश) अपने-अपने ही ढंगका होगा; इसलिए व्याख्या करते हुए श्रीउवटाचार्यने भी यह आशय दिखलाया है - 'अनुत्सन्नधर्माणो यथाशक्यं दीप्ता भवेम, [तथा] कुरु'।

वेदमें भी ज्योति आर्यको देना कहा है, अनार्य शूद्रादि[को] नहीं। 'उरु ज्योतिश्चक्रथुरार्याय' (७।५।६) शूद्र आर्य नहीं; [यह] पहले कह चुके हैं। बल्कि शूद्रादिको दासरूपमें आर्यके अधीन करना बताया है—'आर्याय विशोऽवतारीर्दासीः' (६।२५।२)

स्पष्ट है कि-उक्त मन्त्रमें जो शूद्रोंकेलिए 'रुक्' कही है, वह त्रैवर्णिककी रुक् (दीप्ति) से भिन्न है।

तो जैसे 'ब्राह्मणस्य तपो दानं, तपः क्षत्रस्य रक्षणम्। वैश्यस्य तु तपो वार्ता, तपः शूद्रस्य सेवनम्' (११।२३५) इस मनुस्मृतिके पद्यमें समान भी तपस्या-शब्द भिन्न-भिन्न वर्णोंकेलिए भिन्न-भिन्न अर्थको धारण करता है कि-शूद्रका तप सेवा है-इत्यादि, जैसे कि-चाणक्यनीतिमें 'बलं विद्या च विप्राणां राज्ञां सैन्यं बलं तथा। बलं वित्तं च वैश्यानां शूद्राणां परिचर्यिका' (२।६) यहाँ समान भी 'बल' भिन्न-भिन्न वर्णोंकेलिए भिन्न-भिन्न माना गया है, उसमें शूद्रोंका बल परिचर्या (सेवा) बताया गया है। जैसे कि-'कोकिलानां स्वरो रूपं, नारीरूपं पतिव्रतम्। विद्या रूपं कुरूपाणां, क्षमा रूपं तपस्विनाम्' (चाणक्य ३।६) यहाँ भिन्न-भिन्नकेलिए रूप भी भिन्न-भिन्न बताया गया है; वैसे ही उक्त मन्त्रोंमें 'तेज' का पर्यायवाचक 'रुक्' शब्द भी चारों वर्णोंकेलिए भिन्न-भिन्न अर्थको रखता है। सो ब्राह्मणकेलिए 'ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी' (यजुः माध्यं. २२।२२) ब्रह्मवर्चस वा 'शमो दमः तपः शौचं, क्षान्तिः, आर्जव (गीता १८।४२) आदि तेजकी, क्षत्रियकेलिए 'राजन्यः शूर इषव्यः' (यजुः माध्यं. २२।२२) बलरूप तेजकी, वैश्यकेलिए धनरूप शक्तिकी, और शूद्रकेलिए सेवारूप शक्तिकी आवश्यकता उक्त मन्त्रमें इष्ट है-'ब्रह्मणे ब्राह्मणं, क्षत्राय राजन्यं, मरुद्भ्यो वैश्यं, तपसे (सेवायै) शूद्रम्' (यजुःमाध्य. ३०।५) यह वेदकी भी साक्षी है।

इसके अतिरिक्त 'नः ब्राह्मणेषु (हमारे ब्राह्मणों में), नः राजसु (हमारे क्षत्रियोंमें) यह कहकर उनको श्रेष्ठ बताया गया है। शूद्रको सब वर्णोंके अन्तमें रखकर उसे निम्न सूचित किया गया है। 'हत्वी दस्यून् प्र आर्यं वर्णम् आवत्' (ऋ. ३।३४।६) 'विजानीहि आर्यान् ये च दस्यवः'। (ऋ. १।५१।८) यहाँपर आर्येतरोंका हनन (ताडन) और आर्योंकी रक्षा कही है। 'वधीर्हि दस्युं धनिनं घनेन' (ऋ. १।३३।४) 'ज्योतिरिद् आर्याय' (ऋ. १।५६।२) 'अभि दस्युं बकुरेणा धमन्ता उरु ज्योतिः चक्रथुः आर्याय' (ऋ. १।११७।२१) 'अपावृणोः ज्योतिरार्याय नि सव्यतः सादिः दस्युरिन्द्र !" (२।११।१८) इत्यादि पचासों वेदमन्त्रोंमें आर्यकी रक्षा और ज्योतिकी प्राप्ति कही है; और दास वा दस्युको सूर्यकी ज्योति प्राप्त न हो; दासको गुफामें रखा गया है ['यो दासं वर्णमधरं गुहाऽकः' (ऋ. २।१२।४) इत्यादि कहकर वेदने ही आर्य और आर्यतरोंमें साम्यवादके व्यवहारकी जड़ ही काट दी है।

जो कि काव्यतीर्थजीने कहा था कि-यदि शूद्र अधम (निम्न) होता, तो उसकेलिए प्रकाशकी प्रार्थना न होती, उसकेलिए तो यह प्रार्थना होती कि-'शूद्रोंको मेरा दास बनाओ' यह कथन भी शिवशंकर-काव्यतीर्थजीकी वेदानभिज्ञता बता रहा है। यह हम पूर्व कह चुके हैं कि-आर्य त्रैवर्णिक होता है, और आर्यतर दास वा दस्यु। जब शूद्रका नाम दास है; तो अपने आप उसकी दासता होगई; फिर दासताकी उसकी प्रार्थना कैसी; तभी तो स्वा.द.जीके शब्दोंमें सृष्टिकी आदिमें बनी हुई (स.प्र. ११

समुल्लासका आरम्भ) मनुस्मृतिमें शूद्रकेलिए कहा है–'शूद्रं तु कारयेद् दास्यं-दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ स्वयमेव स्वयम्भुवा' (८।४१३) 'दास्यं शूद्र' द्विजन्मनाम्' (८।४१०)

'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' उसमें वादियोंके अनुसार 'दोनों पैर शूद्र हैं' यह अर्थ है, सो पाँवका कर्म द्विजोंकी सेवा होता है; पांव सारे शरीरको उठाकर चल पड़ता है। इसलिए जहाँ भी शूद्रका वर्णन आया है, वहाँ उसका सेवाका कार्य बताया गया है। जैसेकि–पञ्चविंश-ब्राह्मणमें–'सर्वस्य ··· न कश्चन देवता, शूद्रो ··· तस्मात् शूद्र उत बहुपशुः अयज्ञियः, विदेवो हि ··· तस्मात्तु पादौ अवनेजयन् वर्धते, पत्तो हि सृष्टः' (६।१।११) यहाँपर शूद्रका पाँववाला काम (दास्य) बताया गया है। ऐतरेयब्रा.में–'शूद्रकल्पः, अन्यस्य प्रेष्यः (दास.) कामोत्थाप्यः, यथाकामवध्यः'। यहाँपर शूद्रको दास (परिचारक) बताया गया है। इसीको लक्ष्य करके बौधायनधर्मसूत्रमें कहा है–'शूद्रेषु पूर्वेषां परिचर्या' (१।१८।५) गौतमधमसूत्रमें भी कहा है–'परिचर्या च उत्तरेषाम्' (१०।५७) इस प्रकार वशिष्ठधर्मसूत्रमें–'तेषां परिचर्या शूद्रस्य' (२।२०) मनु. (१।९१) याज्ञव. (१।१२०) 'दासः शूद्रस्य कारयेत्' (यम) 'प्रजापतिर्हि वर्णानां दासं शूद्रमकल्पयत्' (महा. शान्ति. ६०।२८) इत्यादिमें शूद्रका दास्य स्पष्ट है।

उसी शूद्रको वेद 'दासं वर्णमधरं गुहाऽकः' (ऋ. २।१२।४) दास एवं निम्न तथा अन्धेरेमें कहता है। इससे श्रीशिवशंकरकाव्यतीर्थके 'जातिनिर्णय' का भी खण्डन होगया। शेष

जे.पी. चौधरीकी पुस्तक हमें मिली नहीं। उसमें भी यही प्रमाण होंगे, 'प्रधानमल्लनिबर्हण' न्यायसे उनका भी खण्डन होगया। यदि वादीको चौधरीजीकी पुस्तकपर अधिक विश्वास है, तो वह उसे हमारे पास भेज दे, हम उसका खण्डन कर देंगे; क्योंकि–यह लोग पूर्वापर छिपाकर असत्य लिखा करते हैं।

(५७) (ख) आगे वादी लिखता है कि–'हिन्दु' शब्दकी व्याख्या पर जो आपका लेख 'वैदिकधर्म'में निकला था—का युक्तियुक्त उत्तर मैंने 'आर्यमित्र' में छपवाया था, जिसपर आपकी लेखनी नहीं उठी'। यदि वादी उसे 'वैदिकधर्म'में देता; तब तो हमें पता लगता; उसपर प्रत्युत्तर भी दिया जाता। 'आर्यमित्र' मेरे पास आता नहीं, मुझे क्या पता चल सकता था? तब उसपर 'आपकी लेखनी नहीं उठी' यह वादीका कथन असत्य सिद्ध हुआ। यह वादीका तरीका और चालाकी रहती है, वह किसी पत्रमें कुछ लिख देता है, जिसका हमें पता नहीं होता; और फिर प्रत्युत्तर न देनेका उपालम्भ दे देता है। अब हम उसका प्रत्युत्तर यहीं देते हैं।

(ग) वादी कहता है कि–'वेदोंके सभी शब्द यौगिक हैं' यह गलत है, वेदमें योगरूढ शब्द भी आते हैं। वादीके स्वामीने लिखा है—'यह सब वेदमें यौगिक और योगरूढ हैं, केवल रूढि नहीं'। (निघण्टु वैदिककोष-भूमिका)। भगवद्दत्तजी आर्यसमाजी लिखते हैं—'मन्त्रोंके पद यौगिक योगरूढ हैं. ऐसा ही सब वेदवित् मानते हैं, (वैदिक वाङ्मय

इतिहास २य भाग पृ. १०६)। जब योगरूढ भी शब्द वेदमें है; तब वादीकी इष्ट केवल यौगिकता कट गई। इस विषयमें 'आलोक' (८) पृ. १४९-१६६ देखना चाहिये। योगरूढिता हुई, तो इतिहास-भूगोलादि सभी उसमें सिद्ध होगया। फिर 'सिन्धु' शब्द भी उसमें भारतवर्ष वाचक सिद्ध है।

(घ) हमारे देशके साहित्यमें 'हिन्दु' शब्द थोड़ा मिलता है, विदेशी साहित्यमें अधिक-इसमें कारण हम 'आलोक' (४) में दे चुके हैं। साधारण कारण यह है कि-पूर्व समयमें एक समष्टि नामके उच्चारणकी शैली नहीं थी। पहले तो चार वर्णोंके नामकी ही प्रवृत्ति थी। इधर अपनी जातिका नाम जितना इतर जातियों-के साहित्यमें मिल सकता है, उतना अपनी जातिके साहित्यमें नहीं मिला करता। यह बात स्वाभाविक है। 'आर्य' शब्द भी 'शूद्र-अन्त्यज' आदि सभी जातियोंका नाम किसी भी प्राचीन-साहित्यमें नहीं मिलता, किन्तु श्रेष्ठवाचक अथवा त्रैवर्णिक-वाचक मिलता है, अतः यह शब्द भी एकदेशी होनेसे वादीका पक्ष गलत सिद्ध होगया। वादी यदि 'हिन्दु' यह नाम विदेशियों-की देन मानता है; तो इसका मूल कहांसे लिया गया, यह बतावे। वह यही 'सिन्धु' शब्द ही तो है; और वह वैदिक है।

(ङ) वादी कहता है-'वेदमें देशका नाम नहीं हैं' पर वह देखे कि 'किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु' (ऋ. ३।५३।१४) यहाँपर श्रीयास्कने 'कीकट'को अनार्योंका देश लिखा है-'कीकटा नाम देशोऽनार्यनिवासः' (नि. ६।३२।१)। वैदिककालमें इतनी छूतछात थी

कि-अनार्योंको आर्यदेशमें रहनेकी आज्ञा भी नहीं थी; तब 'सिन्धु' यह 'आर्यदेश' था। कीकटका वर्णन पुराणमें भी आता है। देखो 'कीकटे देश आगत्य' (भविष्य. ३।४।२०।८४) जब वेदमें अनार्यदेश 'कीकट'का नाम आता है; तब आर्यदेश 'सिन्धु'का नाम वेदमें क्यों न आवे ? श्रीसत्यव्रतसामश्रमीने भी 'सिन्धु'को वैदिककालका आर्यावर्त माना था'। देखो 'आलोक' (४) पृ. ६७।

(च) 'हिरा, सिरा'का एक ही अर्थ नस-नाड़ी है, 'सरितः-हरितः'का एक ही अर्थ है 'नदी'। 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च'के स्थान जहाँ 'ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च' यह पाठान्तर है, वहाँ 'ह्री'का अर्थ 'श्री' ही है। इस पर ४र्थ पुष्प देखो। इससे श्रीवेदानन्द-जीका भी खण्डन होगया। (छ) हिन्दु जब 'सिन्धु'का बिगड़ा रूप है, तो 'सिन्धु' तो 'वैदिक' देन है, 'विदेशी' नहीं। शेष रहा 'स'को 'ह', हम वहाँ सिद्ध कर चुके हैं कि-'स'को 'ह' अपना देशी भी है, इस विषयमें ४र्थ पुष्पमें हमने स्पष्टता की है, वादी उसका खण्डन नहीं कर सका। जोकि-वादी कहता है कि 'सिन्धु'का अर्थ 'नदी' है; तो पहले नदीके नामोंसे देशका नाम होता था, जैसे कि-पञ्जाब, पञ्चनद। इस विषयमें हमने ४र्थ पुष्पमें 'वैदिक-धर्म'के अपने लेखकी अपेक्षा बहुत विशेषता की है, वादीको सब प्रश्नोंका उत्तर इसी पुष्पमें मिलेगा।

(ज) मुहञ्जोदाड़ोकी खुदाई जिनकी अध्यक्षतामें हुई थी, उन्होंने अपना जो अभिप्राय लिखा था, वह हमने लिख दिया

था। अब जो वादीने अन्य कई ऐतिहासिकोंके प्रमाण दिये हैं, उनमें उसने अपने पक्षका खण्डन स्वयं ही कर दिया है, बधाई हो। उन लोगोंने लिखा है-'इन्द्र लिङ्गपूजकों (शिश्नदेवों)को घृणाकी दृष्टिसे देखता था' ये 'शिश्नदेवाः' शिश्न और शेषकी पूजा करते थे'। 'वैदिक-साहित्यमें शिश्नदेवताओंकी निन्दा की है'। 'ऋ. ७।२१।५ में प्रार्थना की गई है कि—'शिश्नदेव' (लिङ्गदेवत) हमारे यज्ञको न बिगाड़े''। जब वेद उन 'शिश्नदेवों' की इन लोगोंके अनुसार 'निन्दा' कर रहा है, तो लिङ्गोपासना वैदिककालसे प्राचीन अथवा वैदिककालकी सिद्ध हो गई। तब मुहञ्जोदड़ोसे निकले शिवलिङ्ग भी वैदिककालके हो गये। तब वादीका पक्ष भी उष्ट्रलगुडन्यायसे कट गया। इन बातोंसे 'सिन्धु-इन्दु'की समता निर्मूल न हो सकी।

(झ) 'हिं कृण्वती दुहाम्' से हमने जो 'हिन्दु' शब्द सिद्ध किया था, उसमें उपपत्तियाँ भी दी थीं। उसमें वेदत्रयके 'अ, उ,म्'से निष्पन्न 'ओम्'का उदाहरण भी दिया था, वादी उसपर कुछ भी न बोल सका। स्वार्थपर वादीको सायणाचार्य भी याद आ जाता है। क्या वादी सायणाचार्यकी लिखी बातें मानता है? 'अघ्न्या'का अर्थ 'अहन्तव्या' नहीं है—यह हमने कब कहा है? सायण आदिका यहाँ कोई विरोध नहीं है। सबकी सूझ एक-जैसी नहीं होती। जहाँ 'गो'को मारना अर्थ प्रतीत होता हो, वहाँ 'गो' शब्द 'पशु' वाचक होता है, यह हम 'आलोक' (६) में स्पष्ट कर चुके हैं।

शेष रहा—देवराजने 'अघ्न्या' वाले मन्त्रमें 'हिन्दु'की कल्पना नहीं की; कल्पना तो 'द्वादश प्रधयः' मन्त्रमें स्वा.द.से की हुई हवाई जहाजकी श्रीयास्कने भी नहीं की; देवराज यज्वाने भी नहीं की; तब क्या वादी स्वा.द.जीका हवाई-जहाजका अर्थ गलत माननेको तैयार है? सबको समान स्फूर्ति नहीं हुआ करती।

(ञ) शेष जो कई मन्त्र 'मांसमुपसिच्य उपहरति' इत्यादि लिखे गये हैं, उसका यह तात्पर्य है कि-वेदमें जो 'मांस'का अर्थ होगा, वही वेदके भाष्य पुराणोंमें भी। गायके 'अघ्न्या' विषयमें तो हम वादीके लेखसे पहले ही लिख चुके थे कि-जहाँ 'वध' अर्थमें 'गो' शब्द दीख रहा हो; वहाँ गायके 'अघ्न्या' होनेसे 'गो' शब्द अन्य-पशुवाचक है। जैसे कि वेदमें आया है-'शसने न गावः' (ऋसं. १०।८६।१४) यहाँ हिंसास्थानमें आये हुए 'गो' शब्दका क्या वादी 'गाय' अर्थ करेगा; वा पशु? आर्यसमाजी भाष्यकार श्रीजयदेवविद्यालङ्कारने भी 'हत्यास्थानमें वे पशुओंके तुल्य मरकर' यही अर्थ किया है। श्रीसायणने भी 'विशसनस्थाने पशव इव' यह अर्थ किया है। तब क्या वादी यहाँ बलात् 'गो'का 'गाय' अर्थ करके वेदोंको भी इससे वाममार्गका ग्रन्थ कह देगा? वादी एक अन्य मन्त्र भी देख ले—'वि पर्वशः चकर्त गाम् इव असिः' (ऋ. १०।७९।६) यहाँ तलवारसे 'गो'का टुकड़े कर देना वेदने कहा है; तब क्या इससे वादी गायका तलवारसे काटना वेदसम्मत मान लेगा? यदि नहीं; तब वेदानुसारी

पुराणोंमें भी वेद-जैसा ही अर्थ होगा।

(ट) जो कि वादीने श्रीनरदेवजी शास्त्रीका अपना मत दिया है कि-'सिन्धुप्रदेशवासियोंको ईरानी आदि उच्चारणकी असमर्थता-के कारण 'हिन्दु' कहते रहे। पहले यह 'हिन्दु' शब्द निर्दोष रहा', इससे वादीका ही खण्डन होगया; क्योंकि-शास्त्रीजीने इससे यह स्वयं सिद्ध किया है कि-इस देशका नाम 'सिन्धु' था। तब 'सिन्धु' इस देशका मूल नाम सिद्ध हुआ, 'हिन्दु' उसका शास्त्रीजीके मतमें ईरानी आदियोंकी असामर्थ्यवश उच्चारण सिद्ध हुआ। तथा—'हिन्दु' शब्द उस समय निर्दोष सिद्ध रहा। तब इसमें 'हिन्दु' शब्दकी सिद्धि तो हो ही गई। परन्तु हम 'स' का उच्चारण 'ह' होनेमें देशीपन ४र्थ पुष्पमें लिख ही चुके हैं।

(ठ) आगे वादीने श्रीनरदेवजीका मत यह लिखा है कि-पहले-पहल 'हिन्दु' शब्द निर्दोष रहा, फिर कालान्तरमें इसके अर्थ विपरीत हुए। ...'सिन्धु'से बने हुए 'हिन्दु'-शब्दके विकृत अर्थ चोरआदि हो गये'। इससे उष्ट्रलगुडन्यायसे वादीका ही खण्डन होगया। पं० नरदेवजीने भी 'सिन्धु' शब्दसे ही 'हिन्दु' माना। सो 'सिन्धु' शब्द तो विदेशियोंसे रखा नहीं गया; वह तो वैदिककालका शब्द सिद्ध हुआ। 'आर्यावर्त' या 'आर्यदेश' वेदमें कहीं नहीं आया। यदि आया है; तो वादी उसे वेदसे दिखलाए ?

(ड) 'पृथ्वीराजरासो'को भले ही किसीने जाली ठहराया हो, पर उसमें स्थित 'हिन्दु' शब्द जाली कैसे होगया ?। फिर तो उसमें स्थित राजा पृथिवीराज भी जाली हो जायगा। पर यह

अनिष्ट है। आर्यसमाजके अनुसन्धाता श्रीभगवद्दत्तजी 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' (प्रथम भाग पृ. ३०) में 'पृथिवीराजरासो'को प्रामाणिक ठहराते हैं, अब क्या वादीकी शक्ति है कि-वह अपने अनुसन्धाता आर्यसमाजीजीका खण्डन कर सके ?

(ढ) जो कि वादी कहता है कि-'इमं मे गङ्गे !' आदि मन्त्रोंमें न तो नदियोंका वर्णन है, न देशोंका, यह कहकर वह स्वा.द.जीका प्रमाण देता है-'इडापिङ्गलादीनां गङ्गादिसंज्ञाऽस्तीति' तब क्या स्वा.द.जीका वचन प्रमाण होगया कि-उन्होंने जो लिख दिया; वह ठीक है ? जब स्वामीजी तथा वादी वेदमें संज्ञा-शब्द (रूढ) नहीं मानते; तो वहां स्वामीने नाड़ीमें रूढ अर्थ वेदमें कैसे कर दिया ? श्रीचन्द्रमणि विद्यालङ्कारका भी अर्थ गलत है। यहां ७ नदियों (गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री, परुष्णी, मरुद्वृधा, आर्जीकीया [व्यासा]) तथा असिक्नी, वितस्ता, सुषोमा तीन उपनदियोंका वर्णन है, इससे अग्रिम मन्त्रमें सिन्धु, गोमती आदि नदियोंका वर्णन है। पर चन्द्रमणि-जीने इनमें इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा इन तीन नाडियोंका बार-बार वर्णन किया है; और उसमें भी प्रमाण कुछ नहीं दिया। शुतुद्री (सतलुज), परुष्णी, (रावी), सरस्वती भिन्न-भिन्न नदियाँ हैं, यहां उन्हींकी स्तुति की गई है, यहां परमेश्वरकी स्तुति कहांसे आगई ?। और यह तीन नदियां एक ही सुषुम्णा नाड़ी कैसे बन गई ? और 'शृणुहि' नाड़ियां परमेश्वरकी स्तुति क्या सुनेंगी ? करें स्तुति परमेश्वरकी; पर उस स्तुतिको परमेश्वर न सुन कर

नाड़ियां ही सुनें-यह कैसी बात ? क्या जड़ नाड़ियां भी परमेश्वरकी स्तुति सुनती हैं ? यदि ऐसा है, तो पत्थर भी फिर परमेश्वरकी स्तुतिको सुनेगा-ऐसा मान लो। इसमें 'परमेश्वर'की स्तुति तो कहीं आई नहीं है, किन्तु इन नदियोंकी-वादीके अनुसार नाडियोंकी स्तुति, अथवा नाडियोंमें परमेश्वरकी उपासना आई है; सो यह जडपूजा होनेसे मूर्तिपूजा वैदिक सिद्ध होगई ? एक बातको बचाते हुए वादी दूसरे जालमें फँस गया ! फिर नाडीकी तरह मूर्तिमें भी परमेश्वरका ध्यान क्यों नहीं हो सकता ? अथवा मूर्तिके सामने परमेश्वरकी स्तुति पालीरत्नजी क्यों नहीं सुनाते ? क्या इसलिए कि-स्पष्ट मूर्तिपूजाके आगे सिर झुकाना पड़ता है !!

जब इस मन्त्रकी देवता नदियां हैं, (देखो वैदिकयन्त्रालयकी मूल ऋग्वेदसंहिता (पृ. ९६४). नाडियां देवता नहीं, निरुक्तमें भी 'नद्यः-नदना इमा भवन्ति शब्दवत्यः' (निरु. २।२४।५) ऐसा ही है, क्या 'नदी'का अर्थ 'नाडी' होता है ? तब नाडियाँ अर्थ कैसे किया जा सकता है ? क्या वेदमें वादी कहीं दिखला सकता है कि-गङ्गा आदि १० नदियाँ इडा आदि तीन नाडियोंका नाम है ? वादी तो वेदमें 'संज्ञा-शब्द' (नाम) मानते नहीं; तब नाडियोंकी गङ्गा आदि संज्ञा कहांसे आगई ? अतः वादीका यह प्रमाण-रहित कथन निर्मूल है।

(ए) 'वेदमें कहीं देशविशेषका नाम नहीं है' यह वादी लिखता है-फिर श्रीयास्कने निरुक्तमें 'कीकट' अनार्य देशका

नाम (संज्ञा) वेदमें कैसे माना ? वादी वेदमेंसे देखकर गङ्गा आदि नाम रखना कहता है; यह वादी विरुद्ध बात कहता है। जब उसके अनुसार वेदमें गङ्गादि शब्द नाडियोंका नाम हैं, तो 'गङ्गा' यह नदीका नाम क्यों रखा गया ? इन नाडियोंके नाम गङ्गा आदि लोकमें क्यों नहीं रखा गया ? जिस-'हठयोगप्रदीपिका'को अप्रमाण माना जाता है, उसी हठयोगप्रदीपिकाकी 'इडा भागीरथी गङ्गा' (३।६) परिभाषा वेदमें कैसे लाद दी गई ? फिर पुराणोंमें भी जहाँ वादीको 'गोमांसभक्षण' प्रतीत होता है, वहाँ वह 'हठयोगप्रदीपिका'के अनुसार 'गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि। गोमांसभक्षणं प्रोक्तं महापातकनाशनम्' यह परिभाषा क्यों नहीं मान लेता ? पर जब यह कहा जाता है तो 'हठयोगप्रदीपिका'को 'आर्यपथिक'जी गाली दे देते हैं कि 'हठयोगप्रदीपिका'का आपने यह प्रमाण दिया; हमारेलिए वह कुछ भी मान्य नहीं। 'जैसे उदई वैसे भान, उनके चोटी न उनके कान'। हमारेलिए जैसे पुराण अप्रामाणिक, वैसे 'हठयोगप्रदीपिका' (दो शास्त्रार्थ पृ. १६)। स.प्र. ३ पृ. ... स्वा.द.जीने 'योगमें हठयोगप्रदीपिकादिको जालग्रन्थ' माना है, उसी जालग्रन्थ हठयोगप्रदीपिकाकी गङ्गा आदिकी भी परिभाषा (३।६) वेदमें मान ली गई। इससे वेदने वा स्वा.द.जीने वैदिकम्मन्योंके सिद्धान्तकी नाक काट ली।

फलतः वादीने जो मत लिखे हैं; यह आर्यसमाजियोंके और अपने दृष्टिकोणके हैं; अतः साध्य हैं, सिद्ध नहीं। ...

वादीको पालीरत्नजीका गलत अर्थ न मानकर उक्त मन्त्रमें गङ्गा आदि नदियोंका नाम ही मानना चाहिये; और वेदमें उनका नाम भविष्यत्-दृष्टिसे मानना चाहिये। यदि हमारा यह समाधान वादीको पसन्द न हो; तो हम उसे स्वा.द.जीका कहा यही समाधान बताते हैं। स्वा.द.जी ऋभाभू.में लिखते हैं—'ईश्वरस्य त्रिकालदर्शित्वात्। ईश्वरो हि त्रीन् कालान् जानाति' (पृ. ८६) 'इस मन्त्रमें वेदोंके कर्ता त्रिकालदर्शी ईश्वरने भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालोंके व्यवहारोंको यथावत् जानके कहा है' (पृ. ८७) तब गङ्गादि नदियोंका नाम भी भविष्यमें जानकर परमात्माने वेदमें गङ्गा आदि नदियोंका नाम लिखा। त्रिविध-प्रक्रिया भी आप लोग मानते ही हैं; तब गङ्गा आदि नदियोंके अर्थको भी नहीं छिपाया जा सकता।

नस-नाडियाँ तो लोहूसे सनी हुई होती हैं, ध्यानके समय उनमें लहू और हड्डी आदिका ध्यान भी आ सकता है, पर पत्थरकी शुद्ध मूर्तिमें वह बुरा ध्यान नहीं आ सकता। अतः नाड़ीपूजा छोड़कर वेदोक्त नदीपूजा वा मूर्तिपूजा मान लो।

(त) 'हिन्दु' शब्द मुसलमानोंके यहाँ अधार्मिककेलिए प्रयुक्त होता है। इस मतका हम चतुर्थ पुष्पमें (पृ. ६१-६५) खण्डन कर चुके हैं। उन्हींके कोषमें 'आर्य' शब्द 'घोड़ेके पिछले भाग' का नाम है; तो फिर 'आर्य' शब्दको भी छोड़ दीजिये। मुसलमानोंसे भिन्न कोई भी हो; उनकेलिए वह काफिर (भिन्न-धर्मी) है। यदि जातिवाचक 'हिन्दु' शब्द नहीं आता; तो जाति-

वाचक 'आर्य' शब्द भी नहीं आता। पहले प्रायः चार वर्णोंके निर्देशका प्रचार था, समूचा एक-जातीय नाम प्रायः नहीं होता था।

वादीसे उल्लिखित डा० गौरी. ओझाने मूल शब्द 'सिन्धु' ही माना है, वादी भी उसे मान ले। 'आर्यपुत्र' ससुरको कहा जाता था, इसमें क्या 'आर्य' शब्द 'हिन्दु' जातिवाचक है? वस्तुतः यह सब मत सुधारकोंके हैं; इन सबका प्रत्युत्तर हम ४र्थ पुष्पमें दे चुके हैं, पर वादी उन प्रत्युत्तरोंको छिपाकर पूर्व-पक्षका पुनः पिष्टपेषण कर देता है। 'वैदिकधर्म'में छपा हमारा लेख संक्षिप्त था, ४र्थ पुष्पमें हमने सब शंकाओंका समाधान कर दिया था; वादी उसे देखे, तो उसकी सब शंकाएँ मिटेंगी।

(थ) स्वा.द.का मत वादीने दिया है कि–'आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः' (पाणिनि) उस समय ब्रह्मचारी और ब्राह्मणका नाम आर्य था'। अब भ्रान्त-पथिक बेचारा 'आर्य' नहीं रहा; क्योंकि–न तो वह ब्राह्मण है, न ब्रह्मचारी। क्या यहाँका 'आर्य' शब्द जातिवाचक है? क्या 'आर्यावर्त' शब्द वेदमें है? क्या आर्यावर्त सारे भारतका वाचक है? इस प्रकार वादीकी 'हिन्दुशब्दकी व्याख्यापर वैदिक दृष्टि' बेचारी मारी गई, वह वेदसे भारतवाचक 'आर्यावर्त' शब्द तथा 'अन्त्यजान्त सबका नाम 'आर्य' है'–यह सिद्ध न कर सका। तब हमारा पक्ष अक्षत रहा।

(द) हमने 'आर्यसमाज' वेदमत नहीं, किन्तु 'दयानन्दमत' है, इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण 'नीरक्षीर-विवेक'को दिया था। फिर

'प्रत्यक्षे किं प्रमाणान्तरेण'; अन्य प्रमाणकी क्या आवश्यकता थी ? अभी तक तो वादीको यह भी मालूम नहीं कि—वेद क्या वा कितना है ? जो भी बात वादी पुराणसे भी बता दे; तब तो वह वेदकी हो जाती है। यदि हम वेदसे कोई बात बतावें; तो वह उसके अनुसार पुराणकी बन जाती है; अतः स्वा.द.के अनुसार ही वेदका अर्थ करना यह दयानंन्दीपन है। वेदका तो 'लेबिल' मात्र है। यही बात 'आलोक' ग्रन्थमालासे हम सिद्ध कर रहे हैं।

(५६) आगे वादी देवीभागवतसे कुछ पद्य उद्धृत करता है। वहाँ लिखा है—'स्मृतयश्च श्रुतेरर्थं गृहीत्वैव च निर्गताः। मन्वादीनां श्रुतीनां च ततः प्रामाण्यमिष्यते' (७।३६।१७) इसमें लिखा है कि—स्मृतियाँ वेदके अर्थको लेकर निकली हैं, अतः मन्वादि-स्मृतियोंका भी प्रामाण्य है। आगे पाठ है—'क्वचित् कदाचित् तन्त्रार्थः कटाक्षेण परोदितम्। धर्मं वदति सोंऽशस्तु नैवं ग्राह्योऽस्ति वैदिकैः' (१८) यहाँ इस पद्यका अर्थ अन्य है, और वादीने अन्य अर्थ कर दिया। वह लिखता है—'परन्तु उसमें भी कहीं-कहीं बुरी भावनासे अन्य लोगोंने प्रक्षेप कर दिया है, और उसे लोग धर्म कहते हैं, वैदिक उन्हें ग्रहण न करें'।

यहाँ तो यह अर्थ है कि—कहीं तान्त्रिक पुस्तक कटाक्षसे दूसरेसे कहे हुए धर्मको भी कहते हैं, वैदिक उनको ग्रहण न करें। यहाँ स्मृतिकेलिए यह बात नहीं, यहाँ तो श्रुति-स्मृति इन दोनोंको ही 'योऽवमन्येत ते मूले (श्रुतिस्मृती)' (२।११) इस

मनुवचनकी भांति प्रमाण माना गया है। इस मनुवचनका ... 'वेदविरुद्धमतखण्डन' (शता.सं. पृ. ८०३) में स्वामीने लि... है—'जो तर्कशास्त्रके आश्रयसे वेद और धर्मशास्त्रका अपमान क... है, श्रेष्ठ पुरुषोंको योग्य है कि—उसको अपनी मण्डलीसे निका... कर बाहर कर देवे, क्योंकि—वह वेदनिन्दक होनेसे नास्तिक है'। यह बात युक्तिवादी आप लोगोंपर पूरी घटती है। श्रीदे... भागवतमें यही कहा है—'श्रुतिस्मृतिभ्यामुदितं यत् स ध... प्रकीर्तितः' (७।३६।५)। हाँ, तन्त्रके विषयमें दे.भा.में कहा है कि—उसकी कई बातें ग्राह्य नहीं।

७।३६।१६वें श्लोकमें कहा है—'मैं' (देवी) सर्वज्ञ तथा स... शक्तियुक्त हूँ, वेद मुझसे निकला है; सो मुझे अज्ञान न होनेसे वे... तो प्रमाण है ही। फिर १७वें पद्यमें कहा है—'स्मृतयश्च श्रुते... गृहीत्वैव च निर्गताः। (अर्थात् स्मृतियां भी श्रुतिके ही अर्थ लेक... निकली हैं; अतः मनु आदियोंकी स्मृतियाँ भी प्रमाण हैं— 'मन्वादीनां श्रुतीनां च ततः प्रामाण्यमिष्यते' (१७) यहां 'श्रुतीनां' का अर्थ 'श्रुतिस्वरूप स्मृतियां' हैं, अतः स्मृतियोंमें वेदविरुद्ध कुछ भी नहीं कही गई। इसलिए वे.वि.म.खं.में जिसका उद्धर... हम पूर्व कर चुके हैं, वहां तर्कके द्वारा धर्मशास्त्र (स्मृति) क... अपमान करनेवालेको भी 'वेदनिन्दक' ही माना गया है। १८वें पद्यमें तन्त्र-ग्रन्थोंमें कहीं-कहीं वेदविरुद्धता सूचित की ग... है, जैसेकि—अन्यत्र भी सूचना दी गई है—'वेदाऽविरोधि चे... तन्त्रं तत्प्रमाणं न संशयः। प्रत्यक्ष-श्रुतिरुद्धं यत् (तन्त्रं) त...

प्रमाणं भवेन्न च' (देवी. ११।१।२५)।

अब वादीने बड़ी श्रद्धासे देवीको अज्ञानरहित तथा श्रुति (वेद) को उस देवीसे उद्गत मान लिया। देवीनें स्मृतिको भी श्रुतिका अर्थ होनेसे 'श्रुति' शब्दसे श्रुतिरूप मान लिया। अब देवीजी स्वयं कहती हैं 'मदाज्ञारक्षणार्थं तु ब्रह्मक्षत्रियजातयः (२१) सृष्टाः, ततो ज्ञेयं रहस्यं मे श्रुतेर्वचः। यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भूधर! (२२) अभ्युत्थानमधर्मस्य तदा वेषं बिभर्म्यहम्' (२३) यहां देवीने अवतारवादको वैदिक बता दिया है; और इसे श्रुति (वेद)का वचन कह दिया है। जब प्रतिपक्षी देवीके वेदमें अज्ञान नहीं मानता, तब वह अवतारवादको भी मान लें; और अवतारवादका अपना साम्प्रदायिक खण्डन अज्ञानमूलक मान लें।

वादीने जिस प्रकरणसे यह पद्य दिये हैं; वहां देवीकी पूजाका वर्णन चालू है। जैसे कि-'द्विविधा मम पूजा स्यात्... वैदिकी तान्त्रिकी तथा (३) वैदिक्यर्चापि द्विविधा मूर्तिभेदेन भूधर! वैदिकी वैदिकैः कार्या' (४) तन्त्रोक्तदीक्षावद्भिस्तु तान्त्रिकी संश्रिता भवेत् (५)

फिर देवीने अपनी दो प्रकारकी पूजाकी स्पष्टता की है— 'यन्मे साक्षात्परं रूपं दृष्टवानसि भूधर! अनन्तशीर्षनयनमनन्तचरणं महत् (७) यहां भी देवीने अवतारवाद वैदिक सिद्ध कर दिया है। 'तदेव पूजयेन्नित्यं नमेद् ध्यायेत् स्मरेदपि' (८) इस देवीके साक्षात् अवताररूपको नमस्कार, ध्यान, स्मरण करके

मूर्तिपूजा बताई गई है। २१ में श्रुति-स्मृतिप्रोक्तको धर्म माना गया है। 'मूर्तौ वा स्थण्डिले वापि तथा सूर्येन्दुमण्डले। जलेऽथवा बाणलिङ्गे यन्त्रे वापि महापटे' (३८) यह मूर्तिपूजा भी बताई है, और यह भी बताया है कि-जब तक भीतरी पूजामें अधिकार नहीं हो जाता, तब तक बाह्यपूजा करता रहे। पीछे [परमहंसावस्थामें] बाह्यपूजाका छोड़ना कहा है—'यावदान्तरपूजायामधिकारो भवेन्नहि। तावद् बाह्यामिमां पूजां श्रयेद्, जाते तु तां त्यजेत्' (४३) यह भी स.ध.का पक्ष है। आशा है-अब वादी भी दुर्गापूजा शुरू कर देगा।

स्वा.द.जी भी दुर्गा (शक्ति) पूजा मान गये हैं। उन्होंने पञ्चमहायज्ञविधिमें लिखा है—'भद्रकाल्यै नमः' भद्रं-कल्याणं कालयितुं शीलमस्याः सा भद्रकाली ईश्वरशक्तिः' (शता.सं. पृ. ८८७) यहां स्वामीजीने ईश्वरीशक्तिको नमस्कार कराया है। शक्ति जड़-पदार्थ हुआ करता है, उसको नमस्कार करना (सिर झुकाना, णम प्रह्वत्वे) उनके मतमें मूर्तिपूजा है। जैसा कि-स.प्र.में लिखा है-'किसी जड़ पदार्थके सामने शिर झुकाना वा उसकी पूजा करना सब मूर्तिपूजा है' (११ पृ. २३०)। 'पूजा'की स्पष्टता स्वामीने ऋभाभू.में की है-'पूजनं-पूजा, सत्कारः, प्रियाचरणमनुकूलाचरणं च इत्यादयः पर्याया भवन्ति। इयं पूजा चक्षुषोपि सर्वैर्जनैः क्रियते' 'जो दूसरेका सत्कार, प्रियाचरण अर्थात् उसके अनुकूल काम करना है, इसीका नाम पूजा है' (शता.सं. पृ. ३४४-४५)

जब वादी देवीको पूर्णज्ञानवाली और अज्ञानसे रहित मानता है, तो मूर्तिपूजा वा अवतारको अपना सिद्धान्त मान ले। पर अब वादी देवीको अज्ञानिनी मान लेगा; यह तो है इन लोगोंका हाल ! यहां वादीने पूर्वापर-प्रकरणको छोड़कर लिखा है। प्रकरण देवीपूजाका चला हुआ था। अतः वादीका उन पद्योंका उद्धरण व्यर्थ ही गया। देवीभा.का पूरा प्रकरण यदि वादी मान ले; तो यह स.ध.का पक्ष सिद्ध हो जायगा।

(६०) 'अनावृताः किल पुरा' इसपर हमने 'आलोक' (७) में ५ पृष्ठोंमें मीमांसा लिखी थी, वादी उसे 'वाग्जाल' शब्द कहकर टाल गया। जब उसे कुछ उत्तर नहीं सूझता; तब 'वाग्जाल' शब्द कहकर अपनी जान छुड़ा लेता है। फिर वे ही पद्य उसने लिख भर दिये, जिनकी व्यवस्था हमने लिख दी थी; उसपर कुछ प्रत्युत्तर नहीं दे सका। 'उस समय भाई-बहिनोंका मेल हुआ था' क्या यह ऐकदेशिकता नहीं थी ? उस समय कामभाव न होनेसे व्यवस्था नहीं थी। जब कामभाव शुरू हुआ; तब श्वेतकेतु-द्वारा व्यवस्था बनाई गई।

आगे श्रीबलदेवजी उपाध्यायका लेख वादीने व्यर्थ ही उद्धृत कर दिया। इससे तो वादीने अपनी 'स्वयंवरपद्धति'का खण्डन कर दिया। पथिकके गुरु श्रीधर्मदेवजी वैदिककालमें परस्पराभिलषिततामें स्वयंवर मानते हैं; आशा है-वादी उन्हें भी अब भर्त्सना देगा। 'पिता यत्र दुहितुः' इस वादीसे उद्धृत वचनका तो यह अर्थ है 'अभ्रातृका-कन्याकी सन्तान विषयमें

उसके पतिको अनुकूल करके लड़कीके पिताने उसे अपना पु[त्र] बनाकर सुख की साँस ली। ऐसा निरुक्तकारने प्रकरण दिया है। यदि वादी चाहे तो वह इसपर श्रीचन्द्रमणिपालीरत्नका भाष्य निरुक्त (३य अध्या.) में देख सकता है। यहाँ वरके प्रबन्धकी बात नहीं।

वैदिककाल भी कोई छोटा-मोटा काल नहीं होता। पहले प्रजा प्रकृतिका अनुवर्तन करती है, फिर गड़बड़ी चलने[पर] नियन्त्रण चलता है।

(ख) 'विवाह सर्वथा युवक-युवतिका हुआ करता था' यह वादीने लिखा है। यह किसीके लिखनेमात्रसे सिद्ध नहीं हो जाता। १६ वर्षका लड़का भी युवा होता है-यह पथिकने 'सोल[ह]' की विवाहावस्थामें स्वयं माना था। हमने 'आलोक' (७) में लिखा था कि-स्वा.द.जीकी संस्कारविधिके उपनयनमें 'युवा सुवासाः' मन्त्र ८-११-१२ वर्षके वटुकेलिए पढ़ा गया है, तो ८-११-१२ वर्षका वटु भी वेदानुसार 'युवा' सिद्ध होगया। इसपर पथिकने 'वेदवाणी' (१५।११) पृ. १५ स्तं. २ पं. १२से २० पं. तक लिखा था-['युवा सुवासाः' मन्त्रके संस्कारविधिके उपनयन संस्कारमें] महर्षिजीके उद्धरणसे यह कहाँ सिद्ध होता है कि ८ वर्षके वटुकेलिए यह मन्त्र प्रयुक्त किया गया है ? यह तो आपकी कपोलकल्पनामात्र है उन्होंने [स्वामीजी]ने उपनयनकी अन्तिम आयु लिखी है-'ब्राह्मणके १६, क्षत्रियके २२, और वैश्य के २४ वर्षसे पूर्व-पूर्व यज्ञोपवीत होना चाहिए, क्या 'युवा' शब्द

२२, २४ वर्षके वटुपर प्रयुक्त नहीं माना जा सकता है; अतः आपका कुतर्क व्यर्थ है'।

यहाँ पथिक २२, २४ वर्षसे पूर्व १६ वर्ष लिखना भूल गया है, क्योंकि उसके दिये स्वामीके उद्धरणमें ब्राह्मणकेलिए अन्तिम आयु १६ वर्षकी लिखी है। सो जैसे उसके अनुसार २२, २४ वर्ष 'युवा' अवस्था है; वैसे १६ वर्ष भी युवावस्था होगी। नहीं तो १६ वर्षकी ब्राह्मणकी अन्तिम उपनयनावधि जो स्वामीने बताई है, वह वेद-विरुद्ध सिद्ध हो जायगी। और स्वामीने उपनयनकी पूर्व आयु ८-११-१२ वर्षकी लिखी है, उसमें भी 'युवा सुवासाः' जब प्रयुक्त होता है; तब वे भी 'युवा' हुए। १२ वर्षकी विवाह्यमाना लड़की भी तदनुसार 'युवति' हुई। अब वादीको १६ वर्षके लड़के और १२ वर्षकी लड़कीका विवाह भी 'यौवन-विवाह' मानना पड़ेगा। स्वा.द.जी लड़केका ९ वर्षका ब्रह्मचर्य भी स.प्र. ३ (पृ.२५) में मान गये हैं, ८ वर्षमें उपनयन शुरू होने पर ९ वर्षका ब्रह्मचर्य करनेसे लड़का १६ वर्षका हो जाएगा। उस समय ब्रह्मचर्य समाप्त हो जानेसे उसका विवाह उपस्थित होगा। उसे लड़की १६ वर्षकी तो दी नहीं जायेगी, किन्तु १२ वर्षकी। तब वादीके तथा उसके स्वामीके अनुसार यह विवाह युवक-युवतिका सिद्ध हुआ। इस विषयमें हम 'सीता-विवाह'में पहले (पृ. ११४-१४८ में) स्पष्टता कर चुके हैं। तब वादीका अभिप्राय कट गया।

(६१) 'सनातनमेनमाहुः' में 'सनातन' जब 'परमात्मा'का

नाम वादी भी मानता है, स्वा.द.जी भी स.प्र. ३ में 'सनातन अर्थात् वेदद्वारा परमेश्वर-प्रतिपादित' (पृ. ३१) अर्थ कर गये हैं, तब सनातन (परमेश्वर)का धर्म स्वयं 'सनातनधर्म' सिद्ध हो गया। वादी इस विषयमें श्रीगङ्गाप्रसाद-उपाध्यायजीका 'सनातन-धर्म' (पृ. ७) देखे। स.ध.के सिद्धान्त उत्सर्ग-अपवादसे युक्त होते हैं। अनभिज्ञोंकी उसमें गति नहीं होती।

(ख) आलारामजी 'सागर'ने स्वा.द.जीकी परस्परविरुद्धता बहुत दिखलाई है, उसका किसीने भी उस रूपसे प्रत्युत्तर नहीं दिया। उनके वचन स.प्र. आदिसे उद्धृत हैं; क्या उन स.प्र.के वचनोंको वादी साध्य मानता है, जो कि—उसने 'सागर'जीके स.प्र. आदिके उद्धरणोंको साध्य लिख दिया? स.प्र.का खण्डन पं० ज्वालाप्रसादजीने, भास्कर-प्रकाशका ६ समु. तक पं० कालूराम जीने, उसके आगे मूर्तिपूजा आदि पर उन्होंने पृथक्-रूपमें स.प्र.-का खण्डन कर दिया है। स.प्र.की वास्तविकताको हम दूसरोंकी आंखोंसे क्यों देखें; दूसरेके चश्मेसे देखनेसे आपको कुछ नहीं दीख सकेगा।

(६२) सारस्वत-ब्राह्मणोंको वादीने राक्षसका अवतार कहा था, वहाँ हमने दिखला दिया था कि—उसमें सारस्वतोंका नाम तो है नहीं, वहां उनके लक्षण 'अनृतवादिनः' आदि दिये गये हैं; वे लक्षण जब तथाकथित औदीच्य-ब्राह्मण स्वा.द.जी तथा उनके अनुयायी ब्राह्मणम्मन्योंमें घटते दीखते हैं; यह 'आलोक' (७)में पृ. १७५-२१५ में हमने दिखलाया था, वादीने उसे मान

लिया; क्योंकि-उसका समाधान नहीं किया; तब उन्हें ही उक्त अवतार वादी मान लें। न केवल पुराण, बल्कि स्वा.द. भी अनृतवादियोंको 'असुर' मान गये हैं—जैसे कि ऋभाभू. शता. सं.पृ. ६२० में स्वामीने लिखा है—'ये अनृतकारिणः, अनृत-मानिनश्च; ते मनुष्या असुरा एव'। 'जो अविद्वान् झूठ बोलने, झूठ मानने और मिथ्याचार करने वाले हैं; वे असुर कहाते हैं' (पृ. ६२२) वादीके अनृत भी हमने इसमें तथा 'आलोक' (७) में बहुत दिखलाये हैं; इसलिए वह अपनेको उस पदवीका अधिकारी मान ले। 'ब्राह्मण कुत्ता हाथी' आदि अपनी कही हुई हुई बातें वादी अपने औदीच्य-ब्राह्मणमें मान ले। यदि नहीं मानता, तो सब ब्राह्मणोंकेलिए यह बात सिद्ध न हुई।

(ख) गौतमका शाप जो वादीने देवीभागवतसे उद्धृत किया है; उसका उद्धरण व्यर्थ है, वह शाप तो विशेष ब्राह्मणोंको व्यक्तिगत था, सबको नहीं। आप लोग भी उस उद्धरणके अनुसार शक्ति-की उपासना नहीं करते; अतः 'कुम्भीपाके पुनः सर्वे यास्यन्ति निजकर्मभिः' (६७) यह वादीकी स्वयं लिखी गति सम्भव है। वस्तुतः यहां देवीकी उपासनाका प्रशंसार्थवाद है, और कापालिक और कौलिक आदियोंका निन्दार्थवाद है। शास्त्रका तात्पर्य समझना चाहिये-'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, अपि तु निन्दितादितरत् प्रशंसितुम्'। ब्राह्मण सभी गायत्री-जप, जपयज्ञ आदि करते ही हैं; अतः उनकेलिए उक्त पद्य नहीं हैं।

(ग) जो कि-वादी उपालम्भ देता है कि-'आप लोग पुराण-

को आद्योपान्त नहीं पढ़ते हैं', इस पर उत्तर यह है कि-हम पुराणादि सभीको खूब अच्छी तरह देखते हैं; तभी तो लोगोंसे छिपाये हुए उनके पूर्वापर-प्रकरणको हम प्रकट करके आ लोगोंको निरुत्तर कर देते हैं? आप लोग पुराणोंको देख अवश्य हैं, पर केवल दोषदृष्टिसे; उसमें भी आप लोग पूर्वा प्रकरण छिपाकर असत्य-प्रकृति अपनाते हैं। पुराण तो तु दृष्टि रखते हैं; अतः उन्होंने दिखला दिया कि-कौन नरक आये हुए हैं। देखिये दे.भा.के पद्योंमें—१२।८।५८ में शिव शिवजीके मन्त्र तथा शिवशास्त्रमें जो आस्था नहीं रखते। देवीका मन्त्र, देवीके आयतनकी उपासना नहीं करते (देवीका मन्त्र गायत्रीसे भिन्न है; क्योंकि-गायत्रीका तो पद्यमें वर्णन आ चुका है (६१)। 'जो देवीके भक्तोंके नहीं रहते, जो शिवजीके उत्सवको नहीं देखना चाहते (जो रुद्राक्ष, बिल्वपत्र आदिसे दूर रहते हैं, उनका खण्डन क रहते हैं, उन्हें जंगली कहते हैं (६४), जो अद्वैतवादका खण्डन करते रहते हैं; इसपर देखो वादीके मित्रका 'श्रीमद्भागवतसमी तथा 'गीताविवेचन'; उसमें निष्ठा नहीं रखते (६६) तथा पितृ (मृतक-पितरोंका श्राद्ध पुराणको इष्ट है, जीवितोंका नहीं) आस्था नहीं रखते (६६) जो कृच्छ्र चान्द्रायण एवं प्रायश्चित्त नहीं मानते (७०) जो देवीभागवतवाली देवीमें विश्वास न रखते (७१) जो तीन (प्रातः, मध्याह्न एवं सायं) कालकी सन्ध्या नहीं मानते (६३) जो अपने सम्प्रदायमें ही भक्ति रखते

वेदमें नहीं। (वेद, पुराणके मतमें सभी शाखाएँ हैं) (६४), जो स्वधा (मृतपितृश्राद्ध)से विवर्जित हैं (६४) अग्निहोत्र भी जिनका नहीं, केवल आगमें घी या सुगन्धित सामग्री डालनेसे वायुकी शुद्धिमात्र मानते हैं, जिसका नाम अग्निहोत्र ही नहीं। जो कामाचाररत (अपनी इच्छानुसार करनेवाले, अथवा विधवाविवाह-नियोगादिमें परदारलम्पटता प्रचलित करके कामको प्रोत्साहन देते हैं) (६५), जो शक्तिकी उपासना ही नहीं मानते (६६) ऐसे नारकी जीव कौनसे सम्प्रदायके हैं; यह वादीका हृदय स्वयं जानता होगा।

हमारे अनुसार तो यहां शक्तिकी उपासनाका अर्थवाद है–'तस्मात् सर्वात्मना राजन्! संसेव्या परमेश्वरी' (१२।६।६) 'नित्या चोपासना शक्तेर्या विना तु पतत्यधः' (६६)। इन पद्योंमें तथा 'कृष्णावतार-पर्यन्तं कुम्भीपाके भवत्स्थितिः' (८८) में अवतारसिद्धि, श्रीकृष्ण-भगवान्का अवतार होना, तथा कुम्भीपाक आदि नरक भी सिद्ध हो रहे हैं। वादी भी नरकलोकको मानता है; तभी उसने पं. अखिलानन्दजीको 'नरकगामी' (नी.द्वी.वि.में) लिखा है। सो वादी पुराणविरुद्ध वादोंमें आस्था होनेसे अपना स्वप्रमाणित पद्योंमें कुम्भीपाकसे आना और उसके संस्कार अभी तक भी रखना सिद्ध कर रहा है। देखिये–पुराणकी कितनी दूरदृष्टि है। पुराणविरोधियोंको उसने पहलेसे ही भांप रखा है कि–यह किसीको भी नहीं मानते।

ईंट-पत्थर कोई भी नहीं पूजता। पूजक लोग शिव तथा

देवीको उसके माध्यमसे पूज रहे होते हैं। साकारमूर्तिपर साकार पुष्प आदि चढ़ता है; उसमें स्थित निराकार-सत्तापर निराकार श्रद्धा चढ़ती है। वादी यदि अपने गुरुके गलेमें पुष्पमाला चढ़ाता है; तो क्या माना जावे कि–वह गुरुके हाड-माँस चमड़े नस-लहूपर फूल चढ़ा रहा है–क्या यही उसका लक्ष्य होता है? स्वा.द.जीने भी स.प्र.में लिखा है–'जिनको तुम बुतपरस्त समझते हो; वे भी उन मूर्तोंको ईश्वर नहीं समझते, किन्तु उनके सामने परमेश्वरकी भक्ति करते हैं' (१४ समु. पृ. ३४५)। वादी जब सन्ध्याके अन्तमें 'नमः शम्भवाय च' यह नमस्कारमन्त्र पढ़कर महादेवको वारम्वार नमस्कार करता है; तो उसके सामने या तो दीवार होती है, या पृथ्वी, या आकाश। तब वह क्या उस ईंट-पत्थरकी दीवार, वा जड़ तेज वा आकाशको नमस्कार कर रहा होता है? यदि ऐसा हो तो बधाई हो; वादी भी मूर्तिपूजक, ईंट-पत्थरपूजक बन गया; जोकि जडको माथा टेककर नमस्कार कर रहा होता है।

यदि वह कहे कि–'नमस्कारके समय ईंट-पत्थर सामने होनेपर भी वे हमारे नमस्कारके लक्ष्य नहीं होते; किन्तु ईंट-पत्थर आदिमें व्यापक परमात्मा ही 'नमः शम्भवाय च' से नमस्कारका विषय होता है, क्योंकि–अङ्गीकी पूजा विना अङ्ग-पूजाके हो ही नहीं सकती। गुरुकी आत्मापर पुष्पमाला चढ़ ही नहीं सकती; इसलिए अङ्गी उस आत्माके अङ्ग गले आदि पर ही पुष्पमाला सम्मानार्थ डाली जाती है; इसलिए उस परमात्माके

अङ्ग पृथ्वी-तेज-आकाशादिको उनके सामने उपस्थित होनेसे अनिवार्यतया उनको नमस्कार हो जाती है, पर लक्ष्य व्यापक परमात्मशक्ति ही होती है'; तो भैया, आप भी तो हमारे मार्गपर पहुँचे हुए मूर्तिपूजक ही हैं। केवल मुँहसे वह सिद्धान्त नहीं मानते, कि-कहीं हमारी किरकिरी न हो जाय।

देखिये आपकी दूसरी मूर्तिपूजा--स्वा.द.जीके 'मनसा-परिक्रमा-मन्त्रोंके अनुसार जब वादी 'प्राची दिगग्निः' मन्त्र बोलकर सामनेकी दिशामें मुख करके अग्नि-परमात्माका ध्यान करता है, उस समय वह भी मूर्तिपूजा जैसा हो जाती है, क्योंकि-उस समय वादी अन्य दिशाओंमें व्यापक परमात्माका ध्यान न कर सकनेसे उस परमात्माको केवल अपने सामनेकी दिशामें पधराता है। जब वह दाहिनी ओर इन्द्रदेवका 'दक्षिणा दिगिन्द्रो' से ध्यान कर रहा होता है; उस समय सामने, वा पीछे, वा बाएँ व्यापकका ध्यान न कर सकनेसे परमात्माको दक्षिणमें ही पधरानेसे मूर्तिपूजक-सा हो जाता है, क्योंकि-सर्वव्यापकको वह एक दिशाके भी नियतस्थानमें पधरा देता है। इस प्रकार जब वह अपने पृष्ठभागमें वरुणदेवका, वा बाईं ओर सोम देवताका, और पृथिवीमें विष्णु-देवताका और आकाशमें बृहस्पतिका ध्यान करता होगा; तब उस समय सर्वव्यापकको उस एकदेशमें ही सीमित कर देनेसे उस एक समयमें अन्यत्र ध्यान न कर सकनेसे वादी-द्वारा यह मूर्तिपूजा ही हो जाती है।

आप लोग जो झण्डाभिवादन, झण्डेके आगे प्रार्थना कर

रहे होते हैं; तब क्या वह कपड़ेको नमस्कार वा प्रार्थना कर रहे होते हैं? ला० लाजपतरायकी प्रतिमापर फूल चढ़ा रहे होते हैं क्या उस समय वादी पत्थरकी पूजा कर रहे होते हैं? दोनों स्थान समान उत्तर होगा।

(६३) अश्वमेध यज्ञ वैदिक है; तब क्या वेद भी वाममार्गके ग्रन्थ है? शेष रहा—अर्थ बदलना; वह तो स्वा.द. तथा आर्य-समाज आदिका भी बदला जा सकता है। कभी शतपथ प्रमाण बन बैठता है, कभी वेदविरुद्ध। अपनी मर्जी है, जिसे चाहे चाहे माने, जिसे चाहे न माने। इस प्रकार तो छोटा बच्चा भी दूसरेका खण्डन कर सकता है। शरीरसे दूध निकलना, कपूरकी गन्ध आना अश्लील वा घृणित अर्थ कैसे है? यहाँ हम जैमिनीय-अश्वमेधसे प्रमाण भी दे चुके थे; इसलिए उस घोड़ेको 'मेध्य' (पवित्र) कहा जाता था। उनकी रक्तादिरूपमें अपवित्रता नष्ट हो जाती थी। जैसेकि किन्हींके मतानुसार रक्त दूधरूपमें परिवर्तित होकर स्तनोंमें आकर शुद्ध हो जाता है। 'राष्ट्रं वा अश्वमेधः' आदि अर्थ नहीं हैं, किन्तु भक्तिवाद (अर्थवाद) है, उसे वैसा कहा जाता है। यह ब्राह्मणभागकी शैली है, तभी तो श्रीयास्कने भी ब्राह्मणभागकी आलोचना करते हुए लिखा है—'बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति' (७।२४।६)। ब्राह्मण कहता है-'आयुर्वै घृतम्' (कृ.य.तै.सं. २।३।२।२); तब क्या वादी घृतको आयुका पर्यायवाचक मान लेगा?

जोकि-अश्वकी हिंसाका वादी निषेध बतलाता है, यह ठीक है

पर वैदिक-हिंसा हिंसा नहीं हुआ करती—'आम्नायवचनाद् अहिंसा प्रतीयेत' (निरु. ११।१६।६) यही बात वादीके स्वामीने भी 'अहिंसन् सर्वभूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्यः' (छान्दो. ८।७) का अर्थ करते हुए लिखी है - 'तीर्थेभ्यो वेदादिसत्यशास्त्रविहितेभ्योऽन्यत्र अहिंसाधर्मो मन्तव्यः' (शता.सं. पृ. ६२७) मनुस्मृतिमें भी लिखा है-'या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिँश्चराचरे। अहिंसामेव तां विद्याद् वेदाद् धर्मो हि निर्बभौ' (५।४४) इसपर श्रीकुल्लूकभट्टने टीका की है—'या श्रुतिविहिता कर्मविशेषदेशकालादि-नियता-अस्मिञ्जगति-स्थावरजङ्गमात्मनि, अहिंसामेव तां जानीयात्, हिंसाजन्याऽधर्मविरहात्......यस्माद् अनन्यप्रमाणको धर्मो वेदादेव निःशेषेण प्रकाशतां गतः'।

पूर्वोक्त निरुक्त-वचन पर श्रीदुर्गाचार्यने टीका की है-'आह-कथमहिंसा ? प्रत्यक्षतो हि छिद्यते वृक्षः ? शृणु-इयमहिंसा, इयं हिंसा-इति आगमाद् एतत् प्रतीयते। प्रतिविशिष्टश्च अयमेव वैदिक आम्नाय आगमः, एतत्पूर्वकत्वाद् अन्येषामागमानाम्। स एव कृत्स्नस्य जगतः प्रतिविशिष्टाय श्रेयसेऽभ्युद्यतः सन् हिंसायां कर्तारं विनियोद्यत इति कुत एतत् ? नूनमियमहिंसैव'।

वेदा. ३।१।२५ सूत्रकी व्याख्या करते हुए श्रीशङ्कराचार्य-स्वामीने लिखा है-'यत् पुनरुक्तम्-पशुहिंसादियोगाद् अशुद्ध-माध्वरिकं कर्म, तस्य अनिष्टमपि फलं कल्पते-इति, तत् परिह्रियते-न, शास्त्रहेतुत्वाद् धर्माधर्मविज्ञानस्य। अयं धर्मः; अयमधर्मः-इति शास्त्रमेव विज्ञाने कारणम्, अतीन्द्रियत्वात् तयोः

(धर्माधर्मयोः) अनियतदेशकालनिमित्तत्वाच्च। यस्मिन देशे, काले, निमित्ते च यो धर्मोऽनुष्ठीयते, स एव देशकालनिमित्ता-न्तरेषु अधर्मो भवति। तेन शास्त्राद् ऋते धर्माधर्मविषयं ज्ञानं न कस्यचिदिति'। गो. श्रीवल्लभाचार्यको छोड़कर शेष सभी आचार्योंने इस सूत्रकी ऐसी ही व्याख्या की है। इसकी स्पष्टता हमने 'आलोक' (६) 'याज्ञिकपश्वालम्भ' तथा 'आलोक' (७) 'वेदसंज्ञाविमर्शपर विचार' के अन्तिमभागमें की है।

तात्पर्य यह है कि-जिसमें मारनेका उद्देश्य होता है, मानसिक द्रोह होता है, वह हिंसा हुआ करती है, पर जहां यज्ञ वा संग्रामयज्ञ उद्दिष्ट हो; वहां हिंसा नहीं मानी जाती।

'मा हिँ्सीः पुरुषं' (यजुः १६।३) यह वेदमें लिखा है; और फिर क्षत्रियकेलिए लिखा हो कि-युद्ध करो; शत्रुको, अत्याचारीको मारो; तो क्या यह विरोध हो जावेगा ? युद्धमें हिंसा होती हुई भी न्याय्य होती है; तभी तो युद्ध करनेवालेको हिंसा करनेसे फाँसी न देकर इनाम ही दिया जाता है। पशुबलि देनेवाले भी प्रार्थना करते हैं कि-इस पशुको मारो नहीं।

जो कि—'ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं' मन्त्रका वादीने स्वा.द. अथवा श्रीजयदेवका अर्थ दे दिया है, यह अपने दृष्टि-कोणका अर्थ है, वह माननीय नहीं हो सकता। मैं किसी बातको किसी मन्त्रसे सिद्ध करूँ, फिर लिख दूँ कि-यही अर्थ श्रीमाधवाचार्यजीने भी लिखा है, तब क्या वादी उसे मान लेगा ? इसी तरह वादी अपने पक्षवालोंका अर्थ देकर अपना

पक्ष सिद्ध समझ लिया करता है, पर इसमें उसके पक्षका महत्त्व कुछ भी नहीं हो सकता।

(ख) अश्वके साथ वादीके अनुसार कोई भी महिषीका प्रसङ्ग नहीं कराता। प्रसङ्ग हो सकता भी नहीं। घोड़ा उस समय मृतक होता है, सो उस समय सम्भोग कैसे हो सकता है; जबकि-वह जीते हुए से भी नहीं हो सकता। यह हम कई वार सप्रमाण कह चुके हैं। वादी कई बार समझाये जानेपर भी उसमें प्रत्युत्तरकी शक्ति न होनेसे दूसरेकी बात न सुनकर स्वयं ही स्त्रियोंका अश्वसे सम्भोग करानेपर लट्टू हैं। भला वह मरे हुए घोड़ेसे प्रसंग कैसे कराएगा ? फिर वह विधवा-विवाह क्यों कराता है ? उस स्त्रीका मरे हुए पतिसे प्रसङ्ग करा दे ? स्वा.द.का वादीसे उद्धृत कथन भी झूठा है; जबकि-घोड़ा मृतक होता है यह शास्त्र और इतिहास बताते हैं, जिसे हम 'आलोक' (५-६) में सिद्ध कर चुके हैं, तब स्वा.द.की सुनी-सुनाई निर्मूल कहानी स्वयं घड़ी हुई गप्प प्रतीत होती है, अतः निष्प्रमाण होनेसे माननीय नहीं। घोड़ेकी उस समय मृतकता वादी इसलिए छिपाता है, कि-इससे उसके आक्षेप धराशायी हो जाते हैं, तब 'बलात् घोर राक्षसी कर्म करानेकेलिए वह क्यों उत्कण्ठित होता है ? मृतक-अश्वमें गणपतिका आह्वान है-उसीके तेजकी प्रार्थना है-यह हम 'आलोक' (५) पृ. ७८०-८१-८४-८६ में लिख चुके हैं; फिर वादीसे उद्धृत पं० कालूरामजी तथा पं० ज्वालाप्रसादजीके लेखसे भी हमारी एकवाक्यता हुई। श्रीमहीधरको भी अश्वमें

वही प्रजापतिरूप गणपति इष्ट है, तब वादीका श्रीमहीधरको गाली देना दुस्साहस ही है।

(ग) 'संज्ञपयति'में हमने मित्संज्ञक 'ज्ञा' धातुका अर्थ 'मारण' पाणिनि-धातुपाठसे स्वा.द.-संगृहीत धातुपाठ तथा आख्यातिकसे, सिद्धान्तकौमुदी भ्वादिगणसे दिखलाया था; पर वादी उसे छिपा गया। वाक् कहती है-'अहं संज्ञपयामि' वहाँ वाक्का 'प्रतिपादन' अर्थ ठीक है, वहाँ 'मारना' अर्थ कैसे हो। 'सैन्धव'का यात्राकालमें 'घोड़ा' अर्थ हो; तो यह आवश्यक नहीं कि-भोजनकालमें भी उससे घोड़ा लाया जाय। अतः वादीका 'तेन संज्ञपयामि' आदि उद्धरण व्यर्थ है। शतपथसे भी हमने 'हनन' अर्थमें प्रमाण दिया था।

जो कि वादी शतपथके 'संज्ञप्तेषु पशुषु' इस स्थलको तथा 'अश्वस्य शिश्नं महिषी उपस्थे निधत्ते' इस वाक्यको प्रक्षिप्त मानता है; सो उत्तरकी शक्ति न होनेसे यह न करेगा; तो बेचारा और क्या करेगा ? या तो यह लोग अर्थ बदल देते हैं या प्रक्षेप कह देते हैं, या आलङ्कारिकता बता देते हैं, अन्य [illegible] बेचारोंके पास है ही क्या ? 'ऊपरके छादक वस्त्रसे अश्वको आच्छादित करते हैं; ऐसा हो जानेपर अश्वका सबको [illegible] भांति ज्ञान कराते हैं। अश्वको आच्छादित कर उसका [illegible] कराना-यह वादीका अर्थ तो सुवर्णपदक देने योग्य है। [illegible] (अश्वमहिष्यौ) अधिवासेन सम्प्रोर्णुवन्ति' का 'महिषी [illegible] अश्वको पृथक्-पृथक् वस्त्र प्रदान कर' यहाँ पृथक्-पृथक् [illegible]

देना—वादीने यह अर्थ किसका निकाला? फिर जो लोग, महानन्दा और वैश्यरूपधारी शिवका खाट पर सोनेका 'पृथक्-पृथक् खाटपर सोना' अर्थ करते हैं; उनपर वादी कैसे आपत्ति उठाते हैं?

यदि अर्थ बदला था; तो 'अश्वस्य शिश्नं महिषी उपस्थे निधत्ते' का अर्थ भी वादीको बदलना चाहिये था, परन्तु अपनी उत्तरणकी दुर्बलतावश लिख दिया कि—'यह वाक्य बीचमें घुसेड़ दिये गये हैं'। रानीका तथा घोड़ेका वर्णन तो वादीने अश्वमेधमें मान लिया, फिर अश्वको कपड़ेसे क्यों ढकते हैं—यह वादीने कुछ नहीं बताया। इन व्याजोंसे प्रत्युत्तर नहीं हो जाता। श्रीमहीधरादिने इसीको अवलम्बित करके तो लिखा था, जिसपर आप लोग आपत्ति उठाते हैं। स्वा.द.जीने तो उसे चालाकीसे छिपा दिया; हमने उसे प्रकट कर दिया। इस प्रकार वादी पाशमें बँध गया। वादीने उसे लिखा तो सही; इस दलदलमें घुसा भी सही; पर आगे घबड़ा गया। उसमें फँस गया। यदि शतपथमें प्रक्षेप है; तो उसे उद्धृत करनेवाले श्रीमहीधरके व्याख्यानमें भी वादी उसे प्रक्षिप्त मान ले; उसे वादी क्यों व्यर्थ कलङ्कित करता है? पं० नरदेवजी शास्त्रीने अपने 'ऋग्वेदालोचन' (पृ. २९८) में ठीक ही लिखा था कि 'स्वा.द.जीने यजुर्वेदभाष्यकार महीधराचार्य...के भाष्यका खण्डन तो किया; किन्तु जिन शतपथादि-ब्राह्मणोंके आधार और प्रमाणोंसे वे [महीधरादि] इस प्रकारका भाष्य करनेपर बाध्य हुए; उन

ब्राह्मणों [ब्राह्मणग्रन्थों]के विषयमें मौन साध लिया'।

जो अर्थ शतपथमें बदलते हो; वही महीधरभाष्यमें भी बदल सकते हो। आगे बुद्धदेवजीका 'निर्लज्जोंको वेदकी हत्या करनेमें तनिक भी संकोच नहीं होता' यह वाक्य निरर्थक गाली मात्र है। जब अश्वमेधका अश्व मृतक (संज्ञप्त) है; तब विद्यालङ्कारजीकी विद्याने मृतक घोड़ेका रानीसे समागम कैसे बता दिया? ऐसी विद्या तो धन्य है, जो दूसरोंको 'पामर तथा अविद्याजाल वाला' बताती है, और अपने अज्ञानको नहीं समझती। वस्तुतः मृतक-अश्वका रानीसे समागम बनाकर—जो उसके जीवनमें भी सम्भव नहीं हो सकता—विद्यामार्तण्डजीने अपने साम्प्रदायिक-गालियोंकी धूल उड़ाकर अविद्यान्धकार फैला दिया है।

'गणानांत्वा' मन्त्रके महीधर-भाष्यपर हम 'आलोक' (५-६) में लिख चुके हैं, वादी उसपर कुछ नहीं लिख सका है। 'यह प्रक्षिप्त है, यह अनुक्षिप्त है, यह वेदानुकूल नहीं है, यह स्वा. दयानन्दने लिखा है, यह श्रीजयदेवने लिखा है, यह श्रीआर्यमुनिने लिखा है, यह श्रीबुद्धदेवने कहा है। इस लिखनेके सिवाय वादीके पास कुछ भी मसाला नहीं है। वादीके अपने ज्ञानपर तो परमात्माकी कृपा है; दूसरोंका सभी कुछ उद्धृत करके उसे रखकर वादी दिखा देता है कि—मैंने भी २३० पृष्ठोंकी पुस्तक लिखी है, मैं भी 'शास्त्रार्थमहारथियोंसे उलझनेवाला हूँ'।

महाशय! स्त्रीका अश्वसे मैथुन कोई भी नहीं कहता। हम यही

तो ५म तथा ६ठे पुष्पमें सिद्ध कर चुके हैं कि-प्रकृतस्थलमें घोड़ा मारा जा चुका है, इसमें हमने रामायणका तथा महाभारत आदिका प्रमाण भी दिया था, यह भी बतलाया था कि-यज्ञमें जब पतिसे भी स्त्रीको कामवासनाका निषेध है; तब मृतक-अश्वसे बेजोड़ कामवासनाका गन्ध कैसे सम्भव हो सकता है? श्री-चतुरसेन शास्त्रीकी 'व्यभिचार' पुस्तकमें अमेरिकन-स्त्रियोंका कुत्तोंसे संयोग तो सुना जाता है; व्यभिचार (ले. आयुर्वेदाचार्य श्रीचतुरसेन शास्त्री - सं. १९८३) (पृ. ६२-६३)

'हाल ही में बिलायतमें एक सनसनी-भरा मुकदमा चला था, जिसमें किसी मेम पर कुत्तेसे व्यभिचार करनेका अपराध लगाया गया था, पर अपराध किसी तरह साबित होता नहीं था। दैवयोगसे जजकी स्त्री भी कुत्तेसे रमण करती थी, और उसने इस मामलेमें एक भेदकी बात जज-साहिबको बता दी कि-उस स्त्रीके कूले (पार्श्व) देखे जायं कि-वहां कुत्तेके पंजेके निशान तो नहीं हैं निशान देखे गये और पाये गये-स्त्रीको दण्ड मिला। पर उस स्त्रीको यह विचार हुआ कि-यह रहस्य किस तरह ज्ञात हुआ? अन्त में उसे पता लग गया कि-जज-साहबकी स्त्रीने बताया है। वह समझ गई कि-अवश्य वह भी यह काम करती है, उसने भरे इजलासमें जज-साहिबकी स्त्रीको तलब करके उसके कूले भी देखे; और पंजेके निशान पाये।

दैवयोगसे मैं (चतुरसेन) एक रोगीकी चिकित्सार्थ एक सद्-

गृहस्थके घर ठहरा था; रोगीकी सेवाकेलिए एक यूरोपियन नर्स साथ थी। यह स्त्री कोई ४५ वर्षकी थी। मगर बहुत रसिया और हँसमुख। हम लोग लगभग एक महीना इस स्थान पर एकत्र रहे। बहुधा चाँदनी रातमें देरतक गपशप चलती थी। बात ही बातमें इस प्रकारका प्रसंग भी आगया। मैंने कहा-मैडम! ईश्वरकेलिए सच कहना-तुम अनेकों पुरुषोंमें यह स्वतन्त्र-जीवन व्यतीत करती हो-क्या तुम्हारा जीवन विशुद्ध है? उसने कहा-डाक्टर! मैंने तो बहुत ही सावधानी और धैर्यसे दिन काट दिये हैं, किन्तु मेरी बहुत-सी सहेली ऐसी नहीं हैं। मेरी एक सहेलीने कुत्ता पाल रखा है और उससे वह अपनी आवश्यकता पूरी करती है। मैंने आश्चर्यसे कहा-'कुत्ता! क्या कुत्तेसे वह मेम काम लेती हैं? उसने गम्भीरतासे कहा-हां, वे कुत्ते ट्रेन्ड किये जाते हैं, स्त्रीका उपयोग उन्हें सिखाया जाता है, उन्हें उत्तम खाना और रहना मिलता है। रोज नहाते हैं, वे बहुत ही सावधानीसे वह कार्य करते हैं, और मनुष्यसे अधिक आनन्द देते हैं; उस समय वे अगले पैरोंसे स्त्रीको अगल-बगल कसकर पकड़ लेते हैं, उसका मुख स्त्रीकी छातीपर रहता है। जो स्त्रियां इनसे काम लेती हैं, वह फिर मर्दको पसन्द नहीं कर सकतीं।

पर जीवितका भी नहीं; बल्कि मृतक-अश्वका संयोग तो त्रिकालमें भी सुना नहीं जा सकता। इसका स्वप्न तो पहले पहल एक बालब्रह्मचारीके 'आर्षज्ञान'में ऋभाभू.में आया; और उसीने यह गलत प्रचार करके महीधरको बदनाम किया। वही

उस समय अश्वको मृतक बतानेवाले स्थलोंको प्रक्षिप्त बताकर बलात् रानीका घोड़ेसे असम्भवी मैथुन कराता है; यह उसीका अपने शब्दोंमें 'महापाप' तथा 'पामरपन' है। तब 'रेतो मूत्रं विजहाति' मन्त्रका उद्धरण व्यर्थ है। श्रीमहीधरभाष्यपर सिवाय गाली बरसानेके वादी, और कुछ नहीं लिख सका। हमने सिद्ध कर दिया था कि–अश्व मृतक है, और श्रीमहीधर भी कहीं भी उसका रानीसे संयोग नहीं मानते। केवल अङ्गका अङ्गसे स्पर्शमात्र है; जिसका प्रयोजन है गर्भाशयका शोधन आदि। क्या विशेष-चिकित्सा भी वेदविरुद्ध हो जावेगी; जो वेदसे ही निकली है। अभी वादी वैद्यक तथा डाक्टरीके अनुभव वढ़ावे; तब शास्त्रीय बातोंके मर्मका पता चलेगा। स्वा.द. प्रसूता स्त्रीके अङ्गको संकुचित करनेकी सूचना दे गये थे। आर्यसमाजी उपदेशक श्रीबालकृष्णजीने उसकी ओषधि 'मोचरस' ढूंढ डाली। इस प्रकार अश्वके ही पदार्थसे छापेखानेके रूलर तैयार होते हैं, जिससे वेदादि पुस्तकें भी छपती हैं, इस प्रकार अङ्ग-संशोधनकेलिए भी कुत्ता-घोड़ा आदि पशुओंके पदार्थोंसे ऐसी डाक्टरी दवाइयां बनती हैं, इनका कसौली आदिमें पता लगाइये। कुत्ते काटनेका टीका कुत्तेके पदार्थसे बनाया जाता है। पृथक् विषय होनेसे इसमें वेदविरोध नहीं।

यह विषय कामशास्त्रसे सम्बद्ध भी हो सकता है। डीडवाना लिखित-शास्त्रार्थमें आर्यसमाजी शास्त्रार्थमहारथी श्रीलोकनाथ-जीने (पृ. ६१–६२में) 'वेदमें कामशास्त्रके बीज' भी माने थे।

'आलोक' (५) में हमने श्रीमनोहर-विद्यालङ्कारका लेख भी उद्धृत किया था। पुरुषको वाजीकरण करना पड़ता है, वहां वाजी अश्वका नाम है। अथर्व.में 'यावदङ्गीनं पारस्वतं हास्तिनं गार्दभं च यत्। यावदश्वस्य वाजिनः तावत्ते वर्धतां पसः' (६।७२।३) यहाँ पुरुषके अङ्गको अश्वके अङ्ग जैसा बताना कहा है। सो यदि वादी भी डाक्टरीकी इधर जाँच कर लें, तो उसे गाली न निकालनी पड़े। शेष बातोंपर कि–'गणानां त्वा' का मृतक अश्वसे कोई सम्बन्ध नहीं, रामायणमें पुत्रेष्टिके प्रसङ्गमें अश्वमेधका कोई प्रसङ्ग नहीं–आदि बातोंपर हम 'आलोक' (५–६) में प्रकाश डाल चुके हैं, जिसपर वादी कुछ नहीं लिख सका, और न ही लिख सकता है।

(६४) शिवदूतीके अण्डकोषभक्षणपर हमने वास्तविकता वहांका प्रकरण दिखाकर बताई थी; इससे इतिहासकी सत्ता नष्ट क्यों होगी ? शिव भी महान् देव हैं, प्रलयके देव हैं, वे कोई लौकिक व्यक्ति नहीं हैं। यह पुराणादिमें प्रसिद्ध है। शिवदूती भी उनकी प्रलयकारिणी देवी थी, यह पुराणने स्वयं ही लिखा था, हमने उसका प्रमाण भी उद्धृत कर दिया था। यह सब देव थे, मनुष्य नहीं। इसमें लौकिक इतिहास नहीं, अतः इसमें भ्रमका कुछ भी अवकाश नहीं है। इसपर वादी कुछ भी नहीं लिख सका, और न कभी लिख सकता ही है। इस विषयपर हम आगे भी अग्रिम एक निबन्धमें लिखने वाले हैं।

रूढिशब्द यदि वादी वेदमें नहीं मानता, पर उसके सम्प्रदायाचार्य स्वा.द.जी 'परन्तु सब ऋषि-मुनि वैदिक शब्दोंको यौगिक और योगरूढि तथा लौकिक शब्दोंको रूढि [यौगिक, योगरूढि] भी मानते हैं' (नामिक पृ.२) तथा नेता श्रीभगवद्दत्तजी भी वेदमें 'योगरूढि' शब्द मानते हैं, यह हम 'आलोक' (८) में बता चुके हैं, तब वादीको वेदमें इतिहास भविष्यत्‌रूपसे मानना पड़ेगा। क्योंकि-व्युत्पत्ति करके फिर उस शब्दको एकमें ही रूढ करना यह वादीके विरुद्ध ही तो होगा। वादी इस विषयमें भी कुछ भी नहीं लिख सका। यदि वादीको अपने 'स्वा.द.के वेद-भाष्यानुशीलन'में कुछ महत्त्व दीखता है; तो उसे वह हमारे पास भेज दे, हम उसका प्रत्युत्तर दे देंगे, क्योंकि-असत्य-वक्ताओंके पैर कभी नहीं होते; अतः उनका गिरा देना स्वाभाविक बात हो जाती है। उसने उसमें भी आर्यसमाजियोंके मतका संग्रह कर रखा होगा; जैसा कि उसकी सदाकी प्रकृति रही है, अपना उसका ज्ञान बहुत न्यून मात्रामें रहता है।

यदि वादी मन्त्रभागको ही ईश्वरीय-ज्ञान मानता है, वही उसका इष्ट मन्त्रभाग इतिहास-पुराणको स्वयं याद करता है। स्वा.द.जी उससे ब्राह्मणभाग लेते हैं। मन्त्रभाग उस पुराणको भी परमात्मासे बनाया मानता है। देखिये-'ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे' (अ. ११।७।२४) सो वह ब्राह्मणभाग भी परमात्मासे प्रणीत होनेसे वेद सिद्ध हुआ; ऋषिकृति सिद्ध न हुआ। इसपर वादी आर्यसमाजी

वेदभाष्यकार श्रीजयदेवजी विद्यालङ्कारका अर्थ देखे-ऋग्वेदके मन्त्र, सामवेद...अथर्ववेदके मन्त्र, यजुर्वेद, सृष्टि, उत्पत्ति प्रलय आदिके वर्णन करने हारे मन्त्र और ब्राह्मणभाग...सब सर्वोत्कृष्ट परमेश्वरसे उत्पन्न होते हैं।'

स्वा.द.जी भी वेदमें 'इतिहास-पुराण'से 'ब्राह्मणभाग'का ग्रहण करते हैं; देखो ऋभाभू.। इससे वादीका पक्ष गिर गया। स्वा.द.जी 'इत्यपि निगमो भवति' यह यास्कीय-वाक्य वेद-वचनकेलिए मानते हैं। देखो स.प्र.। सो निरुक्तकारने 'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् इत्यपि निगमो भवति' यह लिखकर इस वचनको वेद सिद्ध कर दिया। यह श्वेताश्वतरोपनिषद्‌का है। आर्यसमाजी-प्रेस वैदिकयन्त्रालयने इसे आरण्यक (तैत्तिरीय आ. १०) का बताया है। सो आरण्यक तथा उपनिषद् भी वेद सिद्ध हुए। शेष रहे वैद्यनाथ आदि; यह तो स्वा.द.जीसे विरुद्ध लिखा करते हैं। अतः उनका मत माननीय नहीं। हम उसका निराकरण अन्यत्र करेंगे। वादी स्वा.द.का मत मानेगा, वा तद्विरुद्ध वैद्यनाथजीका; यह वह बतावे ? वादीने लिखा था कि-'उपनिषदें स्वयं अपनेको वेद नहीं कहतीं' इसपर हमने 'आलोक' (७) पृ. ६०६-६१२में इतना लिख दिया कि-वादीका मुख बन्द हो गया।

(ख) 'छान्दोग्य'के वचनपर हमने जो मीमांसा की थी, उस पर भी वादी चुप हो गया। उसमें हमने 'नियोग'का प्रकार भी बताया था, उससे वादीका मुख बन्द हो गया। हमने छान्दोग्य

वचनकी व्यवस्था बताई थी कि–बहुत-सी अपनी स्त्रियोंमें कोई एक पतिकी शय्या पर आ जावे; तो उस समय पति यदि उसकी इच्छा पूरी न करे, तो उसे पाप लगता है। श्रीपं.माध.जीने भी सम्भवतः यही व्यवस्था लिखी थी। देखिये–'यदि राजा आदि जिस व्यक्तिकी एकसे अधिक पत्नियें हों...सो उनमेंसे कोई भी वैध पत्नी ऋतुधर्मिणी हो, तो पतिको उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये' (दूधका दूध पृ. २७)। इसलिए इसमें हम दोनोंका कुछ भी विरोध नहीं। और फिर सबकी सूझ एक-जैसी भी नहीं होती; अतः कभी भिन्नता हो जानेपर दोष भी कुछ नहीं हो सकता।

(ग) आगे वादीकी पुस्तकके सम्पादक हमारे विद्यार्थीजीने 'परिहरेत्'का 'अपहरेत्' अर्थ किया था। हमने इसपर आलोचना की थी कि–विद्यार्थीजीने बिना प्रमाण 'परिहरेत्'का 'अपहरेत्' अर्थ कैसे कर दिया? इसपर वादी कहता है कि–'ब्रह्मचारीजीका अर्थ उचित ही है। ऐसा ही अर्थ आर्यजगत्के श्रीदेवेन्द्रनाथजीने भी किया है'। तब क्या एक आर्यसमाजीका वह अर्थ 'सिद्ध' होगया? विद्यार्थीजी तो हमारे लेखोंको चोरीके कहते हैं; वे भी क्या दूसरोंकी चोरी करनेवाले बन गये। 'साध्य' प्रमाण 'सिद्ध' नहीं हुआ करता। एक 'साध्य' अर्थको सिद्ध करनेकेलिए अन्य 'साध्य' अर्थ वादीने उपस्थित कर दिया। यह भी 'साध्यसम' हो गया।

शेष रहा श्रीविष्वक्सेनाचार्यजीका अर्थ; वह भी ठीक नहीं।

'परिहरेत्' में 'परि' पृथक् नहीं है; किन्तु 'परिहरेत्' इकट्ठा है। यह वैसा अर्थ है, जैसे स्वा.द.जीने 'जातिपरिवृत्तौ' का ऋभाभू.में 'परितः वृत्तिः' ऐसा अशुद्ध अर्थ कर दिया। 'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते'के अनुसार यहाँ 'परिहरण' अर्थ है, 'अपहरण' नहीं। 'अपहरण' अर्थमें कोई प्राचीन-प्रमाण भी नहीं। श्रीशङ्कराचार्यजीका अर्थ वादीके अनुसार नियोगका एक प्रकार भी हो सकता है; तो क्या वादी स्वा.द.के नियोगको भी 'अनुचित, अश्लील वा व्यभिचार फैलाने वाला और स्वामीके भङ्गकी तरङ्गमें प्रसूत समझेगा?

(६६) प्रतिपक्षीने वैलसे भोग करें (उपयोग लें)' यहाँ स्वयं (उपयोग लें) यह ब्रैकेटमें लिखा था, अब लिखता है—'नी.वी.वि' पृ. १७२ में 'ब्रैकेट' मुद्रणालयकी भूल है।

इससे वादीकी 'असत्यप्रियता' पता लगती है। स्वयं वादीने 'ब्रैकेट' लिखा, पर अब ब्रैकेटको वह मुद्रकोंके गले मढ़ता है, यह तो उसकी गुरु-परम्परा चली आई है। स्वा.द.जीने प्रथम-स.प्र.में मृतक-श्राद्ध माना था, फिर उनका मत बदल गया; तब तीन-चार सालके वाद उसको छापेखाने वालों पर डाल दिया। इससे यह ब्रैकेट स्वा.द.के संस्कृतभाष्य वाले यजुर्वेदके भावार्थ-में भी था। यदि ब्रैकेट नहीं था, तो 'उपयोग लें' यह लिखना ही काफी था; फिर 'भोग करें' यह भ्रामक शब्द लिखनेकी आवश्यकता भी क्या थी?

अब देखिये इस वादीकी असत्यता। नीवीवि. पृ. १७२

पं. ११-१२-१३ में वह पं० माध.जीको लिखता है, 'यहाँ पर आप (पं० माध.) ने म.दया.जीके भाष्यको उद्धृत करते हुए चोरीकी है। उनके भाष्यमें 'भोग करें' के आगे ब्रैकेटमें (उपयोग लें) स्पष्ट दिया है, जिससे 'भोग' का अर्थ स्पष्ट प्रकट हो जाता है'।

अब विद्वान् देखें कि-पृ. १७२ पं. ६ में वादीने (उपयोग लें) यह ब्रैकेटमें लिखा हैं, फिर पं० माध.जीको उसने स्पष्ट शब्द भी लिखा है कि-'ब्रैकेटमें स्वामीजीने 'उपयोग लें' यह स्पष्ट लिखा है'। अब वादी बतावे कि-उसके लेखमें यह इतना वाक्य जिसमें ब्रैकेट भी स्पष्ट है, और 'ब्रैकेट' शब्द भी स्पष्ट है; क्या 'मुद्रकोंने यह शब्द डाल दिये ? वस्तुतः यह चेले-चांटे भी अपने दोषको मुद्रकों पर मढ़ना अपने स्वामीसे सीखे हैं। इस प्रकार इनके असत्य बहुत हैं। यदि हम सबका संग्रह करें, तो एक स्वतन्त्र पुस्तक तैयार हो जावे।

(६७) वादी लिखता है-'मुनियोंका पशुपक्षियोंसे सम्भोग मानना पामरपन है' पर वादीने 'अनेकधा कृताः पुत्रा ऋषिभिश्च पुरातनैः। न शक्यन्तेऽधुना कर्तुं शक्तिहीनैरिदन्तनैः' इस पद्यको प्रमाण माना है (पृ. ७३) सो पशु-पक्षिणियोंसे सन्तान पैदा करना उसीका उदाहरण है। यहाँ सम्भोग लक्ष्य नहीं है, किन्तु सन्तति उत्पन्न करना लक्ष्य है। यह तो उनकी अमोघ-वीर्यताका प्रमाण है। आर्यसमाजी स्वा.द.जीके नियोगको परपुरुषकी स्त्रीसे बिना मन्त्र वा बिना विवाह किये भी सन्तान उत्पन्न करना लक्ष्य होनेसे अदूषित मानते हैं। इसी प्रकार मन्दपाल आदिका भी 'क नु शीघ्र-

मपत्यं स्यात्' 'सुबहुप्रसवान् खगान्' (महा. १।२३१।१५-१६) यही लक्ष्य था; और यह पशु-पक्षिणियोंसे सन्तानकी उत्पत्ति 'यस्माद् बीज-प्रभावेन तिर्यग्जा (पशुपक्षिण्युत्पन्नाः) ऋषयो-ऽभवन् (१०।७२) इस मनुपद्यका उदाहरण है। इसपर श्रीकुल्लूक-भट्टने लिखा है-'तिर्यग्जाति-हरिण्यादिजाता अपि ऋष्यशृङ्गादयः' इसमें वज्रसूचिका-उपनिषद्को-जिसे वादी प्रमाण मानते हैं-भी देखिये—वहां लिखा है-'जात्यन्तरजन्तुषु अनेकजातिसम्भवा महर्षयो बहवः सन्ति, ऋष्यशृङ्गो मृग्याः' इत्यादि। इसका अ... 'जातिनिर्णय'में आर्यसमाजी श्रीशिवशंकरजी का.ती.ने लिखा है-'विजातीय-जन्तुओंमें अनेक जात्युत्पन्न बहुत ऋषि विद्यमान हैं। जैसे-हरिनीसे ऋष्यशृङ्ग, शृगालसे जम्बूक, शशकसे गौतम' (पृ. ३२०)। वादी भविष्यपुराणके श्लोक स्वयं उद्धृत करते हैं। उसमें लिखा देखिये-'हरिणीगर्भसम्भूतः ऋष्यशृङ्गो महामुनिः' (ब्राह्म. ४२।२६) उलूकीगर्भसम्भूतः कणादाख्यो महामुनिः' (२६)

उसमें मुनि भी वही जाति एवं आकृति बना लिया करते थे। जैसेकि-महाभारतमें मुनि-दम्पती मृग-मृगीका रूप धारण कर अपनी इच्छा पूर्ण कर रहे थे कि-पाण्डुने बाण मार दिया और मुनिसे शाप पाया। इसमें यजुः १९।७६ का कोई विरोध नहीं। पशु-पक्षियोंमें भी कहीं-कहीं आजकल मानुष उत्पत्ति प्रत्यक्ष है। अमोघ-वीर्य मुनियोंके शुक्रसे पशुपक्षिणियोंमें भी उनकी शक्तिविशेषवश मानुषी उत्पत्ति भी हो सकती है। उसपर वादीका यह कहना कि-'क्या मुनि लोग बहुरूपिये हैं'

यह वादीकी उत्तर देनेमें अशक्ति बता रहा है। जिसे प्रणिमादि सिद्धि प्राप्त हो; वह कई प्रकारके रूप बना सकता है, इसमें सृष्टि-क्रमविरुद्धता नहीं है, क्योंकि-सामान्यशास्त्रके अपवाद भी हुआ करते हैं। इस विषयमें हम अन्यत्र लिख चुके हैं। वादी उत्तर देनेमें शक्ति न होनेसे 'पामरपन'की गाली कहकर विषयको टाल रहा है।

(६८) 'तीतरका शोरबा' आदि पहले स्वा.द. मानते थे, पीछे बदल गये। फिर उसका दोष मुद्रकोंपर तथा श्रीज्वालादत्त आदिपर डाल देना वादीका यह महान् असत्य है। स्वामीका मत बदल जाता था, पर वह दोष अपनेपर न देकर अपने सहायकों पर दे देते थे; यह उनके साथ स्वामीका ही विश्वास-घात था। जिस सम्प्रदायका बीज ही असत्यपर प्रतिष्ठित हो, उसके चेले-चांटोंका भी यह हाल क्यों न होगा ?। यही हाल वादीका भी है। जैसे अभी-अभी हमने दिखलाया है कि-उसने (उपयोग लें) यह ब्रैकेट स्वयं लिखा, और 'ब्रैकेट' शब्द भी लिखा; पर अब भगवानस्वरूपका पत्र पाकर बदल गया; और अपनी गलती मुद्रणालयपर डाल दी। स्वा.द.जीने स.प्र. तथा सं.वि.के प्रथम संस्करण रद्द नहीं किये। स.प्र.में तो भाषाका अशुद्ध होना बताया था। मृतक-श्राद्धका दोष उन्होंने दो-तीन साल बाद मुद्रकोंपर डाल दिया, जिसकी सूचना उन्होंने वेदभाष्यके अङ्क-पर दी। जो और भी कुछ परिवर्तन करते थे; उसकी भी वे सूचना देते रहते थे, जैसेकि-प्र.स.प्र. में उन्होंने रोहिणीको

पहले भूलसे 'बलदेवकी स्त्री' लिख डाला, फिर वेदभाष्यके अङ्क-पर 'बलदेवकी माता' लिखा। अतः प्रथम स.प्र. तथा प्र. सं.वि.से उद्धरण दिये ही जा सकते हैं। इस प्रकार संस्कारविधिके द्वितीयसंस्करणकी भूमिकामें भी स्वामीने स्पष्ट लिख दिया है कि-'इससे यह न समझा जावे कि-प्रथम-विषय युक्त न था, और युक्त छूट गया था; उसका संशोधन किया है'।

तब वादीका प्रथम-संस्करणोंको 'स्वामी द्वारा रद्द कर देना' कहना उसका अपने शब्दोंमें 'छिछोरपन' है। जबकि स्वयं उसने नीच्चीवि.में स्वामीजीका तीतर आदि मांसकेलिए लिखा था कि-'यह एकदेशी मत है'। जब ऐसा है; तब इसमें पं० भीमसेन-आदिका दयानन्दजीके साथ विश्वासघात बताना वादीकी अपने शब्दोंमें 'धूर्तता' है। हमने जो त्रिगुणात्मकता दिखलाकर (पृ. ६१६-१७में) मांसका समाधान किया था; और स्वा.द.का मांसभक्षियोंको मांस खिलाना स.प्र.से दिखलाया था; वादी उसपर चुप्पी लगा गया। देखिये-ऋभाभू.में लिखा है—'यथा मांसाहारी पुष्टं पशुं दृष्ट्वा हन्तुमिच्छति' (शता.पृ. ५५१) 'यथा मांसाहारी पुष्टं पशुं दृष्ट्वा तन्मांसभक्षणेच्छां करोति' (ऋभाभू. पृ. ६७५) 'जैसे मांसाहारी मनुष्य पुष्ट पशुको मारके उसका मांस खा जाता है' (शता.पृ. ६८०) सो इस प्रकारके वचन उन मांसभक्षियोंमें चरितार्थ हो जाते हैं।

(ख) वादीने गोभिलगृ.का 'कृष्णया गवा यजेत' प्रमाण दिया था; हमने उसका समाधान दिया था कि-गाय वेदानुसार

'अघ्न्या' होती है, पर यदि जहाँ मारना अर्थ प्रतीत होता हो; और 'गो' शब्द आ जावे; तब वहाँ 'गो' शब्द अन्य कृष्णपशुका वाचक हो जाता है' इस पर वादीकी बोलती बन्द हो गई। वादी इसका अन्य उदाहरण देखे—'शसने न गावः' (ऋ. १०।८६।१४) इस वेदमन्त्रमें 'शसने'का अर्थ 'हिंसास्थान' है। आर्यसमाजके चतुर्वेद-भाष्यकार श्रीजयदेव-विद्यालङ्कारने भी इसका अर्थ 'हत्यास्थान' किया है। यदि ऐसा है; तब 'हत्यास्थान'में 'गो' शब्द आनेसे क्या वादी 'गायकी हत्या' अर्थ मानकर अपने 'वैदिकधर्मकी जय' करेगा; और वेदको वाममार्गका ग्रन्थ मान लेगा ? यह वादी स्वयं बतावे। वादी अन्य भी वेदका इस प्रकारका मन्त्र देख ले 'वि पर्वशः चकर्त गाम् इव असिः' (ऋ. १०।७९।६) यहां असि (तलवार)से 'गो'का काटना कहा है; तब क्या वादी इससे गायका खड्गसे काटना वेदसम्मत तथा वेदकालीन मान लेगा ?

यदि वादी वेदमें 'गौ'का 'अघ्न्या' नाम देखकर फिर यहाँ वधस्थानमें 'गौ'का तथा काटने अर्थमें 'गो'का 'गाय' न करके 'अन्य पशु' ही अर्थ करेगा, जैसा कि-श्रीसायणने और उनके अनुसार आर्यसमाजी-भाष्यकार श्रीजयदेवने किया है, और इसी प्रकार दूसरे मन्त्रमें भी 'गो'का अर्थ 'पशु' कर लेगा; वैसे ही गोभिलसूत्रमें भी 'अघ्न्या'के अनुसार 'कृष्णया गवा'से अन्य स्त्रीपशु लिया जायगा। तब वादी जबर्दस्ती गायकी हत्या क्यों करता है ? वेदमें तथा गृह्यसूत्र दोनों स्थलोंमें समान समाधान

होगा। यज्ञका भी हमने 'पशुना रुद्रं यजते' यह वैया व्याकरणका उदाहरण देकर 'पशुं रुद्राय प्रयच्छति' अर्थ दिखलाकर 'यज' धातुका वहाँ 'देवपूजा-सङ्गतिकरण-दाने' इस धातुपाठ द्वारा 'देवोद्देश्यक दान' बताया था। इसपर भी का मुख बन्द हो गया; एक भी शब्द इसके विरोधमें वह न लि सका।

(ग) यह भी हमने लिखा था कि—'पायसेन वा' यह उत्तरपक्ष है। उत्तरपक्षको अन्तमें रखना पड़ता है। उसको सामश्रमीने 'अधमः कल्पः' कहकर ठीक नहीं किया'। गोवध प्रेमी पथिकने श्रीसामश्रमीजीकी वकालत करते हुए कि-' जैसे लालबुझक्कड़ पण्डित सामश्रमीजी नहीं थे' यह कहकर गाली तो दे दी; पर हमारी इस बातका प्रत्युत्तर न देकर ही अनायास 'लालबुझक्कड़' पदवीको पा गया। क्योंकि अन्तिम पक्ष क्या पूर्वपक्ष हो जाता है ?

(घ) हमने लिखा था कि-मूलसूत्रमें 'मांस' शब्द नहीं वादीने इसपर 'वसाम्, आज्यं, मांसं, पायसम्' इति संयुव यह सूत्र दिया। इसका उत्तर भी हम 'आलोक' (७) में दि चुके थे कि—'जैसे ब्रह्मचारीका भूतोंको दान आया है (२।२।२०), यहाँ ब्रह्मचारीकी चर्बी, माँस आदि काट-काट भूतोंको पृथक्-पृथक् नहीं दिये जाते; वैसे ही यहाँ भी लेना चाहिये। इसपर भी वादीका मुख बन्द हो गया। बोल नहीं सका।

ऐसे वाक्य तो अब भी दीवारोंपर चिपके इश्तिहारोंमें लिखे मिलते हैं कि—'टाटा-मिलमें मजदूरोंकी चर्बी-खूनका हवन' तब क्या वादी यह समझता है कि–अमुक मिलमें मजदूरोंको मारकर उनकी चर्बी और लहू निकालकर उससे सचमुच हवन किया जाता है? वस्तुतः इस प्रकारके वाक्य अन्य अभिप्राय रखते हैं कि–वहां मजदूरोंसे अधिक काम लेकर उनकी चर्बी-लहू सुखाया जाता है, वैसे ही यहाँ भी वास्तोष्पतिको जो मकानका देवता है, जैसे कि–स्वा.द. भी 'ॐ वास्तुपतये नमः' कहकर वास्तुके मध्यमें वास्तुके पतिको पाकका भोग रखवाते हैं; वा उस देवताको नमस्कार कराते हैं; सो उसके निमित्त पशुका यजन, ('यज देवपूजा-सङ्गतिकरण-दानेषु') दान आया है। तब उसमें उस पशुका पूरा दान होनेसे उसके वसा आदि भी दत्त हो जाते हैं। यह मानसिक हवन (दान, हु दानादनयोः') हो जाता है; जब इस प्रकार सुव्यवस्था लग जाती है; तब वादीको गायको जबर्दस्ती मरवानेकी उत्कण्ठा कैसे रहती है? यह हमें भी समझ नहीं आती। धन्य है इस प्रकारकी वैदिकम्मन्यता। क्या वह विधर्मियोंका एजेन्ट है? उक्त बातपर स्वामीका भी एक दृष्टान्त वादी देखे।

जैसेकि–'समर्पण'में स्वा.द.जीने भी स.प्र.में लिखा है–'देहके अर्पणसे नखशिखाग्र-पर्यन्त देना कहाता है। उनमें जो कुछ अच्छी-बुरी वस्तु है, मलमूत्रादिका भी अर्पण कैसे कर सकोगे'? (पृ. २३४)। वादी जैसे वेदमें वैसा आभास होनेपर वहां अर्थकी व्यवस्था करता है, वैसे यहांपर भी करे। गायका वधिक न बने। यह पाठ वादीने उदयनारायणसिंह वाले गोभिलगृह्यसूत्रसे दिया है। ऐसे पाठोंकी व्यवस्था उस गोभि गृ.की प्रथमावृत्तिकी विस्तीर्ण भूमिकामें लिखी है, पथिक वहीं देख ले।

(ङ) 'धेन्वनडुहयोर्भक्ष्यम्' पर हमने 'आलोक' (६), पृ. ३८४-८६ में मीमांसा की थी; उसमें आप.ध. सूत्रोंका पूर्वापर दिखलाकर हमने टीकाकार श्रीहरदत्तका भ्रम दिखलाया था, पर गायका वधिक बनना चाहता हुआ पथिक कहता है–'शास्त्रीजीने यहां धूर्ततासे काम लेकर टीकाको मानना अस्वीकार कर दिया'। यहां हमने दिखलाया था कि–'एकखुर...गवाम्' (२६)में गाय-बैलको आपधसू.ने अभक्ष्य बतलाया था; तब 'धेन्वनडुहयोर्भक्ष्यम्' में गाय-बैलका मांसभक्षण कैसे इष्ट हो सकता है? फिर आपस्तम्बने यह मत 'वाजसनेयक' (शतपथ) का बताया था; पर उसमें तो 'तस्माद् धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात्' (३.१।२।२१) यह निषेध किया है; तब आपस्तम्बने यह वाजसनेयकका मत कैसे लिखा?

वस्तुतः आपस्तम्बसूत्रमें 'धेन्वनडुहयोर्भक्ष्यम्'में 'मांस' अर्थ इष्ट नहीं, किन्तु ३१ सूत्रमें 'आनडुह-बैलसे कृष्ट अन्न तथा बैलके कारणसे अनडुही (गाय)में उत्पन्न दूधको वाजसनेय (याज्ञवल्क्य) के 'अश्नाम्येव' इस कथनसे उपयोगार्ह कहा है, जो शाला-प्रवेशककेलिए निषिद्ध था। व्यवस्था लगाना कोई सरल कार्य नहीं होता।

'अघ्न्या' होती है, पर यदि जहाँ मारना अर्थ प्रतीत होता हो; और 'गो' शब्द आ जावे; तब वहाँ 'गो' शब्द अन्य कृष्णपशुका वाचक हो जाता है' इस पर वादीकी बोलती बन्द हो गई। वादी इसका अन्य उदाहरण देखे—'शसने न गावः' (ऋ. १०।८६।१४) इस वेदमन्त्रमें 'शसने'का अर्थ 'हिंसास्थान' है। आर्यसमाजके चतुर्वेद-भाष्यकार श्रीजयदेव-विद्यालङ्कारने भी इसका अर्थ 'हत्यास्थान' किया है। यदि ऐसा है; तब 'हत्यास्थान'में 'गो' शब्द आनेसे क्या वादी 'गायकी हत्या' अर्थ मानकर अपने 'वैदिकधर्मकी जय' करेगा; और वेदको वाममार्गका ग्रन्थ मान लेगा? यह वादी स्वयं बतावे। वादी अन्य भी वेदका इस प्रकारका मन्त्र देख ले 'वि पर्वशः चकर्त गाम् इव असिः' (ऋ. १०।७६।६) यहां असि (तलवार)से 'गो'का काटना कहा है; तब क्या वादी इससे गायका खड्गसे काटना वेदसम्मत तथा वेदकालीन मान लेगा?

यदि वादी वेदमें 'गौ'का 'अघ्न्या' नाम देखकर फिर यहाँ वधस्थानमें 'गौ'का तथा काटने अर्थमें 'गो'का 'गाय' न करके 'अन्य पशु' ही अर्थ करेगा, जैसा कि-श्रीसायणने और उनके अनुसार आर्यसमाजी-भाष्यकार श्रीजयदेवने किया है, और इसी प्रकार दूसरे मन्त्रमें भी 'गो'का अर्थ 'पशु' कर लेगा; वैसे ही गोभिलसूत्रमें भी 'अघ्न्या'के अनुसार 'कृष्णया गवा'से अन्य स्त्रीपशु लिया जायगा। तब वादी जबर्दस्ती गायकी हत्या क्यों करता है? वेदमें तथा गृह्यसूत्र दोनों स्थलोंमें समान समाधान

होगा। यज्ञका भी हमने 'पशुना रुद्रं यजते' यह वैया... व्याकरणका उदाहरण देकर 'पशुं रुद्राय प्रयच्छति' अर्थ... दिखलाकर 'यज' धातुका वहाँ 'देवपूजा-सङ्गतिकरण-दानेषु' इस धातुपाठ द्वारा 'देवोद्देश्यक दान' बताया था। इसपर भी ... का मुख बन्द हो गया; एक भी शब्द इसके विरोधमें वह न ... सका।

(ग) यह भी हमने लिखा था कि—'पायसेन वा' यह ... उत्तरपक्ष है। उत्तरपक्षको अन्तमें रखना पड़ता है। उसको ... सामश्रमीने 'अधमः कल्पः' कहकर ठीक नहीं किया'। गोवंश... प्रेमी पथिकने श्रीसामश्रमीजीकी वकालत करते हुए कि-'... जैसे लालबुझक्कड़ पण्डित सामश्रमीजी नहीं थे' यह कहकर ... गाली तो दे दी; पर हमारी इस बातका प्रत्युत्तर न देकर ... ही अनायास 'लालबुझक्कड़' पदवीको पा गया। बधाई! ... अन्तिम पक्ष क्या पूर्वपक्ष हो जाता है?

(घ) हमने लिखा था कि-मूलसूत्रमें 'मांस' शब्द नहीं ... वादीने इसपर 'वसाम्, आज्यं, मांसं, पायसम्' इति संयूय ... यह सूत्र दिया। इसका उत्तर भी हम 'आलोक' (७) में ... चुके थे कि—'जैसे ब्रह्मचारीका भूतोंको दान आया है (... २।२।२०), यहाँ ब्रह्मचारीकी चर्बी, माँस आदि काट-काट... भूतोंको पृथक्-पृथक् नहीं दिये जाते; वैसे ही यहाँ भी ... लेना चाहिये। इसपर भी वादीका मुख बन्द हो गया। ... बोल नहीं सका।

ऐसे वाक्य तो अब भी दीवारोंपर चिपके इश्तिहारोंमें लिखे मिलते हैं कि—'टाटा-मिलमें मजदूरोंकी चर्बी-खूनका हवन' तब क्या वादी यह समझता है कि-अमुक मिलमें मजदूरोंको मारकर उनकी चर्बी और लहू निकालकर उससे सचमुच हवन किया जाता है? वस्तुतः इस प्रकारके वाक्य अन्य अभिप्राय रखते हैं कि-वहां मजदूरोंसे अधिक काम लेकर उनकी चर्बी-लहू सुखाया जाता है, वैसे ही यहाँ भी वास्तोष्पतिको जो मकानका देवता है, जैसे कि-स्वा.द. भी 'ॐ वास्तुपतये नमः' कहकर वास्तुके मध्यमें वास्तुके पतिको पाकका भोग रखवाते हैं; वा उस देवताको नमस्कार कराते हैं; सो उसके निमित्त पशुका यजन, ('यज देवपूजा-सङ्गतिकरण-दानेषु') दान आया है। तब उसमें उस पशुका पूरा दान होनेसे उसके वसा आदि भी दत्त हो जाते हैं। यह मानसिक हवन (दान, हु दानादनयोः') हो जाता है; जब इस प्रकार सुव्यवस्था लग जाती है; तब वादीको गायको जबर्दस्ती मरवानेकी उत्कण्ठा कैसे रहती है? यह हमें भी समझ नहीं आती। धन्य है इस प्रकारकी वैदिकम्मन्यता। क्या वह विधर्मियोंका एजेन्ट है? उक्त बातपर स्वामीका भी एक दृष्टान्त वादी देखे।

जैसेकि-'समर्पण'में स्वा.द.जीने भी स.प्र.में लिखा है-'देहके अर्पणसे नखशिखाग्र-पर्यन्त देना कहाता है। उनमें जो कुछ अच्छी-बुरी वस्तु है, मलमूत्रादिका भी अर्पण कैसे कर सकोगे'? (पृ. २३४)। वादी जैसे वेदमें वैसा आभास होनेपर वहां अर्थकी

व्यवस्था करता है, वैसे यहांपर भी करे। गायका वधिक न बने। यह पाठ वादीने उदयनारायणसिंह वाले गोभिलगृह्यसूत्रसे दिया है। ऐसे पाठोंकी व्यवस्था उस गोभि गृ.की प्रथमावृत्तिकी विस्तीर्ण भूमिकामें लिखी है, पथिक वहीं देख ले।

(ङ) 'धेन्वनडुहयोर्भक्ष्यम्' पर हमने 'आलोक' (६), पृ. ३८४-८६ में मीमांसा की थी; उसमें आप.ध. सूत्रोंका पूर्वापर दिखलाकर हमने टीकाकार श्रीहरदत्तका भ्रम दिखलाया था, पर गायका वधिक बनना चाहता हुआ पथिक कहता है-'शास्त्रीजीने यहां धूर्ततासे काम लेकर टीकाको मानना अस्वीकार कर दिया'। यहां हमने दिखलाया था कि-'एकखुर...गवाम्' (२६)में गाय-बैलको आपधसू.ने अभक्ष्य बतलाया था; तब 'धेन्वनडुहयोर्भक्ष्यम्' में गाय-बैलका मांसभक्षण कैसे इष्ट हो सकता है? फिर आपस्तम्बने यह मत 'वाजसनेयक' (शतपथ) का बताया था; पर उसमें तो 'तस्माद् धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात्' (३.१।२।२१) यह निषेध किया है; तब आपस्तम्बने यह वाजसनेयकका मत कैसे लिखा?

वस्तुतः आपस्तम्बसूत्रमें 'धेन्वनडुहयोर्भक्ष्यम्'में 'मांस' अर्थ इष्ट नहीं, किन्तु ३१ सूत्रमें 'आनडुह-बैलसे कृष्ट अन्न तथा बैलके कारणसे अनडुही (गाय)में उत्पन्न दूधको वाजसनेय (याज्ञवल्क्य) के 'अश्नाम्येव' इस कथनसे उपयोगार्ह कहा है, जो शाला-प्रवेशकके लिए निषिद्ध था। व्यवस्था लगाना कोई सरल कार्य नहीं होता।

वादी यहाँपर अपने मान्य 'कृष्णकी या कंसकी' (पृ. २७)के निबन्धको देख ले। वहां लिखा है—'स धेन्वै चानडुहश्च नाश्नीयात्। तदु होवाच याज्ञवल्क्यः-अश्नाम्येव अहम्, अंसलं चेद् भवति'। इसका शब्दार्थ इस प्रकार है-'वह (यजमान) गायका और बैलका न खावे...इसपर याज्ञवल्क्य बोले-'मैं तो खाऊँगा; यदि बलवर्धक होगा'। यहां ध्यान देनेकी बात यह है कि-इस सारे सन्दर्भमें 'मांस'का शब्द कहीं नहीं। यहाँ 'मांस' शब्द कहांसे आ टपका?......यज्ञसमाप्तिसे पहले खाना देवोंका अपमान है। इसपर प्रश्न उठा कि-यदि (यजमान) बिल्कुल भूखा रहेगा; तो यज्ञ कैसे करेगा? सो कुछ खाना तो अवश्य चाहिये, जो खाया भी न खाएके बराबर हो; अर्थात्-जिसकी हवि ग्रहण नहीं करते, वह पदार्थ, अर्थात् कोई जङ्गली-फल वा कन्द खा ले? जिससे यज्ञ भी होता रहे, और देवोंका अपमान भी न हो।

वही बात यहां दोहराई गई कि-गायका अर्थात् दूधके बने पदार्थ मक्खन, मलाई, दही, मावा आदि न खावे, तथा बैलका अर्थात् खेतीसे उत्पन्न पदार्थ न खावे। इसपर याज्ञवल्क्य बोले कि-सोमपान लम्बा यज्ञ है। इसलिए यदि दुर्बलता अनुभव हो, तो कोई पुष्टिकारक पदार्थ भारी न हो, थोड़ा-सा खानेसे काम दे जावे; खा लेनेमें कोई हर्ज नहीं। जहां वाक्यमें मांसका गन्ध भी नहीं; वहां 'मांस' शब्द घुसेड़ना फिर स्त्रीलिङ्ग-पुंलिङ्ग, गाय-बैल दोनोंके पृथक्-ग्रहणका कोई तात्पर्य न हो, अर्थ

कैसे ठीक हो सकता है? भला हम रोज बोल-चालमें ... व्यवहार नहीं देखते हैं? जब कोई लड़कीकी ससुरालमें जाये, उस घरके लोग शिष्टाचारवश आग्रह करने लगें कि-भोजन लीजिये; तो उस समय प्रायः कहा जाता है-'भाई! बेटीका ... धर्म नहीं। हम बेटीका नहीं खाते'। तो क्या यहाँ यह अर्थ ... जायगा कि-हम बेटीका मांस नहीं खाते' (पृ. २८) 'तस्माद् ... दीक्षितस्य अश्नीयात्' (ऐत. ६।६) तो क्या यहां यह अर्थ होगा कि-'दीक्षितस्य मांसं नाश्नीयात्'? (पृ. २६ का भाव)

यहाँपर श्रीबुद्धदेवजीने सायणपर व्यर्थ कलंक लगाया कि-'यहाँ तो हजरत (सायण) यह लिखते हैं- दीक्षितस्य ... नाश्नीयात्'। पर 'धेन्वै अनडुहश्च'के सम्बन्धमें 'मांस' आगया। वस्तुतः बुद्धदेवजीने सायणपर यह दोष, बिना उसके भाष्यके ... लगाया है। सायणकी व्याख्या इस शतपथकाण्डकाकी ... बुद्धदेवजीने वा वादीने देखनी हो; तो 'आलोक' (६) पृ. ३... देखें। इससे मालूम होता है कि-वादी लोग अपनी आंखोंसे ... देखकर दूसरोंकी आंखोंसे देखा करते हैं। अतः पथिकका ... भी खण्डित हो गया; जो कि-वह आपस्तम्बके सूत्रसे गोमांस ... सिद्ध करना चाहता है। अब वह अपने शब्दोंमें ही बतावे कि- वह 'कसाई' है या 'गोरक्षक'?

(च) स्वयं श्रीहरदत्तने 'गौतमधर्मसूत्र'में लिखा है कि- 'धेन्वनडुहौ च अभक्ष्यौ' (२।८।३०) और आप.धसू. में ... लिखा है। वसिष्ठध.में भी 'धेन्वनड्वाहौ मेध्यौ वाजसनेयके ...

विज्ञायेते' (१४।३४) यह लिखा है। यहाँ 'मेध्य' का अर्थ 'भक्ष्य' नहीं; किन्तु 'मेधाके अनुकूल' अर्थ है; क्योंकि-गायका दूध मेधावर्धक होता है; और बैल उस दूधका कारण होता है। यदि बैल गायमें गर्भ न धारण करे; तो गायका दूध ही कैसे हो? तब दोनों ही मेध्य तथा अभक्ष्य बताये गये। बोधायनध. में तो 'वधे धेन्वनडुहयोरन्ते चान्द्रायणं चरेत्' (१।१६।६) यहाँ गाय-बैलके वधका प्रायश्चित्त कहा है। कात्यायनश्रौतसूत्रमें भी निषेध कहा है-'धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात्' (७।२।२२) शतपथब्रा.में भी निषेध कहा है (३।१।२।२१)। अब वादी स्वयं बतावे कि-इसमें धूर्तता किसकी हुई? तुम्हारी वा हमारी? वह यहां गायको जबर्दस्ती मरवाना चाहता है। यह धूर्तता अब उसकी सिद्ध होगई। यह 'धूर्तता'-आदि शब्द उसीके हैं, हमारे नहीं। वह 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' याद रखे। यदि वह अपने लिए ऐसे शब्दोंका प्रयोग पसन्द नहीं करता; तो दूसरोंकेलिए भी न करे।

हम 'आलोक' (६) में स्पष्ट कर चुके हैं कि-जहाँ 'गाय'को भोजनरूपमें कहा गया हो; जैसेकि श्रीयास्कने लिखा है-'अवसं गावः पथ्यदनम्' (१।१७।२) यहां गायको मुसाफिरीका भोजन कहा है। सो यहाँ 'गो' शब्द गोदुग्ध-वाची है, जैसेकि-'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (निरु. २।५।४) में; यह हम 'आलोक' (६) में सम्यक्तया स्पष्ट कर चुके हैं। यह भी वहाँ कह चुके हैं कि-'माँस' शब्द 'दूध'का वाचक भी होता है। स्वा.द.जीने ही 'छागकी हवि वपा' में 'बकरेका (?) दूध' अर्थ लिखा है। सो

हरदत्तके अर्थमें 'मांस'का अर्थ 'दूध' भी हो सकता है। कई लोग गायके दूधको इसलिए नहीं पीते; क्योंकि-वह गोमाताके रक्तका दूसरा रूप है; तभी तो मानुषी-स्त्रीके स्तनोंमें तब तक दूध नहीं आता; जब तक उसका रजोधर्म बन्द नहीं होता। जब वह रक्त ९ महीने तक बन्द रहता है; तभी वह सुफेदरूपमें होकर कुचोंमें दूध रूपमें आता है; इसलिए शरीरसे ताजे निकले हुए वे दोनों उष्ण होते हैं। जब बच्चा कुछ बढ़ कर स्तनोंका दूध अधिक-मात्रा में लेने लगता है; तब दुबल माँ दुःखित होकर कहती है-'मेरे लहूको यह चूसता जा रहा है, मेरे माँसको खाकर मुझे दुबला करता जा रहा है। उस समय बच्चेको 'अन्न-प्राशन' करके धीरे-धीरे अन्नकी ओर प्रवृत्त करना पड़ता है। पर हम तो दूधको रससे सीधा बना हुआ मानते हैं। वादी मजदूरकी भांति मकान गिराने वाला तो है, मकान बनानेका तो नक्शा भी उसे समझ नहीं आ सकता।

अब भी यदि वादी इनमें हमारी पूर्वापर-प्रकरणानुगृहीत व्यवस्था न मानकर 'गोमांस' को वह भक्षणीय मानता है; तो बड़े प्रेमसे गोमांसका प्रयोग करे। यदि सनातनधर्ममें गाय भक्ष्य होती; चाहे वेदके कथनसे, चाहे पुराणके कथनसे; तो गायका माँस खानेमें भी सनातनधर्मकी प्रवृत्ति किसी रूपमें होती; पर नहीं है; अतः स्पष्ट है कि-स.ध.में भी वही व्यवस्था है, जिसे हमने लिखा है। वे तो इस बुरे नामके लेनेमें भी घबराते हैं। इसी स.ध.का ही प्रभाव स्वा.द.जी पर तथा आर्यसमाजपर भी

पड़ा है कि-वे भी गायको पूज्य-दृष्टिसे देखते हैं। सो सनातन-धर्मी किसी टीकाकारका भ्रामक अर्थ प्रमाणित नहीं करते। इस विषयमें पूरी स्पष्टता पाठकोंको 'आलोक' (६) में मिलेगी। ७म पुष्पमें भी हमने सिद्ध कर दिया था कि-पथिकके लेखके गर्भमें आने तथा उसके प्रसवसे भी बहुत पूर्व हमने गायके अघ्न्यात्वविषयमें 'सिद्धान्त'में लिख डाला था; तब उसे असत्य व्यवहार करके जनवञ्चन नहीं करना चाहिये।

(छ) कई टीकाकार जो इस प्रकारका कहीं-कहीं अर्थ करते भी हैं; उसमें उनका अपना दृष्टिकोण होता है। उसको भी हम स्पष्ट कर देते हैं। वह यह है कि-'तस्माद् यज्ञे वधोऽवधः' (५।३६) यह मनुस्मृतिका कथन है कि-यज्ञमें वधको वध नहीं माना जाता। यही बात श्रीयास्कने भी कही है—'अध्वरः, ध्वरतिर्हिंसाकर्मा, तत्प्रतिषेधः (१।८।१) अर्थात् अध्वर यज्ञका नाम है। उसमें ध्वृ धातुका अर्थ 'हिंसा' होता है, उसके बने 'ध्वर' शब्दमें साथ लगा हुआ 'नञ्' उस हिंसाको 'अहिंसा' सिद्ध कर देता है।

यज्ञ है वेदका विषय; सो यास्कने कहा है-'आम्नाय-वचनाद् अहिंसा प्रतीयेत' (१।१६।६) वह हिंसा दीखती हुई भी वेदके वचनसे 'अहिंसा' मानी जाती है। यही मनुस्मृतिमें भी स्पष्ट है-'या वेदविहिता हिंसा नियताऽस्मिँश्चराचरे। अहिंसामेव तां विद्याद् वेदाद् धर्मो हि निर्बभौ' (५।४४)। 'नाऽवेदविहितां हिंसामापद्यपि समाचरेत्' (५।४३)। स्वा.द.जीने भी इस अर्थ-

वाला छान्दोग्यका वचन उद्धृत किया है-'अहिंसन् भूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्यः' इसे हम पहले लिख चुके हैं। इसपर स्पष्टता देखनेके इच्छुक 'आलोक' (६) में 'याज्ञिक-पश्वालम्भ' में देखें। उस दृष्टिकोणसे वे टीकाकार कचित् वैसा अर्थ लिखते हैं।

यज्ञ होता है ५ प्रकारका, १ देवयज्ञ, २ ऋषियज्ञ, ३ पितृयज्ञ, ४ भूतयज्ञ, ५ अतिथि (नृ) यज्ञ। सो इन यज्ञोंमें होती हुई हिंसा-को भी 'अहिंसा' माना जाता है। इसलिए याज्ञिक-गोवधको भी कई लोग अहिंसा मानते हैं। यह अपना-अपना दृष्टिकोण होता है। उस-उस दृष्टिकोणके उत्तरदायी वे स्वयं होते हैं। पर हम तो यह समझते हैं कि-गाय-बैलका विशेष नाम 'अघ्न्या, अघ्न्य' जो रखा हुआ है, अन्य पशुविशेषका नाम-चाहे वे दूध देनेवाले भी हैं-'अघ्न्या, अघ्न्य' यह विशेष नाम नहीं रखा गया, इससे स्पष्ट है कि-गाय-बैल चाहे यज्ञ हो, चाहे यज्ञके बाहर हो, यह तो अवध्य ही हैं। सो जहाँ इनके वधका आभास हो, वहाँ 'गो'का अर्थ अन्य स्त्री-पशु तथा 'अनडुह्'का अर्थ अनः-वहन करने (छकड़ा उठाने) वाले अन्य पशुका नाम समझना चाहिये। अन्य पशुओंका भी वध फिर कई हानियोंको लक्ष्य करके कलिवर्जित कर दिया गया है, वह भी अब कर्तव्य नहीं। आशा है-वादी समझ गया होगा। न समझे, फिर भी हमारी 'धूर्तता' ही कहता जाय, तो वह भले ही गोवध करे-करावे; उसका उत्तरदायित्व उसपर है, हमपर नहीं। हमने पूर्वापरकी सङ्गति तथा अविरोधपूर्वक समन्वय कर दिया है, पर वादीके पास तो

प्रक्षिप्तता, तथा नाममात्रसे वेदविरुद्धता कहनेके अतिरिक्त अन्य कोई बल ही नहीं। (ज) अनुस्तरणीपर हमने 'आलोक' (७) पृ. ६१८ में तथा 'आलोक' (६) पृ. ३८४-८५ में व्यवस्था कर दी थी, पथिककी लेखनीने 'परमतमप्रतिषिद्धमनुमतम्' इस न्यायसे उसे स्वीकृत कर लिया।

(६६) अब वादी बृहदारण्यकके 'मांसौदनं' पर चलता है, इसपर हम 'आलोक' (६) (पृ. ३२०-३३०) 'आलोक' (७) (पृ. ६६-१०३) (पृ. ६१८-६१६ आदि) में लिख ही चुके थे। उसमें हमने सिद्ध कर दिया था कि-पाठ तो बृहदारण्यमें 'मांसौदनं' ही है, पर उसका अर्थ 'माषौदनम्' है। इसपर प्रमाण भी हमने पृ. ३२३ में दिया था। यह भी लिखा था कि-'तब श्रीशिवशङ्कर-काव्यतीर्थका 'माषौदनं' पाठ बदल देना अनधिकार-चर्चा है। जोकि काव्यतीर्थजीके पीछेके जे. पी. चौधरी आदिने भी 'माषौदनं' पाठ माना है; यह 'अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे' न्यायकी चरितार्थता है। जब उक्त-प्रमाणमें 'मांस'का 'माष-धान्य' अर्थ भी हुआ करता है, हम ६-७ पुष्पोंमें सिद्ध कर चुके हैं; आ.स. के मान्य म.म. श्रीआर्यमुनिजीने भी मीमांसार्य-भाष्यम् (३।८।४२-४३-४४) में 'मांस'का 'माष' आदि मांसल पदार्थ अर्थ किया है; तब पाठ-परिवर्तनकी आवश्यकता भी क्या?' इसपर पथिक कुछ भी बोल नहीं सका। हमने वहाँ 'माँस' का जो 'माष' अर्थ किया है, वहां 'अतो माषान्नमेवैतद् मांसार्थे ब्रह्मणा स्मृतम्' (१५२-१५३) यह प्रजापतिस्मृतिका प्रमाण दिया

था। गरुडपुराण-प्रेतकल्पमें भी लिखा है कि-श्राद्धादिमें जहां मांसादिका प्रयोग लिखा हो; वहां कलिवर्ज्यतावश मांसके स्थान माषका प्रयोग समझना चाहिये-'दशमेऽहनि मांसेन पिण्डं दद्यात् खगेश्वर! माषेण तद् (मांस)-निषेधाद्वा कलौ न पल-पैतृकम्' (११।३७)। माषकी मांससे समताके ही कारण 'अमेध्या वै माषाः' यह शास्त्रीय वचन सुप्रसिद्ध है। सम्भवतः मीमांसार्यभाष्यमें (३।८।४२) म.म. आर्यमुनिजीने भी लिखा है।

वादी कहता है कि-'श्रीदी.शा.ने वही अर्थ किया है, जो आर्यसमाजी करते हैं'। यह भी उसका कथन गलत है। जिस प्रजापतिस्मृतिके वा गरुडपुराण-'प्रेतकल्प'के वचनसे हमने यह अर्थ दिया था, वा दिया है; प्रजापतिस्मृति तथा गरुड-पुराण क्या आर्यसमाजकी पुस्तकें हैं?। आर्यसमाजी लोग मनुस्मृतिको लंगड़ी करके कुछ उसको तो प्रमाण मानते हैं, अन्य स्मृतियोंको तो बिल्कुल नहीं मानते। आर्यसमाजियोंने तो यहाँ अपनी सदाकी प्रकृतिके कारण पाठ ही बदल दिया है, 'माषौदनं' कर दिया है। हमने ऐसा अनधिकृत-परिवर्तन भी नहीं किया; तब वादीका दोष देना निर्मूल है।

स्वा. शङ्कराचार्य पर जो कि पथिकने दोष दिया था; उसका समाधान हमने 'आलोक' (७) पृ. १००-१०३ में दिया था; वादीका उसपर भी मुंह बन्द हो गया। उस ओषधिका नाम जब बैलके नामसे है; जैसेकि-भावप्रकाशमें लिखा है-'ऋषभो वृषभो वीरो विषाणी ब्राह्म इत्यपि' यहां ऋषभक-ओषधिके नाम

बैलके नामसे लिखे हैं, सो आचार्य शङ्करको भी उस बैल नाम-वाली ओषधि इष्ट थी। उस सन्दर्भकी उन्होंने हिन्दी तो की नहीं; तब वादीके पास क्या प्रमाण है कि-आचार्य शङ्करने बैलका अर्थ कर दिया? 'मांस'का अर्थ फलके गूदेका भी होता है। जैसेकि बृहन्निघण्टुमें-'आम्रस्यामफले भवन्ति युगपन्मांसास्थिमज्जादयः, लक्ष्यन्ते न पृथक्-पृथक् स्फुटतया पुष्टास्त एव स्फुटाः' यहां मांस फलके गूदेका नाम, अस्थि गुठलीका नाम, मज्जा रसका नाम है।

'आलोक' (७) पृ. ६२३ में हमने लिखा था कि-पुराण-इतिहास गायका हनन निषिद्ध करते हैं, आर्यसमाजने भी वहींसे यह सीखकर पौराणिकता अपनाई है, वादीका इसपर भी मुख बन्द होगया। सो 'माषौदनं' पाठ बदलना आर्यसमाजियोंकी अनधिकार-चेष्टा है; जब उपवेद-सुश्रुतसंहिता शारीराध्यायमें गर्भिणी-स्त्रीको 'तैलमाषोत्तराहारा'में माषका आहार कहती है, और चरकसं. शारी. ८ में भी 'स्त्रियं तु तैलमाषाभ्यां' वही कहा है, और मांसका अर्थ 'माष' भी है, इसमें हम स्मृतिका तथा पुराणका प्रमाण भी दे चुके हैं; तब हमारा पक्ष सिद्ध हो ही गया, पाठ बदलनेकी आवश्यकता क्या? यदि 'शसने न गावः'में 'गावः' रखनेसे लोगोंको 'गोहत्या'का भ्रम होता है; तो क्या आप वहां पाठ बदलकर 'शसने न पशवः'; अथवा 'जीवाः' कर देंगे? क्या आपकी यह अनधिकार-चेष्टा नहीं होगी? श्रीशङ्करस्वामीका अभिप्राय भी हमने ७म पुष्पमें बतला दिया था (देखो पृ. १०१-

१०३); तब वैसिमा.के २०२ पृ.में वादीका उनपर आक्षेप अज्ञानमूलक है।

(७०) 'मांसमुपसिच्य' हमने ७म पुष्पमें मन्त्र दिया था; उसकी काण्डसंख्या मुद्रकोंकी असावधानतासे गलत छप गई, उसपर वादी कहताहै कि-'ऐसा ज्ञात होता है कि किसीकी पुस्तकसे आपने प्रतिलिपि कर ली, मूल-अथर्ववेदका स्वाध्याय नहीं किया, अन्यथा ऐसी भयङ्कर भूल नहीं करते'। वादी तो अपनी गलती को भी मुद्रकके मत्थे मढ़ता है, जैसे—(उपयोग लें) के अपने लिखे हुए ब्रेकेटको, बल्कि स्वयं लिखे हुए 'ब्रैकेट' शब्दको भी मुद्रणालयकी अशुद्धि मानता है, पर हमारी मुद्राशुद्धिको भी हमारा अथर्ववेदका स्वाध्याय नं करना बताता है। बेचारेके पास यदि कोई अन्य मसाला नहीं है, तो चलो यही सही। 'आलोक' (६) पृ. ४२१-४२२ में हमने उस मन्त्रका पूर्वापर दिखलाया था, काण्ड आदिकी संख्या भी लिखी थी; बल्कि सप्तम पुष्पके उसी ६१६ पृष्ठकी पं. २५ में भी इसी मन्त्रकी संख्या ६।६(४)।७ लिखी थी; तब उसे न देख-भालकर उक्त दोष मढ़ना क्या वादीकी अपनी भयङ्कर भूल नहीं?

(ख) शेष जो वादीने 'मांस'का अर्थ स्वा.द.मु.के अनुसार बदला है कि-'मनः-प्रसादक पके फलका मृदु-भाग'। सो वह आक्षेप्य-स्थलोंमें भी वही अर्थ कर ले। वह जो कन्द आदि अर्थ करना प.माध.जीपर आर्यसमाजका प्रभाव बताता है, यह भी वादीका कहना गलत है। आर्यसमाजियोंने ही यह

बात पुराणोंने सीखी हैं। देखिये कुछ पौराणिक पद्य--'अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति। महच्चकाराऽकुशलं वृषं गां वाऽऽलभेत्तु यः' (महा. शान्ति. २६२।४७) 'ओषधीभिस्तथा ब्रह्मन्! यजेरन् ते न तादृशाः' (२६३।३३)। अब स्कन्दपुराणमें देखिये--'अहिंसैव परो धर्मः तत्र वेदेऽस्ति कीर्तितः। साक्षात् पशुवधो यज्ञे नहि वेदस्य सम्मतः' (वैष्णवखण्ड वासुदेवमाहात्म्य ६।१४)। तस्माद् व्रीहिभिरेवासौ यज्ञः क्षीरेण सर्पिषा। मेध्यैरन्नरसैश्चान्यैः कार्यो न पशुहिंसया' (स्कं. २।६।२८) तत्रापि बीजैर्यष्टव्यमजसंज्ञामुपागतैः। त्रिवर्षकालमुषितैर्न येषां पुनरुद्भवः' (२९) 'सनातनस्य धर्मस्य रूपमेतदुदीरितम्। तदतिक्रम्य यो वर्तेद् धर्मघ्नः स पतत्यधः' (३१)। अब वादी बतावे कि--स्कन्दपुराण वा महाभारतके उक्त प्रमाण आर्यसमाजसे पीछे बने, वा पहलेसे ही थे? यदि पहलेसे ही थे; तो आर्यसमाजपर उनका ही प्रभाव पड़ा, यह कट्टर दयानन्दी-पथिकको मानना ही पड़ेगा। पुराण उसका गला पकड़ कर उसे मनवा लेंगे।

वहीं पर विशेष गुणवालोंकेलिए पशुवध भी अभ्यनुज्ञात किया गया है। जैसेकि--'राजसानां तामसानाम् आसुराणां तथा नृणाम्। यथागुणं भैरवाद्या उपास्याः सन्ति देवताः' (२।६।२३) स्वगुणानुगुणात्मीयदेवतातुष्टये भुवि। हिंस्रयज्ञविधानं यत् तेषामेवोचितं हि तत्' (२४)। ऋषियोंको अहिंसायज्ञ स्वीकृत था; और देवताओंको पशुयज्ञ। इत्यादि वर्णन महाभारत तथा श्रीमद्भागवतादि-पुराणोंमें भी आता है। हम कुछ पद्योंका संग्रह

यहाँपर कर देते हैं।--

'विष्णुमेवाभिजानन्ति सर्वयज्ञेषु ब्राह्मणाः। पायसैः सुमनोभिश्च तस्यापि यजनं स्मृतम्' (महा. शान्ति. २६५।११) यहाँ पायस तथा फूलोंसे विष्णुयज्ञ कहा है। 'यज्ञियाश्चैव ये वृक्षा वेदेषु परिकल्पिताः। यच्चापि किञ्चित् कर्तव्यमन्यच्चोक्षैः सुसंस्कृतम्। महत्-सत्त्वैः शुद्धभावैः सर्वं देवार्हमेव तत्' (१२)। 'तस्माद् हिंसा न यज्ञिया' (२७२।१८) 'अहिंसा सर्वभूतेभ्यो धर्मभ्यो ज्यायसी मता' (२६५।६) 'नहि यज्ञे पशुगणा विधिदृष्टाः पुरन्दर! धर्मोपघातकस्त्वेष समारम्भस्तव प्रभो! नायं धर्मकृतो यज्ञो न हिंसा धर्म उच्यते। आगमेनैव ते यज्ञं कुर्वन्तु यदि चेच्छसि। विधिदृष्टेन यज्ञेन धर्मस्ते सुमहान् भवेत्। यज बीजैः सहस्राक्ष! त्रिवर्षपरमोषितैः' (आश्वमेधिक ६१।१२-१६) 'भूतदया तथा। सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत् सनातनम्' (६१।३४) तब क्या पुराणोंने यह सनातनधर्म आर्यसमाजसे सीखा, क्या यह पुराण आर्यसमाज बननेसे पीछे बनाये गये? वा कलके पैदा हुए आर्यसमाजने पुराणोंसे सीखा? अब आशा है--वादी भविष्यमें इस विषयमें 'आर्यसमाजका प्रभाव' न कहकर आर्यसमाज पर पुराणोंका प्रभाव हो जाना मानेगा। असत्य को छोड़कर सत्यग्रहणका नियम माने, उलटा चलनेपर वह 'सत्यके ग्रहण करने और असत्यके छोड़नेमें सर्वदा उद्यत रहना चाहिये' इस अपने आचार्यके ४र्थ नियमकी हत्या करेगा। वस्तुतः सृष्टिके त्रिगुणात्मक होनेसे सृष्टिके लोगोंसे किये जाते यज्ञ भी

त्रिगुणात्मक हैं। सात्त्विककेलिए अहिंसक यज्ञ, तथा राजस-तामसकेलिए भिन्न यज्ञ हैं। गिन लो सारे संसारको; उसमें मांसपार्टी बड़ी है वा घासपार्टी? व्यवस्था सबकेलिए ही करनी पड़ती है।

(ग) पञ्चतन्त्रमें ही देख लो, वहाँ 'अजैर्यष्टव्यम्'का अर्थ किया है—'व्रीहयस्तावत् सप्तवार्षिकाः' (शशकपिञ्जलकी कथामें) तब क्या पञ्चतन्त्र भी आर्यसमाजियोंसे पीछेका बना हुआ पुस्तक है? आयुर्वेदकी पुस्तकें जिनमें जड़ी-बूटियोंके नाम पशुपक्षियोंके नामसे रखे गये हैं; देखिये-आयुर्वेद-निघण्टु; तब वे क्या आर्यसमाजसे प्रभावित हैं; यह तो वादी 'संसारका आठवाँ महाश्चर्य' बता रहा है!!!

(घ) वादीका यह कहना भी गलत है कि-'पौराणिक लोग पुराणोंमें श्लोकोंका यौगिक अर्थ करते हैं, यह स्वा.द. वा आर्य-विद्वानोंके लेखका प्रभाव है' वाह! क्या आर्यसमाजसे पूर्व शब्द केवल रूढ हुआ करते थे; यौगिक सर्वथा नहीं हुआ करते थे? स्वा.द.जी भी वेदमें केवल यौगिक अर्थ नहीं मानते, योगरूढ भी मानते हैं, यह हम 'आलोक' (८) में लिख चुके हैं; तब वादीका केवल यौगिकतावाद भी पीसा गया। 'गोकर्णा सुमुखीकृतेन इपुणा' (कर्ण. ६०।४२) इस महाभारतके पद्यमें ही ७ वार प्रयुक्त 'गो' शब्द यौगिक ही तो है, भिन्न-भिन्न अर्थ रखता है; तब क्या वादी यहां रूढ अर्थ कभी कर सकता है?

(ङ) 'महोक्षं वा महाजं वा पचेत्' इसका 'आलोक' (६)

में किया हुआ अर्थ हमारी अपनी गवेषणा है। 'पच्' धातुका अर्थ, 'याज्ञवल्क्यस्मृति'की एकवाक्यता आदि यह किसी आर्यसमाजीसे हमने उधार नहीं ली। इसपर वादी कुछ कह नहीं सका। यदि श्रीरामदेव आदिने इसपर कुछ लिखा है, तो उनका अपना भिन्न अर्थ है। वह अर्थ मैंने वादीकी इस पुस्तकमें ही देखा है, इससे पूर्व मुझे उसका पता तक भी नहीं था। न ही उनका और मेरा अर्थ मेल खाता है, तब 'आर्यसमाजसे वह अर्थ लिखा गया', यह वादीकी बात कट गई। ७म पुष्पमें हमने अपने सं. २००३ के गायके अघ्न्यात्वके उल्लेखका उद्धरण किया है, वादी उसपर भी चुप्पी लगा गया।

(च) जोकि वादीने पृ. २०८-२०९ में शतपथका उद्धरण और उसका अर्थ देकर अन्तमें लिखा है कि-इसपर सायण-भाष्यसे भी गोमांसभक्षण सिद्ध होता है' यह पथिकका घोर असत्यवाद है, मालूम होता है-उसने स्वयं शतपथका सायणभाष्य नहीं देखा, केवल श्रीबुद्धदेवजीके ट्रैक्टको देखकर ऐसा लिख दिया। वहाँ श्रीसायणने शालाप्रवेशककेलिए गायका दूध और बैलसे हुए अन्नका अर्थ किया है। प्रकरण भी वही है, पर याज्ञवल्क्यने उस दूध और अन्नका अपनेलिए खाना माना है। अब वह असत्यवक्ता पथिक बोले कि-उसने यह सायणभाष्यका अर्थ क्या 'अटकलपच्चू' लिख दिया? श्रीबुद्धदेवजीने भी सायणपर यही कलङ्क लगाया था-यह सायणभाष्य न देखनेका परिणाम है। हमने शतपथके उक्त स्थलके सायणभाष्यका उद्धरण

'आलोक' (६) पृ. ३७५-३८० में दे दिया था, वादी वहींसे देख ले। ऐसे असत्यवादी भी अपने आपको वैदिक मानते हैं—'किमाश्चर्यमतः परम् !!! स्वा.द.जीने 'असत्यवक्ताओंको 'असुर' कहा है। जब शतपथके उस स्थलमें 'मांस' शब्द नहीं है; तब वादीने उसका मनमाना अध्याहार कैसे कर लिया ? 'धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात्' यह षष्ठी है; इसका अर्थ है कि-'गाय-बैलका न खावे' पर वादीने द्वितीयाका अर्थ कैसे कर दिया ? क्या अपनी मर्जी है, जो चाहा अर्थ कर लिया ! 'दीक्षितस्य नाश्नीयात्'का वादी यही अर्थ करेगा कि-'दीक्षितको न खावे, वा दीक्षितका मांस न खावे ? 'अंसल'का अर्थ वादीने 'मोटे कन्धेवाला' कैसे कर लिया, क्या वादीको संस्कृतसाहित्यका ज्ञान नहीं है ? इस विषयपर मीमांसा वादी 'आलोक' (६) पूर्वोक्त पृष्ठमें देखे। शेष जो वादीने श्रीत्रिपाठीजीका उद्धरण दिया है, वह 'तथाकथित'के अभिप्रायसे है, अर्थात् जो पुराणादिमें है, वही वेदमें भी, सो जो वेदमें अर्थ होगा, वही पुराणादिमें भी। यही उनका अभिप्राय है। दूसरोंको गालियाँ निकालकर वादी अपनी गोभक्ति प्रदर्शित करता है, अब वह अपने तथाकथित-ऋषिकी 'गोभक्ति' भी देखे।—

'गोस्वामी'का वेदमें 'अयं ते गोपतिस्तं जुषस्व' (अ. १८।३।४) इस प्रकार गौरवसे नाम आया है, पर 'गोस्वामी'के प्रचलित 'गोसाईं' शब्दका अर्थ स्वा.द.जी लिखते हैं-'गो'शब्देन पशुगुणवान् 'साईं' शब्देन यवनाचार्यः ('गो'नाम पशुगुणयुक्त, 'साईं' शब्दसे मुसलमानोंका आचार्य (पीर)' (वेदविरुद्धमतखण्डन शता. पृ. ८०६-८०७)।

'गोलोक' कितना पवित्र लोक माना जाता है, उसपर स्वा.द.जी लिखते हैं—'गवां पशूनां यो लोकः, स तु दुःखरूपो दुर्गन्धरूपत्वात्; तत्र ये वसन्ति, तेपि असभ्या विद्याहीना आभीरवन्मूर्खा विज्ञेयाः (गो आदि पशुओंका लोक दुर्गन्धके बढ़नेसे दुःखरूप होगा, उसमें जो वसते हैं, वे अहीरोंके तुल्य मूर्ख विद्याहीन असभ्य जानने चाहियें' (शता.सं. पृ. ७६८-७६६) यह है स्वामीकी गोभक्ति ! इस प्रकार जो श्रीध.दे. आदि आर्यसमाजी सायणभाष्य अथर्व. (३।३०) के विनियोगमें 'सुराकुम्भनिनयनं त्रिवर्षवत्सिकाया गोः पिशितानां प्राशनं, सुरायाः पायनं च कुर्यात्' में दोष देते हैं, वे याद रखें कि-श्रीसायणने ७।५।५ में लिखा है-'अवध्यानां परमावधिर्गौः' (अवध्य सब प्राणियोंमें अत्यन्त उत्कृष्ट गाय है) और प्रकृत मन्त्रमें भी 'अघ्न्या' शब्द है; जिसका अर्थ श्रीसायणने लिखा है-'अघ्न्याः'। गोनाम एतत्। अहन्तव्या गाव इव'। जब इस प्रकार श्रीसायण गोहननका निषेध स्वयं कर रहे हैं; तब यहां 'पिशित'का अर्थ 'मांस' नहीं हो सकता।

सो जैसे मनु. (६।४६) में 'मांस' वाचक 'आमिष'का अर्थ 'सुखभोग' है; इस प्रकार 'पिशित'का अर्थ भी 'भोग' है; सो गोदुग्धके खोये-बर्फीका आशय है। 'सुरा'का अर्थ 'सोम' है-इस विषयमें स्पष्टता 'आलोक' (६) पृ. ४२५, ४२३ में देखनी

चाहिये। इन्हींका वितरण प्रकृत साम्मनस्यका उत्पादक है।

इस प्रकार सायणादिके भाष्यमें कहीं ऐसा भ्रम पड़े; तो वहां 'अवध्यानां परमोवधिगौः' यह सायणका तथा 'अघ्न्या' यह वेदका सिद्धान्त स्मरण करके भ्रम दूर कर लेना चाहिये।

(७१) सत्यवतीको जो कि-वादी 'कैवर्तकन्या' बताता है; इसका हम उत्तर ७म पुष्पमें दे चुके हैं कि-वह कैवर्तके वीर्यसे उत्पन्न नहीं हुई थी, किन्तु कैवर्तसे पालित थी। उसमें स्वा.द.जीका बच्चेका धायसे पालनेका वर्णन भी दिखलाया था; तब क्या स्वामीजीकी धायसे पाले बच्चे उसी धायके हो जाएँगे? जाति भी क्या उनकी उस धायवाली हो जाएगी? तब तो स्वामीजीने बच्चेकी जाति भी उच्छिन्न कर डाली! क्या पन्ना-दाईसे पाला हुआ राना उदयसिंह उस दाई वा दासीका लड़का हो जायगा? इसपर भी वादी कुछ न बोल सका।

कर्णको 'राधेय' (राधाका लड़का) कहा जाता है (महाभारत १।१६२।२३); पर वह राधासे पालित था, राधासे पैदा नहीं हुआ था; पर पैदा न होनेपर भी, केवल पालनेमात्रसे भी उसे 'राधेय' कहा जाता था; पर इससे यह नहीं कि-वह कुन्तीका पुत्र न होकर राधाका पुत्र हो जावेगा? इसी प्रकार उसी कुन्तीके लड़के कर्णको 'सूतज' (महा. कर्ण. ६।५१) 'सूतात्मज' (८६।३७) कहा जाता है, पर ऐसा भी सूतसे पालित होनेके कारण कहा जाता है, सूतवीर्योत्पन्न होनेसे नहीं। इसे हम अन्यत्र (पृ. १४२-१४६) स्पष्ट कर चुके हैं; तब क्या वादी 'सूतात्मज' शब्द देखकर

उसे पालक-पिता सूतका औरस पुत्र मान लेगा? यदि नहीं, तो 'निषादजा' कहनेसे भी वह निषादकी पुत्री नहीं हो जाती, किन्तु निषादसे पालित ही। जैसेकि-देवीभागवतमें स्पष्ट लिखा है-'पुत्रीव पाल्यमाना सा दाशगेहे व्यवर्धत' (२।१।४७) 'वासवी' (उपरिचरवसोः पुत्री) (४८)। शिवपुराणमें भी देवीभागवत आदि पुराणोंकी तरह 'निषादजा' यह 'निषादसे पालिता'का नाम है; अथवा निषाद मछलीको काटकर उस लड़कीके पैदा होनेमें हेतु बना; इसलिए उसे 'निषादजा' कहा गया है। 'धीवरीगर्भजस्य' यह श्रीसामश्रमीके शब्द हैं, इसका भी पूर्ववत् भांति समाधान है। कर्णको 'राधागर्भभारभूत सूतापसद' वेणीसं. ३य अङ्कमें (३५ पद्यसे पूर्व) कहनेसे भी वह राधाका गर्भज न होकर कुन्तीके गर्भसे उत्पन्न ही रहेगा। तब सत्यवतीको 'कैवर्तकन्या' मलाहकी लड़की कहते हुए वादीका खण्डन हो गया; जबकि वह उपरिचरवसुके वीर्यसे उत्पन्न हुई थी। इसपर ७म पुष्पमें स्पष्ट कर दिया है। देवीभागवत (२।१) में भी यह स्पष्ट है।

(ख) पराशरकी माताको श्वपाकी जब तक मूल इतिहाससे वादी सिद्ध न करे; तब तक यह साध्य बात रहेगी, सिद्ध नहीं। अत्रिस्मृति (३७८) में निषाद-ब्राह्मणका तथा चाण्डाल-ब्राह्मण (३८१) का, इस प्रकार चाणक्यनीति (११।१७) में भी लक्षण आया है, सो यहाँपर भी यदि कहीं 'श्वपाक' शब्द आया है तो वह भी ब्राह्मणोंकी पारिभाषिक-संज्ञा है, वास्तविक नहीं।

वादीने उसे 'स्वपाकी' (पृ. २११) लिखा है; तब अर्थमें श्वपाकी कैसे लिखा? वे तो शक्तिनामक ब्राह्मण-ऋषिके लड़के थे, 'तस्माद् बीजं प्रशस्यते' (मनु. १०।७२) वीर्यमूलक-वर्णव्यवस्थावश ब्राह्मण थे। जैसेकि मनुजीने कहा है-'बीजस्य चैव योन्याश्च बीज-मुत्कृष्टमुच्यते' (६।३५) 'यादृशं तूप्यते बीजं...तादृग् रोहति' (३६) 'न च योनि-गुणान् कांश्चिद् बीजं पुष्यति पुष्टिषु' (३७) (बीज भूमिके गुणोंको नहीं बनाता; किन्तु अपने ही गुणोंको बनाता वा बढ़ाता है) उप्यते यद्धि यद् बीजं तत् तदेव प्ररोहति' (४०) (जो बीज बोया जाता है, वही पैदा होता है) 'क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्' (६।३३) (स्त्री भूमि वा खेत है, पुरुष बीज है)। 'यस्माद् बीजप्रभावेण तिर्यग्जा ऋषयोऽभवन्। पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद् बीजं प्रशस्यते (१०।७२) पशु-पक्षी एवं निम्न-जातियोंमें उत्पन्न हुए भी ऋषि बने, और सम्मानित हुए; अतः बीज और योनिमें बीज ही वर्णव्यवस्थापक सिद्ध हुआ। तब मनुजीके इन पद्योंने वादीके पक्षको चकनाचूर कर दिया; पक्ष हमारा ही सिद्ध हुआ। इस विषयमें 'आलोक' (३) पृ. २८३ 'आलोक' (४) पृ, ३०४ में हमने स्पष्टता की है। अदृश्यन्ती मूल-इतिहासमें कहीं श्वपाकी नहीं कही गई है। भविष्यपुराणमें पूर्वपक्षीने असत्प्रसिद्धि उपस्थित की; उसमें कुछ ऐतिहासिक-प्रमाण उपस्थित नहीं किया। वादीके पास भी इनका ऐतिहासिक प्रमाण कुछ भी नहीं है। यदि है; तो वह उपस्थित करें; नहीं तो उसका पक्ष गिर गया। पराशर और

व्यास दोनों वीर्यप्रधानतावश ब्राह्मण हैं ही; क्षेत्र भी उनका निकृष्ट नहीं। तभी तो 'दैवतैरपि विप्रर्षे' (महा. शान्ति. ३३३।३६) व्यासजीको ब्राह्मण-ऋषि कहा गया है, शूद्र नहीं. और 'वसिष्ठस्य कुले रम्ये त्वं जातो हि महामते! ...ब्रह्मन्! (ब्राह्मण!)। (शिव. उमाखं. ४४।१२) वादीसे प्रमाणित किये इस प्रमाणमें भी पराशरजी को 'डोम' न कहकर 'प्रशस्त-कुल'में उत्पन्न 'ब्राह्मण' कहा है। उष्ट्रलगुड-न्यायसे पथिकसे दिये हुए ही प्रमाणसे गालीवक्ता पथिकका निराकरण होगया।

(ग) सत्यवती उपरिचर-वसुकी लड़की थी-यह देवीभागवत (२।१) तथा वादिप्रतिवादिमान्य-महाभारतसे सिद्ध है; पर वादी इससे अपना पक्ष विध्वस्त होता हुआ देखकर उसे कल्पित उपाख्यान बतानेकेलिए बल लगाता है, पर यहाँपर अपने ऋषि-द्वारा 'विषसंपृक्तान्नवत्' माने हुए पुराणकी बातमें, जिसके प्रयोग-से उसके पक्षके बिगड़ जाने वा मर जानेकी आशङ्का है, कुछ आस्था करता है, पर हम पुराणवचनका उत्तर दे चुके हैं। यह तो वादीकी अपनी इच्छा हुई कि-जिससे उसका पक्ष गिरता हो, उसे वह कल्पित मान लें, यह उसके पक्षकी स्पष्ट ही दुर्बलता है। यदि विषसंपृक्तान्न-पुराणवचनसे वादी अपने मरने-की सम्भावना नहीं करता; तब उसके तथाकथित ऋषिकी बात गलत सिद्ध होगई। आश्चर्य तो यह है कि-जो पुराण तथाकथित ऋषिजीकी 'वैदिकतोप'से 'वैसिमा.' (वादीकी पुस्तक) के चित्रमें उड़ गये थे; वे ही पुराण फिर पता नहीं कैसे बच गये, शायद

उस वैदिकतोपमें 'पोपों'ने कील ठोक दी हो; और वह 'वैदिक तोप' बेकाम होगई हो।

महाभारतीय उस कथाको जोकि वादी असम्भव समझता है; तब तो फिर व्यासजी भी कल्पित होगये, पराशरजी भी। फिर वादी बिना आधारके चित्र कहाँपर बनाता है? वह याद रखे कि-अमोघ-वीर्य कभी व्यर्थ नहीं जाता, चाहे उसका कैसा भी व्यवहार हो। मान लो कि-विक्स जुकामको ठीक करती है, फिर चाहे कोई उसकी टिकिया खावे, चाहे उसकी सूँघनी सूँघे, चाहे उसका गले आदिमें लेप लगावे। इस प्रकार अमोघ वीर्य जहां भी जावे, जिस ढंगसे भी जावे, उसने अपना कार्य कर देना है। आजकल शुक्रको इन्जैक्शनसे अन्दर डालकर वैज्ञानिक-गर्भाधान कुछ-कुछ सफलताको प्राप्त हो रहा है। इसी प्रकार अमोघ-वीर्यने लड़का-लड़की उत्पन्न करनी ही है। मछली उसे निगल गई; तब भी गर्भ होगया। चाहे उसे गर्भाशय न मिले; तब कुम्भ-आदिमें भी उससे उत्पत्ति हो ही जाती है। वृक्षमें भी उत्पत्ति सुनी जाती है, देखो-प्रताप आर्यसमाजीपत्र लाहौर (१०।४।४५)। यह तो शुक्र था, अभिमन्त्रित जलके पानसे भी पुरुष युवनाश्वको गर्भ होगया था (श्रीमद्भा. ९।६)। इन्द्रके भी अभिमन्त्रित सोमके पीनेसे अङ्गोंसे कई उत्पत्तियां होगई थीं (शतपथ. १२।७।१।१-९)। नाकके द्वारा कई विशेष ओषधि पिलानेसे पुंसवन किया जाता है। इस विषयमें अन्यत्र निबन्ध देखना चाहिये। सृष्टि-क्रमका वादीको क्या पता है। बीचमें

एक पुरुषको भी लड़का पैदा हुआ; इसपर हिन्दुस्तान-पत्र देहली (१४-४-६४) का अङ्क देखो। 'संस्कृतम्' अयोध्या (३।१।७) (१०-३-६४) का अङ्क भी देखो, जिसका आशय यह है कि-फ्रांसके लैरएट नामके १७ वर्षके पुरुषके हृदयमें कुछ कालसे पीड़ा हो रही थी, और छाती ऊँची हुई-हुई थी। डाक्टरोंने शल्यक्रिया की। उन्होंने आश्चर्यसे देखा कि-उससे पूर्ण अङ्गों वाला एक जीवित बालक निकला। लैरेएट स्वस्थ होगया। डाक्टर कहते हैं कि-यह दोनों इकट्ठे ही माताके गर्भमें आये थे। फिर वह लड़का किसी प्रकारसे लैरेएटके हृदयमें घुस गया, और १७ वर्ष बाद बाहर आया और उनका विश्वास है कि-यह जीता रहेगा। उसकी रक्षा की जा रही है'। 'वीर-अर्जुन' देहली (२३-४-५८) में बकरीके पेटसे मानव-लड़केकी उत्पत्तिका वृत्त दिया गया था। 'प्रभात मेरठ'में २० दि. सं. १९६७को 'गायके पेटसे मानव बालक जैसे लड़केका जन्म हुआ'।

बाज आदि यदि सिखलाये गये हों; तब नियत चीज भेजी जा सकती है। अमोघ-वीर्यका जिस भी ढंगसे प्रयोग हो, वह गर्भ करेगा ही। वादी क्या सृष्टि-क्रमको समझ सका है! वैज्ञानिक इस विषयमें बड़ी उन्नतियाँ कर रहे हैं, इस विषयमें 'प्रकृतिनियमोंकी सामान्यशास्त्रता' अन्य पुष्पमें देखनी चाहिये। तब वादीकी सभी आपत्तियाँ निस्सार हैं। सत्यवतीके कैवर्तके वीर्यसे उत्पन्न होनेका उसके पास कोई भी प्रमाण नहीं; तभी वह इन निकम्मी आपत्तियोंको खड़ी करता है। 'विचित्रोत्पत्तियाँ' वह

पढ़े; तब उसकी लघुशङ्काएँ सूख जाएँगी। 'अपत्यं नैतदार्यस्य (उपरिचर-वसोः) ···यस्य शुक्रात् सत्यवती सम्भूता' (महा. १।१००।७९) इसमें आर्यके शुक्रसे सत्यवतीका जन्म बताया गया है, दाश वर्ण-त्रयातिरिक्त होनेसे आर्य नहीं था।

महाभारतकी १ लाख पद्य-संख्याके विषयमें कुछ 'आलोक'-(४) पृ. २३१-२३४ में देखना चाहिये। चिन्तामणि विनायक अंग्रेजी मतसे प्रभावित थे, उसका खण्डन श्रीकन्हैयालाल पोद्दारने अपने 'संस्कृत साहित्यका इतिहास' १म भागमें कर दिया है। 'मयोक्तं वै निबोधत'में 'मया वक्ष्यमाणं अथवा वक्तुमिष्यमाणं' यह अर्थ है, इसमें 'आशङ्कायां भूतवच्च' (पा. ३।३।१३२) इस सूत्रसे सिद्धि होती है। इसका उदाहरण 'भवत्कृतां भूतिमपेक्षमाणाः' (किरातार्जु. ३।४९) है। 'भवत्कृतां'का अर्थ 'भवतां करिष्यमाणां' है।

वेदान्तदर्शनको वादी प्रमाण मानता है, उसमें भी अयोनिज-उत्पत्तियां संकेतित की गई हैं (२।१।२५, ३।१।१६) वैशेषिक-दर्शन (४।२।५-१०) में स्पष्टता है। शेष आपत्तियोंका निराकरण 'आलोक' (७) पृ. ६६१-६६३ में हम कर चुके हैं। वादी उसपर सोपपत्तिक नहीं बोल सका।

(घ) यदि 'निषादजा' कहनेसे वादी सत्यवतीको निषाद-वीर्योत्पन्न माने; तो कर्णको 'सूतज' (महा. कर्णपर्व ६।५१) सूतात्मज (८६।३७), राधेय (१।१९२।२३) 'राधागर्भभारभूत सूतापसद' (वेणी. ३य अङ्क ३५ पद्यसे पूर्व) आदि कहा गया है;

तो क्या वह कर्णको भी सूतके वीर्यसे उत्पन्न मानेगा ?। अथवा उस कथाको भी अपने पक्षके खण्डित होनेके डरसे कल्पित मान लेगा ? वादीका पक्ष गिर गया। 'वसिष्ठो गणिकात्मजः' यह वादियों-द्वारा वचन कहा जाता है, पर वसिष्ठ उर्वशी-अप्सरासे उत्पन्न नहीं हुए; किन्तु मित्र-वरुणके वीर्यसे ही। इससे सिद्ध होता है कि-'आत्मज' औरसपुत्र न होनेपर भी कहा जाता है।

(७२) असुरोंका ब्रह्माजीसे वादीने सम्भोग दिखलाया था; इसपर हमने लिखा था कि-'वादी १०० वर्ष तक भी वहाँ सम्भोग हो चुका हुआ नहीं दिखला सकता'। इसपर अशक्त वादी झेंपकर लिखता है-'असुरोंका 'संकल्पोऽध्यवसायश्च' सङ्कल्प करना भी सम्भोग है'। अब वादीका अपने लेखसे भी स्वयं अपना खण्डन होगया; क्योंकि-'असुरोंका ब्रह्मासे सम्भोग हुआ'-यह उक्त कथामें कहीं भी नहीं लिखा।

शेष रही संकल्पकी बात; यदि वादियोंकी स्त्रियोंको अथवा २२-२४ वर्षकी कुमारियोंको जो स्कूलसे पढ़कर आ रही होती हैं; देखकर कोई कामी उनसे कुविचारका संकल्प कर ले; क्योंकि-पुरुषोंकी प्रकृति ऐसी हुआ करती है; तो क्या वादी अपनी उन स्त्रियों वा कुमारियोंको दूसरोंसे सम्भुक्त होगई हुई मानेगा ? यदि ऐसा हो, तो बधाई हो। तब तो 'जिसका ब्रह्मचर्य खण्डित न हुआ हो; वह पुरुष-स्त्री गृहस्थाश्रममें प्रवेश करे। (स.प्र. ४ पृ. ४६) इस स्वामीजीके वचनानुसार भी कोई भी दयानन्दिन-

कुमारी मैथुन-रहिता न होनेसे, ब्रह्मचर्य खण्डित होजानेसे विवाहके योग्य नहीं रहेगी। कन्या न होनेसे उसका विवाह न हो सकेगा। तब तो संसार-भरमें कोई भी कुमारी सम्भोग-रहिता सिद्ध न होगी। क्या वादी ऐसा मानता है ? यदि ऐसा नहीं मानता; तो यहाँ भी ऐसा नहीं है।

(ख) हमने वादीसे उपस्थापित श्रीशङ्कराचार्यकी प्रच्छन्न-बौद्धता पर प्रत्युत्तर दिया था, वादीने इसपर चुप्पी धारण कर हमारे पक्षको सिद्ध कर दिया।

(ग) जो कि-वादीने नारद और अर्जुनसे भोग आदि दोष पुराणपर लगाये थे; हमने उनका प्रत्युत्तर दे दिया था; वादी उसपर कुछ भी नहीं बोल सका। जो वह पुराणोंका गन्द बताता है, वह तो वादीके दिमागमें 'गन्द' होनेसे ही प्रतीत होता है; जिससे रहस्यमयी बातोंको भी वह समझ नहीं सकता। अपने दिमागकी गन्दगीको यदि वह हटाकर स्वच्छ बना ले; तब वह उन बातोंको समझ सकेगा; अन्यथा नहीं।

(७३) वादीने 'सलिले न कर्हिचित्' इस पाठको स्वयं बदल कर 'सलिलेषु कर्हिचित्' कर दिया था। श्रीमद्भा.में 'सलिलेषु' ऐसा पाठ कहीं भी नहीं; इससे अर्थका अनर्थ होगया था, और 'कर्हिचित्' शब्द भी उसमें व्यर्थ होगया था; अब वादीने हमारी मीमांसासे प्रभावित होकर 'सलिले न कर्हिचित्' यह वास्तविक पाठ मान ही लिया; तब उसका खण्डन स्वतः होगया। उसकी स्पष्टता हम 'आलोक' (७) पृ. ६२८, १४६-१४६

में कर ही चुके हैं। इससे अब वादीका मुँह बन्द होगया।

वादी कहता है कि-'न दयानन्दजी और न उनके पिताजी ही आपके कल्पित पुराणको मानते थे' यदि ऐसा है; तो वादी बतावे कि क्या दयानन्दजी तथा उनके पिता तथा उनके बाबा दादा शिवजीके मन्दिरमें शिवमूर्तिकी पूजा वेदसे देखकर ही किया करते थे ? ऐसा हो तो बधाई हो। अब वेदमें स्वा.द. जिन्होंने ८ वर्षमें ही वेद पढ़ लिया था; तथा उनके वेदज्ञ पिताजीने मूर्तिपूजा वैदिक सिद्ध कर ही दी। अब मूर्तिपूजा पौराणिक न होकर 'वैदिक' होगई; अतः अब वैदिकम्मन्य पथिक भी मूर्ति-पूजा प्रारम्भ कर दें। आशा है-अब वादी डुगडुगी पिटवाकर आर्यसमाजको मूर्तिपूजाके शास्त्रार्थोंसे रुकवा देगा। वादीने केवल स्वामी तथा उसके पिताजीको खर होनेसे बचानेकेलिए यह कहकर जनवञ्चन किया था; अब वह स्वयं अपने ही बिछाये जालमें फँस गया।

इस पद्यमें साधु-पूजा तथा मूर्तिपूजा आदि दोनों व्यवहारों-को करनेवाले 'गोखर' नहीं हैं, यह सूचित किया गया है। तब उक्त बात हम लोगोंपर लागू नहीं हो सकती। दोनों बाप-बेटोंको तो वादीने 'गोखर' बनवाकर ही छोड़ा। किसी बातको अपने अखबारमें-जो हमारे पास नहीं आती-वादी दे डाले; तब इससे यह कैसे सिद्ध होगया कि-हमारी लेखनी उसपर न उठी। हाँ वादी वह पत्र-पत्रिका भिजवा दिया करे; और अपने उस पत्रमें हमारा लेख यथावत् छपवावे, तो पता लग जावेगा कि-लेखनी

किसकी रुकती है।

'मूर्तौ एव पूज्य-बुद्धिः' इस वादीसे लिखी टीका-यद्यपि यह पाठ श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस वाली चूर्णिकामें नहीं है-में स्थित 'एव'-शब्द वादीके पक्षको काट रहा है कि-जो केवल मूर्तिमें ही पूज्य बुद्धि करते हैं; साधुओंमें पूज्य बुद्धि नहीं करते, वे गोखर हैं। वादीने चूर्णिकाका जो पाठ उद्‌धृत किया है; उसमें उसने 'अतएव' से पाठ शुरू किया है। वादी जानता होगा कि-'अतएव' का अर्थ होता है-'इसलिए'। सो 'अतएव' यह पूर्व कही हुई बातोंके निष्कर्ष एवं उपसंहाररूपमें आता है। अब हम चूर्णिकाके उन पूर्व-वाक्योंको उद्‌धृत करते हैं—

'अम्मयानि तीर्थानि, मृच्छिलामया देवाश्च बहुकालेन पुनन्ति, साधवो दर्शनादेव पुनन्ति' (१०।८४।११) (जलमय तीर्थ तथा मट्टी-पत्थरकी मूर्तियाँ पवित्र तो करती हैं, पर देरीसे, पर साधु तो दर्शनमात्रसे पवित्र कर देते हैं) 'अग्निः, सूर्यः···एते उपासिताः सन्तः पापं हरन्ति, न तु तन्मूलमज्ञानम्, साधवस्तु मुहूर्तसेवया समूलं पापं घ्नन्ति' (१२) (अग्नि, सूर्य आदिकी उपासना की जावे; तो वे पापको तो हरते हैं, पर उसके मूलको नहीं; पर साधु लोग पाप तथा अज्ञान दोनोंको शीघ्र हर लेते हैं'। इन पूर्व-वाक्योंसे स्पष्ट हो रहा है कि-देवमूर्तिपूजा तथा साधु-पूजा दोनों ही आवश्यक हैं, उसी प्रकरणको उपसंहृत करती हुई चूर्णिका-टीकाने प्रकृत-श्लोककी टीकामें कहा है—'अतएव'—इसलिए जो केवल देवमूर्तिपूजा करते हैं, साधु-पूजा

नहीं करते, वे गोखर हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होगया कि-जो मूर्तिपूजा तथा साधु-सेवा दोनों करते हैं, वे गोखर नहीं।

सनातनधर्मी दोनों कार्य करते हैं, अतः उनपर दोष नहीं आता, पर वादी एक पक्षके हैं, सो वे गोखर हैं। तब वही हमारी ७म पुष्पमें कही हुई बात सिद्ध हो गई। 'उष्ट्रलगुड'-न्यायसे वादीके ही प्रमाणसे वादीका खण्डन होगया। वादीसे उद्‌धृत श्रीधरस्वामीकी टीकासे भी हमारी ही बात सिद्ध हो रही है। वहाँ भी चूर्णिकाकी भांति 'अतः' (इसलिए) कहा गया है-इससे यह वाक्य भी पूर्वप्रकरण-परामर्शक है, वह वही कि-यहाँ साधुजनोंकी पूजाका अर्थवाद है, मूर्तिपूजाका निषेध नहीं। श्रीधरस्वामी लिखते हैं-'अतः साधून् विहाय अन्यत्र आत्मादि-बुद्धौ आसज्जमानोऽतिमन्द इत्याह-'यस्यात्मबुद्धिः' इति। अर्थात् जो साधुओंको तो आत्मा नहीं समझते, दूसरे स्त्री आदि को आत्मा आदि समझते हैं, वे अतिमन्द हैं। यही आगे लिखा है—'अभिज्ञेषु तत्त्ववित्सु यस्य ता बुद्धयो न सन्ति, स एव अत्यविवेकी'।

'···जो शरीरमें आत्मबुद्धि करता है...और विद्वानोंमें आत्मबुद्धि-स्वकीयबुद्धि या तीर्थ-बुद्धि नहीं मानता, वह बैल और गधा है'। वादीसे उद्‌धृत इस श्रीधरी-टीकाके हिन्दी-अनुवादसे भी सिद्ध हुआ कि-जो भूमिके विकारोंमें भी पूज्य-बुद्धि मानता है, और विद्वानोंमें भी, वह गोखर नहीं है'। इसीका निष्कर्ष 'पुराणवर्म' (पृ. ३५३)में यह था—'जो

महात्माओंमें पूज्यबुद्धि नहीं रखता है, और शरीरादिमें आत्मादिबुद्धि रखता है...वह गोखर है। आस्तिक लोग भूमि-विकारका पूजन नहीं करते...किन्तु भौम-पदार्थोंमें व्यापक जो ईश्वर है, उसमें इज्यबुद्धि रख उसी व्यापकका पूजन करते हैं, ऐसे मनुष्य निन्दनीय नहीं हैं'...वादीने इसको छिपा दिया। इससे वे लोग गोखर होगये, जो दोनोंमें पूज्यबुद्धि नहीं करते। एकमें पूज्य-बुद्धिवालेको गोखर कहा है, दोनोंमें पूज्यबुद्धि रखनेवाले सनातनधर्मियोंपर यह दोष न आकर एकमें ही आस्था करनेवाले वादीपर गोखरत्व आगया है। उष्ट्रलगुड-न्यायसे उसीका दिया प्रमाण उसीका खण्डन करनेवाला बन गया।

श्रीमद्भागततसे मूर्तिखण्डन बताना वादीकी बड़ी समझ (?) है, जबकि मूर्तिपूजा उसमें ठसाठस भरी हुई है। इस प्रकार वादीने उक्त पद्यकी यथार्थ अर्थ बतानेवाली टीकाओंको उद्धृत करके स्वयं ही अपना गुह्योद्घाटन किया है। किसी कविने ठीक ही कहा है-'यत्नादपि कः पश्येत् शिखिनामाहारनिर्गमन-मार्गम्। यदि जलदध्वनिमुदिताः त एव मूढा न नृत्येयुः' (बड़ा प्रयत्न करके भी पंखोंसे छिपी हुई मोरोंकी गुदाको कौन देख सकता; यदि वे ही मूढ मोर बादलोंकी ध्वनिसे खुश हुए नाचने न शुरू हो जाते)।

इस प्रकार वादीसे उद्धृत अन्योंके अर्थमें भी यही बात है। सभीने हमसे सम्मत अर्थ ही किया है, और वादीसे किये

अर्थका पूरा खण्डन किया है। देखें वादी स्वोद्धृत टीकाएं 'जिसकी पार्थिवविकारोंमें देवबुद्धि रहती है, ज्ञानीजनोंमें नहीं रहती (श्रीदौलतराम वेदाचार्य) "ईश्वर देवताओंके दिव्यविग्रह छोड़कर केवल मृत्तिका, पाषाण आदिकी स्थूल मूर्तिमें ही पूजनीय बुद्धि है, साधुओंमें वह बुद्धि नहीं है' (श्रीरामस्वरूप शर्मा)। 'जिसकी केवल पार्थिव-प्रतिमाओंमें ही देवबुद्धि रहती है, जो ज्ञानी-महात्माओंमें कभी पूज्यबुद्धि नहीं रखता' यह वादीके परममान्य श्रीरामतेजजीकी टीका है। तब दोनोंमें पूज्यबुद्धि रखनेवाले गोखर न हुए। वादीसे दिये हुए इन्हीं अर्थोंसे वादीके किये 'जो मिट्टी आदिमें पूज्यबुद्धि है, और (कर्हिचित्) कभी जलोंमें जो तीर्थबुद्धि करता है, (अभिज्ञेषु जनेषु) विद्वान् पुरुषोंके मध्यमें वह गौवोंके मध्यमें गधा है' (शिवलिङ्गपूजा-पर्यालो.) इस अर्थका खण्डन होगया। 'कर्हिचित्'का सम्बन्ध केवल 'सलिलेषु'से लगाना, जिसका उससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं जुड़ता, उससे बलात् जोड़ना-यह इसमें पहला दोष है। 'सलिले न' को 'सलिलेषु' बना देना यह दुस्साहसवाला दूसरा दोष है। 'अभिज्ञेषु जनेषु'का 'गोखर'से सम्बन्ध जोड़ना यह तीसरा दोष है; क्योंकि-विद्वान्-पुरुषोंके साथ 'गोखर'का कुछ भी सम्बन्ध नहीं। यहां तो यह योजना है-'यः धी इज्यधीः, अभिज्ञेषु जनेषु कर्हिचिद् इज्यधीः न (जो पृथ्वी-विकारोंमें तो पूज्यबुद्धि करता है, परन्तु विद्वज्जनोंमें पूज्यबुद्धि नहीं करता); यः सलिले तीर्थबुद्धिः, अभिज्ञेषु जनेषु तीर्थबुद्धि

कर्हिचित् न (जो जलमें तो तीर्थबुद्धि रखता है, पर विद्वान्-जनोंमें तीर्थबुद्धि कभी नहीं करता; स गोखर एव (वह अज्ञानी है)।

आश्चर्य तो यह है कि-वादीसे उद्धृत टीकाओंमें उसका अर्थ खण्डित हो रहा है, फिर भी वह उन्हें प्रमाणित कर रहा है। श्रीमाध.जीने 'गोखर'का नीलगाय अर्थ केवल वादीके फँसानेकेलिए जालरूपमें विछाया था; यदि वे ऐसा न करते; तो वादी उक्तपद्यके यथार्थ अर्थ बतानेवाली टीकाओंको कभी न प्रमाणित करता। अब स्वयं ही वादी उक्त पद्यके यथार्थ अर्थोंको प्रमाणित करके उनके जालमें फंस गया; अब उससे नहीं निकल सकता। दूसरा श्रीमाध.जीका लक्ष्य था कि-इन वादियोंने अपने सम्प्रदायाचार्य बाप-बेटोंको मूर्तिपूजक होनेसे गधा तथा गधेका बच्चा बना दिया था; और उनके बाप-दादोंको भी, पर शास्त्रीजीने उन्हें प्रियसत्यतासे नीलगवय बना दिया; पर यदि वादी ऐसा नहीं चाहता; तो भले ही स्वामी और उनके पिताजीको वह गधा बनावे, उनका निषेध नहीं है; सनातनधर्मियोंपर दोष पूर्वोक्त-रीतिसे नहीं आता।

(७४) 'शंकराचार्यकी मधुरताका नमूना' पर हमने जो लिखा था, वादी उसपर भी चुप्पी लगा गया।

(ख) वादी-द्वारा सारस्वतोंके नियोगज लिखनेपर हमने इतना लिखा कि-वेचारे वादीकी लेखनी उसपर नहीं चल सकी। जब वह नियोग सिद्ध न कर सका; तब अनुपम-नियोग, विचित्र-

नियोग लिखने लगा। जबकि ऐसे नियोग कहीं लिखे भी नहीं हैं, स्वेच्छाचारी स्वा.द.जीने भी कहीं ऐसा नियोग लिखा ही नहीं; तब उसे 'नियोग' लिखना ही असिद्ध खपुष्प होगया। वादीका पक्ष सर्वथा उच्छिन्न होगया। वादी विधवाओंसे नियोग मानते हैं, यहां ऐसी बात नहीं थी। क्या दूसरेका तेज लेकर दूसरा व्यक्ति किसी स्त्रीको गर्भ कर सकता है, क्या यह सृष्टिक्रमानुकूल है; इत्यादि किसी बातका भी प्रत्युत्तर वादी न दे सका। जब वादीने पुराणसे बात बताई; तो पुराणकी व्यवस्था भी माने; उसमें अपनी मर्जी क्यों घुसेड़ता है? इसलिए कि उसके पास इन बातोंका कुछ भी प्रत्युत्तर है ही नहीं।

मनुस्मृतिका नियोग पूर्वपक्ष है, फिर उसीका 'नान्यस्मिन् विधवा नारी'से मनुस्मृतिने द्विजातियोंमें नियोग तथा विधवा-विवाह निषिद्ध कर दिया है-यह हम 'आलोक' (८) में लिख चुके हैं। यदि वादी उत्तरपक्षको नहीं मानता, तब वह स.प्र.में स्थित नियोगके पूर्वपक्षमें नियोगको 'व्यभिचारके समान, वेश्याके सदृश कर्म, पापकी बात' (पृ. ७०) मान ले। जिस नियोगको स्वा.द.जी आर्यसमाजमें न चला सके; अब वादी उसे अपने समाज वा कुटुम्बमें चालू करे। हमने वादीकी ही टोनसे 'आलोक' (७) (पृ. ६३०-३१)में 'अश्विना उभा' मन्त्रके स्वा.द. जीसे किये हुए अर्थसे सभी आर्यसमाजियोंको अश्वियोंके नियोग द्वारा उत्पन्न सिद्ध कर दिया था; वादीके मुंहपर उससे भी 'करारा तमाचा' लगा, चुप होगया।

(७५) वेदव्यासजीकी स्त्री वहां कौनसी थी, जिससे वादीने शुकका पैदा होना बताया; और फिर वहां नियोग कहां था कि-वहां दृष्टिसंयोग करना पड़ता, मैथुन नहीं। वहां तो अरणीमें शुककी उत्पत्ति बताई गई है, किसी स्त्रीके मैथुनसे नहीं; अतः वादीका पक्ष कट गया। (ख) हमारे ७म पुष्प (पृ. ६३४-३५) के परस्परविरोधके समाधान पर वादी बोल न सका। (ग) जो कि रामस्वरूपजीका 'सम्बभूव'का अर्थ वादीने 'भोग किया' लिखा है, इसपर भी समाधान हम 'आलोक' (८) (पृ. ४६७-६६)में कर चुके हैं; तव वेदव्यासका वादी अम्बिका-आदिमें 'प्राकृत मैथुन' सिद्ध न कर सका।

(७६) आगे हमने वेदमें इतिहासमें जो ऋषियोंकी नित्यता बताई थी, उसे वादीने मान लिया, क्योंकि उसपर कुछ लिखा नहीं-'परमतमप्रतिषिद्धमनुमतं भवति'। 'पुराणोंमें रूढि-शब्द हैं, और वेदमें यौगिक, यह वादीका कहना गलत है। चाहे लोक हो, वा वेद, उसमें चारों प्रकारके (रूढ, योगरूढ, यौगिक और यौगिकरूढ) शब्द हुआ करते हैं। पुराणोंमें मी यौगिक हो सकते हैं, और वेदमें भी रूढ, योगरूढ शब्द हो सकते हैं। इस विषयमें ८म पुष्पमें 'क्या वेदमें यौगिकता है' निबन्ध देखना चाहिये। स्वा.द.जी भी वेदमें 'योगरूढ' शब्द मानते हैं, तव केवल यौगिकताका वादीका लटका कट गया। पुराण वेदोंके ही भाष्य हैं, जब वेदमें स्वा.द. योगरूढि शब्द भी मानते हैं; तव वहां भी रूढिता होगई। वस्तुतः वेद तथा पुराणादि सर्वत्र रूढि,

यौगिक, योगरूढि आदि सभी शब्द आते हैं।

(ख) वादीके ब्रह्मदुहितृसमागम आदि पर हमने ७म पुष्पमें लिखा था; वादी उसपर कुछ भी न लिख सका; वह तथा अन्य विषय हम जिस पुष्पमें लिख चुके थे; उसकी पृष्ठसंख्या हमने ७म पुष्पमें लिख दी थी; वादी उनपर भी कुछ न लिख सका। इससे हमें उससे पूर्ण सहानुभूति है।

(ग) 'देहवान् प्रभवत्येष' इस वादीसे समर्पित पद्य पर जो हमने बताया था कि-तब तो स्वा.द. भी कुकर्मा सिद्ध होगये, फिर उनके दोष क्यों छिपाते हो; इसपर वादी चुप्पी लगा गया।

(७७) वादीने श्रीकृष्णपर जो रासमण्डल, परस्त्री-लीला, चीरहरण आदि दोष दिये हैं, उनका हमने 'आलोक' (६) में प्रत्युत्तर दे दिया है। श्रीमद्भागवतके वादीसे दिये सब पद्योंका भी हमने ७म पुष्प (पृ. ६३६-६४३)में आशय बता दिया है। चीरहरणलीला-आदिका भी हम छठे पुष्पमें आशय बता चुके हैं। सप्तममें भी लिख दिया था, वादी उसपर भी कुछ नहीं लिख सका; अतः उसका पक्ष पतित होगया। पुराणमें श्रीकृष्ण ईश्वरावतार बताये गये हैं। ईश्वर तो अब भी सब स्त्री-पुरुषोंको नग्न देख रहा है। उसके आगे हमारे कपड़े आदिका आवरण भी व्यर्थ ही है। वह स्त्री-पुरुषोंके अङ्गोंमें अब भी घुसा हुआ है। लौकिक-दृष्टिसे भी श्रीकृष्ण उस समय ६ वर्षके लगभग थे। लड़कियां भी वहां छः वर्षके लगभग की थीं। ऐसी लड़कियोंको

वादी भी प्रतिदिन नग्न देखा करता है; तब उस समय 'नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम्' इस वचनको वह याद क्यों नहीं करता ?

'अधः पश्यस्व मोपरि' मन्त्र भी व्यर्थ दिया गया है। मनु. १२।७ पद्य भी व्यर्थ दिया गया है, यहाँ कोई परदारोपगमन हुआ ही नहीं। यहां तो 'रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथाऽर्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः' (भाग. १०।३३।१७) बालककी अपने प्रतिबिम्बसे-क्रीडा बताई गई है। श्रीमद्भा.को 'निगमकल्पतरोर्गलितं फलं' (१।१।३) कहा जाता है, वह वेदविरुद्ध नहीं। वादियोंकी दृष्टि ही कुत्सित है।

(७८) राधा तो ब्रह्मवैवर्तमें श्रीकृष्णकी पत्नी बताई गई है। उसका विवाह ब्रह्माजीने कराया था। देखिये ब्रह्मवैवर्त 'पुनः प्रदक्षिणां राधां कारयित्वा हुताशनम्। तस्या [राधायाः] हस्तं च श्रीकृष्णं ग्राहयामास तं विधिः [ब्रह्मा]' (श्रीकृष्ण. १५।१२३) वेदोक्त-[सप्तपद्याः] सप्त मन्त्रांश्च पाठयामास माधवम्' (१२५, १२६-१३०, २।४६।४२) यहाँ पाणिग्रहण तथा सप्तपदी राधाके साथ कही गई है। तब यहाँ वादीका 'क्या राधा श्रीकृष्णकी धर्मपत्नी थी' यह प्रश्न स्वयं समाहित होगया। वस्तुतः यह प्रकृति-पुरुषका रमण था। इसपर आलोक (६) देखिये।

(ख) जो कि वादी कहता है कि-ब्रह्मवैवर्त प्रकृति. २।४६ के अनुसार रायाण कृष्णका मामा था, राधाका सम्बन्ध उसी रायाणसे किया गया, अतः राधा कृष्णकी मामी हुई। ब्रह्मवै. ४।१६ में राधाके साथ श्रीकृष्णका अनुचित सम्बन्ध बताया

गया है' यह बात वादीने ब्रह्मवैवर्तसे बताई है, इससे स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि-उसने ब्रह्मवैवर्त स्वयं सम्पूर्ण नहीं पढ़ा है। डा० श्रीरामके निबन्धोंको पढ़कर उसने ऐसा लिख दिया मालूम होता है। ब्रह्मवैवर्त बताता है कि-राधा भगवान्-कृष्णकी नित्य शक्ति थी। उस राधाकी छाया अन्य राधा थी, वही श्रीकृष्णके अंश रायाणकी स्त्री थी—'स्वयं देवी (राधा) हरे क्रोडे छाया रायाणकामिनी' (ब्रह्म. २।४८।५५) इस विषयमें स्पष्टता वादी आलोक (६) पृ. ६२४-६३१ में देखें। आप लोग ही श्रीकृष्णको कलङ्कित करते हैं; उनका स्तुतिकर्ता पुराण भला उन्हें कलङ्कित कैसे करे ?। हाँ, पुराणका पूर्वापर छिपाकर, असत्य और अशुद्ध लिखने वाले अपने निबन्धोंको यदि वादी अपने शब्दोंमें 'मिट्टीका तेल डालकर भस्म' कर दे; तो लोगोंको भ्रममें डालने-का पाप बच जावे; नहीं तो आप लोगोंको असत्यका फल परलोकमें मिलेगा ही-'मा ते मोघं ऋनृतवाङ् नृचक्षः' (अ. ४।१६।७) स्वा.द.जीने लिखा है—'ये चाऽनृतवादिनोऽनृतकारिणो ऽनृतमानिनश्च, ते मनुष्या असुरा एव' (ऋभाभू. शता. पृ. ६२०)।

(७९) अन्तमें फिर दयानन्दी-पथिक दयानन्दकी प्रशस्तिरूप मंगलसे अपनी पुस्तक समाप्त करता है। मुर्दा-दयानन्दका यश गाकर उनके नामकी पुस्तकोंकी प्रशंसा करके, दयानन्द नामसे विद्यालय वा मठोंको खोलकर, उत्सवमें ऋषिलङ्गर चलाकर स्वामीका मृतक-श्राद्ध वा मुर्देकी पूजा करते चलो। अच्छा है, इस ढंगसे न सही; तो इस ढंगसे सही। है यह मृतक-श्राद्ध

तथा मूर्तिपूजा ही। इस प्रकार स.ध. के सिद्धान्त वाचा न सही, तो कर्मणा पूरे करते चलो। हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं। इससे आप लोगोंकी दुकानदारी भी चलती रहेगी।

यहाँ हमें स्वा.द.जीके साथ 'मुर्दा' शब्द स्वामीजीकी टोनसे लिखना पड़ा है। स्वा.द.जीने स्वामिनारायणमतखण्डन (शता. पृ. ८३५) में लिखा है—'जिसका जन्म-मरण हुआ, ऐसे राधापति कृष्णनामक मुर्दाकी पूजा करनी और उसका ऊँची आवाज़से कीर्तन करना—यह मिथ्या उपदेश है'।

'यह ऊपरसे जान पड़ता है कि—सहजानन्द कुत्तेकी तरह भौंका है' यह स्वामीजीकी शिष्टता है, उन्हींका अनुकरण कर दयानन्दी-पथिकने भी 'भंगी ब्राह्मण, धूर्ततासे काम ले, ऊट-पटांग आरोप, आप जैसे—लालबुझक्कड़, छिछोरपन, प्रलाप-मात्र, कुतर्काचार्य' आदि मधुर शब्दोंका प्रयोग किया है। हमने यह शब्द पथिकको 'त्वदीयं वस्तु हे प्राज्ञ! तुभ्यमेव समर्पये' वापिसमात्र कर दिये हैं।

मृतक स्वा.द.जीको वादी ऋषि, आचार्य आदि मानते हैं; इसपर वे 'शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारण'में स्वामीजीके ही शब्द सुनें—'तस्य सहजानन्दस्य [यहाँपर 'दयानन्दस्य' भी हो सकता है] आचार्यत्वमेव असङ्गतम्! कुतः? मृतस्य अध्यापनसामर्थ्या-भावात्' (शतासं. पृ. ८१५)

(८०) हम भी पथिककी पुस्तक समाप्त होनेसे अपना वक्तव्य समाप्त करते हैं। वादीने एक पत्र (परोपकारी नवं. ६३)

में श्रीमद्भागवतकी अशुद्धियाँ बताई हैं; हम भी उसके पथका अवलम्बन करके स्वामीकी कुछ अशुद्धियां बताते हैं। आशा है—वादी भविष्यमें ऐसी दुर्नीति छोड़ देगा। यह याद रखना चाहिये कि—स्वामीजी केवल अष्टाध्यायी-महाभाष्यको ही प्रामाणिक-व्याकरण मानते थे। अन्य व्याकरणोंको वे सम्मानित दृष्टिसे नहीं देखते थे। श्रीमद्भागवतादि-पुराणोंमें जो अशुद्ध प्रयोग वादी बताता है, उसमें उसे याद रखना चाहिये कि—वे पाणिनिसे पूर्व अन्य व्याकरणोंका आश्रय लिये हुए थे; अतः उन्हें पाणिनीय—व्याकरणकी कसौटीसे नहीं कसा जा सकता। इसलिए नमिसाधुने काव्यालङ्कार (रुद्रट) की टीकामें लिखा है—'यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्। तानि किं शब्दरत्नानि सन्ति पाणिनि-गोष्पदे?' इससे व्यासजी-का पुराणोंमें माहेन्द्र-व्याकरणके अनुसार चलनेसे उन पाणिनिविरुद्ध पौराणिक-प्रयोगोंको अपाणिनीय तो कहा जा सकता है, पर अशुद्ध नहीं। यद्यपि समाधान तो हम उनका भी कर सकते हैं; पर हमें उसमें परिश्रमकी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती; पर स्वामी तो पाणिनिको ही परमप्रमाण मानते थे; सो पाणिनिविरुद्ध स्वा.द.के प्रयोगोंको अशुद्ध ही माना जावेगा; हम उन्हें 'लोकालोक'के शङ्कासमाधानाङ्कमें दे चुके हैं; यहाँ हम स्वा.द.जीके 'सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु' इस मन्त्रांशके अर्थपर कुछ विचार करते हैं, जिसपर आज तक किसी भी पक्षी वा प्रतिपक्षीने विचार नहीं किया; जिससे पाठकोंको

अन्य भी कई बातोंका ज्ञान प्राप्त होगा।

(१) ऋभाभू.में स्वामीने 'सह नाववतु सह नौ भुनक्तु'का अर्थ लिखा है—(सह नाव.) हे सर्वशक्तिमन् ईश्वर! आपकी कृपा, रक्षा और सहायसे हम लोग परस्पर एक-दूसरेकी रक्षा करें। (सह नौ भु.) और हम सब लोग परम प्रीतिसे मिलके सबसे उत्तम ऐश्वर्य...आनन्दको भोगें'। यह अर्थ स्वा.द.जीने तै.आ. (६प्र. १ अनु.)के वाक्यका दिया है। यहां ६म प्रपा. लिखा है, पर सं.वि.में अष्टम प्रपा. लिखा है। यह पहली भूल है।

(२) इसमें 'नौ' यह द्विवचनान्त है। यह गुरु-शिष्यकेलिए. अथवा यजमान-पुरोहितादिकेलिए है, पर स्वामीजीने द्विवचनका अर्थ नहीं किया। यदि आरण्यकको बहुवचन इष्ट होता; तो 'सह नोऽवतु, सह नो भुनक्तु, सह वीर्यं करवामहै, तेजस्वि नोऽधीतमस्तु, मा विद्विषामहै' होता; पर आरण्यकने ऐसा नहीं लिखा, उसने ५ बार भी न थककर द्विवचन ही दिया है; पर स्वामीने बहुवचनका अर्थ किया है। इससे यह भी सिद्ध होगया कि-स्वामी प्राचीन-साहित्यके वचनोंके अर्थ उनके शब्दोंकी अनुकूलतासे न करके अपनी इच्छासे किया करते थे।

(३) 'सह नौ अवतु, सह नौ भुनक्तु' इन दोनों वाक्योंमें 'नौ' यह कर्म है, द्वितीयाका द्विवचन है, 'युष्मदस्मदोः षष्ठी-चतुर्थी-द्वितीयास्थयोर्वा-नावौ' (पा. ८।१।२०)से द्वितीयामें निष्पन्न है, पर स्वामीने 'हम लोग' अर्थ करके उसे प्रथमान्त-कर्ता बना दिया है। यदि 'नौ' यह कर्ता होता; तो क्रिया भी तदनुसार

द्विवचनान्त होती, क्योंकि-यह कर्तृवाच्य है, कर्ताके अनुसार ही क्रियामें वचन होता है। पर यह एकवचनान्त है।

(४) स्वामीजीने 'नौ'का 'हम लोग' अर्थ करके उस द्वितीयान्तको प्रथमान्त बना दिया, पर प्रथमा, तृतीया, पञ्चमी, सप्तमीमें वां-नौ आदेश नहीं होते; द्वितीया, चतुर्थी, और षष्ठीमें होते हैं। स्वामीने प्रथमाविभक्तिका अर्थ किया है, तब उसमें 'नौ' नहीं हो सकता। फिर प्रथमाद्विवचनान्त कर्ता होनेपर क्रिया भी द्विवचनकी होनी चाहिये थी; पर नहीं है, वह एक-वचनान्त है. 'अवतु, भुनक्तु'। यह स्वामीजीकी अन्य भूल हुई।

(५) फिर 'नौ'को कर्ता तथा प्रथमान्त मानकर 'हम लोग' अर्थ करनेपर क्रियामें भी उत्तम-पुरुषका द्विवचन होना चाहिये था, पर वहां प्रथमपुरुषके एकवचनकी क्रिया है; अतः यह सम्बन्ध भी नहीं जुड़ सकता।

(६) 'सह नौ भुनक्तु'का अर्थ स्वामीने किया है-'हम सब लोग आनन्दको भोगें'। यहां भी स्वामीजीकी भूल है। भुज्-धातुके तीन अर्थ होते हैं, १ खाना, २ भोगना, ३ रक्षा करना। इनमें 'भुजोऽनवने' (पा. १।३।६६) से खाने और भोगने अर्थमें भुज्-धातुको आत्मनेपद होता है, और रक्षा-अर्थमें परस्मैपद। जैसे—'वृद्धो जनो दुःखशतानि भुङ्क्ते'में 'भोगना' अर्थ होनेसे आत्मनेपद है। 'ओदनं भुङ्क्ते'में खाना अर्थ होनेसे आत्मनेपद है। 'महीं भुनक्ति'में रक्षा अर्थ होनेसे परस्मैपद है। उक्त-कण्डिकामें 'भुनक्तु' यह परस्मैपद है, सो इसका अर्थ 'रक्षा'

करना चाहिये था; परन्तु स्वामीने यहां 'भोगना' अर्थ किया है-यह उनकी अन्य भूल है। भोगना अर्थ होनेपर आत्मनेपद होता।

(७) केवल यहीं स्वामीने यह अशुद्ध अर्थ नहीं दिया, बल्कि-अपनी संस्कारविधिमें भी ऐसा ही अर्थ दिया है। देखिये-

'हम स्त्री-पुरुष, सेवक-स्वामी, मित्र-मित्र, पिता-पुत्रादि (सह) मिलके (नौ) हम दोनों प्रीतिसे (अवतु) एक-दूसरेकी रक्षा किया करें' (गृहाश्रम. पृ. २४५)। यहां भी 'नौ'का अर्थ स्वामीने प्रथमाका किया, 'अवतु'का अर्थ उत्तम पुरुषका किया। यहां स्वामीने बहुवचनका अर्थ न करके द्विवचनका अर्थ किया-यह तो ठीक है, पर शेष भूल है। यहाँपर स्वामीने 'सह नौ भुनक्तु'का अर्थ-मालूम नहीं-क्यों छोड़ दिया? कदाचित् इसलिए कि-यहाँ उनको 'भुज्' धातुका परस्मैपद देखकर 'रक्षा' अर्थका विचार आ गया हो; फिर दोबारा रक्षा अर्थ करनेमें उन्हें पुनरुक्ति प्रतीत हुई हो, इसलिए कदाचित् छोड़ दिया हो।

(८) यदि कहा जावे कि-यहां स्वामीने व्यत्ययसे 'नौ'को प्रथमान्त बनाया हो; यह भी ठीक नहीं; तब प्रथमामें 'नौ' न लिखा जाता; 'आवां' लिखा जाता; क्योंकि-'प्रथमा'में 'नौ' नहीं होता। आरण्यकको यदि यह इष्ट होता; तो वह क्रियामें भी उत्तम-पुरुष और द्विवचन देती। यदि यह कहा जावे कि-स्वामीने इसमें क्रियाके वचनमें भी व्यत्ययवश द्विवचन माना

हो, यह भी ठीक नहीं; क्योंकि-तब फिर क्रियामें प्रथम पुरुष न होकर उत्तम पुरुष होना चाहिये था, 'आवाम्-अवाव, आवां भुनजाव अथवा भुनजावहै' होता।

यदि कहो कि-पुरुषका भी व्यत्यय हो जावेगा; तब तो यह अव्यवस्था लाना हुआ। इसमें पहले व्यत्ययसे 'नौ' द्विवचनमें बहुवचन माना गया, फिर व्यत्ययसे 'नौ'में प्रथमा मानी गई, फिर एकवचनान्त क्रियामें व्यत्ययसे द्विवचन माना गया, फिर प्रथमपुरुषकी क्रियामें व्यत्ययसे उत्तम पुरुष माना गया; इस प्रकार स्वेच्छानुसार अर्थ करनेपर वेदमें बड़ी अव्यवस्था आ पड़ेगी, और वेद भी मर्यादाहीन हो जायगा। भाषा फिर व्यर्थ हो जावेगी। फिर तो कोई भी अपना मनमाना जैसा चाहेगा, अपनी इच्छानुसार व्यत्यय करके विभक्ति आदिका अर्थ बदलकर किसी भी अर्थको निकाल दिया करेगा।

(८१) और फिर व्यत्यय वेदमें हुआ करता है, परन्तु आर्य-समाजानुसार यह वेदका मन्त्र नहीं, यह कृष्णयजुर्वेदका है। कृष्णयजुर्वेदको आर्यसमाज वेद नहीं मानती। तब व्यत्यय करनेवालेको कृष्णयजुर्वेदको भी वेद मानना पड़ेगा। और फिर-यह कथित कृष्णयजुर्वेदकी किसी संहिताकी भी नहीं है, किन्तु आरण्यककी है। आरण्यक और उपनिषद् ब्राह्मणभाग माना जाता है; तब आर्यसमाजको ब्राह्मणभागको भी वेद मानना पड़ेगा। इससे आर्य-समाजके सिद्धान्तका भङ्ग होकर उसका वैदिक-धर्म लुप्त हो जावेगा; वह सनातनधर्म बन जावेगा; 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनाम

धेयम्' यह सिद्धान्त उसको अपनाना पड़ेगा।

(ख) अब हमपर भी प्रश्न होगा कि-आरण्यकके इन दो वाक्योंका सत्यार्थ क्या है ? तो सुनिये-हम बतलाते हैं।—'सह नौ अवतु' यहाँ क्रियामें प्रथमपुरुष और एकवचन है; तब यहाँ 'परमात्मा' इस पदका अध्याहार करना पड़ेगा। 'परमात्मा' कर्ता होगा, 'नौ' द्वितीयान्त कर्म है, 'अवतु' यह कर्ता परमात्मा-की प्रथमपुरुषकी एकवचनान्त क्रिया है। अर्थ होगा-'परमात्मा हम दोनोंका इकट्ठा अवन करे'।

(ग) आगे है-'सह नौ भुनक्तु' यहाँ भी वही बात है। यहां 'भुज्' धातुको परस्मैपद होनेसे उसका 'रक्षण' अर्थ है-यह पहले बतलाया जा चुका है। अब अर्थ हुआ कि-वह परमात्मा हम दोनोंको इकट्ठा पाले। अब हम पर भी प्रश्न होगा कि-'अव्' धातुका भी अर्थ 'रक्षण' और भुज्-धातुका भी अर्थ 'रक्षण'; यह तो पुनरुक्ति हो जावेगी। पर हम कहते हैं कि-नहीं। अव् धातुके १६ अर्थ होते हैं, उसमें एक तृप्ति अर्थ भी है, जिसका तात्पर्य प्रसन्न रखना है। अब अर्थ होगा कि-वह परमात्मा हम दोनोंको (सह अवतु) इकट्ठा प्रसन्न रखे, वह परमात्मा हम दोनोंको (सह भुनक्तु) इकट्ठा पाले।

(घ) वादी हमसे इसपर प्रमाण पूछ सकता है, पर वह याद रखे कि-धातुपाठमें 'अव्' धातुके १६ अर्थ प्रत्यक्ष हैं; तब इनमें कोई अनुकूल अर्थ कर दीजिये। हमने 'तृप्ति' अर्थ लेकर 'तृप् प्रीणने' वा प्रीति अर्थ करके उक्त अर्थ किया है, फिर भी

हम प्रमाण देते हैं। रघुवंशमें लिखा है—

'किन्तु वध्वां तवैतस्याम् अदृष्टसदृशप्रजम्। न माम् अवति सद्वीपा रत्नसूरपि मेदिनी' (१।६५) राजा दिलीप पुरोहित वसिष्ठ-जीसे कहता है कि-आपकी इस बहूमें मैंने सन्तान नहीं देखी है; तब मुझे यह सारी रत्नोत्पादक भी पृथिवी (न अवति) इसका यह अर्थ नहीं है कि-यह पृथिवी मेरी रक्षा नहीं करती, क्योंकि-पृथिवीकी रक्षा तो वही करता था, पृथिवी उसकी थोड़े रक्षा करती थी। इसका वास्तविक अर्थ यह है-'पुत्र न होनेपर रत्नप्रसविनी भी पृथिवी मुझे तृप्त नहीं करती, प्रसन्न नहीं करती। इसपर प्रसिद्ध टीकाकार श्रीमल्लिनाथकी साक्षी भी देख लीजिये—'अव धातू रक्षणमतिप्रीत्याद्यर्थेषु उपदेशाद् अत्र प्रीणने'।

(ङ) हमारा पक्ष सिद्ध होगया। श्रीसायणाचार्यने भी सम्भवतः आरण्यकमें ऐसा ही अर्थ किया है। यदि वादी इसमें लौकिक प्रमाण न मानकर वैदिक प्रमाण चाहे; तो उसे भी सुने-शतपथब्रा.में लिखा है—'एष ह वा अनद्धापुरुषो यो न देवान् अवति, न पितॄन्' (६।३।१।२४) यहां भी 'जो देवताओंकी (न अवति) रक्षा नहीं करता, वह अनद्धापुरुष है' यह अर्थ नहीं है; क्योंकि-देवता ही मनुष्यकी रक्षा करते हैं। सो यहां भी पूर्ववत् अर्थ है-'यो न देवान् (अवति) प्रीणयति, अर्चयति वा'। इसलिए ऐतरेयब्रा.में इस प्रकारके वाक्यमें 'यो न देवान् अर्चति, न पितन्' (८।२।८) यह पाठ आया है। हमारा पक्ष

सिद्ध हो गया।

इससे क्या माना जावे कि—स्वामी व्याकरणका इतना साधारण ज्ञान भी नहीं रखते थे, अथवा स्वेच्छानुसार तोड़-ताड़ करके अर्थ बदल देते थे; यह वादी स्वयं बता सकता है।

(८२) अथवा यहां एक अन्य बात भी कही जा सकती है कि–स्वा.द.जीने इस मन्त्रमें सचमुच व्यत्यय ही माना हो। व्यत्यय होता है वेदमें; और स्वामी पहले ब्राह्मणभाग-आरण्यक, उपनिषत् तथा सभी शाखाओंको वेद मानते थे, पीछे बदल गये। इसमें वैसे तो उनके बहुत प्रमाण मिल सकते हैं, पर यहां कुछ दिये जाते हैं।

(क) यदि स्वामी केवल ऋसं. आदि चार पोथियोंको ही वेद मानते; तो वेदके प्रेमी वे अपनी पुस्तकोंके आरम्भमें उन्हींके मङ्गलाचरण करते, पर स्वामीने ऐसा नहीं किया। ऋभाभू.के आरम्भमें स्वामीने 'ओं सह नाववतु' इस तैत्तिरीय आरण्यक–जो कृष्णयजुर्वेद है–का मङ्गल दिया है। (ख) अपनी संस्का.वि.के आरम्भमें भी यही 'ओं सह नानवतु' तैत्तिरीयार.का मन्त्र दिया है। (ग) अपने स.प्र.की आदिमें भी 'ओं शन्नो मित्रः.. नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो!... अवतु वक्तारम्' यह आरण्यक वा उपनिषद्का ही मङ्गल दिया है। इससे स्पष्ट है कि–स्वा.द. ब्राह्मणभाग तथा तदन्तर्गत आरण्यक-उपनिषदादिको भी वेद माना करते थे।

काशी-शास्त्रार्थ समीक्षा।

(८३) अब काशी-शास्त्रार्थको लीजिये।–'एको दिगम्बरः... दयानन्द-सरस्वती ऋग्वेदादिसत्यशास्त्रेभ्यो निश्चयं कृत्वा एवं वदति—'वेदेषु पाषाणादिपूजनविधानं रुद्राक्षत्रिपुण्ड्रादिधारणं च नास्त्येव'। यह ध्यान रखना चाहिये कि–पहले स्वा.द. मूर्तिपूजा भी करते थे, रुद्राक्षकी माला भी धारण करते थे। वैष्णवोंसे उनने शास्त्रार्थ भी किया था, जयपुरके राजाको शैव भी बनाया था। रुद्राक्षमालाएँ भी स्वामीने वितरण की थीं; यह उनके जीवन-चरित्रमें स्पष्ट है, पर अब यहां बदल गये, यह उनका समय-समयपर बदलनेका आदिम प्रमाण है। यहां उन्होंने वेदोंमें पाषाणादिकी पूजा नहीं मानी। ला. लाजपतरायजीने अपने बनाये स्वा.द.जीके जीवन-चरित्रमें बताया है कि–स्वामीजी अपना मत अन्त तक बदलते रहे। फिर आगे लिखा है—'एतत् वेदविरुद्धाऽप्रसिद्धाचरणे महताऽनर्थो भवति-इतीयं वेदादिषु मर्यादा लिखितास्ति'।

यह शास्त्रार्थ सं. १९२६ में हुआ था। स्वामीने काशीराजसे पूछा कि–'वेदानां पुस्तकानि आनीतानि न वा ? उन्होंने कहा-'वेदाः पण्डितानां कण्ठस्थाः सन्ति, किं प्रयोजनं वेदानाम्'।

पृ. ८०२ स्वामीने पण्डितोंसे पूछा–'युष्माकं वेदानां प्रामाण्यं स्वीकृतमस्ति न वा ?'। ताराचरणः–सर्वेषां वर्णाश्रमस्थानां वेदेषु प्रामाण्यस्वीकारोस्ति। दया०–वेदे पाषाणादिमूर्तिपूजनस्य यत्र प्रमाणं भवेत्; तद् दर्शनीयम्' (यहां स्वामीने शुद्ध-शुद्ध

वेदकी ही चर्चा की है। वेदमें मूर्तिपूजन दरशानेका प्रमाण पण्डितोंसे मांगा)। तारा०—वेदेषु प्रामाण्यमस्ति वा नास्ति, परन्तु वेदानामेव प्रामाण्यं नान्येषामिति यो ब्रूयात्, तं प्रति किं वदेत्?। स्वामी—वेदविचार एव मुख्योऽस्ति, तस्मात् स एवादौ कर्तव्यः। कुतः? वेदोक्तकर्मैव मुख्यमस्त्यतः। (यहां स्वामीने वेदको ही मुख्य मानकर वेदका ही प्रमाण मांगा। फिर स्वामीने मनुस्मृति आदिको भी स्वयं ही वेदमूलक माना—) मनुस्मृत्यादीन्यपि वेदमूलानि सन्ति, तस्मात् तेषामपि प्रामाण्यमस्ति, न तु वेदविरुद्धानां वेदाऽप्रसिद्धानां चेति'।

(ख) फिर पं० ताराचरणने पूछा कि—मनुस्मृतेः कास्ति वेदे मूलमिति?। (मनुस्मृतिका वेदमें मूल कहांपर है?) इसपर स्वामीने कहा कि—'यद्वै किञ्चन मनुरवदत्, तद् भेषजं भेषजतायाः' इति सामवेदे (सामवेदमें 'यद्वै किञ्चन मनुरवदत्' यह मनुस्मृतिका मूल है)।

पाठकोंको यह याद रख लेना चाहिये कि—स्वामीने यहां सामवेदके ब्राह्मणके प्रमाणको सामवेद कहा है। इससे अत्यन्त ही स्पष्ट है कि—स्वामी पहले ब्राह्मणभागको भी वेद मानते थे, पीछे बदल गये। जबकि स्वा.द.ने इस शास्त्रार्थके शुरूमें वेदवेदकी स्वयं चर्चा चलाई; और मनुस्मृतिको स्वयं ही वेदमूलक कहा, तब पण्डितोंने पूछना ही था कि—मनुस्मृतिका वेदोंमें कहां मूल है?। स्वामीने ऊपरका उत्तर दिया, उसमें सामवेदका प्रमाण दिया, पर वह प्रमाण सामवेदके ब्राह्मणका था। उसे सामवेद

बताना स्पष्ट सिद्ध कर रहा है कि स्वामी उस समय ब्राह्मणको वेद मानते थे—'इति सामवेदे' यह स्वामीके स्पष्ट शब्द हैं; जो अब तक भी मुद्रित हैं। इसकी भाषा करनेवालेने चालाकी की है। उसने 'सामवेद'का अर्थ 'सामवेदके ब्राह्मणमें' यह कैसे कर दिया? जबकि पं० तारा.के कथनकी भाषा यह की गई है—'मनुस्मृतिका वेदोंमें कहां मूल है? तब उसका उत्तर भी यही उचित था कि—'जो-जो मनुजीने कहा है'.. ऐसा सामवेदमें कहा है। संस्कृतमें ठीक लिखे होनेपर भी उसके हिन्दी-अनुवादमें हेर-फेर करना—यह किसी पीछेके चेलेका काम है, ऐसा करनेपर तो 'आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे' न्यायकी चरितार्थता हो जाती है। पूछा गया है कि—वेदमें मूल बताओ, और हिन्दी-अनुवादमें बताया जाता है कि—वेदके ब्राह्मणमें देखो।

इससे दो बातें सिद्ध होती हैं। एक तो 'सामवेद'का हिन्दीमें 'सामवेदब्राह्मण' अर्थ करना सिद्ध करता है कि—वेदसे वेदका ब्राह्मणभाग भी गृहीत हो जाता है। दूसरी बात चालाकीकी है कि—प्रायः हिन्दी-पढ़े लोगोंपर इसका बुरा प्रभाव न पड़े कि—स्वामी ब्राह्मणभागको पहलेसे ही वेद मानते थे। इसलिए वहां पीछे 'ब्राह्मण' अर्थ बढ़ा दिया गया। पर इससे यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि—स्वामी पहले ब्राह्मणभागको वेद मानते थे। पर इस बातको छिपानेकेलिए चेलेजी इसपर टिप्पणी करते हैं—'इदं पण्डितानामेव मतमङ्गीकृत्य उक्तम्, नेदं स्वामिनो मतमिति बेद्यम्' (यह कहना उक्त पण्डितोंके मतके अनुसार ठीक है,

परन्तु स्वामीजी तो ब्राह्मणपुस्तकोंको वेद नहीं मानते, किन्तु मन्त्रभागको वेद मानते हैं' पृ. ८०६)

यह टिप्पणी कितनी झूठी है। पण्डितोंने कोई ऐसी बात नहीं कही कि-हमें मनुस्मृतिका मूल ब्राह्मणभागसे दिखलाओ। पण्डितोंने तो मनुस्मृतिकी बात ही नहीं चलाई थी। स्वयं ही स्वामीने मनुस्मृतिको वेदमूलक बताया, फिर पण्डितोंने पूछना ही था कि-मनुस्मृतिका मूल किस वेदमें है?' तो स्वामीजीने 'यद्वै किञ्चन' इस सामवेदके वचनमें मनुस्मृतिका मूल बताया। यहाँ पण्डितोंका मत कहाँ है, यह तो स्वा.द.जीका ही मत है, चेलेजी असत्य बोल रहे हैं। पण्डितोंने निर्बन्ध नहीं किया था कि-मनुस्मृतिका मूल ब्राह्मणभागसे बताओ। सो यह स्पष्ट है कि-ब्राह्मणभागको वेद कहना स्वामीजीका ही मत है। तभी तो वे ब्राह्मणभागका वचन वेदके नामसे देते थे। देखिये—

प्रथम स.प्र. (१४६-१४७ पृष्ठों) में भी स्वामीने यही लिखा कि-'और वेदमें प्रमाण भी किसीका नहीं है ऋषि-मुनियोंकी किई भी कोई स्मृति नहीं, सिवाय मनुस्मृतिके-'यद्वै किञ्चन मनुरवदत् तद् भेषजं' यह छान्दोग्य-उपनिषद्की श्रुति है। यहां भी स्वामीने उपनिषद् अथवा ताण्ड्य-ब्राह्मणको वेद माना। श्रुति भी वे वेदको मानते थे। देखो (ऋ.भा.भू.)।

(ग) इनसे यह भी सिद्ध हुआ कि-सं० १९२६ में भी उनका यही मत था, और सं. १९३२ में प्रथम स.प्र. बनानेके समय तक भी उनका यही मत था। केवल यहीं नहीं, स्वामीजीके

अन्य प्रमाण भी देखें। (घ) द्वितीय स.प्र.में भी स्वामीने लिखा है-'ततो मनुष्या अजायन्त' यह यजुर्वेदमें लिखा है, पर यह यजुर्वेदके शतपथब्राह्मणकी श्रुति है। इसे भी उन्होंने वेद माना। परन्तु पीछे चेलोंने पाठ बदल दिया; लिखा कि-'यजुर्वेद और उसके ब्राह्मणमें'। फिर भी 'यजुर्वेद' शब्द बना ही रहा। यह यजुर्वेदके ब्राह्मणमें है।

(ङ) अन्य भी स्वामीका प्रमाण देखिये—'अङ्गादङ्गात् सम्भवसि' को स्वामीने सामवेदका वचन स.प्र. (तृतीय संस्करण तक) नियोग-प्रकरणमें माना है, पर यह भी वचन सामवेदके ताण्ड्यब्राह्मणका है-उसे स्वामीने सामवेदका मानकर ब्राह्मण-भागको वेद मान लिया। पीछे चेलोंने वहाँ भी पाठ बदल दिया। अब किसकी शक्ति है कि-यह कह सके कि-पहले स्वा.द. ब्राह्मणभाग एवं उपनिषदादिको वेद नहीं मानते थे?।

(८४) अब काशी-शास्त्रार्थमें पुनः इसकी पुष्टि देखें-'तदा बहुभिर्युगपत् पृष्टम्-प्रतिमाशब्दो वेदे नास्ति किम्? (फिर बहुतसे पण्डितोंने इकट्ठे हल्ला करके पूछा कि-वेदमें 'प्रतिमा' शब्द है वा नहीं? पृ. ८१०)। तदा स्वामिना उक्तम्-सामवेदस्य ब्राह्मणे चेति'। इस पाठमें स्पष्टतया चेलोंकी मिलावट है। यहां 'च' व्यर्थ है, जबकि-सामवेदका ब्राह्मण ही कहा है, तब 'च' शब्द क्यों कहा गया? यहां स्वामीने यह कहा होगा कि-'सामवेदे' इति'। यह हमारा अनुमान ही नहीं है, बल्कि ठीक भी है। क्योंकि-जब पण्डितोंने 'प्रतिमा' शब्द वेदमें पूछा है; तब स्वामीने

भी 'सामवेद' कहा होगा, नहीं तो—पण्डित तो कहें कि वेदमें दिखलाओ, और स्वामीजी उन्हें उस वेदके ब्राह्मणमें दिखलाएँ। यह तो 'आम्रान् पृष्टः कोविदारान् आचष्टे' न्यायकी चरितार्थता होगी। सो इस पाठमें भी दो बातें सिद्ध होती हैं। एक यह है कि-वे सामवेदके ब्राह्मणको भी सामवेद कहते थे। दूसरी चालाकी यह है कि-सीधा 'सामवेदे' लिख देनेसे बुरा प्रभाव पड़ेगा। इसलिए पीछे वहां चेलोंने 'सामवेदस्य ब्राह्मणे' यह पाठ 'सामवेदे'के स्थान बदल दिया। नहीं तो जब प्रकरण वेदकी अनुकूलताका चला हुआ था; और स्वामीने स्वयं ही वेद-वेदकी अनुकूलताकी चर्चा शुरू की थी; तब उसमें स्वयं ही ब्राह्मणभागका प्रमाण क्यों दिया? इससे स्पष्ट है कि-वे उस समय ब्राह्मणभागको वेद मानते थे, और उन्हें ब्राह्मणोंके वचन याद भी थे। इस चर्चासे एक चतुर-जज या चतुर-वकील स्वामीजीको निगृहीत कर सकता है।

(ख) अब आगेके लेखसे फिर भी स्वामीका अभिप्राय ज्ञात हो जावेगा। 'तदा तैरुक्तम्-किं च तद्-(वेद-) वचनमिति? [पण्डितोंने वह वेदवचन पूछा था, इसलिए उन्होंने कहा कि-वह वेदवचन कौनसा है? तब स्वामीने कहा—] 'तदा स्वामिना उक्तम्-'देवतायतनानि कम्पन्ते, दैवत-प्रतिमा हसन्ति' इत्यादीनि' तदा तैरुक्तम्-'प्रतिमा' शब्दस्तु वेदे वर्तते, भवान् कथं खण्डनं करोति? [तब पण्डितोंने कहा कि-इस प्रकार जब तुम्हारे अनुसार ही 'प्रतिमा' शब्द वेदमें है; तब वेदप्रमाण चाहनेवाले

तुम प्रतिमोपासनाका खण्डन कैसे करते हो? इससे भी स्पष्ट हो रहा है कि-स्वामीने इस वचनको वेदका वचन कहकर बोला था। नहीं तो स्वा.द.जी यहां उट्टङ्कना कर सकते थे कि-यह वेद-वचन नहीं है, किन्तु ब्राह्मणका वचन है, पर यह उट्टङ्कना न करनेसे स्पष्ट है कि-उनके मतसे यह ब्राह्मणका वचन स्पष्ट वेद-वचन है, और हो भी क्यों नहीं, जबकि उन्होंने शुरू-शुरूमें 'वेदसे दिखलाओ' की चर्चा भी स्वयं शुरू की; और स्वयं ही वेदका वह वचन दिया भी; तब स्वयं ही स्वामीसे कहा हुआ वह वचन वेदभिन्नवचन कैसे हो सकता है?

(ग) इसमें चेलोंने फिर झूठी टिप्पणी की है-['अत्रापि तेषाम् अवेदे ब्राह्मणग्रन्थे वेदबुद्धित्वाद् भ्रान्तिरेवास्ति-इति वेद्यम्] (अर्थात् उन पण्डितोंकी अवेद-ब्राह्मणग्रन्थोंमें वेदबुद्धि होनी उनकी भ्रान्ति बतलाता है) विद्वान् पाठकोंने जान लिया होगा कि-यहां 'उल्टा चोर कोतवालको डांटे' यह उक्ति चरितार्थ हो रही है। यहां चोरकी चोरी पकड़ी गई है। स्वयं ही स्वामीने वेद-वेदकी चर्चा की; तब पण्डितोंने पूछा कि-क्या वेदमें प्रतिमा शब्द नहीं है? तब स्वामीने कहा कि-वेदमें 'प्रतिमा' शब्द तो है? तब उन्होंने कहा कि-वेदमें कहां है? तब स्वामीने बताया होगा कि-सामवेदमें है, पर अब चेलोंने पाठ बदल दिया। जब पूछताछ वेदकेलिए चली हुई थी, तो स्वयं ही स्वामीने षड्विंश-ब्रा. का प्रमाण क्यों दिया? पण्डितोंने वेदके नामसे ब्राह्मणका प्रमाण दिया होता; और स्वामीजीने भी उन्हींके अनुसार उन्हें

वेदवचन कहा होता, तब तो टिप्पणीकारकी यह टिप्पणियां ठीक होतीं; पर पण्डितोंने न तो वेद-प्रमाण पूछनेकी चर्चा चलाई; न ही उन्होंने एक भी वचन वेदका स्वयं दिया; स्वामीने ही स्वयं वेदके प्रमाणोंकी मांग की, और पण्डितोंके वेदवचन मांगने पर स्वयं ही वेदवचन देते रहे, और वेदवचनों पर दिये ब्राह्मणग्रन्थोंके वचन, तो स्पष्ट है कि–यह वेदके वचन पण्डितोंके मतसे नहीं दिये गये, किन्तु स्वा.द.जीके अपने मतसे दिये गये; तब टिप्पणीकारको इसमें स्वामीकी भ्रांति कहनी चाहिये थी, पण्डितोंकी भ्रांति उसने कैसे बताई ?। इसीसे बहुत स्पष्ट सिद्ध हो रहा है कि–स्वा.द.जी पहले ब्राह्मणभागको वेद बड़े धड़ल्लेसे मानते थे। नहीं तो उस समय स्वामी अपने अनुसार 'संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वां रात्रि ! उपास्महे' (अथर्व. ३।१०।३) यह मन्त्रभागका वचन बोल सकते थे। इसलिए न बोला होगा कि–इससे उस समय प्रतिमोपासना वैदिक सिद्ध हो जाती। यह मन्त्र उनके विचारमें तो आया ही होगा। तभी उसका स्वामीने ऋभाभूमें पीछे जाकर अर्थ बदला।

यह शास्त्रार्थ सं. १९२६ में हुआ था, सं. १९३२ में प्रथम स.प्र. बनाया; तब भी ब्राह्मणको स्वामी वेद मानते रहे। फिर सं. १९३५ में पहले-पहल ऋभाभू. छपी; उस समय उनका मत बदला, और सं. १९३७ के समय छपे हुए 'भ्रमोच्छेदन'के समय उनका परिवर्तित मत पक्का होगया। यहां जो भाषाकी टिप्पणीमें चेलोंने लिखा है—'देवतायतनानि कम्पन्ते, दैवत-

प्रतिमा हसन्ति' यह वेदवचन नहीं है, किन्तु सामवेदके षड्विंश-ब्रा. का है [कितनी गलत बात है, जब स्वामीने ही स्वयं वेदका वचन कहकर उसे दिया; तब उसमें परिवर्तन कैसे किया गया !] परन्तु वहां भी वह प्रक्षिप्त है, क्योंकि–वेदोंसे विरुद्ध है'।

यह चेलोंकी टिप्पणी भी गलत है। वचन तो वेदका, स्वामीने स्वयं दिया; तो क्या स्वामीने स्वयं ही वेदका कहकर वेदविरुद्ध एवं प्रक्षिप्त प्रमाण दे दिया ? यह बात कौन नैयायिक मान सकता है। वस्तुतः टिप्पणीकारका मत स्वामीका पहलेका मत ही काट रहा है। इस प्रकार जिस सम्प्रदायकी आधारभित्ति ही असत्यपर प्रतिष्ठित हो; वह सम्प्रदाय भी भला सत्यवादी वा छलरहित कभी हो सकता है ?

(घ) आगे 'यस्मिन् मन्त्रे प्रतिमाशब्दोऽस्ति स मन्त्रो न मर्त्यलोकविषयोऽपितु ब्रह्मलोकविषय एवेति' (पृ. ८०३) तत् परस्य स्वर्गस्य च नाम ब्रह्मलोकस्येति' यहां स्वामीने षड्विंशब्रा.के वचनको 'मन्त्र' कहा। इससे भी उसका वेदत्व सूचित किया गया है, यहाँपर स्वर्गलोक भी स्वामीने आकाशमें सूर्यादिलोकोंको माना, पीछे बदल गये। यहांपर उन्होंने सूर्यपूजा कहकर मूर्तिपूजा भी मान ली।

(ङ) अब आगेके स्वामीके वचनोंसे ब्राह्मणभागकी वेदता सिद्ध होती है, पाठक देखें।—'तदा विशुद्धानन्द-स्वामिनोक्तम्-'मनो ब्रह्मेत्युपासीत, आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीत' इति यथा प्रतीकोपासनमुक्तम्, तथा शालग्रामपूजनमपि ग्राह्यम् इति (स्वा.

विशुद्धानन्दजीने कहा—जैसे 'आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीत'में प्रतीकोपासना कही गई है, वैसे शालग्रामकी पूजा भी जान लेनी चाहिये)।

इसपर स्वामीने कहा—'यथा आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीत' इत्यादि वचनं वेदेषु दृश्यते, तथा पाषाणादि-ब्रह्मेत्युपासीत—इति वचनं क्वापि वेदेषु न दृश्यते' (जैसे 'आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीत' यह वचन वेदोंमें मिलता है, वैसे पाषाणादि-ब्रह्मकी उपासना करे' ऐसा वचन वेदोंमें नहीं मिलता) इससे भी स्पष्ट हो रहा है कि—स्वामी इन ब्राह्मणों वा उपनिषदोंके वचनको उन दिनों वेद मानते थे, तभी तो उन्होंने 'आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीत'को वेदवचन कहा, और सूर्यकी पूजा भी उन दिनों मानते थे। पण्डितोंने यह वचन दिया तो सही, पर उसे वेदवचन नहीं कहा, यह आर्यसमाजके छपाये हुए काशी-शास्त्रार्थमें ही स्पष्ट है; पर स्वामीने पण्डितोंके दिये हुए उसी प्रमाणको स्वयं ही 'वेदवचन' कहा है, इससे क्या स्पष्ट नहीं कि—वे ब्राह्मणभाग तथा छान्दोग्य आदि उपनिषदोंको वेद मानते थे, जिस काशीशास्त्रार्थको स्वा.द.का विजयस्मारक घोषित किया जाता है, उसीने आर्यसमाजके वेदपक्षकी नाक काट डाली है। टिप्पणीकारने प्रयत्न किया है कि—कटी नाक किसी प्रकारसे जुड़ जाए; उसने पण्डितोंके नाक काटनेकी चेष्टा की है, पर कटा फिर भी स्वा.द.का नाक ही। टिप्पणीकारने यहाँ स्वामीका ही खण्डन किया है, पर असत्यतासे उसने नाम पण्डितोंका ले लिया है, पर विद्वानोंकी दृष्टिमें

टिप्पणीकारकी टिप्पणीका कुछ भी महत्त्व नहीं, उल्टा टिप्पणीकारकी टिप्पणीसे यह बहुत स्पष्ट होगया है कि—स्वा.द. जी ब्राह्मणभाग वा उपनिषद्-आरण्यकको वेद मानते थे। पीछे बदल गये।

इसपर झूठे चेलोंने टिप्पणी दी है कि—'इदमपि पण्डितमतानुसारेणोक्तम्, नेदं स्वामिनो मतमिति वेद्यम्' (यह भी पण्डितोंके मतके अनुसार है, यह स्वामीका मत नहीं है)। यह कितनी झूठी टिप्पणी है। पण्डितोंने 'आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीत' इसे वेदवचन कहा भी नहीं; स्वामीने स्वयं इसे वेदवचन कहा, अतः स्पष्ट है कि—स्वामी उपनिषदोंको भी वेद मानते थे। यदि स्वामी उपनिषद्को वेद न मानते, और स्वा.विशु.जीने ही ऐसा कहा होता; तब तो स्वा.द.जी उसकी बातकी काट कर सकते थे कि—'आदित्यं ब्रह्म-इत्युपासीत' यह वचन वेदका नहीं, यह तो छान्दोग्य-उपनिषद् (३।१९।४) का है, किन्तु न काटनेसे, बल्कि पण्डितोंके उसे वेदवचन न कहने और स्वामीके उसे स्वयं वेदवचन कहनेसे यह स्पष्ट सिद्ध है कि—स्वामी उस समय छान्दोग्य आदि-उपनिषदोंको वेद मानते थे। जब तक काशीशास्त्रार्थकी एक भी कापी जीवित है; तब तक यह सिद्ध होता रहेगा कि—स्वा. दयानन्द अपना मत आये दिन बदला करते थे। और स्वा.द.ने चाहे पत्थरपूजा वैदिक नहीं मानी; पर 'सूर्यपूजा' मानकर स्वामीने मूर्तिपूजाके आगे सिर झुका लिया। क्योंकि—स्वामी जड़की पूजाको मूर्तिपूजा मानते हैं। देखिये स.प्र.में उनके शब्द—

'जैसी यह पृथिवी जड़ है, वैसे ही सूर्यादि लोक [भी जड़] हैं' (स.प्र, २ पृ. १६) 'क्या यह मूर्तिपूजा नहीं है ? किसी जड़-पदार्थके सामने शिर झुकाना वा उसकी पूजा करना सब मूर्तिपूजा है'। (स.प्र. ११ पृ. २३० नानकमत-प्रकरण) इससे भी स्वा.द.जीका पक्ष कट गया। गये थे पत्थरपूजा हटवाने; पर सूर्यपूजा गले आ पड़ी। 'गये थे रोजे बक्शवाने, नमाज गले आ पड़ी'। स्वा.द.जी फर्रुखाबादकी पाठशाला खोलनेके समय वहांके छात्रोंसे सूर्यको अर्घ्य दिलवाते थे। यह 'आर्यसमाजका इतिहास' प्रथमभागमें पं० नरदेवजी शास्त्रीने स्पष्ट लिखा है। तभी तो स्वा.द.जीने 'यदा देवतायतनानि कम्पन्ते, दैवतप्रतिमा हसन्ति' इस वेदके नामसे दिये गये अपने ही प्रमाणमें 'दैवतप्रतिमाः'से सूर्यमूर्तिका ही ग्रहण किया है, तब सूर्यादि-उपासना भी मूर्ति-पूजा तथा वैदिक-पूजा सिद्ध होजानेसे स्वामीका पक्ष गिर गया। तभी तो स्वामीने 'इष्टापूर्ते सँ सृजेथाम्' इस मन्त्रमें 'वापी-कूपतडाग-आराम आदिका 'पूर्त'से जो ग्रहण किया है, उसीमें 'देवतायतन' (देवमन्दिर) भी साथ है।

(च) अब आगे देखिये — 'ततो माधवाचार्येणोक्तम्–'पुराण-शब्दो वेदेषु अस्ति न वा ? (श्रीमाधवाचार्यने कहा कि-पुराण-शब्द वेदमें है, या नहीं ? इसपर स्वामीने कहा) 'तदा स्वामिनो-क्तम्-'पुराणशब्दस्तु बहुषु स्थलेषु वेदेषु दृश्यते (पुराणशब्द वेदोंमें बहुत स्थलोंमें है)।

'तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—'एतस्य महतो भूतस्य

निःश्वसितमेतद्...इतिहासः, पुराणं' इत्यत्र बृहदारण्यकोपनि... पठितस्य सर्वस्य प्रामाण्यं वर्त्तते न वा ? (विशुद्धानन्दजीने ... कि–'एतस्य महतो भूतस्य...इतिहासः पुराणं' बृहदारण्यक... यह सारा वचन प्रमाण है, वा नहीं) तदा स्वामिनोक्तम्-'अस्ये... व प्रामाण्यम्-इति (हां, यह सारा ही वचन प्रमाण है)।

इससे स्पष्ट ही इतिहास-पुराणको भी स्वामीने ईश्वर... निःश्वास माना; चाहे वे यहां पुराणसे १८ पुराण न लेकर ... ही ब्राह्मणभाग लें। पर पीछे बदल गये। ऋभाभू.में 'इतिहास पुराणं' वाले अंशको स्वा.द.जी छिपा गये, बल्कि 'भ्रमोच्छेदन'में उसे वेदविरुद्ध संकेतित कर दिया, और काशीशास्त्रार्थमें ... अंशको मान लिया। इससे स्पष्ट मालूम हो रहा है कि स्वा.द.जीका स्थिर मत नहीं था, बदलते रहते थे। यदि वे ... होते; तो उनके यह वर्तमान सिद्धान्त भी बदल जाते, नियोग... वे छापेखानेवालोंपर दोष मढ़कर बदल देते। उसके स्थान... विधवाविवाह मान लेते; अब उन्होंने चेलोंको कहींका नहीं रखा। वे चेले आजकल नियोगपर शास्त्रार्थ तो करते हैं; पर अपने समाजमें उन्होंने उसे चालू नहीं किया। विधवाविवाह... स्वामी क्षतयोनिका वेदविरुद्ध मानते हैं, चेले उसीका प्रचार कर रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि–स्वामी आप्त नहीं थे। अब उनकी दुकानदारी स्थिर होगई है, पर उनके अनुयायी छिपे-छिपे स्वा.द.से विरुद्ध बोल रहे हैं। यदि कोई रोक न रही, तो थोड़े दिनोंके बाद स्वा.द.के सभी सिद्धान्त पुस्तकोंमें ही केवल ...

आवेंगे ? अब प्रकरण पर आइये—

तब विशुद्धानन्द-स्वामीने कहा—अत्र 'पुराण' शब्दः कस्य विशेषणमिति (यहांपर पुराण-शब्द किसका विशेषण है ? इसपर स्वामीने कहा–) 'पुस्तकमानय, पश्चाद् विचारः कर्तव्य इति (पुस्तक लाओ, फिर विचार होगा) 'तदा माधवाचार्येण वेदस्य द्वे पत्रे निस्सारिते (तब माधवाचार्यने वेदके दो पत्रे निकाले) यह स्वामीके शब्द बृहदारण्यकको स्वामीके मतमें वेद सिद्ध कर रहे हैं; क्योंकि वे पत्रे उक्त उपनिषद्के थे।

इसपर झूठा चेला टिप्पणी करता है–'इदमपि पण्डितानां मते, नैव स्वामिनः' (यह पण्डितोंका मत है, स्वामीका नहीं) यह बात कितनी गलत है ! 'वेदके दो पत्रे' यह तो स्वामीके शब्द हैं, पण्डितोंके नहीं। पण्डितोंने 'बृहदारण्यक' कहा, वेद तो नहीं कहा। स्वामीने ही बृहदारण्यकके उन पत्रोंको 'वेदके पत्रे' कहा। यह काशीशास्त्रार्थ स्वामीका ही तो लिखा है, सनातनी पण्डितोंका नहीं। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि–स्वामी बृहदारण्यक-उपनिषद्को भी वेद मानते थे, नहीं तो उपनिषद्के पत्रोंको 'वेदके पत्रे' क्यों कहते ?। वस्तुतः जब तक काशीशास्त्रार्थ जीवित है; तब तक स्वामीके सिद्धान्त मरे हुए हैं, और उनके टिप्पणीकर्ता चेले असत्यवादी हैं–ऐसा विद्वान् लोगोंको पता लगवा जावेगा।

'तदा स्वामिनोक्तम्–पुराणानि ब्राह्मणानि नाम सनातनानि इति विशेषणम्, तदा बालशास्त्र्यादिभिरुक्तम्–ब्राह्मणानि

नवीनानि भवन्ति किमिति ? तदा स्वामिनोक्तम्–'नवीनानि ब्राह्मणानि-इति कस्यचित् शङ्कापि माभूदिति विशेषणार्थः'। इससे स्वामीने पुराणसे ब्राह्मणोंको लिया, और उनको सनातन बताया। अब जो उन ब्राह्मणोंको स्वामीके अनुयायी नवीन कहते हैं; वह बात कट गई। जैसे मन्त्रभाग सनातन है, वैसे उसके साथ रहनेवाला ब्राह्मणभाग भी सनातन सिद्ध हुआ।

(छ) पृ. ८०६ 'तदा स्वामिनोक्तम्–'अन्यत्र अस्ति इतिहास-पुराणशब्दो विशेषणम्। तद्-यथा–'इतिहास-पुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः' इत्युक्तम्'। यह वचन स्वा.द.जीने स्वयं वेदके वचनरूपमें उपस्थित किया, क्योंकि–वे छान्दोग्य-बृहदारण्यकादि उपनिषदोंको पहले वेद ही मानते थे। इसपर वामनाचार्यादिने कहा–'अयं पाठ एव वेदे नास्ति' (यह पाठ ही वेदमें नहीं है)। इसपर स्वामीने कहा–'यदि वेदेषु अयं पाठो न भवेच्चेद् मम पराजयः। यद्ययं पाठो वेदे यथावद् भवेत्, तदा भवतां पराजयश्चेति इयं प्रतिज्ञा लेख्या, तदा सर्वैर्मौनं कृतम्' (स्वामीने कहा कि–'इतिहास-पुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः' यह पाठ यदि वेदोंमें न हो तो मेरा पराजय लिख लीजिये। यदि वेदमें यह पाठ हो, तो आपका पराजय होगा–यह प्रतिज्ञा लिख लीजिये; तब सब पण्डित चुप हो गये)।

स्वामीजीके इस सिंहनादसे सिद्ध हो रहा है कि–वे छान्दोग्यादि उपनिषदोंको वेद मानते थे। नहीं तो उपनिषद्के वचनको वे वेदवचन होनेकी घोषणा कभी न करते। वादी ही बतावे–

'इतिहास-पुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः' यह वचन वादियोंके किस तथाकथित वेदमें है? पर इसपर भूठा टिप्पणीकार टिप्पणी करता है—'इदमपि तन्मतमनुसृत्य उक्तम्, नेदं स्वामिनो मतमिति वेदितव्यम्। एते पत्रे तु गृह्यसूत्रस्य अभवतामिति'।

यह टिप्पणी कितनी भूठी है। जब दिया वचन स्वा.द.ने वेदका नाम लेकर छान्दोग्य-उपनिषद्का; पण्डितोंमें वामनाचार्यने कहा कि—यह वचन वेदका नहीं, और स्वामीने बिगुल बजाकर कहा कि—यह बचन यदि वेदका न हो; तो मेरी हार होगी'। अब टिप्पणीकर्ता उस स्वा.द.जीके वेदकी प्रतिज्ञा करके कहे हुए वचनको गृह्यसूत्रका बताकर स्वा.द.जीको स्वयं पराजित सिद्ध कर रहा है। स्वामीने उस वचनको गृह्यसूत्रका कहां कहा है? दिखाओ काशीशास्त्रार्थमें। वस्तुतः इस टिप्पणीकारने यहां सर्वत्र पण्डितोंका खण्डन न करके यह स्वा.द.जीका ही खण्डन किया है। क्या स्वा.द.जी इतने अज्ञानी थे कि—गृह्यसूत्रके पत्रेको उन्होंने वेदका पत्रा कह दिया? वस्तुतः 'इतिहास-पुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः' यह छान्दोग्य-उपनिषद् (७।१।४) का वचन है। देखिये स.प्र. ११ पृ. २०६ में स्वा.द.जीकी साक्षी। उसीको स्वामीने वेदवाक्य कहा है, यहाँ गृह्यसूत्रके पत्रोंकी कोई बात नहीं। न गृह्यसूत्रकी कोई चर्चा ही थी। यह तो टिप्पणीकारने अपने स्वामीके कटे नाकको छिपानेकेलिए गृह्यसूत्रका नाम ले लिया कि—लोगोंका विचार अन्यत्र चला जावे, इधर न जावे।

(ज) पृ. ८०६ 'तदा माधवाचार्येण द्वे पत्रे वेदस्य निस्सार्य

सर्वेषां पण्डितानां मध्ये प्रक्षिप्ते। अत्र यज्ञसमाप्तौ दशमे [नवमे ?] दिवसे पुराणानां पाठं शृणुयादिति लिखितम्'। यहां भी स्वामीने शतपथके पत्रों-जिनमें 'नवमेऽहन्......किञ्चित् पुराणमाचक्षीत' पाठ था-को वेदके पत्रे कहा है।...

इस पर भूठा टिप्पणीकार टिप्पणी करता है—'इदमपि तन्मतमेव, नैव स्वामिन इति' (यह भी पण्डितोंका ही मत है, स्वामीजी का नहीं) जब यह 'वेदस्य पत्रे' शब्द स्वामीके हैं; तब यह मत स्वामीका ही हुआ, पण्डितोंका कैसे हुआ? क्या यह काशीशास्त्रार्थ पण्डितोंने छपवाया था?। यहाँ भी टिप्पणीकार ने पूर्व की भांति सफेद-भूंठ बोल दिया।

(झ) 'तस्मादुपनिषदामेव ग्रहणं नान्येषाम्। यदि ह्येवं पाठो भवेद्-ब्रह्मवैवर्तादयोऽष्टादशग्रन्थाः पुराणानि चेति, क्वापि वेदेषु पाठो नास्त्येव-इत्यर्थकथनस्य इच्छा कृता'। पण्डितोंके कहे हुए पुराण-विषयक प्रमाणका स्वामीजीको उस समय कुछ उत्तर न सूझ पड़ा। कुछ समय तक सोचते रहे। फिर काशीशास्त्रार्थमें अन्तमें लिखा है कि—(स्वामीजीने यह उत्तर कहनेकी इच्छा की कि—यदि यह वेदमें पाठ हो कि—ब्रह्मवैवर्त आदि १८ ग्रन्थ पुराण हैं, पर ऐसा वेदमें पाठ नहीं) यहां पर भी वही भूठा टिप्पणीकार चेला वही पहले वाली भूठी रट लगाता है—'इदमपि तन्मतमेवास्ति, न स्वामिनः' [यह भी पण्डितोंका ही मत है—स्वामीका नहीं]

यहाँ भी सत्यका कितना गला घोंटा गया है। यह पाठ

ब्राह्मणग्रन्थका था। स्वामीने उसे वेद-वचन बताया; क्योंकि-वे उस समय वैसा ही मानते थे। हां, उस समय स्वामी पुराण-सम्बन्धी पण्डितोंसे दिये गये वचनका समाधान न कर सके, पर काशी-शास्त्रार्थके अनुसार उसका उत्तर बतानेकी इच्छा की कि इस वेद-वचनमें १८ पुराणोंका नाम नहीं है; पर बाहर न कहनेसे पण्डितोंको इस बातका क्या पता लगना था; नहीं तो वे इसका प्रत्युत्तर भी देते। उन्हें सपना तो नहीं आना था कि-स्वा.द. यह कहना चाहते हैं; अतः वहां पण्डितोंको स्वा.द.जीके पराजित हो जानेकी घोषणा करनी ही पड़ी। चुप्पी हो जानेसे तो पराजय बहुत स्पष्ट हो जाया करता है, नहीं तो क्या पराजित होने वालेके सिर पर सींग लग जाया करते हैं ?

(न) पृ. ८०७ 'दयानन्द-स्वामिनः चत्वारः पूर्वोक्ताः पूर्वपक्षाः सन्ति, तेषां चतुर्णां प्रामाण्यं नैव वेदेषु निस्सृतम्' (स्वा.द.के चार पहले कहे हुए पूर्व-पक्ष थे। इन चारों की प्रमाणता वेदोंसे नहीं निकली।) यह काशीशास्त्रार्थके अन्तके शब्द हैं। इससे स्पष्ट है कि-स्वयं स्वा.द.जी ही ब्राह्मण-उपनिषदोंके वचनोंको वेद-वचन कह रहे थे। हां, पण्डितोंने यह चतुरता अवश्य की कि-स्वामीसे ही वेद-वचन सभी कहलवाये, और स्वामीने सभी वेद-वचन उपनिषद् वा ब्राह्मण ग्रन्थोंके ही कहे। अन्तमें भी स्वामीने यही कहा है कि-वेदोंमें हमारा पूर्वपक्ष नहीं दिखलाया गया (यहां सभी स्थलोंमें स्वामीने जो स्वयं वेद-वचन कह कर दिये; उनमें मन्त्रभागका एक भी वचन नहीं

दिया। किन्तु सभी वे वेदके नामसे कहे हुए वचन उपनिषद् वा ब्राह्मणभागके ही बोले।

इससे छान्दोग्य-बृहदारण्यक आदि उपनिषद् वा शतपथादि-ब्राह्मणग्रन्थ स्वामीजीके अनुसार सं० १९२६ में भी वेद रहे; सं० १९३२-३३ तक भी स्वामीजीके यही विचार रहे। फिर सन् १८७८ (सं० १९३५)में उनने अपना मत बदल दिया; क्योंकि-इस प्रकार वे स्वयं निगृहीत हो जाते थे; तब उन्होंने अपनी जान छुड़ानेकेलिए उपनिषद् वा ब्राह्मणको वेद मानना बन्द कर दिया, और वर्तमान चार संहिताओंकी पोथियोंको वे वेद मानने लगे, और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका छपवाई। जब-जब उन्होंने अपना प्राचीन मत बदला; उसमें कारण यही होता था कि-वे शास्त्रार्थोंमें निगृहीत हो जाते थे, फिर उनके पास इसके सिवाय और कोई चारा नहीं था कि-वे अपना मत बदल दें। फिर वे जानबूझकर वैसे नये वक्तव्य जनतामें प्रसारित कर देते थे। जब कोई विद्वान् इस पर उनके ग्रन्थोंमें विरोध दिखलाता; तब वे नाटक खेलकर उससे वह अपनी पुस्तक देखते, और फिर कह देते थे कि-यह मुद्रकों तथा प्रूफ-शोधकों वा हमारे शिष्योंकी असावधानतासे छपा है-इत्यादि। यह सब चालाकियोंके हथकंडे थे; जिनमें भोली जनता फंस जाती थी।

इससे सिद्ध हुआ कि-स्वा.द. आप्त नहीं थे। पहले कुछ मत रखते थे, बादमें बदल जाते थे। अस्तु। यदि 'सह नाववतु' स्वामीके मतमें वेद नहीं है; तो उसमें व्यत्यय भी सिद्ध नहीं

हो सकता, स्वा.द.जीका इसका अर्थ अशुद्ध सिद्ध हुआ। इनमें उनकी ८ अशुद्धियां सिद्ध हुईं।

(८५) प्रसंगसे हम 'दयानन्द-सिद्धान्तप्रकाश' के किये हुए एक-दो आक्षेपों पर भी विचार करते हैं। उसके पृष्ठ १६२ में उसके लेखकने 'कल्म' शब्दपर बड़ा बल दिया है। उसने लिखा है-'न काशीके उस समयके बालशास्त्री विद्वान् उत्तर दे सकते थे; और न आज तक किसी सनातनी वैयाकरणने उत्तर दिया है। पृ. २३१ पर फिर वह लिखता है-'उनके बालशास्त्री और विशुद्धानन्द तो इस प्रश्नका भी उत्तर नहीं दे पाये कि-व्याकरणमें 'कल्म' संज्ञा कहीं पर की है, अथवा नहीं ? आज तक वह प्रश्न ज्योका त्यों है'।

इससे मालूम होता है कि-यह वादीके मतानुसार स्वामीने सनातनधर्मियों पर बड़ा भारी प्रश्न कर डाला था; जिसका उत्तर सनातनधर्मी विद्वान् न दे सके थे; न दे सकेंगे; न दे ही सकते हैं। पर हम तो इस प्रश्नको साधारण-सा प्रश्न समझते हैं; और उस प्रश्नका उत्तर संक्षेपसे दे रहे हैं। आशा है-आगे प्रतिपक्षी फिर कभी ऐसा दोष नहीं देगा। कदाचित् वह स्वयं इसका ज्ञान न होनेसे इसका ज्ञान प्राप्त करना चाहता हो ?

महाभाष्य (१।४।३।५१)में 'विपरीतं तु यत् कर्म तत् 'कल्म' कवयो विदुः' यह वार्तिक आया है। इसीके भाष्यमें प्रश्न है—किमिदं कल्मेति ? वहाँ उत्तर है-'अपरिसमाप्तं कर्म कल्म। न वा अस्मिन् सर्वाणि कर्म-कार्याणि क्रियन्ते। किं तर्हि ?

द्वितीयैव।'

यह अकथित-कर्मसे अन्य कर्मकी पूर्वाचार्योंसे की हुई दूसरी संज्ञा है। यहाँपर कपिलक आदि गणमें गृहीत होनेसे 'र' को 'ल' कर दिया गया है; पर इस पूर्वपक्षका वहां खण्डन किया गया है। वहां श्लोक-वार्तिक है-'यस्मिँस्तु कर्मण्युपजायतेऽन्यद् धात्वर्थयोगापि च यत्र षष्ठी। तत् कर्म कल्मेति च, कल्म नोक्तं धातोर्हि वृत्तिर्न र-लत्वतोऽस्ति'। वार्तिकका यह आशय है कि-कर्मके 'र्'को 'ल' कह देनेमात्रसे उसका अन्य अर्थ नहीं हो जाता। वर्णविकार कर देनेपर भी 'पांसुर, पांसुल' शब्दकी पर्यायवाचकता ही है, विशिष्टता नहीं; अतः संज्ञाभेदकी आवश्यकता नहीं।

(८६) जोकि वादो (वै.ना.) 'इणः षीध्वं-' सूत्रसे सिद्ध किये गये श्रीदीक्षितके 'ऐधिढ्वम्' प्रयोगपर लिखता है कि-'यह प्रयोग सुतराम् अशुद्ध है; क्योंकि-यहाँपर सान्त अङ्ग तो पाया जाता है, इणन्त अङ्ग नहीं। सूत्र इणन्त अङ्गपर ही लागू होता है' (पृ: १५६)

यह वादीकी अपनी कल्पना नहीं है, किन्तु उसने इसे स्वा.द.जीके आख्यातिकसे अपहृत किया है। स्वा.द.जीको वैयाकरण सिद्ध करनेकेलिए श्रीदीक्षित पर दोष देना आवश्यक न था; पर वादीने ऐसा किया है। पर वादीने स्वामीके 'नादान-भक्त' बनकर उल्टा स्वामीजीकी वैयाकरणोंमें नाक कटवा दी है। इससे वादी श्रीवैद्यनाथका व्याकरणमें ज्ञान न्यून मालूम

होता है। इस युक्तिका खण्डन वैयाकरणशिरोमणि म.म. पं० शिवदत्तजीने 'सिद्धान्तकौमुदी'की तत्त्वबोधिनी टीकाकी टिप्पणी-में, तथा सटिप्पण सिद्धान्तकौमुदी (मूल) की टिप्पणीमें बहुत समयसे पूर्व कर रक्खा है। वादी म.म.जीका कथन कान खोलकर सुने। वे 'ऐधिढ्वम्' पर लिखते हैं—

'वेदाङ्ग-प्रकाशकर्त्रा (दयानन्देन) तु सलोपस्य स्थानिवत्त्वेन अङ्गस्य इणन्तत्वव्याघाताद् नात्र ढत्वप्राप्तिः' इत्युक्तम्; तत्तु व्याकरणरहस्यानभिज्ञत्वसूचकम्। स्थानिवत्' इति सूत्रेण स्थानिवद्भावविषये आदेशप्रयुक्तवारणे तु 'नायकः' इत्यादौ आयाद्यादेशानुपपत्तिरिति भूयान् उपप्लवः स्यात्। तस्मादत्र स्थानिवद्भावेपि आदेश-प्रयुक्तकार्यस्य अवारणाद् इणन्तनिमित्तं ढत्वं भवत्येव-इति बोध्यम्'।

यहां महामहोपाध्यायजीने सलोपके स्थानिवद्भाव होनेपर इणन्त न होनेसे इणन्तनिमित्तक ढत्व न हो सकेगा-स्वा.द.जी-के इस आक्षेपके करनेपर स्वा.द.का व्याकरण-विषयक अज्ञान दिखलाया है। उनका तात्पर्य यह है कि—यदि ऐसे अवसरों पर स्थानिवद्भाव मानकर आदेश न किये जाएंगे; तो बहुत गड़बड़ियां उपस्थित हो जावेंगी; तब तो 'नायकः' आदि प्रयोगोंमें 'एचोऽयवायावः' भी नहीं हो सकेगा। 'नी' धातुको ण्वुल् होकर णित् होनेसे 'ई' को 'ऐ' वृद्धि होकर फिर 'वु' को 'अक' करनेपर उसको स्थानिवद्भावसे 'वु' मानकर अच् सामने न होनेसे 'ऐ' को आय न हो सकेगा। यहां स्थानिवद्भाव होनेपर अच्परकत्वके

विघात होनेपर भी यदि 'ऐ'को 'आय्' होकर 'नायकः' बनता है; इसी प्रकार 'ऐधिढ्वम्'में भी इणन्तनिमित्त ढत्व हो ही जावेगा। 'कतरत्'में 'सु'को अद्ड् करनेपर उसके स्थानिवद्भाव करनेसे हलादिता हो जानेके कारण भ-संज्ञा न होनेसे कतरकी टिका लोप न हो सकेगा—इत्यादि बहुतसे दोष आते हैं।

अब हम स्वा.द.जीके आख्यातिकका ही एक उद्धरण देते हैं, जिसमें स्वा.द.जी तथा उनके भक्त श्रीवै.ना.जीका मुख बिल्कुल बन्द हो जावेगा। और स्वा.द.जी अवैयाकरण सिद्ध हो जावेंगे। देखिये—

'आख्यातिक' (पृ. ६४ भ्वादि)में स्वामीने 'अभूढ्वम्' प्रयोग लिखा है। इसमें भी 'धि च'से 'स्' का लोप है, फिर स्वामीके अनुसार उसके स्थानिवद्भाव होने पर इणन्तत्वनिमित्तके विघात हो जानेसे 'इणः षीध्वं'से 'ध्'को 'ढ्' नहीं हो सकेगा। फिर स्वामी-दयानन्दने वहाँ 'ध' को 'ढ' क्यों किया? क्या है स्वा.द. जी वा उनके अनुयायियोंके पास इसका कोई उत्तर! इस प्रकार 'अकृढ्वम्' आदि बहुतसे प्रयोग अशुद्ध हो जावेंगे। इस कारण श्री वै.ना.जीका यह आक्षेप निर्मूल है।

(८७) अब प्रतिपक्षी श्रीदीक्षितकी अन्य अशुद्धि बताता है कि—'विदांकुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम्'से 'विदांकुर्वन्तु' प्रयोग विकल्प-से बनता है; पक्षमें 'विदन्तु'। दीक्षित आदिने उक्त सूत्रके 'इति' से यह व्यवस्था बनाई है कि—'पुरुषवचने न विवक्षिते, अतः 'विदाङ्करोतु' आदि सभी वचनों और तीनों पुरुषोंमें बनेगा;

परन्तु अगले सूत्रमें 'अभ्युत्सादयामकः……इति छन्दसि' सूत्रमें भी 'इति' पड़ा है, वहांपर दीक्षित जी 'इति' पदसे 'पुरुष और वचनकी विवक्षा नहीं है' इस अर्थको नहीं ग्रहण करते। इससे विद्-धातुके सभी पुरुषों और वचनोंमें दीक्षितादिका 'विदाङ्करोतु' आदि प्रयोग पाणिनिके विरुद्ध है' (द.सि.प्र. पृ. १५६)

यह वादीका कथन भी जो कि उसने स्वा.द.जीके 'आख्यातिक'से लिया है—व्यर्थ है। 'विदांकुर्वन्तु' सूत्रमें 'इति' शब्द प्रकार-वाची होनेसे अन्यका उपलक्षक है; अतः इसमें सारे लोट्‌में आम्-कृ करना पाणिनिसे विरुद्ध कैसे हो गया? तभी तो 'वासुदेवविजयकाव्य'में जो अष्टाध्यायीपर बना हुआ है; उसमें 'विदांकुरु श्रीमति! पुत्रि! नो गिरः, स्फारादरेति प्रतिपित्सुरागमान्। गुरोः सदाध्यापयतोऽनुशासनं नम्रेण मूर्ध्ना बिभराञ्चकार सा' (१।२९) यहाँ पर मध्यमपुरुषके एकवचनमें भी प्रयोग देखा गया है।

पञ्चतन्त्रके अपरीक्षितकारकमें उद्धृत पद्य 'शूरः सुरूपः सुभगश्च वाग्मी, शस्त्राणि शास्त्राणि विदाङ्करोतु'में भी एकवचन प्रथम-पुरुषका प्रयोग है। क्या पञ्चतन्त्रकार श्रीदीक्षितके पीछे पैदा हुए, जो कि उन्होंने श्रीदीक्षितका मत अनुवृत्त कर लिया? काशिकाकार आदि सभी प्रामाणिक व्याख्याताओंने—जिनके सहारे स्वा.द.जीने अपना अष्टाध्यायी-भाष्य किया है, देखो उसके ४र्थ ५म आदि अब तक अप्रकाशित भाग; उनमें सारी काशिका ही तो भरी है, यह श्रीजिज्ञासुजीने बताया था; तथा

कातन्त्र-जैनेन्द्र आदि व्याकरणोंमें भी ऐसा ही माना है; तब इसमें अकेले स्वा.द.जीका मत ही कैसे मान लिया जाय?

जैनेन्द्र-व्याकरण पञ्चम-शताब्दीका है; उसमें भी ऐसा ही है; चान्द्रव्याकरण, सरस्वतीकण्ठाभरण, काशिका (छठी शताब्दी), प्रक्रियाकौमुदी, माधवीय-धातुवृत्तिमें, अष्टाध्यायीकी 'भाषावृत्ति' (११वीं शताब्दी) उसपर 'सृष्टिधरा' टीकामें प्राचीन पद्य है—'वक्त्रं संवृणु नाञ्चलेन चपले, पङ्केरुहस्याथवा; ... वीक्ष्य विदाङ्करोतु भगवान्'। इसमें भी 'विदाङ्करोतु'का प्रयोग है। श्रीहरदत्तने पदमञ्जरीमें लिखा है—'कश्चित्तु भाष्यवार्तिककारानुक्तत्वाद् उपलक्षणं नेच्छति, स 'इति' करणस्य प्रयोजनं ब्रवीतु' (जो इसमें अन्य पुरुषों तथा वचनोंका उपलक्षण उस सूत्रमें नहीं मानते; वे 'इति' कहनेका प्रयोजन बतावें)।

इसमें एक अन्य उदाहरण भी देखना चाहिये। 'पद्दन्नोमास्... ...शस्प्रभृतिषु' यहां 'प्रभृति' शब्द 'प्रकार' अर्थमें है; इसीलिए भाष्यमें 'ककुदोषणी' यह 'शस्'से पूर्व 'औ'में भी 'दोषन्' आदेश किया गया है। 'स्वान्तं हृन्मानसं मनः' अमरकोषके इस वचनमें 'सु'में भी 'हृदय'को 'हृद्' 'पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्'में सु में भी पादको 'पद्' देखा गया है, इसे पाणिनिसे विरुद्ध नहीं माना जाता; वैसे 'विदाङ्कुर्वन्तुइति' इस सूत्रमें समझ लेना चाहिये। यहां भी 'इति' शब्द प्रकारार्थक-एवञ्जातीयक अर्थमें है। स्वा.द.जीने आख्यातिकमें 'विदाङ्करोतु'को 'भाष्यसे विरुद्ध' माना है, पर भाष्यमें तो 'विदांकुर्वन्त्विति' यह सूत्र व्याख्यात

ही नहीं, तब विरोध कैसा ?

शेष रहा 'विदामक्रन्-इति छन्दसि'के 'इति'में दीक्षितका स्वरूपग्रहण, तो यह आवश्यक नहीं कि-यदि एक स्थानमें 'इति' प्रकारार्थक है; तो सभी स्थान ऐसा हो जाय। यदि 'गङ्गायां घोषः'में लक्षणा है, तो 'गङ्गायां मंहिष्यस्तरन्ति'में भी लक्षणा हो जाय-यह आवश्यक नहीं। यदि 'विदांकुर्वन्त्विति'में और उसके अग्रिमसूत्र '...विदामक्रन्निति छन्दसि'में दोनों 'इति' शब्द समानार्थक होते; तो दूसरे सूत्रमें भी वही पहला 'इति' आवृत्त हो जाता; तो दोबारा 'इति'के लिखनेकी क्या आवश्यकता थी ?

इसके अतिरिक्त यह दृष्टान्त विषम भी है। विद् वाले लौकिक-सूत्रमें केवल लोट्लकार ही था; पर उससे अग्रिम 'अभ्युत्सादयां' इस वैदिकसूत्रमें केवल 'लुङ्' नहीं है, किन्तु आशीर्लिङ् भी है; केवल एकवचन नहीं है; किन्तु अन्यमें बहु-वचन भी साथ है; तब यहां प्रकारवाचकता कैसे हो सकती थी ? और फिर वैदिक-प्रयोग वेदके एक स्थलमें एक ही प्रयुक्त हो सकता है, दूसरा नहीं। अतः वहां 'इति' शब्द वैदिक-प्रयोगोंकी स्वरूपपरकतामें स्पष्ट है; वहां प्रकारवचन अर्थ नहीं हो सकता। पर 'विदाङ्कुर्वन्त्विति' सूत्रमें लक्ष्यानुरोधवश प्रकारवचनता स्पष्ट है।

(क) 'पाणिनिसूत्र'में 'विदाङ्कुर्वन्त्विति-अन्यतरस्याम्'में प्रथमपुरुषका बहुवचन निपातित देखकर बहुवचनमें ही उसका

पाणिनीय होना और अन्य वचन वा पुरुषोंमें उसे अशुद्ध मानना वादीका ठीक नहीं। यदि ऐसा माना जावेगा; तो 'प्रसितस्कभितोत्तभितचत्त-विकस्ताः...' (पा. ७।२।३४)में 'विकस्ताः' इसे बहुवचनमें निपातित देखकर क्या एकवचनमें 'उत्तानाया हृदयं यद् विकस्तम्' प्रयोग दिखलाना पाणिनिविरुद्ध होनेसे अशुद्ध हो जावेगा ? इस सूत्रके अन्तमें भी 'इति' है।

(ख) 'दाधर्तिदर्धर्तिबोभूतु-तेतिक्ते-अलर्षि' (पा. ७।४।६५)में 'अलर्षि'को सिपमें निपातित देखकर 'अलर्ति दक्ष उत'में तिप्का प्रयोग पाणिनिसे निपातित न होनेसे क्या अशुद्ध हो जावेगा ? इस सूत्रके अन्तमें भी 'इति' है-यह वादी याद रखे। इस प्रकारके श्रीपाणिनिके अन्य भी बहुतसे उदाहरण दिये जा सकते हैं; पर यदि वादी उनमें अविवक्षा मानता है; तो 'विदाङ्कुर्वन्त्विति' में भी प्रथमपुरुष-बहुवचनकी विवक्षा नहीं है। वस्तुतः यह अन्य कुछ नहीं; मृतक-स्वा.द.जीकी भक्ति दिखलानेकेलिए यह श्री-दीक्षितपर प्रहार है कि-दयानन्दकी संस्थामें वृत्ति चलती रहे।

(ग) इस प्रकार 'तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्' (पा. १।२।३२) में भी 'ह्रस्व' विवक्षित हो; तो दीर्घ-स्वरित और प्लुतस्वरितमें उत्तरभागमें अनुदात्त और पूर्वभागमें उदात्त न होना चाहिये, पर यह अनिष्ट है-इससे भी पाणिनिकी अविवक्षाशैली भी हुआ करती है; जिसे श्रीदीक्षित आदिने लक्ष्योंको देखकर स्पष्ट कर दिया है; उन पर दोष देना साम्प्रदायिकता है।

(८८) यह श्रीदीक्षितपर आक्षेप श्री वै.ना.जीने स्वा.द.जीको

अद्वितीय-वैयाकरण सिद्ध करने तथा स.ध. पर प्रहार करनेके-लिए लिखे; अब वादीने हमें भी विवश कर दिया है कि-हम भी स्वा.द.जीकी 'अद्वितीय-वैयाकरणता' उस आख्यातिक आदि-से ही दिखलावें, उसपर हमारा दोष न माना जावे।

उससे पूर्व 'दयानन्दलेखावली'में. रमाके प्रति भेजे हुए स्वा.द.जीके पत्रका भी कुछ आदर्श हम प्रस्तुत करते हैं—

(क) 'अभ्यस्तसंस्कृतविद्याया भवत्याः शुभां कीर्ति निशम्य उत्पन्न-स्वान्तानन्देन मया श्रीमतीं प्रति लेखद्वाराऽभिप्रायं प्रकाश्य एवमेव भवत्या अभिप्रायं ज्ञातुमिच्छामि' (पृ. १६) यहाँ कर्म-वाच्यके वाक्यमें स्वामीजीने क्रिया कर्तृवाच्यकी दे दी।

(ख) 'यथा गार्ग्यादयः कुमार्यो···स्त्रीजनादिभ्यो यावान् सुख-लाभः प्रापितः' यहाँपर कर्तृवाच्यके वाक्यमें 'कर्मवाच्य'का 'क्त' स्वामीने लिख दिया। (ग) 'तावान विवाहे कृतेऽनेकप्रतिबन्धक-प्राप्त्या प्रापितुमशक्यः' यहां 'प्रापितु' अशुद्ध है, इट् होनेसे यहाँ 'णि' का लोप नहीं हो सकता।

(घ) 'यद्यत्र आगमनाभिलाषाऽस्ति चेत्' (पृ. १७) यहां स्वामीने घञन्त पुंलिङ्ग 'अभिलाष' को स्त्रीलिङ्गमें करके अशुद्धता कर दी। (ङ) तावान् व्ययो भवत्याऽत्र प्राप्तेऽवश्यं लभ्येत' यहां पर 'प्राप्ते' के स्थान 'प्राप्तया' चाहिये। (च) दूसरे पत्रमें 'अहम-प्यत्र पञ्चविंशतिर्दिनानि स्थातुमिच्छामि' (पृ. २०) यहां 'पञ्च-विंशतिं' यह द्वितीया चाहिये। इनमें स्वामीकी छः अशुद्धियां हैं।

अब कुछ 'आख्यातिक'में स्वा.जीकी 'अद्वितीय वैयाकरण-

शिरोमणिता दिखलाते हैं। हमने उनकी पूरी अशुद्धियां तो 'लोकालोक' के 'शङ्कासमाधानाङ्क' में दिखला दी हैं, स्थाली-पुलाक' न्यायसे दिङ्मात्र यहाँ भी दिखलाते हैं।—

(१) आख्यातिक (तनादिगण) में स्वामीने 'ऋणुवन्ति' ऋणुधातुका प्रयोग लिखा है, इसमें उवर्णान्त धातु अथवा श्नु प्रत्यय न होनेसे उवङ् प्राप्त नहीं। यहां यण् चाहिये 'अर्ण्वन्ति', नहीं तो फिर तनादिके 'कुर्वन्ति'के स्थान पर भी 'कुरुवन्ति' प्रयोग ठीक माना जावे।

एक आर्यसमाजी-व्याकरणाचार्य (?) ने इसे टङ्कारापत्रिका (६।८)में 'ऊर्णुवन्ति' बनाकर उवङ्को सिद्ध किया था; आश्चर्य तो यह है कि-हमसे तनादिकी लिखी धातुको उसने अदादि 'ऊर्णु' कैसे बना दिया !!

(२) 'पिपूर्धि' (जु.) यहां पर 'धि' नहीं हो सकता। (३) आख्या. (पृ. १३४) में 'वी' धातुसे निकाली 'ई' धातुके लिट् 'इयाय' लिख दिया, क्योंकि 'अयाञ्चकार' चाहिये। (४) इसीका द्विवचन स्वामीने 'ईयतुः' लिखा, वह भी अशुद्ध है, और फिर अभ्यासमें दीर्घ कैसे कर डाला ?। (५) षूङ् धातुके लिट् थास् 'सुषुविषे-सुसूषे, सुषुविढ्वे-सुषूढ्वे' यह वैकल्पिक इट् अशुद्ध है। उसे 'श्र्युकः किति' बाधित करेगा, फिर क्रादिनियमसे नित्य इट् होगा। जैसे स्वामीने 'सस्वरिम' में किया है। एक ब्रह्म-नन्दीने समाधानका प्रयत्न किया, पर उसमें सफल नहीं हो सका; नहीं तो फिर उसे स्वामीसे प्रोक्त 'सस्वरिम' इस लिट्

वृद्को भी अशुद्ध मानना चाहिये ।

(६) ममार्ज-ममर्ज (लिट्का उत्तमपुरुष णल्) यहां वैकल्पिक वृद्धि अशुद्ध है। एक दयानन्दीने इसे लिट्के 'थ' का बनाकर 'सार्वधातुकमपित्' से ङित् करके 'मृजेरजादौ संक्रमे (क्ङिति) विभाषा वृद्धिः' यह भाष्योक्त वैकल्पिक वृद्धि की है। लिट्लकार-को सार्वधातुकङित् बताना उसकी पहली अज्ञता है, क्योंकि-अपित्-लिट् आर्धधातुक-कित् होता है, ङित् नहीं। फिर वृद्धिके अभावपक्षमें कित् होनेसे गुण नहीं हो सकेगा। 'थ' में तो स्वामीने 'ममार्ज-ममृज' ठीक ही लिखा है; परन्तु उ०णल में नित्यवृद्धि चाहिये।

(७-८) पृ. ८१ में स्वामीने 'चक्लृम्महे-चक्लृब्महे, तथा ४६ पृष्ठमें 'जुगुब्व, जुगुम्म' (गुप्) यह (४र्थ ५म संस्करणोंमें) दो रूप अशुद्ध लिखे हैं, यहाँ प्रत्यय होनेसे 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' नित्य अनुनासिक चाहिये, पर वह भी अशुद्ध है, पदान्त यर् न होनेसे अनुनासिक और जश्त्व दोनों प्राप्त नहीं। आख्यातिक-के छठे संस्करणमें किसीने स्वामीजीकी अशुद्धियोंको ठीक करके प्रक्षेप किया है।

(९) पृ. १८५ लेयात्-लायात्। यहाँ 'कित्' होनेसे 'विभाषा लीयतेः' वाला आत्व नहीं हो सकता, वह एच्विषयमें होता है। पक्षमें कित् होनेसे गुण भी नहीं हो सकता। 'लीयात्' ही चाहियेन वादीने 'लीङ्' से यह प्रयोग बनाये हैं, इतना भी उसे ज्ञान नहीं कि-ङित् आत्मनेपदी होती है।

(१०) 'ज्वरत्वर' (पृ. ११८) में कित्-ङित्की अनुवृत्ति नहीं आती, पर स्वा.द.ने लिख दी है-यह अशुद्ध है। पर दयानन्दी वादीने कहा है कि-'काशिका' में 'क्ङिति' की अनुवृत्ति मानी है। पर यदि वादी काशिकाको प्रमाण मानता है, तो उसे 'विदाङ्करोतु' भी मानना चाहिये, पर आख्यातिकमें उसे नहीं माना। काशिकाका यहाँ दीक्षितने सोपपत्तिक खण्डन कर दिया है।

इस अशुद्धिमें हम स्वामीकी भी साक्षी देते हैं। 'उणादि-कोष' (१।६६) में उनने 'ओतुः' सिद्ध किया है, और लिखा है-'अव् धातोर्ज्वर-त्वरेति उपधावकारयोरूठ्'। अब वादी बतावे-यहाँ 'तुन्' कित्-ङित् कैसे है?। (ख) स्वामीने यङ्-लुगन्तमें 'ज्वर-त्वर' के उदाहरणमें 'ओजूर्ति' भी लिखा है। वादी बतावे कि-तिप् कित्-ङित् कैसे है। अतः 'क्ङिति' की अनुवृत्ति लिखना अशुद्ध है।

(११) 'स्त्रैणताद्धित' (पृ. ३२) में स्वामीने 'ब्राह्मणी'में ङीष् (४।१।६३) किया है, जबकि जाति होनेपर भी शार्ङ्गरवादिपाठ-वश ङीन् (४।१।७३) चाहिये। इसपर दयानन्दी वादी लिखता है कि-काशिका (पृ. २६४)में भी देख लेना, वहाँ स्पष्ट ही 'ब्राह्मणी'में जाति-लक्षण ङीष् किया है।' पर इसपर वह याद रखे कि-काशिकाका इस विषयमें श्रीदीक्षितने यह कह कर खण्डन किया है-'ब्राह्मणीत्यत्र तु शार्ङ्गरवादि-पाठाद् ङीना ङीष बाध्यते'। यदि वादी काशिकाको ही प्रमाण मानता है;

तो उससे प्रदर्शित 'बिदाङ्करोतु' को भी माने, जिसे स्वा.द.जी नहीं मानते। वास्तवमें श्रीदीक्षितका ही मत ठीक है, क्योंकि-दोनों सूत्र जातिवाचकतामें प्रत्यय कहते हैं; तब पर-ङीन् समान विषयमें पूर्व-ङीष्को बाँध लेगा। अब 'ब्राह्मणी'में नित् होनेसे आद्युदात्त होगा, अन्तोदात्त नहीं। इसलिए अथर्व. ५।१८।१२, १६।११ में 'ब्राह्मणी'में ङीन् होनेसे नित्त्वप्रयुक्त आद्युदात्त दिया गया है। चारों वेदसंहिताओंमें 'ब्राह्मणी' ङीषन्त अन्तोदात्त नहीं दिखलाया गया। यदि कहीं ङीषन्त ब्राह्मणी आया भी होगा; तो वह 'पुंयोगादा'- (४।१।४८) से 'ब्राह्मणस्य स्त्री' इस पुंयोग अर्थमें होगा, जाति-ङीष् नहीं; क्योंकि वह तो जाति-विषयक पर ङीन्से बाधित होता है। हाँ, पुंयोगलक्षण ङीष् भिन्न अर्थ होनेसे ङीन्से बाधित नहीं होगा। इसलिए काशिका-ने भी लिखा है-'जातिलक्षणो ङीष् अनेन (जातिलक्षण-ङीना) बाध्यते, न पुंयोगलक्षणः'। स्वा.द.जीने भी स्त्रैण (१३५ सूत्र)में लिखा है-'यहाँ जातिकी अनुवृत्ति आनेसे पुंयोगमें प्राप्त ङीष्का बाधक यह सूत्र नहीं होगा।' सो 'पत्नी' इस पुंयोग-अर्थमें 'पुंयोगात्' ङीष् होगा, 'जातेरस्त्री' वाला ङीष् नहीं।

इसपर टं. प. के सम्पादकजीने जो लिखा है—'ब्राह्मणीके दो अर्थ होते हैं, एक ब्राह्मणकी वाणी, दूसरा ब्राह्मणकी पत्नी। पहले अर्थमें ङीन् होता है, दूसरे [ब्राह्मणस्य पत्नी] अर्थमें 'जातेरस्त्री'से ङीष् ही होता है। जातिलक्षण ङीषन्त अन्तोदात्त-ब्राह्मणीके प्रयोग वैदिक-साहित्यमें भरे पड़े हैं'।

यह दोनों बातें गलत हैं। 'ब्राह्मणकी वाणी' कोई जाति नहीं; तब उसमें ङीन् नहीं हो सकता; क्योंकि ङीन्के सूत्रमें भी 'जाति'की अनुवृत्ति आती है। स्वा.द. ने भी उसमें जातिकी अनुवृत्ति मानी है। दूसरा पक्ष भी उनका गलत है, क्योंकि 'ब्राह्मणस्य पत्नी' यहाँ भी जाति-अर्थ नहीं, पुंयोग अर्थ है। पुंयोग अर्थमें 'पुंयोगादाख्यायाम्' (४।१।४८) प्रवृत्त होता है, 'जातेरस्त्री' यह जातिलक्षण ङीष् नहीं। पुंयोग और जाति ये भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। 'पुंयोग' जात्यर्थक नहीं होता; तब उसमें 'जातेरस्त्री' (४।१।६३) ङीष् भी प्रवृत्त नहीं होता। वैदिक साहित्य में 'ब्राह्मणी'में कहीं यदि ङीष् दिखलाई देता है; तो वह पुंयोग वाला होगा; उसे हम भी पहले दिखला चुके हैं, जातिलक्षण ङीष् नहीं होगा। सम्पादकजीने 'ब्राह्मणस्य पत्नी' इस पुंयोग अर्थमें 'जातेरस्त्री' ङीष्की प्रवृत्तिकी प्रतिज्ञा की है; पुंयोग और जाति—यह भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। तभी 'शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः' जातिमें 'टाप्' शूद्रा, तथा पुंयोग अर्थमें 'शूद्री' ङीष् माना है। अतः उनका पक्ष गलत है। यदि उन्होंने अपना पक्ष बदला; तो स्वयं ही उनकी पक्ष-हानि होगी। अथवा कहीं वैदिक-साहित्यमें 'ब्राह्मणी'में जातिलक्षण ङीष् भी हो; तो 'छन्दसि दृष्टानुविधिः' इस सिद्धान्तवश कथञ्चित् मान भी लिया जावे; पर लौकिक साहित्यमें वह अशुद्ध है; क्योंकि जातिलक्षण ङीष् आदि 'ब्राह्मण'के शार्ङ्गरवादिगणके अन्तर्गत होनेसे ङीन् से बाधित हो जाता है।

(१२) टं. प. के सम्पादक 'द्विर्वचनेचि' सूत्रमें श्रीदीक्षित द्वारा 'न पदान्त' सूत्रसे 'न' की अनुवृत्ति मानकर पहले गुण-वृद्धि आदिके निषेध करनेपर उसे भाष्यानभिज्ञ एवं मूर्ख बताते हैं, और भाष्यानुसार परत्वसे गुणवृद्धि करके रूपातिदेशपक्ष ठीक मानते हैं'।

इसपर हम कहते हैं कि-यदि भाष्यकार अपनी शैलीसे किसी बातको लिखते हैं; और कौमुदीकार सुगमतार्थ उसे क्वचित् अन्य शैलीसे कह देते हैं, तो इसमें हानि क्या है ? इसमें काशिकाकार तथा स्वा द.जीका हम भाष्यकारसे भिन्न शैली-वैचित्र्य उदाहृत करते हैं—। 'आख्यातिक' (पृ. ३८७) में स्वामी-ने 'वा यौ' (२।४।५७) सूत्रका अर्थ कौमुदीकारके अनुसार लिखा है—'यु (ल्युट्) हो तो अजधातुको वी विकल्पसे हो। प्रवयणम्, प्राजनम्'।

परन्तु भाष्यकारने इसपर लिखा है—'नेयं विभाषा, किं तर्हि ? आदेशोऽयं विधीयते। वा इति अयमादेशो भवति, अजेर्यौ परतः। वायुरिति'। तब भाष्यसे विरुद्ध उक्त सूत्रकी भिन्न व्याख्या करते हुए स्वा.द.जी क्या भाष्यानभिज्ञ एवं मूर्ख हैं ?। पर हम तो कौमुदीकारका इसमें यह अभिप्राय समझते हैं कि-'वायुः' को 'कृवा' इस औणादिक सूत्रसे उण् और युक् करनेमें अधिक लाघव है। भाष्योक्त प्रकारसे 'यु' प्रत्यय किसीसे प्राप्त नहीं; उसे बाहुलकसे करना पड़ेगा। फिर 'यु' को 'अन' का निषेध बाहुलकसे करना पड़ेगा-यह गौरव है। 'वा' का 'विकल्प'

अर्थ करनेपर 'प्रवयणम्' प्रयोग भी बन जावेगा।

इसी लाघवकेलिए 'द्विर्वचनेचि' से पूर्व ठहरे हुए 'न पदान्त' सूत्रसे 'न' की अनुवृत्ति श्रीदीक्षितने ली; और 'अचः परस्मिन' से 'अचः' की; तथा 'स्थानिवदादेशः' से 'आदेशः' की अनुवृत्ति ली। अब अर्थ हुआ-'द्वित्वनिमित्तेऽचि परे अच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्तव्ये'।

तब चाहे 'अजादेश स्थानिवत्' हो, यह रूपातिदेशपक्ष स्वीकृत कर लिया जावे, चाहे आदेशनिषेधपक्ष मान लिया जावे; फल दोनों स्थान तुल्य है। आदेशनिषेधपक्ष भी भाष्या-रूढ है। देखिये-वहाँका भाष्यका[illegible]ठ-'एवं तर्हि प्रतिषेधः प्रकृतः, सोऽनुवर्तिष्यते। क्व प्रकृतः ? 'न पदान्तद्विर्वचनेति द्विर्वचन-निमित्ते अचि अच आदेशो न भवति' (१।१।५६) इससे 'न' की अनुवृत्ति मान ली गई, 'स्थानिवत्' की अनुवृत्ति नहीं मानी गई। जैसाकि-इस चतुर्थपक्षके स्वीकार-भाष्यपर श्रीकैयटने प्रदीपमें लिखा है—'एवं तर्हीति—। 'स्थानिवदिति नानुवर्तते-इति भावः'। बात भी ठीक है, नहीं तो श्रीपाणिनि 'द्विर्वचनेचि' सूत्रको 'न पदान्त' इस निषेध-सूत्रसे पूर्व लिखते। न लिखनेसे स्पष्ट है कि-श्रीपाणिनिने भी 'द्विर्वचनेचि' को निषेधसूत्र रखा।

यदि यह पक्ष भाष्यमें सर्वथा न होता; तब उससे विरुद्ध आदेशनिषेधपक्षको लिखना श्रीदीक्षितका स्वेच्छाकल्पित कहा जा सकता था; पर अब भाष्यमें उसका मूल मिलनेसे उसे निर्मूल नहीं कह सकते। यदि फिर भी उसे प्रमाणित न माना

जावे; तो आख्यातिकमें स्वा.द.जीने 'अभूत्'में भाष्यकारसे 'भवतेश्चापि [ईट्-प्रतिषेधो] न वक्तव्यः। द्वि-सकारको निर्देशः' इस कथनसे प्रत्याख्यात 'आहिभुवोरीट्-प्रतिषेधः' इस वार्तिकको भाष्यकारसे विरुद्ध प्रवृत्त कर दिया। यदि इसे 'अस्' के 'भू' के लिए माना जावे; तब भी भू धातुपर उक्त वार्तिकका प्रवर्तन ठीक न हुआ; और 'द्विसकारको निर्देशः' इस भाष्यका अनादर करके 'अस्ति-सिचः' का भाष्यप्रोक्त अर्थ न करके उन्होंने क्यों उसके विरुद्ध उक्त वार्तिक प्रवृत्त कर दिया।

इसमें अद्वितीय-वैयाकरण म.म. पं० शिवदत्तजीकी भी साक्षी देखें। वे तत्त्वबोधिनीकी टिप्पणीमें लिखते हैं—'भाष्यकृता प्रत्याख्यातेन 'आहिभुवोरीट्-प्रतिषेधः' इतिवार्तिकेनात्र ईटं वारयन्तो वेदाङ्गप्रकाशकर्तारो भाष्यमर्मानभिज्ञा एव। भाष्ये स्थानिवद्भावदूषणप्रकरणे अस्य वार्तिकस्य पाठाद् आदादिके अस्त्यादेश-भूधातावेव स्थानिवद्भावेन अस्तित्वात् प्राप्तस्य ईटो वारणायैव तद्वार्तिकवचनात्। सिज्निमित्तकवारणाय तदारम्भे तु अगात्, अपात् इत्यादौ ईटो दुर्वारत्वापत्तेर्भाष्योक्तस्य 'विद्यमानादित्यर्थकसकारान्तादिति सिचो विशेषणस्यैव अवश्यमङ्गीकारः करणीयः। आत्थ-इत्यत्र दीक्षितोक्तेरेव स्वयमङ्गीकृतत्वाद् अभूद्-इत्यत्र दीक्षितोपन्यस्तभाष्योक्तप्रत्याख्यानरीत्यनङ्गीकारः, आत्थ इत्यत्र दीक्षितोपन्यस्तभाष्योक्तप्रत्याख्यानरीत्यङ्गीकार इत्यर्धजरतीयत्वाद् हेयैव वेदाङ्गप्रकाशरीतिरिति दिक्'। इस प्रकार-यदि दयानन्दी उक्त भाष्यविरोध सह्य करते हैं; तब श्री-

दीक्षितका 'द्विर्वचनेचि' सूत्रका अर्थ क्यों सह्य नहीं?

फलतः श्रीदीक्षितने आदेशनिषेधपक्षको ही सुगमतासे स्वीकृत किया है, क्योंकि-आदेश करके फिर स्थानिरूप माना जावे; उसकी अपेक्षा आदेशनिषेधपक्ष मानकर पहले ही आदेश न किया जावे-इस पक्षमें लाघव है। विना कारण कीचड़से हाथ काले करके फिर उन्हें धोनेकी अपेक्षा कीचड़को हाथ न लगाना ही ठीक है।

इसके प्रकृतसूत्रके 'आख्यातिक'में दिये गये उदाहरणसे भी हमारी बात स्पष्ट हो जावेगी। 'दधतुः' में पहले स्वा.द.जीने 'धा-अतुः'में 'आतो लोप' (६।१।६४) से 'आ' का लोप करके 'द्विर्वचनेचि' से 'आ' को फिर लाकर द्वित्व किया। फिर दूसरे 'धा' के 'आ' का लोप किया। इससे अच्छा यही था कि-पहले 'आ' का लोप ही न किया जाता। द्वित्वके बाद ही पर 'आ' का लोप कर दिया जाता।

इस प्रकार 'द्विर्वचनेचि'का 'न पदान्त' इस निषेधसूत्रके अनन्तर पढ़नेका लाभ भी सिद्ध हो जाता है कि-यह भी निषेधसूत्र बन गया। सबकी अपनी-अपनी शैलियां वा रुचियां हुआ करती हैं। इस प्रकार 'एधाञ्चक्रे'में भी 'आख्यातिक'में द्विर्वचनका बाधक परत्वसे यणादेश करके उसको स्थानिवत् मानकर पुनः द्विर्वचन होता है' (पृ. १७) इसमें भी वही गौरव है। वहां तो इस लाघवका महाभाष्यकारने चतुर्थपक्षमें स्वयं अङ्गीकार किया है-यह हम पूर्व वह भाष्यपाठ उद्धृत कर ही चुके हैं।

इसपर महान् वैयाकरण तत्त्वबोधिनीकार श्रीज्ञानेन्द्र-सरस्वतीने भी स्पष्ट ही लिखा है-'यद्यपि इह वृत्त्यादौ 'अजादेशः स्थानिवत् स्यात्' इति रूपातिदेशपक्षः स्वीकृतः, फलं च उभयत्र तुल्यम्; तथापि आदेशनिषेधपक्षोपि भाष्यारूढः-इति, स एवात्र स्वीकृतः। किञ्च-'आदेशमङ्गीकृत्य पुनः स्थानिरूपाश्रयणापेक्षया निषेधपरतया व्याख्यानमेव लघु; 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इति न्यायात्। 'न पदान्तेति निषेधानन्तरं पाठोपि एवं सति अनुगृहीत इति श्रेयान् अयं पक्षः'। जब एक विद्वान् वैयाकरणने भी इसका समर्थन किया है, तब इसमें श्रीदीक्षितका भाष्यविरुद्धता नाम देना ठीक नहीं।

परम-वैयाकरण श्रीभैरवमिश्रने भी 'तन्निषेधे' इस लघु-शब्देन्दुशेखरके प्रतीकको लेकर लिखा है—'एवं व्याख्यानेन मूलोक्तं 'द्विर्वचननिमित्ते अचि योऽजादेशः प्राप्तः, स नेति व्याख्यानमेव युक्तम्-इति ध्वनितम्। अतएव 'न पदान्तेति सूत्रानन्तरमस्य सूत्रस्य पाठः साधु सङ्गच्छते। स्थानिवद्भाव-परत्वेन व्याख्याने द्विर्वचनात् प्राक् तत्तदादेशस्य प्रवृत्तिः स्वीकार्या। पश्चात् स्थानिवद्भावेन रूपातिदेशपर्यवसायिना तन्निवृत्तिः कार्या। रूपातिदेशे अचीत्यस्य ज्ञापकता स्वीकार्या। क्लृप्तस्य शास्त्रातिदेशस्य कार्यातिदेशस्य वा त्यागः स्वीकार्यः। 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य' इत्यस्य लोकप्रसिद्धन्यायस्य विरोधश्च स्वीकार्य इति महागौरवमिति भावः'। फलतः दयानन्दीका उक्त पक्ष गौरवग्रस्त होनेसे हेय ही है।

इस प्रकार स्वा.द.के आख्यातिकमें तो 'पिपूर्थ (जु.), लीढासि (अ.), 'सास्मयंते' ('गुणोर्ति'से गुण) वर्वृतामास, वर्वृतिष्यति, स्तरिषीष्ट-स्तृषीष्ट (क्र्यादि), जिगेथ-जिगिथ (पृ. १०२) आदि बहुतसी अशुद्धियां हैं, हमने 'लोकालोक'में उनका दिग्दर्शन करा दिया है। आख्या.के छठे संस्करणमें कई दयानन्दियोंने उन अशुद्धियोंके संशोधनका प्रक्षेप करके स्वा.द.जीकी परमवैया-करणता पर चोट मारी है। उनकी अन्य पुस्तकोंकी अशुद्धियों-का भी हम स्थालीपुलाक-न्यायसे दिग्दर्शन करते हैं—।

(१३) स.प्र.के १म समुल्लास (पृ. ११)में 'न्यायः'की सिद्धि करते हुए स्वामीने लिखा है-'णीञ् प्रापणे' इस धातुसे 'न्याय' शब्द सिद्ध होता है'। कितनी व्याकरणानभिज्ञता है। ऐसा माननेपर 'नाय' बनता है, 'न्याय' नहीं। यहां तो 'परिन्यो-र्नीणोर्द्यूताभ्रेषयोः' (३।३।३७) से निउपसर्गपूर्व इण् धातुसे घञ्में रूप बनेगा-'नियमेन ईयते-इति न्यायः'।

(१४) 'सविता'में स.प्र. (पृ. ७)में सुनोति और सूते धातुका प्रक्षेप किया गया है, सो ठीक नहीं। यह धातुएँ, अनिट् वा वेट् हैं। वेद 'सविता'में 'षू प्रेरणे' धातुका प्रयोग मानता है 'सुवतु-प्रचोदयात्' आदिरूपमें। यह नित्य इट्वाली धातु है-इस धातुका उक्त प्रयोग है। इस विषयमें 'आलोक' (५) पृ. १७३-१७६ देखना चाहिये।

(१५) स.प्र. (पृ. १२)में 'महादेवः'का विग्रह 'महतां देवः' किया है, ऐसा होनेपर समानाधिकरणता न होनेसे आकार नहीं

हो सकता; 'महद्देवः' बन जायगा। 'यह विग्रह नहीं है' यह वादीका बहाना ठीक नहीं; फिर संस्कृतमें लिखनेकी क्या आवश्यकता थी, हिन्दीमें अर्थमात्र लिख देते। 'महा' यह प्रकृत्यन्तरकल्पना अपाणिनीय है; आनुमानिक होनेसे व्यभिचारिणी है। स्वा.द.जीने पाणिनिसे भिन्न व्याकरणोंको कभी आश्रित नहीं किया। वेदमें 'महा' यह 'छन्दसि तु दृष्टानुविधिः' को चरितार्थ करता है, लोकमें वह गृहीत नहीं। (१६) 'वरेण्यं-वर्तुमर्हम्' (स.प्र. ३ पृ. २१) यहां 'वरीतुं' चाहिये। अनित्यताके समाधान 'न ह्येषा इष्टिः' इस भाष्यवचनसे बाधित हैं। इस प्रकार 'दीव्यते' आदि अन्य भी अशुद्धियां हैं।

(१७-१८) अब कुछ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकाकी अशुद्धियां भी दी जाती हैं—'ईश्वरस्य सहायेन प्रयत्नोऽयं सुसिध्यताम्' यहां 'साहाय्येन' चाहिये। अन्तरेणापि भावप्रत्ययं गुणप्रधानो भवति निर्देशः' यह भाष्यकथन एकदेशी है; नहीं तो 'तस्य पाण्डित्यं सुप्रसिद्धम्'के स्थान 'तस्य पण्डितं सुप्रसिद्धम्' पाठ भी ठीक हो जावे। 'सिध्यताम्' यह आत्मनेपद भी अशुद्ध है। (१८) 'प्रेरयित्वा' (पृ. १८) यहां 'ल्यप्' चाहिये। कई किये जानेवाले समाधान 'न ह्येषा इष्टिरस्ति' इस भाष्यवचनसे बाधित हैं। (१६) 'विधत्तः' (पृ. ३६) यहां क्तमें 'विहितः' चाहिये, 'दा'को तो 'दद्'का विधान है, 'धा'को नहीं। (२०) 'प्रतिपादितुम्' (शता. पृ. ३३) यहांपर इट् होनेसे णिका लोप नहीं हो सकता। (२१) 'मित्राणि' (पृ. ७६) शाखापत्र (पृ. ४०४) इन प्रयोगोंमें 'त्'का लोप नहीं हो सकता।

इस प्रकार 'आशीर्ददाति, सन्तानानि, कुर्याविहि, अयमाशीर्वाद ददामि, संस्कृता-प्राकृताभ्यां यद्' न्यायेति, मातृपितृ आदि वादियोंके शब्दोंमें अद्वितीय-व्याकरणद्रष्टा स्वामीकी [illegible] अशुद्धियाँ हम 'लोकालोक'में दिखला चुके हैं। हम स्वा.द.जीकी यह अशुद्धियां दिखलाना न चाहते थे; पर इन दयानन्दियोंने हमें वैसा करनेको विवश किया है।

यदि यह कहा जावे कि—'स्खलनं हि मनुष्यधर्मः' इस न्यायसे स्वा.द.जीसे यह भूलें हो गईं, यह हम भी मानते हैं। तब इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि—जो स्वामीजीने अपने 'वैदिक-सिद्धान्त' रखे हैं; वे भी स्खलनमूलक हो सकते हैं, अतः वे सभी ठीक हों, यह आवश्यक नहीं। उनमें भी वे स्खलित हो गये। जो दयानन्दी विद्वान् स्वामीजीकी भूलें देखकर इन वेदाङ्ग-प्रकाशोंको स्वा.द.जीसे बनाया हुआ नहीं मानते; तब क्या वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि—स्वा.द.जीसे भूलें हो ही नहीं सकतीं? ऐसा सम्भव नहीं; इसलिए उन्हें 'व्याकरणके सूर्य' आदि बताना—यह सब व्यर्थकी बातें हैं।

उनके अनुयायी यह सब इसलिए करते हैं कि—कहीं स्वा.द.जीकी हम लोगोंसे बनाई 'दुकानदारी'को धक्का न लगे, और चेलोंके पेट भरते चलें। यदि वे पुस्तकें स्वा.द.जीसे नहीं बनाई गई हैं, किन्तु उनके शिष्य श्रीभीमसेनजी द्वारा बनाई गई हैं; जो बादको सनातनधर्मी होगये थे; और उनने स्वामीजी की गलत बातोंका खण्डन किया; तो फिर यह समझना पड़ेगा

कि-सत्यार्थप्रकाश तथा ऋभाभू. आदि अन्य पुस्तकें भी स्वा.द.-जीकी बनाई हुई नहीं हैं, किन्तु श्रीभीमसेनजी आदिकी बनाई हुई हैं। अब यह दयानन्दी-साहित्य दयानन्दजीका न होकर श्रीभीमसेनजी आदिका ही मान लेना चाहिये। श्रीभीमसेनजीको ही आर्यसमाजका सर्वे-सर्वा मानना चाहिये। क्या आर्यसमाज इस घोषणाकेलिए तैयार है? पर श्रीभीमसेन-जी जब इसे भ्रम समझकर छोड़ गये; और स.ध.की शरणमें चले गये; अब आर्यसमाजियोंको भी इस भ्रान्त-साहित्यको छोड़कर स.ध.की शरणमें आ जाना चाहिये। सम्भव है, कहीं-कहीं हम भी गलतीमें हों; पर तथाकथित महर्षिकी गलती तो न होनी चाहिये। इस प्रकार दयानन्दी-पथिककी पुस्तक समाप्त होनेसे हम उसका प्रत्युत्तर भी समाप्त करते हैं।

जो कि वादीकी पुस्तकके सम्पादक हमारे 'विद्यार्थी'जीने यह हम पर दोष लगाया है कि-आप अपनी पुस्तकोंका मूल्य लागतके दुगनेसे भी अधिक रखते हैं, वैसे पुस्तककी लागत दानियोंसे प्राप्त कर लेते हैं'। यह लिखा देखकर हमें भी हंसी आ गई। वादीसे सम्पादित उक्त पुस्तककी पृष्ठसंख्या २३२ है, सिलाई भी जुजबन्दीकी नहीं है, जिल्द भी उसपर नहीं है। दाताओंसे उसे ६५०) मिले हैं, पुस्तकका खर्च उसका ६००) है। दाताओंसे सारा मूल्य प्राप्त करके भी उनने पुस्तकका मूल्य २) रखा है; और कहते हैं कि-यह लागतमात्र है। अब वह बतावे कि-उसने अपना दोष भी हम पर थोप दिया है, वा नहीं?।

एक सहस्रके लगभग पृष्ठवाली, तथा जुजबन्दीकी सिलाई, और सजिल्द, सुन्दर छपाई-सफाई वाली, जो रखनेका स्थान न होनेसे थोड़ी संख्यामें छपती है, विशेष-विद्वानोंके पास अमूल्य भी जाती है। स्थायी ग्राहकोंको ¼ कमीशन भी दिया जाता है; आक्षेप्ताको हम कमीशन भी देते हैं; सरकारी पुस्तकालय ५-६ कापियां अमूल्य ले लेते हैं, जिनका डाकखर्च भी हम लगाते हैं, तब उनका मूल्य लागतके मूल्यसे दुगना कैसे है-यह वह हिसाब करके बतावे। बल्कि इसमें तो ग्रन्थमालाको घाटा पड़ता है; फिर भी वादी अपना दोष हम पर ही देता है, 'किमाश्चर्यमतः परम्।'

वस्तुतः इन लोगोंका काम ही सनातनधर्मियोंको कलङ्कित करनेका रहता है; इसलिए यह कई कलङ्क लगाते हैं, गालियां देते हैं, चालाकियोंके हथकण्डे अपनाते हैं, परन्तु विद्वान् एवं अनुभवी तो जान ही जाते हैं कि-इनका रहस्य क्या है। पर भोले लोग इनके सब्जबागोंको देखकर इनके षड्यन्त्रोंमें जा फँसते हैं; तथापि हम इन प्रतिपक्षियोंको धन्यवाद देते हैं कि-यह हमें शास्त्रचर्चाका अवसर देते हैं; पुराने दयानन्दियोंकी परिश्रमसे बनी हुई-पुस्तकोंके सनातनधर्मपर किये गये आक्षेपों-को-जो हमारे पास नहीं थे; उनसे दुहकर हमारे सामने विचारार्थ उपस्थित कर रहे होते हैं; और हम उनसे छिपाये हुए पूर्वापर-प्रकरणको जनताके सामने रखकर इनके उन षड्यन्त्रोंको छिन्न-भिन्न कर देते हैं, जिससे जनता इनके यथार्थ-रहस्यको

समझ जाती है। हम परमात्मासे प्रार्थना करते हैं कि इन्हें सुमति-प्रदान करें, जिससे यह लोग छल-कपट एवं असभ्यतासे गालीगलौज आदिका प्रयोग करके भोली-भाली जनताको पथभ्रष्ट न करें।

परिशिष्ट—हमने पृ. ५७६-५८६में स्वा.द.जीकी 'आख्यातिक' की व्याकरणकी अशुद्धियां दिखलाई थीं। उसपर एक दयानन्दीने फिर टं.प.में कुछ लिखा है। उसने स्वा.द.जीकी तथा अपनी बहुत-सी अशुद्धियोंका प्रत्युत्तर न देकर उनको मान ही लिया। टं.प.के सम्पादकजीने भी टिप्पणीमें माना कि—आख्यातिक-आदिमें अशुद्धियोंकी शुद्धताका आग्रह नहीं करना चाहिये। उनकी अशुद्धियोंका कहाँ तक समाधान किया जायगा? शुरूमें ही देखिये—बभूविथ, बभूविवमें स्वामीने 'बभूव्-थ, व'में पहले वुक् करके फिर इट् किया है, कितनी अशुद्धि है? 'चक्लृम्महे, चक्लृब्महे, जुगुब्व-जुगुम्म'में उनका अनुनासिक और जश्त्व कर देना कितनी भारी भूल है? अपने अष्टाध्यायी-भाष्यमें 'इण्' प्रत्याहारके उदाहरणमें 'इणो यण्' सूत्र दे दिया, जबकि इसमें इण् धातु है, प्रत्याहार नहीं। अशुद्धि सिद्ध होनेपर स्वा.द.के लेखमें 'स्वार्थियों द्वारा प्रक्षेप' कह देना यह वादीके पक्षकी निर्बलता है। यह 'अर्णुवन्ति, लेयात्' आदि अशुद्धियां उनके आदिम संस्करणसे शुरू करके ५म संस्करण तक हैं; अतः वादीकी उक्त बात कहनी उसके पक्षकी निर्मूलताका प्रमापक है।

(१) 'अर्णुवन्ति'में जबकि हमने 'तनादि ऋणु' धातु स्पष्ट

लिख दी थी; तब उसे 'ऊर्णु'का प्रयोग लिखना यह शा[...] जनताकी आंखोंमें प्रत्यक्ष धूलिनिक्षेप है। छठे संस्करणमें [...] उसे ठीक कर दिया गया है, इससे स्वामीजीकी अशुद्धि सिद्ध होगई। (२) 'सुषुविषे'में टं.प.के सम्पादकजीने भी भा[...] कारानुसार 'श्युकः'की प्रवृत्ति मानी है, तब भी वादी कट [...] (३) 'द्विर्वचनेचि'में वादीने भाष्यका उद्धरण व्यर्थ ही दिया [...] जबकि हमने भी लिखा था—इसमें स्थानिवत्पक्ष भी है, आदे[श] निषेधपक्ष भी। आदेशनिषेधपक्षका भाष्यने कहीं खण्डन न[हीं] किया है; हां, 'स्थानिवत्'को 'ज्यायः' अवश्य कहा है; [...] चतुर्थपक्षका खण्डन नहीं किया। यदि इसे भाष्यविरोध [...] मूर्खता माना जावे; तो 'वा यौ'का भाष्यविरुद्ध अर्थ करते [...] उसे अपने स्वामीजीको भी 'मूर्ख' कहना पड़ेगा। (४) [...] स्वर'में यदि 'क्ङिति' की अनुवृत्ति आने-न आनेके विषयमें [...] पक्ष हैं; पर स्वा.द.ने तो केवल 'क्ङिति' ही रखा है, तब '[...] और 'जोजूर्ति'में उनका उक्त सूत्रका प्रवर्तन अशुद्ध हुआ, [...] नहीं? पहले वादी भी अनुवृत्ति मानता था; अब हमारा [...] मानकर अपनी अशुद्धि भी उसने मान ली। (५) ममार्ज-ममा[...] स्वा.द.जीकी अशुद्धिको भी वह भाष्यसे शुद्ध न कर स[का]। (६) इस प्रकार लेयात्-लायात्, (७) ब्राह्मणी आदिकी स्वा.द.[...] अशुद्धिको भी वह शुद्ध न कर सका। यहाँ स्थान न होनेसे अधिक नहीं लिखा जा सकता। यदि आवश्यकता देखी गई [तो] आगे किसी टिप्पणीमें लिखा जा सकेगा। अब हम 'परि[...]

भ्रम'का उपसंहार करते हैं।

यदि वादी कई कठोर-शब्दोंसे घबराएँ; तो उन्हें याद रखना चाहिये कि-वे भी 'आत्मवत् सर्वभूतानि'का पाठ याद करें। पहल उनकी ओरसे हुआ करती है, फिर हमें वैसा करनेको बाध्य होना पड़ता है। नहीं तो उसका अर्थ यह हमारी असामर्थ्य लगाने लग जाते हैं। पथिकजी अपनी पुस्तक प्रकाशित होनेसे पूर्व हमें मिले थे; और विश्वास दिलाया था कि-हमने इसमें गालियां नहीं रखी हैं; परन्तु पुस्तक देखनेपर फिर वही गालियाँ मिलीं, जिनमें कुछ को हमने दिखलाया है। आशा है कि-आगेसे वादी कोमलतासे लिखेंगे; हम भी उन्हें 'यक्षानुरूपो बलिः'के अनुसार कोमल-व्यवहार करनेका विश्वास दिलाते हैं। अब आगे इस 'कण्टक-शोधन'में अन्य वादीकी शङ्काओं वा आक्षेपोंका समाधान दिया जा रहा है। पाठकगण मनोयोगसे उन समाधानोंका मनन करें।

---

(१२) अवतारवाद-सम्बन्धी शङ्काओंका समाधान

'अवतारवाद पर ३१ प्रश्न' पुस्तिकाके लेखक एक दयानन्दी-का पेशा ही यह रहता है कि कई क्षुद्र निबन्ध (ट्रैक्ट) लिखकर प्रश्नोंके बहाने सनातनधर्म या पुराणोंपर आक्षेप किये जायँ। इससे प्रकाशित सभी स.ध. विरोधी ट्रैक्टोंके आक्षेपोंका प्रत्युत्तर हम 'श्रीसनातनधर्मालोक' (६, ७, ८)में दे चुके हैं।

अब उसके 'अवतारवाद पर ३१ प्रश्न'के उत्तर दिये जा रहे

हैं। प्रश्नोंकी यह ३१ संख्या उसने बलात् बनाई है। इसमें ४, १०, १२, १३, १४, १५, २०, २५, २८, २६ ये दस प्रश्न वादीने उन्हीं पुराने अपने ट्रैक्टोंसे लिये हैं। इनका उत्तर ७म पुष्पमें दिया जा चुका है। शेष प्रश्नों का उत्तर यहां दिया जा रहा है। प्रश्नों में कुछ संक्षेप भी किया गया है।

१ प्रश्न—गीता (४।८)में अवतारके १ साधुओंकी रक्षा, २ दुष्टोंका विनाश, ३ धर्मकी स्थापना काम बताये हैं। इससे गीताने अवतार जांचनेकी कसौटी पेश की है। जिसमें ये तीन काम न हों, वह भगवान् न होगा, मनुष्य होगा। तब बताया जाय कि २४ अवतारोंमें किस-किसने ये तीन कर्त्तव्य पूरे किये? पुराणानुसार तो इनमेंसे किसीने भी ये तीनों काम पूरे नहीं किये।

१ उत्तर—गीतामें अवतारकेलिए धर्मकी ग्लानि, अधर्मका उत्थान, साधुओंका परित्राण, पापियोंका विनाश, धर्मकी स्थापना-ये भी कारण बताये हैं। पर वादीने—'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्' (४।७) गीताके इस श्लोकको छिपा ही लिया! फिर, ये कारण भी दिङ्मात्र हैं। अवतारोंके अन्य भी बहुतसे प्रयोजन हैं, पर ये प्रमुख हैं। अवतार भी अनेक होते हैं, और उनके कारण भी बहुत। वे सभी शास्त्रोंमें सूचित किये गये हैं। किन्तु प्रश्नकर्ता 'साधुओंकी रक्षा, दुष्टोंका विनाश और धर्मकी स्थापना' ये तीन ही अवतारके कारण बताता और कहता है

कि 'कौन व्यक्ति अवतार है और कौन नहीं, यह जांचनेकी कसौटी गीताने पेश की है।' तरस आता है उसकी अज्ञता पर।

वास्तवमें ऐसी बात नहीं। यह कहां लिखा है कि जो इन तीन कामोंको न करे, वह मनुष्य होगा। देवदत्तके जिम्मे तीन काम करनेकेलिए दिये गये हों, और यदि वह तीन नहीं करता, दो ही कर लेता है; तो क्या वह देवदत्त न रहेगा? यदि यज्ञदत्त उनको हल कर ले, तो क्या वह देवदत्त हो जायगा? यदि मत्स्य, कूर्मादिने वादीके अनुसार तीनों काम पूरे न किये, तो क्या वे विष्णुके अवतार न होकर मनुष्य बन जायँगे?

वादी पूछता है कि 'किस-किस अवतारने ये तीनों कर्त्तव्य पाले?' वह याद रखे कि सभीने अधर्मी-दैत्योंको मारकर धर्मकी, वेदकी स्थापना की है, पृथिवीका भार उतारा है। आरम्भिक-अवतारोंने प्रलयके बाद पृथिवीको स्थापित किया है। पृथ्वी होगी, तभी धर्मकी स्थापना भी होगी। उनमें वराहावतारका संकेत कृ.य. तैत्तिरीयारण्यक (१।१।३०)में आता है-'उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना'। 'इयती ह इयमग्रे पृथिवी आस प्रादेशमात्री, तामेमूष इति वराह उज्जघान। सोऽस्याः पतिः प्रजापतिरिति'। यह शतपथ (१४।१।२।११)में आया है।

मत्स्यपु. (२४७।७७)में इसीके यज्ञवाराह, यज्ञरूप (मत्स्य २४७।६७-७०, वायुपु. १५।२७में), विष्णुपु.में (१।४।३२-३६), यज्ञपुरुष (अग्निपु. ४।२) नाम आये हैं। यज्ञकी सारी सामग्री

विशेष-क्रमसे जोड़ दी जाय, तो वह वराहाकी आकृति बन जाती है। इसलिए 'यज्ञो वै विष्णुः' (शत. १।१।२।१३, निघं. ३।१७) यज्ञस्वरूप श्रीविष्णुने वराहावतार धारण किया।

वाराहपु. (६.१५-२७)में लिखा है कि पृथिवीपरसे अग्नितत्त्व-के नष्ट हो जानेसे पृथिवी जलमें मग्न हो गई। यह 'थार्णवे-सलिलमग्र आसीत्' (अ. १२।१।८)में भी कहा है। शीत बढ़ जानेसे सर्वत्र बर्फ हो गई। उसे पिघलानेकेलिए पृथ्वीके उद्धारार्थ दिव्याग्निकी सत्ता आवश्यक थी। यह कार्य प्रजापति-श्रीविष्णुने यज्ञाग्निरूप वराहाकृतिमें अवतीर्ण होकर किया (अध्या. ११, शतपथ १४।१।२।११, तैत्तिरीयसं. ६।२।४२ और वाराहोपनिषद्)। जलका शोषण हो जानेपर पृथ्वी जलसे बाहर ऊपर आ गई (ब्रह्म. ३६।१९-२०) सो वराहावतार दिव्याग्निमें हुत की हुई जलराशि-द्वारा सम्पादित दिव्य यज्ञाग्निके अवतार थे। उन्हींसे पृथिवीपर लुप्त अग्नितत्त्वकी पुनः प्रतिष्ठा हुई, और सूर्य प्रकट हुआ। इससे पृथिवी भी स्थिर हुई।

श्रीविष्णु सत्त्वगुणके प्रतीक होने पर भी उन्हें 'कृष्ण' कहा गया है। इस कल्पको उन्हींके नाम पर 'श्वेतवाराह' कहा जाता है। वाराहने जड़ोंकी खोजमें दाढ़ोंसे पृथ्वीको खोदा, इससे वह बीज होने योग्य बन गई। यही उसका वर+आहार (उत्तम भोजन) समझना चाहिये। इसीलिए वे वराह हुए। जल और कीचड़में जाना वराहमें देखा जाता है; अतएव वही रूप धारा गया। इस वराहके पाद वेद बताये गये हैं, यूप दंष्ट्रा (दाढ़)

बताई गई है (मत्स्यपु. २४७।६७-७०)। उस समय पृथ्वीके उद्धारमें बाधा डालनेवाले हिरण्याक्ष-दैत्यको मारकर उन्होंने 'विनाशाय च दुष्कृताम्' इस गीता-वचनको पूर्ण किया। इस प्रकार शेष अवतारोंमें भी समझना चाहिये।

पुराणानुसार मत्स्यावतारने तो वेदोंके अपहर्ता शंखचूड़का विनाश करके वेदधर्मकी स्थापना की। कूर्मने पृथिवीको धारण किया। उसके धारणसे धर्मकी स्थापना हुई। शेष अवतारोंने पापियोंको नष्ट कर धर्मकी स्थापना की; यह तो प्रसिद्ध है ही। अब वादी स्वयं बतावे कि किस-किस अवतारने धर्मका अभ्युत्थान तथा अधर्म की निवृत्ति नहीं की?

२. प्रश्न—ईश्वरका कार्यक्षेत्र सारा भूमण्डल होता है; पर अवतारोंका कार्यक्षेत्र केवल भारतवर्ष और उसमें भी कुछ थोड़ा सा क्षेत्र क्यों रहा, जबकि मनुष्योंकी आबादी सारी पृथ्वी पर थी?

उत्तर—ईश्वरका कार्यक्षेत्र सारा भूमण्डल ही नहीं, किन्तु सारा ब्रह्माण्ड हुआ करता है। परन्तु विश्वके केन्द्र भूमण्डलकी नाभि भारतवर्ष है, जिसकी प्रकृति पूर्ण है। केन्द्रमें कार्य होनेपर वह समस्त स्थान पर माना जाता है। राजाका राज्य सर्वत्र होनेपर भी उसकी राजधानी एवं कार्यक्षेत्र उस देशके केन्द्रमें ही हुआ करता है। इसीलिए ईश्वरके वेदमें भारतवर्षकी नदियोंका, धान्योंका, देशोंका, पशुओंका नाम तो आता है; टेम्स आदि नदियों तथा यूरोप आदि विदेशोंका नाम नहीं

आता। वेद भी तो भारतवर्षमें अवतीर्ण हुए, भूमण्डलके विभिन्न भागोंमें नहीं। कोई देहलीमें जाता है; तो उसके एक देशमें ही जाता है। फिर भी उसका देहलीमें जाना कहा जाता है। इसी प्रकार यहां पर भी जान लेना चाहिए।

३. प्रश्न—गीताकी कसौटीके अनुसार रामावतारका उद्देश्य भी जगत्-कल्याण सिद्ध नहीं होता। रामका रावणके राज्यभागमें जाकर वहांके शासकों और प्रबन्धकोंको मारना, विवाहकी इच्छासे आई हुई रावणकी बहनके नाक-कान काटनेसे सिद्ध है कि रामने विना कारण रावणसे शत्रुता मोल ली। जब रावणने देखा कि रामने उसके राज्यमें घुसकर उपद्रव करना प्रारम्भ कर उसकी बहनका अपमान किया है, तो उसने जवाबमें सीताका हरण किया। इस छेड़छाड़में आक्रान्ता होनेसे इस युद्धका दोष रामके ही सिर पर आता है। रावण विभीषणके विश्वासघातसे मारा गया। विष्णुने देवी-भागवत (४।१८) में स्वयं स्वीकार किया है कि मैंने दैवयोगसे ही रामावतारमें रावण पर विजय प्राप्त की थी। मैंने रामावतारमें महान् दुःख उठाये थे। पराधीन होनेसे ही मुझे रामावतार लेना पड़ा था। ये सब बातें रामका लोककल्याण-भावनासे स्वेच्छया ईश्वरावतार लेना सिद्ध नहीं करतीं।

उत्तर—बादी इस समय राक्षस-पक्षका हो गया है। वह सीमा रावणके राज्यकी नहीं थी। उसकी सीमा तो समुद्र-पार थी। वहां रामराज्यकी सीमा थी। रावणने इस देशकी सीमामें

आकर यहाँके ऋषि-मुनियोंको खाकर उनकी हड्डियोंके ढेर लगा डाले थे, स्त्रियोंका अपहरण कर लिया था। उसके खर, दूषणादि शासक भी यही कार्य किया करते थे। जब शूर्पणखा अपने विवाहार्थ सीता को खा जाना चाहती थी, तब आतता-यिनी होनेसे उसको दण्ड-विधान आवश्यक था। फिर वादी इसे 'बिना कारण' कहता हुआ क्या शूर्पणखाका भाई-बन्द बनना चाहता है ?

शूर्पणखा विधवा थी और वृद्धा थी, यह रामायणमें स्पष्ट है। वह युवतिका वेष बनाकर आई थी। सीताके रहते राम मुझसे विवाह न करेंगे, यह सोचकर सीताको खा जाना चाहती थी। अतः आततायिनी होनेसे मार डालने योग्य थी। परन्तु स्त्रीका दण्ड 'कर्ण-नासादिकर्तनम्' धर्मशास्त्रमें अनुशिष्ट होनेसे श्रीरामने वैसा ही किया। अतः वादीका कथन खण्डित हो गया।

वादी जो यह कहता है कि 'बहनके अपमानके जवाबमें रावणने सीताका हरण किया, इत्यादि; यह जनताकी आँखोंमें धूल झोंकना है। जब उसकी बहनका दोष था, तब राम आक्रा-मक कैसे हुए ? वस्तुतः रावण सीता पर मोहित होनेसे ही उसे हर लाया था। यह न होता, तो वह भी बदलेमें श्रीरामकी पत्नीका नाकमात्र काटकर चला जाता।

वादीका यह कहना भी कि 'रावण विभीषणके विश्वास-घातसे मारा गया, ठीक नहीं। वह तो अपने कुकर्मोंसे मारा

गया जिसके लिए उसे भ्राताने भी छोड़ दिया था। किसी कविने ठीक ही कहा है—'यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम्। अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति' इस न्यायानुसार चलनेवालेके पशु-पक्षी भी सहायक बन जाते हैं; और बुरे रास्ते पर चलते हुएको सगा भाई भी छोड़ देता है। तब क्या पुण्यात्मा विभीषण पापीके पापका साथी बनकर अपना मारा जाना पसन्द करता, क्या वादी यही चाहता है ?

जो वह लिखता है—'विष्णुने (देवीभा० ४।१८ में) स्वयं स्वीकार किया है कि 'मैंने दैवयोगसे ही रावण पर विजय प्राप्त की थी, आदि, इसका प्रत्युत्तर हम 'आलोक' (७) पृ० ४७६ से ४७८ पृष्ठ तक दे चुके हैं। 'दैव'का भाव अपनी 'देवी-महा-शक्तिका आश्रय है।

४. प्रश्न—देवी भाग० (१।५।५६-६१, ५।१।४७-५०) में लिखा है कि विष्णुका कोई अवतार स्वेच्छासे लोककल्याणके लिए नहीं होता। स्वेच्छया अवतार होना मानने वालोंको मूर्ख बतलाया है। तब क्या सनातनी विद्वान् देवी-भागवतको झूठा ग्रन्थ मानते हैं ?

उत्तर—इसका उत्तर 'आलोक. (७) पृ० ४७४-४७८ में दे दिया गया है।

प्र० ५—गीताकी कसौटीपर श्रीकृष्ण भी अवतार सिद्ध नहीं होते; उनके कार्य भी पारिवारिक-शत्रुताका बदला कंससे लेना व कौरव-पाण्डवोंमें सम्पत्तिके बटवारेमें हुए घरेलू झगड़ोंमें

अपने बहनोई अर्जुनकी मदद करनामात्र था। उनका उद्देश्य भी लोक-कल्याण और गीताकी बताई कसौटीको पूरा करना नहीं था। अपने परिवारका कल्याणमात्र था।

उ० ५—यह वादीका आक्षेप कितना हास्यास्पद है, जबकि भगवान् स्वयं 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति, अभ्युत्थानमधर्मस्य, विनाशाय च दुष्कृताम्' (४।७-८में) अपने अवतार होनेके कारणोंपर प्रकाश डाल रहे हैं। श्रीकृष्णने सैकड़ों दैत्योंको (जिन्होंने भूमण्डलभरमें साधुत्वका गला घोंट रखा था; और आततायी बनकर प्रजाओंको कष्ट पहुँचाना, उनकी लड़कियोंको छीनकर उनको अपनानेके हथकण्डे अपनाना, उसमें सफलता न होनेपर उन्हें जेलखानेमें डाल देना, अवैध हिंसाको अपनाना, प्रजाके लड़कोंको, गौओं एवं ब्राह्मणोंको मार डालना आदि पापकर्म जारी कर रखे थे–) मारकर साधुओंकी रक्षा करके 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' को चरितार्थ किया; और फिर जगत्-भरके आततायियों तथा उनके सहायकोंको दुर्योधनके पक्षमें मिलवाकर उन्हें मरवा दिया, इस प्रकार धर्मकी ग्लानि दूर की। एतदर्थ श्रीमद्भागवत आदि पुराण तथा महाभारतका पारायण करनेसे सब शङ्काएँ दूर हो सकती हैं।

कंस उग्रसेनका लड़का एवं श्रीकृष्णका मामा था; तथापि कालनेमि-दैत्यकी प्रच्छन्न-प्रसूति होनेसे (यह पुराणोंमें स्पष्ट है) अपने पिताको भी जेलमें डालनेवाला तथा गो-ब्राह्मण-बालघाती होनेसे उसको तथा उसके सैकड़ों मुसंडे साथी दैत्योंको मारकर

श्रीकृष्ण-भगवान्ने मथुरा, वृन्दावन, द्वारका, देहली, पंजाब तथा सम्पूर्ण भूमण्डलको निष्कण्टक कर दिया। शिशुपाल, दन्तवक्त्र, जरासन्ध, शाल्व, नरकासुर, कालयवन आदि अनेकों दैत्यों एवं विधर्मियोंको मारकर गीताकी कसौटी पूरी की। इसमें अर्जुनकी कुछ भी सहायता नहीं थी। कंस आदिको किसी पारिवारिक शत्रुताका बदला लेनेकेलिए नहीं मारा था, कंस उनका मामा होनेसे परिवार ही था, न इससे उनके बहनोई अर्जुनकी कुछ मदद हुई, किन्तु 'अभ्युत्थानमधर्मस्य, धर्मस्य ग्लानिर्भवति' इन कारणोंको देखकर उनको हटवानेकेलिए अवतार-ग्रहण किया। पापियोंका भार पृथिवीसे हटाया।

जो कि वादी कहता है कि–'उनका उद्देश्य भी लोक-कल्याण नहीं था' इसपर वादी अपने प्रमाणित श्रीदेवीभा.का वचन सुने। देवी कहती है–'यदुवंशे समुत्पत्तिर्विष्णोरतुलतेजसः।... क्षितिभारसमुत्तारनिमित्तमिति मे मतिः', (४।२०।२-३) 'ततस्तेनाथ शापेन नष्टे धर्मे पुनः पुनः। लोकस्य च हितार्थाय जायते मानुषेष्विह' (४।१२।६)।

'कृष्णका कार्य अपने रिश्तेदारोंका कल्याणमात्र था' यह कहना भी गलत है। श्रीकृष्णने ही तो अपने यदुवंशियोंको भी जब वे पृथिवीका भार सिद्ध हुए थे–उन्हें मरवा डाला। गीता यद्यपि अर्जुनको सुनाई गई थी; तथापि उसके माध्यमसे सम्पूर्ण जगत्का कितना कल्याण किया? उन्हींकी नीतिसे आजके नेता भी जेलखानेको 'कृष्णसदन' मानकर उसमें रहकर

भारतको भिन्नधर्मी-अंग्रेजोंसे स्वतन्त्र करा सके; और उन्हें अपने देशोंमें भिजवाया। कौरवों तथा उनके साथियोंको मरवाना भी अधर्मके दूरीकरणार्थ था। धर्मराज-युधिष्ठिरको राज्य दिलाकर धर्मकी प्रतिष्ठा की। इस प्रकार गीताकी कसौटीसे श्रीकृष्ण अवतार सिद्ध हो ही गये।

९ प्रश्न—श्रीकृष्णने कहा है-हे अर्जुन! युद्धक्षेत्रमें तेरे सभी शत्रु काल-द्वारा मारे जा चुके हैं, तू इन मरोंको मारकर निमित्तमात्र बनकर यश प्राप्त कर ले। जो जन्मा है, उसकी मृत्यु तो अनिवार्य है (गीता ११।३२-३३) इससे कोई भी प्राणी अपनी निश्चित आयुके समाप्त होनेपर ही मरता है, पूर्व नहीं। राम-रावण, कृष्ण-कंस आदि सभी अपनी निश्चित आयु तक जीवित रहे; बाद रामने सरयूमें डूबकर, रावणने युद्धमें मारे जाकर, कृष्णके पैरमें व्याधने बाण मारकर—सभीने अपनी पूर्ण आयु भोगकर मृत्यु प्राप्त की। अब भी रोज़ाना लाखों जीव आयुकी समाप्तिपर मरते हैं; तब ईश्वरावतारकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। तब दुष्टोंके नाशार्थ अवतारकी आवश्यकता सिद्ध करें।

९ उत्तर—कालद्वारा मारनेकी बात कहते हुए वादीने गीताके श्रीकृष्णके इस वचनको जान-बूझकर छिपाया है कि—'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः' (११।३२) 'सर्वे चैते [कालेन मया श्रीकृष्णेनैव] निहताः पूर्वमेव, निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्!' (११।३३) यहां भगवान्ने अपने-आपको

ही उनका काल बताया है। इसी प्रकार 'अहमेवाक्षयः कालः' (१०।३३) 'मृत्युः सर्वहरश्चाहं' (१०।३४) यहाँ भी भगवानने सब प्राणियोंका काल तथा मृत्यु अपनेको कहा है। श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णको 'कालचक्रायुध' (१०।६०।४७) कहा है; तब वादीका कथन स्वयं प्रत्युत्तरित होगया।

अवतार केवल राक्षसोंके मारनेकेलिए ही नहीं होता, किन्तु पृथ्वीका भार उतारने तथा लोक-शिक्षार्थ भी होता है। जैसेकि-श्रीमद्भा.में कहा है—'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं, रक्षोवधायैव न केवलं विभोः' (५।१९।५) यही देवीभागवतमें भी कहा गया है (८।१०।१५)। वादी यह जाने कि—रावण-हिरण्यकशिपु आदिने तो वर द्वारा अमरता प्राप्त कर रखी थी; तब वे अवतारके बिना अन्यसे मारे नहीं जा सकते थे; तब नृसिंह-राम आदि दिव्य मानुषावतारोंकी अवश्य आवश्यकता थी।

शेष वादीसे आक्षिप्त राम-कृष्णकी लौकिक-मृत्यु नहीं कही जा सकती। उन्होंने स्वेच्छानुसार मायिक-मानुषीरूप त्यागकर दिव्य-विष्णुरूप ग्रहण किया। वे अभौतिक थे, भौतिक-शरीर उनका नहीं था, जिससे उनकी मृत्यु मानी जावे। पर जीव कर्मानुसार ही मरता है। अवतारकी मृत्यु नहीं होती, क्योंकि-वह बद्ध नहीं होता, किन्तु नित्य-मुक्त होता है। कर्मबद्ध जीवका कर्मानुसार शरीर छूटना उसके शरीरकी मृत्यु कही जाती है। ईश्वरावतारके बिना अमरताका वर प्राप्त कर चुके हुए तथा अलौकिक-शक्ति प्राप्त कर चुके दैत्य-राक्षसोंको मारनेकेलिए

अवतार (दिव्यादिव्य पुरुष)की आवश्यकता अवश्य ही रहती है।

रामका सरयूमें डूबना कहना वादीका गलत है, इसका प्रत्युत्तर हम 'आलोक' (७) (पृ. २५१-२५२)में दे चुके हैं। व्याधके बाण मारनेसे श्रीकृष्णका पैर बिंध गया था; उससे मृत्यु तो नहीं हुई, उन्होंने स्वेच्छानुसार ही ऐहिक-लीला संवरण की।

प्र० ७—राम वा कृष्णादि किसी भी अवतारने ऐसा कौनसा कार्य किया; जो मनुष्य नहीं कर सकता था, जिसकेलिए उन्हें ईश्वरावतार माना जा सके ?।

उ० ७—राम-कृष्णादिका जब मनुष्यावतार ग्रहण करना दिखलाया है; तो उन्होंने प्रायः मनुष्यों वाले ही कार्य करने थे। जब नाटकमें पुरुष गर्भवती स्त्रीका रूप ग्रहण करता है; तब वैसे ही धीमे-धीमे चलना, अपनी दुर्बलता दिखलाना, पेटका बड़ा होना उसे दिखलाना पड़ता है, तथापि उन (अवतारों)में दिव्यता भी कुछ हुआ ही करती है। उसे अन्य नहीं कर सकता। रावण-जैसे अलौकिक-शक्ति राक्षसको, बिना दिव्य-बलके अन्य जीव कौन मार सकता था ? श्रीकृष्णका भी बड़े-बड़े बलवान् दैत्योंका वध, महाभारत-युद्धमें अल्प-संख्यकोंको जितवाना, ७ वर्षकी आयुमें अंगुलिपर गोवर्धन पर्वत उठाना, दावाग्निका पान, कालिय-नामक भीषण नागके फणोंपर नाचना, १० वर्षकी आयुमें प्रबल-दैत्य कंसको मारना, द्रौपदीके वस्त्र बढ़ाकर उसकी नग्नता बचाना, पृथिवीका भार उतारना अवतारके

अतिरिक्त अन्य कोई नहीं कर सकता था। क्या मनुष्य १६१०८ रानियोंको रख वा उन्हें प्रसन्न रख सकता है ? सबसे दस-दस लड़के वा एक लड़की उत्पन्न कर सकता है ? क्या वादी मच्छ, कच्छ वा सुअर बन सकता है ? वह सुअर बनकर क्या खायेगा ? क्या कच्छ बनकर सारे जगत्को पीठपर रख सकता है ? क्या सुअर बनकर कीचड़में धंसकर प्रलयके जलमें डूबी हुई पृथिवीको बाहर निकाल सकता है ? यदि नहीं, तब अवतारोंके मनुष्यसे असाध्य कार्य भी सिद्ध हो गये।

प्र० ८ महाभारत (सभा. १४।६७)में श्रीकृष्णने कहा है कि-'हम जरासन्धके भयके मारे मथुरा छोड़कर द्वारकाको भाग गये थे'। क्या प्रबल-शत्रुसे डरकर भाग जाना कृष्णके ईश्वरत्वका खुला उपहास नहीं है ?

उ० ८—इसका उत्तर 'आलोक' (७) (पृ. २१४)में आ चुका है।

प्र० ९ श्रीकृष्णके १६१०८ रानियाँ होना क्या कृष्णजीको योगीश्वरके स्थानपर भोगीश्वर सिद्ध नहीं करता है ? क्या अधिक विषयी होना भी स.ध.में योगी होनेकी पहचान है ?

उ० ९—वादी प्रश्न ७ में कह चुका है कि-'श्रीकृष्णावतारने ऐसा कौनसा कार्य किया, जो मनुष्य नहीं कर सकता है, जिसकेलिए उन्हें ईश्वरावतार माना जा सके'। अब वह बतावे कि-मनुष्य क्या १६१०८ रानियां कर सकता है ? यदि नहीं; तब वे अलौकिकतावश ईश्वरावतार हुए या नहीं ? ईश्वरकी तो

सभी जगत्‌भरकी स्त्रियां अपनी हैं, क्या इस बातको वादी नहीं मानता है ? १६१०८ रानियाँ होनी उन्हें योगीश्वर सिद्ध करती हैं, भोगीश्वर नहीं। बड़ेसे बड़ा भोगी भी इतनी रानियां नहीं रख सकता। आजकल एक भी स्त्रीवाला पुरुष उस स्त्रीके तोषणार्थ कितनी वाजीकरण ओषधियोंका सेवन करता है, कुश्ते खाता है, धातुओंकी भस्में खाता है, छुंवारा-बादाम खाता है, कई मुसलोपाक, कौंचपाक, मकरध्वज आदि रसायन खाता है। कई इसीलिए मद्यपान करते हैं, अण्डे चट कर जाते हैं, मांस खाते हैं; परन्तु स्त्रियोंको इन वस्तुओंकी आवश्यकता नहीं पड़ती। हजारों स्त्रियों वालेको यदि वह भोगी है; तब तो उसे भोगके सिवाय और कोई कार्यका समय मिल ही नहीं सकता। युद्धोंमें तो भला वह जायगा ही क्यों ? पर इतनी स्त्रियों-वाले भी श्रीकृष्ण अपनी सभी स्त्रियोंको प्रसन्न रख सके; सब संसारी कार्य भी कर सके, दैत्योंसे युद्ध भी कर सके। सन्तानें भी पैदा कर सके, यह सभी उनकी योगीश्वरताका परिचायक है, भोगीश्वरताका नहीं। 'योगीश्वराः शरीराणि कुर्वन्ति बहुलान्यपि'। योगीश्वर ही बहुत शरीर बनाकर कई कार्य एक साथ कर सकते हैं। यही श्रीकृष्णने अपना पूर्णावतारत्व दिखलाना था—'मौने मौनी, गुणिनि गुणवान्, पण्डिते पण्डितोऽसौ, मूर्खे मूर्खो, युवतिषु युवा, वाग्मिषु प्रौढ-वाग्मी; नारदने यही कौतुक श्रीकृष्णका देखा था और आश्चर्यमें पड़ गया था।

भोगी तो कुछ अधिक स्त्रियाँ होजानेपर कितना व्याकुल हो जाता है; यह बात 'बिलाद् बहिर्बिलस्यान्तः-स्थितमार्जार-सर्पयोः। मध्ये चाखुरिवाभाति पत्नीद्वययुतो नरः' (दो पत्नीवाले पुरुषका वह हाल होता है; जो उस चूहेका होता है, जो बिलमें हो। बिलसे बाहर निकलता है; तो बाहर ठहरी हुई बिल्ली उसे दबोचती है; बिलके नीचे जाता है; तो नीचे ठहरा हुआ सांप उसे खाना चाहता है।) इस पद्यसे स्पष्ट हो रही है। यह सब स्त्रियाँ जो नरकासुरके जेलमें थीं, श्रीकृष्ण-भगवान्‌के शरण आई थीं। श्रीकृष्णका उन्हें सम्भाल लेना उनकी शक्ति-विशेषको सूचित करता है। सो अतिमात्रामें स्त्रियां श्रीकृष्णकी लोकोत्तर-शक्तिशालिता तथा योगीश्वरताकी, अवताररूपताकी परिचायिका हैं। इतनी स्त्रीवाला होना फिर भी राजयक्ष्मासे पीडित न होकर स्वस्थ बने रहना, लोकव्यवहारमें त्रुटि न होने देना उनके योगीश्वरताके परिचायक हैं। अधिक विषयी होना श्रीकृष्णका कभी प्रसिद्ध नहीं रहा। अपनी स्त्रियोंका ऋतुकालमें गमन करना विषयासक्ति नहीं गिना जा सकता।

प्र० १० – नृसिंह-अवतारके वध करने, उसके सर काटने, वा देहकी खाल उतारनेकी घटना (लिङ्गपु. पूर्वार्ध ९६ अ.)में जिसकी इतनी दुर्गति हो, वह ईश्वरावतार कैसे माना जा सकता है ?।

उ० १०—इसका उत्तर 'आलोक' (७) पृ. १६८-१७२, ४८०-४८८ में दिया जा चुका है !

प्र० ११ – मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, हयग्रीव अवतारों-रूपी पशुओं वा जीवोंको ईश्वरावतार कैसे माना जा सकता है, जबकि इन्होंने साधु-रक्षा, दुष्टोंका विनाश एवं धर्मका प्रचार कभी नहीं किया था ? ये जीव-जन्तु बिल्कुल बे-पढ़े लिखे मूक एवं मूर्ख निरे पशु थे।

उ० ११ – वादीके इस आक्षेपसे मालूम होता है कि–इनसे भिन्न राम-कृष्ण आदि अवतारोंने साधुरक्षा और दुष्टोंका विनाश और धर्म-प्रचार किया था, इससे वादीका अपना आक्षेप खण्डित हो गया। मत्स्य-कूर्म आदि अवतारोंको निरा पशु कहना वादीका अपना पशुत्व है। विष्णुभगवान्‌ने यह शरीर तत्तत्कालोपयोगी धारण किये थे। यदि वादी नाटकमें स्त्रीपात्र-का पार्ट पूरा करे; स्तनोंके स्थान चोलीके नीचे गेंदें रख ले, तब क्या वह सचमुच स्त्री बन जावेगा; उसे पूर्वका ज्ञान नष्ट हो जावेगा; जो कि वादी उन्हें बे-पढ़े लिखे एक मूर्ख तथा मूक बताता है ? क्या वह नहीं जानता कि–'विद्वा ँ्सो हि देवाः' (शत. ३।७।३।१०) कि–सभी देवता जन्मसे ही विद्वान् होते हैं; इस विषयमें उसे 'आलोक' (४) देखना चाहिये।

मत्स्यावतारने वेदोंके आहर्ता दैत्यको मारकर वेद बचाए–'वेदानुद्धरते (मत्स्यरूपे), जगन्ति वहते (कूर्मरूपे), भूगोलमुद्-बिभ्रते (वराहरूपे)' तभी तो वैदिकधर्मका प्रचार हुआ। मनुसे मत्स्यावतारकी जलप्लावन (प्रलय)के विषयमें संस्कृतमें बातचीत हुई, यह शतपथब्रा.में स्पष्ट है। क्या महान् देव विष्णुभगवान्‌का

उक्त रूप धारण करनेपर पूर्वका ज्ञान लुप्त हो गया था ? वस्तुतः वादी केवल गालियां निकालनेका अभ्यासी है।

कूर्मने 'जगन्निवहते' पृथिवीको धारण करके उसकी रक्षा की। तब पृथ्वी जीवोंका आधार बनी; तब धर्मकी प्रतिष्ठा हुई। प्रजाकी सृष्टि हुई। तब धर्म किया जा सका। वराह, नृसिंह तथा हयग्रीव आदि अवतारोंने धर्मके विध्वंसक, आततायी हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, हयग्रीव आदि वैदिकधर्मके द्वेषी दैत्योंको मारकर सत्पुरुषोंकी रक्षा की, और 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति, विनाशाय च दुष्कृताम्' इस गीतावचनकी कसौटी पूरी की, 'धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे' इस अपने वचनकी पालना की। वादीकी कलिमल-कलुषित बुद्धिको यह न सूझे; तो इसमें किसका दोष ?

प्र० १२ मोहिनीको क्या इसीलिए अवतार माना गया कि–वह बहुत खूबसूरत औरत थी; और इससे उसने दानवोंको आकर्षित करके उनसे छल करके सारा अमृत देवताओंको पिला दिया, और दानव धोखेमें रह गये थे ? अथवा शिवजीके साथ कामक्रीडा करके उनका शुक्रपात करा दिया, जिससे सोने-चांदीकी खानें बन गई थीं; उसीसे उसे अवतार मान लिया गया ? (भाग. ८।१२)।

उ० १२—इसका उत्तर 'आलोक' (७) (पृ. ३६७-३६८)में दे दिया गया है। यहां दैत्योंसे राजनीति की गई थी। राजनीतिमें छल आदिको नहीं देखा जाता। मायावीसे माया करना वैदिक

राजनीति है। 'त्वं मायाभिरप मायिनोधमः' (ऋ.)

प्र० १३—भागवत (१०।३१।२)में गोपियोंने श्रीकृष्णको 'सुरतनाथ' सम्भोगके पति बताया है। इससे उनके ईश्वरत्वमें कौनसे चार चाँद लगाये हैं?

उ० १३—'सुरतनाथ'का उत्तर 'आलोक' (७) (पृ. २११-२१२)में आ चुका है।

प्र० १४—सती तुलसी वा वृन्दाके साथ उनके पतियोंका रूप बनाकर इन्हें धोखा देकर व्यभिचार करनेपर उन सतियोंके शापोंके कारण विष्णुजीको दण्ड भुगतनेकेलिए अवतार लेने पड़े थे (शिवपुराण); तब लोककल्याणकेलिए विष्णुके स्वेच्छासे अवतार लेनेकी बात स्वयं गलत हो जाती है। क्या सनातनी विष्णु उपरोक्त घटनाओंसे परनारी-लम्पट सिद्ध नहीं होता है?

उ० १४—इस विषयमें उत्तर 'आलोक' (६) (पृ. ४६१-५००)में तथा ७म पुष्प (पृष्ठ १४३-१४६)में आ चुका है। वहां 'देवकार्यार्थमीश्वरः' (शिवपु. रुद्रसं. युद्धखण्ड ४०।२१) देवों तथा जनताके हितकेलिए ऐसा किया गया था; उसमें अपना लाम्पट्य कुछ नहीं था। यहां अपनी इच्छा कुछ भी नहीं थी।

प्र० १५—धर्मसंहिता (अ. १०)में लिखा है कि—'बालस्तु गोपकन्याभिर्वने क्रीडां चकार सः। दश लक्षाणि पुत्राणां गोपालानां ससर्ज सः'। विष्णुके अवतार लेनेका उद्देश्य व्यभिचारकी अतृप्त वासनाओंकी पूर्ति करनामात्र था। अपने शास्त्रकी इस बातको आप गलत क्यों मानते हैं?

उ० १५—धर्मसंहिताका उत्तर 'आलोक' (६) पृ. ५५०-५५१ में आ चुका है कि—यह अर्थवाद है। वहां 'बालोपि गोपकन्याभिर्वने क्रीडां चकार सः' बच्चे श्रीकृष्णकी गोपबालाओंसे क्रीडा बताई गई है। वादी ही बतावे कि—बच्चे-बच्चियोंकी जो छः-सात वर्षके थे जैसे कि—पुराणमें स्पष्ट है—अन्य क्रीडा क्या होगी? यह वह क्रीडा है, जिसे श्रीमद्भागवतमें 'रेमे (चिक्रीड, रमु क्रीडायाम्) रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः' (१०।३३।१७) बताई गई है। सो बच्चेकी अपने प्रतिबिम्बसे अन्य क्रीडा क्या हो सकती है? बच्चा और फिर भोगकी बात करनी विप्रतिषिद्ध बात है। यहां व्यभिचारकी गन्ध भी वादी कैसे सूंघ सका; यह उसके चरित्र पर आक्षेप आता है; आगे धर्मसंहितामें 'दशलक्षाणि पुत्राणां गोपालानां ससर्ज ह' दस लाख गोपालबालोंका 'ससर्ज'से सर्जन कहा है; यहां भी कोई बुरी बात नहीं है। किसी भी पुराणमें बालक श्रीकृष्णका गोप-बालाओंसे बच्चे पैदा करनेका हाल नहीं आता; सो यहां 'ससर्ज'का अर्थ 'सृष्टि की' यह है। जब ब्रह्माजीने गोप-बच्चोंको गुफाओंमें छिपा दिया था; तब श्रीकृष्णने वैसे ग्वाल-बालोंकी अपनी सामर्थ्यसे सृष्टि कर दी और उनसे क्रीडा की—यह देखकर ब्रह्माजी हैरान हो गये—यह वहां आशय है। सो यहां भी व्यभिचारकी कुछ भी बात नहीं। 'लक्ष' शब्द 'अनेक' वाची है।

प्र० १६—भागवत (८।२।४) में लिखा है कि—मत्स्यावतारके

शरीरकी लम्बाई १ लाख योजन अर्थात् आठ लाख मील थी। सो हिसाब लगाकर बतावें कि-हमारी केवल २४००० मील की परिधिवाली पृथ्वीपर वह किस प्रकारसे और कहां रहता होगा?

उ० १६—वेदकी भांति पुराणोंमें भी सहस्र, लक्ष आदि शब्द बहुवाचक आये हैं। यहाँ भी वही जान लेना चाहिये। समुद्र अथाह होता है, पृथ्वी तो थोड़ासा स्थान है, वह तो टापू है, शेष सब समुद्र ही समुद्र है, फिर प्रलयमें तो जल ही जल होता है, शेष पृथिवी भी उसमें डूब जाती है। उस समयमें बड़े परिमाण-वाले मत्स्यावतारका जो अणिमादि-सिद्धियुक्त सूक्ष्मरूपमें थ – होना कोई आश्चर्यजनक नहीं। समुद्रमें 'तिमि' तथा 'तिमिङ्गिल एवं तिमिङ्गिलगिल' मत्स्योंका वर्णन भी आता है। 'अस्ति मत्स्य-स्तिमिर्नाम शतयोजनविस्तरः'। उसका सौ योजन विस्तार आया है, उस मत्स्यको खा जानेवाला तिमिङ्गिल, उसको भी खा जानेवाला तिमिङ्गिलगिल नामक मत्स्य होता है। एक समुद्री ह्वेल मछली ही कई मन दूध देती है। एक जहाज तो उसके मुंहमें आ जावे। तब दिव्य-मत्स्यका क्या कहना?

प्र० १७—स.ध.के मान्य २४ अवतारोंकी सूची पेश करें; और बतावें कि-भागवत १ वा ३ स्क.में जो अधूरी सूचियां अवतारोंकी हैं, उनमें परस्पर-विरोध क्यों है? क्या व्यास अवतारको २४ अवतारोंके नाम भी ठीक-ठीक याद नहीं थे?

उ० १७—इसमें विरोध कुछ भी नहीं है। 'प्रधानेन हि

व्यपदेशा भवन्ति' इस न्यायसे प्रधानोंका नाम गिन लिया जाता है। शेष नामोंकी उपेक्षा कर दी जाती है। यह नहीं कि-सब अवतारोंके नाम याद नहीं थे। १।३।२५ में २२ अवतार कहे गये हैं, शेष हंस और हयग्रीव दो हैं। वे उतने उल्लेखनीय नहीं समझे गये। २४ संख्या पूरी हो गई। अवतार १० भी कहे जाते हैं। असंख्य भी कहे जाते हैं। इसमें कुछ परस्पर-विरोध नहीं हो जाता। दृष्टिकोणकी भिन्नतावश मुख्यता वा अमुख्यता-वश अथवा अवतारके कायकालकी न्यूनाधिकतावश, जिसने अधिक समय लगाया; उस अवतारको गिन लिया गया। न्यून समय वालेको नहीं गिना जाता, एतदादि कारण स्वयं समझे जा सकते हैं; पर तब, जब समाधान-बुद्धि हो। दोषदृष्टिमें बुद्धि बदली हो जाती है।

प्र० १८—जब अवतारका उद्देश्य अत्याचारों व पापोंका विनाश एवं धर्मकी स्थापना होता है; तो जब जिन युगोंमें धर्म अधिक होता है; तब अधिक अवतार क्यों होते हैं; तथा कलियुगमें तीन चरण अधर्मके होते हैं; तब केवल एक अवतार क्यों होता है, जबकि सबसे अधिक अवतार कलियुगमें होने चाहियें?

उ० १८—अवतारका उद्देश्य अत्याचार वा पापोंके विनाश एवं धर्मस्थापना जब वादी मानता है; तो सत्ययुग आदिमें भी तो पाप हो सकता है, क्योंकि-आरम्भमें पिछले युगकी छाया होती है, और कलियुगमें पहले द्वापर युगकी छाया होती है।

हां, यह अवश्य है कि-'ईश्वरा भूरिदानेन यल्लभन्ते फलं किल। दरिद्रस्तच्च काकिण्या प्राप्नुयादिति नः श्रुतिः' (धार्मिक लोग लाखोंके दान करनेसे जो फल प्राप्त करते हैं, गरीब लोग वही फल कौड़ीके दानसे भी पा लिया करते हैं।)

तात्पर्य यह है कि-सत्ययुग पापका गरीब होता है और पुण्यका धनी। उस समय थोड़ा भी पाप वा अत्याचार बड़ा माना जाता है। बड़ा भी पुण्य उसमें थोड़ा ही माना जाता है। कलियुग पुण्यका गरीब और पापका धनी होता है। वहां बड़ा पाप भी थोड़ा ही माना जाता है, थोड़ा पुण्य भी वहां बड़ा माना जाता है। इसीलिए कलियुगकेलिए सत्यनारायणव्रत कथाको भी 'लघूपायोस्ति भूतले' कहकर बड़ा धर्मजनक माना जाता है। हिरण्यकशिपु आदि सत्ययुगमें ही तो थे, जिन्होंने धर्मपर अत्याचार किया था।

हम पहले कह चुके हैं कि-युगमें पिछले युगकी छाया आरम्भमें रहती ही है। अब कलियुगका आरम्भ है, इसमें अभी तक द्वापरकी छाया ही है, असली कलियुग तो आगे शुरू होगा। और फिर पापका धनी होनेसे कलियुगमें यह वर्तमानके पाप वा अत्याचार नगण्य ही होते हैं। ऐसे समयोंमें तो परमात्माकी विभूतियां तथा श्रीशङ्कराचार्य आदि अंशावतार युगकी व्यवस्था समय-समय पर ठीक-ठीक स्थिर रखते हैं। घोर कलियुग तो अपनी चरमावस्थामें होगा; तभी कल्की अवतार भी होगा; और फिर एक युगमें भी चारों युग, भ्रमण

किया करते हैं-इत्यादि बातें स्वयं भी वादीको अपनी बुद्धि बढ़ाकर जान लेनी चाहियें।

प्र० १६—इधर-उधरकी लड़ाई-भिड़ाई करानेवाले नारद ईश्वरावतार कैसे थे? विष्णुजीने उनकी अपने सुन्दर बनानेकी प्रार्थनापर बन्दरकी शक्ल बना दी और विष्णुजी सुन्दर युवक बनकर कन्याको स्वयं वर लाये। विष्णुजीने नारदसे यह दगाबाजी वा मजाक क्यों की; और शादी क्यों न होने दी! अपने ही अवतारके साथ यह हरकत क्या कानून जुर्म नहीं है!

उ० १६—अवतार कई प्रकारके होते हैं। मनुष्य भी छः कलाका कहा जाता है। इससे भी ऊपर ८ कलाके व्यक्ति विभूतियाँ माने जाते हैं। इनसे ऊपर अवतार होते हैं; सो नारद जी भी उसीमें हैं। पापको हटवानेकेलिए पापियोंको वे पापका प्रोत्साहन देते हैं, जिससे पाप निकल ही जाय; क्योंकि-'पतनान्तः समुच्छ्रयः' उन्नतिका अन्तमें पतन ही होता है।

कहते हैं कि-गुड कफको बढ़ानेवाला होता है। जब कफ हो; तो उस समय कफवालेको गुड खिलाना पड़ता है, जिससे 'गुडेन वर्धितः श्लेष्मा सुखं वृद्ध्या निपात्यते' इस न्यायसे हट जावे। यही बात यहाँ भी समझ लेनी चाहिये। शेष जो नारदके विवाहमें उसे बन्दरकी आकृति आदि देनी पौराणिक-इतिहास है-इसमें यह जानना चाहिये कि-इसमें जगत्‌का भविष्यत्‌का लाभ था। यह इतिहास अर्थवाद होते हैं। 'न्यायदर्शन'में लिखा है-'स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः' (२।१।६४) इस

अर्थवादोंके भेदमें पुराकल्प भी होता है, उसका लक्षण यह है—

'ऐतिह्यसमाचरितो विधिः पुराकल्पः' अर्थात् इतिहासके समान जो विधि होती है—यह भूतार्थवाद होता है। इनको तथा परकृतिको अर्थवाद इसलिए कहते हैं कि—'स्तुतिनिन्दावाक्येन अभिसम्बन्धाद् विध्याश्रयस्य कस्यचिद् अर्थस्य द्योतनाद् अर्थवादः' अर्थात् स्तुतिवाक्यसे या निन्दावाक्यसे सम्बन्ध होनेसे विधिप्रतिपाद्य अथवा निषेधशास्त्रसे निषिद्ध किसी सिद्धान्तका प्रकाशन करना ही पुराकल्प तथा परकृतिका प्रयोजन हुआ करता है।

मीमांसामें भी कहा है—'परेण महता पुरुषेण इदं कर्म कृतमिति प्रतिपादकोऽर्थवादः परकृतिः' (अमुक महान पुरुष वा देवते यह कर्म किया—इस बातको बतानेवाला अर्थवाद परकृति कहा जाता है) 'परप्रवक्तृकार्थादि-प्रतिपादकः पुराकल्पः' (अमुक महान् व्यक्तिने यह बात बतलाई है—इसे बतानेवाले अर्थवादको पुराकल्प कहते हैं)। सो अर्थवादमें सभी अक्षरों वा शब्दोंका अर्थ नहीं लिया जाता, वहाँ उसका तात्पर्यमात्र लिया जाता है।

यदि नारद विवाह कर लेते; तो लोक-कल्याण उतना न कर सकते, इधर-उधर आ जा न सकते; और उनके खीझनेसे जो श्रीविष्णुने शाप पाया; उससे भी लोकका कल्याण ही हुआ। इस विषयमें 'आलोक' (७) पृ. २५६-२५७ आदिमें तथा 'यदुवंशे समुत्पत्तिर्विष्णोरतुलतेजसः। भृगुशापप्रतापेन महामाया-बलेन च। क्षितिभारसमुत्तारनिमित्तमिति मे मतिः' (४।२०।२-३) इस श्रीदेवीभागवत पुराणके वचनानुसार जान लेना चाहिये।

प्र० २०—श्रीकृष्णजीने नारदको नारदी बनाकर उसके साथ रमण किया; (पद्म. पाताल. अ. ७५) तो क्या अवतारका अवतारके साथ ऐसा कुकर्म करना ठेठ सनातनधर्म एवं अवतारपनका सबूत है?

उ० २०—इस विषयमें 'आलोक' (७) पृ. ३०६-३०९में देखना चाहिये।

प्र० २१—जैनमतानुसार ऋषभदेव जैनी तीर्थंकर व इतिहासानुसार बुद्धजी बौद्धधर्मके प्रचारक थे। दोनों ही नास्तिक-सम्प्रदायोंके वेद वा ईश्वरके विरोधी लोगोंको (भाग १।३) ईश्वरावतार कैसे माना गया है? क्या वेदधर्मविनाशक-नास्तिक भी अवतार हो सकते हैं?

उ० २१—इसका प्रत्युत्तर 'आलोक' (७) ग्रन्थमालामें पृष्ठ १९३-२०६, ३७६ में देखना चाहिये। यह 'ऋषभ' अन्य थे। बुद्ध भी अन्य थे।

प्र० २२—नर-नारायण दो ऋषि अवतार लेकर युद्ध किया करते हैं, अर्जुन और कृष्ण इन्हींके अवतार थे। इससे श्रीकृष्णजी ईश्वरावतार न होकर ऋषिके अवतार थे। व्यासजीने ईश्वरके कृष्णावतार लेनेका खण्डन क्यों किया है?

उ० २२—नारायण परमात्मा थे; उन्हें भी 'ऋषि' कहा जाता है। इसमें स्पष्टताकेलिए 'आलोक' (७) पृ. ३०२-३०३ में देखिये।

प्र० २३– राम वा परशुराम दोनों अवतार एक ही समय हुए; दोनों आपसमें लड़ पड़े। एक-दूसरेको पहिचान भी न सके।

उ० २३—जैसे व्यापक अग्नि एक होती हुई भी भिन्न-भिन्न स्थानमें प्रकट होनेपर एकसे अधिक भी मालूम होती है, वैसे ही एक समयमें दो अवतार भी माने जा सकते हैं। शेष है एक-दूसरेको न पहचान सकना और लड़ पड़ना–इसपर याद रखना चाहिये कि–वेद भगवान्‌का श्रव्यकाव्य है; उनके सिद्धान्तोंका प्रभाव उतना नहीं पड़ता, जितना कि–दृश्यकाव्य नाटकका। अवतार भगवान्‌के वैदिक-सिद्धान्तोंके दृश्यकाव्यरूपमें होता है। दृश्यकाव्यका श्रव्यकाव्यकी अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ता है। सो नाटकमें दो पात्र एक-दूसरेको पहिचानते हुए भी और मित्र होते हुए भी एक-दूसरेका न पहचानना ही दिखलाते हैं। आपसमें बनावटीरूपमें लड़ भी पड़ते हैं। एक जान-बूझकर कमजोर भी पड़ जाता है, वैसे ही नाटकरूप अवतारमें भी जान लेना चाहिये।

प्र० २४—महाभारतकालमें व्यासजी, कृष्णजी वा बलराम-जी तीन अवतार क्यों एकसाथ पैदा हो गये। एक ही अवतारसे सारा काम क्यों नहीं पूरा कराया गया? क्या अवतार भी घटिया-बढ़िया किस्मके होते हैं? एक विष्णुके एक ही साथ तीन अवतार कैसे बन गये?

उ० २४—पहले हम अग्निके दृष्टान्तसे कह चुके हैं कि–

आवश्यकता होनेपर एक युगमें एक ही समयमें कई अवतार भी हो सकते हैं। घटिया-बढियापन भी उपाधिभेद ही होता है, वास्तविक नहीं। एक ही बिजली नम्बरके भेदसे १००० की शक्तिवाली, १००की शक्तिवाली, २५की शक्तिवाली तथा ज़ीरो भी होती है। एक ही आकाश मन्दिरमें होता है, घरमें होता है, टट्टीमें भी होता है; वह किसीमें भी उत्तम, मध्यम, अधम नहीं बन जाता, किन्तु माध्यमके भेदसे वैसा मान लिया जाता है। जैसे वेदमन्त्र सभी उत्तम होते हैं, पर किन्हींको बहुत अच्छा माना जाता है, किन्हींको मध्यम, किन्हींको साधारण, वैसे यहांपर भी उपाधिभेद ही समझना चाहिये। एक ही अग्नि कहीं सूर्यरूपसे, कहीं विद्युद्रूपसे, कहीं साधारण अग्नि-रूपसे, कहीं चन्द्ररूपसे होती है, कहीं वह मारती है, कहीं वह जीवन देती है, कहीं वह जलाती है, कहीं वह पकाती है, कहीं तपाती है, कहीं वायु पैदा करती है, शीतलता पैदा करती है। लोक-व्यवहारार्थ उस अग्निको कई प्रकारके रूपोंमें होना पड़ता है, वैसे ही 'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। तथा ह्ययं सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च' (कठोपनि. २।५।९) इस न्यायसे कभी भगवान् कई प्रकारके रूपोंमें हो जाते हैं। एक ही विद्युत् हीटरमें अग्निरूप हो जाती है, पंखेमें वायुरूपमें शीतल हो जाती है, लकवा ठीक करनेमें, पुरुषके अन्दर बल पैदा करनेमें ओषधिरूपमें हो जाती है; एक ही गेहूँ मैदारूपमें, अथवा आटेके रूपमें, अथवा सूजी (रवा) रूपमें

हो जाता है; वैसे ही अग्नि वा विद्युत्रूप परमात्मामें भी औपाधिक भेद समझना चाहिये।

२५ प्रश्न—भगवान्के काले बालने देवकीके गर्भमें प्रविष्ट होकर कृष्णावतारका रूप धारण किया (विष्णु. ५।१) (महा. आदि. १९६ अ.) कृष्णजी विष्णु वा नारायण ऋषि इन दोनोंमें किसकी खोपड़ीके काले बालका अवतार थे? बालके अवतार वे ईश्वरावतार कैसे माने जा सकते हैं?।

२५ उत्तर विष्णुपुराणमें श्रीनारायणको भगवान् बताया गया है। 'एवं संस्तूयमानस्तु भगवान् परमेश्वरः। उज्जहारात्मनः केशं सित-कृष्णं महामुने' (५।१।५) वसुदेवस्य या पत्नी देवकी देवतोपमा। तत्रायमभवद् गर्भो मत्केशो भविता पुनः' (५।१।६३) अङ्ग अङ्गीसे पृथक् नहीं माना जाता। क्या स्त्री-पुरुषके अङ्गोंसे उत्पन्न पुरुष उसी गुप्त अङ्गके अवतार माने जाते हैं, वा उसी स्त्री-पुरुषके? यह वादी अपने पर घटाकर समझ ले। इस विषयमें 'आलोक' (७) में हम स्पष्टता कर चुके हैं (पृ. ३०२-३०३)

२६ प्रश्न—सारे अवतार उत्तर-प्रदेशमें ही क्यों हुए। भारतके अन्य भागों वा देशोंमें क्यों नहीं हुए?

२६ उत्तर—उत्तर-प्रदेश ब्रह्मावर्त माना जाता है; वह भारतवर्षका केन्द्र तथा श्रेष्ठ माना गया है। अतः भगवान्ने भी अपने अवतरणकेलिए उसीको प्रायः चुना ?। इसीलिए मनुस्मृतिमें इस ब्रह्मावर्तको सब तरहके आचरणोंके सिखलानेका केन्द्र

माना जाता है। जैसेकि-'एतद्देश-प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः' (२।२०) यह मनुजीका पद्य भारतवर्षके 'ब्रह्मावर्त' भागकेलिए कहा गया है। अवतार भी शिक्षार्थ प्रायः इसी ब्रह्मावर्तमें हुआ करता है।

२७ प्रश्न—सारे अवतार क्षत्रिय-वंशमें ही क्यों हुए? अन्य जातियोंमें क्यों नहीं जन्मे? केवल एक अवतार परशुरामजी ब्राह्मणोंमें पैदा हुए; सो उनको भी रामावतारने परास्त करके निस्तेज कर दिया।

उत्तर २७—अवतार विष्णुके ही होते हैं। वे शासक होनेसे पालक हैं। सो शासन प्रायः क्षत्रिय-वर्णमें ही होता है। परशुराम ब्राह्मण थे; तथापि उनमें भी क्षात्र अंश था, यह पौराणिक इतिहासमें स्पष्ट है। जब परशुरामका कार्यकाल समाप्त होनेको हुआ; तब श्रीराममें ही उनका तेज समा गया। अध्यात्म-रामायणमें 'मत्तेजः पुनरादास्ये त्वयि दत्तं मया पुरा' (१।७।२७) यह श्रीरामने परशुरामको कहा था। समयपर पिताका तेज पुत्रमें आ जाता है; पुत्र पिताका ही एक अंश होता है। इस विषयमें 'आलोक' (७) में पृ. १६९-१७० में देखना चाहिये।

२८ प्रश्न—वाराह-अवतारके मन्दिरोंमें उसकी मूर्तिको उसका स्वाभाविक प्रियभोजन विष्ठा क्यों नहीं भेंट की जाती है?। उसको मीठा-पूड़ी आदि भेंट करके उसका अपमान क्यों किया जाता है? वाराहकी पूजार्थ मेहतरोंको पुजारी क्यों नहीं नियत किया जाता है?

उत्तर २८—यह वराह वनके सूकरका अवतार माना जाता है, फिर भी दिव्य है। वनका सूकर विष्ठा नहीं खाता; किन्तु जड़ें खाता है। भंगियोंवाले सुअरकी आगेकी दाढ़ नहीं होती; पर इस अवतारकी दाढ़ होती है, जिसपर वह पृथिवीको रखता है। अतः यह शङ्का वादीकी अज्ञानपूर्ण है। इस विषयमें विशेष 'आलोक' (७) पृ. ३६३-३६६ में देखना चाहिये। इस निबन्धके १म प्रश्नके उत्तरमें भी हम इसपर प्रकाश डाल चुके हैं, आगे भी।

२९ प्रश्न—शिवजीने वराह-अवतारको मारकर उसका दाँत तोड़ दिया; कूर्मकी खोपड़ी उखाड़ ली। (शिवपु. शतरुद्र सं. ११-१२ अ.) ऐसोंको अवतार कैसे माना जा सकता है, जिनकी दुर्गति शिवने कर डाली?

२९ उत्तर—यह वादीकी पुनरुक्ति है। वाराह-कूर्म आदिके विषयमें हम 'आलोक' (७) में लिख चुके हैं; पाठकोंको वह सप्तम पुष्प मँगा लेना चाहिये।

३० प्रश्न—श्रीकृष्णजी गोलोकमें शिवजीकी गायें चराया करते हैं, (शिवपु. रुद्र सं. २९ अ.); तब क्या कृष्णजीका गायें चराना पुश्तैनी पेशा है, इसके सिवाय उन्हें अन्य कोई धन्धा ही नहीं है?

३० उत्तर—गोलोकमें यदि शिवजीकी गौएँ चराना श्रीकृष्ण-द्वारा लिखा है, उसका भाव यह है कि—'तव (पशुपतेर्महादेवस्य) इमे पञ्च पशवो विभक्ता गावः...' (अथर्व. ११।२।९) इस मन्त्रका देवता 'रुद्र पशुपति' है। इसलिए शिवको 'पशुपति' कहा जाता

है शिव महान् देव हैं। 'गौ' (बैल) उनका वाहन है। गौएँ उसीका अंश हैं। यदि श्रीकृष्णका गोचारण लिखा है, इससे सूचित किया गया है कि—गायकी सेवा करना कर्तव्य है। गायकी विशेषता होनेसे ही उसे वेदमें 'अघ्न्या' कहा जाता है। इसी विशेषताको देखकर वादीके आचार्यने 'गोकरुणानिधि' लिखनी पड़ी। सो शिवपुराणका उक्त कथन 'गो-सेवा'का अर्थवाद है। गो-सेवासे सभी देवताओंकी पूजा हो जाती है। गो-सेवा करते-कराते हुए भगवान् संसारी अन्य कार्योंका भी निर्वाह किया करते हैं। इससे जनताको शिक्षा दी जाती है कि गो-सेवा करनेसे तुम्हें सब ऐश्वर्य मिलेंगे।

३१ प्रश्न—कृष्णका रासकी आड़में परनारियोंके साथ खुले व्यभिचार-क्रम चला करता था (ब्रह्मवै. कृष्णजन्म खं. अ. ; आनन्द रामा. राज्यकाण्ड ३।३०-३१, ४५-४७, ७७) क्या कृष्णके निर्मल चरित्रपर लाञ्छन लगानेवाले इन ग्रन्थोंको शास्त्र मानना कृष्णके प्रति सनातनधर्मकी शत्रुताकी भावना व्यक्त नहीं कर रहा?

उ० ३१—रासक्रीडामें गोपियोंके साथ श्रीकृष्णका व्यभिचार कुछ भी नहीं; किन्तु विशुद्ध-प्रेमकी बालक्रीडा है। वादीने श्रीमद्भाग.का श्लोक देखा ही हुआ है। वहाँ लिखा है—'यथार्भकः स्वप्रतिबिम्ब-विभ्रमः' (१०।३३।१७) यहाँ अर्भक (बालक) की अपनी प्रतिबिम्बसे जैसे क्रीडा बताई गई है, इस प्रकार अर्भक (बालक) श्रीकृष्णकी भी अपने प्रतिबिम्बस्वरूप व्रज-बालाओंसे क्रीडा बताई गई है। अपने प्रतिबिम्बसे बच्चा खेलता

नहीं कर रहा होता; किन्तु क्रीडामात्र कर रहा होता है; तब श्रीकृष्णका अपने प्रतिबिम्बसे मैथुन कैसे हो सकता है? क्या वादी अपने प्रतिबिम्बसे मैथुन कभी कर सकेगा?

सनातनधर्म श्रीकृष्णका शत्रु नहीं है। क्या कभी भगवान्का भक्त भी भगवान्से शत्रुता कर सकता है? विरोधी तो शत्रुता कर सकता है। वादी कई हथकण्डे अपनाकर श्रीकृष्णको कलङ्कित करना चाहते हैं। वे उन्हें केवल मनुष्य बताते हैं। कई छोटी आयुकी व्रजबालाओंको खरी-खासी युवतियाँ बना देते हैं और ७-८ वर्षके श्रीकृष्णको युवा बना देते हैं, यह श्रीमद्भागवतसे विरुद्ध है। करो तुम आक्षेप भागवतपर; और भागवतके कथनको छिपाकर उसमें अपनी कल्पना लादो; यह तो वादियोंका पुराणपर आक्षेपार्थ निष्कारण-द्वेष ही है। भगवान्का अपनी सब स्त्रियोंसे अब भी रमण हुआ करता है, यह कोई बुरी बात भी नहीं है। आशा है-वादी अपने दिमागकी सब गन्दगी निकालकर जब विचार करेंगे; तब कोई भी उनकी अपनी लघु-शङ्का उन्हें बहा नहीं सकेगी, कोई भी दीर्घशङ्का उन्हें दबा नहीं सकेगी। भगवान् तो यह कहते हैं-'न मय्यावेशितधियां पुंसां कामः कामाय कल्पते। भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते' (श्रीमद्भागवत १०।२२।२६) जो मुझमें अपनी बुद्धि लगा दिया करते हैं; उनका 'काम' काम नहीं रह जाता; वह जल जाता है, अंकुर उत्पन्न नहीं कर सकता। धानको भूनकर फिर पृथिवीमें बोनेसे उससे कुछ भी

अंकुर नहीं निकलता।

भगवान्के चरित्र बतानेवाला श्रीमद्भागवतपुराण कहता है—'गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्। योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्' (१०।३३।३६) (जो गोपियों तथा उनके पतियोंके अन्दर भी विचर रहा है, और क्रीडा कर रहा है। 'तद्वत्तेषु तथा तासु सर्वभूतेषु चेश्वरः। आत्मस्वरूपरूपोऽसौ व्यापी वायुरिव स्थितः' (विष्णुपु. ५।१३।६१) तथा समस्तभूतेषु नभोऽग्निः पृथिवी जलम्। वायुश्चासौ तथैवासौ व्याप्य सर्वमवस्थितः (६१) यथावद् वीर्यमालोक्य न त्वां मन्यामहे नरम्। (५।१३।५) 'बालत्वं चातिवीर्यत्वम्' (७) इस विष्णुपुराणके वचनमें श्रीकृष्णको भी परमात्मा तथा अमनुष्य बताया गया है। 'तस्येच्छयात्तवपुषः कुत एव बन्धः' (भा. १०।३३।३५) (जब योगी भी बन्धनमें नहीं आते हैं; तब अपनी इच्छासे शरीर धारण करनेवाला भगवान् भला बन्धनमें कैसे आ सकता है? 'अस्यापि देव! वपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य, न तु भूतमयस्य कोऽपि' (श्रीमद्भा. १।१४।२) भगवान्का शरीर भौतिक नहीं होता, किन्तु दिव्य होता है। तब भगवान् वादीके दुरभिप्रायके विषय नहीं हो सकते। जिस पुस्तकमें जैसी बात लिखी हो; उससे विरुद्ध दुरभिप्राय निकालना यह वादीकी धींगाधींगी है।

आशा है-जब वादी इस बात पर विचार करेगा; तब उसे इन क्षुद्र-पुस्तिकाओंको छपवाकर हिन्दुजातिके दिल दुखानेकी आवश्यकता नहीं रह जायगी। वादीको चाहिये कि-दोषदर्शी वा छिद्रकी उपासना करनेवाला न बनकर हंस बने। तब उसका शुभ होगा। आनन्दरा. में रामोपासकका कृष्णोपासककी ईर्ष्यासे कहा हुआ गलत दोषारोप है; आगे रामोपासकने यह स्वयं स्पष्ट कर दिया है, वादीने उसे छिपा दिया है। इस विषयमें अगले निबन्ध (सं. ५६) में देखो।

(१३) यह पुराणोंपर आक्रमणोंके व्यसनी ।

कई दयानन्दियोंका काम ही यह रहता है कि-वे वैदिक-प्रकाशनके नामसे वेदका कुछ भी न बताकर पुराणोंपर कीचड़ उछाला करें। वे पुराणोंके पारायण केवल दोषदृष्टिसे किया करते हैं। जोंक स्तनसे भी दूध न लेकर बलात् गन्दा लोहू ही निकालकर पीया करती है। इससे उसकी वृत्ति भी बन जाया करती है। अस्तु, अब इस 'कण्टकशोधन'में हम उन पुराण-इतिहासपर किये जाते हुए आक्षेपोंके बलाबलपर कुछ विचार करते हैं। 'आलोक'-पाठक इधर ध्यान देंगे। हम स्वयम् आक्रामक नहीं हैं, पर आत्मरक्षामें हमें अपने पर किये हुए उन आक्रमणोंका प्रत्युत्तर देना ही पड़ता है। यदि इन लोगोंने अपना यह ढंग न छोड़ा; तो हमें भी सीमा-पार करके इनके घरपर भी पहुँचकर इनपर आक्रमण करना पड़ेगा। तब इनकी लोगोंके मुँह स्वयं बन्द होंगे, क्योंकि-इनकी नीति ही ऐसी है-खामखाह दूसरोंको छेड़ते रहना। श्रीपं० माधवाचार्यजी कहा करते हैं; यह लोग 'शान्तिः-शान्तिः'की भाषाको नहीं समझते; प्रत्याक्रमणकी भाषाको ही समझते हैं।

हमारे सामने पौराणिक-गप्पदर्पण, पुराण किसने बनाये, श्रीमद्भागवतसमीक्षा, गीताविवेचन, अवतार-रहस्य, शिवलिङ्ग-पूजा क्यों, गीताविमर्श, गीताका सच्चा स्वरूप, मूर्तिपूजा-रहस्य, आदि कई पुस्तकें पड़ी हैं। इनमेंके बहुतसे प्रमाणोंका उत्तर

'आलोक' (६-७-८)में दिया जा चुका है, बचे-खुचे आक्रमणोंका प्रत्युत्तर इस सुमनमें वादियोंके आग्रहसे दिया जा रहा है। इनमें कई आक्षेपोंका तो हम पृथक् निर्देश करेंगे; पर अधिक स्थान न होनेसे हम केवल उत्तर ही देते चलेंगे, पाठक उसमें स्वयं आक्षेपोंका अनुमान कर लेंगे। अब हम वादियोंके 'पेटन टैंक' तोड़ना शुरू करते हैं। जनता देखे।—

(१) आक्षेप—'षड्विंशतिपुराणानां मध्येऽप्येकं शृणोति यः। पठेद् वा भक्तियुक्तस्तु स मुक्तो नात्र संशयः' (शिवपु. उमासं. १।४१) इससे स्पष्ट है कि-शिवपुराण बननेके समय २६ पुराण थे बादको १८ संख्या निश्चित कर दी गई।

परिहार—(क) शिवपुराण स्वयं पुराणोंका १८ होना बताता है। देखिये-'व्यस्तेऽष्टादशधा चैव पुराणे द्वापरादिषु। चतुर्लक्षेण संक्षिप्ते कृते द्वैपायनादिभिः' (विद्येश्वरसं. २।५८) प्रोक्तं शिवपुराणं हि चतुर्विंशत्सहस्रकम्' (५९)। जब ऐसा है; तब शिवपुराण पुराणोंको २६ कैसे कह सकता है ?

(ख) व्यासजीका पुराणोंसे सम्बन्ध वादी भी मानता है। यह वह याद रखे कि-श्रीव्यासजीका १८ संख्यासे विशेष प्रेम था। तभी तो पुराण भी १८, उपपुराण भी १८, और औपपुराण भी १८ उन्होंने रखे। 'गीता'के अध्याय भी श्रीव्यासजीने १८ रखे, महाभारतके पर्व भी १८। महाभारतकी सेना भी १८ अक्षौहिणी। महाभारत-युद्ध भी १८ दिन हुआ। श्रीमद्भागवतके श्लोक भी १८ सहस्र। अतः पुराणोंकी संख्या भी १८ ही ठीक

है, २६ की कुछ भी तुक नहीं। १८के दो अङ्कोंके मिलानेसे ६ होता है, यह ब्रह्मका प्रतीक है। २६के अङ्कोंको जोडनेसे ८ अङ्क होता है, जो मायाका प्रतीक है, जो (माया) आठके पहाड़ेकी तरह घटती-बढ़ती रहती है; पर नौ के पहाड़ेके अङ्कोंकी भांति ब्रह्म भी पूर्ण रहता है, तब ब्रह्मके बोधक पुराण भी १८ ठीक हैं।

(ग) शिव.उमासं. (१।४१) का पद्य तो 'संमुखे शंकरं दृष्ट्वा' है, 'षड्विंशतिपुराणानां' नहीं। इस अध्यायमें पुराणोंकी संख्या-का कोई प्रकरण ही नहीं है। उमासं.के ४४वें अध्यायमें १८ पुराणोंका ही श्रीव्यासद्वारा प्रकाशन आया है। जैसे कि-'एवं लब्धवरो व्यासो महेशान्मध्यमेश्वरात्। अष्टादश पुराणानि प्रणिनाय स्वलीलया' (११६)। फिर उन १८ पुराणोंके नाम १२०-१२२ पद्योंमें आये हैं। उन १८ पुराणोंका परिचय तथा निर्वचन ४४।१२५ से १३५ पद्य तक उमासं.में आया है। तब शिवपुराणके समय २६ पुराण थे, पीछे १८ निश्चित कर दिये गये, यह बात वादीकी ठीक सिद्ध न हुई; क्योंकि-इसमें कोई अन्य साक्षी नहीं।

(घ) हां, उमासं. (१।६५) में यह पद्य अवश्य मिलता है-'षड्विंशकमिति ख्यातं' सो यह पद 'षड्विंशकम्' शिवका विशेषण है। सांख्यमें २५ तत्त्व माने गये हैं। उनमें २५वां तत्त्व 'पुरुष' है—'न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' (सांख्यकारिका ३) वहां पुरुषसे आत्मा विवक्षित है; परमात्मा नहीं। अतः कई लोग सांख्यको 'निरीश्वरवादी' मानते हैं, और उसे तामस-

दर्शन भी कहते हैं। जैसे कि पद्मपुराण (उत्तर. २३६।१२)में स्पष्ट है; पर यहां शिवपुराणमें आस्तिकता इष्ट होनेसे शिवको २६वां तत्त्व (परमेश्वर) बताया है।

(ङ) अथवा-यह पुराणोंमें प्रसिद्ध है कि-प्रत्येक कल्पके प्रत्येक द्वापरमें विभिन्न व्यास पुराणोंका संस्करण किया करते हैं। इस श्वेतवाराह-कल्पमें २८ द्वापर बीत चुके, सो पुराणोंके संस्करण भी २८ हो चुके; पर यह शिवपुराणका वचन २६वें द्वापरका हो; तो उन पुराणोंके एक-एकका २६ वार संस्करण हो चुकनेसे शिवपुराण भी एक प्रकारसे २६ हो चुके हों, उनमें एकके भी भक्तिपूर्वक पढ़नेसे मुक्ति होती है-यह पुराणके उक्त वचनका अभिप्राय हो-यह भी सम्भव हो सकता है। मुसलमानी क्रूर आक्रमणसे हमारे साहित्यका पर्याप्त विनाश हो चुका। उसमेंसे बचे-खुचे पुराणोंके संस्करण-किसी पुराणका कोई-सा संस्करण, किसीका दूसरा संस्करण हमें मिल रहा हो, इसमें असम्भव कुछ भी नहीं; इसी कारण पुराणोंमें स्वयं कल्पभेद कई बार दोहराया जाता है। अतः इस दूरके दृष्टिकोणको अपनानेसे भी हमें संगतिका प्रकाश-किरण मिल सकता है। केवल खण्डनात्मक दृष्टि वा अश्रद्धा रखनेसे एतदादिक रहस्य नहीं सुलझ सकते। श्रद्धासे ही सत्यकी प्राप्ति होती है-'श्रद्धया सत्यमाप्यते' (यजुः माध्यं. १९।३०) (च) वस्तुतः वादीका आक्षिप्त पद्य उमा सं. १।४१ में न होकर १३।४१ में है; पर वहाँ पूर्वापर-प्रकरणमें कहीं उन २६ पुराणोंके नाम नहीं दिये गये; अतः

यह यहां लिपिकरका लेखन-प्रमाद ही प्रतीत होता है। जबकि वेदकी आठ विकृतियों (जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दण्ड, रथ, घनपाठों) से पर्याप्त रक्षा करनेपर भी अब भी उसमें कई पाठभेद मिलते हैं; तब असुरक्षित पुराणोंमें लिपिकरोंके प्रमाद-से कहीं-कहीं पाठभेद रह गया हो; तो इसमें क्या असम्भव है ?

यदि शिवपुराणके समय २६ पुराण होते; तो उसमें अन्यत्र भी कहीं इस कथनकी आवृत्ति आती; क्योंकि तात्पर्यनिर्णायक छः लिङ्गोंमें अभ्यास (आवृत्ति) भी एक लिङ्ग होता है। ग्रन्थकार अपने सिद्धान्तको कई बार आवृत्त करता है-यह स्वाभाविक है। पर पुराणोंकी संख्या २६ है-इस विषयमें अन्य कहीं आवृत्ति नहीं आई। जब तक वादी कमसे कम अन्य तीन-चार स्थलोंमें पुराणोंकी २६ संख्याका निर्देश न दिखलावे; तब तक उसका पक्ष असिद्ध ही रहेगा।

वहाँपर 'अष्टादश-पुराणानां मध्येऽप्येकं शृणोति यः' यह पाठ हो; इसमें न तो कोई छन्दोभङ्ग है; और न ही कोई अन्य पूर्वापर की असङ्गति दीखती है। अतः 'षड्विंशतिपुराणानां' में लिपिकरका प्रमाद स्पष्ट है। 'पहले पुराण २६ थे; फिर १८ कर दिये गये' इससे न तो कोई हमारी पक्षहानि है; और न ही वादीकी कुछ इससे इष्ट सिद्धि है। पुराणोंका जन्म-सिद्ध विरोधी वादी जो १८ पुराणोंसे भी सन्तुष्ट नहीं; क्या वह २६ पुराणोंसे सन्तुष्ट होता ?

(छ) अथवा सम्भव है कि शिव-सम्बन्धी पुरातन वृत्तको

बतानेवाले कई २६ ग्रन्थ रहे हों, वे ही वहां विवक्षित रहे हों। अथवा 'षट्त्रिंशति-पुराणानां' पाठ हो: वहाँ १८ पुराण, १८ उप-पुराण मिलाकर ३६ संख्या कही गई हो। फलतः प्रतिपक्षी जबतक भिन्न-भिन्न पुराणोंमें, अथवा उसी शिव-पुराणमें जब तक 'षड्विंशति-पुराणानां' जैसा पद्य कमसे कम ३-४ स्थलोंमें न दिखलावेगा; तब तक उसका पक्ष असिद्ध ही रहेगा।

(२) पूर्वपक्ष— भागवत (१२।८), देवीभागवत (१।३), पद्म (उत्तर, २३६), ब्रह्मवैवर्त (कृष्ण खं. १३१), मत्स्य (अ. ५३), भविष्य (प्रतिसर्ग, ३।२८) आदि पुराणोंमें १८ पुराणोंके नाम भिन्न-भिन्न हैं। कहीं शिवपु.के स्थान वायुपु.; कहीं नारदके स्थान नृसिंह, आया है। श्लोक तथा अध्याय-संख्यामें भी गड़बड़ी है। (ख) भागवतके १८ सहस्र (१२।१३।९७) श्लोकोंमें १४१८०. पद्य मिले हैं, ३८२० पद्य निकाल डाले गये हैं। (ग) इसके कर्ता भी वोपदेव हैं' (स.प्र. ११ पृ. २१४) 'स.ध.के विद्वान् स्वर्गीय पं० अखिलानन्दजीने भी (दया. दि. १०८७ में) यही माना है (भाग. समी. पृ. २५-२६)। पुराणोंके आधारपर यह नामभेदका कारण क्या कोई पौराणिक विद्वान् बता सकता है ?

उत्तर पक्ष—(क, ग.) यह तो वादीने बच्चोंकी सी लघुशङ्का की है। वेदकी रक्षा आठ विकृतियों (पद, जटा पाठादि) द्वारा की गई है; तथापि उनमें भी कहीं पाठभेद, तथा मन्त्रसंख्याभेद अब भी मिलता है; कहीं मण्डल हैं, कहीं अष्टक। ऋ.में यदि एक पूरा सूक्त है; तो अथर्व.में उसीके दो सूक्त बने हुए हैं।

श्र.में किसीमें 'बालखिल्यसूक्त हैं, किसीमें नहीं। साम.में भी कई ऐसे भेद हैं। अथर्वमें कहीं सूक्त-संख्याके पर्यायोंमें भेद है; तब अरक्षित पुराणोंमें भला ऐसा असम्भव कैसे हो? किसी एक पुराणका पाठ अन्य पुराणमें चला गया हो, यह भी सम्भव है; यही पद्योंकी न्यूनाधिकताका कारण हुआ करता है।

(आ) आक्षेप्ताको ज्ञान रखना चाहिये कि-एक ही पुस्तकके भिन्न-भिन्न संस्करण भी हो जाते हैं। वहाँ कहीं नामभेद, तथा पृष्ठसंख्याभेद, पाठक्रमभेद एवं ग्रन्थवृद्धि हो जानेसे ग्रन्थपरिमाण-भेद भी हो जाया करता है। इसमें अनुपपत्ति वा भिन्नकर्तृकता नहीं हो जाती। इसी आक्षेप्ताका 'शिवलिङ्गपूजारहस्य' मार्च १९५६ में निकला था; फिर उसीका द्वितीय-संस्करण 'शिवलिङ्ग-पूजा क्यों?' इस नामसे १९६० में निकला। पहलेका मू० ।।≈) और दूसरेका १≈) है। वस्तु वहीकी वही, कुछ पाठ आगे, कुछ पीछे कर दिया, कुछ वृद्धि कर दी, कुछ घटा दिया; केवल नामका भेद है। तब क्या इन संस्करणोंके कर्ता भिन्न-भिन्न हो जाएँगे? अथवा उसमें अन्य-द्वारा प्रक्षेप वा परिवर्तन मान लिया जायगा?।

(इ) श्रीकालिदासके अभिज्ञानशाकुन्तलके दो संस्करण मिलते हैं; एक छोटा, दूसरा मोटा। ऐसे परिवर्तनोंसे भिन्न-कर्तृकता नहीं हो जाती। इससे स्पष्ट है कि-पहले कालिदासने उसे छोटा बनाया; फिर उसे दूसरी बार लिखा; तो वह बढ़ गया। इसने 'श्रीसनातनधर्मालोक' महाग्रन्थ संस्कृतमें १० हज़ार

पृष्ठोंमें संस्कृतमें लिखा हुआ है। पहले इसका नाम 'वेदपुराणयो-रेकवाक्यता' था, जिसका अंश 'सूर्योदय' काशीमें निकला। यह २५० पृष्ठोंका था। फिर ५०० पृष्ठोंका बना। फिर १००० पृष्ठोंका हुआ; और वर्तमान नाम होगया, और फिर उसके १०,००० पृष्ठ होगये। अब उसीकी ग्रन्थमाला हिन्दीमें निकल रही है, जिसके प्रायः ६ सहस्र पृष्ठ निकल चुके हैं। सारा छप जाय, तो इसकी कमसे कम २० सहस्र पृष्ठ-संख्या होगी।

अब वादी समझे कि-इसके भिन्न-भिन्न संस्करण सभी छपे हुए मिलें; सबमें परिवर्तन एवं परिवर्धन स्वाभाविक है। इसी ग्रन्थमालाके १-२ पुष्पोंकी पृष्ठसं. २०० थी; अब (द्वि.सं.में) साढ़े तीनसौके लगभग है। इसका ३य पुष्प समाप्त हो चुका है, जब इसका द्वितीयसं. होगा; अबसे प्रायः दुगना होगा। किसी एकके पास एक-संस्करण हो, दूसरेके पास दूसरा; और भिन्न-भिन्न संस्करणोंमें प्रकाशक भिन्न-भिन्न हो जावें। कोई तीसरा आक्षेप्ता-जैसा दीर्घबुद्धि दोनों संस्करणोंको देखे, और कहे कि-इन भिन्न-संस्करणोंका कर्ता भिन्न-भिन्न है; दूसरे संस्करणमें किसीने प्रक्षेप कर दिये हैं; ऐसे समझदार (?) की बुद्धिका जो मूल्य है, वही आक्षेप्ताकी बुद्धिका भी है।

(ई) यह तो हुआ लौकिक दृष्टिकोण; परन्तु पुराणोंमें तो 'कल्पभेद' बहुत प्रसिद्ध है और वर्णित भी है-'कल्पभेदकथा चैव श्रुता' (शिव.कोटिरुद्र. १३।४)। एक कल्पमें कितने द्वापर होंगे-यह वादी स्वयं गिन ले। प्रत्येक-द्वापरमें श्रीव्यास पुराणों-

(५) चित्सुखाचार्य (नवमशताब्दी)में श्रीमद्भा.की टीका लिखी थी, ऐसा श्रीधरस्वामीने 'विष्णुपुराण'की टीकामें लिखा है, और श्रीमध्वाचार्य तथा विजयध्वजतीर्थने भी ऐसा ही लिखा है। इससे स्वा.द.जी तथा दयानन्दियोंका अनुसन्धान गलत सिद्ध हुआ।

(आ) वस्तुतः श्रीवोपदेवने भागवतकी विषय-सूची तैयार की थी; और भागवतकी 'परमहंसप्रिया' टीका भी लिखी थी। उसी विषयमें 'मुक्ताफल' और 'हरिलीलामृत' (भागवतका सारांश) भी लिखे। स्वयं हेमाद्रिने भी वोपदेवके 'साहित्ये त्रय एव भागवततत्त्वोक्तौ त्रयस्तस्य च' के तीन ग्रन्थ उसकी 'मुक्ताफल' टीकामें सूचित किये थे। सो 'श्रीमद्भागवतं नाम पुराणं च मयेरितम्। विदुषा वोपदेवेन श्रीकृष्णस्य यशोन्वितम्' यह जो स.प्र. (११ पृ. २१४) में स्वा.द.जीने अपना निजका बताया श्लोक लिख दिया है; वह गलत है। यदि ठीक हो भी; तो उसमें 'ईरितम्'का अर्थ 'निर्मित' नहीं है; 'कथित' वा 'प्रोक्त' है।

(इ) स.ध.के मान्य विद्वान् पं० अखिलानन्दजीकी साक्षी देना वादीका सफेद झूठ है। सनातनधर्मी अखिलानन्दजीने 'दयानन्द-दिग्विजय' ग्रन्थ कोई नहीं बनाया। उसे तो दयानन्दी-अखिलानन्दने बनाया था। उसी दयानन्दीका उद्धरण सनातनधर्मीके नामसे देना वादीकी कितनी प्रवंचना है। इन असत्य-प्रेमियोंको क्या परलोकका भय भी नहीं? जब अखिलानन्दजी उस अज्ञानको छोड़कर सनातनधर्मी बन गये, उस समय उन्होंने 'सनातनधर्म-

विजय' महाकाव्य बनाया, उस (११।३४) में उनने पुराणोंको व्यास-प्रोक्त बताया है। अन्यत्र भी उन्हीं अखिलानन्दजीने लिखा है-'सर्वा अपि [पौराणिक्यः] कथाः सत्यरः पुनस्ता वेद-मूलकाः। वेदव्यासः पुनस्तासां प्रवक्ता नात्र संशयः। (१४।१०३-१०४) इसमें श्रीअखिलानन्दजीने अन्य भी स्पष्टता कर दी है। अब मैं वादीको कहूँ कि-अपने दयानन्दी-अखिलानन्दजीकी इस उक्तिको मानकर वह पौराणिक-कथाओंको व्यासप्रोक्त और सत्य माने; तब क्या यह मानकर वह अपने पक्षकी असत्यता-की घोषणा करनेको तैयार है ?।

(३) पू०—कहीं विष्णुपुराणको पाराशरऋषिका, स्कन्दको शिवजीका, पद्मको ब्रह्माका, भागवतको शुकका, ब्रह्मको ब्रह्माका बनाया बताया जाता है। भविष्य. (प्रति. ३।२८।८-१५) के अनुसार पुराण ब्रह्माजीने बनाये। 'लब्धविद्येन विधिना प्रजा-सृष्टिं वितन्वता। प्रथमं सर्वशास्त्राणां पुराणं ब्रह्मणा स्मृतम्। अनन्तरं तु वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः। प्रवृत्तिः सर्वशास्त्राणां तन्मुखादभवत् ततः' (शिव. वायुसं. १।३१-३२) पुराण पाराशर-जीने बनाये (विष्णु. १।१।२६, ३०)। हर द्वापरमें पुराण बनते हैं-'एवं व्यस्ताश्च वेदाश्च द्वापरे-द्वापरे द्विजाः। निर्मितानि पुराणानि अन्यानि च ततः परम्' (शिव. वायुसं. १।३५) इस प्रकार पुराण सृष्टिके आदि के तथा व्यासकृत सिद्ध नहीं होते'।

उ०—इससे तो पुराणोंकी अनादिता सिद्ध होती है। व्यासजी अनादि पुराणोंके प्रणेता नहीं, किन्तु प्रवक्ता वा सम्पादक हैं।

(ए) चित्सुखाचार्य (नवमशताब्दी) में श्रीमद्भा.की टीका लिखी थी, ऐसा श्रीधरस्वामीने 'विष्णुपुराण'की टीकामें लिखा है, और श्रीमध्वाचार्य तथा विजयध्वजतीर्थने भी ऐसा ही लिखा है। इससे स्वा.द.जी तथा दयानन्दियोंका अनुसन्धान गलत सिद्ध हुआ।

(आ) वस्तुतः श्रीवोपदेवने भागवतकी विषय-सूची तैयार की थी; और भागवतकी 'परमहंसप्रिया' टीका भी लिखी थी। उसी विषयमें 'मुक्ताफल' और 'हरिलीलामृत' (भागवतका सारांश) भी लिखे। स्वयं हेमाद्रिने भी वोपदेवके 'साहित्ये त्रय एव भागवततत्त्वोक्तौ त्रयस्तस्य च' के तीन ग्रन्थ उसकी 'मुक्ताफल' टीकामें सूचित किये थे। सो 'श्रीमद्भागवतं नाम पुराणं च मयेरितम्। विदुषा वोपदेवेन श्रीकृष्णस्य यशोन्वितम्' यह जो स.प्र. (११ पृ. २१४) में स्वा.द.जीने अपना निजका बताया श्लोक लिख दिया है; वह गलत है। यदि ठीक हो भी; तो उसमें 'ईरितम्'का अर्थ 'निर्मित' नहीं है; 'कथित' वा 'प्रोक्त' है।

(इ) स.ध.के मान्य विद्वान् पं० अखिलानन्दजीकी साक्षी देता वादीका सफ़ेद झूठ है। सनातनधर्मी अखिलानन्दजीने 'दयानन्द-दिग्विजय' ग्रन्थ कोई नहीं बनाया। उसे तो दयानन्दी-अखिलानन्दने बनाया था। उसी दयानन्दीका उद्धरण सनातनधर्मीके नामसे देना वादीकी कितनी प्रवंचना है। इन असत्य-प्रेमियोंको क्या परलोकका भय भी नहीं? जब अखिलानन्दजी उस अज्ञानको छोड़कर सनातनधर्मी बन गये, उस समय उन्होंने 'सनातनधर्म-विजय' महाकाव्य बनाया, उस (११।३४) में उनने पुराणोंको व्यास-प्रोक्त बताया है। अन्यत्र भी उन्हीं अखिलानन्दजीने लिखा है-'सर्वा अपि [पौराणिक्यः] कथाः सत्याः पुनस्ता वेद-मूलकाः। वेदव्यासः पुनस्तासां प्रवक्ता नात्र संशयः। (१५।१०३-१०४) इसमें श्रीअखिलानन्दजीने अन्य भी स्पष्टता कर दी है। अब मैं वादीको कहूँ कि-अपने दयानन्दी-अखिलानन्दजीकी इस उक्तिको मानकर वह पौराणिक-कथाओंको व्यासप्रोक्त और सत्य माने; तब क्या यह मानकर वह अपने पक्षकी असत्यता-की घोषणा करनेको तैयार है ?।

(३) पू०—कहीं विष्णुपुराणको पाराशरकृपिका, स्कन्दको शिवजीका, पद्मको ब्रह्माका, भागवतको शुकका, ब्रह्मको ब्रह्माका बनाया बताया जाता है। भविष्य. (प्रति. ३।२८।८-१५) के अनुसार पुराण ब्रह्माजीने बनाये। 'लब्धविद्येन विधिना प्रजा-सृष्टिं वितन्वता। प्रथमं सर्वशास्त्राणां पुराणं ब्रह्मणा स्मृतम्। अनन्तरं तु वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः। प्रवृत्तिः सर्वशास्त्राणां तन्मुखादभवत् ततः' (शिव. वायुसं. १।३१-३२) पुराण पाराशर-जीने बनाये (विष्णु. १।१।२६, ३०)। हर द्वापरमें पुराण बनते हैं-'एवं व्यस्ताश्च वेदाश्च द्वापरे-द्वापरे द्विजाः। निर्मितानि पुराणानि अन्यानि च ततः परम्'. (शिव. वायुसं. १।३५) इस प्रकार पुराण सृष्टिके आदि के तथा व्यासकृत सिद्ध नहीं होते'।

उ०—इससे तो पुराणोंकी अनादिता सिद्ध होती है। व्यासजी अनादि पुराणोंके प्रणेता नहीं, किन्तु प्रवक्ता वा सम्पादक हैं,

जैसे वे वेदके हैं, क्योंकि-वेदोंका व्यास भी व्यासजी द्वारा ही कहा गया है। पर इससे वे वेदोंके कर्ता नहीं मान लिये जाते। इसी प्रकार वे पुराणोंके भी कर्ता नहीं, संयोजक हैं। 'कर्ता' तो वे पुराणोंके ऐसे कहे जाते हैं, जैसे श्रीभट्टोजिदीक्षितको वैया. सिद्धान्तकौमुदीका 'कर्ता' कहा जाता है। पर श्रीदीक्षितने उसका क्या बनाया? सूत्र श्रीपाणिनिके, वार्तिक श्रीकात्यायन-के, अर्थ और उदाहरण और फक्किका भाष्य-काशिका आदिके। 'कृ' धातु अनेकार्थक होनेसे (देखो 'आलोक' (६ पृ. ८१-८५) 'कर्ता'का अर्थ प्रवक्ता भी होता है। सो सब द्वापरोंमें श्रीव्यास-द्वारा पूर्वपरम्परासे आये हुए अनादि-पुराणोंका नूतन संस्करण होनेसे पुराणोंके वे उद्धारक हुए। इसलिए पुराण सृष्टिकी आदिके सिद्ध हुए; क्योंकि पुराणमें ही 'पुराण'का विग्रह यही आया है—'पुरा परम्परां वक्ति पुराणं तेन वै स्मृतम्' (पद्म. १।२।५४)। वेदोंके पूरक होनेसे भी पुराण हैं, पूरणात् पुराणम्।

(आ) 'पुराणं ब्रह्मणा स्मृतम्' इस वादीसे दिये हुए पुराण-वचनमें भी ब्रह्माजीद्वारा भी पुराणोंका बनाया जाना नहीं कहा, किन्तु 'स्मृतम्' स्मरण करना कहा है। सो स्मरण करना पूर्व-स्थित वस्तुका ही होता है। इससे पुराणोंकी अनादिता स्पष्ट है; बल्कि श्रीमद्भा. पुराणमें तो पुराणोंका भी ब्रह्माके सभी मुखोंसे प्रकट होना लिखा है– 'इतिहासपुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः। सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः' (३।१२।३९) तभी तो वेद (अथर्व. ११।४।२४ इत्यादि बहुत स्थलों)में 'पुराण'का नाम भी

आता है। यदि उस वेदस्थित 'पुराण' शब्दका अर्थ 'सृष्टिविद्या-सम्बन्धी मन्त्र' यह अर्थ दयानन्दी-वादी करेगा; तो ऋभाभू.के स्वा.द.जीके कथनानुसार वे मन्त्र 'पुराणेतिहाससंज्ञक' होजानेसे वेद भी नहीं रहेंगे–यह वह याद रखे; नहीं तो फिर इस युक्तिसे स्वामी-द्वारा ब्राह्मणभागके वेदत्वका किया हुआ खण्डन भी गलत सिद्ध हो जावेगा। कौन नहीं जानता कि-सृष्टि एवं प्रलय-का प्रतिपादन 'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च' यह पुराणका मुख्य विषय है, वेदका नहीं।

(इ) वस्तुतः वादीको याद रख लेना चाहिये कि-श्रीवेदव्यास परमात्माके अवतार थे। उन्होंने जहां वेदका प्राकट्य किया; वहां पुराणेतिहासका भी। अथर्ववेदसं.में पुराण-इतिहासका नाम आया ही है। उपनिषदात्मक-वेदमें भी 'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्' (छा. ७।१।२, ४) पुराणको पञ्चम वेद माना है। 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै' (श्वेता. ६।१८) यहाँ वेदोंको ब्रह्माको देना कहा है। सो वेदमें पञ्चम-वेद पुराण-इतिहास भी स्मृत होनेसे ब्रह्माजीको वेदोंके साथ पुराण भी दे दिये गये। फिर 'प्रथमं सर्वशास्त्राणां पुराणं ब्रह्मणा स्मृतम्' यह बात ठीक ही सिद्ध होगई। इसी कारण यह वचन भी बहुतसे पुराणोंमें आया है। परमात्मा भविष्यका वृत्त जानकर उसे पुराणेतिहासरूपमें निबद्ध भी कर सकता ही है। परमात्मा-केलिए स्वा.द.जीने स.प्र. १३वें समु. (पृ. ३०३ (१२) में लिखा है कि–'वह ईश्वर ही नहीं, जो सर्वज्ञ न हो, न भविष्यत्की बात

जाने, वह जीव है'। जब ऐसा है, तो परमात्माने पुराणोंको भविष्यत्‌रूपसे पहले ही प्रकट कर दिया था। हां, उसके जगत्में प्रकाश करनेवाले भिन्न-भिन्न ऋषि हों, यह सम्भव है। इधर स्वा.द.जीने स.प्र. (१४ पृ. ३४५) में भी व्यासजीको परमात्माका अवतार बताया है। इससे पुराणोंकी वेदकी ही भांति अनादिता भी सिद्ध हुई। पुराणके समान वेद-मन्त्रोंको भी भिन्न-भिन्न ऋषियोंने भिन्न-भिन्न समय प्रकट किया; क्या तब वे अर्वाचीन हो जाएँगे?

(ई) वादीने 'पाराशर' शब्द लिखा है, सो 'पाराशर'का अर्थ 'पराशरस्य अपत्यं' (श्रीव्यास) है, वहां अपत्य अर्थमें 'अण्' है; इससे भी वादी कट गया। जहां पराशर भी लिखा हो; तो वादीको पता होगा कि-पराशरजी व्यासजीके पिता थे। यदि पराशरजीने व्यासजीको पुराण दिये, वा पढ़ाये; इससे भी पुराणोंकी अनादिता सिद्ध होगई। पुराणोंने तो इसपर यह उत्तर दिया है कि-'पराशरकृतं यत्तु पुराणं विष्णुबोधकम्। तदेव व्यासकथितं पुत्र-पित्रोरभेदतः' (शिव. उमा. ४४।१२७); तभी तो 'आत्मा वै पुत्रनामासि' यह वैदिकी श्रुति निरुक्त (३।४।२) में उद्धृत है। सो पराशरजीसे पूर्व ब्रह्माजीके भी पास होनेसे पुराणोंकी अनादिता सिद्ध होगई। स्वा.द.जीने ऋभाभू.में अथर्ववेदका पहला मन्त्र 'शं नो देवी' माना है; पर उनकी छपवाई अ.संहितामें वह १।६ सूक्तका है; और वह प्रथम मन्त्र अथर्व. पैप्पलादसंहितामें है; तब क्या वादी अपनी अथर्वसं.को अवेद एवं अर्वाचीन माननेको तैयार है?। इसी प्रकार वह

पुराणोंमें समझ ले। वादीका आक्षेप कट गया।

(उ) भागवत शुक्रसे नहीं, किन्तु व्यासद्वारा अधीत होनेसे वह शुकसे प्रोक्त है, वादी इतना भी नहीं समझ सकता। 'शुक्र' यह 'शुक' के स्थान हुआ-हुआ लिपिकरका प्रमाद है, जैसेकि-वादीकी ही पुस्तक (भाग. समी. पृ. १६ पं. ३) में 'शुकस्य ह' के स्थान 'शुक्रस्य' छपा है। वहां छन्दोभङ्ग पड़ता है 'शुकस्य' होनेसे छन्द ठीक बैठता है। दैत्यपति शुक्रका पुराणोंके प्रवचनमें किसी भी प्रकारका सम्बन्ध नहीं-यह वादी याद रखे, यह उसका निर्मूल प्रयत्न है। फलतः परम्परागत अनादि वेद-समकालीन पुराणोंके वेदोंकी भांति व्यासजी प्रणेता नहीं, किन्तु प्रवक्ता वा संयोजक हैं। वेद एवं पुराण दोनोंके प्रवक्ता समान (व्यासजी) होनेपर भी दोनोंमें अन्तर यह है कि-वेदकी भाषा अपौरुषेय है; और पुराणकी पौरुषेय। अनादित्व दोनोंमें तुल्य है। पुराणोंमें एक देवसे भिन्न देवकी निन्दा अपने इष्टदेवमें निष्ठास्थापनार्थ है, इत्यादि विषयमें वादी 'आलोक' (७) का मनन करे।

(४) पू०—'सर्वाण्येव पुराणानि संज्ञेयानि नरर्षभ! द्वादशैव सहस्राणि प्रोक्तानीह मनीषिभिः। पुनर्वृद्धिं गतानीह आख्यानैर्विविधैर्नृप!' (भविष्य. ब्राह्म. १।१०३-१०४) इससे प्रतीत होता है कि-कुल पुराणोंमें कभी १२००० श्लोक थे; अब ४ लाख हैं (भाग. १२।१३।९)। इसमें ३ लाख ८८ हजार श्लोक नये गढ़कर धूर्त लोगोंने जोड़ दिये-यह स्पष्ट है। व्यासजी द्वारा इतनी संख्या बताना मूर्खता है। इनमें ऐसी वेतुकी बातें दर्ज हैं,

जिससे यह दावा खत्म हो जाता है।

उ०—इस वचनमें प्रक्षिप्तताकी कुछ भी बात नहीं लिखी, यह तो झूठे वादीकी झूठी कल्पना है। यहां तो यह सूचित किया है कि-पौराणिक-उपाख्यानोंकी कितनी संख्या है, और शेष कितनी संख्या है। मूल वस्तु फीकी होती है, उपाख्यानोंसे वह रसीली हो जाती है। पुराणोंका विषय अर्थवाद है। अर्थ-वादमें एक भेद भूतार्थवाद भी होता है; इसमें पारम्परिक उपा-ख्यान अवश्य हुआ करते हैं। महाभारतमें २४ सहस्र पद्य और फिर उपाख्यानोंसे एकलक्ष पद्य बताये गये हैं-इसमें प्रक्षेपकी बात सिद्ध नहीं होती। कहीं ऐसा पुराणोंकेलिए भविष्यपुराणके वादिदत्त वचनमें नहीं लिखा कि-धूर्त लोगोंने ३ लाख ८८ हजार श्लोक नये गढ़कर डाल दिये। वहाँ तो यह सूचित किया है कि-मनीषियों (ऋषियों)ने पहले पुराणोंके १२ सहस्र श्लोक कहे थे; जो रूपरेखारूपमें थे; जैसेकि-सप्तश्लोकी-भागवत, अष्टादशश्लोकी-गीता प्रसिद्ध हैं। उन्हीं मनीषियोंने फिर पुराण उपाख्यानोंसे उपबृंहित किये। यहांपर भी वही पूर्व पद 'मनीषिभिः' अनुवृत्त हो रहा है, यहां 'धूर्तैः' शब्द तथा ३ लाख ८८ हजार नये श्लोक गढ़े-यह शब्द कहीं भी नहीं आये; अतः यह प्रतिपक्षीकी ही अपनी नई मनःकल्पित गढ़न्त है। सारे वेदादि-शास्त्रोंको 'ओम्' का ही व्याख्यान माना गया है; 'ओम्' ही असली वेद है। फिर एक वेद भी आया है, फिर ३ वेद भी आये हैं, फिर चार भी आये हैं; तब क्या दीर्घबुद्धि वादी वेदमें भी ऋषियों

द्वारा प्रक्षिप्तता मान लेगा ?। यदि नहीं; तब पुराणमें भी इसी प्रकार जानना चाहिये।

(ख) एक ही कर्ता एक पुस्तक शुद्ध ज्ञानकी लिखता है; वह फीकी होनेसे उतनी लोकप्रिय नहीं हो पाती; तब वह उसे उपाख्यानोंसे बढ़ाता है। ऋषि-शैली भी ऐसी होती है, जैसेकि निरुक्तमें कहा है-'ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवति आख्यानसंयुक्ता' (१०।१०।२) (तत्त्वदर्शी-ऋषिकी उपाख्यान जोड़नेमें प्रीति हुआ करती है)।

(ग) हमारी ही यह पुस्तक पहले ढाई सौ पृष्ठोंकी थी; अब बीस हजार पृष्ठोंकी है, इसे हमने स्वयं बढ़ाया है, क्या वादी कहेगा कि- २५० पृष्ठकी पुस्तकको २० हजारकी पुस्तक 'सारस्वत जी' नहीं बना सकते थे; इसे तो डा० श्री० और पथिक आदि धूर्तोंने बढ़ा दिया ! जैसे यह कहने वालेकी बुद्धि का मूल्य है, वैसे ही ऐसा कहने वाले वादीकी भी बुद्धिका मूल्य है। यही वादी केवल श्रीमद्भा.की ही पद्य-संख्या १८००० बताता है; आजकल इसमें वह ३८२० पद्योंकी कमी बताता है; तब सारे पुराणोंकी पद्यसंख्या १२००० बताता हुआ वह क्या 'मम मुखे जिह्वा नास्ति' न्यायको चरितार्थ नहीं कर रहा है ? हम पढ़ने-पढ़ाने तथा संसारी-धन्दोंमें लगे हुए-जिन्हें समय बहुत कम निकलता है, कई हजार पृष्ठ लिख डालते हैं; तब एक महामुनि-जिन्हें कोई संसारी धन्दा नहीं, अवतारी पुरुष हैं, अनादि-परम्परासे आये हुए पुराणोंके चार लाख श्लोक लिख डालें; इसमें आश्चर्य

करनेवालेकी बुद्धिपर ही आश्चर्य आता है, तरस आता है।

(घ) शेष है वादीका पुराणोंमें 'बेतुकी बातों'का आक्षेप, यह तो उसकी दयानन्दी-समझका फेर है। दयानन्दीपन हटते ही, मस्तिष्क ठीक होजानेपर 'श्रद्धया सत्यमाप्यते' (यजुः माध्यं. १९।३०) उसे सब समझ आ सकता है।

(ङ) वादि-प्रतिवादिमान्य न्यायदर्शनमें लिखा है-'पुराणका मुख्यविषय लोकवृत्त बताना है (४।१।६२); सो लोकवृत्तमें उपाख्यान ही तो होते हैं। परन्तु लोक-व्यवहारकी व्यवस्थापना वहां पुराणोंका मुख्य विषय नहीं बताया गया। वह तो वहाँ धर्म-शास्त्रका ही मुख्यविषय बताया गया है।

पुराणका उपाख्यान बताता है कि-रावण वेदशास्त्रोंका पण्डित था; पर वह परस्त्रियोंको चुरा लेता था। पौराणिक उपाख्यान बताता है कि-युधिष्ठिर बड़े धर्मात्मा थे; पर उन्होंने द्यूतक्रीडा करके महाभारत-युद्धका आह्वान किया। द्रौपदीके ५ पति थे, उसकी सासके भी ५ पति थे। यह बातें आपातदृष्टिसे तो बेतुकी मालूम पड़ती हैं; पर इससे पुराण उनकी अनुकर्तव्यता नहीं बताता, किन्तु उनका फलाफल बताता है। अर्थवादमें तात्पर्य ही तो देखना पड़ता है। उसमें दूरदर्शिता अपेक्षित होती है, जिसके न होनेसे अल्पश्रुत एवं निन्दक आक्षेप्ता-जैसे व्यक्ति बहक जाते हैं। (च) इस विषयमें श्रीमद्भा. (१०।३३।३०-३५) तथा आपस्तम्बध. (१।४।८-१२, २।१३।७-६) के वचन याद रख लेने चाहियें। 'आलोक' (७) में 'पौराणिक-चरित्रपर्यालोचन' (पृ. २-५६) इसमें

द्रष्टव्य है। स्नातक होनेपर शिष्यको गुरु उपदेश देता है-'यानि अस्माकं सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि' (तै.उ. १।११।२-३) (हमारे सुचरित्रोंका अनुसरण करना, दुश्चरित्रोंका नहीं) तब इससे वादी न तो यह कहकर अपने गुरु स्वा.द.की निन्दा करेगा कि-हा! हमारे आचार्यमें भी बदमाशियां हैं! और न ही उन (हुक्के पीने आदि)का अनुकरण करेगा। महाभारतमें स्पष्ट कर दिया गया है—

'कृतानि यानि कर्माणि दैवतैर्मुनिभिस्तथा।
न चरेत् तानि धर्मात्मा, श्रुत्वा चापि न कुत्सयेत्' (शान्ति. २९१।१७)

क्योंकि-देवता भोगयोनि होनेसे, और ऋषि-मुनि लोकोत्तर-शक्तिशाली होनेसे हमारे और उनके आचरणोंकी कभी एक तुक बैठ ही नहीं सकती। वे उनका दुष्फल दूर कर सकते हैं, पर हम लोग नहीं; अतः हम उनकी आलोचनाके अधिकारी भी नहीं हो सकते। जिस दिन यह निन्दक वादी यह बात समझ जावेगा, उस दिन उसे दिव्य-दृष्टि प्राप्त हो जानेसे यह निकम्मी पुस्तकें लिखना बन्द करके वह रहस्य-प्रदर्शक पुस्तकें लिखनी शुरू कर देगा। 'देर है, अन्धेर नहीं'। 'सुबहका भूला शामको भी घर आ सकता है'। इस प्रकार अनुसन्धान करते हुए कई दयानन्दी सनातनधर्मी बन गये। यह वादी भी कदाचित् वैसा हो जावे? एवमस्तु।

(५) पूर्वपक्ष—पुराणकी बेतुकी बातें—शिवदूतीको शिवजीने अण्डकोष खानेको कहा था-'अधोभागे च मे नाभेर्वर्तुलौ फल-

सन्निभौ। भक्षयध्वं हि सहिता लम्बौ मे वृषणाविमौ' (तुम मेरे लम्बेके सहित दोनों वृषण खा लो)...हास्येन दीर्घदशना दरिद्राश्च भवन्ति ते। तस्मान्न निन्दा हास्यं च कर्तव्यं हि विजानता' (जो लोग इसकी मजाक उडाएँगे, उनके दाँत लम्बे हो जाएँगे)। 'उपहारे नरा ये तु करिष्यन्ति च कौमुदीम्। चणकान् पूरिकाश्चैव वृषणैः सह पूपकान्। बन्धुभिः स्वजनैश्चैव तेषां वंशो न छिद्यते। अपुत्रो लभते पुत्रं धनार्थी लभते धनम्। रूपवान् सुभगो भोगी सर्वशास्त्रविशारदः' (पद्म.सृष्टि. ३१।१२७-१३३) (अण्डकोषोंको चनोंके साथ भरकर पुए बनाकर खानेवालोंका वंशनाश नहीं होता, वह धनी रूपवान्, विद्वान् बन जाता है) इसका उत्तर स.ध.के बड़े तोप दीनानाथ नहीं दे सके।

उ०—इसका प्रत्युत्तर 'आलोक' (७) पृ. २५८-२६० में हमने दे दिया था कि-'वर्तुल (गोलाकार) दो कटाहोंमें विभक्त ब्रह्माण्डका मृत्युद्वारा भोजन' यह अर्थ यहांपर है, 'नाभि'का अर्थ 'केन्द्र' है। वादीकी लेखनी उसपर चीं बोल गई। यदि वादी शब्दोंके ही अर्थ देखता है; तो फिर ऐसे ही शब्द वेदमें भी वह देखे—'अन्वस्य स्थूरं [स्थूलं पुंव्यञ्जनं] ददृशे पुरस्तादू अनस्थ ऊरूरवरम्बमाणः। शश्वती नारी अभिचक्ष्य आह-सुभद्रम् अर्य! [स्वामिन्!] भोजनं बिभर्षि' (ऋ. ८।१।३४) यहां पुरुषके पुंव्यञ्जनको-जो अस्थिसे रहित एवं स्थूल तथा ऊरूके आगे लटक रहा था; देखकर स्त्रीने कहा कि-हे स्वामी, तुम अच्छे भोजनको धारण कर रहे हो'। सो इस वेदवचनमें पुंव्यञ्जनको

'भोजन' कहनेका जो तात्पर्य होगा, वही पुराणमें भी 'विचित्र भोजन'का हो जायगा। ऐसा कथन 'युवतिरह्नयाणा' (अलज्जमाना) (ऋ. ७८०।२) के अनुकूल है। इनकी तुलना 'यदा स्थूलेन पससाणौ मुष्का उपावधीत्' (अ. २०।१३६।२) से करो। 'पसः'का अर्थ पुंव्यञ्जन है। इसपर स्वा.द.का यजुर्वेद (२०१९ मन्त्र)का भाष्य भी वादी देखे। 'महानग्नी उपत्रूते अश्वस्य आवेशितं पसः' (अ. २०।१३६।९) यहाँ अश्वके पसः (इन्द्रिय) का प्रवेश बताया है। इस सारे सूक्तकी पुराणोक्त उक्त वचनसे तुलना करो; तब पुराणवचनकी असभ्यता नहीं बता सकोगे। पुराणमें सूचित किया है कि-विद्वान् उसपर हास्य वा निन्दा नहीं करता, क्योंकि उसमें गूढार्थ है, पर वादीने उस पर हास्य वा निन्दा करके अपनी अविद्वत्ता बता दी। 'लम्बौ'का 'लम्बेके सहित' यह वादीका अर्थ भी अशुद्ध है। 'लम्बौ' वृषणौका ही विशेषण है, यहां तृतीयाका अर्थ वादीने गलत किया है।

शेष है 'चणकान् पूरिकाश्चैव वृषणैः सह पूपकान्' इसपर वादीका आक्षेप, वह भी अज्ञानमूलक है। यहांपर 'वृषणैः' द्विवचन नहीं है; किन्तु बहुवचन है; अतः उसका 'अण्डकोष' अर्थ करना वादीका अपना अज्ञान है। इसका अर्थ भी वादीने गलत किया है। यहाँ अन्वय यह है-'ये नरा वृषणैः सह चणकान्, पूरिकाः, पूपकान् चैव उपहारे करिष्यन्ति', पर यहां वादीने 'अण्डकोषोंको चनोंके साथ भरकर पूवे बनाकर' अर्थ कर दिया! 'चणकान्' भी द्वितीयाका है, 'पूपकान्, पूरिकाः' भी द्वितीयान्त हैं, तब

वृषणकान्'का 'चनोंके साथ भरकर' यह वादीने तृतीयाका अर्थ कैसे कर दिया? क्या 'सह' अर्थमें द्वितीया आती है? और फिर 'वृषणैः सह' इस तृतीयान्तका 'अण्डकोषोंको' यह द्वितीयाका अर्थ वादीने कैसे कर दिया? क्या 'सह' की तृतीयाका अर्थ 'को' हो जाता है? और फिर 'अण्डकोष'के पुए बनाना' वादीने किसी कासगंजी हलवाईसे सीखा है? या वादीका ही ऐसा पेशा चला आ रहा है, जो कि उसने द्वितीया-तृतीयाके अर्थमें विपरीत परिवर्तन करके ऐसे अर्थकी सूझ प्राप्त कर ली? क्या वादीका इष्ट अण्डकोष भी कोई बाजारमें मिलनेवाला वर्तुल फल है, जो कि उसे उसने उपहारकी वस्तु मान लिया?

महादेवके पक्षमें 'वृषणौ'का 'दो कटाहोंमें विभक्त ब्रह्माण्ड' अर्थ था; पर वादीसे दिये हुए पद्यमें द्विवचन न होकर बहुवचन होनेसे 'वीर्यधारक' यह यौगिक वा लाक्षणिक अर्थ है। 'सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव' (काव्यप्रकाश ६म उल्लास) जैसे इस पद्यमें नगर कलकल-सहित था; और चन्द्रमा सकल-कलाओंवाला था, यह शाब्दिक सादृश्य है, आर्थिक वा वास्तविक सादृश्य नहीं, वैसे पुराण-पद्यमें भी 'वृषण'का शाब्दिक सादृश्यमात्र है, आर्थिक वा वास्तविक सादृश्य नहीं। इसमें वचनभेद भी ज्ञापक है; इसमें दृष्टान्त यह है—। वादी 'वृषणौ'का अण्डकोष अर्थ करता है। इसीका पर्यायवाचक 'मुष्क' शब्द भी है। अथर्व.में 'मुष्कौ' (४।३७।७) आदि बहुत स्थलोंमें आता है, द्विवचन होनेसे वहां 'अण्डकोष' अर्थ किया जाता है; पर

'सहस्रमुष्क' (ऋ. ८।१९।३२) यहां पर 'मुष्क' शब्द बहुवचनमें है; अतः यहां 'अण्डकोष' अर्थ न करके 'मुष्काणि'का 'तेजांसि' अर्थ किया जाता है, अतः द्विवचन-बहुवचन इस वचनभेदसे दोनों शब्दोंका यहाँ भी भिन्न-भिन्न अर्थ हो जाता है। और फिर रूढि-अर्थमें अनुपपत्ति आनेपर सङ्गत यौगिक वा लाक्षणिक अर्थ करना पड़ता है, यह संस्कृतभाषाकी शैली है। श्रीउदयनाचार्यकी कुसुमाञ्जलिमें लिखा है—'श्रुतान्वयाद् अनाकाङ्क्षं न वाक्यं ह्यन्यदिच्छति। पदार्थान्वय-वैधुर्यात् तदाक्षिप्तेन सङ्गतिः' (३।१२) (जो वाक्य वा वाक्यार्थ सङ्गत हो, वह अन्य अर्थकी अपेक्षा नहीं करता। जब वहां असङ्गति दीख रही हो; तब अन्य वाक्य वा अर्थको आकृष्ट करना पड़ता है, जिससे पूर्वकी असङ्गति हटकर सङ्गति लग जाती है।)

वह सङ्गति यह है कि-जैसे अण्डकोष 'वीर्यधारक' होनेसे 'वृषण' कहे जाते हैं; इसी प्रकार वीर्यधारक, बलाधायक, पदार्थ भी 'वृषण' शब्दसे कहे जाते हैं। आक्षेप्ता डाक्टर है; यदि वह सर्वत्र शब्दोंके यथाश्रुत आपात रूढि अर्थ करने लगेगा; तो 'प्रस्थं कुमारिकामांसं जम्बीररसभावितम्। सशृङ्गवेरलवणमुदरामयभेषजम्' (आयुर्वेदनिघण्टु)में भी वह किसी क्वारी लड़कीको मरवाकर उसका एक सेर मांस तुलवाकर उसे अपने अन्नपचके मरीजको दे देगा; जबकि यहाँ 'कार-बूटीके गूदेको नियतपरिमाणमें निबूके रसमें भावित करके अदरक एवं नमकसे देना पड़ता है।

जैसे 'वृष्य' शब्दका अर्थ 'पौष्टिक' होता है, वैसे 'वृषण'का भी। 'आप्टे'के कोषमें भी इसका अर्थ Strong (बलकारक) लिखा है। 'वाचस्पत्य' कोषमें भी 'वृषण'का अर्थ 'वीर्यान्वित' (बलकारक) भी किया गया है। अण्डकोष न तो मनुष्यके खानेकी वस्तु है, न वह पृथक् की जा सकनेवाली वस्तु है, न उसके कटनेसे पुरुष जीवित रह सकता है। 'अण्डकोषको चनेके साथ भरकर पुए बनाकर खानेवालेके' यह वादीका किया अर्थ पुराणस्थित किसी भी शब्दका नहीं है। यह उसका अपना मनगढ़न्त अर्थ है, और असम्भव तथा असङ्गत भी है।

यहां तो यह सूचित किया गया है कि-जो लोग चनों, पूड़ियों तथा पुओंको बलवर्धक, वीर्यान्वित (वृषण) घृत आदि वृष्य वस्तुओंके साथ उपहारमें प्रयुक्त करेंगे; उससे पुरुष निर्वंश नहीं रहेगा; उसका पुत्र होगा। चने, पुए, पूड़ी आदिमें पर्याप्त ताकत होती है, फिर वीर्यान्वित अन्य घृत आदि वृष्य वस्तुओंके साथ यह प्रयुक्त कर दिये जावें, तब प्रयोक्ताओंका पुत्र अवश्य होगा, वंश विच्छिन्न न होगा। वंशविच्छेद सन्तान न होनेपर ही तो होता है। तभी तो कहा है-'अपुत्रो लभते पुत्रम्' इनके प्रयोगसे शरीरमें शक्ति एवं स्फूर्ति रहेगी; तो धन भी कमा सकेगा। तभी कहा है-'धनार्थी लभते धनम्'। बल ही रूपवर्धक होता है। भुने हुए चनेका वा भिगोये हुए चनेका प्रयोग बुद्धि-वर्धक भी है; अतः वैसे फल बताये गये हैं।

यदि वादी हमसे किया वास्तविक अर्थ न माने, अपने ही

हठपर डटा रहे; तो अपने निःसन्तान दयानन्दी-ग्राहकोंको अपना वृषण भूनकर वा तल कर वैदिकप्रकाशन-कम्पनीके [illegible] किये हुए 'अपूपवान् मांसवान् चरुरेह सीदतु' (अथ. [illegible]) वैदिक पुए बनाकर खिला दिया करे, क्योंकि-यह अद्भुत नुसखा उसीने रिसर्च करके निकाला है; अथवा यह सम्भव न हो; तो उन दयानन्दी-ग्राहकोंको ही अपना-अपना वृषण भूनकर 'वैदिक-पुआ' बनाकर खानेको कहे; तो डा.ओंकी फीस भी अच्छी प्राप्त होगी; इससे उसकी डाक्टरी भी चमक उठेगी। फिर उसे पेट-पूर्तिकेलिए गाली-गलौजसे भरे हुए दूसरोंके चित्त दुखानेवाले ट्रैक्टोंके छपवानेकी आवश्यकता भी नहीं पड़ेगी। हमने तो वास्तविक अर्थ बता ही दिया है।

(६) पू—'प्राशितं यद् यदङ्गेषु नः सोपस्थं शुचिस्मिते! तेन तिष्ठन्ति ते गर्भे पौर्णमास्यामिवोडुराट्' (मत्स्य. ४८।६६-६७) (दीर्घतमा सुदेष्णा स्त्रीकी कुक्षिको छूकर बोला-तूने मेरी उपस्थ-मूत्रेन्द्रियको खूब चाटा है, अतएव तेरा गर्भ पूर्णमासीमें चन्द्रकी तरह होगा। यह उपस्थेन्द्रियका चाटना कितना घृणास्पद है?

उ०—यहां दानवकी स्त्रीका केवल मूत्रेन्द्रियका चाटना तो लिखा नहीं, किन्तु सारे शरीरको चाटना लिखा है। इससे वादी-की अशुद्ध अर्थ करनेकी प्रकृति भी सिद्ध हो जाती है। दानवकी स्त्री-द्वारा उपस्थेन्द्रियका चाटना यदि वादी घृणित समझता है; तो शेष शरीरको चाटना तो घृणित नहीं समझता? दीर्घतमाने सुदेष्णाको कहा था-'दध्ना लवणमिश्रेण स्वसक्तं मधुकेन तु।

लिह मामजुगुप्सन्ती आपादतलमस्तकम्। ततस्त्वं प्राप्स्यसे देवि ! पुत्रान् वै मनसेप्सितान्' (४८।६६) (दही, नमक, मधुके साथ मुझे तू पांवसे माथे तक चाट, तब तेरे पुत्र स्थिर रहेंगे')।

तब केवल उपस्थको चाटना लिखना-यह वादीके उपस्थ-प्रेमको व्यक्त कर रहा है। अपान-प्रदेश छोड़ देनेसे तो उसका लड़का अपान-(गुद-) रहित पैदा हुआ था। यहां वस्तुतः प्रकरण एक चिकित्साका है। यदि सन्तान न होती हो, वा होकर मर जाती हो, अथवा गर्भ गिर जाता हो; उसकेलिए यह विचित्र नुसखा बताया गया है। ऐसा सभी अङ्गों [उपस्थ सहित]में चाटना घृणित तो पुराणने भी सूचित किया है, पर उसे कहा कि-'लिह माम् अजुगुप्सन्ती' अर्थात् तू घृणा न करती हुई चाट। सो सन्तान-प्राप्तिरूप स्वार्थके लोभी लोग कई गन्दे भी प्रयोग किया करते हैं। कई अण्डोंका प्रयोग करते हैं, कई सण्डेके घीका उपयोग करते हैं। कई मांस वा मुर्गोंके पीसे हुए बच्चोंका रस (अर्क) पीते हैं, पर यह प्रयोग दैत्यकी स्त्रीकेलिए वैसे प्रयोगोंसे अपेक्षाकृत कुछ अच्छा है, यह यहाँ व्यक्त किया गया है। वादी डाक्टर है; इसकी भी रिसर्च स्वयं करके वह मालामाल हो जावे। कामशास्त्र अथवा प्रजननशास्त्र वा वाजीकरणमें कई ऐसे अवांछनीय व्यवहार होते हैं, जो आपाततः अटपटे वा बीभत्स लगते हैं; पर वे सन्तानके लोभी स्त्री-पुरुषोंको करने पड़ते हैं, यह डाक्टरको भी मालूम होगा। स्वयं भी वह करता-कराता होगा। पहले इसीने ही तो डाक्टरी सीखनेकेलिए कितने

मेंडक मारे वा चीरे होंगे, मुर्दे चीरे होंगे, स्त्रियोंके गुप्त अङ्गोंमें अङ्गुलियाँ डालकर कई अनुभव प्राप्त किये होंगे, कि सूजन तो नहीं है, अब भी उसका हाथ टट्टी-पेशाबकी जांचमें रहता ही होगा, कई अशिष्ट व्यवहार भी वह अब तक इन रिसर्चोंके परिणाम अवगत करनेकेलिए कर चुका होगा; पर अब बोल रहा है! 'छाज तो बोले, बोले; पर अब छलनी भी बोलती है, जिसमें नौ सौ छेद हैं'।

यदि वादीको यह 'पौराणिक-नुसखा' पसन्द न हो; तब वह स्वा.द.जीकी रिसर्चसे ईजाद किया हुआ 'वैदिक-नुसखा' प्रयुक्त किया करे। उनने पति-द्वारा स्त्रीके उपस्थकी मधुसे मालिश करनी बताई है, जिसे उनसे सं.वि.के १३५ पृष्ठमें दिया हुआ निम्न मन्त्र बता रहा है-'इमं त उपस्थं मधुना सँ सृजामि प्रजापतेर्मुखमेतद् द्वितीयम्। तेन पुँ सोभिभवासि सर्वान् अवशान् वशिनी असि राज्ञी'। अग्निं क्रव्यादमकृण्वन् गुहानाः स्त्रीणाम् उपस्थम् ऋषयः पुराणाः'। यहां आर्यसमाजी विद्वान् श्रीरामगोपालजी विद्यालङ्कारने इस मन्त्रका अर्थ करते हुए अपने 'संस्कार-प्रकाश' (गोविन्दराम हासानन्द (आर्यसमाजी) कलकत्तासे प्रकाशित पृ. १२३)में लिखा है-'हे स्त्री, मैं तेरी उपस्थेन्द्रियको प्रेमसे युक्त करता हूँ। सन्तानोत्पत्तिका यही द्वितीय द्वार रूप है। तू इसी [अपने उपस्थ] के द्वारा वश में न होनेवाले पुरुषोंको भी नीचा दिखाती है। हे घरकी स्वामिनी, तू सबको वशमें करनेवाली है। तत्त्वकी खोज करनेवाले पुराने अनुभवी

ऋषियोंने स्त्रियोंकी उपस्थेन्द्रियको मांस खानेवाले अग्निके समान बतलाया है, उस [तेरे उपस्थ]में पुरुषके उपस्थेन्द्रियसे उत्पन्न... वीर्यको घृतके समान बताया है, हे स्त्री, वह वीर्य तेरे शरीरमें धारण होकर पुष्ट हो'। सो गुरुकुलके स्नातकजीने स्त्रीके उपस्थको प्रेमसे युक्त करनेका भाव उसके चाटनेका रखा हो। तब फिर 'वेदपुराणयोरेकवाक्यता' हो जायगी। शायद यह स्वामीका नुस्खा सन्तान वा गर्भकी स्थित्यर्थ बताया गया हो; कदाचित् वैदिक प्रकाशनवाले वा उनके स्वयम्भू भी इसी नुस्खेसे पैदा हुए हों?

वस्तुतः यहां सर्वसाधारण बात न होकर एक वैयक्तिक बात है। उस मुनिके शरीरमें ऐसी विशेषता थी, जिसके दधि आदि द्वारा चाटनेसे सन्तानकी स्थिरता हो जाती थी। इसी प्रकार पुराणमें दुर्वासा मुनिकी कथा आई है। मुनिने श्रीकृष्णको कहा था कि–मुझे खीरसे युक्त करके सारा चाटो; तुम्हारे सब अङ्ग दृढ़ होंगे। पर मुनिके पांव न चाटे गये, इसपर मुनिने कहा कि–तुम्हारे शेष अङ्ग वज्र बन जायेंगे, पर पैर कच्चे रह जाएँगे, जिन्हें जरा-व्याधके बाणने विद्ध कर दिया; जबकि महाभारतमें कई प्रकारके अस्त्र छाती आदि अङ्गोंपर लगकर भी उनको विद्ध नहीं कर सके थे। अतः इन बातोंकी हँसीमात्र न करके उनका तात्पर्य समझनेका प्रयत्न करना चाहिये।

(७) पू०–'चुक्रोध भगवान् रुद्रो लिङ्गं स्वं चाप्यविध्यत। तत् प्रविद्धं तथा भूमौ तथैव प्रत्यतिष्ठत' (महा. सौ. १७।२१)

(शिवने कुपित होकर अपना लिङ्ग काटकर फेंक दिया, वह लि[ङ्ग] उसी रूपमें प्रतिष्ठित हो गया। इसी लिङ्गको सनातनी पूजते हैं। उसी महादेवके वीर्य पीनेसे विष्णुके साथ सभी देवोंको ग[र्भ] हो गया।

उ०–यह लिङ्ग प्राकृत वा मानुषी नहीं है, यह तो दिव्य है। स्वा.द. भी उसे मानते हैं। उनने स.प्र.में लिखा है–'परमात्माकी रचनाविशेष लिङ्ग देखकर परमात्माका प्रत्यक्ष होता है' (स. समु. पृ. २६८) सो शिवलिङ्ग शिव-परमात्माकी रचना ब्रह्माण्ड है। वही उनसे पृथक् होकर भूमिमें स्थिर हुआ। जैसे कि सूर्यका वैज्ञानिकोंके अनुसार एक भाग कट कर भूमिरूपमें नीचे आ गया। यहां गुप्त प्राकृत इन्द्रियका कुछ भी प्रसङ्ग नहीं, क्योंकि महादेव दिव्य देवता हैं, प्राकृत मनुष्य नहीं। अतः उनके अङ्ग भी दिव्य हैं। 'तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः' (यजुः माध्यं. ३१।१९) यहां परमात्माकी योनि कही गई है; क्या वादी उसकी प्राकृत योनि मानेगा? तब तो बलिहारी है वादीके ज्ञान पर। 'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत! सर्वयोनिषु कौन्तेय! मूर्तयः सम्भवन्ति याः। तासां ब्रह्म महद्योनिः अहं बीजप्रदः पिता' (गीता १४।३-४) यहां भगवान्की योनि बताई गई है, जिसमें वे वीर्याधान करके गर्भ धारण करते हैं, और उससे प्राणी उत्पन्न होते हैं; तब क्या वादी भगवान्की वह प्राकृत स्त्री वाली योनि, और प्राकृत वीर्याधान वा प्राकृत ढंग ही मान लेगा? यदि नहीं;

तब शङ्करका 'लिङ्ग' भी उनके मनुष्य न होनेसे मानुषी, प्राकृत, गुप्त इन्द्रिय नहीं; और न ही प्रत्यक्षमें भी शिवलिङ्गकी मानुषी गुप्त-इन्द्रिय जैसी आकृति है।

आर्यसमाजके शास्त्रार्थमहारथी नेता स्वा. समर्पणानन्द (श्रीबुद्धदेव विद्यालङ्कार) जीका एक अभिभाषण 'टङ्कारा पत्रिका' (६।८) ज्येष्ठ २०२२ के अङ्क तथा 'परोपकारी' (६।८) में छपा है। उसमें उनने कहा है-'हमारा कहना है कि-आर्योंने उपस्थ-पूजा कभी की ही नहीं।...यह उपस्थपूजाका इशारा कदाचित् शिवलिङ्गपूजाकी ओर हो...कोई पूछे कि-शिवलिङ्गकी आकृति उपस्थेन्द्रियसे मिलाकर तो दिखलाइये। शिवलिङ्गकी मूर्ति एक दीपककी मूर्ति है, यह योनिमें प्रविष्ट लिङ्गकी मूर्ति हो; तो इसका पतला और नोकीला भाग नीचेकी ओर होना चाहिये। (१-२ स्तम्भ)

इस विषयमें एक अन्य आर्यसमाजी ब्रह्मचारी उषर्बुधकी साक्षी आगे दी जायगी। वेदादिशास्त्रोंमें उपस्थेन्द्रियकेलिए पसः, उपस्थ, मेढ्र, शिश्न, वैतस, इन्द्रिय, शेप, सपः आदि बहुतसे शब्द आये हैं; पर 'लिङ्ग' शब्द ही उसमें नहीं आया; इससे स्पष्ट है कि-'लिङ्ग' शब्द मूत्रेन्द्रियवाचक नहीं होता; किन्तु 'ज्ञापक चिन्ह' वाचक होता है। पुराणमें भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिये। 'लिङ्ग' शब्द गुप्तेन्द्रियवाचक तो आजकलके अर्वाचीनकालमें बना है, पुराणकालमें वैसा नहीं था।

आशा है—वादी अपने सम्प्रदायके नेताकी बात स्वीकृत कर अब आगेसे मूत्रेन्द्रियके सपने बन्द कर देंगे। लिङ्गहीनसे

शिखण्डी कहना नासमझी है; इसपर 'आलोक' (७) (पृ. १३५) देखो। यदि वे लिङ्गहीन हैं, तो वादीके शिवपर दिये जाते हुए दोष स्वयं कट गये। वीर्यके पीनेसे गर्भ, वह भी पुरुषको गर्भ हो जाना वादी भी नहीं मानता होगा। यहां उसका वीर्य भी दिव्य आग्नेय तेज है, उसका प्रभाव वर्णित है। यहाँ मैथुन तो लिखा नहीं कि-प्राकृत गर्भाधान माना जावे. न पुरुषमें गर्भाशय होता है; अतः वहां आग्नेय तेजका प्रभावमात्र मानना चाहिये। वहां तेजसे उत्पन्न वायुसे पेटका बाहरसे फूल जानामात्र समझना चाहिये, वास्तविक गर्भ नहीं; क्योंकि-न तो उनमें प्राकृत-गर्भाधान हुआ; न ही उनका प्रसव हुआ, और न उन्हें उससे कोई लड़का पैदा हुआ। सो यह उस तेजका बाह्य प्रभावमात्र 'गर्भ' शब्दसे प्रकट किया गया है। वेदमें परमात्मा कहता है-'अहं गर्भम् अदधाम् ओषधीषु अहं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः' (ऋ. १०।१८३।३) यहां परमात्माका ओषधियोंमें और सब प्राणियोंमें गर्भ धारण करना कहा है। तब क्या वादीके अनुसार परमात्मा ओषधियों तथा पशु-पक्षी-मनुष्यों आदिमें प्राकृत मैथुन वा गर्भ करने आता है? यदि नहीं, तब पुराणके उक्त वचनमें भी प्राकृत गर्भ इष्ट नहीं।

(८) पू०—महाभारत (शान्ति. ३४८।२७)में ब्रह्माजीकी नारायणके कानसे उत्पत्ति बताई गई है, और भविष्यपुराण (प्रति.खं. ४ अ. २५।१०८में 'सृष्टिकर्ता स वै ब्रह्मा लिङ्गेन्द्रिय-समुद्भवः' कहा है) दोनोंमें कौनसी गप्पको ठीक माना जावे।

उ०—अयोनिजकी उत्पत्ति कल्पभेदवश भिन्न-भिन्न प्रकारसे

वर्णित भी हो सकती है। 'लिङ्ग' भी मनुष्यता न होनेसे कोई प्राकृत इन्द्रिय नहीं है, किन्तु दिव्य-लिङ्ग ब्रह्माण्ड है, जिसे कि 'तद् अण्डमभवद् हैमं...तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः' (१।६) इस मनुपद्यमें संकेतित किया गया है, जिसे श्रीकुल्लूक-भट्टने 'तदीयं लिङ्गशरीरावच्छिन्न-जीवमनुप्रविश्य हिरण्य-गर्भरूपतया प्रादुर्भूतः' इस रूपमें बतलाया है। भविष्यपुराणके उक्त पद्योंमें महेन्द्रकल्प, स्कन्दकल्प आदि कल्पभेद स्पष्ट है।

(६) पू—'निवेदनं मदीयं च निबोध शैलकन्यके! शृङ्गारं देहि भद्रं ते हरये परमात्मने' (ब्रह्मवै.कृ.ज. ६।१४६-१६१) शिव पार्वतीको आदेश दे रहे हैं कि-तू मेरे कहनेसे विष्णुको अपना शृङ्गार दान कर दे (कुकर्म करा ले)।

उ०—यहां परमात्माको आत्म-समर्पण करना अर्थ भी हो सकता है। यदि वादी अपनी पत्नीको कहे कि-तू भगवान् परमात्माको आत्म-समर्पण करदे; तब क्या यह 'कुकर्म कराना' हो जावेगा? प्रकरणमें यहां श्रीकृष्णके दर्शनसे हरि-हरके अभेदके कारण पार्वतीके भी लक्ष्मीरूपा होनेसे-जैसा कि पुराणमें कहा है-यह हम अभी बताएँगे-रोमाञ्चित हुई पार्वतीको उसकी परीक्षार्थ शङ्करने यह कहा था; परन्तु पार्वतीने 'अयोग्यमीदृशं वाक्यं मां मा वद महेश्वर!' (६।१६६) इसे इस जन्ममें उचित न समझकर निषेध कर दिया, परन्तु शिवने अपना विष्णुसे अभेद बतलाया, और पार्वतीको भी विष्णुकी लक्ष्मी बताया। जैसे कि शिव कहते हैं—'अहं ब्रह्मा च विष्णुश्च, ब्रह्मैकं च सनातनम्। देवको भेदरहितो विषयाद् मूर्तिभेदकः। सर्वेषां प्रकृतिस्त्वं च माता त्वं सर्वरूपिणी। स्वयम्भुवश्च वाणी त्वं, लक्ष्मीर्नारायणोरसि। मम वक्षसि दुर्गा त्वं निबोधाध्यात्मकं सति!' (६।१६२-१६४) इन श्लोकोंको प्रतिपक्षीने छिपा लिया। इसी मूर्तिभेदको महाकवि कालिदासने रघुवंशमें स्पष्ट किया है—'अमंस्त चानेन परार्ध्य-जन्मना स्थितेरभेत्ता स्थितिमन्तमन्वयम्। स्वमूर्तिभेदेन गुणाग्र्य-वर्तिना पतिः प्रजानामिव सर्गमात्मनः' (३।२७) यहां विष्णुको ब्रह्माकी दूसरी मूर्ति कहा गया है।

यह अध्यात्मवाद शिवद्वारा जानकर सती-पतिव्रता पार्वतीने दूसरे जन्ममें जाम्बवतीके रूपमें अपना भिन्न शरीर दिया-'तव वाक्यं महादेव! पालयिष्यामि सर्वथा। देहान्तरे जन्म लब्ध्वा भजिष्यामि हरिं हर!' (६।१६७) यहां आगे कहा है-'पार्वती चाऽभयं ददौ' (१६८) 'तत्प्रतिज्ञापालनाय पार्वती जाम्बवद्गृहे। लभिष्यति जनुर्धातर्नाम्ना जाम्बवती सती' (१६९) 'अर्धांशेन शैलपुत्री, यातु जाम्बवतो गृहे। कैलाशे शङ्कराज्ञा च बभूव पार्वती प्रति' (६।१४३) अब वादी बतावे कि—इसमें आक्षेपकी क्या बात रही। वादीकी गत जन्मकी बहन भी इस जन्ममें उसकी पत्नी बन सकती है, उसकी पत्नी भी दूसरे जन्ममें उसकी माता वा बहन भी बन सकती है। तब क्या इससे वह अपनेको कुकर्मी मान लेगा?

दयानन्दी-अशक्त पतिकी इच्छा पूरी करनेकेलिए दयानन्दिन पत्नी तो उसी जन्ममें अन्यसे मैथुन करा लेती है। उसे पति

वैदिक-आज्ञा' देता है—'अन्यमिच्छस्व सुभगे ! पतिं मत्' तब इसका यही तो अनुवाद होगा—'शृङ्गारं देहि सुभगे ! तथा आलिङ्गनं स्वकम्। प्रेम्णा परस्मै पुंसे त्वं मदादेशात् पतिव्रते !' वादी कदाचित् इसका यह अर्थ करेगा कि—ऐ मेरी प्यारी स्त्री ! तू मेरे इस निवेदनको सुन। मेरे कहनेसे इस पर-पुरुषको तू अपना शृङ्गारदान कर दे। उसे आलिंगन दे दे (उससे कुकर्म करा ले)। अब वादी अपने महर्षिके नियोगको अपनी कलमसे 'कुकर्म' लिख दे, तब दयानन्दी-समाजमें उसकी पूरी प्रतिष्ठा होगी-यह हमारा विश्वास है। है क्या वह इसकेलिए तैयार ?

(१०) पू—भागवतमें मन्दराचलके मध्यमें ८८००० मील ऊँचा आमका वृक्ष लिखा है, जिसके पर्वतके शिखर के समान फल गिरते हैं-(५।१६।१६) हिमालय-पर्वतकी चोटी केवल ५।। मील ऊँची है, उसी पर इतना ऊँचा पेड़ लिख मारना पुराणकी पूरी गप्प है।

उ—अतिशयोक्ति एक अलंकार होता है, दोष नहीं। वैदिक एवं पौराणिक परिभाषामें इसे 'अर्थवाद' कहा जाता है; उसमें शब्दोंका अर्थ न देखकर केवल तात्पर्य देखना पड़ता है। कविकी भाषा आंखोंको 'कमलका पत्ता' कहती है; क्या आंख उस पत्ते इतनी बड़ी होती है ? 'अपि लोकयुगं दृशावपि···श्रुतिगामितया दमस्वसुर्व्यतिभाते' (२।२२) इस श्रीहर्षकविके पद्यमें दमयन्तीकी आंखोंको उसके कानों तक पहुँचा हुआ कहा गया है। क्या कभी वादीने इसे दोष बताया ? कई कविलोग 'स्तनावद्रि-समानौ ते' कहते हैं; कुचोंको हाथीके माथेके समान तो प्रायः सभी कवि कहते ही हैं।

एक अट्टालिकाका वर्णन एक कविने लिखा है—'चन्द्रचुम्बिन्याम् अट्टालिकायाम्' 'अभ्रंलिहः प्रासादः' यहाँ महलको अन्तरिक्ष तथा अटारीको चन्द्रका चुम्बन करने वाला बताया गया है। तब क्या वादी उस अटारीको २,३८,००० मील ऊँची मान लेगा ? वस्तुतः ऐसे स्थानोंमें अत्यन्त उच्चतामें तात्पर्य होता है; उतने परिमाणमें नहीं। वहाँ निर्दिष्ट-संख्या अविवक्षित होती है। सन्देह होता है कि-यह वादी कहीं 'साहित्यशास्त्रीय-कलाविहीन; साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः' का तो उदाहरण नहीं ?

वाग्भटालङ्कारमें अतिशयोक्ति-अलङ्कारका 'त्वद्वारिता-रितरुणी' इत्यादि उदाहरण मिलता है; उसका अर्थ है - हे राजा, तुमने जब असंख्य शत्रुओंको मारा; तो विधवा हो गई हुइ उनकी स्त्रियोंकी दुःखकी सांसें चलने लगीं। वे मिलकर एक भारी तूफान बन गया। उससे पहाड़ भी टकराने लगे। उस शब्दको सुनकर क्षीर-समुद्रमें सोये हुए विष्णुभगवान्की नींद भी उचट गई'। क्या वादीने कभी इस उदाहरणकी सदोषता पर भी लेखनी चलाई है। वस्तुतः अतिशयोक्ति एक अलङ्कार होता है दोष नहीं'। उसका तात्पर्य देखा जाता है, जिसे बच्चों जैसे वादी, नहीं समझ पाते। उत्तररामचरित्रमें श्रीरामके सीता-वियोगरूप शोककेलिए कहा है—'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य

हृदयम्' (१।२८) यहां पत्थरका रोना तथा वज्रके हृदयका दो टूक होना कहा है। वादीने कभी इस पर तो वायवेला नहीं मचाया कि-भला पत्थर कैसे रो सकता है? वज्रका हृदय भला कहांसे आया? यदि वह यहाँ कविकी अतिशयोक्ति समझ सकता है; तब पुराणके कवि 'नमः सर्वविदे तस्मै व्यासाय कविवेधसे' (हर्षचरित)—श्री व्यासकी अतिशयोक्ति समझनेका भी अभ्यास करे।

पूछा जाता है कि-स्वा.द.जीके लैक्चरोंमें कितने आदमी होते थे? उत्तर मिलता है—'असंख्य' !!! क्या इसका यह अर्थ होगा कि-उनकी कुछ भी संख्या थी ही नहीं? महाशय! यहां अज्ञेयता वा अकथनीयताको बतानेकेलिए ऐसे शब्द कह दिये जाते हैं। इसी प्रकार पुराणोंमें भी कोटि, लक्ष, सहस्र आदि शब्द स्वरूपपरक न होकर 'बहु' वाचक हुआ करते हैं। यह अतिशयोक्ति सर्वत्र चलती है। पुराणके मूलभूत वेदमें भी प्रयुक्त होती है। दिङ्मात्र वैदिक-अतिशयोक्तिको वादी देखे। वहां लिखा है—

'पर्जन्य इव ततनद्धि वृष्ट्या सहस्रम् अयुता ददत्' (ऋसं. ८।२१।१८) यहाँ चित्र नामक राजाका बादलोंकी बूंदों-इतनी करोड़ों मुद्राओंका देना बताया है। क्या वादी बादलकी बूंदें गिन सकेगा? 'सावर्ण्यस्य दक्षिणा वि सिन्धुरिवे पप्रथे' (ऋ. १०।६२।९) यहाँ सावर्णि मनुकी दक्षिणा सिन्धु (समुद्र) की तरह अपरिमित, अन्य सभी राजाओंसे बढ़कर कही गई है। क्या

वादी समुद्रकी बूंदों वा लहरों वा पानीका परिमाण कर सकेगा? 'सूर्येण अस्य यतमाना एतु दक्षिणा' (११) इस ऋ.सं.के मन्त्रमें मनुकी दक्षिणाका परिमाण लिखा है कि-वह इतनी ऊँची थी कि उसे पृथ्वी पर रखा जावे, तो वह सूर्यके पास जाकर पहुंचे। 'रथं...मनोजुवं...सहस्रकेतुं' (ऋ. १।११९।१) 'मनसो जवीयान्...वातरंहाः' (१।११८।१, १।११७।२) इन मन्त्रोंमें रथकी गति मन तथा वायुसे भी तेज कही गई है, उसपर हज़ारों झण्डे दिखाये गये हैं, क्या यह सम्भव हो सकता है? यह वेदकी अतिशयोक्तिका एक छोटा-सा नमूना है।

सो जैसे इन वैदिक-अतिशयोक्तियोंका पर्यवसान बहुलतामें रहता है, वैसे वेदके भाष्य पुराणोंमें भी समझ लेना चाहिये। वादी दोषदृष्टि हटा दे, तभी तात्पर्य प्रतिभात होंगे। वह ऊपर-ऊपर न रहे, गह्वरेमें घुसे, तभी रत्न मिलेंगे। उसका ज्ञान 'विह्वणो वृषणायते'की भांति बाहर-बाहर रहेगा; तो रहस्यमय आनन्दकी प्राप्ति उसे नहीं मिलेगी, रत्न नहीं मिलेंगे।

और फिर यह देवताओंका वर्णन है। देवता स्वयं बड़े-बड़े होते हैं। सूर्यदेवताको ही देख लो, वह १३ लाख पृथिवियों-इतना बड़ा है। यदि आजकी सायन्स यह न कहती; तो वादी इसे भी गप्प बताता। उसे थाली-इतना मानता। कई अगस्त्य आदि तारे द्युलोकमें ऐसे हैं कि-वे सूर्यसे भी बड़े हैं, यहां उनका प्रकाश भी अभी तक नहीं पहुँच पाया। सो स्वयं बड़े देवोंका

वृक्ष भी यदि बड़ा हो, तो उसमें 'गप्पवाजी' क्या बतानी ?
देवताओंके पुराणवर्णित पहाड़ोंको इस लोकके पहाड़ मान लेना
वादीकी नादानी है। वे द्युलोकमें हैं। वहां जो तारे हैं, वे देव-
स्थान हैं। 'देवगृहा वै नक्षत्राणि' (तैत्ति.ब्रा. १।५।२।६) वहां
बड़े ऊँचे पहाड़ और ऊँचे वृक्ष हों, उनके बड़े फल हों, यह
वादीका साइन्स आगे बतावेगी। वादीकी बुद्धि संकुचित है,
अतः उसमें पौराणिक स्थूल-विषय प्रविष्ट नहीं हो सकता। जब
उसमें उसे घुसाया जाता है, तब इससे वह चीखता-चिल्लाता
है, गालियाँ देता है, हाय-हाय करता है, यदि वह उस बुद्धिको
चिकना एवं विशाल करा ले; तब फिर पौराणिक-स्थूलविषय
उसमें पूरा, बिना कष्टके समा जायगा। और उसे आलोडित
करनेपर उसकी बुद्धिमें बहुत आनन्द प्रस्तुत होगा। मन्दरपर्वत
तथा कलशसमुद्रको द्युलोकमें समझना चाहिये; जिसमें देवता
एवं दैत्योंके द्वारा मन्थन हुआ। मन्दराचलको हिमालय पहाड़
मानना वादीका अज्ञान है। द्युलोकस्थित-ग्रहों आदिमें बड़े-बड़े
पहाड़ और समुद्र वा वृक्षादि हैं। यहां उक्त समुद्र एवं पर्वत
इस लोकके इष्ट नहीं; क्योंकि—'दिवि देवाः' (अथर्व. ११।७(९)
२३) देवता द्युलोकमें रहते हैं; और द्युलोक 'दिवं च पृथिवीं
चान्तरिक्षमथो स्वः' (ऋ. १०।१९०।३) इस वेदवचनसे पृथिवी-
लोकसे भिन्न है। वादी इतना भी नहीं सोचता कि—मथनमें सूर्य
आदि देवता भी शामिल थे; तब इतना बड़ा सूर्य पृथिवीलोकके
एक भाग समुद्र पर कैसे आ सके; जबकि पृथ्वी भी उससे बहुत

छोटी और उसीका एक छोटा-सा अंश है। अतः यह मथन
द्युलोकमें समझना चाहिये, मन्दराचल आदि पर्वत तथा कलश-
समुद्र भी उसी लोकके समझने चाहियें, इस लोकके नहीं।

(११-१२) पू—भागवत (५।१५।७) में मेरु पर्वतको ८ लाख
मील बताया है। हिमालय पर्वतको ही मेरु कहते हैं। जमीनसे
चन्द्रमा २,३८,००० मील ऊँचा है, और हिमालयको एक लाख
योजन बताना महागप्प है। इसी तरह विष्णुपु. (१।१६ ११)में
८०० मील ऊँचा किला लिखा है।

उ०—स्वर्गका मेरुपर्वत भी देवताओंका निवास होनेसे और
गत लेखमें देवताओंका द्युलोकमें निवास सिद्ध होनेसे उसे
द्युलोकमें समझना चाहिये, मनुष्यलोकमें नहीं। अब भी मङ्गल
आदि ग्रहोंमें बहुत ऊँचे पर्वतोंका संकेत मिलता है। हिमालय
पर्वत हिमका है, हेम (सुवर्ण)का नहीं, अतः वादीका हेम-
(सुवर्ण) पर्वत सुमेरुको हिमालय बताना उसका महान् अज्ञान
है। भला सूर्य जैसे बड़े-बड़े देवताओंका—भूलोकके छोटे पहाड़
पर निवास कैसे हो सकता है, यह भी वादीको नहीं सूझता।
विष्णुपुराणका किला हिरण्यकशिपु दैत्यका है, वे तो देवताओंके
बड़े भाई माने गये हैं, तब उनके उतने स्थानमें भी आश्चर्य कुछ
नहीं। बल्कि वादी तो इसमें दोष दे कि—यह परिमाण छोटा है।
महल (प्रासाद) को किला बताना वादीका संस्कृतपाण्डित्य
बता रहा है।

अन्य ग्रह भी बात है कि—नाप-तौलके पैमाने समय-समय

पर बदलते रहते हैं। 'पहले ६४ पैसोंका १ रुपया होता था; पर अब १०० पैसोंका एक रुपया है। पहले योजनका हिसाब होता था, फिर कोसोंका होने लगा, कुछ पहले मीलोंका होता था, पर अब किलोमीटरोंका होने लगा है। कभी कपड़ेके नापमें गजोंका हिसाब होता था, कभी फुट-इन्चोंका, और अब मीटरोंका यह हो रहा है। पहले मन सेर होते थे, अब किलो-ग्राम आ गये, लीटर आ गये। अतः यह परिमाण समय पाकर बदलते रहते हैं। पुराने परिमाणोंको आजकलकी तराजूसे तोलना बुद्धिमत्ता नहीं। यह कानूनविरुद्ध है। पुराने बांटोंको आजकलके बांटोंके समान मानना नासमझी है। सम्भव है, उस समय आजकलके मुढोंको ही योजनरूपसे वर्णित किया जाता हो।

वस्तुतः देवताओंका परिमाण सोचकर तो यही कहना पड़ेगा कि—यह परिमाण बहुत छोटे हैं; अतः यह परिमाण भी उनके अपने परिमाणके अनुसार समझने चाहियें। हमारे परिमाणोंके अनुसार नहीं। 'वर्ष'का अर्थ जब मीमांसाके अनुसार 'दिन' हो सकता है; तब कोई कारण नहीं कि—उस समयके परिमाणोंको आजकलका ही योजन (चार कोस) माना जावे। उनको फुट वा इन्च समझ लो; यदि छोटी बुद्धि होनेसे न समझ सको तो। पर वस्तुतः ऐसा नहीं है। जब सूर्य-चन्द्र आदि देवताओंके भी परिमाण बड़े-बड़े हैं; विष्णु तो जगत्भरमें ही व्यापक माने जाते हैं, तब उनके निवासस्थान इस लोकमें

नहीं समझने चाहियें। 'पादोस्य विश्वा भूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि' (यजुः ३१।३) यह लोक तो उस वामन, परन्तु पीछे विशाल हो गये हुए विष्णुका एक पांव है; उसकी शेष त्रिपाद-अत्यन्त विशाल महिमा तो द्युलोकमें मिलेगी, इस लोकमें नहीं। जब इन बातोंपर वादी विचार कर लेगा, तब उसकी इसी प्रकारकी सब लघु-दीर्घ शङ्काएँ सूख जावेंगी।

(१३) पू—भाग. (१०।९०।४१-४२) में यदुवंशके बालकोंके शिक्षक ३,८८,००,००० बताये गये हैं। स्वयं उग्रसेनके साथ १ नील सैनिक रहते थे। उनके भाई-बहन मां-बाप आदि अन्य रिश्तेदार भी होंगे। जब वे लेटनेको खाटें बिछाते होंगे; तो ज़मीन-समुद्र वा पहाड़ सभी थोड़े रहते होंगे। पेशाब करते होंगे; तो ज़मीनपर समुद्र बन जाते होंगे। उन्हें खाना परोसने-वाले नौकर भी अर्बों-खर्बों होंगे, उनके मकानादि सब स.प. सभाओंके दफ्तरों वा भागवत बनानेवाले की गंजी खोपड़ीपर बनते होंगे।

उ०—यहां वादीकी सभ्यता दीख रही है। श्रीमद्भा.के 'तिस्रः कोट्यः सहस्राणां' इस आक्षेप्य-पद्यमें यह आवश्यक नहीं कि—'कोटि'का 'करोड़' ही अर्थ हो। 'कोपकोटिमापन्नाया' यह पञ्चतन्त्रमें संकरकी अत्यन्त-क्रुद्ध स्त्रीकेलिए कहा गया है। यहां 'कोटि'का अर्थ 'करोड़' नहीं, किन्तु 'चरमसीमा' अर्थ है। 'त्रयस्त्रिंशत्कोटिदेवता'के 'कोटि' शब्दका डा. सम्पूर्णानन्द 'वर्ग' अर्थ करते हैं। पुराणोंमें 'कोटि' आदि शब्द 'बहु' अर्थमें भी

आते हैं। देखो 'आलोक' (७) पृ. ८५-८६।

इसके अतिरिक्त यादव उस समय सारी पृथ्वीपर छाये हुए थे। आजकल जैसे स्थानकी न्यूनतासे धनिक लोग आकाशकी ओर दौड़ रहे हैं, जैसे कि—अमेरिकामें ५०-५० मंजिलोंके मकान भी सुने जाते हैं, वैसे प्राचीनकालमें भी कुछ असम्भव नहीं। उस समय तो आकाशसे ऊपर द्युलोकमें भी स्थिति की जाती थी। आजकल भी चन्द्रमा वा मंगलमें जमीनें रिज़र्व की जा रही हैं। वल्कि श्रीकृष्णभगवान‌ने तो समुद्रपर भी द्वारकापुरीको विश्वकर्मा (देवशिल्पी) द्वारा बसा दिया था; 'अन्तःसमुद्रे नगरं कृत्स्नाद्भुतमचीकरत्' (१०।५०।५०); तब देवकल्प यादवोंकेलिए 'असम्भव' शब्दका प्रयोग ठीक नहीं।

एक नील सेनाके विषयमें यह जानना चाहिये कि—आजकल कहा जाता है कि—हमारे भारतकी ४० करोड़ सेना है। सो सभी भारतरक्षाके प्रेमी भारतीयोंको भारतीय सैनिकरूपसे कह दिया जाता है; इसी प्रकार सभी भूमण्डलभरके यदुवंशी एवं भिन्न लोग देशरक्षार्थ उग्रसेनके साथ थे, सैनिकोंके सभी सम्बन्धी वा नौकर भी सभी देशरक्षाव्रती होनेसे सैनिकोंमें ही माने जाते थे, पृथक् नहीं। अतः विचारदृष्टि होनेपर यह सभी सन्देह निराकृत हो सकते हैं। अथवा वादी तंग खोपड़ीवाला होनेसे यह न समझ सके; तब हम उसके आगे एक सुगम दृष्टिकोण रखते हैं। वह यह है कि—सिखोंके गुरु गोविन्दसिंह अपने एक भी सिखको सवा लाखकी संख्यावाला कहा करते थे। 'चिड़ियासे

मैं बाज लड़ाऊँ। सवा लाखसे एक लड़ाऊँ' इत्यादि। सो जब श्रीमद्भा.में 'तन्निग्रहाय हरिणा प्रोक्ता देवा यदोः कुले' (१०।६०।४४) दैत्योंके निग्रहकेलिए यदुवंशमें देवताओंकी उत्पत्ति बताई है, तब वे थोड़े होते हुए भी इतनी संख्याकी शक्तिवाले होनेसे इतनी असीमित संख्यावाले कहे जाएँ; तब उसपर भी शङ्का करना वादीके दिमागकी अत्यन्त निर्बलता सिद्ध करता है। वेदमें इन्द्रके द्वारा वर्ची नामक दैत्यके सौ हज़ार (एक लाख) पुत्रोंका मारना कहा है—'यो वर्चिनः शतम् इन्द्रः सहस्रम् अपावपत्' (ऋ. २।१४।६) जब एकके एक लाख पुत्र वेदानुसार हो सकते हैं; तब एक-एक यादवके भी इसी प्रकार बहुतसे पुत्र हों, तब ५६ करोड़ यादवोंकी पुत्रसंख्या, शिक्षकोंकी संख्या तथा सैनिकोंकी संख्यामें वेदविरोध क्या पड़ेगा—यह वादी अब स्वयं बतावे। उन एक लाखको फिर इन्द्रने अकेले मारा—यह वेदकी अतिशयोक्ति यदि वादीके समझ आ सकती है; तो पौराणिक-अतिशयोक्ति भी उसे समझ आ जानी चाहिये।

(१४) पू—शिवलिङ्गपर चढ़ी हुई वस्तुको छू लेनेपर स्नान करनेका विधान है। शिवनिर्माल्यको कुएँमें फेंक दे (पद्म.पा.खं. ११४।२०४) शिवका प्रसाद मद्य-मांस वा विष्ठाके समान है (पद्म.उ.खं. २५५.७१,१०४-१०७)। (ख) 'मधुकुम्भसहस्रैस्तु मांसभारशतैरपि। न तुष्यामि वरारोहे! भगलिङ्गामृतं विना' (कुलार्णवतन्त्र ८ उल्ला.) शिव कहते हैं—मैं 'भगलिङ्गामृत' (रज-वीर्य)से सन्तुष्ट होता हूँ। शिवालयमें हवनादि नहीं करना

चाहिये (भविष्य.ब्रा. २१०।५५)। (ग) जो भस्म आदि धारण करेंगे; वे नरकमें पड़ेंगे' (पद्म.उ.खं. २६३ वा २३५ अध्याय)। शिवलिङ्गपूजकोंको घोर दुःख मिलेगा (देवी.)।

३०—शिवनिर्माल्यकी निन्दा वैष्णवोंकेलिए इष्ट है। वह एक देवमें निष्ठास्थापनार्थ है। इसे अर्थवाद कहा जाता है। स्वा.द.से भी मान्य चाणक्यनीतिमें कहा गया है—'पादशेषं पीत-शेषं सन्ध्याशेषं तथैव च। श्वानमूत्रसमं तोयं पीत्वा चान्द्रायणं चरेत्' (१७।११) इसमें सन्ध्याके बच गये हुए जलको श्वानके मूत्रके समान अपेय एवं अग्राह्य बताया है; तब क्या सन्ध्याका बचा हुआ जल सचमुच कुत्तेके पेशाबके समान अस्पृश्य हो जाता है? नहीं। 'उसका पीनेके कार्यमें सर्वथा प्रयोग नहीं करना चाहिये' केवल इस बातका कड़ाईसे पालन करानेकेलिए ऐसे भयानक अर्थवाद प्रयुक्त किये जाते हैं।

इसके अतिरिक्त शिव हैं तमोगुण एवं प्रलयके देवता; तब सत्त्वगुणके अधिष्ठाता विष्णुके भक्त उधर जाकर कहीं हानि न उठा बैठें; इसलिए शिवसम्बन्धी वस्तुओंके उपयोगके निषेधार्थ ऐसे कड़े अर्थवाद लिखे जाते हैं। विषके कीड़ेको अमृतके सेवन करानेसे और अमृतके कीटको विष सेवन करानेसे उन कीटोंका अनिष्ट ही हुआ करता है। इसलिए वैद्य लोग भी रोगीकी प्रकृति देखकर उसकेलिए तदनुकूल औषधि तथा पथ्यकी व्यवस्था करते हैं। कड़े निषेधके बिना निषेध्यसे प्रवृत्ति छूटती ही नहीं। जब तक वैद्य रोगीको किसी अनिष्ट-वस्तुके सेवनसे

मृत्यु आदिका डर नहीं दिखलाता; तब तक रोगी उसका प्रयोग नहीं छोड़ता। पुराणोंके भयानक निन्दार्थवादोंका इसी प्रकार तात्पर्य समझना चाहिये। उनके शब्दोंके अर्थ नहीं देखते रहना चाहिये। वैसा अर्थ तो बच्चे समझते हैं, विद्वान् नहीं। वस्तुतः प्रकृत-प्रकरणमें यह परिहासार्थ कहा गया है; देखो (११४।२०)। शिवभक्तोंकेलिए तो शिवपुराणमें शिवका प्रसाद ग्राह्य कहा है (विद्येश्व. २२।३-४-८)। पद्मपुराणमें भी 'अभुक्ते त्वद्वचो नूनं भुक्तं चापि कृपा तव' (५।११४।२०५) उसका खाना भी कहा है।

पद्म. (उत्त. २५५।१०४-१०७)में शिवनिर्माल्यकी निन्दा अपमानित भृगुद्वारा क्रोधवश की गई है। सो वह कथन वैयक्तिक होनेसे शिवभक्तोंकेलिए ग्राह्य नहीं है। क्रोधमें किसी व्यक्ति द्वारा कही हुई बात वैयक्तिक होती है, उसका सार्वत्रिक महत्त्व नहीं होता। वहां विष्णुकी महिमा इष्ट होनेसे विष्णुमें निष्ठा-स्थापनार्थ भृगुने शिवनिर्माल्यकी निन्दा की है। उसमें तात्पर्य लेना चाहिये कि-वह वैष्णवोंसे अग्राह्य है, शैवोंसे नहीं।

स्वा.द.ने ही क्रोधवश व्यासजी आदिको कसाई, गवरगंड, पोप आदि सैकड़ों गालियाँ दी हैं, कई व्रतोंकी उन्होंने निन्दा की है, रुद्राक्षकी माला पहनना उनने जंगली व्यवहार माना है, यद्यपि यह सब वे पहले स्वयं करते ही थे [तब शायद वे जंगली होंगे!]; पर यह नहीं कि-उनकी बात सभीकेलिए ग्राह्य ही हो; और सभी शैव रुद्राक्ष आदि पहनना बन्द कर दें। बल्कि स्वा.द.जी भी किसी ज़मानेमें शैवोंकी भस्म लगाते थे; रुद्राक्षकी माला

स्वयं भी पहरते थे, और दूसरोंको भी पहराते थे। आज तो रुद्राक्षकी माला पहरनेसे रक्तचापकी बीमारी दूर हो जाना माना जाता है। सो दयानन्दी-साम्प्रदायिकोंके अतिरिक्त शेष शैव आदि सम्प्रदाय, भिन्न अपना वैयक्तिक स्वेच्छाचारी सम्प्रदाय चलाने वाले स्वा.द.का महत्त्व नहीं मानते। अतः स्वा.द.से निन्दित की हुई बातें शैव आदियोंमें निन्दित नहीं मानी जातीं। वे स्वा.द.से की हुई उस निन्दाको केवल एक क्रोधी एवं स्वेच्छाधर्मी व्यक्तिकी बड़बड़ाहटमात्र मानते हैं। वादीसे अपमानित होकर कोई व्यक्ति वादीको क्रोधवश गालियोंकी बौछार कर दे; तब क्या वादी अपनेपर दी जाती हुई उन गालियोंको सच मान लेगा? इस प्रकार क्रोधवश भृगुकेद्वारा शिवनिर्माल्यकी की हुई निन्दा भी वैयक्तिक होनेसे सबकेलिए ग्राह्य नहीं। मंगलवार भक्त लोग श्रीहनुमान्का प्रसाद नुग़दी आदि खाते हैं; पर उस मंगलके दिन एकादशी आ पड़े; तो उपवासव्रती हनुमान्के भक्त होते हुए भी उस (नुग़दी) को उस दिन नहीं खाते। इससे वह श्रीहनुमान्का अपमान भी नहीं समझते। इसी प्रकार-'नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः। स प्रेत्य पशुतां याति सम्भवानेकविंशतिम्' (मनु. ५।३५) यह मांसभक्षीकेलिए कहा हुआ पद्य अमांसशीपर कभी लागू नहीं होता है।

'शिवनिर्माल्यको मद्य, मांस, विष्ठाके समान' कहना यह भयानक निन्दार्थवाद है। इसमें वैष्णवोंकेलिए अग्राह्यताका

तात्पर्य है, इसका यथाश्रुत अर्थ नहीं। श्रीदेवेन्द्रनाथमुखोपाध्याय-के लिखे स्वा.द.जीके चरित्रमें स्वा.द.जीका एक व्याख्यान लिखा है कि-पञ्चमहायज्ञोंके बिना किये जो भोजन करना है, वह 'गोमांसभोजन' है। सो स्वा.द. जिनके यहां भोजन करते थे; वे सभी पञ्चमहायज्ञ करनेवाले नहीं थे; तब क्या स्वा.द. उनके यहां 'गोमांसभोजन' करते थे? वादी भी पूरे पञ्चमहायज्ञ नहीं करता, तब क्या वह भी 'गोमांसभोजी' है? वस्तुतः एतदादि-स्थलोंमें निन्दार्थवाद हुआ करता है, शब्दोंका यथाश्रुत अर्थ नहीं हुआ करता।

व्रतोंकी पुस्तकोंमें लिखा है कि-'एकादशीके दिन जो चावल खाता है, वह कीड़े खाता है, जो उस दिन अन्न खाता है, वह पाप खाता है'? वादी एकादशीका व्रत नहीं करता; तब वह उस दिन चावल खाता हुआ कीड़े खाता है? यदि वह कहे कि-यह भयानक निन्दार्थवाद उन व्रतोंको माननेवालेकेलिए है, हम दयानन्दियोंकेलिए वह ग्राह्य नहीं; इस प्रकार वादी यहां भी समझे कि-वैष्णव पद्म-पुराणके शिवनिर्माल्यके निन्दार्थवाद वैष्णवोंकेलिए हैं कि-वे उसका प्रयोग न करें, शैवोंकेलिए उसका निषेध नहीं। इस प्रकार शिवपुराणके निन्दावचन भी समाहित समझ लो।

(ख) 'भगलिङ्गामृतं विना न तुष्यामि' यह तन्त्रका पद्य है। तन्त्र-शास्त्रमें मद्य, मांस, मीन, मैथुन, मुद्रा आदि शब्द पारिभाषिक होते हैं। इस विषयमें 'आलोक' (५) (पृ. ७६८-८०५)

देखें। वहां 'बालरण्डाबलात्कार, गोमांसभक्षण, वारुणीपान, मैथुन' आदि शब्दोंकी परिभाषा भी बताई गई है। भग तथा लिङ्गकी परिभाषा तो शिवपुराणमें भी लिखी है। इसकेलिए 'आलोक' (७) देखो। अथवा—'लिङ्गमर्थं हि पुरुषं शिवं गमयतीत्यदः। शिवशक्तयोश्च चिन्हस्य मेलनं लिङ्गमुच्यते' (शिव. विद्ये. १६।१०७) इत्यादि परिभाषा देखो। इस प्रकार 'भगलिङ्गा-मृत' भी तन्त्रशास्त्रका परिभाषिक शब्द है। इन सबकी परिभाषाएँ निर्वाणतन्त्र, मेरुतन्त्र आदिमें बताई गई हैं। आशा है—वादी उनका स्वयं ज्ञान बढ़ावेगा, दूसरोंको व्यर्थ भ्रममें नहीं डालेगा। इस विषयमें आगे भी लिखा जावेगा।

(ग) जो कि भस्म आदिके धारणसे निरय-पात दिखलाया है, वह 'निरय' शब्द भी पारिभाषिक है। इस विषयमें 'आलोक' (७) पृ. ६३३, ६६७ पृष्ठोंकी टिप्पणी देखो। भिन्न देवके पुराणमें उससे भिन्न देवकी निन्दा चाहे उसी देव-द्वारा भी की गई हो, उसका भाव 'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, किन्तु निन्दिताद् इतरं स्तोतुम्' इस न्यायसे अपने विधेयकी स्तुत्यर्थ हुआ करता है। इस शास्त्रीय-शैलीका ज्ञान वादीको रखना चाहिये, नहीं तो वह अपनी ही लघुशङ्काओंमें डूबता-उतराता रहेगा; और अपनी दीर्घशङ्काओंसे तो बेचारा दब जाता रहेगा।

(१५) पू—ऐतिहासिक शोधकर्ता तथा भाषा-विज्ञानके विद्वानोंने पुराणोंका रचनाकाल गुप्तकालके लगभग माना है। (ख) पुराणोंमें जैन वा बौद्ध-धर्मका वर्णन मिलता है, जैसे

कि='नमस्ते गूढदेहाय वेदनिन्दाकराय च। योगाचार्याय जैनाय बौद्धरूपाय मापते !' (शिव. रुद्र. युद्ध. १६।११) (ग) 'जिनधर्मं समास्थाय वेदबाह्यं स वेदवित् (बृहस्पतिः)' (मत्स्य. २४।४७) 'नाभेः पुत्रश्च ऋषभः, ऋषभाद् भरतोऽभवत्। तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते' (स्कन्द.महेश्वर. कौमारखं. ३७।५७) नाभिराजाकी पत्नी मेरुदेवीसे ऋषभदेव हुआ (लिङ्ग.पू. ४७ १९-२०)। (घ) 'रेखाः प्रसादवत्त्वाभा न्यूयुस्तीर्थङ्करं सुखम्' (स्कन्द. काशी. ३७।७७) यहां 'तीर्थङ्कर' शब्द जैनधर्मके तीर्थङ्करोंका वाची है। (ङ) 'न वदेद् यावनीं भाषां (उर्दू)... न गच्छेद् जैनमन्दिरम्' (भविष्य.प्रति. ३।२८)। जैनमतनिन्दा-(पद्म.भूमि. २।३८।२६-२७)। जैनधर्मकी व्याख्या—"अर्हन्तो देवता यत्र निर्ग्रन्थो दृश्यते गुरुः। दया चैव परो धर्मः...क्षपणस्य तथा पूजा अर्हते ध्यानमुत्तमम्। अयं धर्मसमाचारो जैनमार्गे प्रदृश्यते। एतत्ते सर्वमाख्यातं जैनधर्मस्य लक्षणम्' (पद्म.भूमि. ३७।१७-२१)। (च) 'बौद्धागमविनिर्दिष्टान् धर्मान् वेदपराँस्तथा।' (शिव.रुद्र. युद्ध. ५।३५) 'दशकोट्यः स्मृता आर्या बभूवुः बौद्धमार्गिणः' (भविष्य.प्रति. ४।२०।३०-३३)। (छ) 'ततः कलौ सम्प्रवृत्ते संमोहाय सुरद्विषाम्। बुद्धो नाम्ना जिनसुतः कीकटेषु भविष्यति' (भाग. १।३।२४) इस निन्दा-स्तुतिसे स्पष्ट है कि—पुराणोंका रचनाकाल जैन वा बौद्धधर्मकी स्थापनाके बादका है। आश्चर्य यह है कि वेदविरोधी बुद्धको भी पौराणिकों-द्वारा विष्णुके अवतारोंमें सम्मिलित कर लिया गया है।

३०—(क) शोधकर्ता भाषा-विज्ञानके आजकलके विद्वान् तो ऋ.सं.के प्रथम और दशम मण्डलको तथा अथर्ववेदको भाषा-भेद सिद्ध करके अर्वाचीन मानते हैं; तब क्या वादी उनकी बात मानता है? यदि नहीं, तब हम पुराणविषयक उन शोध-कर्ताओंका अशुद्ध मत क्यों मानें?' ऋषभ आदि हमारे ही थे। कई मन्त्रोंका ऋषि भी 'ऋषभ' है; तब क्या उसे वादी जैनों वाला मान लेगा? वहांपर 'ऋषभ'के लड़के 'भरत'से 'भारतवर्ष' बनाना कहा है; यह वादीके दिये स्कन्द तथा लिङ्ग पुराणके वचनमें ही स्पष्ट है; तब क्या वादी भारतवर्षके 'भारत' नामको जैनियोंके गुरुसे दिया मानता है? यदि यह नहीं; तो वह भी नहीं। 'ऋषभ'का लिङ्गपुराणमें परमात्मामें ध्यान कहा है, 'जिन'में नहीं। अतः यह 'ऋषभ' जैन नहीं। ऋषभ आदि हमारे ही हैं, जैनोंने उन्हें अपना लिया। जैसे हमारी रामायण है, उसमें हनुमान् आदिको उनने अपने पात्रोंमें शामिल कर दिया, उनकी उत्पत्तिमें भी कुछ भेद कर दिया। तब क्या वादी अपने विद्वान् माने जाते हुए हनुमान् तथा रामादिको जैनोंसे आया हुआ मान लेगा?

(ख) बृहस्पतिका जो जिन-धर्मका अवलम्बन कहा गया है, वहां 'जिन'से 'नास्तिक'का भेद इष्ट है, वर्तमानका बुद्धधर्म नहीं। स्वा.द.जीने भी अपने 'उणादिकोष'में 'जिन'का अर्थ 'नास्तिकभेद' (३।२ पृ. ५१) किया है; बौद्ध नहीं। स.प्र.के १२वें समु.के आरम्भमें भी स्वा.द.जीने वेद-बाह्य बृहस्पतिको

'नास्तिकमत' ही कहा है, 'बौद्ध' नहीं। स.प्र. (१२ पृ. २५६)में बृहस्पतिको 'चारवाकमतप्रचारक' कहा है; 'बुद्धधर्मप्रचारक' नहीं। पृ. २५६ में स्वा.द.जीने 'चार्वाक और जैन-बौद्धों'का परस्पर भेद दिखलाया है। तब वादीका पक्ष गलत हुआ। नास्तिक मत भी अनादि चला आता है, सृष्टिकी आदिमें स्वा.द.से मानी हुई मनुस्मृतिमें भी 'नास्तिक'का उल्लेख है।

(ग) 'अर्हन्' शब्द वेदाङ्ग पाणिनि-अष्टाध्यायी (३।२।१३३) में भी सिद्ध किया है। ऋसं. (२।३।१, ३।३३।१०, ७।१८।२२, १०।२।२; ६६।७) में भी 'अर्हन्' आया है; तब क्या वादी वेदोंको भी बौद्धोंके बाद बनाया गया मानेगा?। 'जिन'का अर्थ है 'जयति'। उसकी सिद्धि 'इण्-सिञ्-जि' (३।२) इस उणादिसूत्रसे नक् प्रत्यय करनेपर होती है। सो यह जयशीलका नाम है। सो भगवान्ने अन्यायी दैत्योंको माया-मोहमें डालकर मोहित करके जीत लिया—इसलिए उनका नाम 'जिन' पड़ा; उसीको पुराणोंने अनूदित किया है। पीछे फिर उस मतको अन्य लोगोंने ले लिया; नाम भी वही ले लिया; पीछे उनका सम्प्रदाय चल निकला। फलतः पुराण उस साम्प्रदायिक-जिनमतसे पूर्वके सिद्ध हुए। मतमतान्तर तो पीछे चलते रहते हैं। बृहदारण्यक (२।४।१०) तथा शतपथब्रा. (१४।५।४।१०) में ऋग्वेदादिकी भांति इतिहास-पुराणोंको भी परमात्माका निश्वास माना है। इतिहास-पुराणसे ब्राह्मणभाग जो पुराणेतिहासका मूल है, का भी ग्रहण होता है; पुराणोंका भी। इसीलिए गोपथ (पू. २।१०) में 'पुराण'

को ब्राह्मणसे भिन्न भी बताया है। सो जैसे परमात्माने 'ये च पूर्व ऋषयो ये च नूत्ना इन्द्र! ब्रह्माणि जनयन्त विप्राः' (ऋ. ७।२२।६) 'उतो घा ते पुरुषा इदासन् येषां पूर्वेषामशृणोर्ऋषीणाम्' (ऋ. ७।२६।४) आदि मन्त्रोंमें पीछेके ऋषियोंके प्राचीन-अर्वाचीन दो भेद भविष्यद्दृष्टिसे बना दिये; वैसे परमात्माके अवतार व्यासजीने भी पीछेके कई सम्प्रदायोंका भी भविष्यद्दृष्टिसे पहले ही वर्णन कर दिया। यह जब वादी ठीक-ठीक समझले, तब उसका भ्रम हट जायगा। वह और देखे-

स्वा.द.जीने 'तरुतारं रथानाम्'में तारयन्त्रका वेदमें निरूपण किया है, 'द्वादश प्रधयः चक्रमेकं' स्वा.द.जीने 'हवाई जहाज'का निरूपण वेदमें बताया है। अब अंग्रेजी ज़मानेमें यह दो यन्त्र बन गये; अब इसमें क्या वादी यह मानेगा कि-वेद इन यन्त्रोंसे पीछेका बना? इसी प्रकार सृष्टिके आदिमसाहित्य पुराणके जिन-बुद्धधर्म आदिके विषयमें भी जानकर वादीको अपने भ्रम दूर कर लेने चाहियें।

(घ) अथवा पुराणोंमें इन्हीं वर्तमान जिन-बुद्धके नाम माननेका ही आग्रह हो; तो यह स्मरण रखना चाहिये कि-श्रीमद्भागवत-पुराण सब पुराणोंके बाद प्रकट हुआ माना जाता है; उसमें 'बुद्धो ''भविष्यति' (१।३।२४) इसमें 'बुद्ध'का वर्णन भविष्यत्-कालसें है; इस प्रकार उससे पूर्वके पुराणोंमें जहां बुद्ध-जिन आदि मिलें; उनमें भी भविष्यत्काल समझना चाहिये। जैसे कि पूर्व कहे वेद-('ये च पूर्वे ऋषयो ये च नूतनाः' ऋ.

७।२२।६) वचनमें प्राचीन तथा अर्वाचीन ऋषियोंका भविष्यद्दृष्टिसे निरूपण कर दिया गया है। यदि कहीं उनके वर्णनमें पुराणमें भूतकाल दीखे, वहां 'कल्किपुराण'की भांति समझना चाहिये। कल्की-अवतार अभी नहीं हुआ, फिर भी उसका पुराणमें वर्णन मिलता है। बल्कि कल्किपुराण इसकेलिए पृथक् भी बना हुआ है, उसमें कल्कीकी लीलाएँ भूतकालमें लिखी हैं। कल्की अवतार अभी नहीं हुआ। कलियुगके अन्तमें होगा; तब भी उस भविष्यमें होनेवालेमें भी भूतकाल है। यहां भी वैसे समझें। अन्य भी वेदवचन वादी देखे-'इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे' (यजुः ४०।१३) मन्त्रका अर्थ स्वा.द.जीने किया है-'जो विद्वान् लोग हमारेलिए व्याख्यापूर्वक कहते थे''' इस प्रकार उन आत्मज्ञानी विद्वानोंसे उन वचनोंको हम लोग सुनते थे' यह भूतकाल है; तब क्या यजुर्वेद उन आत्मज्ञानी विद्वानोंसे पीछेका बना हुआ है? इसका जो उत्तर वादी देगा; वही उत्तर पुराणके भूतकालका भी हो जायगा।

(ङ) शिवपुराणमें भगवान्-विष्णुका बौद्धरूपधारण कहा है, सो वहां विष्णुका कल्की रूप भी बताया है। इससे स्पष्ट है कि-यह वर्तमान जैन-बौद्ध वहां इष्ट नहीं हैं; इसलिए वहांपर 'मा-पते!' (लक्ष्मीपते!) (रुद्रसं. युद्ध. १६।११) आया है। कहीं भविष्य आदि पुराणमें 'वैदिकधर्मी' शब्द वा 'आर्यधर्माणः' शब्द आ जावे; तो वहां आजकलके दयानन्दी इष्ट नहीं हो जाते; जिनने वेदको अपने पीछे चलाकर अपनी निर्मूल

कल्पनाएँ खड़ी कर दी हैं; न वह पुराण दयानन्दियोंसे पीछेका हो जाता है। वेद सृष्टिकी आदिमें हुआ माना जाता है; तथापि वेदमें वेदकी उत्पत्ति, वेदमें 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत' (ऋ. १।१।२) प्राचीन तथा अर्वाचीन ऋषियों (आर्यसमाजानुसार वेदमन्त्रार्थ-द्रष्टाओं–अग्निवायु आदि) का संकेत, तथा सूर्य-चन्द्र आदियोंका वर्णन भूतकालिक लङ्लकार द्वारा (ऋ. १।१६०।३) वर्णित है; इससे क्या वादी पुराणकी भांति वेदको भी उनके पीछे बना हुआ मान लेगा ?। तब तो वैदिकप्रकाशतके सर्वे-सर्वाकी बुद्धि स्तुत्य (?) है। दोनों स्थान समान उत्तर होगा। इस विषयमें 'आलोक' (७) (पृ. २०४-२०६) तथा (पृ. ३८५-३८८) देखो।

पुराणोंके सम्पादक श्रीव्यासजी ईश्वरके अवतार थे, यह स्वा.द.जीने स.प्र. १४ समु. पृ. ३४५ में लिखा है—'पुराणी पुराणोंको खुदाके अवतार व्यासजीका वचन समझते हैं' (३०); तब ईश्वरकी सर्वज्ञता तथा भविष्यद्द्रष्टृत्वके विषयमें भी स्वा.द.का वचन १३ समु. पृ. ३०३ (१२)में देखो—'वह ईश्वर ही नहीं, जो सर्वज्ञ न हो, न भविष्यत् की बात जाने, वह जीव है'। संस्कारवि. की ईश्वरस्तुति (पृ. ७) में 'धामानि वेद भुवनानि विश्वा' (यजुः ३२।१०) मन्त्रका अर्थ स्वा.द.जीने यह लिखा है— 'वह परमात्मा सम्पूर्ण लोकमात्र और नाम, स्थान, जन्मोंको जानता है'। जब ऐसा है, तब पुराणमें भी परमात्माके अवतार श्रीव्यासजीने भविष्यद्दृष्टिसे क्योंकि महाभारतमें व्यासजीको 'अतीन्द्रियज्ञान'

(१।१०६।८) वाला कहा है—इन सम्प्रदायोंका नाम तथा जन्म आदि लिख दिया; तब आशङ्काका क्या अवकाश रहा ? स्वा.द. आदिका नाम इसलिए नहीं लिखा कि—वे वेद माननेपर भी वेदके अर्थ अशुद्ध एवं परमात्माकी इच्छासे विरुद्ध स्वेच्छानुसार करते थे।

(च) इसके अतिरिक्त मत-मतान्तर तो अनादिकालसे चले आते हैं, उनमें परिवर्तन-परिवर्धन वा रूपान्तरीकरण, नामान्तर आदि हो जाया करते हैं। जैसे कि दयानन्दी-समाजको जो अपनेको वैदिकधर्मी कहता है–जिसका आरम्भ सं० १९३२ से वा १९४० के वादसे हुआ–इसमें उदाहरण समझ लेना चाहिये। यह वेदके समय थोड़े ही हुआ है ? इसने आजकलकी सामयिक-विचारधारा अपनाकर भी अपना नाम वही प्राचीन 'वैदिकधर्म' रख लिया। इस प्रकार यहां भी समझ लेना चाहिये। शिव-पुराणमें उसी 'अरिहन्'को जो विष्णुके अङ्गोंसे उत्पन्न हुआ था (रुद्र. युद्ध. ४।७) विष्णुने कहा था 'मदाज्ञया भवद्धर्मो विस्तारं यास्यति ध्रुवम्' (४।२२) इसमें भविष्यतकाल दिया है, और कहा है कि–कलियुग आनेपर अपने धर्मको प्रकाशित करना (४।२०-२१) फिर यह फैल जायगा। इससे पुराणकी अनादिता तथा वर्तमान जैन-बौद्धोंसे सुबहुप्राचीनता सिद्ध हो रही है। उसी प्राचीन-धर्मको कुछ उसमें रूपान्तर करके (जैसे कि–प्राचीन वैदिकधर्म-में रूपान्तर करके दयानन्दियोंने इसे १९४१ संवत्से जारी किया) गृहीत किया, क्या यह सम्प्रदाय वैदिककालका है ?

नहीं। इसे उन्होंने वैदिककालसे रूपान्तर करके सं० १६४१ से प्रचलित कर दिया। वैसे ही आजकलके जैनी भी हुए। यह वे आरम्भिक जैनी नहीं। इससे पुराण अर्वाचीन सिद्ध न होकर प्राचीन सिद्ध हुए।

सो उसी प्राचीन-मतको अर्वाचीन लोग रूपान्तर करके ले लिया करते हैं, नाम भी वही रख लिया करते हैं। इससे वादी जैसे खण्डन-व्यसनियों वा अल्पश्रुतोंको भ्रम हो जाया करता है। वेदमें नास्तिकमतका संकेत भी है, जिसे इन्द्रने काटा है, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि-वेद उस मतके प्रचारक चार्वाकसे पीछे बने हों।

(छ) 'यवन' एक प्राचीन जाति थी, पर स्वा.द. आदि, आजकलके मुसलमानोंका नाम यवन कह देते हैं; पर यह शब्द स्वा.द.के अनुसार सृष्टिकी आदिमें बनी 'मनुस्मृति' तथा महाभारतसे कुछ पीछेकी बनी अष्टाध्यायीमें भी आता है; तब वादी-जैसे अल्प-श्रुतोंको भ्रम पड़ जाता है। अब वादी बतावे कि-मनुस्मृति तथा अष्टाध्यायी क्या मुसलमानी जमानेके बाद बनीं ? दोनों स्थान समान उत्तर होगा। एतदर्थ 'आलोक' (६) (पृ. ६४४-६४७) देखना चाहिये।

(ज) यह भी याद रखना चाहिये कि-प्रत्येक शब्द एक विशेष-संज्ञा होनेसे पहले भी अपनी सत्ता रखा करता है। यदि ऐसा न हो; तो विशेष-संज्ञा बन ही नहीं सकती। हाँ, यह है कि-विशेष-संज्ञा हो जानेके बाद जनता सामान्यरूपसे फिर

उस पूर्व शब्दका प्रयोग करनेमें सकुचाने लगती है; पर विशेष संज्ञा होनेसे पूर्व उसका प्रयोग निस्संकोचतासे होता है। जैसे देखिये-'आर्य' और 'समाज' शब्द प्राचीनकालमें विद्यमान थे, समय पाकर 'आर्यसमाज' शब्दने एक वर्तमान दयानन्दी-सम्प्रदायविशेषकी संज्ञाका रूप ले लिया; तब सर्वसाधारण लोग अपनेलिए इस शब्दके प्रयोगमें संकोच करने लगे। इससे पूर्व नाटकोंमें तथा रामायण, भविष्यपुराणादिमें 'आर्य' शब्दका प्रयोग निस्संकोच किया गया है। आजकलके दयानन्दी अपने नामके साथ 'आर्य' लिखने लग पड़े हैं, जैसे 'श्रीराम आर्य'; तब क्या रामायण वा भविष्यपुराणादिमें श्रीराम आदिकेलिए भरत आदि द्वारा 'आर्य' शब्द प्रयुक्त करनेपर रामायणके श्रीरामको भी 'दयानन्दी-श्रीराम' मान लिया जायगा ?। अथवा रामायण दयानन्दी-समाजसे पीछेकी मान ली जावेगी ?

(झ) इस प्रकार 'हरिजन' शब्दके विषयमें भी जान लेना चाहिये। यह शब्द पहले हरिभक्तोंकेलिए प्रयुक्त किया जाता था—यह वैष्णव पुस्तकों 'निम्बार्क-व्रतनिर्णय' आदिमें प्रत्यक्ष है; गांधिजीने गो. गणेशदत्तजीकी सनातनधर्म-प्रतिनिधिसभा पंजाबके पं० रघुनाथदत्त बन्धुजीकी प्रेरणासे अन्त्यजोंका नाम वर्तमानमें 'हरिजन' रख दिया, और गांधिजीके प्रभावसे यह नाम तूल पकड़ गया; तब कालान्तरमें कोई 'निम्बार्कव्रतनिर्णय' आदिमें 'हरिजन'का प्रयोग देखकर वादी-जैसा समझदार रिसर्चस्कालर (?) यह फतवा दे दे कि-यह पुस्तक गांधिजीके

बाद सं. २००५ में बनाई गई है; ऐसे अनुसन्धाताकी बुद्धिका जो मूल्य है, इस वादीकी भी बुद्धि उससे कुछ कम नहीं।

(ञ) जैसे रामायणमें प्रयुक्त हुआ 'बुद्ध' शब्द 'यथा हि चोरः स तथाहि बुद्धः' (२।१०६।३४) सामान्य-नास्तिकको बता रहा है, बुद्धसम्प्रदाय वाले वर्तमान-व्यक्तिको नहीं; वैसे 'जिन' आदि भी पुराणोंमें सामान्य-नास्तिक समझकर उससे वर्तमानके जैनोंका ग्रहण करना नासमझी है। इसलिए स्वा.द.जीने अपने 'उणादिकोष' (३२) में 'जिन'का अर्थ 'नास्तिक' माना है, वर्तमानके 'जैन, बौद्ध' नहीं; क्योंकि—वे नास्तिक नहीं। नास्तिक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं, चार भूतोंके मिश्रणसे चेतनता मानते हैं, दान-तपस्या आदिको पाखण्ड मानते हैं, लण्डनके 'हाईटपार्क'को वे बुरा नहीं समझते, वे मुक्ति-स्वर्ग आदिको नहीं मानते; पर जैन-बौद्धोंका मत इनसे मेल नहीं खाता।

(ञ) आजकल 'चैत्य' बौद्ध-मन्दिरोंको माना जाता है, पर रामायणमें श्रीरामने भरतको पूछा था कि—'कच्चित्...चैत्याँश्च नमस्यसि' (२।१००।६१) तब क्या राम बौद्ध थे कि—जो भरतको चैत्यों (बौद्ध-मन्दिरों)को नमस्कार करनेको कहा? यदि वे बौद्ध थे, तो वे बुद्धको चोरकी भांति दण्डनीय कैसे कहते हैं (२।१०६।३४)? इससे स्पष्ट है कि—पहले 'चैत्य' देव-मन्दिरोंके लिए आता था; फिर बौद्धोंके द्वारा अपने मन्दिरोंकेलिए अपना लिये जानेके कारण हम लोगोंने उसका प्रयोग छोड़ दिया। जैसे 'गुरुकुल' शब्द प्राचीन है, पर दयानन्दी-समाज द्वारा उसे

अपना लिये जानेके कारण सनातनधर्मी उसका प्रयोग न करके 'ऋषि-कुल, वा आचार्यकुल वा ब्रह्मचर्याश्रम नाम रखते हैं; तब मनुस्मृति आदिमें 'गुरुकुल' नाम देखकर क्या उन पुस्तकोंको दयानन्दी-समाजके पीछेका मान लिया जायगा?

(ट) 'श्रमण' सामान्य संन्यासी वा तपस्वीका नाम है, इसका प्रयोग शतपथ (१४।७।१।२२) तथा तै.आ. (२।७।१) एवं रामायणमें आता है। रामायणमें शबरी नाम वाली स्त्रीको 'श्रमणी' (तपस्विनी, संन्यासिन) बताया गया है। तब क्या वह बौद्ध थी? नहीं। बृहदा. (४।३।२२) में भी 'श्रमण' शब्द 'तापस' के साथ आया है। स्वा. शङ्कराचार्यने उसकी व्याख्या 'परिव्राजक' की, और 'तापस'की 'वानप्रस्थी'की की है। सो जसे वह शबरी नामवाली स्त्री [न कि भीलनी] संन्यासिनी थी; बौद्ध नहीं थी; किन्तु ब्राह्मणी थी। 'शबरी' उसका नाम था 'शबरी नाम' (वाल्मी. ३।७३।२६). संन्यासका अधिकार ब्राह्मणको होता है, शूद्र वा भीलको नहीं। इसपर 'आलोक' (३) पुष्प देखो। फलतः पीछे वर्तमानके बौद्ध-संन्यासियोंने इस (श्रमण) शब्दको अपना लिया; और यह उन्हींमें संकुचित (रूढ) भी होगया; तब प्राचीन-पुस्तकोंमें जहां 'श्रमण' शब्द मिले; वह क्या बौद्धोंके बाद बना हुआ माना जावेगा? निष्कर्ष यह है कि—जब एक शब्द एक अर्वाचीन-सम्प्रदायकी विशेष-संज्ञा हो जावे; तब सामान्यरूपसे प्रचलित उस पहलेके प्रयोगमें लोग संकोच करने लग जाते हैं। पर विशेष-संज्ञासे पूर्व उसका प्रयोग निस्संकोच हुआ करता है।

इस प्रकार 'जिन, बुद्ध' आदि शब्दोंके पौराणिक प्रयोगमें रहस्य समझकर वादीको अपनी अल्पश्रुतता हटा देनी चाहिये।

(ठ) वस्तुतः विष्णुका बुद्धावतार भी अनादि है, और वेद-निन्दाके बहाने वेदकी रक्षार्थ हुआ था, इस विषयमें 'आलोक' (७) (पृ. १९३-२०६) देखो। 'अवताररहस्य'में वादीने 'बुद्ध' वा 'बौद्ध'को 'वैदिकधर्मी' बताया था, और यहाँ उसे वेदविरोधी बताया है; अतः परस्पर-विरुद्धतासे या तो दो दयानन्दी श्रीराम मानने पड़ेंगे; या फिर विरोधवश उसका अपने-आपसे ही खण्डन हो गया। उसी अनादि-विष्णुके 'बुद्ध' अवतारका नाम 'जिन' भी है। देखो अमरकोष (१।१।१३)। पीछे जैन बौद्धोंसे पृथक् हो गये। वादीने पद्मपुराणका वचन 'एतत्ते समभिख्यातं जिनधर्मस्य लक्षणम्' इस रूपमें लिखा है; पर वहां तो पाठ है—'निजधर्मस्य लक्षणम्' (देखो मोरका संस्करण भूमिखण्ड पृ. ११४), तब अनादि पुराणोंमें भी यदि विष्णुके अवतार बुद्ध-जिनका वर्णन आ जावे; तो यह नहीं कहा जा सकता कि—पुराण आजकलके बौद्ध-जैनोंके बाद बने? इसी वस्तुस्थितिको बतानेकेलिए हमने यह स्पष्टता की है। 'ब्रह्मसूत्र'में जैन और बौद्धोंका खण्डन भी आता है, पर इससे ब्रह्मसूत्र वर्तमान जैन-बौद्धोंके पीछे बना हुआ नहीं माना जाता। ऐसे वाद परम्परासे चलते आये हैं, पीछेके सम्प्रदायोंने कुछ अन्तर करके उनको अपना सिद्धान्त बना लिया। इससे अल्पश्रुत लोगोंको भ्रम पड़ जाता है।

(ड) इसी तरह 'तीर्थंङ्कर' शब्दके प्रयोगके विषयमें भी समझ लेना चाहिये। स्कन्दपुराणके काशीखण्डमें 'तीर्थंकरं' पाठ है, 'तीर्थंङ्करं' नहीं। छन्दोभङ्ग भी नहीं। अथवा हो भी सही; तब भी वहां स्त्रियोंके लक्षण कहे गये हैं कि—ऐसे लक्षणों वाली स्त्री हो; तो ऐसी होगी, वा ऐसे लड़केको पैदा करेगी। सो यह शब्द वहां सामान्य हैं, जैनियोंके तीर्थङ्करकेलिए नहीं। जैनियोंने फिर उन शब्दोंको अपना लिया; इससे वैसे शब्दोंको पुराणोंमें देखकर अल्पश्रुत-वादियोंको ऐसी शङ्का हो जाती है।

(ढ) पहले हम कह चुके हैं कि—रामायणमें 'बुद्ध' वा 'चैत्य' शब्द भी आते हैं; तब क्या वादी उसे बौद्धकालके बादकी मानेगा? फिर तो "वाल्मीकीय और महाभारतादियोंमें जैनियोंका नाममात्र भी नहीं लिखा, और जैनियोंके ग्रन्थोंमें वाल्मीकीय और भारतमें कथित राम-कृष्णादिकी गाथा बड़े विस्तारपूर्वक लिखी हैं, इससे यह सिद्ध होता है, यह [जिन-] मत इन [रामायण-महाभारत] के पीछे चला......जैन-बौद्ध मत शैव-शाक्तादि मतोंके पीछे चला" (स.प्र.पृ. २५५) अपने स्वा.द.जीकी इस उक्तिका भी खण्डन करे। यदि नहीं करता; तो रामायण-महाभारत आदिसे पूर्व स्थित [यह इन पुस्तकोंमें स्पष्ट है] पुराणोंको बौद्ध-जैनोंके पीछेके बने हुए माननेकी अपनी उक्तिको वादी खण्डित हुआ समझ ले। फलतः जैन आदिने ही कई बातें हमारी ले ली हैं, जैसे मूर्तिपूजा। तथा २४ अवतार। हमारे यहां 'अवतारा ह्यसंख्येयाः' (भाग. १।३।२६) अवतार असंख्य माने गये

हैं; पर हमने २४ संख्या प्रसिद्ध अवतारोंकी बता दी-तो जैनोंने उनका अनुकरण कर लिया। इससे जैनी हमसे प्राचीन सिद्ध नहीं हो जाते। अल्पश्रुतोंको ही इसमें भ्रम पड़ता है। यहांपर हमने वादीके पक्षकी रीढ़की हड्डी तोड़ दी है; अब वह उठ नहीं सकेगा।

(१६) पू—भविष्यपुराणमें 'ईसामसीह' (प्रति.खं. ३।२ २६), मुसलमान (खं. ३ अ. ३।२५-२७), सिकन्दर (खं. ४।३।४६), तैमूरलिङ्ग (४।२), बाबर (२२।४), हुमायूं (५), अकबर (१४), तानसेन (गानसेन २१), बीरबल (२२), तुलसीदास (२८), सूरदास (३०), रैदास (३६), मीरा (४१), सलीम (५१), शिवाजी (५१-५२), नादिरशाह (५८), अंग्रेज (७२), लार्ड वेकंली (८५), का नाम आया है। यदि इनको भविष्यका वर्णन बताया जावे; तो फिर स्वा.द., श्रीगान्धि आदिका नाम क्यों नहीं आया?

उ०-इस प्रश्नका उत्तर स्वयं वादीने दे दिया है कि-भविष्यपुराणमें वर्णित होनेसे यह भविष्यका वर्णन है। भविष्य बतानेवाली पुस्तकमें भविष्यके भी सब नाम कैसे आ सकते हैं? फिर तो वादीका प्रश्न हो सकता कि—इसमें शिवशंकर काव्यतीर्थ-का वा श्रीरामका, वा कुशवाहाका नाम क्यों नहीं आया? वस्तुतः यह वेदविरुद्ध मत नगण्य होनेसे तथा एकदेशी होनेसे क्योंकि-भिन्न देशोंमें इसको कोई जानता तक नहीं—इसकी गिनती ही नहीं की गई। इस विषयमें पूरा प्रत्युत्तर 'आलोक'

(६) पृ. ६४४-६४७ और 'आलोक' (७) पृ. २४६-२४८ आदिमें वादीको देखना चाहिये।

(१७) पू.—पुराणमें शिवप्रशंसा (शिवपु.) शिवनिन्दा (मत्स्यपु. देवीभाग.)। ब्रह्माजीकी प्रशंसा (मत्स्य), ब्रह्माजीकी निन्दा ('सोपि विक्लवतां प्राप्तो दृष्ट्वा पुत्रीं सरस्वतीम्' (देवी. ४। २०।३३)। विष्णु-प्रशंसा (विष्णुपु.), विष्णुनिन्दा (देवीभा.)। गणेशप्रशंसा (शिवपु.), गणेशनिन्दा (देवीभा.)। देवता वा ऋषियों एवं ब्राह्मणोंकी निन्दा (देवीभा. ४।१३) आदि परस्पर-विरोध बहुत है; अतः पुराण माननीय नहीं। अथवा एककी कृति नहीं।

उ०—इस विषयमें 'आलोक' (७) पृ. २६१-२६६, तथा ३४५-३५८ देखने चाहियें। ब्राह्मणोंकी निन्दा विषयमें पृ. १७५-२१५, तथा इसी नवमपुष्प (पृ. ४७८-४८०) में देखना चाहिये।

(१८) पू-पुराणोंमें पशुबलिका आदेश (महाभाग. ४६।१६), मनुष्य-बलिका आदेश (ब्रह्मवै. ३।६४।१०४), श्राद्धमें मांस (विष्णु पु० ३।१६.१-३) लिखा है।

उ०—पशुबलि रजोगुणी एवं तमोगुणी आदि विशेष लोभियोंकेलिए वा विशेष-प्रयोजन पूर्तिके इच्छुकोंकेलिए है। इसमें 'आलोक' (६) (पृ.) ४१३, ४४५-४५४) तथा (३६७ पृ.) देखो। श्राद्धमें मांस तमोगुणियोंकेलिए तथा अत्यन्त शीतल-देश रूस-यूरोप आदिके निवासियोंकेलिए जानना चाहिये। वादी डाक्टर है, रोगियोंको ऐसी कई गोलियां देता होगा,

जिनमें मद्य, मांसके रसका मिश्रण होता है। इस संसारमें सभी सात्त्विक नहीं होते, रजोगुणी, तमोगुणी भी होते हैं। वे लोग यदि मांसादिका प्रयोग करेंगे, तब हम लोगोंकेलिए कुछ अन्न बच जाया करेगा।

जो कि मनुष्यबलिमें 'वर्षान्ते च समुत्सृज्य दुर्गायै तं निवेदयेत्' (ब्र. २।६४।१०४) यह वचन दिया जाता है, इसका तात्पर्य उस मनुष्यके मारनेमें नहीं है; किन्तु उसे दुर्गाको निवेदन करके छोड़ देनेमें है, जैसेकि वृषोत्सर्गमें वृषको रुद्रको निवेदन करके उसे छोड़ देना पड़ता है; इस प्रकार ब्रह्मचारीको देवताओंको दिया जाता है, जैसे कि पारस्क.गृ.में ब्रह्मचारी-को 'प्रजापतये त्वा परिददामि, देवाय त्वा सवित्रे परिददामि' (२।५।२०) इन देवताओंको केवल नाममात्र बलि दी जाती है, काटकर बलि नहीं दी जाती। इसी प्रकार यजुर्वेदसं. 'ब्रह्मणे ब्राह्मणं' (३०।५-२२) आदि मन्त्रोंमें महीधरभाष्यमें भी ब्राह्मणादिकी बलि कही गई है। अन्तमें वहां लिखा गया है— 'पूर्वैः सह एते षड्विंशतिः, ते सर्वे द्वितीययूपे नियोज्याः [इनको दूसरे यूप-पशुबन्धनके खम्भेमें बान्धो]। सर्वेषां नियोगानन्तरं तान् नियुक्तान् पुरुषान् अभिष्टौति [बलिवाले पशुकी भांति उन पुरुषोंकी स्तुति करो]। तत आलम्भनक्रमेण यथादैवतं प्रोक्षणादि। (तब क्रमसे सबका आलम्भन (स्पर्श) करके उनके देवताओंके अनुसार उनका प्रोक्षण करो)। ब्राह्मणादीनां पर्यग्निकरणानन्तरम् इदं ब्रह्मणे, इदं क्षत्राय' इत्येवं सर्वेषां यथास्वस्वदेवतोद्देशेन त्यागः

(इन सबको अग्निकी परिक्रमा कराके अपने-अपने देवताके नामसे 'इदं ब्रह्मणे' आदि रूपसे इनका त्याग करो, यह शाब्दिक त्याग है) ततः सर्वान् यूपेभ्यो विमुच्य उत्सृजति (तब इन सब ब्राह्मणादियोंको जो पशुकी भान्ति यूपोंमें बांधे गये थे- खोलकर उन्हें छोड़ दो) इस प्रकार नरमेधयज्ञमें उन मनुष्योंका मारना न कहकर उनका शुनःशेपकी तरह उस-उस देवताके नामसे त्याग करके फिर छोड़ देना कहा जाता है, मारना नहीं। जैसे कि शुनःशेपको पहले यूपमें बान्धकर फिर छोड़ दिया गया था; पर उसे यह विधि मालूम न होनेसे वह बहुत रोया था; और पशुओं वाली विधि अपनेसे देखकर पशुबलिकी भान्ति अपना भी काटना अनुमित कर रहा था; और एतदर्थ विश्वामित्रकी शरण गया था। सो नरमेधयज्ञमें मनुष्योंका मारना आदिष्ट नहीं है। इन बातोंका अध्ययन न करनेका ही फल है कि—वादी खण्डन करनेको उतारू हो जाता है। बलि यजुःसं. २४ अध्यायमें बहुतसे (६०६) आरण्यपशु भी बलि-प्रदानार्थ लाये जाते हैं, उनकेलिए श्रीमहीधराचार्यने कहा है- 'तेषु आरण्याः सर्वे उत्स्रष्टव्या न तु हिंस्याः' कि—इनका उन-उन देवताओंके नामसे त्याग करके इन्हें छोड़ देना चाहिये। इनकी हिंसा नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार यहां भी समझो। इस विषयमें 'आलोक' (६) पृ. ४१४-४१५) देखो।

(१६) मर्दोंको औरत बनानेके शापकी कथा-इसमें 'आलोक' (६ पृ. ७१३-७३४ देखो)।

(२०) पू—हनूमान्‌जीकी विचित्र पैदायश (शिव. शतरुद्र. २०।३-७) (ख) विष्णुका मोहिनीरूप देखकर 'स्ववीर्यं पातयामास रामकार्यार्थमीश्वरः' (४) रामकार्यार्थ शिवने अपना तेज गिराया। उसे सप्तर्षियोंने रामकार्यके लिए अञ्जनीके कानके द्वारा डाला। 'कर्णद्वारा तथाञ्जन्यां रामकार्यार्थमाहितम्' (६)। ततश्च समये तस्माद्धनुमानिति नामभाक्। शम्भुर्जज्ञे कपितनुर्महाबलपराक्रमः' (२०।७) उससे हनूमान पैदा हुए। कानमें होकर वह वीर्य गर्भाशयमें कैसे पहुँचा? यदि कानमें ही भरा रहा होगा; तो कानमें कीड़े पड़ गये होंगे। शिवजीका वीर्य भी बड़ा चमत्कारी था। भागवत (८।१२) में तो उससे खानें बनीं, पर यहां हनुमान्। उसे अग्नि निगल गया, उसने ऋषिपत्नियोंको बांटा, तो वे गर्भवती हो गईं। उसकी गर्मीसे हिमालय जलने लगा था। वह गंगाकी धारामें बहा देनेपर गङ्गाकी धारा ही बन्द होगई। सरकण्डोंमें फैंकनेसे षडानन पैदा हो गया। इस बेतुकी कथासे पुराणके बनानेवाले गप्पी सिद्ध होते हैं।

उ०—शिव कोई प्राकृत मनुष्य नहीं थे, न उनका वीर्य प्राकृत था। वे महान् देव थे; तब उनमें अप्राकृतिकता (लोकोत्तरता, दिव्यता) तथा अमोघता होनेसे यह सम्भव हो सकता है। जबकि वादिप्रतिवादिमान्य-मनुस्मृतिके अनुसार महान् सनातन देवने अपना वीर्य जलमें डाला; और वह सोने-का सूर्यके समान चमकीला बड़ा अण्डा (ब्रह्माण्ड) बन गया. और उसमें ब्रह्माजी पैदा हो गये; और ब्रह्माजीने उस अण्डेके

दो टुकड़े करके उन टुकड़ोंसे द्युलोक और भूमिलोक पैदा कर दिया (१।८-१३); तब पुराणके इस वचनमें क्या असम्भव? कानकी नसका गुप्तेन्द्रियसे सम्बन्ध होता है, इसमें 'आलोक' (५) पृ. १४१-१५० देखो। इससे, बिना मैथुनके वैज्ञानिक, वस्तुतः दिव्य, गर्भाधान बताया जा रहा है। आजकल यह काम इन्जैक्शन द्वारा लिया जाता है। वही दवाई एक स्थानमें इंजैक्शन द्वारा डाली हुई अथवा सूचिवेध द्वारा डाला हुआ शुक्र जिस प्रकार इष्ट स्थान गर्भाशय आदिमें पहुँच जाता है, वैसे यहां भी समझ लेना चाहिये। जैसे कि नाकमें पुष्पस्थित शुक्रके संघनेसे एक स्त्रीको गर्भ होकर उससे नासिकेत पैदा हो गया था, वैसे यहाँ भी समझना चाहिये। यदि वादी यह बात अश्रद्धावश न समझ सके; तो दयानन्दी-संस्कारविधि उठाकर पुंसवन सं. पृ. ४६ को देखे; वहांपर बड़की कोंपल और गिलोय को महीन करके तथा छानकर गर्भिणी-स्त्रीके दक्षिण नासापुटमें सुंघानेसे स्त्रीके गर्भाशयमें पुंसवनका अर्थात् वयका लाभ प्राप्त होता है, इससे लड़का पैदा होता है, उसी शैलीसे यहाँ भी दिव्यतावश विशेषता समझ लेनो चाहिये। तेजकी अमोघतावश वही तेज कानकी नससे प्रवाहित होकर गर्भाशयमें पहुँचकर अथवा न पहुँचनेपर भी अमोघतावश गर्भकारक हो जाता है; क्योंकि अमोघ-शुक्र गर्भाशयकी अपेक्षा भी नहीं करता। फलतः दिव्यताका मनन करनेसे सब समाधान हो जाता है। इससे हनुमान्‌की वानरता तथा शिवका अंश होना भी सिद्ध हो रहा

है। विलक्षण-गर्भाधानवश अप्राकृततासेकेकारण प्रसवमें नौ मास-की प्रतीक्षाकी आवश्यकता भी नहीं पड़ती है। देवशक्तिपर तथा उनकी अणिमा-महिमा आदि सिद्धियों पर विश्वास न होनेसे ही बेतुकापन प्रतीत होता है, परन्तु देवताओंकी अलौकिक-शक्ति वेदमें प्रसिद्ध है। देखिये-'इन्द्राऽग्नी द्यावापृथिवी मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा। बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु' (अथर्व १४।१।५४) यह देवता जो स्वा.द.जीके अनुसार विविध तिथि तथा नक्षत्रोंके हैं-दयानन्दिन स्त्रियोंके लड़का पैदा करनेकी सामर्थ्य वाले सूचित किये गये हैं; अब वे वादियों-की स्त्रीमें किस रास्तेसे अपना अमोघवीर्य पहुँचाते हैं, यह वादी ही स्वयं विचार कर ले।

(२१) ब्रह्माजीके पुत्रीगमन (मत्स्य. ३।३०-४४) पर 'आलोक' (७) पृ. ७२-७३, २२३-२४, तथा ६३६ पृष्ठमें देखना चाहिये। इसका संकेत 'स्वायां देवो दुहितरि त्विषिं (तेजः) धात्' (ऋ. १।७१।५) इस मन्त्रमें है। वस्तुतः उक्त कथा उषा-सूर्यका रूपक है, यह हम ७ म पुष्पमें उक्त पृष्ठोंमें लिख चुके हैं। मत्स्यके अग्रिम अध्याय (४।३-१०)में जो समाधान पुराणने किया था, वादीने उसे छिपा दिया है; इससे उसे 'चुल्लू भर पानीकी तलाश' करनी चाहिये। उसका तात्पर्य यह भी वहां बताया गया है—'अन्यच्च सर्वदेवानामधिष्ठाता चतुर्मुखः। गायत्री ब्रह्मणस्तद्वद् अङ्गभूता निगद्यते' (४।७) अमूर्तं मूर्तिमद् वापि मिथुनं तत् प्रचक्षते। विरिञ्चिर्यत्र भगवान् तत्र देवी सरस्वती। भारती

यत्र-यत्रैव तत्र-तत्र प्रजापतिः (८) यथाऽऽतपो न रहितः छायया दृश्यते क्वचित्। गायत्री ब्रह्मणः पार्श्वं तथैव न विमुञ्चति (९) वेदराशिः स्मृतो ब्रह्मा सावित्री तदधिष्ठिता। तस्मान्न कश्चिद् दोषः स्यात् सावित्रीगमने विभोः (१०) यहां बताया गया है कि-ब्रह्मा एवं सावित्रीका यह नित्यका जोड़ा है, उसीको यहां मैथुन-के रूपकसे वर्णित किया गया है। जब कि यहां यह उत्तम समा-धान कर दिया गया है; तब उसे यदि वादी लोक-दृष्टिसे छिपाता है; तो यह जनवञ्चकता है।

उसमें लौकिक दृष्टिसे एक अन्य भी रहस्य है कि-मानसी सृष्टिकी अपेक्षा मैथुनी-सृष्टिमें मर्यादा कुछ रह सकती है; मानसीमें उतनी नहीं। मैथुनी-सृष्टिमें कन्या धीरे-धीरे बढ़ती है, जन्मसे ही उसमें स्त्रीभाव नहीं प्राप्त हो जाता। वही भाव पककर फिर युवति-पुत्रीमें भी पुरुषका स्त्रीभाव नहीं आने देता। परन्तु मानसिक-सृष्टिमें सद्यः युवावस्थामें ही उत्पत्ति होती है; इसलिए उसमें पुत्रीभाव रहना सम्भव नहीं रहता। इस बातको दिखलानेकेलिए ब्रह्माजीने वह नाट्य किया, और वे स्वयं उसके उदाहरण बने। तभी सृष्टिकी आदिमें अमैथुनोत्पन्न एक-पितृक युवा लड़के-लड़कियोंका भाई-बहिन सम्बन्ध होनेपर भी स्वा.द.जीके अनुसार भी भाई-बहिनों वाला सम्बन्ध न होकर सृष्टि प्रवर्धनार्थ परस्पर वैवाहिक-सम्बन्ध हुआ, इससे अमैथुनी सृष्टिकी निर्मर्यादता सूचित होती है।

(ख) सूर्यकी जो चरित्रहीनता वादीने भविष्य-पुराणकी

लखनऊमें छपी भाषासे बताई है, इसपर वह 'आलोक' (७) 'पौराणिकचरित्रपर्यालोचन' (पृ. २-५६) देखे। सूर्य-देवता 'नवैनां दूषयामास भानु.' (महा. ३।३०७।२८) 'मनुष्यधर्मो दैवेन धर्मेण हि न दुष्यति' (महा. आश्रम. ३०।२३) विना योनि दूषित किये गर्भ कर देते हैं, इसपर 'नियोग और मैथुन' (आलोक ८ पृ. ४६)में वादी देखे। तब कुन्ती वा निक्षुभा संबंधी वादीसे दिखलाया हुआ दोष हट गया। सूर्य-देवता वादीके अनुसार अवश्य 'चरित्रहीन' हैं; अब भी अपना हाथ (किरण) वे सूर्य स्त्रियोंके अङ्गोंमें डालते रहते हैं, अब वादी उस सूर्यका निकलना वन्द करवाके सदाकेलिए 'ब्लैक आउट' करवा दे। आश्चर्य ता यह है कि-दयानन्दी-वादीके महर्षि भी सूर्यके द्वारा अपने सम्प्रदायके पुरुषोंकी लड़कियोंसे लड़के पैदा कराया करते हैं। उस समय सूर्य अग्निमें प्रविष्ट होता है (अर्थात् रात्रि होती है), और स्वामीजी उस लड़कीसे उस अग्निकी-जिसमें रात्रिवश सूर्य प्रविष्ट होता है (और प्रातःकाल वही सूर्य अग्निसे निकल होकर उदित हो जाता है--'नक्तमग्निः ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्' (ऋ. १०।८८।६) 'प्रदक्षिणा' कराया करते हैं; देखो उनकी संस्कार-विधि। वादीने पुराणकी भाषा दी है, हम भी इस विषयमें स्वा.द.की भाषा देते हैं। विवाह-प्रकरणमें स्वामीजीने यज्ञकुण्डकी अग्निकी स्त्री-पुरुषों द्वारा 'प्रदक्षिणा' (पृ. १५६) करवाई है। इससे स्पष्ट है कि-दयानन्दी पति भी सूर्यके उस नियोगमें मिला-हुआ है; और वह कहता है-'इन्द्राग्नी, द्यावा-

पृथिवी...इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु' (अ. १४।२।५४) इस मन्त्रमें अग्निके बाद 'द्यावा' पड़ा है; इस 'द्यावा'का (१५५ पृ.में) स्वा. द.जीने 'सूर्य' अर्थ करके अन्तमें लिखा है कि-'जैसे बिजली (इन्द्र) और प्रसिद्ध अग्नि, सूर्य...इस मेरी (दयानन्दी वरकी) स्त्रीको प्रजासे बढ़ाया करते हैं' अब वादी समझ ले कि-सूर्य अब भी दयानन्दी लड़कियोंसे नियोगी सन्तान पैदा करते हैं तथा कर चुके हैं, जिनकी सन्तानें वर्तमान वादी हैं'। अब वादी ही जाने कि-वे स्त्रीके अङ्गको दूषित करते हैं वा नहीं। स्वामीजीने तो उस सूर्यको 'चरित्रहीनता'का सर्टिफिकेट नहीं दिया; पर 'गुरु तो गुड़, चेला चीनी हो गये' 'ऊँट तो चले बीस कोस, और ऊँटका बच्चा चले तीस कोस' चेलाजीने तो सूर्यको वह सर्टिफिकेट दे दिया।

महाशय! याद रखो कि-कामका देवता भी पार नहीं पा सके; देखो स्वयं वेद कहता है-'कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः। ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महान्, तस्मै ते काम! नम इत् कृणोमि' (अ. ९।२।१९) यहाँ कामका देवता तथा पितर भी अन्त नहीं पा सके, अर्थात् उसे जीत नहीं सके, और उसे विश्वहा-सब जगत्को हराने वाला कहा है, इसलिए वेद भी उससे हार कर उसे नमस्कार करना कहता है, 'तस्मै ते काम! नम इत् कृणोमि'। यहां 'काम'से सब प्रकार का काम आ जाता है।

(ख) पूर्वपक्षी-इस मन्त्रके 'काम'का अर्थ तो 'परमात्मा'

है, देखिये-(कामः)-कान्तिमान् सबका अभिलषणीय यह महान् संकल्पमय जगदीश्वर सबसे प्रथम (जज्ञे) प्रकट होता है, और (एनं) उसके समान पदको (देवाः) देवगण-विद्वान् पुरुष या सूर्य चन्द्रादि पदार्थ, पालक मां-वाप या ऋतुएं, और मनुष्यादि प्राणी भी नहीं प्राप्त होते। उसी कारण हे (काम !) संकल्पमय ब्रह्मन् ! तू सबसे श्रेष्ठ (विश्वहा) सर्व-व्यापक और बड़ा है, उस तुझे मैं नमस्कार करता हूँ'। इस वेद-मन्त्रमें तो परमात्माकी महानताका उल्लेख है, इसमें देवताओंके कामी होनेका समर्थन कहाँ है ? इसी पांडित्य पर क्या आप विद्यावागीश हैं ? (एक पत्रमें)

उत्तर- वादीने यहां एक आर्यसमाजी-भाष्यकारका अर्थ देखकर 'काम'का अर्थ बदल दिया, कामकी सत्ता हटानेकी चेष्टा की; पर उल्टा उस कामको तो वादीने सबसे बड़ा परमात्मा बना दिया। उक्त अर्थसे कामकी सत्ता हटी कहां ? 'सबका अभिलषणीय संकल्पमय जगदीश्वर' यही तो काम है, उसका जगत्पर आधिपत्य है, उस संकल्पमें सभी प्रकारके 'काम' आ जाते हैं। 'संकल्प' कामका ही पर्यायवाचक है-'संकल्पोध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च। एतन्मैथुनमष्टाङ्गम्' ! इस मन्त्रका देवता 'काम' है, देखो स्वामीजीकी परोपकारिणी सभासे प्रकाशित ऋष्यादिसंवलित 'अथर्ववेदसंहिता' (पृ. १६६)। अनुक्रमणिकाके 'देवता'का वेदमें अर्थ होता है 'प्रतिपाद्य' वर्णनीय, जैसे कि- वादीने भी अपने 'मुनिमुखमर्दन' (पृ. ५६)में 'देवता'का अर्थ

'प्रतिपाद्यविषय' किया है। इस मन्त्रका देवता जब 'परमात्मा' कहीं नहीं लिखा है; तब वादीने 'परमात्मा' अर्थ कैसे कर दिया ? यदि वेदमें 'देवता' जो भी लिखा हो, सर्वत्र 'परमात्मा' अर्थ है, तब अनुक्रमणीकारोंको पृथक्-पृथक् देवता लिखनेका परिश्रम क्यों करना पड़ा ? एक बार ही कह देते कि-सर्वत्र परमात्मा देवता है। और उक्त आर्यसमाजकी अथर्ववेदसंहितामें ही यहां 'परमात्मा देवता' क्यों नहीं लिखा ? इससे वादीका पक्ष गिर गया।

यदि वादी अद्वैतवादी होकर कहे कि-परमात्मासे भिन्न इस संसारमें कुछ भी नहीं है, इसलिए यहां परमात्माको भी हमने काम (संकल्प) रूपमें वर्णित किया है, यह हम भी वादीकी बात मानते हैं; तब बात वही हमारी निकली कि कामकी इस मन्त्रमें प्रवलता दिखलाई गई है। तभी तो कामकी महिमा दिखलाते हुए वेदने कहा है-'कोऽदात् कस्मै अदात्, कामोऽदात् कामायाऽदात्। कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता, कामैतत् ते' (यजुः माध्य. ७।४८) कि-सभी कुछ 'काम' है। यह विवाह-पद्धतियोंमें कन्यादान लेनेके समय वर कहता है। इस मन्त्रका देवता (वर्णनीय विषय) भी 'काम' है। देखो महीधरभाष्य वा अनुक्रमणिका।

स्वा.द.जीने भी कामको मदकारक और उसका साधन स्त्रीको माना है। संस्कारविधिमें उनने (पृ. १३५में) मन्त्र दिया है-'काम ! वेद ते नाम मदो नामासि समानय अमूँ सुरा ते

अभवत्। परमत्र जन्माग्ने !...' गुरुकुलके स्नातक आर्यसमाजी विद्वान् श्रीरामगोपाल-विद्यालङ्कारजीने अपने 'संस्कारप्रकाश' (गोविन्दराम-हासानन्द कलकत्तासे प्रकाशित) में किया है-हे काम ! तेरा नाम सब जग जानता है। तू जगमें मदकारी प्रसिद्ध है। यह कन्या तेरे मद करनेका एक साधन है। इसकी तू प्रतिष्ठा कर। हे कामाग्नि ! तेरा उत्कृष्ट जन्म इसी स्त्रीजातिमें हुआ है।...'

अब उसी कामके साधन स्त्रीके अङ्गकेलिए स्वाजीजी आगे मन्त्र लिखते हैं—'इमं ते उपस्थं मधुना सँ सृजामि, प्रजापतेर्मुखमेतद् द्वितीयम्। तेन पुँसोऽभिभवासि सर्वान् अवशान् वशिनी असि राज्ञी' (वहीं) इसका अर्थ वही विद्यालङ्कारजी लिखते हैं-'हे स्त्री, मैं तेरे उपस्थेन्द्रियको प्रेमसे युक्त करता हूँ। सन्तानोत्पत्तिका यही द्वितीय-द्वाररूप है। तू इसी (अपने उपस्थेन्द्रिय) के द्वारा वशमें न होनेवाले पुरुषोंको भी नीचा दिखाती है [काबू कर लिया करती है]। हे घरकी स्वामिनी, तू सबको वश करनेवाली है।' इत्यादि।

इसलिए गीतामें 'काम'को भी भगवान्‌का रूप दिखलाया गया है-'प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः' (१०।२८) (प्रजा उत्पन्न करनेवाला काम मैं (परमात्मा) हूँ,) 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ !' (७।११) जब ऐसा है; तो कामके भी सर्वव्यापक जगदीश्वरके रूपमें होनेसे उक्त वेदमन्त्रमें कामकी ही प्रबलता सिद्ध हुई। जो उक्त मन्त्रमें देवताओंका भी कामका पार न पा सकना कहा है, वह भी ठीक है; क्योंकि-भोगयोनि होनेसे (जैसा कि-'कबीर-

मतगर्वमर्दन' (पृ. ३६ पं. १३-१४)में वादीने भी स्वीकार किया है कि-'मानव-योनि कर्म व भोग-योनि है, शेष सभी योनियाँ केवल भोगयोनियां हैं', सो देवयोनि भी मनुष्ययोनिसे भिन्न योनि होनेसे (देखो इसपर 'आलोक' ४र्थ पुष्प) भोगयोनि सिद्ध हुई। देवताओंमें असंयमकी स्वाभाविकतावश उनको ब्राह्मणभागात्मक वेदमें 'द द द' कहा गया था, कि-'तुम अपनी इन्द्रियोंका दमन करो' (शत. १४।८।२।२) जिसमें वादी वेदविरुद्धता नहीं मानता, उस उपनिषदात्मक-वेदमें भी असंयमी-भोगयोनि देवताओंको 'द द द दाम्यत' कहा गया है, देखो बृहदारण्यक-उपनिषद् (५।२।१) अतः देवताओंमें भोगयोनितावश कामकी प्रबलता होती है, यह हमारा ही पक्ष यहां सिद्ध हुआ। इसलिए स्वा.द.जीको भी लिखना पड़ा-'ईश्वरके सृष्टिक्रमानुकूल स्त्री-पुरुषका स्वाभाविक व्यवहार [काम] रुक ही नहीं सकता, सिवाय वैराग्यवान् पूर्ण-विद्वान् योगियोंके' (स.प्र. ४ पृ. ७०)। फलतः कामकी 'विश्वहा' इस वैदिक विशेषणसे सब जगत्‌के हनन (हराने)में शक्ति सिद्ध होनेसे कामकी प्रबलता वेदके मतमें भी सिद्ध हुई, तब 'देवोंसे भी कामका पार न पा सकना' हमारा पक्ष सिद्ध हो गया।

शेष रहा कामका अर्थ बदलकर 'संकल्पमय जगदीश्वर' अर्थ कर देना; तो भी इससे 'काम' तो हटा नहीं। अर्थ तो स्वा.द.का भी बदल सकता है। 'स्वामिदयानन्देन आर्यसमाजः सृष्टः, तेनैव वैदिकः सत्यार्थप्रकाशः कृतः, तेनैव ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका प्रारब्धा, तेनैव व्यवहारभानुः, संस्कारविधिश्च प्रकाशितः।

तेनैव नियोगः, कर्मणा वर्णाः, जीवितमातापितृश्राद्धं च जनेषु शिक्षितम्, श्रीरामादयस्तस्यैवांशाः' इस वाक्यका भी अर्थ बदल सकता है कि—'दयासे जिसको आनन्द आता है, ऐसे उन स्वामी (प्रभु) जगदीश्वरने आर्योंके समाजकी सृष्टि की; उसी ब्रह्मने जगत्में वेदके सत्य अर्थका प्रकाश कर दिया। उसी भगवान्ने ऋग्वेदादि-वेदोंके भाष्योंकी भूमिका शुरू कर दी। उसीने व्यवहारकेलिए भानु (सूर्य)को प्रकाशित किया, और अपने संस्कारोंको प्रजाके हृदयमें डाला। उसी परमेश्वरने अपनी आज्ञा (नियोग), पूर्वजन्मके कर्मोंसे वर्णोंका निर्माण, और जीते माता-पिता आदि पर श्रद्धा ('श्रद्धा एव श्राद्धम्, स्वार्थिक अण्') लोगोंको सिखलाई, श्रीराम उसी भगवान्के अवतार हैं'। तब क्या स्वा.द. आदि तथा सत्यार्थप्रकाशादि ईश्वरसे भिन्न सत्ता नहीं रखेंगे? क्या वादी इस अद्वैतवादको माननेकेलिए है तैयार?। 'रेतो मूत्रं विजहाति योनिं प्रविशदिन्द्रियम्' (यजुः १६।७६) 'यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति। या न ऊरू उशती विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहरेम शेपः' (अ. १४।२।३८) यौगिकतावाद मानकर वादी एतदादिक मन्त्रोंका भी अर्थ परमात्मपरक कर सकता है, और किया भी जा सकता है; अतः अर्थ बदलनेकी नीतिसे कुछ भी उसका सिद्ध नहीं हो सकता। जब वे वेदमें त्रिविध अर्थ-प्रक्रिया मानते हैं; तो इस मन्त्रका दूसरे अर्थमें कामकी प्रबलतासम्बन्धी अर्थ भी छिपाया नहीं जा सकता। 'इश्क, मुश्क, खांसी खुश्क' कभी छिपाये नहीं छिप सकते'।

वस्तुतः उक्त मन्त्रका 'काम'का हमारा किया अर्थ ही ठीक है। यहां कामकी पैदायश सबसे पहले बताई गई है। यह बात गलत नहीं है; देखो—भगवान् तो पैदा होते नहीं; तब उनका पहले पैदा होना क्या?

यदि भगवान्का प्रकट होना मानोगे; तो यह भगवान्का अवतार सिद्ध होगा। अव्यक्त से व्यक्त होना ही अवतार होता है। जगदीश्वरको यदि सङ्कल्पमय मानोगे; तो संकल्पकी भगवान्के साथ ही उत्पत्ति होनेसे, उसकी सबसे प्रथम उत्पत्ति वेदकी कही हुई ठीक निकली, जिसे हमने लिखा था; क्योंकि 'संकल्प' 'काम'को कहते हैं—'संकल्पोऽध्यवसायश्च.. एतन्मैथुनमष्टाङ्गं' और 'काम'से सब प्रकारका काम गृहीत हो जाता है। मनुस्मृतिमें भी कहा है—'संकल्पमूलः कामो हि' (२।३)। मनुजीने यहां कामको संकल्पमूलक बताया है। 'नचैवेहास्त्यकामता' (२।२) यहां कहा है कि—इस संसारमें कामको अतिक्रान्त नहीं किया जा सकता। कामकी प्रबलता बताते हुए मनुजीने स्पष्ट कहा है—'अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्। यद् यद् हि कुरुते किञ्चित् तत्तत् कामस्य चेष्टितम्' (२।४)।

हम पहले कह चुके हैं कि—'काम'में सब प्रकारका काम आ जाता है, उस कामकी प्रबलता दिखलानेकेलिए ही मनुजीको कहना पड़ा—'अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः। प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम्' (२।२१४) मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्। बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि

कर्षति' (२१५) 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते' (२।६४) इन पद्योंका अर्थ स्पष्ट है। यह कामकी प्रबलता सिद्ध हुई।

भगवान्को भी पहले काम ही पैदा हुआ कि-'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' (शत. ११।५।८।१) सृष्टिकी आदिमें भगवान्की कामयुक्तता देखो शतपथमें-'स वै नैव रेमे...स द्वितीयमैच्छत्... पतिश्च पत्नी चाभवताम्।...ताँ्समभवत्; ततो मनुष्या अजायन्त। सा ह इयमीक्षाञ्चक्रे-कथं नु माऽऽत्मन एव जनयित्वा सम्भवति, हन्त तिरोऽसानीति' (१४।४।२।४-६)।

शतपथ ब्राह्मणभागात्मक वेद है; तब मन्त्र-ब्राह्मणकी इस विषयमें एकवाक्यता सिद्ध हुई कि-काम प्रबल है। क्योंकि अपनेसे उत्पन्न स्त्रीमें भगवान्ने भी कामक्रीड़ा की। अब देखिये-भगवान् भी कामको छोड़ नहीं सके; भगवान्से उत्पन्न स्त्रीको तो इस 'काम'से शर्म आ गई; इसलिए उसने रूप बदल लिया; तब भगवान्ने भी रूप बदल लिया, और उससे संयोग कर लिया; क्योंकि-सृष्टि तो पैदा करनी थी? वादी भी परमात्माको सृष्टिकर्ता मानता होगा; तब विना स्त्रीके वादी भी परमात्मा-द्वारा सृष्टि पैदा कर सकना नहीं मानता होगा; क्योंकि-वह वादियोंके मतमें पूर्णशक्तिमान् नहीं, किन्तु अपूर्ण-शक्तिमान् है; अतः विना स्त्रीके सृष्टि कैसे कर सके? उस स्त्रीको चाहे प्रकृति कहो, चाहे अन्य कुछ; जब वह परमात्मा ही कामका उल्लंघन न कर सका; तब देवता, पितर तथा मनुष्य कामका अतिक्रमण

कैसे कर सकते हैं?। तब वही हमारा अर्थ आकर ठीक निकला। 'एनं'से उक्त वेदमन्त्रमें 'कामम्' इष्ट है, पर वादीने इससे अपना पक्ष कटते देखकर 'उसके समान पदको' यह बनावटी वा गलत अर्थ कर दिया; 'एनम्' पुंलिङ्ग है, और 'काम'का प्रतिनिर्देशक पद है; वहां नपुंसकलिङ्गान्त 'पद' शब्द कैसे गृहीत हो सकता है?

'उसके समान पदको सूर्यचन्द्रादि देवगण वा विद्वान् पुरुष और मां-बाप या ऋतुएँ और मनुष्यादि प्राणी प्राप्त नहीं होते' यह वादीका अर्थ कितना गलत है! विद्वान मनुष्य, मां बाप, और मनुष्यादि प्राणी क्या अलग-अलग होते हैं? क्या मनुष्योंमें मां-बाप तथा विद्वान् पुरुष नहीं गृहीत होते थे; जो कि वादीने उनको पृथक् गृहीत किया? यह गलत अर्थ करनेका परिणाम है। यहां मां-बाप क्या परमात्माके बनाये गये हैं? वस्तुतः देवता तथा पितर मनुष्यसे भिन्न योनि हैं; इसलिए उक्त मन्त्रमें उनका पृथक् निर्देश है। इस विषयमें 'आलोक' (४) पृ. ४०५-४२०, ४२१-४३७ देखो।

अन्य इस वादीके अर्थकी अशुद्धताका कारण यह है कि-वादीके स्वा.द.जी लिख गये हैं कि-'ऐसी प्रार्थना कभी न करनी चाहिये, और न परमेश्वर उसका स्वीकार करता है कि-जैसे हे परमेश्वर! आप मेरे शत्रुओंका नाश करो' (स.प्र. ७ पृ. ११३) इत्यादि; और इस कामसूक्त (अथर्व ९।२)में शत्रुओंके नाशकी ही प्रार्थना भरी पड़ी है; तब वादी अपने ऋषिके प्रतिकूल इस सूक्तमें

परमात्माका अर्थ नहीं कर सकता। 'देवता आदि उस परमात्माका पद प्राप्त नहीं कर सकते'; इस वादीके अर्थके अनुसार देवताओंका परमात्माके समकक्ष होना तो सिद्ध हो गया। इत्यादि रूपसे इस अर्थमें वादीके पक्षमें बहुत दोष आते हैं; अतः वह अर्थ उपेक्षणीय है। जब उसका अर्थ खण्डित हो गया; और हमारा ही अर्थ वेदको इष्ट सिद्ध होगया; तब पुराणोंकी भोग-योनि देवताओं पर वादियों द्वारा किये जाते हुए आक्षेप वेद-द्वारा ही समाहित हो गये। इसलिए यमी-द्वारा देवताओंकेलिए कहा गया है—'उशन्ति घा ते अमृतास एतद् एकस्य चित् त्यजसं मर्त्यस्य' (ऋ. १०।१०।३) इसका अर्थ यह है कि—ते अमृतासः (वे प्रसिद्ध देवता, अमृत देवताओंका नाम होता है) एतत् सर्वस्य त्यजसं (एक योनि होनेसे मनुष्यके त्यागयोग्य भी स्त्रियोंकी) उशन्ति (कामना करते रहते हैं, वश कान्तौ)। 'मरुतः (देवाः)...कामिनः' (ऋ. ७।५६।३) यहां देवताओंको 'कामी' बताया गया है. काममें भोगयोनि होनेसे देवताओंके सभी काम आ जाते हैं। देवोंके कामी होनेका संकेत मन्त्रब्राह्मणभागात्मक वेदमें भी देखिये। वृद्ध च्यवनकी स्त्री सुकन्याको अश्वी देवता कहने लगे कि—तू इस बूढ़ेके पास क्यों रह रही है, आ हमारे साथ। पर उस मानुषीने यह स्वीकार नहीं किया और कहा—जिसे मुझे पिताने दिया है; उसे मैं जीते-जी नहीं छोड़ूँगी। (शत. ४।१।५।९)। उर्वशीको देखकर मित्र-वरुण देवताका शुक्रक्षरण हो गया (निरु. ५।१३।१.

५।१४।१)। 'तां च प्राप्तयौवनां मेनां स्वयमेव इन्द्रः चकमे' (ऋ. १।५१।१३के भाष्यमें शाट्यायन-ब्राह्मण तथा ताण्ड्यब्राह्मणके वचन)। 'कामी हि वीरः' (ऋ. २।१४।१) 'जारमिन्द्र' (ऋ. १० ४२।२) यहां इन्द्रको कामी एवं जार बताया गया है। इस विषयमें 'आलोक' (६) पृ. ४७६-४८१, ४८५-४८८) देखो। सत्त्वमिश्रित रजोगुणसे उनकी उत्पत्ति एवं भोगयोनि होनेसे उनमें काम अनिवार्य है। जब ऐसा है; तब वेदोंके भाष्य-पुराणोंमें वर्णित भोगयोनि-देवचरित्रोंपर आक्षेप करना वादीका अपने-आपको वेदानभिज्ञ सिद्ध करना है।

(ग) 'केदारकल्प' से जो 'वीर्य' पीनेका विधान वादी देता है; इस पर पूरा उत्तर 'आलोक' (७) पृ. १७०-१७४ में हमने दे दिया है, वादी उसपर चुप है। (घ) राजा प्रियव्रत का ११ अरब राज्य वादीने दिखलाया है, वहाँ 'अर्बुद' का 'अरब' अर्थ करना गलत है, इसपर 'आलोक' (७) पृ. ८५-८६ में वह देखे। प्रियव्रतके रथके पहियोंकी लकीरसे ७ समुद्र बने, इसे वादीने पौराणिक गपोड़ा माना है; पर वह याद रखे कि—राजा प्रियव्रत ब्रह्मा देवताके वंशान्तर्गत थे; उसने अपने रथसे सूर्यकी ७ बार परिक्रमा की। इससे उसके रथकी विशेषता समझी जा सकती है, वह रथ वादीके रथकी भांति नहीं था। आजकलकी मोटरकार और बसें तथा रेलगाड़ी भी रथ-विशेष हैं। इनमें कितनी शक्ति है, इनमें अग्नि देवता इन्द्रदेवता (बिजली) का दिव्य बल है, बारूदोंमें, बमोंमें यही अग्नि-देवता काम कर

रहा होता है। कितने हज़ारों मनके भारको उठा कर अग्नि-देवता भागता जा रहा होता है। पहाड़ोंको भी तोड़ कर अग्नि-देवता गिरा देता है, जमीन को भी जल्दी से काटकर नदी वा समुद्र बना देता है। ऐसे बम हैं, जो ऐसी गहरी मार करते हैं कि-पृथ्वीमें गहरे घुस कर उसे खोदकर पाताल का पानी तक निकाल देते हैं। राकेटोंमें इतनी शक्ति है कि–वे सीधा चन्द्रलोक आदि जो बहुत ऊँचे लोक हैं, उन तक पहुँच जाते हैं यह सब दिव्यबल है। वादी यदि इस अग्नि, इन्द्र आदि देवताओंके बलका मनन कर लेगा: तो फिर उसकी शक्ति नहीं हो सकेगी कि-फिर वह राजा प्रियव्रतके रथपर शङ्का कर सके। आजकल-के राकेट भी जिस सूर्यको नहीं पा सके; उस सूर्यकी सात परिक्रमामें प्रियव्रतके रथकी विशेषता व्यक्त हो रही है; तब उसके रथकी लीकसे समुद्रोत्पत्तिमें कुछ असम्भव नहीं। वादी इन बातोंके खण्डनसे कुछ पा नहीं सकेगा; किन्तु उनका मनन करके वैज्ञानिक-शक्तिका रहस्य ज्ञात कर सकेगा। उसीके भ्राता उत्तानपादका लड़का ध्रुव अपने नामसे ख्यात ध्रुवलोकमें तारे रूपसे अब भी विराजमानहै। आजकलके वैज्ञानिक पता नहीं, उसमें कितनी लक्षाब्दियोंके बाद पहुँचें। सो आजकी तराजूसे पुरानी वड़ी वस्तुओंका तोलना बुद्धिमत्ता नहीं।

(ङ) गोपियोंकी चीरहरण-कथा पर–'आलोक' (७) पृ. ५३२-३३, ६५७-५६ देखने चाहियें तथा इस पुष्पमें भी अन्यत्र। परमात्मा अब भी गोपियों तो क्या, सभी स्त्रियोंको नङ्गी देख

रहा है, उससे कपड़ेका भी क्या कभी आवरण हो सकता है? श्रीकृष्ण वहां पर लौकिक बालक तो नहीं है, किन्तु दिव्य विष्णु-भगवान्के अवतार हैं; लौकिक-दृष्टिमें भी वे ६-७ वर्षके बालक थे; अतः वहाँ चाहे ब्रह्मदृष्टि हो, चाहे मानुषी दृष्टि, किसी दोष-का लेश भी नहीं हो सकता।

(२२) वामनपुराण (१७.२-१०)में महादेवसे कदम्ब, कुवेरसे वट, कात्यायनीके शरीरसे शमी आदि वृक्षोंकी उत्पत्तिमें वादी-ने गप्प मानी है; इसपर वादी याद रख ले कि–देवताओंमें अणिमा-महिमा, प्राकाम्य-प्राप्ति आदि अलौकिक सिद्धियां हुआ करती हैं, उनसे जैसी उत्पत्तियाँ वे चाहें, कर सकते हैं। अणिमा आदि सिद्धियोंको प्रतिपक्षीके स्वामी भी अपने यजुर्वेदके भाष्यमें मान गये हैं। यह सिद्धियाँ जिनके पास आ जावें; वहाँ असम्भव-शब्दकी प्रवृत्ति कभी हो ही नहीं सकती। जरा वादी योगदर्शन विभूतिपादका अध्ययन करे। इस योगदर्शनके विषय-में वादी अपने स्वामीकी भी सम्मति सुने– 'एक सज्जनने स्वामीजीसे निवेदन किया कि–भगवन्! पातञ्जल-शास्त्रका विभूतिपाद क्या सच्चा है? उन्हों [स्वामीजी]ने कृपा की–'आप यों ही सन्देह करते हैं। योगशास्त्र तो अक्षरशः सत्य है' (श्रीमद्-यानन्दप्रकाश पृ. ४६५)।

शतपथब्रा. जिसे स्वा.द.जी अपने वेदभाष्यकी कसौटी बताकर उसे प्रमाण मान गये हैं, उसमें भी ऐसी उत्पत्तियाँ बताई गई हैं (१२।७।१।१-६)

(ख) विष्णुपुराण (२।२।५-१२)के भूगोलके वर्णनको वादीने गलत बताया है। जैसे आजकलके परिणाम अनुमानपर आधारित हैं, वैसे पहले भी होते थे; तथापि पहले द्युलोककी भूमियोंका वर्णन भी कर दिया जाता था, पातालका भी; अतः अदृष्ट-भूमियोंके परिमाणपर वादीका कुछ न बोलना ही अच्छा है। वह यह बातें स्वयं तो जानता नहीं; दूसरों के कहने से कहता है। आजकल बहुतसे यन्त्र बन गये हैं; पहले विना यन्त्रोंके विविध वस्तुओंका परिमाण किया जाता था। योग-दर्शनके व्यास-भाष्यमें (३।२६)में भी इसी प्रकारका वर्णन है। अभी-अभी हमने स्वा.द.जीका भी प्रमाण दिया है कि—वे योग-दर्शनका अक्षर-अक्षर मानते थे उन्होंने योगदर्शनके व्यास-भाष्यके विषयमें भी लिखा है—'शारीरकसूत्र, योगशास्त्रके भाष्य आदि व्यासोक्त ग्रन्थोंके देखनेसे विदित होता है कि—व्यास जी बड़े विद्वान्, सत्यवादी, धार्मिक, योगी थे' (स.प्र. ११ पृ. २०६)। इसलिए ही स्वामीने योगसूत्रों पर व्यासभाष्यको स.प्र. (३ पृ. ४२) सं.वि. (पृ. ११२) तथा ऋभाभू. (पृ. २६३)में ग्राह्य तथा प्रामाणिक माना है। अब दयानन्दी वादी स्वा. दयानन्दको झूठा सिद्ध करके अपनेको सच्चा बनावे।

(२३) पू०—पुराणोंमें तीर्थों, व्रतोंकी कथाओं एवं उनके माहात्म्योंकी भरमार है। नानाप्रकारकी गप्पें उनका महत्त्व दर्शाने एवं भक्तोंको भ्रममें डालनेकेलिए गढ़-गढ़कर पुराणोंमें भर दी गई हैं। किसी भी देवताके नामस्मरणसे, किसी भी

तिथिको व्रत रखनेसे, गंगा आदि नदियोंमें स्नान ही नहीं, बल्कि उनका नाम लेने मात्रसे, किसी भी देवताकी मूर्तिके पूजन व दर्शनसे, माथेपर त्रिपुण्ड्र, ऊर्ध्वपुण्ड्र आदि तिलकके साईन बोर्ड लगानेसे, शरीरमें केवल भस्ममात्र लगानेसे, बेलपत्र आदि अथवा एक लोटा जल शिवजी पर चढ़ा देनेसे, मन्दिर बनवानेसे, मन्दिरमें झाड़ू लगा देनेसे, पुराणोंके पाठ ही नहीं, केवल एक-दो श्लोक सुन लेनेमात्रसे सस्ती मुक्ति प्राप्त करनेका विधान पुराणमें मिलेगा। बड़ेसे बड़ा पाप कर डालनेपर भी उससे छूटनेकी सरलतम विधियाँ पुराणोंमें दी हैं; तो फिर कौन व्यक्ति होगा, जो सदाचार, स्वाध्याय, ईश्वराराधन, योग, यज्ञ, तप आदिके अनुष्ठानमें समय लगावेगा।

उ०—इसे अर्थवाद कहा जाता है। अर्थवादमें सभी शब्दों-का अर्थ नहीं देखना पड़ता, किन्तु उसका तात्पर्य देखना पड़ता है। देहलीमें एक पाचन-चूर्ण बिकता है, उसका नाम है 'लक्कड़हज़म, पत्थरहज़म'। तब क्या वादी इसका हाजमेमें तात्पर्य न समझकर शब्दोंके अर्थमात्र देखता हुआ उक्त चूर्ण खाकर फिर पत्थर तथा लकड़ी भी उठाकर खाने शुरू हो जायगा? अर्थवाद तो वेदके ब्राह्मणभागका भी विषय है। इसमें गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद-यह तीन भेद होते हैं। किसी बुरी इल्लतको छुड़ानेकेलिए गुणवादका भयङ्कर वचन—जिसे निन्दार्थवाद कहा जाता है; किसी शुभ कार्यमें प्रवृत्तिकेलिए रोचक वचन—जिसे प्रशंसार्थवाद कहा जाता है-

का प्रयोग बड़ा काम देता है। ऐसे व्यवहारको सारा संसार एवं सारे सम्प्रदाय, जिनमें दयानन्दी-समाज भी शामिल है-करता है। उसीसे वह कई लाख अनुयायी बनाने में सफल हुआ है। इसमें सारे जन्ममें गोभक्षक, गोहिंसक रहा मुसलमान वा ईसाई भी पाँच मिनटके छटांक भर घृतके दयानन्दी संस्कार-विधिके मन्त्रों द्वारा-चाहे वे वेदसे भिन्न भी हों, अग्निमें डालनेसे शुद्ध हो जाता है। पाँच मिनट आँखें बन्द करके चुस्त होकर बैठनेसे मुक्तिका अधिकारी बन जाता है। कोई बड़ी तपस्या वा योगकी आवश्यकता नहीं। मनुजीने सन्ध्या करनेपर जिसे आर्यसमाजी ५-६ मिनटमें कर लेते हैं, रात और दिनका पाप दूर हो जाना कहा है-'पूर्वां सन्ध्यां समासीनो नैशमेनो व्यपोहति। पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम्' (२।१०२) तब क्या वादी यह मनुजीकी गप्प मान लेगा? स.प्र.की ११वें समु.की गाली-वर्षामें स्नान करनेसे तथा अन्य सम्प्रदायोंपर गाली देनेका ढंग आ जानेसे, दयानन्दी-समाजमें चार आनेका सदस्य बन जानेसे, उसका लैक्चर अटैण्ड कर लेनेसे, उसका अखबार मँगा लेनेसे, स्वामीके वेदभाष्य पढ़ लेनेसे वह वैदिक-पुङ्गव मुक्तिके द्वारका पथिक बन जाता है। न तो तब उसे संस्कृत भाषापर माथापच्ची करनेकी ज़रूरत है, (संस्कृत भाषा न जाननेपर भी देहलवी आदि 'शास्त्रार्थमहारथी' बना दिये जाते हैं। हापुड़ सनातनधर्मसभा द्वारा संस्कृतमें पत्र-व्यवहार करनेपर उनने उत्तर देना ही बन्द कर दिया था) और न उसे वेद

वा दर्शनोंपर परिश्रमकी आवश्यकता है। उसका सुधार होगया। दूसरोंके केवल दोष खोद-खोदकर निकालते चलो, दूसरोंको गन्दी-गन्दी गालियाँ देते चलो, ज़रा कुतर्क तथा दुराग्रह पकड़ लो, बहस करनेका ढंग सीख लो, दूसरोंकी सुननी नहीं, हठको छोड़ना नहीं, अपने ही पूर्वजोंको गाली देते चलो, लैक्चर देनेका ढंग सीख लो, मेजपर हाथ पीटकर, होहल्ला मचाकर, जनताको खींच लो, छोटे-छोटे उत्तेजक ट्रैक्ट बनाकर पुराणोंके दोष चुनते चलो, गुण छिपाते चलो, फिर पौ बारह हैं। यह 'वैदिक प्रकाशन' हो जाता है। फिर वह उस सम्प्रदायका नेता हो जाता है, बड़ा भारी विद्वान् हो जाता है।

महाशय! यह अर्थवाद कहाँ नहीं होता। यह वेदमें भी प्रयुक्त है, पुराण उसी वेदका विस्तीर्ण भाष्य ही तो है। वेदकी पावमानी ऋचाओं (ऋसं.के नवममण्डलमें अथवा सामवेद-सं.के पवमानपर्वमें आई हुई) के पाठमात्र वा स्मरणमात्रका माहात्म्य वेदमें देखिये, क्या लिखा है-'पावमानीर्यो अध्येति ऋषिभिः सम्भृतँ रसम्। तस्मै सरस्वती दुह्रे क्षीरँ सर्पिर्मधूदकम्' साम. उत्त. १०।७२) यहाँपर पावमानी ऋचाओंके केवल स्मरण कर लेनेसे भी दूध, घी, मधु, सोमकी स्वयं प्राप्ति हो जानी लिखी है। (यही मनु. २।१०७ में वेदपाठका फल बताया है) 'पावमानीः स्वस्त्ययनीः, ताभिर्गच्छति नान्दनम्। पुण्यांश्च भक्षान् भक्षयति अमृतत्वं च गच्छति' (साम. उत्त. १०।७६) यहाँपर पावमानी ऋचाओंसे स्वर्ग वा मुक्ति तक हो जाना लिखा

है। इस प्रकारके बहुतसे मन्त्र हैं।

कहीं वेदमें दर्भकी ही भारी महिमा दिखलाई है (अ. १६।३२।३)। कहीं सोमका ही बड़ा माहात्म्य दिखलाया है। (ऋ. ६।६६।५)। कहीं मेखलाकी ही भारी प्रशंसा आई है (अ. ६।१३३।३)। कहीं ओषधिविशेषका ही बड़ा माहात्म्य है (अ. ४।२०।२)। मधुकशाके लिये ही वेदमें अत्युक्ति देख लीजिये (अ. ६।१।४)।

फलतः वेदसे ही पुराणोंने देवतावाद तथा अत्यन्त माहात्म्य सीखकर उसका प्रयोग किया है। भूतार्थवाद तो पुराण-इतिहास स्वयं हैं ही, इससे वैदिक-सिद्धान्तोंमें प्रवृत्त करनेमें बड़ी सहायता मिलती है। पुराण प्रत्येकके चरित्रके अनुकरणमें कभी विधि नहीं करता; वह लोकोत्तरशक्ति वालोंके आचरणोंका अनुकरण करनेका बलपूर्वक निषेध करता है। उनमें कई तो भोगयोनि होते हैं, भोगयोनिके सभी आचरणोंका अनुकरण कर्मयोनियोंके लिए कर्तव्य नहीं हुआ करता; और कई कर्मयोनि होते तो हैं; पर लोकोत्तरशक्तिवश उनका भी सारा आचरण ग्राह्य नहीं होता। लोकोत्तर शक्ति वाले जो धर्मशास्त्रानुकूल आज्ञा दें; वह ग्राह्य होती है। इसलिए ही न्यायदर्शन (४।१।६२) में पुराण-इतिहासका मुख्य विषय धर्मव्यवस्थापन न होकर लोकवृत्त-प्रतिपादनमात्र रखा गया है। धर्मव्यवस्थापना तो धर्मशास्त्रका मुख्य विषय कहा गया है।

सो वादीको इन बातोंका ज्ञान करके केवल खण्डन, वा

निन्दन वा गाली देनेमें प्रवृत्ति हटाकर गुणज्ञतामें प्रवृत्ति करनी चाहिये; तब तो पुराणोंसे उसे मोती मिलेंगे; तब पुराणोंके मन्थनसे उसे अमृत भी मिल सकेगा—नहीं तो ऊपर-ऊपरके मथनसे उसी पुराण-समुद्रसे उसे विष मिलेगा, उससे वह जल जायगा। फिर उसे महादेवको ढूँढना पड़ेगा। इन्हीं पुराणोंका ही महत्त्व समझो कि—मुसलमानी क्रूर ज़मानेमें तुम्हारे-हमारे पूर्वजोंने मरना वा जलना मञ्जूर किया; फिर भी उनके सम्प्रदायको नहीं अपनाया। अपनी स्थिति मज़बूत रखी। वह सभी मानते हैं। ईसाइयोंके इस मोहक युगमें भी यही पुराण ही तुम लोगोंको बचाये हुए हैं, नहीं तो तुम सब अंग्रेजी पढ़े-लिखे व्यक्ति ईसाई बन गये होते। कृतघ्न मत बनो। तुम जो अभी तक भी दयानन्दी बने हुए हो, यह दयानन्दी अर्थवादोंका ही परिणाम है। सो उन पौराणिक-अर्थवादोंका भी तात्पर्य समझनेका प्रयत्न करो। उनपर रिसर्च करो। वहां जिस-जिस वस्तुका अत्यन्त माहात्म्य लिखा हो, वह वस्तु अत्यन्त लाभप्रद प्रमाणित होगी—यह तात्पर्य समझ रखो। जैसे कि—तुलसी-आंवला आदि। इनके पुराणोंमें अत्यन्त माहात्म्य देखनेपर अनुसन्धानसे यह बहुत लाभप्रद प्रमाणित हुए हैं। इसी प्रकार बिल्वफल तथा बिल्वपत्र शिवपर चढ़ते हैं; और शिव (कल्याण) देनेमें, पुरुषके स्वास्थ्य रखनेमें अपना अचूक प्रभाव दिखलाते हैं। असली रुद्राक्षकी माला गलेमें पहनने और छातीके साथ लगे रहनेसे रक्तचापकी बीमारी रुकती है। ऐसे लाभको प्राप्त करनेकेलिए

जनतामें उसकी प्रवृत्ति करानेकेलिए 'लक्कड़ हज़म, पत्थर हज़म' आदि पाचक चूर्णोंकी तरह बहुतसे अर्थवाद भी किये जाते हैं। अर्थवादोंमें सभी शब्दोंका अर्थ ग्राह्य नहीं होता; किन्तु उसका तात्पर्यही ग्राह्य होता है। क्या वादी उक्त चूर्ण खाकर लकड़ियां वा पत्थर खाना भी शुरू कर देगा? यदि नहीं; तब वहां रुद्राक्षकी ग्राह्यतामें तात्पर्य समझना चाहिये, उनकेलिए कहे हुए सभी शब्दोंका अर्थ वहां नहीं लिया जाता।

हज़ारों वर्षकी विश्वामित्रादिकी तपस्यायें पुराण ही बताते हैं, जिन्हें तुम गप्प मानते हो; तब यह कहनेका साहस कैसे करते हो कि पुराणोंने मुक्ति सस्ती कर दी है? वे पात्राऽपात्रका विचार करके अधिकारभेद कहते हैं। योगमहिमा, ईश्वराराधन, सदाचार आदि वे ही बताते हैं। यज्ञोंकी महिमा, वेदाध्ययनकी वा मन्त्रकी महिमा तुम लोगोंने पुराणोंसे ही तो सीखी है। शेष रहे पुराणप्रोक्त चरित्र। पुराण स्वयं सूचित करते हैं कि उनके वेदधर्मशास्त्रसे अविरुद्ध चरित्र ही अनुकृत करो, सभी नहीं। महादेवको विषपान करते देखकर तुम भी विषपान करोगे; तो तुम मरोगे-जलोगे। वे ईश्वर (लोकोत्तर) होनेसे उनको पचा जाते हैं; पर तुम पचा नहीं सकते। इस विषयमें 'आलोक' (७) में 'पौराणिक-चरित्रालोचन' का मनन करो। सब समाधान प्राप्त होंगे। तुम क्या स्वा.द.के चरित्रों-भांग पीना, हुक्का पीना, नसवार सूँघना, मारी हुई धातुएँ खाना, रुद्राक्षकी मालाएँ पहरना, शुरूमें ही संन्यासी बन जाना, संन्यासमें ही

कामवर्धक धातुओंकी भस्में खाना आदि शुभाशुभ सभी कर्मोंको अनुकृत करना ठीक समझते हो? वा उनके व्यसनोंसे उनकी निन्दा करते हो? पुराणोंकी निन्दा करनेका प्रबल प्रायश्चित्त करो; तब तुम्हें सभी रहस्य धीरे-धीरे प्राप्त होते जाएँगे, कुछ प्राप्त हो भी चुके हैं-यह ज़रा पक्षपातसे ऊपर उठकर देखो।

देवता अङ्गी-भगवान्के अङ्ग हैं। अङ्गीकी पूजा अङ्गों-द्वारा ही हुआ करती है; तब देवपूजासे आत्मस्वरूप भगवान् ही फल दिया करते हैं। पुराणोंमें जो देवपूजा बताई गई है; उसका मूल वेद है। उसमें प्रवृत्ति करानेकेलिए यदि पुराणमें अर्थवाद प्रयुक्त किये हैं. तो उनका तात्पर्य समझो। गीता कहती है कि-इन अर्थवादोंमें न लगे रहो; उनमें प्रोक्त कर्मोंको निष्काम होकर करो। तब तुम्हें सीमित नहीं, किन्तु असीमित फल मिलेगा।

भस्मका वा चन्दन लगानेका लाभ 'आलोक' (५) में देखो। शिव आदिकी मूर्तिपर जल वा चन्दन आदि लगाना देवपूजा है। उसमें श्रद्धा हो और उसे भगवानका पूजन हृदयसे समझो; तो बड़ा फल मिलेगा। तुम भी तो भगवान्की उपासना मानते हो। केवल भेद यह है कि-तुम लोहू, चमड़ा, हड्डी आदिसे आवृत जड हृदयकी मूर्तिमें उस भगवानको पधराते हो; और दूसरा पक्ष भी हृदयमें पधरानेकी मनाही तो नहीं करता है। पुराण ही ने तो तुम्हें हृदयमें भगवान्की उपासना सिखलाई है। देखो-'अर्चायां (मूर्तौ) स्थण्डिलेऽग्नौ वा, सूर्ये

वाड्प्सु, हृदि, द्विजे। द्रव्येण भक्तियुक्तोऽर्चेत् स्वगुरुं माममायया' (श्रीमद्भा. ११।२७।८-६) यहां मूर्तिके अलावा अपने हृदयमें भी, अग्निमें भी, सूर्यमें भी भगवान्‌की पूजा पुराणने कही है। यह भी मूर्तिपूजा ही है। पत्थरकी भांति जड़ हृदयमें तुमने भगवान्‌की पूजा की, वा ध्यान किया; पर दूसरा पक्ष वेदमन्त्रसे प्रतिष्ठापित पत्थर आदिकी मूर्तिमें भी भगवान्‌को पधराता है।

तुम यदि लहू-चमड़े आदिका ध्यान न करके हृदयमें पधराये हुए भगवान्‌का ध्यान करते हो; इसी प्रकार दूसरा पक्ष भी पत्थर आदिका विचार न करके उसमें प्रतिष्ठापित भगवान्‌का ध्यान करके यह सूचित करता है कि-भगवान् केवल हमारे अन्दर नहीं हैं, वे बाहर भी हैं, सर्वत्र भगवान्‌की महिमा देखो। तब उसपर निन्दा क्या? गाली-गलौज़की वर्षा क्या? जड़ हृदयमें भगवान्‌के पूजक तुम भी मूर्तिपूजक; वे भी पत्थरकी मूर्तिमें भगवान्‌को पूजते हुए मूर्तिपूजक हैं। दोनोंमें पूरी समानता है। पूजाके भी कई प्रकार होते हैं। सो योग, स्वाध्याय, ईश्वराराधन भी पुराण ही बताता है, पर अल्पश्रुत वादी यह नहीं समझ पाता, कि-पात्रभेदसे अधिकारभेद होता है। सो उच्च पात्र, योग्य अधिकारी, योग एवं कठिन तपस्या आदि कठिन आराधना करेंगे, और साधारण लोग, वा कामकाजी लोग नामस्मरण, कीर्तन आदि, जिसे वेद भी 'स्तोत्रमिन्द्राय गायत' (ऋ. ८।४५।२१) इत्यादि सैकड़ों मन्त्रोंमें 'गायत, अर्चत' आदिरूपसे बताता है—करेंगे। इस प्रकार पहली सीढ़ीपर

चढ़कर क्रमशः अन्तिम सोपान तक भी पहुँच जाएँगे। फल दोनों स्थान बराबर ही होता है। कहा भी है-'ईश्वरा भूरिदानेन यल्लभन्ते फलं किल। दरिद्रस्तच्च काकिण्या प्राप्नुयादिति नः श्रुतिः' (पञ्चतन्त्र)।

(साहूकार लोग लाखोंका दान करके जो फल प्राप्त करते हैं; उसी फलको गरीब लोग कौडीका दान करके भी पा सकते हैं।) तुम दान देना सिखलाओ। यदि कोई कौडीका दान करता है, तो तुम उसका उपहास करके उसकी प्रवृत्तिको न हटवाओ; उसे उत्साहहीन मत करो, सामर्थ्य आजानेपर कभी वह भी बड़े दान करेगा। याद रखो गीताका वचन—'न बुद्धिभेदं जनयेद् अज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्। जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्' (३।२६)। आशा है-वादी इतनेसे ही सब समझ जावेगा। न समझेगा; तो फिर यह समझना पड़ेगा कि-वह न तो अज्ञ है, न विज्ञ है किन्तु ज्ञानलवदुर्विदग्ध है; तब वैसेको तो ब्रह्मा भी नहीं समझा सकता। 'अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः। ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि नरं न रञ्जयति' (भर्तृहरि १।३)। (२४) 'देवीभागवत' (४।१६।१२)में लिखा है-पुराण अनेक धूर्तोंने बनाये हैं'। इसका उत्तर 'आलोक' (७) पृ. १२१-१२५ में देखो।

(२५) पू- पुराणोंका बनानेवाला कोई एक व्यक्ति नहीं रहा है, अतः किसीका यह दावा करना कि-पुराण वेदव्यासने बनाये हैं, एकदम गलत है। भागवतको दैत्यगुरु शुक्राचार्यकृत बतलाकर

भविष्यपुराणने उसकी प्रामाणिकतापर एक भीषण प्रहार किया है। भागवतमें कृष्णको गोपियोंका 'सुरतनाथ' (१०।३२।२) बताकर बदनाम किया गया है; अतः यह बात कुछ जँचती भी है कि-दैत्यगुरु शुक्राचार्य ही उसके बनानेवाले होंगे।

उ०—जब पुराणोंका बनानेवाला एक व्यक्ति नहीं है, यह वादी मानता है; तो इसीसे ही तो पुराणोंका अनादित्व सिद्ध हो रहा है। यह सब पुराणोंके प्रवक्ता हैं। श्रीव्यासजी भी जो पुराणसम्पादकोंकी उपाधि है; उन पुराणोंके प्रणेता नहीं, किन्तु संयोजक हैं। वेदानुसार देवताओंका बाहुल्य होनेसे वेदोंके भाष्य पुराणोंमें भी अपने-अपने देवताके विषयमें दृढ-निष्ठास्थापनार्थ अन्य देवकी निन्दा केवल अर्थवादमात्र प्रतिफलित होती है; पर यह बात 'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, किन्तु निन्दिताद् इतरं विधेयं स्तोतुम्' इस मीमांसाके न्याय जाननेसे ज्ञात होती है, अन्यथा नहीं।

भागवतको दैत्यगुरु-शुक्रसे प्रोक्त बताना वादीकी समझकी कमी है। वहां 'दैत्यगुरु-शुक्राचार्य' यह कहां कहा है? 'शुकप्रोक्तं भागवतं'में 'शुक्रप्रोक्तं' यह लिपिकरकी वा छापेकी भूल है। जैसे कि-वादीकी श्रीमद्भा. समी. पृ. १९की ३री पंक्तिमें 'शुक'का 'शुक्र' छप गया है। वहां 'विज्ञानं च शुकस्य ह'के स्थान 'शुक्रस्य ह'में छन्दकी गलती आनेसे स्पष्ट छापेकी भूल है; पर 'शुक्रप्रोक्तं भागवतं' इस भविष्यपुराणके वचनमें 'शुकप्रोक्तं भागवतं' होनेपर भी छन्दकी गलती नहीं पड़ती है; अतः वहां 'शुक्रप्रोक्तं' यह

स्पष्ट छापेकी गलती है। भागवतमें सर्वत्र 'शुक उवाच' मिलता है, 'शुक्र उवाच' नहीं। वे व्यासके लड़के थे, इतना भी वादीको ज्ञान नहीं। व्यासजीका शुक्रसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं।

'अवताररहस्य' (पृ. १०२)में वादीने दैत्यगुरु-शुक्रकी हिमायत की थी; अब यहां उस शुक्रकी निन्दा करता है। 'पुराणोंके कृष्ण'में वादीने 'गीता'की प्रशंसा की थी, अब 'गीता-विवेचन'में गीताकी भरपेट निन्दा की है, इसलिए यास्कमुनिको निरुक्तमें लिखना पड़ गया—'पुरुषविद्याऽनित्यत्वात्'। यह वादीके समय-समयके हथकण्डे हैं, अथवा श्रीराम दो हैं। अथवा उसके कई वचन किसी अन्यने उसकी पुस्तकोंमें प्रक्षिप्त किये होंगे? भागवतमें 'उसके प्रवक्ता दैत्यगुरु शुक्र थे' इसका कहीं स्पष्ट वा अस्पष्ट संकेत भी नहीं है। क्या दैत्यगुरु शुक्र व्यासजीके लड़के वा शिष्य थे, जोकि व्यासजी उसके पीछे भागे थे। यह है वादीका 'भारी ज्ञान'। 'सुरतनाथ'का समाधान वादी 'आलोक' (७) पृ. २११-२१२में देखे। 'तामस पुराणोंका रहस्य' 'आलोक' (७) पृ. २९६-३०२ तथा पृ. ६३३, ६६७-६६८ पृष्ठकी टिप्पणीमें देखो। इस प्रकार वादीके 'पु.कि.ब.' ट्रैक्टके आक्षेपोंका समाधान आमूलचूड़, तथा पौ.ग.दी.के कुछ आक्षेपोंका समाधान भी आ चुका; शेषका समाधान आगे दिया जाता है।

(२९) 'ब्रह्माजीका गौसे मैथुन करना' (४) उपक्षिप्त करके वादीने निम्न पद्य दिये हैं—'या रूपार्घवती पत्नी ब्रह्मणः कामरूपिणी। सुरभिः सा हिता भूत्वा ब्रह्माणं समुपस्थिता। ततस्ताम-

गमद् ब्रह्मा मैथुनं लोकपूजितः। लोकसर्जनहेतुज्ञो गवामर्थाय सत्तमः' (मत्स्य. १६७।३४-३६)। पशुमैथुनकी प्रथा पौराणिक देवताओंकी विशेषता रही है। कभी-कभी पशुओंके मनुष्याकृति बच्चे पैदा हो जाते हैं, इससे सनातनी विद्वानोंमें ऐसी प्रथा होनेका अनुमान होता है।

उ०—प्रतिपक्षीको पुराणों, देवताओं तथा सनातनधर्मियोंको कलङ्कित करने तथा उनसे घृणा करानेमें बड़ी उत्कण्ठा रहा करती है; इसकेलिए वह ग्रन्थोंके पूर्वोत्तर-प्रकरण छिपानेरूप छलका सहारा लेनेमें भी कुण्ठित नहीं होता। यहां तो इस पद्यके आरम्भमें 'सुरभि' नामकी स्त्री तो ब्रह्माकी पत्नी बताई गई है, उसे 'कामरूपिणी' (३४) (इच्छानुसार सभी प्रकारके रूप बना लेनेवाली) कहा है; और फिर यहां 'लोकसर्जनहेतुज्ञः' (३६)से सृष्टिका आरम्भ बताया गया है कि-गौवोंकी सृष्टि कैसे हुई ? अब प्रतिपक्षी बतावे कि-इसमें क्या दोष है कि-ब्रह्माने अपनी पत्नी जिसका नाम सुरभि जो गायका वाचक है-से दिव्यशक्ति-वश (क्योंकि ब्रह्मा कोई मनुष्य तो नहीं थे); और फिर इसमें सृष्टिकी आदिका काल है, जिसमें कोई भी मर्यादा नहीं होती, उसमें तो (एकसे उत्पन्न होनेके कारण) भाई-बहनोंका विवाह तथा उनका संन्तान उत्पन्न करना भी आता है, जिसे वादीके स्वामी भी समर्थित करते हैं, गौओंको पैदा कर लिया हो। ४

वेदमें लिखा है-'तस्माद् अश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः। गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः' (यजुःमाध्यं. ३१।८); यहांपर 'तस्मात्'का अर्थ है 'यज्ञात्' जो पूर्वमन्त्रोंसे अनुवृत्त है; उसका अर्थ वेदोत्पत्तिमें स्वा.द.जीने लिखा है-'सर्वशक्तिमतः परब्रह्मणः' (सब सामर्थ्यसे युक्त परब्रह्म (परमात्मा)से।) सो उस परमात्मासे स्वामीने घोड़े, ऊँट, गधा, गाय, छेरी-भेड़ों आदिकी उत्पत्ति बताई है।

अब वादीको बताना होगा कि-परमात्माने बिना स्त्रीके गाय, घोड़े, छेरी आदि कैसे पैदा कर दिये ? यदि कहो कि-सर्वशक्तिमान् होनेसे; यह भी ठीक नहीं। स्वामीजी लिखते हैं-'क्या सर्वशक्तिमान् वह कहाता है कि-जो असम्भव बातको भी कर सके ?' (स.प्र. ८ पृ. १३३)। (प्रश्न) क्या कारणके विना परमेश्वर कार्यको नहीं कर सकता ? (उत्तर) नहीं (वही पृष्ठ) जब ऐसा है; तो गाय आदि कार्यके पैदा करनेकेलिए कारणरूप परमात्माकी स्त्री गाय भी माननी पड़ेगी। तभी शायद वादीके स्वामीने (यजुः २१।६०में) 'छेरी आदि पशुसे; वाणीकेलिए मेंढासे; परमैश्वर्यकेलिए बैल (गाय) से भोग करें' लिखकर 'बैल' शब्दको जातिवाचक मानकर 'गायसे भोग वा उसके उपयोगसे परमात्माका परमैश्वर्य (परमेश्वरत्व) बताया हो।

'यथेमां वाचं'के अर्थमें स.प्र. (पृ. ४४)में स्वामीने लिखा है-'परमेश्वर स्वयं कहता है कि-हमने...अपने भृत्य वा स्त्रियादि' यहांपर परमेश्वरकी स्त्री भी मानी है; तब उस स्त्रीसे परमात्माने 'गायें' उत्पन्न कीं। अब वादी बतावे कि-वह स्त्री गायकी शक्लकी थी; वा मानुषी-स्त्रीकी शक्लकी थी ? पैदायश मैथुनसे हुई

वा बिना मैथुनके ? मैथुन प्राकृतिक ढंगसे हुआ वा दिव्य ढंगसे ? उन दोनों देव-देवीके अङ्ग क्या मनुष्य-दम्पतीके समान थे ? वा दिव्य ? । यदि दिव्य; तब शिवलिङ्ग भी दिव्य सिद्ध हुआ। यदि वह स्त्री मानुषी-जैसी थी, तब उससे गायें आदिका उत्पन्न होना मानना क्या वादी सम्भव मानेगा ? । यदि हां, तो कश्यप मुनिकी स्त्रीसे भी सर्प तथा अन्य पुराणोक्त उत्पत्तियां, सरमासे सारमेय आदिकी उत्पत्ति सम्भव माननी पड़ेगी।

यदि गायकी शक्लकी स्त्री मानो, तब परमात्माने भी गायसे मैथुन किया, यह दूसरेका चक्र उतर कर वादीके माथेपर आ पड़ेगा। उसको स्वयं इसका उत्तर देना पड़ेगा। जो उसका इस पर उत्तर होगा; हमारा भी वही उत्तर होगा। 'यश्चोभयोः समो दोषः परिहारोपि वा समः। नैकः पर्यनुयोक्तव्यः तादृगर्थ-विचारणे'। पुराणोंके अनुसार ब्रह्मा भी सृष्टिकर्ता परमात्मा ही हैं। वस्तुतः जैसे परमात्माकी स्त्री प्रकृति आलङ्कारिक रूपसे मानी जाती है. और उसमें आलङ्कारिक गर्भाधान भी माना जाता है; जैसे कि-'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत !' (गी. १४।३) 'सर्व-[गवादि] योनिषु कौन्तेय ! मूर्तयः सम्भवन्ति याः। तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता' (४) और उससे स्वामी भी परमात्माकी प्रेरणासे विविध पशु-पक्षी-मनुष्योंकी उत्पत्ति मानते हैं, और वह प्रकृति कामरूपिणी (इच्छानुसार रूप कर सकनेवाली) होती है, इसी प्रकार ब्रह्मा (परमात्मा)ने भी

कामरूपिणी अपनी पत्नी प्रकृतिसे-जो वादीके अनुसार सुरभि (गोरूपवाली) थी, उससे अपनी सर्वशक्तिमत्तासे गौओंको पैदा किया, तब यह स्थल आक्षेप्य नहीं रह जाता।

अब इसमें यजुर्वेदमाध्यं. के भाष्य, स्वा.द.के अपने शब्दोंमें उनके भाष्यकी कसौटी-शतपथब्रा.की साक्षी भी लीजिये-। उसके इस प्रकरणकी आदिमें लिखा है-'आत्मैव इदमग्रे आसीत् पुरुषविधः' (१४।४।२।१) अर्थात् सृष्टिके आरम्भमें परमात्मा पुरुषाकृति था। उसने सृष्ट्युत्पादनार्थं अपनेको ही पुरुष-स्त्री बनाया। और फिर उस स्त्रीसे योग किया, उससे मनुष्य उत्पन्न किये, 'ताँ समभवत्। ततो मनुष्या अजायन्त' (१४।४।२।४-५)। स्त्रीने यह सोचकर कि-यह मुझे अपनेसे उत्पन्न करके भी मुझसे संयुक्त होता है, मैं अपना रूप बदल लूँ, वह गाय बन गई, और वह परमात्मा बैल बन गया-'सा गौरभवद् वृषभ इतरः। स तां समेवाभवत्, ततो गावोऽजायन्त' (६-७) उनके संयोगसे गाय-बैल पैदा हुए। वादीको याद्र रखना चाहिये कि-यह माध्यन्दिनी यजुर्वेदसं.का ब्राह्मण है, और 'गावो ह जज्ञिरे तस्मात्' (३१।८) इस मन्त्रका भाष्य है। 'एवमेव यदिदं किञ्च मिथुनम् आ पिपीलिकाभ्यः, तत् सर्वमसृजत' (शत. १४।४।२।६) इस प्रकार पिपीलिका तक समूची सृष्टि हुई। इस विषयमें 'आलोक' (७) पृ. ४२२-४२३) देखो। वादीको याद रखना चाहिये कि-उसके मतप्रवर्तकने इसी प्रकरणका 'ततो मनुष्या अजायन्त' यह वचन यजुर्वेदके नामसे स.प्र. (पृ. १३६) में दिया है।

सो यहाँपर परमात्माने (क्योंकि इस अध्यायके आदिमें यही लिखा है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं—) अपनी बनाई स्त्रीसे संयोग करके मनुष्य उत्पन्न किये; तो वह लज्जित होकर गाय बन गई, फिर परमात्माने बैलका रूप धरकर उससे गाय-बैल-की सृष्टि की। पुराणके वादीसे आक्षिप्त प्रकरणमें भी वही सृष्टिका प्रकरण है 'लोकसजनहेतुज्ञः' (मत्स्य. १६७।३६) 'तस्यामेव सुरभ्यां च गावो यज्ञेश्वराश्च वै। (४०) ओषध्यः पुनरन्याश्च सुरभ्याः ताः समुत्थिताः' (४२) सो अब पुराणका उक्त वचन मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदके अनुकूल होनेसे आक्षेपयोग्य न रहा। वादीके माथेपर ही वह आक्षेप-चक्र जा चढ़ा। पूर्वोक्त प्रकारसे यहाँ ब्रह्माका भी बैलरूपका धारण समझ लेना चाहिये; तब मनुष्यका प्रश्न न रहा।

शेष रहा—पशुओंसे मनुष्याकृति बच्चे पैदा होते दीखना, सो पुराणोंमें वैसी उत्पत्ति पढ़कर यह वादी लोग पहले उसपर 'गपोड़ा' कहकर कहकहे लगाते थे। पर जब प्रकृतिने उसे प्रत्यक्ष दिखलाकर इन निन्दकोंके मुँहपर करारा थप्पड़ मारा, तब यह वादी उसमें मनुष्यद्वारा मैथुन कारण बताता है; तो क्या ऐसा वह सम्भव मान सकता है? वस्तुतः यह नासमझी है। आज-कलके अल्पशक्तिके मनुष्योंसे पशुओंमें कभी गर्भ आहित नहीं हो सकता। यह प्रकृतिकी विलक्षण महिमासे स्वयं ही विलक्षण उत्पत्तियाँ हुआ करती हैं, जो पुराणोंमें उल्लिखित ऐसी उत्पत्तियों (गोकर्ण आदिकी गायसे उत्पत्ति) पर आक्षेप करने वाले प्रति-

पक्षियोंके मुँहपर करारा तमाचा मारकर उन आक्षेपोंका प्रत्युत्तर देने वाली हैं। अब उक्त शंकाकर्ता अपने ही गुरुभाइयों पर, इसे सम्भव मानने वाले वादीने ही थप्पड़ मार दिया, फिर हमें प्रत्युत्तरकी क्या आवश्यकता?

सो उन पशुओंसे दयानन्दी नियोग किया करते होंगे, क्योंकि उनमें सनातनियोंका नाम तो कोई लिखा नहीं। एक स्वर्गीय दयानन्दी-शास्त्रार्थमहारथीका 'कुतियासे नियोग' प्रसिद्ध है ही, स्वामी भी नन्दी बैलमें उसकी गुदा वाले रास्तेसे घुस ही गये थे। आशा है—वादी भी गौओंसे उत्पत्तियाँ करके अपने आर्योंकी संख्या बढ़ावेगा, क्योंकि—दिन-रात उसे मैथुन वा भग-शिश्नके सपने ही आया करते हैं, और प्राचीन ग्रन्थोंमें वह उसी भग-लिङ्गामृत के ढूंढनेमें व्यस्त रहता है, और उसके आचार्यने बैलसे भोग जिसका जातिपक्षके कारण गाय अर्थ होगा, तथा छेरी आदिसे भोग वा उनके उपयोग लेनेकी आज्ञा अपने वेद-भाष्य (यजुः २३।६०)में दे ही रखी है; वह उसका अनुसरण करके पूरा 'वैदिक' बनेगा। पर पुराणके वचनमें तो बैल रूप-वालेका गाय रूप वाली अपनी स्त्रीसे संयोग इष्ट होनेसे कोई दोष नहीं रहा। इसके अतिरिक्त यह भी याद रखना चाहिये कि देवयोनि भोगयोनि होती है; वह यहांके कर्मका फल वहां भोगने जाते हैं। वह कर्मयोनि नहीं; जैसे कि वादी मुक्त-पुरुषों को मुक्तिलोकमें भोगयोनि मानते हैं; कर्मयोनि नहीं। तब उनपर कर्मयोनि वाली व्यवस्था लागू भी नहीं हो सकती। इस

प्रकार वादीसे भोगयोनिपर किये गये आक्षेपोंमें दिया-सलाई लग जाती है।

(२७) पू–अपने 'विचित्रमुखाधान'में वादीने भविष्य-पुराणके पद्य दिये हैं–'तत्र स्थिता प्रिया संज्ञा वड़वारूप-धारिणी' (प्रति. ४।१८।२८) अश्वरूपेण मार्तण्डः तां मुखेन समासदत्' (ब्रह्म. ७६।५५) सा तं विवस्वतः शुक्रं नासाभ्यां समधारयत्। देवौ तस्याम् अजायेताम् अश्विनौ भिषजां वरौ' (५६)। शिव. (उमा. ३५) मत्स्य (अ. ११)में भी यह कथा बताई है। यहाँ सूर्यकी स्त्री संज्ञाका घोड़ीरूप धारण करना, उसके मुखमें शुक्रका आधान और उस घोड़ीका उसे नाकसे धारण करना और नाकसे ही अश्विनीकुमार, जिनके नाम नासत्य और दस्र थे–की उत्पत्ति हुई। यह सम्भव भी नहीं, और घृणित भी है–यह वादीका अभिप्राय है।

उ०–यही बात वादिप्रतिवादि-मान्य निरुक्तमें भी लिखी है। देखिये–'नासत्यौ-अश्विनौ नासिकाप्रभवौ बभूवतुः' (६।१३।१) यहाँ अश्विनोंकी उत्पत्ति नासिकासे बताई है; तब उस पौराणिक-इतिहासकी समूलकता सिद्ध हो गई, उत्तर भी दोनों स्थान बराबर होगा।

निरुक्तने इस विषयमें 'अपागूहन्नमृतां······सवर्णामददु-र्विवस्वते। उताश्विनौ अभरत्······द्वा मिथुना सरण्यूः' (ऋ. १०।१७।२) यह वेदमन्त्र भी इस विषयमें दिया है। यहांपर 'अश्विनौ अभरत्'का भाष्यकार श्री दुर्गाचार्यने अर्थ लिखा

है–'तां त्वाष्ट्रीं सरण्यूम् अश्वां कृत्वा तथा सति अश्विनोर्जन्म······ अन्तर्हितां चक्रुः। उत्तरान् कुरून् प्रति निन्युः। ततश्च अन्यां तत्सवर्णां छायाप्रभवां कृत्वा ताम् अददुः विवस्वते (सूर्याय)। यत् आश्वं तदा रूपम् आसीत्, तेन सा सरण्यूः अश्विनौ अजनयत्। द्वौ अन्यौ मिथुनौ यमं च यमीं च इति'। यहां वादी देखे–वहीका वही इतिहास है।

केवल श्रीदुर्गाचार्यने ही ऐसा लिखा हो; यह भी नहीं है, किन्तु वादिप्रतिवादिमान्य श्रीयास्कने भी निरुक्तमें ऐसा ही लिखा है। वादी देखे–'त्वाष्ट्री सरण्यूः विवस्वत आदित्यात् (सूर्यसे) यमौ मिथुनौ जनयाञ्चकार। सा सवर्णाम् अन्यां प्रतिनिधाय आश्वं रूपं कृत्वा (घोड़ीका रूप बनाकर भाग गई) प्रदुद्राव। स विवस्वान् आदित्यः (सूर्यने) आश्वमेव रूपं कृत्वा (घोड़े-का रूप बनाकर) तामनुसृत्य सम्बभूव (उससे संयोग किया)। ततोऽश्विनौ जज्ञाते (उससे अश्विनीकुमार पैदा हुए), 'सवर्णायां मनुः' (१२।१०।२)। सो यहां सरण्यूका घोड़ीका तथा सूर्यका घोड़ेका रूप धरकर संयोग द्वारा अश्वियोंका पैदा करना लिखा है। अब यहाँ आक्षेपकी बात न रही। सूर्यकी पत्नीसे ही सूर्यका संयोग कहा है, दोनोंका अश्वका रूप धारण करना अवश्य लिखा है। पर यहां मनुष्यका कोई वर्णन नहीं। यह देवताओंका वर्णन है; सो यहां वीर्य भी लौकिक नहीं है, किन्तु दिव्य तेज है। घोड़ीसे घोड़े तथा गायसे बैलके संयोगमें दोषकी कोई बात नहीं होती। भोगयोनि देवता तथा लोकोत्तर-शक्तिशाली ऋषि-

मुनि कामरूप होनेसे भिन्न भी रूप बना लिया करते थे। घोड़ी आदिसे पुराणोक्त इस बातका अनुसन्धान करके पशुशास्त्रज्ञ लोग संयोग हो जानेपर उस सुत शुक्रको घोड़ी वा भैंसके गर्भाशयसे अंजलिसे निकाल कर फिर विशेष-विधिसे उस भैंस वा घोड़ीकी नासिकामें टपका देते हैं, जिससे अपने मनचाहे रंगवाला कटरा वा बछेड़ा पैदा हो जाता है। सो वेदकी तरह पुराणोंमें भी आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीन प्रकारके भाव और समाधिभाषा, परकीया और लौकिकी तीन प्रकारकी भाषाएँ प्रयुक्त होती हैं। इन सबको गप्प कह देनेसे यह रहस्य पता नहीं लग सकेंगे; उनका अनुसन्धान करनेसे कई रहस्य निकलेंगे। अतः यहां भी आक्षेपका कोई अवकाश न रहा। वस्तुतः देवचरित्रोंका पूरा रहस्य अल्पश्रुतोंको ज्ञात हो ही नहीं सकता। वेद भी संकेत देता है—'को अद्धा वेद क इह प्रवोचद् देवाँ अच्छा '(ऋ. ३।५४।५)।

(२८) पू—'यज्ञ वा विवाहमें सुअरका दान'। इसे भविष्य-पुराण बताता है—'आदिवराहदानं ते कथयामि युधिष्ठिर ! धरण्यै यत् पुरा प्रोक्तं वराहवपुषा मया।१। पुण्यं पवित्रमायुष्यं सर्वदानोत्तमोत्तमम्। यज्ञोत्सवविवाहेषु दुःस्वप्नाद्भुतदर्शने।३। देयं पुराणविधिना ब्राह्मणाय कुटुम्बिने।६। (१६४ अ.) यहां सुअरका दान पौराणिक पण्डितको देनेसे महापापादि दोष दूर होना कहा है। वे पौराणिक डण्डा हाथमें लेकर पब्लिक शौचालयों पर ले जाया करेंगे। ग्रामको उनका दूध पिया करेंगे।

उ०—वादी पुराणोंका पूरा शत्रु है; अतः उनपर उपहास किया करता है, पर उसका संस्कृतज्ञान बहुत न्यून है; अतः अर्थ अशुद्ध कर दिया करता है। पुराणमें पाठ है—'आदिवराहदान'। वह शायद नहीं जानता कि—'आदिवराह' किसको कहते हैं। वह कान खोलकर सुन ले। आदिवराहका अर्थ है—'वराहावतार'। सो वराहावतार तो हो चुका; उसने पृथ्वी (धरणी) का उद्धार प्रलयके बाद कर दिया। उसका दान कैसे हो सकता है? सो यहां अर्थ है—'वराहावतारकी मूर्ति'। 'इवे प्रतिकृतौ' (पा. ५।३।९६) इससे मूर्ति अर्थमें शब्दको कन् प्रत्यय होता है। अश्व इव प्रतिकृतिः अश्वकः; यह वहां उदाहरण दिया गया है। इसी प्रकार 'आदिवराह इव प्रतिकृतिः—आदिवराहकः' ऐसा प्रयोग बनेगा। परन्तु मूलमें पाठ है 'आदिवराह', वहां 'आदिवराहक' नहीं है।

इसके बाद सूत्र लगता है—'जीविकार्थे चापण्ये' (५।३।९९) इससे देवमूर्ति अर्थमें कन्का लुक् होनेपर 'आदि-वराह' बनता है। सो आदि-वराहकी सोने-चान्दीकी बनी मूर्तिका दान विवक्षित है। हम 'आलोक' (७) (पृ. २६३-२६६)में लिख चुके हैं कि—वराहका जो अवतार हुआ था, वह वन्य (वनका) था, देखो श्रीमद्भा.—'अग्रदंष्ट्रया।......वनगोचरो मृगः (वराहः) (भाग. ३।१८।२) ग्राम्य (ग्रामका) नहीं। ग्राम्य सुअर विष्ठा खाता है, वन्य नहीं। वन्यकी बाहर बढ़ी हुई दंष्ट्रा होती है, ग्राम्यकी नहीं। तभी तो 'दुर्गासप्तशती'में जो मार्कण्डेय-पुराणसे

निकली हुई है-कहा है, 'तुण्डप्रहारविध्वस्ता दंष्ट्राग्रक्षतवक्षसः। वाराह-मूर्त्या न्यपतन् चक्रेण च विदारिताः' (८।३६) यह दंष्ट्रा ग्राम्यकी नहीं होती, वन्यकी होती है। वराहने इसी दंष्ट्रा पर पृथिवीको रखा था। वादीका आक्षेप ग्राम्य-सूकर पर है। और यह तो जंगली-सुवर भी नहीं, किन्तु दिव्य-वराह था; वहाँ भी वराह आकृतिमात्र थी, वस्तुतः तो वह विष्णु-भगवान् थे, तब इसमें वादीके सब आक्षेप उड़ जाते हैं। वादी अछूतोद्धार-प्रेमी है, इसलिए अस्पृश्यता भी नहीं मानता होगा। तब भंगीका काम भी वह प्रेमसे करता होगा। आर्यसमाजमन्दिरकी टट्टी भी साफ करता होगा। मैले की भरी हुई बाल्टी वा टोकड़ी भारी होती है, वेचारे अकेले भंगी से नहीं उठती, अतः प्रतिपक्षी वह मैलेकी बाल्ठी भी उसे हाथ लगवा कर उठवा ही देता होगा। जब ऐसा है; तो भंगीके सेवनीय सुवरोंको वह चरा आता होगा। यदि ऐसा नहीं करता; तो फिर वह छुवाछूतको मानने वाला सिद्ध होता है।

पर हमारा वराहावतार तो दिव्य है, यज्ञ-वराह है, यह पुराण-प्रसिद्ध है, उसमें वादिप्रोक्त आक्षेपोंका कोई अवसर नहीं। वराह-अवतार यहाँ भोजन के लिए नहीं आये थे, किन्तु पृथ्वीका उद्धार करने आये। उस समय मनुष्य भी अभी उत्पन्न नहीं हुए थे; अतः मनुष्य-मलका कोई प्रसङ्ग भी नहीं। यह ग्राम्य सूकर भी नहीं, वन्यके आकारका है। वस्तुतः वह विष्णु हैं। विष्णुका भोजन पेड़ा-वर्फी ही होता है। यज्ञ-वराह

होनेसे 'यज्ञो देवानामन्नम्' (शत. २।४।२।१) उनका यज्ञहवि भी भोजन हो सकता है। शेष है—वराह-भगवानको वादीका भोग लगवाना कहना; इसपर यह याद रखना चाहिये कि-मनुष्यका जो भोजन होता है, भगवान्को भी वह वही अर्पण करता है। वाल्मीकि-रामायणमें कहा है-'इदं सुहृद्व महाराज! प्रीतो यदशना वयम्। यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः। (२।१०३। ३०) सो वादीका यहां मलविषयक आक्षेप पनप ही नहीं सकता।

हमने वादीके आक्षेपकी कमर तोड़ दी है, दिव्य यज्ञ-वराहकेलिए वहां उसका आक्षेप गर्भमें ही मर गया। हाँ, यदि वह छुआछूत न माननेवाला होनेसे मल का भोजनरूपमें प्रयोग किया करता हो, और भंगियोंसे सहानुभूति वाला होनेसे अपने आपको भंगी कहलवानेमें अपना गौरव समझता हो, गांधीजीका प्रेमी होनेसे दूसरोंकी एवं अपनी भी टट्टी उठाया करता हो; तब वही अपने यहां अन्य ऊखल-मूसल (जिनको वह परमात्माके नामसे ग्रास दिया करता होगा), पटेला (जिसपर घी-शक्कर चढ़ाकर उससे अन्नकी प्रार्थना करता होगा), जूता, छत्री आदियोंसे समावर्तनमें रक्षा करनेकी प्रार्थना करता होगा, इन जड़मूर्तियोंकी भांति वराह-भगवानकी भी मूर्ति रख छोड़े; उन्हें कभी 'आर्याभिविनय'के अनुसार गुर्चका भोग भी लगा दिया करे; और दूसरें अपने प्रिय-भोजनको-जिसका वार-वार वखान करता रहता है, भोग भी लगा दिया करे; तब 'यदन्न

पुरुषो भवति, तदन्नास्तस्य देवताः' इस पूर्वोक्त वचनका वह उदाहरण बन सकेगा। वादी सदाकेलिए याद रखे, जिससे फिर कभी भी उसे वराहावतारपर उपहास करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी कि-प्रलयके समय अग्नितत्त्वके नष्ट होजानेसे सम्पूर्ण पृथिवी जलमग्न होगई थी। जल भी बर्फ-रूपसे था। उसके उद्धारार्थ यज्ञाग्निरूप वराहने अवतार लिया (वराहपु. ६।१५-२७)। उस दिव्याग्निस्वरूप वराहने जलका शोषण करके पृथिवीको प्रलयके जलसे निकाला (ब्रह्मपु. ३६।१६-२१)। प्रजापतिने वराह-रूप धार कर अपनी दिव्याग्निमें हुत जलराशिद्वारा सम्पादित दिव्य यज्ञ किया; उसीसे पृथिवीपरसे लुप्त अग्नितत्त्वको पुनः प्रतिष्ठापित किया। उसी स्मृतिकेलिए कहीं उस वराहमूर्तिकी स्थापना होती है। उसी वराहमूर्तिका दान उक्त पद्यमें इष्ट है। वराहका रूप तो नाट्य है, वस्तुतः वह विष्णु-भगवान् हैं! यदि हमारा विपक्षी रामलीलामें रावणका पार्ट अदा करे; तब वह क्या सचमुच रावण हो जाएगा; दूसरी स्त्रियोंका सचमुच ही वह सतीत्वभङ्ग करने शुरू हो जायगा? यदि कहो; वह तो नाट्य होता है; तो यहाँ भी कोई वैसा खाना आदि नहीं होता। यदि वह होलियोंमें बन्दर या भालूका आकार बना ले; तब क्या सचमुच ही दूसरोंको नाखूनोंसे फाड़ खायगा? दोनों स्थान समान उत्तर होगा।

वराहके दानको वादी पौराणिक मानता है, पर वह अपने आपको वैदिकसाहित्य-प्रकाशनसंघका सर्वे-सर्वा मानता है;

सो वह वेदानुकूल कुत्तों-गधों वा ऊँटोंका दान लेके अपना वैदिकधर्म पूरा करे। आशा है-अब वह वेदानुसार कुत्तों, गधों तथा ऊँटों और बकरे-बकरियोंका दयानन्दी वैदिकोंसे खण्डन-मण्डन ग्रन्थमालाके उपलक्ष्यमें दान लेकर, डण्डा हाथमें लेकर जंगलमें जाया करेगा, और कुतिया तथा गधी आदिका दूध भी पीया करेगा। वे वेदमन्त्र कुत्ते आदिके दानके यह हैं—

(क) 'शतं मे गर्दभानां' शतमूर्णावतीनां' (ऋ. ८।५६।३) यहां सौ गधे तथा सौ भेड़ोंका वैदिकम्मन्य वादी दान मिलना मानता होगा। (ख) 'पञ्चौदनं ब्रह्मणे अजं ददाति' (अ. ९।५।११-१२) यहां बकरेका दान बताया है। (ग) 'उष्ट्राणां विंशतिशता' (ऋ. ८।४६।२२) 'शतं शुनः, चर्माणि म्लातानि' (ऋ. ८।५५।३) यहांपर २००० ऊँटों, सौ कुत्तों तथा साफ किये हुए चमड़ेका दान बताया है। वराह ही वैदिकजीको पसन्द हो; तो 'शतं महिषान्...वराहम्' (ऋ. ८।७७।१०) सौ भैंसे वा सुअरको लेवे। 'वराहो वेद वीरुधं' (अ. ८।७।२३) सुअर एक बूटीको जानता है।

सो डाक्टर एक सुअरको अपने पास रख ले, जिससे उस जड़ी-बूटीको जंगलसे जल्दी ढुँढवा सकेगा। पुराणमें वराह और धरणी (पृथिवी)का सम्बन्ध बताया है, क्योंकि सृष्टिकी आदिमें वराह ही ने तो धरणी (पृथिवी)का उद्धार किया था। वेदमें भी उसे देखो-'वराहेण पृथिवी संविदाना' (अ. १२।१।४८)। यजुः (२४।४०)के अनुसार गैंडा, कुत्ता, गधा, चीता, सुवर, शेर, गिरगिट, मृग, आदियोंकी जिनमें सुवर भी है, पशुशाला भी

अपने मेडिकल हाल वा वैदिक-प्रकाशन भवनमें खोल ले। आशा है-वैदिकजी यह सुन्दर वैदिक धन्दा शुरू करके, चमड़ा पथिकके फ्लैक्स आफिससे मँगाकर उन्हें अपने वैदिकोंको ऊँचे दामोंपर बेचकर मालामाल हो जावेंगे; फिर डाक्टरी न चलनेका इनका संकट भी दूर हो जावेगा। यहां वादी सुअरोंका दूध पीनेकेलिए भी लिखता है, यह उसपर अपने स्वामीका प्रभाव पड़ा मालूम देता है। स्वामीने 'छागस्य हविषः··· मध्यतो मेदः' (यजुः २१।४३) में बकरेके वैदिक दूध-घीका हवन भी बताया है। सो स्वामीने बकरेका दूध लिखा; और उनके चेलेने सुवरका दूध लिखा। तब वह अक़बर-राजाको मांगने पर कभी 'बैलका दूध' भी भेंट दे देगा। अछूतोद्धारके प्रेमी होनेसे भङ्गियोंकी सहानुभूतिकेलिए विष्ठा ढोना, सुवर-सूरनी आदियोंको रखना, डण्डा लेके उनको जंगलमें चराना आदि धन्धा शुरू करके उनका दूध पी लिया करता होगा।

अब हम अधिक स्थान न होनेसे वादीके आक्षेपोंको प्रायः पृथक् न लिखकर केवल उत्तर देते चलेंगे; उन उत्तरोंमें आक्षेप स्वयं समझ लेने चाहियें।

(२६) भाग. ६।२।६-१० में पापमोचनका नुसखा जो नामोच्चारणसे वादीने उपहसित किया है, सो नामोच्चारण तो वैदिक है। उसका पुराणमें अर्थवाद दिया है। नामोच्चारणके कई मन्त्र 'आलोक' (६) पृ. ६४६-६५० देखो। इसके अतिरिक्त वेदमें 'इन्द्राय गायत' (ऋ. १।४।१०, १।५।४, १।१०।१, १।१०३।४,

३।३७।३, ५।६८।१, ८।१५।१, ८।४५।२१, ८।८६।१, अथर्व. २०।६२।५) इत्यादिरूपमें इन्द्रके गान वा नाम-कीर्तनको वेद वैदिक बता रहा है। जहां वेदमें गान तथा कीर्ति (कीर्तन) आवे, वहां नामोच्चारण ही इष्ट होता है। नामोंमें भी रहस्य छिपा हुआ होता है; सो उससे पापमोचनमें सन्देहकी कुछ भी गुञ्जायश नहीं। 'वेदेषु च पुराणेषु साङ्गोपाङ्गेषु गीयसे' (महा. शान्ति. ३३४।२३) 'जप्यं जगौ' ३३७।२७, ३४२।७०,८१) इत्यादि बहुत स्थानोंमें भगवान्का कीर्तन कहा जाता है। कीर्तनमें गान हुआ करता है। गानका भक्तिमार्गमें महत्त्व होने से ही गान-प्रधान सामवेदको भी भगवान्ने 'वेदानां सामवेदोस्मि' (गी. १०।२२) कहा है। तब इससे वादीका 'पौराणिक कीर्तन पाखण्ड' है, यह ट्रैक्ट भी खण्डित हो गया।

(३०) वादीने देवी भा. (७।३५।२२-२४)में लिखे ध्यानयोग का जो उपहास किया है, तो कभी तो देवी भा. को वादी स्वतः-प्रमाण मान लेता है; कभी नहीं मानता। इससे स्पष्ट है कि-उसकी निन्दा बहुत अच्छी लगती है। इससे वह अपनी इष्ट-सिद्धि समझता है। यदि उसे वह ध्यानयोग पसन्द नहीं है; तो स्वा.द.जीके 'पीठ के मध्य हाड़-रीढ़ की हड्डी'में (स.प्र. ७ पृ. ११४) जिसमें लहू-चमड़ा आदि है-ध्यान किया करे। यदि वह उसमें कोई रहस्य समझता वा लिखता है, इस प्रकार हठयोग-की पुस्तकोंमें लिखे उन अपनेसे आक्षिप्त ध्यानोंमें भी रहस्य है, इनपर भी वादी रिसर्च करे; तब उसे उनमें भी रहस्य ज्ञात

हो जायेंगे। भग-लिंगका ध्यान तो वह प्रतिक्षण किया ही करता है; और उसमें उसका चित्त स्थिर भी होता है; तब वह उसपर उपहास क्यों करता है ?

वस्तुतः वादीसे आक्षिप्त योगमुद्रायें मनके स्थिरीकरणार्थ तथा अपान-शिश्नके संयमार्थ होती हैं। वादीको यह याद रखना चाहिये कि-पायु (गुद) और उपस्थके मध्यमें 'चतुर्दल मूलाधार चक्र' होता है। उपस्थ (गुह्यदेश)में 'षड्दल स्वाधिष्ठान चक्र' होता है। नाभि-प्रदेशमें 'दशदल मणिपूर चक्र' होता है। इत्यादि वर्णन 'गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादधः। चतुरङ्गुलिविस्तारं कन्दमूलं खगाण्डवत्' इत्यादि तन्त्र तथा हठयोग आदिके ग्रन्थोंके वर्णनोंका पूरा ज्ञान किये विना वादी अपना अज्ञान दिखलाकर अभिज्ञ-जनतामें अपना उपहास करा रहा है। जिस प्रकार वह नाभि और भृकुटीमें ध्यान लगानेका रहस्य बताता है, वैसे मूलाधार एवं लिङ्ग आदिके ध्यानमें भी रहस्य है। इस प्रकार योगदर्शन (१।३५)में नासिकाके अग्रभागमें भी ध्यान बताया है, जिसे वादी 'गीताविवेचन'में आक्षिप्त करता है।

(ख) 'सृष्टिकी विचित्र उत्पत्ति' (महा. शान्ति १६६।१७-२०) पर वादीको जानना चाहिये कि-सृष्टिकी आदिमें ऋषि-मुनियों-में बड़ी शक्ति हुआ करती है। उस समय उत्पत्ति भी अमैथुनी होती है, उस समय असम्भवको प्रश्रय नहीं दिया जा सकता। स्वा.द.जी आरम्भमें 'जवान जोड़ोंका आकाशसे टपकना

मानते ही हैं। यजुःके मन्त्रोंमें भेड़-बकरी-आदिका, विना मैथुनके यज्ञपुरुषसे पैदा होना लिखा ही है। उस समय ऋषि-लोग भी परमात्मासे एक हुए-हुए थे। 'वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि, बलमसि बलं मयि धेहि' (यजुः १६।६)में उनको परमात्मा वाला अलौकिक बल मिला हुआ था। स्वा.द.जीने इसका अर्थ यह लिखा है-'हे परमेश्वर ! आप अनन्त बलयुक्त हैं; इसलिए मुझमें भी बल धारण कीजिये' (स.प्र. ७ पृ. ११२) यहां परमात्मामें (जो तेज वा वीर्य वा बल है, वही ऋषिने अपने लिए मांगा है। वेदके दोनों पदोंमें (परमात्माके बल और ऋषिके बलमें) कोई भी अन्तर वेदने नहीं बताया है; तब जब ऋषियोंको भी पर-मात्मा वाला अनन्त बल सृष्टिकी आदिमें मिला; तब उस समय असम्भवको कोई अवकाश नहीं रहता; जब कि उनको परमात्मा-वाली शक्ति प्राप्त हुई-हुई थी। सभी सम्प्रदाय सृष्टिके आरम्भमें विचित्र उत्पत्तियां वर्णित करते ही हैं; तब पुराणोंपर दोष देना व्यर्थ है।

(ग) महा. (अनुशा. १२६।४)में जो वामन-ब्राह्मणको तथा जलसे निकले वराहको नमस्कार करना कहा है, उसमें कारण है कृतज्ञता-प्रकाशन। भगवान्ने वामन-ब्राह्मण बनकर बलिदैत्य-से देवताओं तथा मनुष्योंका लोक-जिसे उसने छलसे छीनकर बन्धनमें कर दिया था; उसे 'मायाभिरिन्द्र ! मायिनं' (ऋ. १।११।७), इस वेद-समर्थित मायासे स्वतन्त्र कराया; उसकी स्मृत्यर्थ तथा कृतज्ञता-प्रकाशनार्थ वामनावतार-जैसे वामन-

ब्राह्मणको नमस्कार कराया। 'वामनो ह विष्णुरास' (शत. १।२।२।५) इससे वामनको यज्ञपुरुष-विष्णु बताया गया है। इससे छलियोंसे छलवाला व्यवहार करके अपने देशको स्वतन्त्र कराना चाहिये, उस समय बड़े बने रहनेकी टें छोड़कर छोटा भी बनना पड़े; तो इसमें घबराना नहीं चाहिये-यह शिक्षा भी भगवान्ने सूचित कर दी है।

(घ) इसी भांति वराहावतारकी भी कृतज्ञता प्रकाशित की गई है कि-उसने प्रलयके जलमें डूबी हुई पृथ्वीका उद्धार करके उसे हमारे निवासके योग्य बनाया। तभी तो (कृ. यजुः तैसं. १।१।३०) में कहा है-'उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना'। इस प्रकार ब्राह्मणभागात्मक-वेद शतपथमें भी कहा है बताया है। 'अथ वराहविहतम्। इयती ह वा इयमग्रे पृथिवी आस प्रादेश-मात्री, तामेमूष इति वराह उज्जघान। सो (वराहो)ऽस्याः पतिः प्रजापतिरिति' (१४।१।२।११) यहां भी पृथिवीका वराहावतार-द्वारा उद्धार तथा इससे प्रजाके संरक्षण-वश वराहको प्रजापति बताया गया है। इस स्मृतिकेलिए यज्ञमें वराहकी उखाड़ी हुई मट्टीको यज्ञमें प्रयुक्त करना पड़ता है। इसलिए ही वराहावतारको यज्ञवराह (मत्स्य. २४७।७७) यज्ञरूप (मत्स्य. २४७।६७-७०, वायुपु. ६।१५-२७, विष्णुपु. १।४४।३२-३३) यज्ञपुरुष (अग्नि. ४।२) कहा गया है। बल्कि यज्ञकी सारी सामग्रीको करीनेसे जोड़कर रखें, तो वराहकी आकृति बन जावेगी; पर वादीका इन रहस्योंसे क्या सरोकार? उसने तो

केवल पुराणकी निन्दा ही करनी है। 'विहगो वृषणायते' के समान यह वादी प्राचीन-साहित्यके ऊपर-ऊपर तैर रहा है, भीतरी-रहस्यमें उसका ज्ञान नहीं पहुँचता, जिससे उसे आनन्द मिले। सो जलोत्थित-वराह तथा वराहोद्धृत धरणी (मट्टी)का सिर पर रखाना-यह पृथिवीके उद्धारक वराहावतारकी स्मृत्यर्थ तथा उसके प्रति कृतज्ञता-प्रकाशनार्थ है। वराहावतारके विषयमें अधिक 'आलोक' (७) में तथा गत २८वें प्रघट्टकमें देखना चाहिये।

(३१) जो कि अध्यात्मरामायणमें रामके आनेके संवाद कहते हुए हनुमान्को भरत-द्वारा शतसहस्र गौओंका दान तथा १६ कन्याओंके दानकी घोषणा कही है, वह सम्मानकेलिए कथनमात्र होता है, सचमुच देना नहीं; नहीं तो भला केवल सन्देसामात्र देनेकेलिए आया हुआ हनुमान् १ लाख गायोंको कहां रखता? इसके अतिरिक्त हनुमान्का ब्रह्मचारी रहना भी प्रसिद्ध है; वह लड़कियोंको क्यों लेता? अतः वहां तो यह सम्मानार्थ कथनमात्र ही होता है। इस विषयमें याज्ञ.स्मृ.के १।५।१०६ पद्यकी मिताक्षराका मनन करना चाहिये। इस विषयमें 'आलोक' (६) पृ. ३३२-३३ देखो। अभिषेक-समयमें भी १६ कन्याओंका लाना वैदिकविधिसे सम्बद्ध होता है। जैसे कि महाभारतमें भी लिखा है-'राजन्या राजकन्याश्च आन-यन्त्वभिषेचनम्' (उद्यो. १४०।१५) यह व्यभिचारार्थ वा देनेके-लिए नहीं होतीं, यह तो अभिषेकार्थ होती हैं। यह तो वाल्मी.में

भी है–'सकुण्डलाः शुभाचारा भार्याः कन्यास्तु षोडश' (६।१२७।४४) यहां 'भार्याः'का अर्थ 'भरणयोग्याः' है। 'शुभाचाराः' कहनेसे वादीका प्यारा 'व्यभिचार' कट गया। हनुमान्‌जीकी स्वीकृति भी वहाँ नहीं बताई गई है। अतः उन कन्याओंका देनेकेलिए कहना-सम्मानार्थ कथनमात्र है, वस्तुतः देनेकेलिए नहीं। कोई लण्डनका 'ह्वाइटपार्क'का रहनेवाला वादी-जैसा दिमागफिरा भारतमें आया हुआ व्यभिचारी, नवरात्रोंमें पूजनार्थ बुलाई हुई कन्याओंको देख वा सुनकर, उसका वास्तविक मर्म न समझकर उसमें व्यभिचार समझ ले, वैसे ही नियोगके वायुमण्डलमें विचरनेवाले वादीका भी हाल है। उसे सर्वत्र सोते-जागते व्यभिचारके स्वप्नदोष ही हुआ करते हैं।

(ख) देवीभा. (३।६) में परमात्माको यदि 'निर्गुण' कहा गया है, इससे परमात्माकी साकारताका खण्डन नहीं हो जाता। 'निराकार' आदिका भाव अनिवर्चनीय (दिव्य) आकारवाला होता है। आकारका सर्वथा निषेध हो; तो परमात्मामें शून्यापत्ति दोष हो जावे। अतः 'निराकार'का सूक्ष्मतम-आकारवाला ही अर्थ होगा, आकार-रहित नहीं। स्वा.द.जीने स.प्र. (७ पृ. ११३)में परमात्माको प्रकृति और आत्माकी अपेक्षा सूक्ष्म और आत्मा तथा प्रकृतिको परमेश्वरसे स्थूल माना है, वादीने भी 'कबीरमतमर्दन' पृष्ठ ५ पं. ६ में लिखा है–'निराकारका अर्थ है जिसकी कोई स्थूल आकृति न हो' इसलिए परमात्मा भी स्थूलोंसे अपेक्षाकृत सूक्ष्मतम आकारवाला होनेसे साकार-सा हुआ।

यदि सर्वथा निराकार होता; तो उसमें अपेक्षाकृतता न कही जाती।

'निर्गुण'का भाव भी यदि 'सर्वथा गुणहीन' माना जावे; तो 'ईश्वरके गुण, कर्म, स्वभावसे अपने गुण-कर्म-स्वभावका सुधारना' (स.प्र. ७ पृ. १११) इस स्वामीजीके बहुत स्थानोंपर कहे हुए वचनका वादी फिर स्वयं खण्डन करे; और आप लोग तथा स्वामीजी प्रार्थनामें भगवान्‌के 'दयालुता, निष्पक्षता, सर्वज्ञता आदि गुण कहते हैं; वह अवैदिक हो जायगा। सो वहाँ 'निर्गुण' का अर्थ 'गुणोंसे ऊपर उठा हुआ' यह भाव है, गुणोंके सर्वथा निषेधमें तात्पर्य नहीं।

सृष्टिकी आदिम अवस्थामें 'आत्मा वा इदमेक एव अग्र आसीत्' (ऐत. २।४।१) कहा जाता है, और 'असद् वा इदमग्र आसीत्' (तै.आ. ८।७) यहाँ असत् होना भी कहा है। सो जैसे यहाँ 'असत्' का अर्थ सर्वथा 'शून्यपरक' नहीं है, किन्तु वहां 'अव्यक्तपरकता'का तात्पर्य है, जैसे कि–'नेति-नेति' (बृह. ४।४।२२) में परमात्माकेलिए कहा हुआ 'न' शब्द उसके निषेधको न बताकर उसकी ग्रहणमें अशक्यताको बताता है; वैसे ही 'निराकार'में भी 'निर्'का शून्यपरक अर्थ न होकर 'अव्यक्त (अज्ञेय सूक्ष्म) आकार' जानना चाहिये।

(३२) पू० – महाभारत (अनुशा. २ अ.) में सुदर्शनकी स्त्रीने पतिके कहनेसे इतना अतिथिसत्कार किया कि–अतिथिने उससे विषयभोग माँगा; तब उसके देनेमें भी वह नहीं झिझकी-

(२।५७)। म.भा.ने इस व्यभिचारको धर्म माना है, पर शिवपु.ने उसे पाप माना है-'स पुत्रोपि हतो भार्यां पुंश्चलीं कृतवान् द्रुतम्। पश्चात्तापमनुप्राप्य स्वपित्रा परिभर्त्सितः' (कोटि. १३।३५)।

उ०—वादी जो भी आक्षेप करता है, उसमें पूर्वापर छिपा देता है। वास्तविक तात्पर्यको छिपाकर बाहरी बातें अनुसन्धान-विरहित भोली जनताके वञ्चनार्थ लिख देता है। जनता भी पूर्वापरका पता न होनेसे उसपर आश्चर्य करती है।

वस्तुतः यह कथा अतिथिपूजनका अर्थवाद है। अर्थवादमें सभी शब्दोंका अर्थ ग्राह्य नहीं होता; केवल विवक्षित अर्थमें तात्पर्य ग्राह्य होता है। सो यहाँ विवक्षित अर्थ केवल इतना है कि-'अतिथेः प्रतिकूलं ते न कर्तव्यं कथञ्चन' (२।४२) येन-येन च तुष्येत नित्यमेव त्वयाऽतिथिः। अप्यात्मनः प्रदानेन न ते कार्या विचारणा (४३) नातिथिस्तेऽवमन्तव्यः प्रमाणं यद्यहं तव' (४६) अर्थात् अतिथिको खूब प्रसन्न करो-इतना ही इसमें तात्पर्य है। शेष अर्थवादमात्र हैं।

इस अर्थवादमें एक और भी तात्पर्य है। वह यह कि-जो प्रतिज्ञा की हुई हो; चाहे वह जैसी भी हो, उसे पूर्ण करना चाहिये। पूर्ण न करने पर उसकी अकालमृत्यु हो जाती है। यह इस सारी कथाका निष्कर्ष है। इस कथाका अन्य तात्पर्य यह भी है कि-पतिव्रता पतिके व्रतको पूर्ण करे। पति जैसी भी आज्ञा दे; 'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया' (रघुवं. १४।४६) पत्नी उसपर विचार ही न करे। उसका उत्तरदायित्व पति पर रखे;

स्वयं केवल पतिके व्रतकी अनुवर्तिनी होवे, इससे वह परलोकको जीत लेती है। जब इस दृष्टिसे इस आक्षिप्त कथाकी परीक्षा की जावेगी; तब वादीके आक्षेपमें दियासलाई लग जावेगी।

वहाँ लिखा है कि-मृत्यु सुदर्शनकी उक्त प्रतिज्ञाको कि-'गृहस्थस्य हि धर्मोऽन्यः संप्राप्तातिथिपूजनम्' (२।६९) 'अप्यात्मनः प्रदानेन (४३) 'प्राणा हि मम दाराश्च यच्चान्यद् विद्यते वसु। अतिथिभ्यो मया देयमिति मे व्रतमाहितम् (७१) कि-मैं अतिथिको सभी कुछ (स्त्री तक भी) देनेकेलिए तैयार हूँ—यह मेरा व्रत है। जैसे कि कठोपनिषद्में यम अतिथि-नचिकेता-को 'इमा रामाः सरथाः···आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व' (१।१।२५) सेवा करवानेकेलिए स्त्रियाँ भी देनेकेलिए कहा था; और स्त्रीको भी जब उसने उक्त व्रतकी आज्ञा दे दी, 'अप्यात्मनः प्रदानेन न ते कार्या विचारणा। एतद् व्रतं मम सदा हृदि सम्परिवर्तते' (२।४३-४४); तब उस सुदर्शनके व्रतकी तथा पतिव्रताके पतिव्रतकी परीक्षाकेलिए धर्मराज ब्राह्मणरूप धरकर आया कि-यह सुदर्शन प्रतिज्ञा पूरी नहीं कर सकेगा। सो वह देखने आया कि-इसकी स्त्रीका स्पर्श करनेपर यह ईर्ष्या वा क्रोध करता है, वा नहीं। यदि यह अपनी प्रतिज्ञासे विचलित हुआ; तो मैं कूटमुद्गरसे इसे मार डालूँगा (२।४८, ६७)।

सो ऐसी कड़ी परीक्षामें, अपनी प्रतिज्ञाकी पूर्तिरूप सत्यतामें सुदर्शन फर्स्ट डिवीयन और फर्स्ट पोजीशनमें पास हुआ (२।७५) वहाँ कोई साधारण व्यक्ति परीक्षार्थ नहीं गया था, किन्तु 'स वै

द्विजः। वपुषा द्यां च भूमिं च व्याप्य वायुरिवोद्यतः' (२।७७) भगवान्‌का दूसरा रूप धर्मराज गया था। उसने स्वयं कहा भी था—'धर्मोऽहमस्मि भद्रं ते जिज्ञासार्थं तवानघ! प्राप्तः सत्यं च ते ज्ञात्वा प्रीतिमें परमा त्वयि' (७६) (मैं धर्मराज (मृत्यु-यमराज) हूँ, केवल तेरी परीक्षार्थं आया था; और तू, तेरी स्त्री सत्य-प्रतिज्ञ निकले।

फिर यह भी कहा कि—'पतिव्रतामिमां साध्वीं तवोद्वीक्षितु-मच्युत। न चास्ति शक्तिः त्रैलोक्ये कस्यचित् पुरुषोत्तम! रक्षिता त्वद्गुणैरेषा पतिव्रतगुणैस्तथा। अधृष्या यदियं ब्रूयात् तथा तन्नान्यथा भवेत् (८२) (यह पूर्ण पतिव्रता है, त्रिलोकीमें भी कोई पुरुष इसे कुदृष्टिसे नहीं देख सकता) और कहा कि—तूने काम-क्रोधको जीत लिया है (८७)। इससे तात्पर्य यहाँ स्पष्ट हो गया कि—पतिव्रताको पतिका व्रत पूरा करना चाहिये। यहाँ तो केवल परीक्षामात्र थी; सचमुच विषयभोग नहीं था।

अब आक्षेप्ता वादी ही यदि इन कामासक्तिकी बातोंमें लगा हुआ नपुंसक हो जावे; और वह अपने स्वामीके व्रतको पूर्ण करता हुआ अपनी युवति स्त्रीको आज्ञा दे कि—'अन्यमिच्छस्व सुभगे! पतिं मत्' (हे सु-भगे! मुझसे दूसरे पतिकी इच्छा कर। [अपने परम स्वामीका व्रत पूरा कर।] तब स्त्री दूसरेसे मैथुन करके सन्तानोत्पत्ति करे) (स.प्र. ४ पृ. ७३) तब वह वादीकी पतिव्रता स्त्री वादीके गहरे दयानन्दी मित्रसे वा आगन्तुक अतिथिसे वादीकी आज्ञानुसार सुरत कर ले; अब उसे वादी

पतिव्रता कहेगा, या व्यभिचारिणी (बदमाश)? इसका वह जो उत्तर देगा; वही इस कथाका भी हो जावेगा। हमारे अनुसार तो इस कथाका निष्कर्ष केवल अतिथि-सेवा तन-मनसे करनेमें है; यह नहीं कि वह अन्यसे मैथुन भी करा लें; क्योंकि-कोई भी पति अपनी स्त्रीको अन्यसे मैथुनकी आज्ञा नहीं देता।

शेष जो वादीने शिवपु.के अनुसार सुदर्शनकी स्त्रीको व्यभिचारिणी बताया है; इसमें पुराणका कुछ भी दोष नहीं; यह वादीकी वाणीके ही व्यभिचारिणी होनेका दोष है। दोनों भिन्न व्यक्तियोंको उसने एक बता दिया। महा.में सुदर्शनकी स्त्रीका नाम ओघवती और उसे अच्छे कुलमें उत्पन्न बताया है (२।३६); पर शिव. (कोटि.)में सुदर्शनकी स्त्रीका नाम दुकूला तथा उसे 'दुष्टकुलोद्भवा' (१३।२१) कहा है। वहां सुदर्शनका स्त्री-सङ्ग करके विना स्नान किये शिवरात्रिमें शिवपूजन करना कहा है; यह उसका पाप बताया है (१३।२७-२८) और शिवरात्रिवाले दिन भी वह नहीं रह सका; इसी पापसे उसके पिताने उसकी स्त्रीको निन्दार्थ 'पुंश्चली' (१३।३५) कहा है; सो महाभारत तथा शिवपुराणकी कथाका भेद होनेसे यह भिन्न व्यक्तियोंकी कथा सिद्ध हुई; तब वादीके कथनका स्वयं खण्डन हो गया। हमारे पास भी एक 'श्रीराम' रहते हैं, उनकी स्त्री भिन्न नाम वाली है। वे पुराणोंकी कथा करते हैं। वादी जैसे पुराणशत्रुओंका वे प्रबल खण्डन किया करते हैं; तब क्या वे वादी द्वारा वादीकी स्त्रीके पति मान लिये जाएँगे?

(३३) पू०—कात्यायन-स्मृतिमें वेदविरुद्ध गोवध।—'उक्त स्मृतिके अन्तिम अध्यायमें कहा है-'क्षालनं दर्भकूर्चेन सर्वत्र स्रोतसां पशोः।...वपार्थे पार्णदारुणी' (१) यज्ञका पात्र जिसपर पशुकी वपा (चर्बी) पकाई जाती है, पत्तों वा काष्ठका होना चाहिये। 'गोस्रोतांसि चतुर्दश' (२) गायके शरीरमें १४ स्रोत होते हैं। 'क्षुरो मांसावदानार्थः...वपामादाय जुहुयात्' (३) छुरा मांस काटनेकेलिए होता है। वपा लेकर हवन करे। 'हृज्जिह्वाक्रोडमस्थीनि...पश्वङ्गानि प्रचक्षते' (४) हृदय, जिह्वा आदि पशुके १४ अङ्ग होते हैं। 'चरितार्था श्रुतिः कार्या...अतोऽष्टर्चेन होमः स्यात् छागपक्षे चरावपि' (५) प्रत्येक कल्पोक्त कर्ममें श्रुतिको चरितार्थ करना चाहिये। इससे बकरा और चरु दोनों पक्षोंमें आठ ऋचाओंसे होम करना चाहिये। 'अवदानानि यावन्ति क्रियेरन् प्रस्तरे पशोः। तावतः पायसान् पिण्डान् पश्वभावेऽपि कारयेत्' (७) पशु न हो; तो उतने खीरके पिण्ड बनाकर उन्हें कुशोंपर रखकर होम करे। 'ऊहनव्यञ्जनार्थं तु पश्वभावेऽपि पायसम्। सद्रवं श्रपयेत् तद्वद् अन्वष्टक्येऽपि कर्मणि' (८) ऊहन और व्यञ्जन कर्मकेलिए भी पशुके अभावमें पायस ही को ढीला पकावे' यह सनातनधर्मियोंका धर्म है। (एक दयानन्दी डाक्टर)

उत्तरपक्ष—यह आक्षेप दयानन्दियोंकी ओरसे दिया जाता है, अतः हम उन्हें उत्तर भी उन्हींकी सम्मत पुस्तकोंसे देते हैं। कात्या.स्मृ.के ५वें पद्यमें इस कर्मको श्रुतिसम्मत बतलाया गया है। श्रुति वेदका नाम है। स्वा.द.जी भी लिख गये हैं-'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो' इति मनुस्मृतौ [२।१०], श्रुतिर्वेदो मन्त्रश्च-इति पर्यायौ स्तः' 'निगम और श्रुति वेदोंके नाम हैं' (ऋभाभू. पृ. ६१) जब कात्यायनस्मृतिमें उक्त कर्मको श्रुति (वेद)से समर्थित माना है; तब वैदिकम्मन्य वादी उक्त कर्मपर आक्षेप कैसे करता है? वैदिक-कर्मका जितना उत्तरदायित्व हमपर आता है; उतना ही वैदिकम्मन्य दयानन्दियोंपर भी आता है; क्योंकि दोनों पक्ष वेदों पर श्रद्धा रखते हैं।

(ख) मनुस्मृतिमें लिखा है—'या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिँश्चराचरे। अहिंसामेव तां विद्याद् वेदाद् धर्मो हि निर्बभौ' (मनु. ५।४४) मनुस्मृतिमें प्रक्षेपोंके मानने वाले दयानन्दी श्री-तुलसीराम-स्वामीने भी इस पद्यको प्रक्षिप्त नहीं माना है। इसका अर्थ उनने यह किया है—'इस जगत्‌में जो वेदविहित हिंसा चराचर [चर-अचर] में नियत है, उसको अहिंसा ही जानो; क्योंकि वेदसे धर्मका ही प्रकाश हुआ है'। हमने उनका ब्रैकेट-का पाठ नहीं दिया; क्योंकि वह मनुके पदोंका अर्थ नहीं है। स्वा.द.जीने भी संस्का.वि. पृ. ११३ की टिप्पणीमें प्रकारान्तरसे लिखा है, 'जो ब्राह्मण वा सूत्र वेदविरुद्ध-हिंसापरक हो; उसका प्रमाण न करना'। इसका भाव यह हुआ कि—जहाँ वेदानुकूल हिंसा हो; उसे अप्रमाणित मत करना। निरुक्तकारने भी स्पष्ट लिखा है—'आम्नाय-वचनाद् अहिंसा प्रतीयेत' (१।१६।६) (अर्थात् वेदोक्त हिंसा भी अहिंसा हुआ करती है) इस विषयमें स्पष्टता 'आलोक' (६) पृ. ४४८-४५१ में देखो। तब वैदिकम्मन्य वादी

इसपर आक्षेप कैसे करता है ?

(ग) अब इसी पशुकी वपाका हवन वादी अपने वैदिक-ऋषि स्वा.द.जी की पुस्तकोंमें भी देखे—'प्रेष्यब्रुवोर्हविषो देवतासम्प्रदाने' ११० (अ. २।३।६१) यहाँ स्वामीजीने देवताके सम्प्रदानमें कर्म हविको ब्राह्मणग्रन्थमें प्रेष्य और ब्रू धातुओंके योगमें षष्ठी विभक्ति बताई है। इसमें स्वामीजी ने 'कारकीय' (पृ. ३२)में उदाहरण दिये हैं—

'इन्द्राग्निभ्यां छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रेष्य अनुब्रूहि' यहाँ स्वामीने छाग (बकरे) की हवि, (जिसका पर्यायवाचक 'वपा' दिया है, उसी की स्पष्टता 'मेदः' शब्दसे की है, जिसका वादी 'चर्बी' अर्थ करता है) वपा वा मेदः को इन्द्र और अग्नि नामक देवताओं को अर्पण कराया है। 'अग्नये छागं हविर्वपां मेदो जुहुधि'में भिन्न-धातु होनेसे षष्ठी न कराकर स्वामीजी ने द्वितीया कराई है। यहां छागकी वपा वा मेद—जिसका अर्थ वादीने कात्या. स्मृ.में 'चर्बी' किया था—का स्वा.द.जीने अग्निमें हवन अपने 'कारकीय' (सं० १९३८)में बड़े स्पष्टरूपमें बताया है। यहाँ दयानन्दी वादी वपा वा मेदःका जो अर्थ करेंगे, वही कात्या. स्मृ. में भी हो जायगा। सो यदि वे दूसरोंको पशुभक्षी कहते हैं; तो उन्हें भी छागभक्षी बनना पड़ेगा; क्योंकि-स्वा.द.जीने अपने यजुर्वेदभाष्य (१९।२०)में लिखा है—

'योऽत्र बहुपशुहविर्भुग् वेदवित् सत्क्रियो मनुष्यो भवेत्; स प्रशंसां आप्नोति'। इसका यही तो अर्थ होगा कि-जो वेदज्ञ

बहुत पशुओंकी आहुतिका शेष भाग खावेगा; उसकी वेदानुसार प्रशंसा होगी। अब इसपर स्वामीजी की हिन्दी देखो-'बहुत पशु-वाला होम करके हुतशेषका भोक्ता वेदवित् मनुष्य प्रशंसाको प्राप्त होता है। (१९।२०)।

(घ) यदि दयानन्दी लोग कात्या. स्मृ.में 'श्रुति' शब्द देखकर छाग वा गोकी वपा का हवन साक्षात् वेदमें देखना चाहते हों; तो निम्न मन्त्रोंमें देखें—

'मेदसां पृथक् स्वाहा' (यजुः २१।४०) 'होता यक्षद् अश्विनौ छागस्य वपाया मेदसो जुषेताम्' (४१) 'होता यक्षत् सरस्वतीं मेषस्य वपाया मेदसो जुषताम्। होता यक्षद् इन्द्रम् ऋषभस्य [गोः] वपाया मेदसो जुषताम्' (२१।४१) 'होता यक्षद् अश्विनौ छागस्य हविष आत्तामद्य मध्यतो मेद उद्भृतं...घस्तां नूनं...पार्श्वतः, श्रोणितः, शितामतः [यहाँ निरुक्त (४।३।२) में श्रीयास्कने यह पशुके अङ्ग माने हैं, यह दुर्गाचार्यके उक्त मन्त्रके भाष्यमें स्पष्ट है] उत्सादतः, अङ्गाद् अङ्गाद् अवत्तानां [अवदानानां] करत एव अश्विना जुषेतां हविर्होतर्यज' (२१।४३) 'होता यक्षत् सरस्वतीं मेषस्य हविष आवयदद्य मध्यतो मेद उद्भृतम्' (शेष पूर्वकी तरह २१।४४) 'होता यक्षद् इन्द्रम् ऋषभस्य [गोः] हविष आवयदद्य मध्यतो मेद उद्भृतम्' (शेष पूर्वकी तरह २१।४५)।

यहांपर वेदमें छाग, मेष तथा ऋषभ [गो] की वपा एवं मेदका, अङ्गोंके अवदानोंका पूरा-पूरा वर्णन आया है। 'देवांश्च याभि [गोभि] र्यजते' (ऋ. ६।२८।३) यहां गौवोंसे भी देवताओं

कहा है; क्योंकि यहां गौएं देवता हैं। यही श्रुतिके मन्त्र कात्या. स्मृ.के उक्त पद्योंका मूल हैं। जो वेदमें अर्थ होगा, वही कात्या. स्मृ.में भी हो जावेगा। सो छाग (बकरे) ऋषभ (बैल) आदि की वपाका स्वा.द.जीके अनुसार बकरा मेढा, बैल आदि पशुओं-के बीचका (मेदः) चिकना भाग घी-दूध लेवें' तथा वपाका बीज, वा बढ़ने वाली रीति, (यजुर्भाष्य २१।४३) आदि अर्थ करके अकबर राजासे बीरबल-द्वारा मंगाये गये बैलके दूधकी तरह बकरे, मेढे और बैलके बीचके चिकने भाग दूध-घी आदिका अर्थ वादी करते चलें [क्योंकि-घी-दूध बकरी वा गायका होता है, बकरे वा बैलका नहीं], इसी प्रकार विपक्षी कात्यायनस्मृतिमें भी वही अर्थ समझ ले, फिर उपालम्भ कैसा ? 'यश्चोभयोः समो दोषः परिहारोपि वा समः। नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे' (जब दोनोंमें वह बात बराबर हो, समाधान भी दोनोंका बराबर हो; तब एकको उलहना नहीं दिया जा सकता। वेदमें 'ऋषभ' शब्द है, स्वा.द. जीने उसका अर्थ 'बैल' (२१।४१) किया है, कात्यायन-स्मृतिमें उसीका पर्यायवाचक 'गो' शब्द है। यह हमने स्वा.द.जीका पक्ष दिखलाया है; अब अपना पक्ष दिखलाते हैं—

(ङ) वस्तुतः हम तो समझते हैं कि-कात्या.स्मृ.में 'गो'-(२६।२) शब्दका पशु-सामान्य अर्थ है, गाय-बैल नहीं; क्योंकि-वे (गाय-बैल) वेद-पुराणादिमें सर्वत्र अघ्न्य-अघ्न्या (अहन्तव्य, न मारने योग्य) कहे जाते हैं। इसीलिए कात्या. स्मृ. (२६।१)में

'स्रोतसां पशोः' यह पूर्वमें भी 'पशु' शब्द आया है, आगे 'पश्वङ्गानि चतुर्दश' (२६।४)में तथा ७म ८म पद्यमें भी 'पशु' शब्द आया है; सो पूर्वोत्तर-साहचर्यवश मध्यस्थित 'गो' शब्द भी जातिपक्षवश 'स्त्री-पशु' वाचक है।

(च) 'गो' शब्दके बहुत अर्थ हुआ करते हैं, यह महाभारत-के एक ही पद्य (कर्ण पर्व ६०।४२)में ७ बार कहे गये 'गो' शब्द-से स्पष्ट है। इस विषयमें 'आलोक' (६) पृ. ३१५, पृ. ३६१ देखो। ऋग्सं. (१०।१४६।३)में श्रीसायणाचार्य ने 'गावः'का अर्थ 'गवयाद्या मृगाः' किया है, 'गोसदृशो गवयः' यह प्रसिद्ध ही है। स्वा.द.जीने भी अपने वेदभाष्य (यजुः १३।४६)में उस नीलगायका मारना लिखा है। ऋ. (१।१२४।११)में श्रीसायणने 'गवां'का अर्थ 'अश्वानां' भी किया है। इसी प्रकार निरुक्तके अनुसार 'गो' शब्द पशुसामान्यका वाचक होनेसे-(इसपर देखो 'आलोक' (६) पृ. ३१५) तब उससे महिष वा महिषी आदि अन्य भी पशु गृहीत हो सकते हैं। जैसे कि ऋ. (६।३३।१)में श्रीसायणने 'महिषाः'का 'प्रवृद्धा मृगाः' अर्थ किया है। इसीलिए कात्या.स्मृ.के (२६।६) पद्यमें 'छाग' शब्द आया है, सो उक्त स्मृतिमें भी निरुक्तके पूर्वोद्धृत वचनानुसार 'गो' शब्द छाग तथा जातिपक्षमें 'छागी' वाचक अथवा अन्य स्त्रीपशु-वाचक सम्भव है, 'गाय-बैल' वाचक नहीं; क्योंकि-गाय-बैल वेदादि-शास्त्रानुसार 'अघ्न्य-अघ्न्या' होते हैं। इसपर देखो 'आलोक' (६)। सो अब उक्त स्मृतिमें 'गो' शब्द गाय-बैल वाचक न रहा। पशु-वध भी सनातनधर्मानुसार कलि-

वर्ज्य होनेसे अब कर्तव्य नहीं रहा; वहां घृतपशु वा पिष्ट-(आटेका) पशु गृहीत हो जाता है। 'अज' आदिको भी 'अज इति अन्नं बीजं वीरुद् (लता) वा, तमालभ्य-उपयुज्य प्रजाः पशून् प्राप्नोतीति गौणाः शब्दाः' (९।२।१०) इस मीमांसा-दर्शनके शाबरभाष्यानुसार अन्न, बीज आदि अर्थ किया जा सकता है। 'धाना धेनुरभवद् वत्सो अस्यास्तिलोऽभवद्' (अथर्व. १८।४।३२) 'अश्वाः कणा गावस्तण्डुलाः' (अथर्व. ११।३।५) इत्यादि मन्त्रोंके अनुसार 'गो' शब्द तण्डुलादि-वाचक भी हो जाता है।

पारस्करगृ. (१।३।२६) के भाष्यमें श्रीजयराम ने लिखा है—'यज्ञ-विवाहयोरेव आलम्भस्य आवश्यकत्वेन विधानात् कलौ च गवालम्भस्यैव प्रतिषेधाद् गोप्रतिनिधित्वेन पश्वन्तर स्मार्तपशुः पायसं वा भवतीति'। गदाधरने भी लिखा है-कलौ गोपशोर्निषेधात् तत्स्थाने अजालम्भः पायसं वा'। इस प्रकार पायसपशु भी रखा गया है। वही पशुका प्रतिनिधि बन जाता है। जैसे कि विवाहों-में गोदानकी दक्षिणाके स्थानापन्न गोदुग्धदानकी दक्षिणा दे दी जाती है। इसी कारण निरुक्तमें 'अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्न-वन्निगमा भवन्ति'—'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ. ९।४६।४) इति पयसः' (२।५।४) 'गो' शब्दका अर्थ 'गायका दूध' भी आया है। 'कुर्याद् घृतपशुं सङ्गे कुर्यात् पिष्टपशुं तथा। न त्वेव तु वृथा हन्तुं पशुमिच्छेत् कदाचन' (५।३७) इस मनुके वचनमें पशुके स्था-नापन्न घृतपशु तथा पिष्ट (आटेका) पशुका निरूपण आया है।

कात्या. स्मृ.में भी यह कहा है-'अवदानानि यावन्ति क्रियेरन्

प्रस्तरे पशोः। तावतः पायसान् पिण्डान् पश्वभावेपि कारयेत्' (२९।७) ऊहन-व्यञ्जनार्थं तु पश्वभावेपि पायसम्' (८) यहाँ पशुके अभावमें पायसका प्रयोग लिखा है। सो पशु-यज्ञ कलिवर्जित होनेसे-जैसे कि बृहन्नारदादिके कलिवर्ज्य-प्रकरणमें सुप्रसिद्ध है-कलियुगमें पशुका अभाव स्पष्ट होनेसे वहां पायस पिण्ड दिये जा सकते हैं।

(च) शेष है-'क्षुरो मांसावदानार्थः' (२९।३) कि-माँसके अवदान (काटने) केलिए छुरा होता है, यह दयानन्दी वादीका आक्षेप। यहाँ वादीने 'अवदान'का अर्थ कदाचित् 'दो अव-खण्डने'के अनुसार 'काटना' अर्थ किया हो; सो यह तो स्वा.द.जी भी लिख वा मान गये हैं। देखो उनकी संस्कारविधि, वहाँ एक 'शृतावदान' एक याज्ञिक शस्त्र है, वहां भी अर्थ होगा-शृत (पक्व) का अवदान (काटने वाला); और फिर यज्ञपात्रोंमें उनका 'खाँडा २४ अंगुलका प्रत्यक्ष है, वह छुरा ही है, संस्कार-विधिमें उसका चित्र ही देख लो। 'खाँडा' यह 'खड्ग' का अपभ्रंश है, जो पुरानी हिन्दीमें प्रसिद्ध है। स्वा.द.जी भी पहले यज्ञमें पशु तथा उसका काटना मानते थे, देखो प्रथम 'सत्यार्थप्रकाश'। इस पर देखो 'आलोक' (६) पृ. ४३४-४३६)। मीमांसादर्शनमें भी 'मांसं तु सवनीयानां चोदनाविशेषात्' (३।८।४२) द्वारा मांसका प्रयोग बताया गया है। 'स य एवं विद्वान् मांस मुपसिच्य उपहरति' (अ. ९।६।७) यहाँ वेदमें अतिथियज्ञमें तथा 'यन्मांसं निपृणामि ते' (अथर्व १८।४।४२) 'अपूपवान् मांसवान् चरुरेह

सीदतु' (अ. १८।४।२०) इन वैदिकस्थलोंमें भी 'मांस' शब्दका प्रयोग है, उसका जो अर्थ किया जायगा; वही स्मृति-पुराणादि-के आक्षिप्त स्थलोंमें भी वैदिकम्मन्योंको कर लेना चाहिये, फिर आक्षेप कैसा ?।

(छ) अबकी उनकी संस्कारविधि (पृ. २७७) में स्वा.द.जीने तैत्तिरीयारण्यकके १०।६४ वचनसे यज्ञकी सामग्री उद्धृत की है। यह आध्यात्मिक यज्ञ है। उसमें 'मन्युः पशुः, दमः शमयिता' इसे रूपकालङ्कारसे लिखा है। इसका भाव यह है कि-इस यज्ञमें क्रोध 'पशु' स्थानीय होता है, और 'दम' द्वारा मन्यु 'पशु'को मारा (शान्त किया) जाता है। जब आध्यात्मिक-यज्ञमें दमसे क्रोध-पशुको मारना सूचित किया गया है; तब लौकिक यज्ञमें भी पशु तथा उसका मारना स्वतः-सिद्ध हो गया; चाहे उस पशुको हमारे अनुसार पिष्ट (आटेका) पशु मान लिया जावे; इस विषयमें 'आलोक' (७) पृ. ८१०-८१७ देखो। वादी लोग इस पशुवधकी जो सङ्गति लगाएंगे; वह हमारे पक्षमें भी लग जावेगी।

सो वादी लोग उस खांडेका जो समाधान करेंगे; वह यहां भी हो जावेगा। जैसे सिख लोग अपने सम्प्रदायके अनुसार कृपाणसे कड़ाहप्रसादको संस्कृत करते हैं, वैसे ही संस्कृत-पायसके भी छुरसे चाहे वह काठका ही बना हुआ हो; तात्कालिक सम्प्रदायके अनुसार १४ भाग किये जाते थे। स्मार्त 'अवदान'-शब्दका स्थानापन्न शब्द वेदमें 'अवत्ताः' (यजुः २१।४३) यह

निष्ठान्त प्रयोग आया है। धातु दोनों ही स्थान समान है।

(ज) 'मांस' चिकनी वस्तुका नाम भी होता है, इसलिए आम, केला आदिके गूदेका नाम भी आयुर्वेद-शास्त्रोंमें 'मांस' शब्दसे आता है। उससे दूधके चिकने भाग पायस, मलाई आदि भी गृहीत हो जाते हैं। जैसे कि शतपथमें कहा गया है—'एतदु ह वै परममन्नाद्यं यन्मांसम्' (११।७।१।३), इसपर 'यज्ञे पशुबलिर्वेद-विरुद्धः' यह आर्यसमाजी श्रीनरदेवजी शास्त्रीका ट्रैक्ट देखो। सो यहां 'परमान्नं तु पायसम्' (अमर. २।७।२४) के अनुसार परमान्न (पायस) को भी 'मांस' शब्दसे कहा गया है, वैसे यहां पर भी वादी समझ ले। आर्यसमाजके म.म. श्रीआर्यमुनिजीने ३।८।४२-४४ सूत्रोंके अपने 'मीमांसार्यभाष्य'में माष आदि मांसल पदार्थोंका नाम भी 'मांस' माना है, उसे हमारे पक्षमें भी वादी समझ लें।

(झ) कात्या.स्मृ.में जो पशुके अङ्ग कहे गये हैं-'हृज्जिह्वाक्रोड-मस्थीनि यकृद् वृक्को गुदं स्तनाः। श्रोणिस्कन्धसटापार्श्वं पश्वङ्गानि प्रचक्षते' (२६।५) उन गो (पशु) के अङ्गोंको वादी अथर्ववेदसं.के १०।६ सूक्तमें इन मन्त्रोंमें ढूँढ लें। 'हृदयं' (१५), जिह्वा (३), क्रोड (२५), अस्थि (१८). यकृद् (१६), गुदा (१६), स्तनाः (२२), श्रोणी (२१) अंस (स्कन्ध) (१६), सटा (वालाः) (२२)। अथवा स्कन्धकी अस्थि (टांट) (२०)। पार्श्व (पर्शवः) (२०) 'मांस' (१८) इत्यादि।

(ञ) वस्तुतः यहां अन्य रहस्य है। वह यह कि-अथर्ववेदसं.के

१०म काण्डके ६म सूक्तमें 'शतौदना गौः'के यज्ञका वर्णन आया है; वहां उसके सभी अङ्गोंका भी वर्णन आया है, जैसे कि अभी हम दिखला चुके हैं। 'शतौदना'का अर्थ है शत-बहुतसे ओदन (पके चावलों)से बनी गाय। उसके लिए वहां शान्त करना (मारना), पाक (पकाना), स्वर्गगमन; अस्थि (हड्डी), लोहित (लहू), 'मांस' शब्द भी उपचार रूपसे आये हैं (अथर्व. १०।६।७, १८); सो उसी व्रीहियों (चावलों) से निर्मित गायके अङ्गोंका वहां हवन आता है, जैसेकि महाभारतमें भी कहा है—'श्रूयते हि पुरा काले (वैदिककाले) नृणां व्रीहिमयः पशुः। येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः' (अनुशासन. ११५।५६) अर्थात् वैदिककालमें चावलोंका पशु बनाकर यज्वा लोग उसका हवन करते थे। इसपर देखो 'आलोक' (६) पृ. ३५६-३६०, ४०४-४०६, ४५३-४५४)।

(ट) अथवा 'गोधूम'के 'धूम' शब्दका 'विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदलोपः' (वा. ५।३।८३) इससे लोप करनेपर 'गो' बचता है, सो गेहूँके आटेकी बनी हुई गाय (देखो—इसपर 'आलोक' (६) पृ. ४०४) का ही वहां होम इष्ट है। इसलिए शतपथमें भी कहा है—'अन्नं हि गौः' (४।३।१।२५)।

इस प्रकार कात्यायनस्मृतिकी भान्ति अन्यत्र भी तथा वेद-भाष्यादिमें जहाँ कहीं ऐसा भ्रम पड़े; वहाँ भी वही पिष्टपशु वा व्रीहिपशु समझकर उसकी व्यवस्था समझ लेनी चाहिये; क्योंकि—वेदों तथा पुराणादि सभी शास्त्रोंमें गाय-बैलको 'अघ्न्या-अघ्न्य' एवं अवध्योंकी परम अवधि कहा गया है; सो जीवित-गायका

हनन यज्ञमें, वा यज्ञसे बाहर कभी बन नहीं सकता; अतः वहां विधिपूर्त्यर्थ पिष्ट-पशु वा व्रीहि-पशु ही समझ लेना चाहिये। जैसे कि यज्ञोंमें पत्नीका भी साथ बैठना आवश्यक होनेसे अश्वमेधयज्ञमें सीताके वनवासमें होनेसे उसके अभावमें उसके स्थानापन्न सुवर्णकी वा कुशकी सीता बैठाई गई थी; देखो (वाल्मी. ७।९९।७, कात्यायनस्मृ. २०।१, आनन्द रामा. १।७।१३७); वैसे यहां भी समझ लेना चाहिये।

(ठ) यद्यपि पिष्टपशु वा व्रीहिपशुके होममें भी एक प्रकारकी हिंसा-सी हो जाती है; पर वह यज्ञमें अभ्यनुज्ञात है; परन्तु कलिवर्जित होनेसे पिष्टपशु यज्ञ भी कलियुगमें कर्तव्य नहीं, क्योंकि—इससे बहुत-सी हानियोंकी आशङ्का है। उन्हीं हानियोंको लक्ष्यमें रखकर कलिमें 'यज्ञे पशुवधस्तथा' वर्जित कर दिया गया था। इसलिए पशुस्थानापन्न व्रीहि-यव आदि अन्नोंका अब भी होम हुआ करता है। देखो इसपर शतपथ एवं ऐतरेयब्राह्मणका वचन (आलोक' (६) पृ. ४५३-४५४)।

सो इस प्रकार व्यवस्थाको जानकर विपक्षियोंको स्मृति और पुराण पर व्यर्थके आक्षेप नहीं करने चाहियें, क्योंकि उनका मूल भी वेद ही है। सो वेदमें वादी लोग वपा-मेद आदिके अर्थ करनेमें जैसे अपनी तोड़-मरोड़की करामात दिखलाएँ, वैसे स्मृति-पुराणादिमें भी वेदानुकूल अर्थ समझलें। व्यर्थ ही सनातनधर्मपर आक्षेप न करें। सदा भगवद्गीताके अपेक्षित इस पद्यके अंशको ज्ञान रखें कि—'न बुद्धिभेदं जनयेद्

श्रज्ञानाम्' (३।२६)। इस विषयमें पूरी स्पष्टता 'आलोक' (६) में पृ. ३११-४७१ में 'क्या प्राचीन-भारतमें गो-वध होता था' यह विषय पूराका पूरा देखें।

३३ (ख) 'विलक्षण लोकविज्ञान'में वादीने ग्रहों आदिकी दूरीमें वर्तमान-विज्ञानसे भेद बतलाया है। यह जो दूरियां उसने लिखी हैं, वह स्वयं तो उन्हें देख वा नाप नहीं आया; केवल आजकलके विज्ञानकी बात उसने लिख डाली है। सो आजकलके विज्ञानने भी अनुमान ही लगाये हैं। सो उसके सिद्धान्त भी समय-समय पर बदलते रहते हैं। अतः हम उसे 'सिद्ध बात' नहीं कह सकते। तब पुराणपर उससे आक्षेप भी व्यर्थ है।

(ग) शेष जो वादीने ब्रह्माकी नाकसे सुवरका (भाग. ३।१३।१८) निकलना, तथा जांघसे असुरोंका पैदा होना, भ्रुकुटीसे महादेवका होना आक्षिप्त किया है, वह व्यर्थ है। ब्रह्मा वादी-जैसे मानुष-व्यक्ति नहीं। उनके अङ्ग भी दिव्य हैं, अतः उनमें विशेष उत्पत्तियां भी सम्भव हैं। वादीका नाक केवल मैल निकालता है, मुँह थूक वा कफ निकालता है, उसका सिर जुंएं पैदा करता है; पर दिव्योंमें दिव्यतावश, अष्ट-सिद्धियोंपर अधिकारवश विविध प्रकारकी उत्पत्तियां भी हो सकती हैं। यह सिद्धियोंसे रहित वादीको स्वयं समझने का यत्न करना चाहिये। वेदमें भी परमात्माके मन, आंख, कान, मुख, नाभि, सिर, पांव आदिसे चन्द्रमा आदिकी उत्पत्ति बताई गई है, देखो पुरुषसूक्त-'नाभ्या आसीद्' इत्यादि)।

(घ) स्वा.द.जी पृथ्वीसे ऊपर होते-होते गैससे भरी हुई फूकनीकी भांति छतके साथ जा लगते थे, वे एक घोड़ा-गाड़ीको रोकनेमें सफल हुए थे, वे विषको पचा गये थे, बड़े-बड़े पहलवानोंको उन्होंने पछाड़ दिया, निचोड़े हुए गीले अंगोछेसे स्वामीने दो-तीन बूंदें पानी निकाल ही दिया, जिसे पहलवान भी नहीं निकाल सके थे; वे शुरूसे ही संन्यासी हो गये थे, यह बातें दयानन्दके चरित्रकी पुस्तकें बताती हैं; पर वादी उन कर्मोंको नहीं कर सकता, तब क्या वह स्वामीके उन चरित्रोंको जो ऋषि-मुनि वा देवोंके मुकाबलेमें नगण्य हैं-गप्प मान लेगा? यदि नहीं, तब लोकोत्तर ऋषि-मुनि वा देवोंके लोकोत्तर चरित्रोंपर असम्भव दोषको थोपना वादीकी अल्पज्ञता, अल्प-श्रुतता, निन्दनप्रकृति एवं केवल खण्डन-व्यसनिता बता रहा है।

स्वामीजी भांग पीया करते थे, इतनी कि दूसरे दिन होश आता था। एक वार उनको इतना नशा हुआ कि-वे नन्दी बैलमें गुदाके रास्ते घुसकर उसमें लेट गये, एक स्त्री नन्दीकी पूजा करने आई; और उनको खट्टा दही खिलवाया, इससे उनका नशा उतरा। स्वामी जी हुक्का पीया करते थे. स्वामीजी नसवार भी सूंघा करते थे, संन्यासी होते हुए भी कामवर्धक, मारी हुई धातुओंके भस्म खाया करते थे, खूब गालियां दिया करते थे, वेदोंके अशुद्ध एवं अपनी इच्छानुसारी अर्थ किया करते थे। आर्यसमाजानुसार अन्य भी उनमें बहुतसे दोष थे, जैसे बचपनमें आ.स.के सिद्धान्तसे विरुद्ध मूर्ति-पूजा, रुद्राक्ष पहरना, शैवोंवाली

भस्म लगाना आदि स्वामीके अपने ही अनुसार 'जंगली-व्यवहार' यह बातें उनकी जीवन-चरित्र की पुस्तकें ही बताती हैं; क्या वादी गालियाँ देना तथा अशुद्ध अर्थ करके जनवञ्चन करना छोड़कर उनके अन्य दोषोंका अनुसरण करता है, वा उनसे स्वा.द.जीकी निन्दा करता है ? यदि नहीं; तब अलौकिक-सामर्थ्यशाली ऋषि-मुनियों तथा भोगयोनि देवताओंके लोकोत्तर चरित्रोंपर कर्मयोनि तथा सीमित-शक्तिशाली मनुष्यों वाले दोष लगाकर उनकी निन्दा करनेमें वादी कैसे अधिकृत है ? यह केवल उसकी या तो अल्पश्रुतता है, या पक्षपात है।

वादीने 'कबीर...मर्दन' इस अपनी पुस्तक (पृ. ३६ पं. १३-१४) में लिखा है-'मानव-योनि कर्म वा भोग-योनि है, शेष सभी योनियां केवल भोगयोनियां हैं'। सो देवयोनि मनुष्य-योनिसे भिन्न होनेसे (देखो इसपर 'आलोक' ४र्थ पुष्प पृ. ४०५-४३७) वह भोग-योनि हुई। कर्मयोनि तथा भोगयोनिकी व्यवस्था वादी भी समान नहीं मानता होगा। बैलके अपनी मातासे वा अन्य गायोंसे मैथुन करनेपर क्या वादी उसे मनुष्यकी भांति पापी मानकर उसे मनुष्यों वाला दण्ड दिलावेगा ? यदि नहीं; तब देवयोनि भी मनुष्य-योनिसे भिन्न होनेसे भोगयोनि हुई, तब उसमें मानुषी दृष्टिकोणसे आलोचना करता हुआ वादी नासमझ सिद्ध हुआ।

देवता लोग मनुष्य-योनिमें कर्म करके उनका केवल भोग करने ही स्वर्गादि-लोकोंमें जाते हैं; भोग पूरा हो जानेपर

फिर इस लोकमें वापिस आ जाते हैं, जैसा कि उपनिषदोंकी सारभूत गीतामें कहा है---'यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते। ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्' (९।२०) यहां यज्ञोंसे स्वर्गप्राप्ति और स्वर्गमें देव बनकर भोगोंकी प्राप्ति कहकर गीता कहती है-'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (गीता ९।२१) इस विषयमें उपनिषदोंके वचन भी देखिये-'तद् यथा इह कर्मजितो लोकः क्षीयते, एवमेव अमुत्र (परलोके) पुण्यजितो लोकः (स्वर्गः) क्षीयते' (छान्दो. ८।१।६)। यहांपर स्वर्गके क्षीण होनेका तात्पर्य स्वर्गसे गिरकर मनुष्यलोकमें आनेका है। अब अन्य वचन देखिये-'इष्टापूर्तं (यज्ञादिकं) मन्यमाना वरिष्ठं'...(यज्ञादिना प्राप्तस्य) नाकस्य (स्वर्गलोकस्य) पृष्ठे ते सुकृते अनुभूत्वा इमं [मानुषं] लोकं हीनतरं वा विशन्ति' (१।२।१०) यहांपर भी यहांके कर्मयोनि मनुष्योंका फलभोगार्थ परलोक स्वर्गादिमें जाना कहा है, सो वे वहाँ भोगयोनि देव बनकर कर्म समाप्त-प्राय होनेपर स्वर्गसे गिरकर फिर इस मनुष्यलोकमें आ जाते हैं, और कर्म-योनि बनकर कर्म करने लग जाते हैं।

यही बात बृहदारण्यकमें भी कही है-'प्राप्य अन्तं कर्मणः [स्वर्गलोके फलं प्राप्य] तस्य यत् किञ्च [कर्म] इह [अस्मिन् मनुष्यलोके] करोति अयम् [कर्मयोनिर्मनुष्यः]; तस्माद् [स्वर्गाद्] लोकात् पुनरेति अस्मै लोकाय [अस्मिन् मनुष्यलोके 'गत्यर्थ-कर्मणि' (पा. २।३।१२) इति चतुर्थी] कर्मणे [कर्मकरणार्थम्,

'क्रियार्थोपपदस्य, (पा. २।३।१४) इति चतुर्थी) (४।४।६) (कर्मयोनि मनुष्य इस मनुष्यलोकमें जो कर्म करता है; उनका फल परलोक स्वर्गमें भोगने जाता है; अर्थात् 'दिवि देवाः' (अ. ११।६(७)२३) स्वर्गलोकमें जाकर देवता बनता है, 'देवा वै नाकसदः' (शत. ८।६।१।१) 'द्यौर्वै सर्वेषां देवानामायतनम्' (शत. १४।३।२।८); तब उस फलको देवयोनिमें भोगकर फिर जीव उस स्वर्गसे गिरकर इस मनुष्यलोकमें मनुष्य बनकर पुनः कर्मकरणार्थ आता है।) वादी उपनिषदोंमें वेदविरुद्धता नहीं मानता।

इससे सिद्ध होता है कि-मनुष्य तो कर्मयोनि है; मनुष्यसे भिन्न देवता केवल भोगयोनि हैं। यदि वे कर्मयोनि होते, तो उन्हें कर्म करनेकेलिए इस लोकमें न आना पड़ता; इससे भी स्पष्ट है कि-स्वर्ग भोगस्थान है, और देवता भोगयोनि ही हैं। इस प्रकार पशु भी केवल भोगयोनि हैं; वे मनुष्यलोकमें रह सकते हैं, स्वर्गादि-लोकमें भी। देवता उच्च भोगयोनि हैं, पशु अधम भोगयोनि हैं। सो प्रकृतिकी व्यवस्थासे भोगयोनि देवता तो स्वर्गसे गिरकर मनुष्यलोकमें ब्राह्मणादि उच्च योनिमें जन्म लेते हैं, और भोगयोनि पशु प्रकृति-व्यवस्थावश मनुष्यलोकमें निम्न शूद्र-अन्त्यजादि योनिमें जन्म लेते हैं।

जैसे बच्चा-बूढ़ा समान माना जाता है; इस प्रकार देवता तथा पशु भोगयोनित्व रूपमें समान हैं। पर वृद्ध उच्च होनेसे सम्माननीय होता है, दोष होनेपर भी उसे बच्चे वाला दण्ड थप्पड़ मारना आदि नहीं दिया जाता; उसके दोषमें भी उपेक्षा

(चश्मपोशी) करनी पड़ती है, इसी प्रकार उच्च-भोगयोनि देवताओंमें मानुषी दृष्टिकोणसे दोष होनेपर भी वे भोगयोनि होनेसे दण्ड्य नहीं माने जाते। यदि कहीं उन्हें दण्डित किया भी जाता है; तो इसलिए कि-अन्य लोग ऐसा न करने लग जावें। वा शापादि विशेष कारण होता है। परन्तु पशु निम्न-भोगयोनि होनेसे दोष उसका भी उपेक्षित ही किया जाता है; पर वह देवताओं वाला सम्मान नहीं पाता; जैसे कि बच्चा वृद्ध वाला सम्मान नहीं पाता। उसमें गाय आदिका सम्मान अपवाद है; जैसे कि बच्चेका भी समय पर प्याररूप सम्मान हो जाया करता है।

फलतः भोगयोनि तथा कर्मयोनिकी व्यवस्था समान न होनेसे भोगयोनि जीव कर्मयोनिके दृष्टिकोणसे दोषी होनेपर भी उसका दोष सामान्यतया आलोचनीय वा दण्डनीय नहीं हुआ करता। तब भोगयोनि-देवताओंको कर्मयोनि-दृष्टिकोणसे आक्षिप्त करता हुआ वादी वस्तुतः अज्ञानी वा अल्पश्रुत ही सिद्ध होता है, यह पाठकोंने जान लिया होगा। जिस स्थानमें पेशाब करनेपर मनुष्यको जुर्माना किया जाता है, उस स्थानपर पेशाब करते हुए गाय-बैल आदि पर जुर्माना करना कानूनकी पुस्तकोंमें नहीं आता। आशा है वादी अपना ज्ञान इस विषयमें बढ़ावेगा।

वादीके पुराणविषयक आक्षेपोंका हमने परिहार कर दिया है; अब उसमें शक्ति नहीं कि वह उठ सके। हम उसे धन्यवाद देते हैं कि-वह जनताको पुराणोंकी बातोंके समझनेका अवसर

देता है। वह जो भी नये आक्षेप करे, हमारे पास भेजता जावे, हम उनका पूर्ण उत्तर दिया करेंगे। बल्कि हम भूमण्डलभरके आर्यसमाजियोंको प्रेरित करते हैं कि-वे अपनी बनाई सनातन-धर्मकी खण्डक पुस्तकें हमारे पास भेज दें; हम उनका खण्डन क्रम-क्रमसे कर देंगे। ऐसे आत्मविश्वासका कारण यह है कि-इन वादियोंकी सिद्धान्तभित्ति प्रायः असत्य एवं पूर्वापर-प्रकरण छिपानेपर आधारित है; अतः बालूकी है; तब उसके गिरते हुए देर नहीं लगती। उस बालूकी दीवार गिरानेमें पाँवकी एक ठोकर ही काफी हो जाती है। आशा है-संशयग्रस्त लोग हमारे प्रत्युत्तरोंका उनके आक्षेपोंसे मिलान करके निष्पक्ष अन्तःकरण-से मनन करेंगे; तो उनके सब संशय दूर होंगे।

(३४) वादीके पौराणिकगप्पदीपिका, पुराण किसने बनाये, ट्रैक्टोंका प्रत्युत्तर प्रायः हम दे चुके। उसके शेष आक्षेपोंका जो गत पुष्पोंमें हम प्रत्युत्तर दे चुके हैं; उनका विवरण देते हैं।—

१ 'माँ, बहिन, बेटीसे विवाह की आज्ञा' वादीने लिखी है, वहाँ विधि नहीं है, अतः आज्ञा न होनेसे ग्राह्य नहीं है। उसका वास्तविक तात्पर्य 'आलोक' (७) पृ. ६८-७२ में हम बता चुके हैं, वादी उसपर कुछ भी नहीं बोल सका; न उसका इतिहास कहींसे दिखला सका। इसी प्रकार विवस्वान्की 'भ्रातृजा' भी एक प्रकृतिविशेष है, जिसे भविष्यपुराणने इतिहासका रूप दे दिया है, नहीं तो न विवस्वान्का कोई सहोदर भ्राता था; न संज्ञा उसकी लड़की थी। वस्तुतः भोगयोनि-देवताओं एवं

अमैथुनयोनिमें उत्पन्न हुओंमें यह लौकिक-सम्बन्ध वास्तविकता-से नहीं होते। कहीं यदि औपचारिकतासे कह दिये जावें, तो वह कर्मयोनि-मनुष्योंको ग्राह्य नहीं। तब उन लौकिक-मर्यादाओंका अतिक्रमण मानुषी-दृष्टिसे आक्षिप्त नहीं किया जा सकता है, और न उन्हें शापादिविशेषकारणके बिना कहीं दण्डित किया जाता है।

देवता भोगयोनि हुआ करते हैं, और पशु भी। देवता तो यहांके किये हुए कर्मोंका स्वर्गलोकमें फल भोगने जाते हैं; स्वतन्त्रतावश वे मनुष्यलोकमें भी आ-जा सकते हैं। फिर 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (गीता ९।२१) देवल-से गिरकर ब्राह्मणादिवर्णमें मनुष्य आकर बनते हैं। जैसे मुक्तिलोकमें स्वामी मुक्तोंको भोगयोनि मानते हैं; और उनका रमण करना, सुखभोग भोगना मानते हैं; और हमारे स्वर्गको वे मुक्ति कहते हैं, सो दोनों स्थान बराबर बात समझनी चाहिये। अतः उनके चरित्रोंको कर्मयोनि मानुषी-दृष्टिकोणकी तुलासे कभी तोला नहीं जा सकता। इस प्रकार पशु भी भोग-योनि होते हैं; वे भी यहांके किये हुए कर्मोंको पशु बनकर इस लोकमें ही भोगते हैं; उनमें भी भगिनी-गमन, मातृ-गमन आदि होते हैं, पर वे मानुषी दृष्टिकोणसे न तो आलोचित किये जाते हैं; न किये जा सकते हैं, न किये जाने चाहियें। वे अपने कर्मोंके क्षीण हो जाने पर प्रकृतिके नियम-वश मनुष्ययोनिमें अतिशूद्रादि बनकर फिर कर्मसे क्रमशः

उन्नति करते हैं।

इस प्रकार देव तथा पशुओंमें भोगयोनितावश किये जानेवाले स्वेच्छाचारिताके व्यवहारकी मनुष्यकेलिए कर्तव्यता नहीं रहती, तब वादीके किये आक्षेप कुण्ठित होगये। इस विषयमें हम पूर्व स्पष्टता कर चुके हैं। केवल दोनों भोग-योनि होनेपर भी उनमें इतना अन्तर है कि-भोगयोनि पशु अधमयोनि हैं; और भोगयोनि देवता उच्च योनि। जैसे बाल-वृद्धकी तथा बच्चे एवं संन्यासीकी शक्तिमें अन्तर होते हुए भी निर्मर्यादतामें साम्य है, वैसे पशु और देवोंमें भी। बच्चा अज्ञानवश कर्म नहीं करता, मर्यादाओंमें नहीं रहता, पर बूढा ज्ञानयुक्त होनेपर भी यौवन वाली सामर्थ्य न रहनेसे मर्यादाओंमें नहीं रहता। मर्यादा केवल जवानोंमें होती है, उन्हींके लिए विधि-निषेध हैं। वैसे ही पशु-बच्चे, मनुष्य-जवान, देवता-वृद्ध दोनों रूपमें लेने चाहियें। इस विषयमें हम पूर्व स्पष्टता कर चुके हैं, अथवा 'आलोक' (६) पृ. ४७२-४६१ देखो।

२ देवताओंको गर्भ रह गया—इस विषयमें इसी निबन्ध (सं. ७) (पृ. ६६१) में कह दिया गया है। ३ कानसे वा नाकसे उत्पत्ति हुई, इस विषयमें गर्भाधानका कोई प्रश्न ही नहीं, यह अमैथुनिक उत्पत्तियाँ हैं। वादीके सिरसे जुएँ वा लीखें पैदा होती हैं; कई रोगियोंके पेटसे साँप जैसे बड़े-बड़े कीड़े पैदा होते हैं; देवताओंमें अणिमा आदि सिद्धियाँ जिन्हें स्वा.द. भी अपने भाष्य (यजुः १७।६७)में मान चुके हैं, उनकी स्पष्टता योगदर्शन-

विभूतिपादमें है। अतः वहाँ असम्भवका कोई प्रश्न शेष ही नहीं रह जाता। ४ विष्णुका व्यभिचार वा अन्योंकी प्रेरणाविषयमें 'आलोक' (६ पृ. ५७०-५८१) में देखो। ५ बालखिल्योंकी उत्पत्तिमें 'आलोक' (७ पृ. ७४, १३६-१४३) में देखो। ६ 'शिवजीका पार्वतीको विचित्र आदेश' इसी निबन्ध (सं. ६ पृ. ६६२-६६४)में देखो। ७ 'ब्रह्माजीकी मुसीबत' पर ७म पुष्प (पृ. ६२६) तथा इसी पुष्प (पृ. ५२६) में देखो। ८ 'मर्दके पेटसे बच्चा जन्मा' विषयमें अभिमन्त्रित जलकी महिमा समझनी चाहिये। इस प्रकारका समाचार-पत्रोंमें प्रकाशित वृत्त भी प्रसिद्ध है। परिशिष्ट में देखो।

९ 'इन्द्रके आचरण'में ७म पुष्प (पृ. ६०७-६०९) में देखो। ऐ. ब्रा. (७।२८।१) तथा तै.सं. ६।२।७।५ में आता है-'इन्द्रो यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छत्'। कौषीतकि-ब्राह्मणोपनिषद्में इन्द्रने अपना चरित्र सुनाया है-'त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनम्, अवाङ्मुखान यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छम्, बह्वीः सन्धा (प्रतिज्ञाः) अति-क्रम्य दिवि प्रह्लादादीन् अतृणम्, अहमन्तरिक्षे पौलोमान, पृथिव्यां कालकाञ्ज्यान् [अहनम्], तस्य मे तत्र लोम च नामीयत (नाऽहिंस्यत)' (३।१) इन उपनिषद् वा ब्राह्मण वा संहिता-वचनोंका पुराणोंमें अनुवाद किया गया है। अब वादियोंकी इष्ट संहितामें भी इन्द्रके कर्म सुनिये-'यस्याऽवधीत् पितरं, यस्य मातरं, यस्य शक्रो [इन्द्रो] भ्रातरं नात ईषते।···न किल्विषादीषते' (पापाद् न बिभेति) (ऋ. ५।३४।४) 'त्वं माया-

भिरनवद्य मायिनं...अर्दयः' (ऋ. १०।१४७।२) इत्यादि मन्त्रोंमें इन्द्रका पाप वा माया करनेपर भी उसे निर्भय वा निष्पाप कहा गया है। सो पाप करनेपर भी इन्द्रको अनवद्य (निष्पाप) कहना इन्द्रादिदेवोंके भोगयोनित्ववश कहा गया है। सो पुराण स्थित देवचरित्रका मूल भी वेद होनेसे वैदिकम्मन्य वादीका खण्डन हो गया। वादी तोड़-मरोड़ करके अर्थ भले ही बदलें; पर पुराणमें यही अर्थ इष्ट था। अर्थ तो हर एक बातका बदला जा सकता है। तब तो वादीके नामका भी अर्थान्तर करके उसकी सत्ता भी उड़ाई जा सकती है। तब क्या वह अपना अभाव मान लेगा? १० श्रीकृष्ण की ३० करोड़ पत्नियों पर ६ठे पुष्प-(पृ. ६०७-६०८)में देखें।

११ 'शिवजीके चार मुंह'में तिलोत्तमा की सुन्दरताका अर्थ-वाद है। अनुशासनपर्व (१४३ अ.)में उन चार मुखोंके अन्य भी प्रयोजन बताये गये हैं। शिवलिङ्गके विषयमें पूर्व कई बार बताया गया है कि—निर्गुण-निराकार मूर्तिके लिए सफियाना अण्डाकार मूर्ति रखना पड़ती है। इसी प्रकारकी विष्णुकी भी मूर्ति होती है, जिसका नाम 'शालग्राम' होता है। जैसे उसका विशेष नाम 'शिला' होता है, वैसे शिवकी सफियाना निर्गुण-निराकारमूर्तिका नाम 'लिङ्ग' होता है। इसपर 'आलोक' (७) पृ. २२६, पृ. ६१० की टि. पं० ७-१४ में स्पष्टता की जा चुकी है। जैसे कि गृह्यसूत्रमें 'अहत-वस्त्र'का विधान आता है। 'अहत-वस्त्र' सफियाना कपड़ेका नाम होता है; और 'हत-वस्त्र' वह

होता है जिसे फाड़कर कमीज आदि बना दी जावे। इस प्रकार निर्गुण मूर्ति सफियाना (अण्डाकार, लिंग मूर्ति, वा शिला मूर्ति) होती है। चतुर्भुज, पञ्चानन वा मुख बाहु आदि अङ्गोंवाली सगुण मूर्ति होती है; यह समझ लेने पर फिर भ्रमकी सम्भावना नहीं रहती।

१२ 'पौराणिक ऋषियोंकी माताएं' कैवर्ती, श्वपाकी, शुकी, उलूकी, मृगी, गणिका, नाविका, मण्डूकी आदि जो दिखलाई जाती हैं, इनमें भविष्य-पुराणमें पूर्वपक्ष वर्णित्त किया गया है, वे सिद्ध बातें नहीं, किन्तु साध्य हैं। व्यासजीकी माता कैवर्तके वंशकी नहीं थी, किन्तु कैवर्तसे पालित थी, इसपर हम 'आलोक' (७) पृ. ६१७-६२० में तथा अन्यत्र कई बार स्पष्ट कर चुके हैं। पराशरकी श्वपाकीसे उत्पत्ति इतिहाससे समर्थित नहीं, अन्यथा वादी उस पर इतिहासका प्रमाण दे। शुककी शुकीसे तो उत्पत्ति नहीं आई है, किन्तु अरणिसे। वसिष्ठकी उत्पत्ति उर्वशीके शरीरसे न होकर उसके मनसे हुई है। वह कोई मानुषी गणिका भी नहीं थी, दिव्य अप्सरा थी, यह विषय ऋसं. (७।३३।११) में स्पष्ट है, हमने ४र्थ पुष्प तथा अन्यत्र इसी निबन्धमें विवेचन दिया है। शेष कई पशु-पक्षिणियोंमें जो दिव्य थीं, कई उत्पत्तियां ऋषियोंकी अमोघ-वीर्यतावश हुई हैं, उनमें बीजकी प्रधानताका अर्थवाद है। उस बीजकी श्रेष्ठता के कारण उनपर क्षेत्रका प्रभाव नहीं पड़ सका, यह तात्पर्य है। इसीको मनुजीने स्पष्ट

कर दिया है (१०।७२)।

१३ देवताओंके चरित्रके विषयमें 'आलोक' (७) में आरम्भिक निवन्ध (पृ. २-५६) तथा २२०-२२४ पृष्ठ देखो। १४ देवीभाग.में शिव-विष्णु आदिका रागवान् दिखलाना-देवीके माहात्म्यका अर्थवाद है, यह हम ७म पुष्प (पृ. ६३७)में दिखला चुके हैं। १५ 'सुरतनाथ' 'व्यभिचारदुष्टाः' आदि भागवतस्थ पदोंका रहस्य हम 'आलोक' (७) (पृ. २१०-२१२)में दिखला चुके हैं।

(३५) प्र०-व्यासके लड़के शुकदेव राजा परीक्षित्के गर्भमें आनेसे पूर्व मर चुके थे। 'कैलास-पृष्ठादुत्पत्य स पपात दिवं तदा। अन्तरिक्षचरः श्रीमान् वायुभूतः सुनिश्चितः' (महाभा. शान्ति. ३३२।१०) तब महाभारतके ६६ वर्षोंके बाद शुकदेवने राजा परीक्षितको भागवत कैसे सुनाया?

(उ०)-इस विषयमें साङ्गोपाङ्ग विवेचन तो हम १०म पुष्पमें करेंगे, यहां निर्देशमात्र कर देते हैं।-

योग आदि सिद्धिके द्वारा पुरुषमें ऐसी जीवन्मुक्तता हो जाती है कि-वह वायु जैसा शक्तिशाली तथा सूक्ष्म आकार भी धारण करके आकाशको लांघकर ब्रह्मका समीपी हो जाता है। देखिये श्रीमनुजीने तीन वर्ष तक सावित्रीके सिद्ध कर लेनेसे ही ऐसी शक्तिकी प्राप्ति लिखी है-'योऽधीतेऽहन्यहन्येतान् त्रीणि वर्षाणि अतन्द्रितः। स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्' (२।८२) (जो ॐ, व्याहृति तथा सावित्री-गायत्री इन तीन त्रिकोंका तीन वर्ष लगातार जप करता है; वह वायुवत् स्वतन्त्रचारी होकर

आकाशकी तरह सूक्ष्ममूर्ति धारण करके बन्धनरहित होकर ब्रह्मके समीपी हो जाता है)। तब क्या वादिप्रतिवादिमान्य इस मनुवचनके द्वारा तीन वर्षके बाद पुरुषकी ऐसी सिद्धि न समझकर वादी तीन वर्षके बाद उस पुरुषकी मृत्यु मान लेगा? 'कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् लघुतूलसमापत्तेश्च आकाशगमनम्' (योग. ३।४२) यहांपर योगप्रणालीविशेषके द्वारा शरीर और आकाशका सम्बन्ध संयम करनेसे हलका होकर योगीका आकाश-गमन करना कहा है; तब क्या वादी उस पुरुषका मर जाना समझ लेगा? जैसे आजकल राकेटोंके द्वारा चन्द्रलोकके पास गये हुए मनुष्योंका राकेटसे बाहर निकल हलके होजानेसे आकाशमें उडना कहा है, देखिये इसपर समाचार-पत्र, यही सिद्धि श्रीशुकदेवकी यहाँ यन्त्रद्वारा न बताकर योगशक्तिके द्वारा बताई गई है। तब जीवन्मुक्त शुकके द्वारा श्रीमद्भागवत सुनाना असम्भव नहीं।

(३६) एक यह भी वादियोंका आक्षेप हुआ करता है कि-योगदर्शन (१।२४) में कहा है-अविद्या आदि क्लेशों, शुभाशुभ कर्मों तथा उसके अच्छे-बुरे फलों तथा उसके संस्कारोंसे रहित जीवसे भिन्न ईश्वर कहाता है। इसके व्यासभाष्यमें कहा है-'स तु सदैव मुक्त ईश्वरः', परन्तु पुराणेतिहास-वर्णित रामकृष्णआदिमें यह बात नहीं देखी जाती। रामा.में 'यदचिन्त्यं तु तद् दैवं भूतेष्वपि न हन्यते' कहकर श्रीरामने वन जानेको अपने प्रारब्धका फल माना है। 'पूर्वं मया नूनमभीप्सितानि' (अरण्य.

६३.४)में अपने पूर्वजन्मके पाप वर्तमान दुःखमें कारण बताये हैं। 'नत्वेवाहं जातु नासं' (गीता)में श्रीकृष्णने अपनेको जन्म-मरण वाला बताया। 'वायुर्यथा घनानीकं' (भाग.)में गोपियोंको परमेश्वरको ही मिलाने और बिछुड़ाने वाला माना। अतः रामकृष्णादि ईश्वर नहीं थे।

उत्तर—इस आक्षेपका उत्तर पुराणमें बहुत स्थलोंमें आ चुका है। ईश्वरने इस समय मनुष्यावतार धारण किया हुआ था, अतः उसने मनुष्यताका ही नाट्य करना था। नाटकमें वास्तविकता वैसी न रहनेपर भी वैसा अभिनय करना ही पड़ता है। श्रीमद्भा.में इसे स्पष्ट कर दिया है—'मायाविडम्बनमवेहि यथा नटस्य' (११।३१।११) ऐन्द्रजालिक नट जैसे जीवितोंको मरे वा जले हुएकी भांति दिखला देता है, वैसे ही भगवान् भी 'सृष्ट्वात्मनेदमनुविश्य विहृत्य चान्ते संहृत्य चात्ममहिनोपरतः स आस्ते' स्वयं हीं सब लीलाओंकी सृष्टि एवं क्रीडा करके उनका फिर संहार करके अपनी महिमामें विराजमान रहता है। भगवानके लीलानाट्यमें अन्य भी कई प्रमाण देखिये—'ततो 'मानुषभावं तु दर्शयन् सकलाञ्जनान्। विचिन्वन् सर्वतः सीताम्' (आनन्दरामा. १।७।१३४-३५)। इसी प्रकार रामायणकी तिलक टीका (३।६४.११)में स्पष्टता देखो। 'त्वया (पार्वत्या) प्रोक्तस्त्वहं (शङ्करः) पुरा। त्वया यस्य (रामस्य) जपो नित्यं क्रियते राघवस्य हि। सोऽयं स्त्री-विरहान्नाम मूढवद् भ्रमते वने' (आनन्द. १।७।१३८) तदा त्वामब्रवं त्वहम्। देवि! साक्षान्महाविष्णुस्त्वयं

रामो महीतले। शिक्षार्थं सकलाँल्लोकान् मूढवद् भ्रमते वने' (१३९-१४०)।

और देखिये—'प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोपि विडम्बयसि भूतले। प्रपन्न-जनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्रभो!' (भाग. १०।१४।३७) हे भगवन्, आप जगत्के बखेड़ेसे सर्वथा रहित हो, फिर भी अपने भक्तोंको आनन्दित करनेकेलिए लीलानाट्य करते हो। इसी बातको श्रीमद्भा. तथा देवीभागवतमें स्पष्ट कर दिया है—'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं...कुतोऽन्यथा स्याद् रमतः स्व आत्मनि, सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य' (भा. ५।१९।५-७, दे. ८।१०।१५-१७) अर्थात् अपने आत्मामें ही रमण करनेवाले रामजीको सीताके वियोगका दुःख ही भला क्या हो सकता है? यह तो पुरुषोंके शिक्षणार्थ भगवान्का नाट्य है। 'मानुषं देहमाश्रित्य चक्रे मानुष-चेष्टितम्' (दे. ४।२५।२१-२२, ५।१।२०)।

जैसे नाटकमें जब तक नटके अभिनयमें असलीयत नहीं दिखलाई पड़ती; तब तक दर्शकोंके हृदयमें आनन्द नहीं उदित होता; उसका सामाजिकों पर प्रभाव नहीं पड़ता। सतीका पार्ट पूरा कर रहा हुआ नट ऐसे करुणस्वरसे रोता है कि—जनताकी आंखोंमें भी वर्षाकी झड़ी-सी लग जाती है; तब क्या वादी यह मान लेगा कि—इस नटको सचमुच ही दुःख हो रहा है? नाटकोंमें सीताका पार्ट वेश्याएँ भी पूरा करके पतिव्रत्यका प्रभाव स्त्रियोंपर डाल रही होती हैं; पर क्या वह स्वयं पतिव्रतात्वसे प्रभावित हो जाती हैं? नहीं; उनका वह नाट्यमात्र

होता है; उसका नाट्यसे स्वयं कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता। 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' (वेदा. २।१।३३) इस प्रकार भगवान्‌की लीलामात्र ही समझनी चाहिये। इस विषयमें 'आलोक' (७) पृ. ३६७-३६६, ४४२-४४७)में देखो। इसीलिए 'जन्म कर्म च मे दिव्यं' (गी. ४।६) यह कहा है। भगवान्‌का लौकिक जन्म-मरण नहीं होता। 'मायेत् सा ते' (ऋ. १०।५४।२) हे भगवन्, यह सब तेरी मायामात्र है। गोपियोंको अपनेसे भिन्न परमेश्वर-को संयोग-वियोग का हेतु बताना यह भी नाट्य है। जैसे वादी वेदको परमात्मासे वनाया मानता है; वेदमें कहा है-'अग्निमीले पुरोहितम्' (ऋ. १।१।१) (मैं अग्नि वा परमात्माकी पूजा करता हूँ।) यदि यह ऋषिका वाक्य है, तो वेद ऋषियोंका बनाया सिद्ध होता है। यदि परमात्माका यह वचन है; तब वह क्या अन्य परमात्माकी पूजा करता है? क्या वह स्वयं परमात्मा नहीं? दोनों स्थान समान उत्तर है।

(३७) वादी यह कहा करते हैं कि-पुराण श्रीव्यासजीके बनाये हुए नहीं; यह भिन्न-भिन्न पुरुषोंके बने हुए हैं; क्योंकि-कई इनमें परस्पर विरोध वा असङ्गतियाँ मिलती हैं-इस विषयमें कई वार हम पहले कह चुके हैं। यहाँ भी पुराण-विषयका उपसंहार करते हुए हम कुछ लिखते हैं—

पुराणके कर्ता विष्णुके अवतार श्रीव्यास हैं; यहां 'कर्ता'का भाव है 'प्रवक्ता'। क्योंकि-'कृ' धातुका 'प्रवचन' अर्थ भी होता है। यह भी हम 'आलोक' (६) में तथा अन्यत्र भी यत्र-तत्र कह

चुके हैं। उनको कर्ता वा प्रणेता इस प्रकार कहा जाता है, जैसा कि सिद्धान्तकौमुदीका कर्ता वा प्रणेता भट्टोजिदीक्षितको कहा जाता है। श्रीदीक्षितने मुनित्रयकी उक्तियोंका अपने क्रमसे विन्यासमात्र कर दिया, निर्माण नहीं। तथापि उपचारवश श्रीदीक्षितको प्रणेता कहा जाता है, वैसे ही उपचारवश व्यासजीको अनादि-पुराणोंका भी प्रणेता कहा जाता है। यह भी हम कह चुके हैं कि-प्रतिकल्प वा प्रतिमन्वन्तरमें भिन्न-भिन्न व्यास उनका प्रवचन करते हैं, जैसा कि देवीभागवतमें स्पष्ट है-व्यास एक उपाधि है। अतः मन्वन्तरोंके भेदसे कहीं कुछ भेद भी हो जाता है। जैसेकि-हम स्वा.द.का भी एकवचन दे चुके हैं-'मन्वन्तरपर्यावृत्तौ सृष्टेर्नैमित्तक-गुणानामपि पर्यावर्तनं किञ्चित्-किञ्चिद् भवति, अतो मन्वन्तरसंज्ञा क्रियते' (ऋभाभू. पृ. २४) 'सृष्टिका स्वभाव नया-पुराना प्रतिमन्वन्तरमें बदलता जाता है, इसीलिये मन्वन्तर-संज्ञा बांधी है' (पृ. २७)।

सो इन भेदोंसे कोई पौराणिकताकी हानि नहीं है। इससे पुराणोंका अनादित्व सिद्ध हो जाता है। वादिमान्य श्रीदेवी-भागवत इसको स्पष्ट करता है—

'मन्वन्तरेषु सर्वेषु द्वापरे-द्वापरे युगे। प्रादुष्करोति धर्मार्थी पुराणानि यथाविधि' (१।३।१८) द्वापरे-द्वापरे विष्णुर्व्यासरूपेण सर्वदा। वेदमेकं स बहुधा कुरुते हितकाम्यया (१६)। 'अल्पायु-षोऽल्पबुद्धींश्च विप्रान् ज्ञात्वा कलौ अथ। पुराणसंहितां पुण्यां कुरुतेऽसौ युगे-युगे' (२०) यहांपर कलियुगके लोगोंको अल्पबुद्धि

जानकर उनके हितकेलिए वेदके व्यासके बाद श्रीव्यास पुराणको प्रतिद्वापरयुगमें उपदिष्ट करते हैं-यह कहा गया है। इसीको आगे स्पष्ट करते हैं—

'मन्वन्तरे सप्तमेऽत्र शुभे वैवस्वताभिधे। अष्टाविंशतिमे प्राप्ते द्वापरे मुनिसत्तमाः। व्यासः सत्यवतीसूनुर्गुरुर्मे धर्मवित्तमः। एकोनत्रिंशत् सम्प्राप्ते द्रौणिर्व्यासो भविष्यति। अतीतास्तु तथा व्यासाः सप्तविंशतिरेव च। पुराणसंहितास्तैस्तु कथितास्तु युगे-युगे' (२२-२४) यहां ७वें वैवस्वतमन्वन्तरके २७ कलियुगोंमें भिन्न-भिन्न द्वापरोंमें भिन्न-भिन्न व्यासों द्वारा जिनका नाम देवीभागवत (१।३।२६-३२)में कहा गया है, पुराणोंका प्रवक्ता बताया गया है; और २८वें द्वापरमें श्रीकृष्णद्वैपायन-व्यासद्वारा प्रवचन कहा गया है, आगेके २९वें द्वापरमें अश्वत्थामा व्यास पुराणवक्ता होंगे, यह बताया गया है-'ततः शक्तिर्जातुकर्ण्यः कृष्णद्वैपायनस्ततः। अष्टाविंशतिसंख्येयं कथिता या मया श्रुता' (३३)। इस प्रकार स्पष्ट हो गया कि-मन्वन्तरोंके युगोंके भेदोंके कारण स्वा.द.के अनुसार भी सृष्टिके नैमित्तिक गुणोंका इन मनुके अन्तरोंमें परिवर्तन होते जाते रहनेसे जिसे कल्पभेद भी कहा जाता है-कई परिवर्तन हो जाया करते हैं, जैसे कि-'कल्पभेदात् शतशिराः' (आनन्द रामा. सारकाण्ड १३।४१) में दस सिर वाले रावणको किसी कल्पमें सौ सिरों वाला कहा है। 'कल्पभेदाद् वदन्तीत्थं मुनयश्चापि केचन' (आनन्द. १।३।२२) तब यह कुछ विरोधकी बात नहीं हो जाती। इससे न तो पुराणों-

के अनादित्वमें कुछ क्षति आती है; और न ही भिन्न-पुराणों द्वारा प्रक्षेपका ही कुछ अवकाश है। भगवान्के अवतार श्रीव्यासोंने यह सब कल्पभेदवश भिन्न पुराणोंका प्रवचन किया है-इस बातके जान लेनेसे सब सन्देह दूर हो जाते हैं। हम स्थल-स्थलपर इस विषयमें सङ्केत दे चुके हैं। आशा है 'आलोक'के विद्वान पाठक इन बातोंको हृदयङ्गम करके संशयालुओंके संशयोंको छिन्न-भिन्न करते हुए विपक्षियोंके आक्षेपोंका परिहार कर सकेंगे।

(३८) 'आलोक' (७) के पृ. ३०३-३०६में 'मुर्देसे सन्तान (?) इस वादीसे मृतक व्युषिताश्व द्वारा आक्षिप्त सन्तान पर हमने सर्वाङ्गीण प्रकाश डाला था; उसका वह प्रत्युत्तर न दे सका; पर कुछ आपत्तियाँ पत्र द्वारा लिखता है कि-'जीवात्मासे विहीन शरीर ही 'शव' कहलाता है; यदि जीवात्माका संयोग रहता; तो वह 'शव' न कहा जाता। सारी जिन्दगी तो राजा चुहिया भी रानीसे पैदा न कर सका, पर उसके 'शव'से संभोग कराकर रानीने ७ लौंडे कैसे पैदा करा लिये? मनोबल मुर्देमें नहीं रहा करता। वहां 'शव' शब्द लिखा है, जीवित राजा नहीं। यदि राजा योगी था; तो जीवित होनेपर क्यों नहीं सन्तान पैदा कर सका'।

उत्तर—शवमें आत्माके फिर प्रकट होजानेपर भी उसे 'ब्राह्मणश्रमण' न्यायसे वा लक्षणासे 'शव' ही कहा जाता है; क्योंकि वहाँ वैधरूपसे शवमें प्रकट न होनेसे उसे 'जीवित'

न कहकर 'शव' ही कहा जाना ठीक समझा गया। 'कूपे गर्ग-कुलम्' इस महाभाष्यके उदाहरणमें (४।१।४८) कूपके साथ ठहरे हुए प्रदेशको भी 'कूप' कहा गया है। वस्तुतः वहाँ उस शवका आत्मा ही काम कर रहा था।

हमने 'आलोक' (७) पृ. ३०५ में शरीररहित आत्माकी अतिशयित शक्ति बताई थी; क्योंकि उसका न्यायदर्शनादिप्रोक्त-सिद्धान्तवश विभुत्व उसी समय ही प्रकट होता है। हम इसमें साक्षीरूप स्वा. शङ्कराचार्यके वेदान्तदर्शनके भाष्यके शब्द भी रखते हैं—'देहयोगाद् वा सोपि' (३।२।६) (देहके योगसे आत्मा-की परमेश्वरता छिपी रहती है) इस सूत्रका भाष्य करते हुए आचार्य कहते हैं—'सोपि तु जीवस्य ज्ञानैश्वर्यतिरोभावो देहयोगाद् देहेन्द्रिय-मनोबुद्धिविषयवेदनादियोगाद् भवति। अस्ति च अत्र उपमा-यथा अग्नेर्दहनप्रकाशनसम्पन्नस्यापि अरणिगतस्य दहन-प्रकाशने तिरोहिते भवतः, यथा वा-भस्मच्छन्नस्य, एवं...देहाद्यु-पाधियोगात्...जीवस्य ज्ञानैश्वर्यतिरोभावः' (जीवके ज्ञान और ईश्वरता (सामर्थ्यवत्ता)का तिरोभाव देहके योगसे होता है। जैसे अग्निमें यद्यपि दाह और प्रकाश है; तो भी अग्निके अरणिमें स्थित होनेपर अथवा भस्मसे आच्छन्न होनेपर उसकी प्रकाशमानता और दहन-सामर्थ्य छिपी रहती है, इसी प्रकार देहादियोगसे आत्माकी ईश्वरता (सामर्थ्य) छिपी रहती है)।

इससे स्पष्ट हुआ कि—जैसे दीपक घड़ेमें पड़ा हो; उसका प्रकाशन वा ज्वलन-सामर्थ्य छिपा रहता है। घड़ेसे बाहर निकले

हुए दीपककी शक्ति बहुत बढ़ जाती है; वैसे कर्मवश देहबन्धमें आवृत आत्माकी परमेश्वरता छिपी रहती है; उससे बाहर आनेपर उसमें अपनी विभुत्वशक्ति प्रकट हो जानेसे उसमें असीमित शक्ति हो जाती है। तब वहां शवके निकटस्थित आत्माको भी यहां 'शव' शब्दसे कहा गया है, 'शवतिर्गतिकर्मा' (निरुक्त निर्वचन प्र.)। तब उस स्वतन्त्र आत्मामें मनोबल आदि स्वाभाविक होनेसे उसी आत्माने यदि रानी भद्रामें ७ पुत्र उत्पन्न किये; तब इसमें कोई भी अनुपपत्ति नहीं पड़ती है। जिनमें खण्डनव्यसनवश मानसिक-शक्तिमें दुर्बलता होती है; उन्हें यह बात समझ नहीं आ सकती है। इसमें हम आजकलके स्वतःप्रमाण समाचारपत्र-संसारमें छपी ऐसी ही घटनाको भी रखते हैं, इसे भक्त रामशरणदासजीने हमारे पास भेजा है।

'साप्ताहिक सन्देश' मेरठ ता० ३ मार्च १९६६ पृ. ३में देखो। उसका हम पूरा उद्धरण देते हैं—

'क्या रूहों (आत्मा)के मिलापसे सन्तान उत्पन्न हो सकती है?'

'पुरुषके सहयोगके बिना बच्चोंकी पैदायश पर डाक्टर चकित'।

प्रकृतिकी लीला न्यारी है। अब तक स्त्री-पुरुषके मिलापसे ही सन्तान उत्पन्न होना माना जाता रहा; मगर ऐसे कुछ उदाहरण भी हैं; जब बहुत शरीफ और चरित्रवान् लड़कियोंने शादीसे पहले ही पुरुषके मिलापके बिना बच्चेको जन्म दे दिया। यह सब कैसे हुआ, इसपर डाक्टर चकित हैं।

हाल हीमें एलविन वारलोके यहाँ जो कि वलफास्टमें रहती हैं, बच्चा पैदा हुआ है, और आश्चर्यकी बात यह है कि-न तो 'एलविन वारलो' का विवाह हुआ, और न ही किसी पुरुषसे उसके अनुचित सम्बन्ध थे। कुछ दिनोंसे उसे बदहजमीकी शिकायत थी। उसे रातको नींद बहुत कम आती थी। जब नींद आ जाती; तो स्वप्नमें उसे कोई यह कहता कि-'मैं पिछले जन्ममें तुम्हारा पति था। मैं तुमसे बहुत प्रेम करता था। यह मुहब्बत ही मेरी मृत्युका कारण बनी। मैं रातको आता हूँ, आज भी आया हूँ। तुम्हारे साथ सो गया हूँ, इसलिए कि-तुम मेरी पत्नी हो। मेरा नाम विलियम जोजफ है। जल्दी ही तुम एक बच्चेकी माँ बननेवाली हो। उसका नाम विलियम रखना'।

जब एलविन वारलोकी आंख खुली; तो स्वप्न उसे साकार दिखाई देने लगा। उसे महसूस होने लगा कि-उसके पांव भारी हैं। उसने अपने पिताको बताया कि-प्रतिदिन कोई मेरे सपनोंमें आता है, और कहता है कि-जल्दी ही तुम माँ बननेवाली हो; और यह स्वप्न वास्तविकताका रूप धारण कर रहा है। वारलोका पिता उसे डाक्टरके पास ले गया, जिसने पुष्टि की कि वह छः महीनेके गर्भसे है। तीन महीनेके बाद उसको बच्चा उत्पन्न हो गया। अब इङ्गलैंडके प्रसिद्ध डाक्टरोंका बोर्ड इस बातकी जांच कर रहा है कि-क्या शादीके बिना [अक्षतयोनि-च्छद वाली लड़कीका] बच्चा पैदा हो सकता है? एक सदस्यका

मत यह है कि-रूहें यद्यपि दिखाई नहीं देतीं, परन्तु उनमें इतनी शक्ति जरूर है कि-वह औरतके मिलापसे बच्चा पैदा कर सकती हैं'।

इससे २०-२२ वर्ष पूर्व भी हमने ऐसी घटना समाचार-पत्रमें पढ़ी थी; इस प्रत्यक्ष-घटनासे अब व्युषिताश्वके आत्मा द्वारा उसका पत्नीमें सन्तान होना असम्भव न होकर सम्भव हो गया। यह हमने ७म पुष्पमें पूर्व ही लिख डाला था। इस प्रकार प्रतिपक्षीका आरोप सर्वथा निरस्त हो गया। देहयोगवाली जीवितावस्थामें यदि आत्मामें वैसी शक्ति न थी; पर अब मृतकतामें स्वतन्त्र ऐश्वर्यशाली आत्मासे वह घटना घट गई। 'अघटितघटितानि घटयति, घटितघटितानि दुर्घटीकुरुते। विधिरेव तानि घटयति, यानि पुमान्नैव चिन्तयति', नास्तिकता छोड़नेपर ही यह बातें समझमें आवेंगी। 'नवभारत' (४-४-६६)में (९ मासकी बालिका भी माँ बताई गई है। पृ. ३) यह अपवाद घटनाएं पुराणोंकी बातोंको सिद्ध करती हैं।

(३९) भगलिङ्गामृतरहस्य।-हमने वाममार्गके पञ्च मकारोंकी परिभाषाएँ 'सिद्धान्त' (१०।३२-४०)में एक लेखमें लिखी थीं; उन्हें हमसे 'दयानन्द-रहस्य'के प्रणेताने लिया, और उसमें बताया कि-वाममार्गमें साधारण मद्यपान वा मांसाहार वा लोकप्रसिद्ध मैथुनका ग्रहण नहीं है, किन्तु 'व्योमपङ्कजनिस्यन्दसुधापानरतो नरः। मधुपायी स मे प्रोक्तस्त्वितरे मद्यपायिनः' (कुलार्णवतन्त्र) वाममार्गका साधक ब्रह्मरन्ध्रमें स्थित सहस्रदल-कमलसे टपकने-

वाला मद्य पीता है, साधारण मद्य नहीं। इसी मद्यको पीते-पीते बेसुध हो जानेवालेका पुनर्जन्म न होना 'पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा' इत्यादि वचनमें कहा गया है, इस पर 'दयानन्द-सिद्धान्त-प्रकाश'के कर्ताने खण्डनकी चेष्टा करते हुए भी सफलता प्राप्त नहीं की, केवल यह लिखा कि—वाममार्गका अर्थ भी 'उल्टा मार्ग' लोकमें लिया जाता है। 'मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत् सर्वयोनिषु। लिङ्गं योन्यां तु संस्थाप्य जपेन्मन्त्रमतन्द्रितः' इसका भी अर्थ करना चाहिये था। यदि यह आपकी व्याख्या सत्य है, और तन्त्रोंमें ऐसी ज्ञानमयी बातें भरी पड़ी हैं; तो फिर यह भी बताना पड़ेगा कि—नीचे लिखे तन्त्र-वाक्यमें कौनसा आध्यात्मिक और योगसम्बन्धी रहस्य भरा है—

'रजस्वला पुष्करं तीर्थं चाण्डाली तु स्वयं काशी। चर्मकारी प्रयागः स्याद् रजकी मथुरा मता। अयोध्या पुक्सी प्रोक्ता' (रुद्रयामलतन्त्र) यहाँ सभी तीर्थोंकी कैसी सुन्दर स्थिति इस तन्त्रमें दिखला दी है।'

एक दूसरे वादीने कुलार्णवतन्त्रके 'न तुष्यामि वरारोहे भगलिङ्गामृतं विना' इस वचनपर भी आक्षेप किया है। इसपर इन वादियोंको 'आलोक' (५) पृ. ७६६-८०५ का भलीभांति मनन करना चाहिये।

वादियोंको याद रखना चाहिये कि—यह तन्त्रशास्त्रके पारिभाषिक शब्द हैं—'मातृयोनिं परित्यज्य' भी एक पारिभाषिक शब्द है, यह शब्द परोक्षरूपसे कहे गये हैं। जैसे—'पिता दुहितु-

र्गर्भमाधात्' (ऋ. १।१६४।३३) 'स्वसुर्जारः शृणोतु नः' (ऋ. ६।५५।५) इत्यादि वेदमन्त्रोंमें यह शब्द बाहरसे असभ्य वा अश्लील दीखते हैं। वस्तुतः यह परोक्षरूपमें कहे गये हैं, वैसे तन्त्रग्रन्थोंके उक्त शब्द भी परोक्षरूपसे कहे गये हैं। वहाँ 'मातृयोनि' एक मण्डलविशेष वा मुद्राविशेष है, उसे छोड़कर शेष अन्य योनि-मण्डलों वा मुद्राओंमें यथेच्छ विहरण करे' यह पूर्वार्धमें आशय है; उत्तरार्धमें—'योनि' शब्द जलहरीका नाम है, 'लिङ्ग' शब्द शिवजीकी सफियाना निर्गुण मूर्तिका वाचक है। इसका भाव यह है कि—उस आधारवेदीमें शिवकी मूर्तिको प्रतिष्ठित करके फिर मन्त्रको पढ़े।

'रजस्वला पुष्करं तीर्थं'का स्वा.द.जीने तथा वादीने उल्टा अर्थ समझा है, वहां तो यह अर्थ है कि—तन्त्रमें जहां रजस्वला-गमनसे मुक्ति लिखी हो; वहां पर पुष्करतीर्थके गमनसे वैसा फल समझना चाहिये। जहां लिखा हो कि—चाण्डालीगमनसे मुक्ति मिलती है; वहां समझना चाहिये कि—काशीगमनसे मुक्ति मिलती है—इत्यादि। इस विषयमें 'आलोक' (५) पृ. ७६८-८०० देखो। कोई बड़ेसे बड़ा व्यभिचारी भी हो, वह भी रजस्वला-गमन वा चाण्डालीगमन आदिको श्रेष्ठ नहीं समझता; अतः वहां वह पारिभाषिक शब्द हैं—'शिवशक्त्योश्च चिन्हस्य मेलनं लिङ्गमुच्यते' इत्यादि। इस विषयमें (६) ६७७-६७८ पृष्ठ भी देखो।

(ख) कुलार्णवतन्त्रमें 'भगलिङ्गामृतपान'से रजवीर्यका पान इष्ट

नहीं; क्योंकि कोई भी उसे अच्छा नहीं समझता है; तब भला तन्त्रशास्त्र उसे क्या अच्छा समझेगा? सो वहां भी यह पारिभाषिक शब्द है। कुलार्णवतन्त्रमें 'अदीक्षितैरनाचारैरतत्त्वज्ञैरदैवतैः। दूषकैः समरभ्रष्टैर्न कुर्याद् द्रव्यसङ्गतिम्' (८।८)में आचारभ्रष्टोंके साथ सङ्गति करनेका जब निषेध किया है; तब वहां रजवीर्यपान जो अनाचारका दूसरा चिन्ह है—कैसे इष्ट हो सकता है? इसलिए वहां कहा है—'विकृतिं मनसो हित्वा य उल्लासं प्रकुर्वते। तदा तु देवताभावं भजन्ते योगिपुङ्गवाः' (८।६६) अर्थात् मनके विकारों-को छोड़नेसे ही देवत्व मिलता है; तब रजवीर्य जो मनके विकारसे ही प्राप्त होता है, वहाँ कैसे इष्ट हो सकता है? 'वाम' केवल 'टेढे' अर्थमें नहीं होता है, 'सुन्दर' अर्थमें भी होता है। जैसे कि अमरकोषमें 'वामौ वल्गु-प्रतीपौ द्वौ' (३।३।१४४) यहाँ 'वाम'का अर्थ 'वल्गु' (सुन्दर) भी किया गया है। इसलिए विश्वकोषमें भी 'वामं सव्ये प्रतीपे च द्रविणे चाऽतिसुन्दरे' अति-सुन्दर भी 'वाम'का अर्थ बताया गया है। मेदिनीकोषमें भी 'वामं धने पुंसि हरे कामदेवे पयोधरे। वल्गु-प्रतीपसव्येषु त्रिषु नार्यां स्त्रियाम्' यही माना है। इसलिए 'वामोरूः' इस स्त्रीके नाममें 'सुन्दर ऊरुओं वाली' यह अर्थ भी इष्ट है। इस प्रकार शङ्कर-वाचक 'वामदेव' शब्दमें भी 'वाम' शब्द सुन्दर-वाचक है।

इसीलिए कुलार्णवतन्त्रमें 'भवपाशनिवृत्त्यर्थं ज्ञानपानं समा-चरेत्। यः सेवते सुखार्थाय मद्यादीनि स पातकी' (५।८८) यहाँ

ज्ञानपानको ही तन्त्रमें मद्यपान माना है। लौकिक मद्यपान यहां निषिद्ध किया गया है। इसी प्रकार वहीं 'मनसा चेन्द्रियग्रामं संयोज्यात्मनि योगवित्। मांसाशी स भवेद् देवि! शेषाः स्युः प्राणिहिंसकाः' (५।११०) मनसे इन्द्रियोंका दमन ही मांसभक्षण माना है; शेष मांसभक्षणको हिंसामूलक होनेसे वहां निषिद्ध ठहराया गया है। 'परशक्त्यात्ममिथुनसंयोगानन्दनिर्भरः। य आस्ते मैथुनं तत् स्याद् अपरे स्त्रीनिषेवकाः' (५।११२) यहाँ पर परशक्ति और आत्माके योगके आनन्दको ही मैथुन बताया गया है. शेष प्राकृत मैथुनको वहां इष्ट नहीं किया गया।

एतदादिक पद्योंमें कुलार्णवतन्त्र आदिमें इस मार्गमें योगियों, सदाचारियों, मन और इन्द्रियोंके संयम करने वालोंको अधिकृत बताया गया है। इसलिए वहां उक्त पद्योंमें मांस, मद्य, मैथुन आदिकी भिन्न परिभाषा सिद्ध होती है। नहीं तो मद्य-मैथुन आदिके उत्तम आचार होनेपर उस तन्त्रके वचनकी यहां असङ्गति उपस्थित होजायगी। जैसे यहां मद्य, मैथुन, आदिकी उक्ततन्त्रमें तथा विजयतन्त्र, भैरवयामलतन्त्र, गन्धर्वतन्त्र, मेरु-तन्त्र, आगमसार, योगिनीतन्त्र, पुरश्चर्यार्णव, भावचूडामणि, तन्त्रसार आदि तान्त्रिक ग्रन्थोंमें परिभाषाएं कही गई हैं; वैसे ही भगलिङ्गामृत भी इसी रूपमें पारिभाषिक हैं। मैथुनसे ही तो रजवीर्य निकलते हैं—। मेरुतन्त्रमें लिखा है—'इडापिङ्गलयोः प्राणान् सुषुम्णायां प्रवर्तयेत्। सुषुम्णा शक्तिरुद्दिष्टा जीवोऽयं तु परः शिवः। तयोस्तु सङ्गमो देवि! सुरतं नाम कीर्तितम्। वीर्यपातस्य

समये सुषुम्णासन्नमारुते। उत्पद्यते तु यत् सौख्यं शतकोटिगुणं तु तद्। एतदेव रतं प्रोक्तम् अन्यत् स्याद् रासभं रतम्'। यहां यह 'मैथुन'की परिभाषा दी गई है।

विजयतन्त्रमें भी लिखा है—'कुलकुण्डलिनी शक्तिर्देहिनो देहधारिणी। तथा शिवस्य संयोगो मैथुनं परिकीर्तितम्'। योगिनी-तन्त्र भी कहता है—'सहस्रारोपरि यद् बिन्दौ कुण्डल्या मेलनं शिवे! मैथुनं शयनं दिव्यं यतीनां परिकीर्तितम्'। 'भैरवयामल-तन्त्र' भी कहता है—'या नाड़ी सूक्ष्मरूपा परमपदगता सेवनीया सुषुम्णा, सा कान्ताऽऽलिङ्गनार्हा न मनुजरमणी सुन्दरी वार-योषित्। कुर्याच्चन्द्रार्कयोगे युगपवनगते मैथुनं नैव योनौ, योगीन्द्रो विश्ववन्द्यः सुखमयभवने तां परिष्वज्य नित्यम्'।

सो इस पारिभाषिक मैथुनसे निकले हुए पराशक्तिरूप भग और आत्मारूप लिङ्गकी मिथुनतासे प्राप्त हुए ध्यानरूप भग-लिङ्गामृतसे, अथवा सुषुम्णा तथा सहस्रदल-कमलके मेलसे प्राप्त रस रूप भगलिङ्गामृतसे—जिसके आनन्दसे आँखें भी अपने आप मस्त होकर बन्द होजाती हैं—से महादेवजीने अपना तोष व्यक्त किया है, प्राकृत रज-वीर्य तो मल माने जाते हैं, देखो मनुस्मृति 'वसा-शुक्रमसृङ्मज्जा—मूत्र—विड्—घ्राण-कर्णविट्। श्लेष्माश्रु-दूषिकास्वेदा द्वादशैते नृणां मलाः' (५।१३५) अतः वे अपवित्र होते हैं, तब वे भला अमृत कैसे हो सकते हैं, दोषैकदर्शी प्रति-पक्षी इतना भी समझने की योग्यता नहीं रखता। अण्डेमें भी भर्ग-लिङ्गके रज-वीर्यका मेल होता है, पर वे न तो पवित्र होते

हैं, न अमृतस्वरूप: अतएव वे इस कठिन एवं पवित्र योग मार्ग में ग्राह्य नहीं हो सकते। इस मार्गके विषयमें 'आलोक' (५) पृ. ७६८—८०५ तक का अच्छी तरह मनन करने से प्रतिपक्षीको ज्ञान प्राप्त हो सकता है। अथवा इस विषयमें 'शक्ति एण्ड शाक्त' (जानवुडरूफ) पुस्तक 'गणेश एण्ड कम्पनी, त्यागराज भवन, मद्रास' १७से मँगाई जा सकती है; उसमें इन शब्दों वा व्यवहारोंके रहस्य बताये गये हैं।

(४०) पूर्वपक्ष —यम-यमीसंवाद। इस सूक्तमें भाई-बहन का संवाद नहीं है; किन्तु यम-पति, यमी-पत्नीका संवाद है। पति नपुंसक होनेसे सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकता है, वह उसे अन्यसे सन्तान उत्पन्न करानेकी प्रेरणा करता है। यम दिनका नाम है; यमी रात्रिका। तैत्तिरीयारण्यक (१।१०) में दिन और रात्रिको पति-पत्नी माना गया है, भाई-बहन नहीं। इस प्रमाणको कोई भी पौराणिक काट नहीं सकता है। ऋग्वेद-मन्त्रके ऊपर जो वैवस्वतो यमः, वैवस्वती-यमी लिखा है, वह भी ठीक है। विवस्वान्-सूर्यसे यम (दिन) की उत्पत्ति होती है। सूर्यकी अपेक्षासे दिन तथा दिनकी अपेक्षा रात्रि (यमी) का अस्तित्व होता है, न कि सूर्यसे रात्रिकी उत्पत्ति होती है। सूर्यसे रात्रिका विनाश तो होता है, जन्म नहीं। जब दिन प्रातः (जन्म) से लेकर मध्याह्न (यौवन) की समाप्तिके बाद तृतीय चतुर्थाश्रम (वार्धक्य) को प्राप्त होता है, यमी (रात्रि) उससे मिलने नहीं आती है; वह छिपी रहती है। पर जब यम (दिन)

की वृद्धावस्थामें क्षीणता-सन्तानोत्पत्तिकी असमर्थता होती है; तभी यमी (रात्रि) बड़े जोशके साथ पूर्ण-यौवनावस्थामें उससे मिलनेकी इच्छासे आती है। इस आलङ्कारिक वर्णनको वेदने बड़े सुन्दर ढंगसे यम-यमी सूक्तमें दिया है।

यमी यमसे मिलनेकी इच्छा रखती है, असमर्थ पति यम उसे इन्कार करता है। यमी उसे उलाहना देती है कि तू तो नामर्द-सा लगता है, तू अन्य औरतोंसे फँसा है, जिससे मुझ पत्नीसे मन हटाता है। यम कहता है कि-तू किसी अन्यसे सम्बन्ध करके सन्तान पैदा करा ले। असमर्थ पति वा चतुर्थाश्रमी अपनी नारीको अपनी बहिन कहता है कि-तू अब मुझे भाईके समान समझ, मैं तेरे साथ शरीरसम्बन्ध नहीं करना चाहता हूँ। वेदके इस सूक्तपर ऋषि-दयानन्दका अर्थ उचित है, पौराणिकोंकी भाई-बहनके संवादकी कल्पना अशुद्ध तथा वेदको कलङ्कित करनेवाली है।

जब भ्राता स्वयं प्रथम पति ही नहीं है, तब 'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्' अन्यको दूसरा पति कहना बन ही नहीं सकता। जो व्यक्ति अपनेको पति मानता है, वही कह सकता है, मुझसे अन्य पतिकी इच्छा कर। जब पहला भ्राता है, पति नहीं; तब वह दूसरा पति कैसे कह सकता है? जैसे कि एक वैद्य रोगीसे कह देता है कि-तू मेरे सिवाय दूसरा वैद्य ढूँढ ले, पर एक वकील रोगीको नहीं कह सकता कि-दूसरा वैद्य ढूँढ ले। नरकी स्त्री नारी, ठाकुरकी ठकुरानी,

पण्डितकी पण्डितानीकी भांति यमकी पत्नी भी यमी हो सकती है, यमकी बहिन यमी नहीं हो सकती। यम-यमी भाई-बहनका इतिहास वेदमें नहीं आ सकता है। मन्त्रोंके अर्थ जयदेवादिके भाष्यके अनुसार समझ लेने चाहियें (एक पत्रमें)

उत्तरपक्ष-(क) हमने वादीके इन सभी आक्षेपोंका उत्तर 'आलोक' (८) पृ. ५६५-६२२ में दे दिया है; वादी वहीं देखे। यम दिन है; और यमी रात्रि-इसका वादीके पास कोई भी प्रमाण नहीं। दिन-रात कभी इकट्ठे नहीं रहा करते, और न इकट्ठे कभी रह सकते हैं। अतः उनकी आपसमें संवादकी कल्पना ही निर्मूल है। रात कभी दिनको सम्भोगके लिए कह सकती ही नहीं; और न कभी दिन अपनी नपुंसकता बता सकता है। जब दोनोंका एक स्थानपर कभी निवास ही सम्भव नहीं; दोनों परस्परविरुद्ध गुण-कर्मस्वभाववाले हैं; तब परस्पर-सदृश गुणकर्मस्वभाववालोंका विवाह करानेवाले स्वा.द.जीके विरुद्ध उनका पति-पत्नीभाव ही कैसे हो सकता है? स्वा.द.जीने भी वहां दिन-रात अर्थकी कल्पना नहीं की। जब दिन रहेगा; युवति रात उसके पास आ सकती ही नहीं; और जब युवति रात रहेगी; तब दिन उसके पास कभी फटक सकता ही नहीं। दिन, रातको मारकर आता है, और रात, दिनको मारकर आती है। तब उनका पति-पत्नीभाव कैसे सम्भव है? और रात्रिकी दिनसे सन्तान उत्पन्न करनेकी बात कहां हो सकती है? अतः यह वादीका पक्ष निर्मूल-निष्प्रमाण एवं निरुपपत्तिक है। यह लोग

यम-यमी सूक्तके मन्त्रोंका अर्थ भी तोड़-मरोड़कर करते हैं, जिसकी सङ्गति कभी लग भी नहीं सकती।

जब वादी तैत्तिरीयारण्यकके वचनसे दिन-रात्रिको पति-पत्नी बताता है; तब वह बतावे कि—रात्रिने अपने पति दिनको तलाक देकर अन्य कौनसा पति चुन लिया? दिन क्या पहले उस रात्रिसे विवाहित था, और उससे मैथुन किया करता था; और अब नपुंसक होगया? इस विवाहमें क्या प्रमाण? जब नहीं; तब 'जब पति सन्तानोत्पत्तिमें असमर्थ हो; तब अपनी स्त्रीको आज्ञा दे' इस स्वा.द.जीके वाक्यका दिन-रात्रिमें संघटन वादी कैसे करेगा?

(ख) वादी जोकि तै. आ. १।१० के वचनसे दिन-रातको पति-पत्नी बताता है, पर वहाँ यम-यमी शब्द तो कहीं आया ही नहीं; तब 'यम-यमी दिन-रात्रि हैं' यह वादीसे अभिमत अर्थ कट गया। वहाँ तो लिखा है - 'तयोः [द्यावापृथिव्योः] एतौ वत्सौ अहोरात्रे। पृथिव्या अहः, दिवो रात्रिः। ता अविसृष्टौ दम्पती एव भवतः' (१।१०।५) यहाँ दिनको पृथिवीका लड़का और रात्रिको द्युका लड़का कहा है; पर ऋसं.के उक्त सूक्तकी अनुक्रमणिकामें 'वैवस्वतो यमः, वैवस्वती यमी' यम-यमी दोनों ही विवस्वान्के लड़का-लड़की बताये गये हैं। द्यावा-पृथिवीके नहीं, तब वादीका यम-यमीको दिन-रात्रि बताना कट गया। जब वादी स्वयं मानता है कि—विवस्वान् सूर्यका नाम है; और वह यह भी मानता है कि—सूर्यसे रात्रिकी उत्पत्ति नहीं होती; और

वह यह भी मानता है कि—सूर्य तो रात्रिका विनाश कर देता है; तब विवस्वान्-सूर्यसे उत्पन्न यमी भी रात्रि सिद्ध न हुई; यमीको रात्रि बताने वाले वादीका पक्ष कट गया।

तैत्तिरीयके वचनमें तो दिन-रातको द्यावा-पृथिवीका लड़का बताया है; विवस्वान्का नहीं। पर यम-यमी सूक्तमें यम-यमी दोनोंको वैवस्वत—विवस्वान्के लड़का-लड़की कहनेसे दोनों भाई-बहन सिद्ध होगये। तै. के वचनमें तो दिन-रात्रि भिन्न-भिन्न पिताओंसे उत्पन्न होनेसे पति-पत्नी कहे गये हैं। अतः वादीके दिये हुए ही तै. के वचनसे उसीका पक्ष कट गया। फिर वहीं दिन-रात्रिका लड़का अग्नि-आदित्यको बताया है—'तयोरेतौ वत्सौ-अग्निश्च आदित्यश्च। रात्रेर्वत्सः श्वेत आदित्यः। अह्नोऽग्निः ताम्रो अरुणः' (१।१०।५) सो 'दम्पती भवतः' का अर्थ आरण्यकने पहले लिख दिया है—'अहरहर्गर्भं दधाते' (१।१०।४) अर्थात् दोनों गर्भ धारण करते हैं; 'सेयं रात्री गर्भिणी पुत्रेण [सूर्येण] संवसति' (१।१०।७); पर दयानन्दी वादीका यम (दिन) तो नपुंसक है, और यमी (रात्रि) सन्तानहीन है, इससे उष्ट्र-लगुड न्यायसे वादीका पक्ष वादीके दिये हुए वचनसे ही कट गया।

(ग) यमी (रात्रि) तो वादीके अनुसार यम (दिन) की जवानीमें छिपी रहती है, तब यह लड़का क्या उसने व्यभिचारसे अन्यसे पैदा करवा लिया? जब दिन नपुंसक है; तब उसने भी लड़का कैसे पैदा कर लिया? जब दिन नपुंसक है; तो 'मैं तेरे साथ शरीर-सम्पर्क नहीं करना चाहता हूँ' यह कहना ही

'यावज्जीवमहं मौनी' की तरह व्याघातका उदाहरण है। अतः स्पष्ट है कि-वेदमें यम-यमी दिन-रात्रि रूप पति-पत्नी नहीं; किन्तु भाई-बहन हैं। भाई गर्भ करनेके सामर्थ्यमें भी भगिनीत्व-वश 'न वा उ ते तनूं तन्वा सं पिपृच्याम्' यह कहकर शरीर-संगका निषेध करता है; उसमें कारण भी बताता है-'पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्' (ऋ. १०।१०।१२) अर्थात् भगिनी-गमन करने वालेको पापी कहा जाता है। नपुंसक पति तो व्याघात-प्रसक्तिवश कभी ऐसा कह भी नहीं सकता। वादीद्वारा यमका तृतीयाश्रमी वा चतुर्थाश्रमी अर्थ करना स्वा.द.से विरुद्ध है; क्योंकि-स्वामीने तो यमको गृहस्थी बताया है, वनी वा संन्यासी नहीं। अतः स्पष्ट है कि-यम-यमीका दिन-रात्रि अर्थ नहीं।

जो कि वादी कहता है कि-यमी (रात्रि) यम (दिन) के युवा रहने तक उससे मिलने नहीं आती है, छिपी रहती है, उसकी वृद्धावस्थामें वह स्वयं युवति उससे जोशसे मिलने आती है। तब क्या वादीकी यमी युवा अपने पति यमको नहीं चाहती? बूढा होनेपर ही उसे चाहती है? क्या उसका दिनसे विवाह बाल्यावस्थामें हुआ था?।

यह है वादीकी रिसर्च! उसकी रिसर्च-द्वारा वेदने सिद्ध किया कि-पत्नी, पतिके यौवनमें तो उसके पास न जावे, वह पहलेसे ही अन्यसे आनन्द करती रहे; पर जब वह पति बूढा हो जावे; तब उसके पास बड़े जोश-खरोशसे जावे; जिससे वह पति उसे अन्य व्यक्तिसे सम्भोगकी आज्ञा दे। रात्रि, दिनकी युवावस्थामें

भी उससे न मिले; और अपनी युवावस्थामें दिनसे भी न मिले; क्या यही दयानन्दी पति-पत्नीभाव है? क्या यही दयानन्दी वैदिकधर्मकी शिक्षा है?

(घ) जो कि वादीके अनुसार यमी कहती है कि-'तू तो नामर्दसा लगता है, तू अन्य औरतोंसे फंसा है, मुझ पत्नीसे मन हटाता है'; तब जो अपनी औरतसे तो न मिले; पर दूसरी स्त्रियोंसे फँसा हो; वह क्या दयानन्दी वैदिकधर्मके अनुसार 'नामर्द' है, व्यभिचारी नहीं! 'अब मुझे भाईके समान समझ' यह वादीने वेदके किस मन्त्रका अर्थ किया है? दिन तो अन्य औरतोंसे फंसा रहे; और रात्रि अन्य पतियोंसे फँसी रहे, यही क्या दयानन्दी वैदिक धर्म है? भ्रातृ-भगिनी संवादको हटाकर बलात् पति-पत्नी संवाद बनाते हुए वादियोंने इन अनुपपत्तियों पर ध्यान न देकर वेदपर कलङ्क लगाया है; यह कृत्रिमताका फल है। वेदमें तो एक घरमें रहने वाले भाई-बहिनोंमें कोई अवाञ्छनीय काण्ड न हो जावे; इस रोककेलिए निषेधाज्ञा जारी कर दी है; इससे वेदपर कुछ भी कलङ्क नहीं आता। वेदने इससे स्त्रीकी अधीरता भी व्यक्त की है।

जब दिन-रात इकट्ठे कभी रह सकते नहीं, वृद्ध दिनके सामने कभी यौवन वाली रात्रि आ सकती ही नहीं; दोनों एक-दूसरेसे विरुद्ध गुण-कर्मों वाले हैं, स्वा.द.के विरुद्ध न उनमें कभी पति-पत्नीभाव बन सकता है, और न उनका संवाद बन सकता है। जब यमी कहती है-'गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्

देवः' (अथर्व. १८।१।५) कि-ब्रह्माने हमें एक गर्भमें इकट्ठा रखकर पति-पत्नी कर दिया था', इसलिए इकट्ठे पैदा हुओंको आज भी 'यमज' कहते हैं, तब एक गर्भसे इकट्ठे पैदा हुए भाई-बहन ही कहाते हैं, पति-पत्नी नहीं, दिन-रात्रि इकट्ठे तथा एक स्थानमें नहीं पैदा होते। तब वादीका यम-यमीका निर्मूल दिन-रात्रि अर्थ करना खण्डित हो गया।

(ङ) 'यमी यमं चकमे, तां प्रत्याचचक्षे' (११।३४।१)में यह आख्यान निरुक्तकारने स्पष्ट माना है; वहां दिन-रात्रि अर्थ कहीं नहीं किया गया। नैरुक्त-अर्थमें भी यमीका 'माध्यमिक वाणी' अर्थ किया गया है, रात्रि अर्थ कहीं नहीं। 'जामयः कृणवन्नजामि' (ऋ. १०।१०।१०)में 'जामि'का अर्थ 'भगिनी' है, और 'अजामि'का अर्थ भगिनीत्वसे विरुद्ध कर्म (मैथुन) विवक्षित है। स्वा.द.जीने भी यहां दिन-रात यह अर्थ नहीं माना। उनने अशक्त प्रति तथा शक्त पत्नीका संवाद माना था; पर उक्त वैदिक-प्रकरणके प्रतिकूल होनेसे यह उनकी भूल है। वहां यम-यमी ऐतिहासिक व्यक्ति न भी माने जावें; पर उससे सामान्य-भ्रातृभगिनीसंवाद तो स्पष्ट है। इतिहास-पक्षमें भी कोई हानि नहीं—'त्रय्यामेव विद्यायाँ सर्वाणि भूतानि अपश्यत्' (शत. १०।४।२।२१) (प्रजापतिने वेदमें सब विशेष प्राणियोंको देखा था)। परमात्मा त्रिकालदर्शी होनेसे, जैसेकि-स्वा.द.जी ऋभाभू.के वेदविषयविचार पृ. ८६-८७ में लिख चुके हैं। ऐतिहासिक विशेष-व्यक्तियोंका-जो वैदिककालमें सदा हुआ करते हैं; वेद अपनी

इच्छानुसार निर्देश कर सकता है। यम-यमीको दिन-रात भी मानें; तो वे दोनों वैवस्वत (विवस्वान्के लड़के) होनेसे भाई-बहिन हैं, स्त्री-पुरुष नहीं। 'पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्'का अर्थ स्पष्ट है कि-जो भगिनीगमन करे, उसे पापी कहते हैं। 'यः'का 'जो ऐसा करे' यह वादीका अर्थ ठीक नहीं। ऐसा करे-यह अर्थ 'यः'का नहीं हो सकता। 'भ्राता'का 'तेरा भाई-सा' यह अर्थ वादीने कैसे किया, जबकि यहां 'भ्रातेव' नहीं है 'भ्राता' है। अतः स्पष्ट है कि-यम-यमी भाई-बहन हैं, पति-पत्नी नहीं।

वादीकी अपनी स्त्री जो वेदमन्त्रोंसे उसकी धर्मपत्नी बन चुकी है, वह 'शब्द-बुद्धि-कर्मणां विरम्य व्यापाराऽभावः' इस न्यायसे विरुद्ध वादीकी बहन किन वेदमन्त्रोंसे हो सकती है? अतः वादीका 'भ्राता'का 'मैं' तेरा भाई ही सही' यह अर्थ गलत हैं, जबकि वादीके अनुसार स्त्री पतिको भाई नहीं कर रही है, और पति भी उसे 'प्रिये' ही कह रहा है। क्या वादी अपनी बहिनको 'हे प्रिये!' इस शब्दसे सम्बोधित करता है? इससे उल्टा वादी ही वेदको कलङ्कित कर रहा है।

(च) वादीसे प्रष्टव्य है कि-जब तुम नपुंसक हो जाओगे, तब तुम्हारी स्त्री विधवा रहेगी, या सधवा? यदि विधवा, तब क्या तुम उस अपनी स्त्रीका अन्यसे 'विधवाविवाह' कर सकते हो? उस पत्नीका दान क्या तुम स्वयं करोगे, वा उसका पिता करेगा? इसमें प्रमाण क्या? यदि उसका अन्यसे नियोग कराओगे, तब वह उसका भाई होगा, वा पति? बिना विवाह-

संस्कारके वह अन्य उसका पति कैसे हो सकेगा ? यदि वह पति न होगा; तब उसे अन्य पति कैसे कहा जा सकता है ? यदि वह दूसरा व्यक्ति उसका पति होगा; तब क्या वह तुम्हें अपने घरसे निकाल नहीं देगा कि-'अब तुम इस स्त्रीके भ्राता होगये हो; अब यहांसे चले जाओ; दूसरे घरमें रहो ? अब मैं इसका पति ही इस घरमें रह सकता हूँ। यदि ऐसा नहीं, और वह पति भी नहीं; तब वह उस स्त्रीको वीर्यदान भी कैसे कर सकेगा ? फिर तो वह व्यभिचार हो जायगा। विना विवाह-संस्कार किये, वह पर-स्त्रीमें वीर्यदान कैसे करने लग जायगा ? उससे उत्पन्न लड़का तुम्हारा भानजा बन जायगा; क्योंकि वह तुम्हारे कहे वेद-वचनानुसार तुम्हारी बहिन होगई। उस लड़केके तुम मामा बन जाओगे; तब तुम्हारा वंश उससे न बढ़ सकेगा। स्वा.द.के कथनसे विरुद्ध तुम्हारा वंशच्छेदन हो जायगा। वस्तुतः यह सब अनुपपत्तियाँ वादीके मनघड़न्त निर्मूल अर्थसे ही उपस्थित हो जाती हैं। एक घरमें रहनेवाले भाई-बहनोंका कहीं आपसमें संयोग न हो जावे; इसलिए वेदने एक संवादके द्वारा उसपर रोक लगाई।

(छ) वादीने मन्त्रोंके अर्थ गलत पेश किये हैं, प्रकरणको उसने छिपा दिया है। पहलेके भाई-बहिनों यम-यमीको तो उसने पति-पत्नी बना दिया; पर अपने माने हुए पहले पति-पत्नीको उसने भाई-बहन बना दिया ! पति-पत्नी कभी भाई-बहन नहीं बन सकते। यह ठीक है कि-सगे भाई-बहिन भी पति-पत्नी

नहीं बन सकते; पर यमी गर्भमें दोनोंके इकट्ठे रहनेसे अपनेको तथा यमको पति-पत्नी समझनेकी भूलसे भाईसे अधीरतावश पतिवाला व्यवहार मांग रही थी, पर यम समझदार होनेसे उसे उसकेलिए निषिद्ध करके दूसरेसे उसका विवाह अनुशिष्ट कर रहा था। इसलिए उसने उसे कहा था-'पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्, न ते भ्राता सुभगे ! वष्टयेतत्' (ऋ. १०।१०।१२, अ. १८।१।१४-१३)। जब यम-यमी वादीके अनुसार पति-पत्नी थे; तो वह यमी कैसे कहती है कि-'पत्युः जायेव' 'जैसे स्त्री पतिसे व्यवहार करती है'। यदि वे सचमुच पति-पत्नी थे; तब उसे इस उपमा देनेकी आवश्यकता क्यों पड़ी ? इसका अर्थ वादीने छिपा दिया है; नहीं किया है। यदि वे पति-पत्नी हैं; तो वैध होनेसे वादीके अनुसार 'विद्वान् राजाओंके सिपाही' और हमारे अनुसार 'देवताओंके सर्वत्र तथा सदा विद्यमान गुप्तचर' (अ. १८।१।९) उन्हें कैसे रोक सकते थे ? भाई-बहन होनेपर तो संयोगकी इच्छा होनेपर उन्हें वे देवताओंके जासूस पाप होनेसे रोक सकते हैं। इधर वादी यमीको नपुंसक-पतिकी स्त्री होनेसे उसे पतिकी बहिन, और पतिको अपनी पत्नीका भ्राता कहता है, इधरसे वह तथाकथित बहिनको 'भ्राताको कटाक्ष करनेवाली' और भ्राता-द्वारा बहिनको 'प्रिये !' (अ. १८।१।९) कहलवा रहा है, क्या दयानन्दी भाई-बहिन भी घरमें इसी प्रकार एक-दूसरेसे कटाक्ष (हावभाव) किया करते हैं ? वस्तुतः वादी स्वा.द.जीके गलत पक्षको सिद्ध करनेकेलिए अपनी आत्माका हनन करके

वेबुनियाद अर्थ कर रहा है। यदि यमी पत्नी होती; तो पतिको क्यों न समझ पाती? जब जानती है कि-मेरा पति यम नपुंसक है, तब 'तुझको दूसरी नारी आलिङ्गन करती है, जिससे तू मुझ यमीसे इस प्रकार अपना मन हटाता है' (अ. १८।१।१५) 'पति-पत्नीभावके योग्य स्थानमें एक साथ शयन करनेकेलिए मुझ यमीको यमकी कामना हुई है' (अ. १८।१।८) यह कैसे कह सकती है? जब वह नपुंसक पति अपनी स्त्रीकी कामपूर्ति नहीं कर सकता, तब वह दूसरी स्त्रीकी कामपूर्ति कैसे कर सकता है; आश्चर्य है कि-यह मोटी बात भी वादीकी समझमें नहीं आती? अपनी स्त्री तो उस नपुंसककी बहन बन जावे; और परकीय स्त्री जो उस नपुंसककी बहन जैसी होगी, वह उसकी पत्नी हो जावे, क्या यही दयानन्दी वैदिक-धर्म है?

(झ) 'आ घा ता गच्छान्'का वादीका किया यह अर्थ कितना गलत है कि-'वे भविष्यके (युगानि) पति-पत्नियोंके ज़ोड़े आने सम्भव है, जिसमें (जामय:) सन्तान उत्पन्न करनेमें समर्थ स्त्रियां, (अजामि) दोषरहित सन्तान उत्पन्न करेंगी'। यह कितना असम्बद्ध तथा वेदके शब्दोंसे विरुद्ध अर्थ है? 'जामि-अजामि' एक दूसरेके प्रतिद्वन्द्वी शब्द हैं; तब उनके अर्थमें 'अपने मनकी आह्ला गाना' यह छल-कपट है। 'अजामि'का 'दोष रहित सन्तान उत्पन्न करना' यह अर्थ वादीने कैसे कर लिया? 'उत्तरा युगानि आगच्छान्' यह यहां भविष्यत् काल है कि-'आगेके पापमय युग आवेंगे; जहाँ बहनें न बहनों वाले कर्म भाईसे करेंगी' पर

वादीने उक्त असम्बद्ध अर्थ किस प्रमाणसे कर दिया? क्या वे जोड़े अब नहीं हैं, जो निर्दोष सन्तान उत्पन्न करें? क्या प्रति-पक्षीका अपना जोड़ा सदोष सन्तान पैदा कर रहा है? 'मत्' का अर्थ 'पुत्र उत्पादनमें असमर्थ' यह अर्थ वादीने किस प्रमाण से किया? वह नपुंसक है—इसमें क्या प्रमाण? 'सुभगे!' का वादीने 'सौभाग्यशालिनी' अर्थ कर दिया। उसे तो वादीने 'नपुंसकपति'से संयुक्त करके 'विधवा' बनाकर 'दौर्भाग्य-शालिनी' कर दिया; तब उसे 'दुर्भगे' कहना चाहिये था।

महाशय! जैसे 'भगिनी'में 'भग' शब्द होता है, वही 'भग' शब्द यहाँ 'सुभगे' में है। 'प्रथम-पति, द्वितीयपतिके दोषका समाधान 'आलोक' (८) पृ. ६०७-६०८ में कर दिया गया है, इस निबन्धमें भी किया गया है। यम-यमीसूक्त ऋसं. तथा अथर्व सं. दोनोंमें आता है; तब इस विषयमें दोनों संहिताओं-के वचन दिये जा सकते हैं।

'ते भ्राताका 'तेरा भ्राता ही सही' यह वादी द्वारा अर्थ निकालना गलत है, जब कि पति-पत्नीपक्षमें यमी उसे पति ही कह सकती है; 'भ्राता' नहीं। क्या यमीने यमको 'भ्राता' कहा था? यदि कहा था; तो वह उसका भ्राता ही हुआ, पति कहाँ हुआ? 'गर्भाधानमें असमर्थ भी पति' अपनी स्त्रीको बहिन कभी नहीं मानता वा कहता? 'वानप्रस्थी गृहस्थाश्रमसे विरत होना चाहता है' यह वादीका अर्थ निकालना भी गलत है, जब कि यहां न कोई ऐसा प्रकरण है, और न ही वादीके स्वामीने वैसा

प्रकरण वहां माना है। स्वामीजी पतिकी नपुंसकता बताकर उसकी स्त्रीको अन्यसे नियुक्त करके उस नपुंसक पतिकी सन्तान पैदा कराना चाहते हैं; स्वामी उन्हें भाई-बहन नहीं बनाना चाहते; पर वादी उनको भाई-बहिन बताकर उस स्त्रीको दूसरे पतिकी स्त्री बनाकर उस स्त्रीके पूर्व पतिका वंश उच्छिन्न करना चाहता है। तब स्पष्ट है कि-यम-यमीके लिए उक्त सूक्तमें भ्राता, स्वसा आदि शब्द आनेसे वे वस्तुतः ही भाई-बहिन हैं; अतः यह भ्रातृ-भगिनी संवाद है, पति-पत्नी संवाद नहीं। पति-पत्नी कभी भाई-बहन नहीं हो सकते। वादीके अनुसार वेदने जो उन्हें पति-पत्नी बनाया; वह पति-पत्नीभाव अब 'शब्दबुद्धि-कर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' न्यायके अनुकूल कभी दूर नहीं हो सकता।

(झ) विस्तार-भयसे सम्पूर्ण मन्त्र न देकर मन्त्रोंके अपेक्षित अंश ही हमने अष्टम पुष्पमें दिये थे। सम्पूर्ण मन्त्रोंसे तो हमारा पक्ष अन्य भी सुपष्ट हो जाता है। जब बहिन यमी भ्राता यम को एक गर्भमें स्थित होनेसे, भूलसे पति-पत्नी समझकर अब उसे लोक-दृष्टिमें भी पति बनाना चाहती है; तब यमका यह कहना कि-तुम मुझ भ्रातासे अन्य पुरुषको पति बनानेकी चाहना करे-कहना सङ्गत ही है। जब एक रोगी भूलसे एक वकीलको ही अपनी समझमें वैद्य समझ लें; और उससे अपने रोगके दूर करनेकेलिए दवाई मांगे, तब वह वकील कह सकता है कि-मैं तुम्हारा वैद्य नहीं बन सकता; तुम मुझसे भिन्न किसी वैद्यके

पास जाकर अपनी रोग-निवृत्तिकेलिए वह चाहना करो। इस प्रकार 'भ्रातृ-भगिनीसंवादमें अज्ञानवश भ्राताको ही पति बनाना चाहती हुई भगिनी यमीको भ्राता यम का यह कहना संगत ही है कि-तू मुझसे अन्य पतिकी चाहना कर'। जब नपुंसक होनेसे वादीके मतमें भी पति अपनेको उस स्त्रीका 'भ्राता' बता रहा है; तब दूसरेको वादी 'अन्य पति' जिस युक्तिसे कह रहा है, वही युक्ति हमारे पक्षमें भी काम देगी।

(ञ) 'यमस्य स्त्री यमी' समझकर प्रतिपक्षी यदि यमको यमी-का पति माने, तो यह भी ठीक नहीं; 'स्त्री' शब्दसे लड़की तथा बहिन भी गृहीत हो जाती है। देखो-यम यमीकी भांति 'देवक-देवकी' भी शब्द हैं; तब क्या वादी देवकीको देवककी पत्नी मान लेगा? नहीं; वह तो देवककी लड़की थी, (देखो श्रीमद्भा. १०।१।३२)। इस प्रकार 'रेवत-रेवती'में भी क्या वादी रेवतीको रेवतकी पत्नी मान लेगा? नहीं; वह तो रेवतकी लड़की थी। (देखो देवीभा. ७।७।४४,४६,८-१७)। कृप-कृपीमें भी क्या वादी 'कृपी'को कृपकी पत्नी मान लेगा, जबकि वह उसकी बहिन थी; जो द्रोणाचार्यको व्याही थी। (देखो महाभारत)। केकय-केकयीमें केकयी केकयकी लड़की होती है. न कि उसकी पत्नी। श्याल-श्यालीमें 'श्याली' श्यालकी बहन होती है; न कि उसकी पत्नी। इस प्रकार 'यम-यमी'में भी यमी यमकी बहिन है, न कि उसकी पत्नी-यह इतिहासमें भी सुप्रसिद्ध है।

(ट) इसलिए निरुक्तके भाष्यमें श्रीदुर्गाचार्यने भी लिखा है-

यमी किल यमं चकमे भ्रातरम्, तां किल यमोऽनया ऋचा प्रत्याचचक्षे' (११।३४।१) इस प्रकार अन्य प्राचीन भाष्यकारोंने भी उन्हें भाई-बहिन माना है। पुराणोंमें भी यम-यमीका भाई-बहिन होना प्रसिद्ध है। इस पर एक दयानन्दी लिखता है-'सुताः कन्यास्तयोर्जाता मनुर्वैवस्वतस्तथा। यमश्च यमुना चैव' (भविष्य.प्रति. ४।१६८।२६) यहाँ यमकी बहिन 'यमुना' है, यमी नहीं। (टंकारापत्रिका अक्टू. १६६२ पृ. २१) पर यह उस दयानन्दीकी अनभिज्ञता है। 'यमी'को यमकी स्त्री भी कहीं नहीं लिखा गया। 'त्वाष्ट्री सरण्यू विवस्वत आदित्यात् यमौ मिथुनौ (यमं यमीं च) जनयाञ्चकार' (निरु. १२।१०।२) यहाँ भी सूर्यसे यम-यमी इकट्ठे पैदा हुए बताये गये हैं। क्या पति-पत्नी एक ही माता-पितासे पैदा होते हैं? यमुना भी 'यमी'का ही दूसरा नाम है, देखिये त्रिकाण्डशेष-कोष 'तापी तु यमुना यमी' (१।१०।२४)। अमरकोषमें भी यमुनाको 'सूर्यतनया' (१।१०।३२) कहा गया है। सो वही यह यमी सूर्यतनया (वैवस्वती) ही यमुना नामसे कही गई है। अतः दयानन्दीका पक्ष कट गया।

(ठ) यम-यमीमें 'पुंयोगादाख्यायाम्' सूत्रसे पुंयोगमूलक ङीष् प्रत्यय देखकर केवल पति-पत्नीत्व नहीं मान लेना चाहिये; किन्तु भ्रातृ-भगिनीत्व, कन्या-पितृत्व भी इस ङीष् प्रत्ययसे व्यक्त होता है। इसीलिए ४।१।४८ सूत्रके महाभाष्यके 'उद्योत'में भी लिखा गया है-'अतएव गोपस्य भगिनी गोपी-इत्यपि भवति, जन्यजनकभाव इव ईदृश-पुंयोगस्यापि ग्रहीतुं युक्तत्वात्'। इस

विषयमें 'आलोक' (८) पृ. ६१६-६२२में स्पष्टता देखो।

(ड) अब पूर्वोक्त वादी 'आ घाता गच्छान्' मन्त्रका अन्य अर्थ भी एक पत्रमें करता है-'हे रात्रे! वे युग-अवसर तो प्रलय-कालीन आवेंगे; जबकि (जामयः-) असमानजातीय व्यवधायक मेलमें रुकावट डालनेवाले (अजामि) असमानजातीयरहित, अविरुद्ध कर्म करेंगे (इसका क्या मतलब कि-प्रलयकालमें तो वे अविरुद्ध कर्म करेंगे, पर अब प्रलयकाल न होनेपर वे विरुद्ध कर्म करें? यह वादीने मन्त्रका अर्थ किया; वा घास काटी? यह अर्थ वहां कैसे संघटित हुआ? सीधा अर्थ क्यों नहीं किया कि-वे पापमय युग आगे आवेंगे; जब (जामयः) बहिनें भाइयोंसे (अजामि कृणवन्) न बहिनोंवाला अर्थात् पत्नियों-वाला व्यवहार करेंगी।

'जामि'का अर्थ निरुक्तकार 'बहन' मानते हैं। देखो-'न जामये-भगिन्यै' (३।६।१)। यहांपर भी 'असमान-जातीय'का भाव श्रीदुर्गाचार्यने लिखा है-'असमानजातीयो हि पुरुषस्य भगिन्याख्यो भ्राता। सा हि स्त्रीत्वादेव अतुल्यजातीयैव पुरुषस्य भवति' अर्थात्-भाई-बहन स्त्री-पुरुष होनेसे भिन्न जातिवाले होते हैं।

आगे वादीने लिखा था—'हे रात्रे! तब तक तुझ पुत्रा-भिलाषिणीसे विना गार्हस्थ्यके ठहरना दुष्कर है' यह वादीने वेदके किन पदोंका अर्थ किया है? 'रात्रि'में यह अर्थ कैसे संघटित होता है? रात्रि, दिनसे कौनसा पुत्र उत्पन्न करना

चाहती थी ? जब रात और दिन इकट्ठे मिल ही नहीं सकते, और युवति रात्रि वृद्ध-दिनके पास कभी आ ही नहीं सकती, तब उनके संयोग वा पुत्र पैदा करनेका कोई प्रश्न ही नहीं रहता। वादी रात्रिको गार्हस्थ्यधर्म कराना चाहता है; तब वह अपने स्वामीसे विरुद्ध नपुंसककी स्त्रीका नियोग न कराके उसका गार्हस्थ्यधर्म द्वारा सधवा-विवाह कराना चाहता है! नियोगमें पतित्व नहीं होता; देखो इसपर इतिहास; पर वादी नियुक्तको पति बनाना चाहता है। यह स्वा.द.के माने नियोगसे भी विरुद्ध बात है। जब वह पति ही नहीं है, तो उसे 'अन्य पति' नहीं कहा जा सकता। 'इसलिए मैं पुत्रोत्पत्तिमें असमर्थ होता हुआ तुझे आदेश देता हूँ' यह वादीने इस मन्त्रके किन पदोंका अर्थ किया है? फलतः वादी यमयमीसूक्तमें दम्पति-संवाद सिद्ध करनेमें पूर्णतया असफल रहा है। इस विषयमें पूर्ण स्पष्टता हम 'आलोक' (८)में कर चुके हैं।

इस प्रकार हमने प्रतिपक्षीके पुराणादि सनातनधर्मी साहित्य पर किये गये आक्रमणोंको पछाड़ दिया है-यह निष्पक्ष विद्वानोंने अनुभव किया होगा। शेष महादेवजीके वीर्यको जोकि वादीने प्राकृत वीर्य दिखलाया है, इसपर वह जान रखे कि-पार्वती-महादेव कोई लौकिक मनुष्य पति-पत्नी नहीं हैं; अतः उनका मैथुन भी ग्राम्य नहीं; वह तो प्रकृतिपुरुषका रमण है; अतः उनका वीर्य भी लौकिक-मल नहीं। कौतूहलवर्धनार्थ तथा सरसतार्थ उसे लौकिक ऐतिहासिक रंगत दी जाती है; अतः वादीके

आक्षेप पीस दिये गये।

अब हम थोड़ी 'वेदचर्चा' तथा आलोचना आदि एवं पौराणिक-घटना देकर इस पुष्पको पूर्ण करेंगे। शेष 'भागवतपुराणसमीक्षा' 'दयानन्द-सिद्धान्तप्रकाश' आदि जो पुस्तकें बच गई हैं; उनकी आलोचना तथा सैद्धान्तिक-चर्चा दशमपुष्पमें दी जावेगी।

पाठकोंका कर्तव्य आ पड़ता है कि-इस ग्रन्थमालाका खूब प्रचार करें, स्वयं भी इसकी सहायता करें, दूसरोंसे भी करवायें। व्यर्थके कामोंमें लोग हजारों रुपये खर्च कर डालते हैं; पर साहित्यसेवामें सनातनधर्मी लोग पिछड़े हुए हैं, उन्हें सनातन-धर्मी साहित्यके स्वयं खरीदने तथा उसके प्रचारमें सहयोग देना चाहिये।

वेदचर्चा।

(१४) वेदोंकी अक्षरसंख्या।

पूर्वपक्ष—आपने 'आलोक' (६) में सारे वेदमन्त्रोंकी संख्या एक लाख लिखी थी, यह ठीक नहीं। शतपथने वेद चार माने हैं (१४।५।४।१०)। वेदका परिमाण भी शतपथने 'स ऋचो व्यौहत्, द्वादश बृहतीसहस्राणि, एतावत्य ऋचो याः प्रजापतिसृष्टाः' (१०।४।२।२३) परमेश्वरने ऋग्वेदको १२००० बृहती छन्दोंमें उत्पन्न किया। यह ऋगृऋचाओंका परिमाण है। १२००० बृहती छन्दोंका परिमाण १२०००×३६=४,३२००० अक्षरोंका होता है। 'अथ इतरौ वेदौ व्यौहत्। द्वादशैव बृहती सहस्राणि, अष्टौ यजुषां,

चत्वारि साम्नाम्, एतावद्ध एतयोर्वेदयोर्यत् प्रजापतिसृष्टम् (२४) ते सर्वे त्रयो वेदा दश च सहस्राणि अष्टौ च शतानि अशीतीनाम-भवन (२५) पुनः दूसरे वेदोंको प्रकाशित किया, जिसमें ८००० बृहती-छन्दपरिमाणमें यजुःकी ऋचाएँ, जिसमें २,८८००० अक्षर हैं। साम ऋचाएँ ४०००, जिनमें १,४४००० अक्षर हैं। इस प्रकार शतपथने वेदके सम्पूर्ण मन्त्रोंकी संख्या २४००० बृहती छन्द और उनकी कुल अक्षरसंख्या (१०८००×८०=कुल ८,६४,०००) कही है। वेदकी यह ऋचाएं मन्त्रभाग अपौरुषेय है, इनमें न्यूनाधिकता सम्भव नहीं हैं; क्योंकि—वेदोंके मन्त्र और अक्षर गिने हुए हैं।

(ख) वेदोंका स्वर भाषिक नहीं होता, पर ब्राह्मणोंका स्वर भाषिक होता है, अतः वे वेद नहीं। वेदोंकी रक्षा घन माला जटा-पाठ आदिसे सुरक्षित है, ब्राह्मणोंका उस सुरक्षित-प्रक्रियासे कोई भी सम्बन्ध नहीं है। वेदोंके ऋषि, देवता, छन्द आदिका वर्णन अनुक्रमणिकामें सुरक्षित मिलता है; पर ब्राह्मणोंका कोई उल्लेख नहीं होता। पतञ्जलिने महाभाष्यमें उपनिषदोंको वेद नहीं माना। 'तेन प्रोक्तम्' (४।३।१०१) के भाष्यमें लिखा है, वेदोंसे काठक आदि पृथक् हैं, वेद नित्य हैं, पर ब्राह्मण वा शाखा अनित्य हैं। 'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति' (अथर्व. १०।८।३२) यह वचन चारों वेदोंकेलिए प्रयुक्त होता है कि—परमात्माका काव्य न कभी नष्ट होता है, न जीर्ण; जबकि—मानवकृत ११२७ शाखाएं लगभग सभी नष्ट हो चुकी हैं।

अष्टाध्यायी (४।२।६६) भी ब्राह्मण-ग्रन्थोंको वेदसे पृथक् बता रही है। जैमिनि ऋषिका 'ऋक् यत्र अर्थवशेन पादव्यवस्था, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुः-शब्दः' यह चारों वेदोंके मन्त्रोंका लक्षण केवल मन्त्रसंहिताभागमें मिलता है। ब्राह्मणभागका कोई लक्षण नहीं किया गया है, और न उपरोक्त लक्षण उसमें घटता है।

उत्तरपक्ष—इस विषयमें हम पूर्णविवेचन तो 'आलोक' (४-६-७-८ पुष्पों)में कर चुके हैं, दशमपुष्पमें भी लिखेंगे। यहां कुछ संक्षेपसे लिखते हैं—

(१) वादीको याद रखना चाहिये कि—पहले तो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद ही कहीं छपे हुए नहीं मिलते। जहां मिलते हैं, ऋग्वेदसंहिता आदि ही मिलते हैं। यह तो ऋग्वेदादिकी संहिताएँ हैं। यदि वादी इन्हींको ऋग्वेद आदि मानता है; तो वह अपने चारों वेदोंमें 'ऋग्वेदसंहिता' आदि नाम दिखला दे, या ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद आदि नाम ही दिखला दे। यदि वह न दिखला सके; तो उसके वेद 'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति'के विरुद्ध कहीं लुप्त हो गये समझने पड़ेंगे; तब उसका वैदिकधर्म कहीं लुप्त हो गया समझना पड़ेगा।

(२) अब रही ऋग्वेदादिकी मन्त्रसंख्या, श्रीसातवलेकरजीने ऋसं.की मन्त्रसंख्या १०४७२ बताई है। बालखिल्यकी मन्त्र-संख्या ८० बताई है। दोनोंकी मन्त्रसंख्या १०५५२ बताई है। इनकी अक्षरसंख्या ३,९४,२२१ तथा बालखिल्योंकी ३०५४

अक्षरसंख्याके साथ सम्पूर्ण अक्षरसंख्या ३,६७,२६५ बताई है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि–बालखिल्यसूक्त परिशिष्ट हैं; इसलिए गणपतकृष्णाजीकी छपी ऋ.सं.में बालखिल्यसूक्त ही नहीं हैं; इसलिए उनपर सायणभाष्य भी नहीं है। वे सूक्त वहां परिशिष्टमें मिलते हैं। 'अथ बालखिल्यम्, इति बालखिल्यम्, लिखना वेदकी शैलीके विरुद्ध है।

अब वादी बतावे कि–शतपथानुसार १२००० मन्त्रों वाला और ४,३२,००० अक्षरों वाला ऋग्वेद तुम्हारे किस प्रेसमें छपा है? किस लायब्रेरीमें रखा है? वादीकी वैदिक-यन्त्रालयकी ऋसं.में शेष ३४, ७३५ अक्षर 'देवस्य पश्य काव्यं न ममार, न जीर्यति'से विरुद्ध कहां लुप्त वा जीर्ण हुए? यदि कहा जावे कि–यह ऋचाओंकी संख्या है; तब ऋचाएँ यजुर्वेद सं., सामवेद सं. तथा अथर्ववेद सं. में भी हैं; तब ऋग्वेदकी अक्षर-संख्या नियत न हुई, और फिर ऋग्वेदकी ऋचाएं अन्य वेदोंमें किसने डालीं? क्या श्रीवेदव्यासने? क्या वादी इस प्रक्षेपको सह्य करते हैं? इससे जब सिद्ध हुआ कि–ऋचाएँ अन्य वेदोंमें भी हैं, तब प्रश्न है कि–वे ऋग्वेदसे गईं; वा उन वेदोंकी अपनी हैं? ऋसं.में यजुः हैं, साम भी, तब उनकी अक्षर-संख्या की क्या व्यवस्था होगी? इससे यह भी सिद्ध हुआ पहले वेद एक ही था। वेदव्यासजीने उसके तीन, पीछे चार विभाग बनाये; और यज्ञोपयोगी मन्त्रोंका यज्ञोंके क्रमसे संहिताओंके रूपमें संग्रह किया। उन मन्त्रोंका यज्ञमें जितने वार प्रयोग आता है, उनको

उतने ही वार संगृहीत किया गया। इसलिए उनमें पुनरुक्त मन्त्र बहुतसे आते हैं। इसलिए भाष्यकारोंने भी उनका समान अर्थ होनेसे फिर दोबारा उनका विशेष अर्थ नहीं लिखा।

अब वादी बतावे कि–जो ऋचाएं पुनरुक्त हैं; उनकी अक्षर-संख्या भी गिनी गई है या नहीं? क्यों गिनी गई? और इसमें प्रमाण क्या है? वादीने सब वेदोंकी ऋचाओंकी संख्या बताई है, तब यजुः और सामोंकी अक्षर-संख्या तो कुछ भी न हुई। अथर्ववेदकी अक्षरसंख्या तो वादीने लिखी नहीं; तब क्या वह पृथक् वेद नहीं है? क्या वह पीछेसे बनाया गया?

(३) जिसे वादी अपना ऋग्वेद मानता है, वह तो ऋ.की शाकल्यसं. होनेसे शाखा है। देखो इसमें प्रमाण–'श्रीकात्यायनकी ऋग्वेद-सर्वानुक्रमणीके आरम्भमें—'ऋग्वेदाम्नाये शाकलके' कहकर इस ऋसं.को शाकल्यकी संहिता बताया है।

(४) अब निरुक्तकार श्रीयास्ककी सम्मति देखनी चाहिये–'वने न वायो' यह ऋसं.का मन्त्र निरुक्त (६।२८।३)में देकर इसमें 'वायः'को एक पद माना है, पर वादीकी ऋसं. (१०।२९।१) में "वा,यः' यह दो पद रखे हैं। श्रीयास्कने यहाँ लिखा है–'वा- इति च, य इति च चकार शाकल्य.' अर्थात् शाकल्यने अपनी संहितामें 'वा,यः' यह दो पद लिखे हैं; वस्तुतः 'वायः' एक पद है, दो पद माननेपर स्वरकी गलती पड़ती है। आर्यसमाजी श्रीविश्वेश्वरानन्दजीकी ऋसं. की पदसूचीमें भी 'वा,यः' यह दो पद प्रत्यक्ष हैं। आर्यसमाजी प्रेस 'वैदिक-यन्त्रालय'के मूल

निरुक्तके पृ. ६४ की टिप्पणीमें भी लिखा है-'वा,यो' इति शाकल्यः'। अब यह वादियोंकी ऋग्वेद-संहिता शाकल्यकी शाखा सिद्ध हो गई। इस 'वा यः' इस पदभेदको पदपाठ में नहीं माना गया है, किन्तु संहितापाठमें। अब दयानन्दियोंका ऋग्वेद 'देवस्य पश्य काव्यं न ममार'के विरुद्ध नष्ट हो गया, उसे प्रतिपत्ती ढूंढे। नहीं तो फिर उसे शाखाओंको भी वेद मानना पड़ेगा।

(५) अजमेरी निरुक्तके पृ. ६२में 'आ त्वा विशन्तु इन्दव आगल्दा धमनीनाम्' यह ऋ. १।१५।१ का मन्त्र लिखा है, पर वह वादियोंके ऋग्वेदमें इस रूपमें नहीं मिलता। ऋ. ५।६२।२२ में भी इस रूपमें नहीं मिलता। अब वादी अपना ऋग्वेद ढूंढे कि-उससे उक्त मन्त्र कहाँ लुप्त हो गया? 'न ममार न जीर्यति' के विरुद्ध वह निरुक्तमें उद्धृत मन्त्र कहां जीर्ण हो गया? इस विषयमें अधिक 'आलोक' (८) पृ. ६६-१००, १०४, ११६-११८ देखें।

(६) 'देवस्य पश्य काव्यं' यह मन्त्र वादीने अपने अथर्ववेद का दिया है; उसी अथर्व.का मन्त्र अजमेरी निरुक्तके पृ. ८३ में 'अतिक्रामन्तो दुरितानि विश्वा' यह अ. (१२।२।२८)का दिया है, पर यह वादीके अथर्ववेदमें इस रूपमें नहीं मिलता। उसमें तो 'दुरिता पदानि' रूपमें मिलता है। अब वह वादीका अथर्ववेद कहां खो गया?

(७) यजुर्वेदके १९७५ मन्त्रोंमें ६८७ ऋग्वेदसे लिये गये हैं;

शेष यजुर्वेदके मन्त्र बचे; तब क्या उनमें वादीकी कही यजुर्वेद-की २,८८,००० अक्षरसंख्या मिलती है? जब इतने मन्त्र उसमें कम हो गये; तो वादीकी कही यजुःकी मन्त्रसंख्या और अक्षर-संख्या कैसे मेल खावेगी? सामवेदसं.के १८२४ मन्त्र हैं, उसमें ७० वा ७५ मन्त्रोंको छोड़कर शेष मन्त्र ऋसं.से लिये गये हैं। वादीने सामकी मन्त्रसंख्या ४ हजार, तथा अक्षरसंख्या १,४४,००० लिखी है; तब यह मन्त्रसंख्याका मेल कैसे हुआ? क्या ७० मन्त्रोंकी इतनी अक्षरसंख्या हो सकती है? अथर्ववेद-सं.में ५९३७ मन्त्र हैं, उनमें ७०० मन्त्र ऋसं.से लिये गये हैं। शेष ५२३७ मन्त्रोंकी इतनी अक्षरसंख्याका मेल कैसे बैठेगा? वादीने अथर्ववेदकी अक्षरसंख्या शतपथसे लिखी नहीं। इसका भाव यह हुआ कि अथर्ववेदकी पृथक् सत्ता है ही नहीं। अब वादीका 'वैदिकधर्म' भी नष्ट होगया। आर्यसमाजी रिसर्च-स्कालर श्रीभगवद्दत्तजी कुन्तापसूक्तोंको अथर्ववेदान्तर्गत नहीं मानते; देखो उनका 'वैदिक वाङ्मयका इतिहास' (द्वितीयभाग पृ. ७०); अब वादी बतावे कि-उसकी अक्षरसंख्यामें अन्तर पड़ेगा या नहीं ?

(८) स्वा.द.जीने अपनी ऋभाभू. (पृ. ६६)में अथर्ववेदका पहला मन्त्र 'शं नो देवीः' दिया है। वहाँ 'प्रथममन्त्रप्रतीक' शब्द प्रत्यक्ष लिखा है। इस प्रकार स्वामीजीने अन्यत्र भी यह सूचित किया है; पर वादीकी अथ.सं.में 'शं नो देवी' प्रथम मन्त्र नहीं है, यह शौनकशाखा है-यह सभी मानते हैं। वह प्रथममन्त्र अथर्ववेद

पैप्पलादसं.में है, देखो उडीसाकी उडियाभाषाकी पैप्प.सं.में; तथा छान्दोग्यभाष्यमें गुणविष्णुका कथन। फिर उसे ही अथर्ववेद मानो। इस प्रकार सभी शाखा चार वेद बन जावेंगी।

(६) आर्यसमाज कानपुरकी छपाई 'वेदसंज्ञाविमर्श'-पुस्तकमें आर्यसमाजके मन्त्री श्रीविद्याधरजीने वादिसम्मत-अथ.सं.को 'खण्डित प्रतिलिपियोंके आधारपर संगृहीत हुई' हेरफेर वाली माना है। उनके यह शब्द हैं-'ऋषि दयानन्दके मतमें तथा भाष्यकारके कथनानुसार अथर्ववेदका आरम्भ 'शं नो देवी' मन्त्रसे ही होता है...अतः वर्तमान अजमेर वाली संहिताके आदिमें जो 'ये त्रिषप्ताः' इस मन्त्रका पाठ मिलता है, वह अथर्ववेदकी उपलभ्यमान खण्डित प्रतिलिपियोंके अनुसार है। उन [खण्डित प्रतिलिपियों] में 'ये त्रिषप्ताः' मन्त्रका प्राधान्य है' (वेदसं.वि पृ. ८६) अब वादियोंकी हेरफेर वाली अथर्ववेद-सं. वेद न रही।

अब वादीकी अथर्ववेदसं. भी शौनकी शाखा सिद्ध हुई; उसके अथर्ववेदमें भी 'वने न वा यो' में 'वा यो' इन अलग-अलग पदरूपमें है। अब वादीका अथर्ववेद भी नष्ट हुआ। यदि नहीं नष्ट हुआ; तब इस शौनकी-शाखाको अथर्ववेद माननेसे सभी शाखाएँ वेद सिद्ध हो जानेसे वादी स.ध.की शरणमें आ गये।

(१०) जिस शतपथको वादी यहां मानता है, उसीमें लिखा है—'तस्माद् एतद् ऋषिणा अभ्यनूक्तम्-'मनसा संकल्पयति, तद् वातमभिगच्छति। वातो देवेभ्य आचष्टे, यथा पुरुष! ते मनः' (३।४।२।७) इसे यहां ऋषि (वेदमन्त्र) बताया है; पर यह वेदमें इसी रूपमें पूराका पूरा नहीं मिलता। तब वादी शतपथोक्त पूरे मन्त्रवाला अथर्ववेद ढूँढे, कहां गया? उसमें अक्षरसंख्यामें भी अन्तर हो जावेगा।

(११) यदि कहा जावे कि-शतपथके पूर्ववचनमें ऋग्वेदकी पोथीके मन्त्र वा अक्षरोंकी संख्या नहीं, किन्तु उसकी ऋचाओं की है; तब ऋचाएँ तो यजुर्वेदसं.में भी हैं; साम और अथर्वमें भी; तब वादीके अनुसार यह संख्या केवल ऋग्वेदकी सिद्ध न हुई। वादी अब सब वेदोंका संशोधन करे। ऋग्वेदमें सभी वेदोंकी ऋचा ही रखे, उससे यजुः और साम उड़ा दे। यजुर्वेदमें सभी वेदोंकी यजुः (गद्य) ही रखे। उनसे ऋचा एवं साम उडा दे। सामवेदमें सभी साम (गान) ही रखे, उससे ऋचा एवं यजुः उडा दे। अथर्ववेदको विल्कुल उडा दे; क्योंकि-वह किसी छन्दका नाम नहीं है। बहुत-सी पुनरुक्त ऋचाएँ वा मन्त्र उडा दे; वेद-पुस्तकें हलकी हो जाएँगी।

(१२) निरुक्त (६।५।१) में 'भद्रं वद दक्षिणतः' यह ऋचा भी उद्धृत की गई है, पर यह वादीके ऋग्वेदमें नहीं मिलती, किन्तु ऋक्परिशिष्ट (२।१३।१)में मिलती है; तब ऋक्परिशिष्ट भी ऋग्वेद हुआ। 'नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम' यह मन्त्र निरुक्तके निपात-प्रकरण (१।११।१) में उदाहृत है; पाणिनिके वैदिकसूत्र (३।४।८) (८ अष्टक, ६ अ., २ प.) में भी; तब ऋग्वेद-परिशिष्ट

भी ऋग्वेद हुआ। अब ऋचाओंकी अक्षरसंख्यामें घट-बढ़ सिद्ध हुई, या नहीं?

(१३) निरुक्तमें मन्त्रभागकी सार्थकताके प्रकरणमें 'ओषधे! त्रायस्वैनम्' (१।१५।६) मन्त्र उद्धृत है; पर वादीके वेदमें 'त्रायस्व'के साथ 'एनं' नहीं है। यदि 'एनं'का अध्याहार श्रीयास्कने किया है; तो 'नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति' (१।१६।४) कहनेवाले यास्क मन्त्रमें ऐसा करके उसमें न्यूनपददोष कैसे बता सकते हैं; जबकि कृष्णयजुर्वेदमें 'त्रायस्व' के साथ 'एनं' प्रत्यक्ष है। वहींपर 'प्रोहाणि' यह वेदमन्त्र दिया गया है; पर यह वादीकी चारों वेद-संहिताओंमें नहीं। वहीं 'अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि' यह वेदमन्त्र दिया गया है (निरु. १।१५।८); यह भी वादीकी चारों वेदसंहिताओंमें नहीं। वहीं 'एक एव रुद्रोवतस्थे न द्वितीयः' यह वेदमन्त्र भी दिया गया है; पर यह भी वादीके वेदमें नहीं मिलता। उक्त वेदमन्त्र वादीकी वेदसंहिताओंसे कहाँ लुप्त हुए? तब उसकी मानी हुई वेदोंकी अक्षरसंख्यामें भेद पड़ेगा, या नहीं? इससे स्पष्ट है कि सभी वेदशाखा वेद हैं, उनमें यह मन्त्र सुलभ हैं।

(१४) यदि मन्त्रसंख्याके विषयमें वादी शतपथ पर ही विश्वास करता है; तो शतपथमें उर्वशी-पुरूरवाके संवादमन्त्र ऋग्वेदमें १५ बताये गये हैं। देखो—'इत्येतदुक्तप्रत्युक्तं पञ्चदशर्चं बह्वृचाः [ऋग्वेदिनः] प्राहुः' (शत. ११।५।१।१०), पर वादीकी ऋसं.में उर्वशी-पुरूरवा संवादकी ऋचाएं १८ मिलती हैं। इससे

स्पष्ट है कि—शतपथकी इष्ट ऋग्वेदसं. कोई अन्य थी; वादी वाली नहीं। अब वादी बतावे कि—उसकी ऋसं.में शतपथके अनुसार मन्त्र-संख्या तथा अक्षरसंख्या कुछ बढ़ जावेगी, या नहीं?

वस्तुतः शतपथ आदि ब्राह्मण अपनेसे अभिमत ४ ऋगादि-शाखाओंको ही चार वेद बताकर उन्हींका ही वर्णन करते हैं। सो वह ११३१ शाखाएं सभी चार वेद सिद्ध हुए। जैसे १४ समुल्लासों वाला भी सत्यार्थप्रकाश एक माना जाता है, वैसे ११३१ संहिताएँ भी चार वेद सिद्ध हुए।

(१५) वादीने यजुर्वेदकी अक्षरसंख्या २,८८,००० बताई है, पर उसमें ८८,८७५ अक्षर मिलते हैं। देखो इसपर 'वैदिक-साहित्य' पुस्तक (पृ. ६१)। तब वादीकी यजुर्वेदसंहिता शतपथा-नुसार भिन्न सिद्ध हुई। इस प्रकार सामवेदकी अक्षरसंख्या भी ठीक नहीं घटती। अथर्ववेदकी निश्चित अक्षरसंख्या वादीने शतपथसे बताई ही नहीं; अतः वह अथर्ववेदकी पृथक् सत्ता ही मत माने। इस प्रकार वादीका वेदविषयक मत उसके वेदोंको ही मारनेवाला है; तब उसका वैदिकधर्म भी नष्ट हो गया। इससे 'दयानन्दसिद्धान्त-प्रकाश' का भी खण्डन हो गया; क्योंकि—यह मत वादीने उसीसे अपहृत किया है।

(१६) स्वा.द.जीने अपने अष्टाध्यायीभाष्यमें 'मन्त्रे घस' (पा. २।४।८०) इस सूत्रके मन्त्र (वेद) का उदाहरण 'अक्षन्' दिया है। यह वादीके चारों वेदोंमें नहीं है। स्वा.द.जीने लिखा है—'छन्दो-वेद-निगम-मन्त्र-श्रुतीनां पर्यायवाचकत्वात्' (ऋभाभू.

पृ.७६) यहांपर स्वा.द.जीने 'छन्द' वेदका नाम माना है। 'छन्दसि निष्टर्क्यं' (३।१।१२३) का उदाहरण स्वामीने अपनी पुस्तकोंमें 'निष्टर्क्यं चिन्वीत पशुकामः' वा केवल 'निष्टर्क्य' दिया है, यह मन्त्र एवं पद वादीकी चारों वेदसंहिताओंमें नहीं है; तब उनमें अक्षरसंख्याका भेद होगा, या नहीं ? फलतः वादीका वेदविषयक मत खण्डित हो गया।

(१७) उस शतपथ (१०।४।२।२४) के वचनमें पङ्क्तिछन्दका निरूपण भी किया गया है। वहां 'अष्टाशत˘ शतानि पङ्क्तयोऽभवन्' (२३) ८०००० पंक्तियां बताई गई हैं। सो वादी अपने वेदोंमें इतनी पङ्क्तियां दिखलावे। वस्तुतः यह शतपथकी अपनी सम्मत त्रयीकी संख्या बताई गई है; वादीसे सम्मत वेद-पोथियोंके अक्षरोंकी नहीं। क्योंकि-ब्राह्मण भी अपनी इष्ट त्रयीका वर्णन देते हैं, सभी वेदसंहिताओंका नहीं। सो शतपथकी दृष्टिमें वादीकी चार संहिता-पोथियाँ नहीं कहीं; क्योंकि-उसके अनुसार लिखी अक्षरसंख्या वादीसे अभिमत संहिताओंकी अक्षरसंख्यासे मेल नहीं खाती। वादीकी ऋग्वेदसं. की अक्षर-संख्या ३,६७,२६५ है; पर शतपथने ऋग्वेदकी अक्षरसंख्या वादीके अनुसार ४,३२,००० लिखी है। तब शेष ३४,७३५ अक्षर 'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति'के विरुद्ध कहाँ खो गये ? यह भी वादी बतावे कि-अथर्ववेदके अक्षरोंकी संख्या शतपथने क्या बताई है ? और वादीके अथर्ववेदमें कितनी न्यूनाधिक है ? इस प्रकार वादीके ही प्रमाणसे वादीका 'उष्ट्र-

लगुड' न्यायसे खण्डन हो गया। इससे ११३१ संहिता चार वेद हैं-यह सिद्ध होता है; तब उनके चरणव्यूहादिके अनुसार जैसा कि-उसमें लिखा है-एक लाख मन्त्र होनेसे हमारे पक्षकी कोई क्षति नहीं पड़ती।

(१८) यह जो वादीने 'दयानन्द-सिद्धान्त-प्रकाश'से चोरी करके कहा है-'वेदोंका स्वर भाषिक नहीं होता; ब्राह्मणोंका भाषिक होता है' इसमें वादी 'भाषिक'का क्या अर्थ समझता है ? क्या 'लौकिक' ? यदि ऐसा है; तो यह वादीकी भूल है। स्वरप्रक्रियामें जितने स्वर बताये गये हैं; इनमें छान्दससूत्र बहुत कम हैं। शेष जो स्वर हैं; वे वेद और भाषा (लोक) दोनोंमें समान हैं। 'भाषिक' तो एक पारिभाषिक शब्द है। जबकि मन्त्रभागमें भी परस्पर भेद होते हैं। जैसे ऋसं.में 'ड'को अचोंके मध्यमें 'ळ' लिखा जाता है, पर शेष तीनों वेदोंमें नहीं। अनुस्वारको र, श, ष, स, ह सामने होनेपर यजुर्वेद तथा सामवेदमें '˘' होता है, पर ऋसं. तथा अथर्वमें नहीं। इस प्रकार इन चारों संहिताओंमें स्वरोंका भी कुछ भेद है जैसे कि-सामवेदादिमें; तब क्या भिन्न विधिवाली संहिताएँ वेद नहीं रहेंगी ?।

'भाषिक' की परिभाषा यह है कि-'छन्दोगा बह्वृचाश्चैव तथा वाजसनेयिनः। उच्चनीच-स्वरं प्राहुः स वै भाषिक उच्यते' (देखो मीमांसादर्शनका शाबरभाष्य (१२।३।१६) सो यह स्वर इन वेदोंमें भी होता है; तब इससे क्या वादी उन्हें अवेद

मान लेगा ?।

(१९) प्रलयमें वादी अपने वेदोंको नष्ट हुआ मानता है, या नहीं ? यदि मानता है; तब उसके वेद भी अनित्य सिद्ध होगये। तब 'देवस्य पश्य काव्यं न ममार' से विरोध सिद्ध होगया। यदि वादी उन्हें तब भी विद्यमान मानता है; तब सभी शाखात्मक वेद जो वादीको आजकल नहीं मिल रहे; उनकी भी सत्ता नष्ट नहीं है। प्रलयके दृष्टान्तसे वादी समझ लें। यही बात वेद स्वयं कहता है। देखो—

'देवस्य पश्य काव्यं महित्वा अद्य ममार, स ह्यः समान' (ऋ. १०।५५।५) यहां यह बताया गया है कि–देवका काव्य (अद्य ममार) आज जो मर गया-सा मालूम देता है, (स ह्यः समान) वह फिर कल जी उठेगा, प्रकट हो जावेगा, कोई ऋषि (समाधिनिष्ठ मन्त्रद्रष्टा) उसे प्रकट कर देगा। सो फिर प्रकट हो जाना शाखात्मक वेदोंकी नित्यताका प्रमाण है। इसलिए निरुक्तकारने भी ऋषिका लक्षण बताते हुए ब्राह्मणका प्रमाण लिखा है—'तद् यद् एतान् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भु अभ्यानर्षत्, तद् ऋषीणामृषित्वम्' (२।११।१) इसी विषयमें एक स्मृतिवाक्य भी श्रीसायणाचार्यकी ऋभाभू. में उद्धृत किया गया है—'युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः। लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा' सो उन शाखाओंको अन्तर्हित समझना चाहिये, नष्ट नहीं।

(२०) मन्त्र विनियोज्य होता है, ब्राह्मण विनियोजक। सो

विनियोज्यके ऋषि आदि बताये जाते हैं। कुछ समय पूर्व वादीकी अजमेरी अथर्वसं.के ऋषि-देवता आदि नहीं थे; वे अब छपाये गये हैं; तब क्या उस समय वादीकी अथर्ववेदसं. वेद नहीं थी ? विनियोजकका ऋषि-देवता स्वयं परमात्मा होता है; अतः उसके लिए घन, माला आदि रखनेकी आवश्यकता नहीं होती। घन, माला आदि तो सभी शाखाओंके होते हैं; तब वादी सभी शाखाओंको भी वेद मान लें। इन भेदोंसे 'ब्राह्मण' भले ही 'मन्त्र' न हो; यह तो हम भी मानते हैं; पर इससे दोनोंके वेदत्वमें क्षति नहीं आती। मन्त्र-ब्राह्मण दोनों एक-दूसरेसे पृथक् ही हैं, तथा पृथक् लक्षण वाले हैं; यह दोनों ही भाग हैं; पर वेद दोनों ही हैं। श्रीपतञ्जलिने उपनिषदोंको वेदोंसे पृथक् कहीं नहीं माना। 'रहस्य'का अर्थ 'उपनिषद्' नहीं है, यदि हो भी सही; तो वहाँ 'गोबलीवर्द'-न्यायसे पृथक् ग्रहण सम्भव है, वस्तुतः उपनिषद् भी वेद हैं। ब्राह्मण यहां वेदोंसे पृथक् नहीं आये, तब वादीके अनुसार वे भी वेदान्तर्गत होनेसे वेद सिद्ध हो ही गये; इसलिए महाभाष्यकारने 'पयोव्रतो ब्राह्मणः' इस ब्राह्मणके-स्वा.द.जीके अनुसार शतपथके-वचनको वेदका वचन माना है।

(२१) 'पश्य देवस्य काव्यं'में 'काव्य'का अर्थ कोई 'पोथी' नहीं है, क्योंकि–पोथियां तो वेदकी भी जीर्ण हो ही जाया करती हैं; और नष्ट वा लुप्त भी। प्रलयमें तो लुप्त हो ही जाती हैं। 'काव्य'का अर्थ 'सामर्थ्य' भी देखा जाता है; इसमें देखो

सायणभाष्यकी साक्षी भी (ऋ. १०।५५।५)। सो अथर्व.के उक्त मन्त्रमें भी 'काव्य'का अर्थ 'सामर्थ्य' ही लेना चाहिये। अब सङ्गत अर्थ यह हुआ कि-देव (परमात्मा) की सामर्थ्य न कभी नष्ट होती है, और न पुरानी पड़ती है; वह सदा बनी ही रहती है। तब लुप्त वेदकी शाखाओंको वेदत्वसे गिरानेकेलिए किया गया वादीका अर्थ गलत सिद्ध हुआ। क्योंकि-तब वर्तमान वेदकी शाखाएं जो वादीके मतमें भी अब जीवित वा वर्तमान हैं; उनको वह वेदत्वसे न रोक सकेगा।

वादीसे प्रष्टव्य है कि-तुम वेदके अक्षरोंको ही यदि वेद मानो; तो बताओ कि-वेदके अक्षर निराकार होते हैं, वा साकार ? यदि निराकार; तो निराकार वस्तु तो सदा ही रहेगी। इस प्रकार शाखात्मक वेद भी निराकार रूपमें सदा ही रहेगा, चाहे वह लोकदृष्टिमें न भी दीख रहा हो। नहीं तो तुम्हें न दीख रहे हुए परमात्माको भी तुम्हें न मानना पड़ेगा। उसका भी मर जाना समझकर तुम सीधा नास्तिकताका सर्टिफिकेट ले लो। अथवा यदि तुम निराकार भी अक्षरको व्यवहारार्थ साकार बना लो; और उसके द्वारा निराकारका ज्ञान प्राप्त करने-की चेष्टा करो; तब तुम उस निराकारको साकार बनाकर उसकी उपासना करनेसे स्पष्ट मूर्तिपूजक हुए। तब अपने प्रतिकूल सिद्धान्तका अवलम्बन करनेसे तुमने अपने सम्प्रदायको भी मार दिया। नहीं तो फिर तुम लोग निराकार वेदको निरा-कार ही रहने दो; निराकारकी मूर्ति मत बनाओ। निराकार

अक्षरकी मूर्ति बनाते हुए और उसकी उपासना करते हुए तुम लोगोंने मूर्तिपूजाकी अपने सम्प्रदायमें नींव रख ही दी।

(२२) सभी शाखाओंमें 'वेद' शब्द लिखा रहता है। वादीकी मानी हुई चार वेदसंहिता भी शाकल्यसंहिता, माध्यन्दिनीसं., कौथुमीसं., शौनकीसंहिता ही होनेसे सभी शाखाएँ हैं। क्या शाखाओंसे भिन्न भी कभी शाखी कहीं मिल सकता है ? मूल तो सदा छिपा ही रहता है, कभी दीख ही नहीं सकता। दीख तो शाखा ही रही होती हैं। इस प्रकार अन्य शाखाओंमें भी 'ऋग्वेद-आश्वलायनसंहिता, यजुर्वेद-काण्व-संहिता, यजुर्वेद-माध्यन्दिनसंहिता आदि शब्द लिखे रहते थे; पर पहले यह भूल मैक्समूलरने की, और फिर स्वा.द.जीने की कि-शाखावाचक शब्द मिटा दिया। फिर तो अन्धपरम्परा चल पड़ी। 'ऋग्वेद-शाकल्यसंहिता' को केवल 'ऋग्वेदसंहिता' और 'यजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहिता' को केवल यजुर्वेदसं., 'सामवेद-कौथुमसंहिता' को केवल सामवेदसं. और 'अथर्ववेद शौनक-संहिता' को केवल 'अथर्ववेदसंहिता' लिखा जाने लगा, जिससे वर्तमान विद्वान् भी भ्रमकूपमें पड़े हुए हैं। इस समयसे पूर्व 'ऋग्वेदआश्वलायनसंहिता, यजुर्वेदकाण्वसंहिता, यजुर्वेदतैत्ति-रीयसंहिता, यजुर्वेदकाठकसंहिता, यजुर्वेदमैत्रायणीसंहिता, सामवेदजैमिनिसंहिता, अथर्ववेदपैप्पलादसंहिता, सामवेद-राणायनीसंहिता आदि लिखा जाता रहा। अब भी निर्णय-सागर आदि की वेदपुस्तकोंमें ऐसा ही लिखा रहता है। श्री-

राजारामशास्त्री, श्रीभगवद्दत्त रिसर्चस्कालर, श्रीयुधिष्ठिर मीमांसक आदि दयानन्दी विद्वान् भी ऐसा ही मानते हैं। अन्य कई दयानन्दी इस बातको छिपा लेना चाहते हैं; पर छिपा लेनेसे यह सब छिपता थोड़े ही है। यह सदाकेलिए याद रख लेना चाहिये कि-वेदपुस्तकके साथ जब 'संहिता' शब्द होगा, तब उसके साथ ऋषिविशेषका नाम भी अवश्य ही होगा। इस प्रकार अपने-अपने कुलकी विशेष संहिताएँ होती हैं; वे-वे कुल उन्हीं अपनी अभिमत चार संहिताओंको ही चार वेद मानते हैं। हां, उन अपनी चार संहिताओंमें निष्ठा बनी रहे; अतः उन्हें तो अपौरुषेय कहते हैं; और दूसरोंको पौरुषेय। यह साम्प्रदायिक दृष्टिकोण होता है; वस्तुतः सभी ११३१ संहिता ही ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद् समेत वेद एवं अपौरुषेय होती हैं। यदि अर्वाचीन दृष्टिकोण रखा जावे; तो यह वर्तमान दयानन्दियोंसे अभिमत चारों संहिता भी उन्हें पौरुषेय माननी पड़ेंगी। वस्तुतः ऋषिलोग इनके प्रवक्ता हैं, प्रणेता नहीं। समाधि-द्वारा उन्हें जिस-जिस रूपमें वे संहिताएँ मिलीं; वे उसी-उसी रूपमें पहले प्रवचन द्वारा और फिर ग्रन्थबन्धन द्वारा, लेख द्वारा सुरक्षित रख ली गईं। यही वेदरहस्य है। इसी सम्प्रदायभेदको भाष्यकारादिके अनुसार संहिता-भेद कहा जाता है।

यह दयानन्दसम्मत चार शाखाएँ कहीं नष्ट न हो जावें; इसलिए दयानन्दी लोग अपने आर्यसमाजमन्दिरोंकी चारों नीवोंमें उन्हें शीशेकी पिटारियोंमें बन्द करके रखते हैं। यदि

इन वेदसंहिताओंके जीर्ण होने वा नष्ट हो जाने का उन्हें डर न रहता; और दयानन्दिसमाजको 'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति' का यही वादीसे कहा हुआ अभिप्राय इष्ट होता; तो दयानन्दी समाज कभी इन संहिताओंकी रक्षाका इतना प्रयत्न न करता; पर वैसा प्रयत्न करनेसे स्पष्ट है कि-इस मन्त्रका यही सही अर्थ है, जिसे हम कर चुके हैं, 'काव्यम्-सामर्थ्यम्'।

पाकिस्तानमें मुलतानमें गुरुकुलकी सारी लायब्रेरी, आर्यसमाज मन्दिर बोहड़ दरवाजेकी सारी वैदिक लायब्रेरी, गुरुदत्तभवन लाहौरकी सारी बढ़िया वैदिक लायब्रेरी, इस प्रकार अन्य दयानन्दी वैदिक लायब्रेरियां भी-जिनमें आर्यसमाजाभिमत चारों वेद भी थे, जल गईं, वा नष्ट होगईं। यदि वादीका उक्त मन्त्रका अर्थ सही होता; तब पाकिस्तानकाण्डमें वादीके वेद भी क्यों जल जाते? इसलिए शाखाओंके अवेदत्वका वादी द्वारा किया हुआ आक्षेप उसके साम्प्रदायिक वातावरणसे कलुषित दृष्टिकोण एवं अज्ञानके कारण है। यह वादीकी चार वेदसंहिताएँ भी शाकली, माध्यन्दिनी, कौथुमी, शौनकी शाखाएँ हैं। वादीने 'देव'स्यका अर्थ 'परमात्मा' कैसे कर लिया? 'विद्वाँ सो हि देवाः' के अनुसार 'विद्वान्' अर्थ क्यों नहीं किया?

(२३) वादीका यह कहना गलत है कि-महाभाष्यकारने काठक आदिको वेदसे पृथक् कहा है। इसपर 'आलोक' (४) पृ. १५१-१६०, 'आलोक' (८) पृ. १०६-११५ द्रष्टव्य है। महाभाष्यने वेदके नामसे कई उद्धरण दिये हैं। देखो-'अस्त्यप्रयुक्तः'

(वा.)में 'यद् वो रेवती रेवत्यां तमूष' वेदवचन; पर यह वादीकी चारों वेद-संहिताओंमें नहीं है। अंशतः यह कृ.य. काठकसं. (३१।७) में मिलता है। यदि भाष्यकार कृ.य. काठकसं. को वेद न मानते; तो वेदके उद्धरणमें काठक सं. का उद्धरण क्यों देते?

(ख) 'ऋषिः (वेदः) पठति-शृणोत ग्रावाणः' (३।१।७) महाभाष्यने यह वेदका वचन दिया है, पर यह वचन वादीकी चारों वेद-संहिताओंमें नहीं; यह कृ.य. तैत्तिरीयसं.का है। भाष्यकारने 'आम्नाय' (वेद)का वचन दिया है-'श्मशाने नाध्येयम्', चतुष्पथे नाध्येयम्' (५।२।५६) इसे वादी अपने वेदमें दिखलाए। यदि न दिखला सका; तब उसे वेदकी सीमा इन चार वेद-पोथियोंसे अधिककी माननी पड़ेगी।

(२४) 'अष्टाध्यायी' (४।२।६६)में ब्राह्मणोंको वेदसे पृथक् कहा है; इस अपने कथनपर वादी प्रत्युत्तर 'आलोक' (६) पृ. ४६-५० में देखे। श्रीपाणिनिने 'तनादिकृञ्भ्य उः' (३।१।७६)में कृञ् को तनादिसे भिन्न लिखा है; तब क्या 'कृञ्' धातु तनादि नहीं रहेगी? 'छन्दो-ब्राह्मण'को गो-बलीवर्द न्यायसे पृथक् रखा गया है। क्या वादी 'गो'को 'बैल' मानकर उससे पृथक् कहे गये 'बलीवर्द'को बैल नहीं मानेगा?

(२५) जब परमात्मा ही स्वयं वेदका शब्द (मन्त्र) लिखे, वही स्वयं वेदका अर्थ (ब्राह्मण) लिखे; तब क्या वह वेद नहीं रहेगा? इससे तो फिर स्वा.द.जीकी ऋभाभू. मूल, परन्तु उसका अर्थ ऋभाभू. ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका नहीं रहेगी। फिर तो स्वा.द.जीका 'सत्यार्थप्रकाश' जिसे वह संस्कृतमें बोलते गये, उसका अर्थ वर्तमान सत्यार्थ प्र. भी सत्यार्थप्रकाश न रहेगा। वह आर्यसमाजका वेद स्वा.द.जीका संस्कृतका शब्दात्मक मूल सत्यार्थप्रकाश मर गया; उसका अर्थ ही आर्यसमाजके पास है। यदि वादी परमात्माके ही लिखे शब्दके, परमात्माके ही लिखे अर्थको वेद नहीं मानते; तब वे वर्तमान स.प्र.को भी मूलका अर्थ होनेसे मूल स.प्र. मत माने। उसे पौराणिक मत मान लें।

फिर तो जो कि वेदमें ही मन्त्रोंका अनुवाद किया है, जैसे कि-'आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन्' (ऋ. १०।९८।५) इसी मन्त्रका अनुवाद दूसरा मन्त्र है—'यद् देवापिः शन्तनवे पुरोहितः' (ऋ. १०।९८।७) इसी प्रकार 'परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णो' (ऋ. ७।४।७) का अनुवाद 'नहि ग्रभायारणः (७।४।८) इस मन्त्रको भी वादी वेद मत माने। इस प्रकारके वेदके बीसों प्रमाण दिखलाये जा सकते हैं।

(२६) जैमिनिका जो वादीने ऋक्, यजुः, सामका लक्षण दिखलाया है; वह वेदकी पोथियोंका नहीं है, किन्तु मन्त्रविशेषोंका लक्षण है; नहीं तो इसमें अथर्वन्का लक्षण न होनेसे अथर्ववेद वेद नहीं रहेगा। इसपर 'आलोक' (६) पृ. १५१-१५२ देखना चाहिये।

(२७) यदि कात्यायनसूत्रके परिशिष्ट वचन होनेसे 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इसे कात्यायनका वचन न माना जावे, तो स्वा.द.जी ऋभा.भू. (पृ. २३५) में 'मृतश्चाहं पुनर्जातः' निरुक्तके इस परिशिष्टके वचनको (देखो अजमेरी निरुक्तका पृ. २२३-

२२४) निरुक्तकारके नामसे देते हैं। आर्यसमाजी 'तर्कमृषिं प्रायच्छन्' इस निरुक्तके परिशिष्टवचनको (देखो अजमेरीनिरुक्त-का पृष्ठ २१७) निरुक्तकारके नामसे देते हैं। स्वा.द.जीने भी ऋभा.भू. पृ. ८८ में ऐसा ही माना है, फिर वादी उनका भी खण्डन करे। आज भी ग्रन्थकार अपने ग्रन्थमें परिशिष्ट रखते हैं; वह भिन्नकर्तृक नहीं हो जाता।

श्रीयास्कने ऋग्वेदपरिशिष्टके मन्त्रोंको अपने निरुक्तमें 'ऋचः' कहा है, जिसे हम पहले 'भद्रं वद दक्षिणतः' आदिके उद्धरणसे लिख चुके हैं। तब तो वादी निरुक्तकारका भी खण्डन करे। स्वा.द.जीने ऋभा.भू.में इसे कात्यायनका वचन माना है। कात्यायनसे भिन्न अन्य ऋषि-मुनियोंका भी यही सिद्धान्त रहा है-'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'। देखो इसपर पारस्करगृह्यसूत्र-'विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः' (२।६।५) इसमें विधि (ब्राह्मण), तर्क (अर्थवादात्मक ब्राह्मण) तथा विधेय (मन्त्रभाग) को वेद माना है। इस विषयमें अधिक 'आलोक' (६) (पृ. १०५-११६)में देखो। स्वा.द.जी भी पहले इसी मत के थे। इसपर 'आलोक' (६) पृ. ५५०-५६६ देखो।

शेष रहा महाभारतके दश सहस्र श्लोकोंके एक लाख श्लोक बन जाना-यह वादीकी बात निष्प्रमाण है। महाभारतमें स्पष्ट उसकी एकलक्षताका प्रमाण है। इस विषयमें 'आलोक' (४) पृ. २३१-२३४ देखो। 'हनुमान् चालीसा' आदिको स्वा. करपात्रीजीने अपनी किस पुस्तकमें वेद कहा है-यह वादी

लिखे ? स्वा. कर.जीने तो लिखा है—'सनातनी तो तुलसीकृत रामायण, हनुमान् चालीसा तकको वेदानुकूल मानते हैं' (सिद्धान्त १६।६-१०, स्तम्भ १ पृ. २४८ पं. १८-१९) उन्होंने उन्हें वेदानुकूल तो लिखा है, वेद नहीं। मालूम होता है कि-वादीने यह गलत बात 'वेदसंज्ञाविमर्श'से लिखी है, वह आर्यसमाजी पुस्तक है। इस प्रकार वादीका वेद-विषयक मत खण्डित होगया।

आलोचना

(१४) अवतारवादपर आलोचना।

'अवतार-रहस्य' की आलोचना हम 'आलोक' (७) के पृ. १७६-२१५ में तथा अन्यत्र भी यत्र-तत्र (पृ. ३६३-४२५) कर चुके थे। उसमें वादीने २७ प्रश्न भी किये थे; वादी उनमें कुछ महत्त्व समझता है। उसपर हम यहां लिख रहे हैं। बहुत बार प्रेरणापर भी वादीने उन वचनोंके पते नहीं भेजे। उसकी अन्य बातोंपर भी हम यहां लिखेंगे। वादीके प्रश्नोंको हम ब्रैकेटमें लिखेंगे; आगे हमारा उत्तर होगा।

१. प्रश्न (शिवजीने राधा व पार्वतीने कृष्णावतार धारण किया (महाभाग.) इसका प्रत्युत्तर 'आलोक' (७) पृ. १६६-१६८ में हमने दिया है।

२ (श्रीकृष्ण पूर्वजन्मके नारायण-ऋषि महान् तपस्वी थे, उनका पेशा युद्ध करना था; महाभा. उद्यो. ४६।२१) इसका प्रत्युत्तर 'आलोक' (७) पृ. ३०२-३०३ में तथा अन्यत्र देखो।

उक्त वचनमें इनको 'पूर्वदेव' (पहले मुख्यदेव विष्णुदेवता) माना गया है। विष्णुपुराणमें जो यह स्पष्ट है। पापको नष्ट करानेकेलिए वे युद्ध कराते थे।

३ (विष्णु अन्य शक्तिके पराधीन होकर अपने कर्मके फल भुगतनेको अवतार लेता है-देवीभागवत)। वादीका समाज भी भगवान्‌को सर्वशक्तिमान् मानता है। सो वह भगवान् जब अपनी शक्तिसे कोई भारी काम करता है, तो भगवान् भी वादीके अनुसार शक्तिके अधीन हुए, या नहीं? वही शक्ति दिव्य होनेसे उपाधिभेदवश 'देवी' कही जाती है; और स्त्रीलिङ्गान्त होनेसे वह स्त्रीरूपमें वर्णित होती है। उसी शक्तिका अर्थवाद 'देवीभागवत' है। शक्ति तथा शक्तिमान्‌में वास्तविक भेद नहीं होता। जैसे कि शक्तिने स्वयं कहा है—

'निर्गुणा दुर्गमा शक्तिः, निर्गुणश्च ततः पुमान्। ज्ञानगम्यौ मुनीनां तु भावनीयौ पुनः पुनः। अनादिनिधनौ विद्धि सदा प्रकृतिपूरुषौ' (देवी. ३।७।१०-११)। या शक्तिः परमात्माऽसौ योऽसौ (परमात्मा) सा परमा (शक्तिः) मता (१२) देवीने स्वयं अपना अभेद कहा है—

'सदैकत्वं, न भेदोऽस्ति सर्वदैव ममाऽस्य च। योऽसौ साऽहमहं योऽसौ भेदोऽस्ति मतिविभ्रमात्' (३।६।१) इससे भगवान् विष्णु या महादेव इनका तथा इनकी शक्तिका परस्परभेद मतिभ्रमसे माना गया है। 'ब्रह्माऽहं विष्णुरुद्रौ च' (७।३३।१३) यह भी देवीका वचन है।

भेदस्वरूपमें वादी 'तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि' (ऋ. ३।६२।१०) में सविता (प्रेरक देव)का ध्यान न करके वह भी प्रेरक देवके भर्ग (शक्ति) का ध्यान किया करता है। भेदरूपमें तो यह भी कहा जा सकता है कि-भगवान् भी शक्तिके बिना 'निहत्थे' हैं। भेदपक्षमें आप लोग भी 'भद्रकाल्यै नमः' (संस्का. बलिवैश्व.में) भगवान्‌की शक्ति 'भद्रकाली'को नमस्कार किया ही करते हैं। स्वा.द.जीने अपनी 'पञ्चमहायज्ञविधि' तथा ऋभाभू. (बलिवैश्व. पृ. ३०८)में इसका 'परमात्माकी शक्ति' ही अर्थ किया है। सो यह औपाधिक ही भेद हुआ करते हैं; वास्तविक नहीं। पर औपाधिकता बतानेकेलिए कभी भेदरूपसे भी कह दिया जाता है कि-शक्तिके बिना 'शिव' 'शव' हैं—

'शिवोपि शवतां याति कुण्डलिन्या (शक्त्या) विवर्जितः। शक्तिहीनस्तु यः कश्चिद् असमर्थो मतो बुधैः' (देवी. ११८।३१) इसलिए शक्तिके बिना विष्णुकी भी निन्दा कर दी जाती है। यही लक्ष्य करके श्रीविष्णुने भी कहा था-'तस्मान्नाहं स्वतन्त्रोस्मि शक्त्यधीनोस्मि सर्वथा' (दे. १।४।६१)।

यही वेदमें वाक्रूपा आदिशक्ति कहती है-'यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि, तं ब्रह्माणं, तमृषिं, तं सुमेधाम्' (ऋ. १०।१२५।५) (जिसे मैं चाहूँ-ब्रह्मा बनाऊँ, वा ऋषि बनाऊँ) 'अहं रुद्राय धनुरातनोमि' (६) (मैं रुद्रको भी धनुष देती हूँ। 'अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्, मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे' (७) इत्यादि। वही शक्ति केनोपनिषद्की हैमवती उमा (३।१२) है, जिसके

कारण देवताओंने विजय प्राप्त की थी।

४ (अवतार विष्णुके व्यभिचारादिमें लगे शापोंके कारण दुःख उठानेको जन्म लेने पड़े थे-(शिवपु.) इसका प्रत्युत्तर 'आलोक' (७) २५३-२५८)में देखो। शाप आदि गौण कारण केवल निमित्त होते हैं। मुख्य कारण तो धर्मरक्षा, वा देवकार्य, एवं भक्तोद्धार-'यत् त्वा भीते रोदसी अह्वयेताम्। प्रावो देवान् आतिरो दासमोजः प्रजायै त्वस्यै यदशिक्ष इन्द्र!' (ऋ. १०।५४।१) तथा आर्त हुई पृथ्वीकी प्रार्थनासे पृथिवीसे पाप तथा पापियोंका भार उतार कर देवगण-रक्षा, प्रजाको बल देना आदि होता है। इसी वेदमन्त्रको आधारित करके वेदोंके विस्तीर्ण भाष्य पुराणने भी कहा है—

'एवं युगे-युगे विष्णुरवतारान् अनेकशः। करोति धर्मरक्षार्थं' (देवी. ४।२।२७) 'यदुवंशे समुत्पत्तिर्विष्णोरतुलतेजसः।...क्षितिभार-समुत्तारनिमित्तमिति मे मतिः' (४।२०।२-३) 'यथा दिव्यतनुर्विष्णुः मानुषेष्विह जायते।...कर्तुं धर्मव्यवस्थां च जायते मानुषेष्विह' (पद्म.सृष्टि. १३।२४६-२४७)। इसी प्रकार 'भक्तोद्धार-परायणः' (शिव.रुद्रसं.सृष्टि. ४।४०-४१) 'देवकार्यार्थमीश्वरः' (युद्धखं. ४०।२१) इत्यादि बहुत स्थलोंमें भक्तोंके उद्धारार्थ वा देवोंके लाभकेलिए अवतार लेना कहा है, व्यभिचारकेलिए नहीं। यह तो वादीकी बुद्धि ही व्यभिचारिणी है कि-कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं शक्त भगवान्पर ही दोष लगानेका साहस करती है।

पद्मपुराणमें ब्रह्माजीने श्रीविष्णुको कहा था कि-तुम्हें भला

शाप कौन दे सकता है? यह कार्य तुम स्वयं लोकोंकी हित-कामनासे कई निमित्त बनाकर करते हो-'दश जन्म मनुष्येषु लोकानां हितकाम्यया। स्वयं कर्ता [भवान्] न ते शक्तः शापदानाय कोपि वा। कोऽयं भृगुः, कथं तेन शक्यं शप्तुं जनार्दन! (भृगु भला क्या वस्तु है, और वह तुम्हें हे विष्णु! भला शाप ही क्या दे सकता है? (सृष्टि. ४।१०७-१०८)। 'महर्षीणां भृगुरहं' (गी. १०।२५) यहाँ भगवान्को ही भृगु कहा गया है, सो वह भगवान् स्वयं लोकोपकारार्थ कोई निमित्त बना रहे थे। उनकी निजी कामना कोई भी नहीं थी।

'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा' (४।१६) 'कर्मण्यभि-प्रवृत्तोपि नैव किञ्चित् करोति सः' (४।२०). शारीरं केवलं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्विषम्' (४।२०) 'न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय!' (९।९) 'शुद्धमपापविद्धम्' (यजुः ४०।८) वह पापसे कभी विद्ध नहीं होता, इसलिए शुद्ध है) 'अनश्नन् अन्यो अभिचाकशीति' (ऋ.१।१६४।२०) (कर्म करता हुआ भी वह उसका फल नहीं भोगता) 'कुर्वन्नपि न लिप्यते' (गीता ५।७) 'हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते' (१८।१७) 'कृत्वापि न निबध्यते' (४।२२), 'सदा देवा अरेपसः' (पापफलरहिताः) (सामवेदसं. ऐन्द्रपर्व ४।१०।६); 'तद् इन्द्रो अमुच्यत, देवो हि सः' (शत. १।२।१।२) इत्यादि गीताके, तथा 'अहं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः। अहं प्रजा अजनयं पृथिव्याम् अहं जनिभ्यो अपरीषु पुत्रान्' (ऋ. १०।१८३।

३) एतदादिक वेदमन्त्रोंका मनन यदि वादी किया करे, तो उसे व्यभिचारके स्वप्नदोष कभी न हों। इस विषयमें वेद-पुराणादिके इतने प्रमाण दिये जा सकते हैं कि-इस कुतर्कीका सिर ही चक्कर खा जाय, और मूक हो जाय। हमने दिङ्मात्र यह वचन दिये हैं। वादी पुराणपारायणके समय इन-जैसे बहुत वचनोंको जन-दृष्टिसे छिपाकर लोकवञ्चन करता है।

५ (क) (विष्णु व्यभिचारकी भावना पूरी करनेको बार-बार जन्म लेते हैं (शिव.धर्मसं.) इसपर 'आलोक' (६) पृ. ५७०-५८३ देखो। शिवकी स्तुति करनेवाला पुराण होनेसे शिवपु. धर्मसं.में शिवकी महत्ता तथा अन्य देवकी निन्दारूपमें गौणता बताई जा सकती है, यह सब देवोंके पुराणोंमें स्वाभाविक है। वहां निन्दार्थवादमें 'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, किन्तु निन्दिताद् इतरं प्रशंसितुम्' यह मीमांसाप्रोक्त न्याय चरितार्थ किया जाता है। इसका आदर्श उसी धर्मसंहिताके वचनमें ही देखिये —

'बालस्तु गोपकन्याभिर्वने क्रीडां चकार सः। दशलक्षाणि पुत्राणां गोपालानां ससर्ज ह' इसमें पहले तो बच्चे श्रीकृष्णकी गोपबालाओंसे क्रीड़ा बताई गई है। यह तो कुछ बुराईकी बात नहीं। छोटे बच्चे-बच्चियां आपसमें खेलते ही हैं। आगे जो दश लक्ष गोप-पुत्रोंका श्रीकृष्ण द्वारा सर्जन (सृष्टि कर देना) बताया है, यह वचन पूर्वार्धसे स्वतन्त्र है। यह सर्जन (निर्माण) ब्रह्मको सीधा करनेकेलिए था, जिसने परीक्षार्थ ग्वाल-बालोंको

हर लिया था। इस अभिनयमें भगवान्ने ब्रह्माको सूचित किया था कि-तुम इस अभिमानमें न रहो कि-मैं ही सृष्टिसर्जक हूँ, पर मैंने तुम द्वारा गोपोंको छिपानेपर भी फिर उनका सर्जन (सृष्टि) कर दिया है। इसी बातको निन्दार्थवादकेलिए उक्त पद्यरूपमें संघटित कर दिया गया। गोपबालाएं वा गोपाल आदि भी पुराणानुसार श्रीकृष्णके ही अंश होनेसे उसकी अपनी ही शक्तियां थे; कुछ भिन्न नहीं, यह पुराणमें स्थान-स्थान स्पष्ट है। वादी वैदिक-भगवान्का यह वचन सदाकेलिए याद रखे कि-'अहं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः। अहं प्रजा अजनयं पृथिव्याम् अहं जनिभ्यो अपरीषु पुत्रान्' (ऋ. १०।१८३।३) इसी मन्त्रका अनुवाद वह धर्मसंहितामें भी समझ ले; तब वैदिक एवं पौराणिक भगवान्में अभेदवश व्यभिचारकी आशङ्का ही व्यभिचारिणी सिद्ध होगई।

रुक्मिणी आदि ८ रानियोंसे श्रीकृष्णके क्षत्रियवर्णके उपयुक्त विवाह हुए थे; फिर १६१०० स्त्रियोंसे भी श्रीकृष्णके उतने ही रूपोंमें विवाह हुए। राधा तो उनकी अपनी नित्यशक्ति थी, यह ब्रह्मवैवर्त आदिमें स्पष्ट है। यह सब भगवान्की स्वकीया थीं; इसपर 'आलोक' (६) देखो; तब 'तथापि पर-नारीणां लम्पटो नित्यमेव हि' यह कहना निन्दार्थवाद सिद्ध हुआ। उसका तात्पर्यमात्र लिया जाता है। 'पर-नारीणां'का 'श्रेष्ठ नारियां' अर्थ है। 'पर' 'श्रेष्ठ' प्रसिद्ध है। जैसे कि-परमात्माको 'परात्मा' भी कहा जाता है। भगवान्की श्रेष्ठ शक्तियोंको 'परा-शक्ति' कहा

जाता है—'पराऽस्य शक्तिर्विविधा च श्रूयते' (श्वेता. ६।८) यहां भगवान्‌की बहुत-सी परा-शक्तियाँ बताई गई हैं। उन परा-शक्तियोंसे युक्त होनेका भाव ही 'परनारीलम्पट' कहा जाता है। सो इसी वास्तविकताके होनेपर भी अथवादवश इस रूपमें भक्त द्वारा उपालम्भरूपसे निन्दा भी कर दी जाती है। वस्तुतः तो वहाँ स्तुति ही लक्ष्य होती है। इसीको व्याजनिन्दा वा व्याजस्तुति अलङ्कार वा 'भक्तका अद्भुत उपालम्भ' कह दिया जाता है।

'शिशुपालवध'में शिशुपालकी श्रीकृष्णको दी हुई गालियोंमें भी कविने स्तुतिका अर्थ भी अन्तर्निहित रखा है। उसे वल्लभ-देवकी टीकामें स्पष्ट किया गया है। जैसे कि—'सर्वगुणविरहितस्य हरेः परिपूजया कुरु-नरेन्द्र! को गुणः' यहाँपर ऊपरसे निन्दा झलकती है कि—'यह श्रीकृष्ण सब गुणोंसे शून्य है, इसकी पूजासे हे युधिष्ठिर! क्या लाभ है? पर 'निर्गुणो हि पुरुषः' यह सिद्धान्त होनेसे 'निर्गुण ब्रह्मकी पूजा नहीं हो सकती—यह विवक्षित होनेसे, वस्तुतः यहां श्रीकृष्णकी ब्रह्मता इष्ट होनेसे स्तुति है। इस प्रकारके वहां ३४ श्लोक हैं, यहांपर भी वैसे ही समझना चाहिये।

'नलचम्पू'में राजा भीमकी स्त्रीने लड़की होनेका वर देने-वाले एक तापसकी व्याजसे निन्दा की है—'कृत कुटीक कुशास्त्र-ग्राहिन्! धीवर!' इत्यादि वाक्य द्वारा बाहरसे तो यही अर्थ झलकता है कि—तुम कुत्सित (खराब) टीकाओं वाले कुत्सित शास्त्रोंको ग्रहण करने वाले हो, और मलाह (नाव चलाने वाले) हो', परन्तु भीतरी रहस्य यह है कि-तुम कृत-कु-टीक, तुम (कु) पृथिवीमें भ्रमण (टीक गतौ) करने वाले हो; और कुशा तुम्हारे अस्त्र हैं, ब्राह्मण हो, धीवर, धी (बुद्धि) में वर श्रेष्ठ हो—इत्यादि। यह स्तुति अन्तर्निगूढ है। पर यह तत्त्व-रत्न अन्तः प्रवेश करने वाले गवेषकको मिलते हैं; क्योंकि—वे भीतरी स्तरमें होते हैं; बाहर ही बाहर तैरने वालेको न तो उस समुद्रकी गम्भीरता ही ज्ञात होती है; और न रत्न ही उसे मिलते हैं। तब ऐसे लोग 'अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते' गम्भीरता न जान सकनेसे अपनेसे अप्राप्य वस्तुकी निन्दा करते रहते हैं।

अन्य भी यहां एक रहस्य है। वेद में कहा है—'विष्णुर्यो-निं कल्पयतु, त्वष्टा रूपाणि पिंशतु। आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते' (ऋ. १०।१८४।१) यहां विष्णुदेवको स्त्रीका गर्भ-स्थापन करने वाला तथा प्रजापतिरूपसे शुक्रसेचक और धाता-रूपसे गर्भधारक कहा है। इसी प्रकारका 'अहं विश्वेषु भुवने-ष्वन्तः [गर्भं धारयामि], अहं प्रजा अजनयं पृथिव्याम्, अहं जनिभ्यो अपरीषु पुत्रान्' (ऋ. १०।१८३।३) यह वेदमन्त्र हम पहले भी दे चुके हैं। इसीके अनुवादमें पुराणमें भी यह जगत् भरकी स्त्रियोंका विष्णु द्वारा कार्य होनेसे उस श्रीकृष्णको 'तथापि परनारीणां लम्पटो नित्यमेव हि' इस अर्थवादरूपसे कह दिया जाता है। इसमें श्रीकृष्णका भगवत्त्व तथा विष्णु-देवत्व होना व्यङ्ग्य है। पर अल्पश्रुत, साहित्यकलाविहीन 'साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः' के उदाहरण इस आक्षेपको

निन्दाके सिवाय क्या सूझे? इसने तो जनवञ्चन करके अपने पैसे खड़े करने हैं, अथवा अपने भ्रान्त समाजके गलत प्रचारको अनभिज्ञ समाजमें जहां-तहां पहुँचाना ही है। वास्तविक तात्पर्य रत्नको पानेकी इसने कोशिश कहां करनी है?

५ (ख) वादीने 'शिवोपि पर्वते नित्यं कामिनीपाश-संयुतः' यह पद्य देवीभा. (१।११) के नामसे लिखा है, पर यह उक्त स्थलमें नहीं है. तभी तो उसने श्लोकसंख्या नहीं लिखी। 'एष स्त्री लम्पटो देवो' (मत्स्य. १५४।३१) यह वादीसे दिया हुआ वचन पार्वतीके क्रोधवश कहनेके कारण है। जैसे कि-'उवाच क्रोधरक्ताक्षी भ्रुकुटीकुटिलानना' (१५४।३) उसे 'काली' कहनेके कारण क्रोधावेश आ गया था (२०) क्रोधके आवेशमें आकर पुरुष वा स्त्री क्या गाली नहीं देते? देखो क्रोधके आवेशमें आये हुए स्वा.द.जीने भागवतादि-पुराणकारको स.प्र में कितनी गालियां दी हैं। उन्हें 'कसाई' तक कहा है। उनका गर्भमें ही मर जाना मांगा है। सो क्रोधावेशमें आये हुएका गाली देना कुछ भी महत्त्व नहीं रखता, उल्टा उस क्रोधीकी ही इसमें नासमझी समझी जाती है। वहां 'परस्त्री-लम्पटो' न कहकर 'स्त्री-लम्पटः' कहा है। वहां पार्वतीका यह भाव भी नहीं था कि-यह महादेव स्त्री-लम्पट हैं, क्योंकि उसके अतिरिक्त तो मत्स्यपुराणके उक्त स्थलमें कोई स्त्री महादेवकी बताई नहीं गई है। सो पार्वतीका भाव यह था कि-'एष स्त्री-लम्पटो देवो यातायां मय्यनन्तरम्' (३१) अर्थात् मेरे तपस्यार्थ जानेपर यह

देव कहीं स्त्री-लम्पट न हो जावें; इसकारण ऐ बच्चे वीरक! तुम ध्यान रखना कि-कोई स्त्री यहां न आने पावे-'द्वाररक्षा त्वया कार्या...यथा न कापि प्रविशेद् योषिद् अत्र हरान्तिकम्' (३२) दृष्ट्वा वरस्त्रियं चात्र वदेथा मम पुत्रक!' (३३) (कोई सुन्दर स्त्री हरके पास आवे; तो मुझे इतला देना)

इससे हरके पास किसी अन्य स्त्रीका होना मत्स्य.के उस प्रकरणमें सूचित नहीं होता, हाँ, एक दैत्य आडी स्त्रीका रूप बनाकर वीरकसे छिपकर आया था। सो भी शङ्करने उसे जानकर उसके अपराधी अङ्गको 'मेढ्रे वज्रास्त्रमादाय दानवं तम-शातयत्' (१५५।३७) वज्रसे काट डाला-'तं दानवं वज्रास्त्रम् आदाय मेढ्रे अशातयत्' पहले समयमें जिसका अपराधी जो अङ्ग होता था, उसे काट डाला जाता था। जैसे कि शङ्ख-लिखितके इतिहासमें हाथसे चोरी करनेके कारण राजाने मुनिके हाथको कटवा डाला था। सो यहाँ भी दैत्य जिस अङ्गसे अपराध करने आया था, उस मेढ्र अङ्ग (उपस्थ) को वज्रसे काट डाला गया। इससे हरकी वादीसे अभिमत स्त्री-लम्पटता प्रकाशित नहीं होती। यदि हर सचमुच ही स्त्री-लम्पट होते; तो उस सुन्दर-स्त्रीको पार्वतीकी अनुपस्थितिमें विलासार्थ अपने यहाँ छिपाकर रख लेते; क्योंकि-'ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः' पर यह तो 'वेधा द्वेधा भ्रमं चक्रे कान्तासु कनकेषु च। तासु तेष्वप्यनासक्तः साक्षाद् भर्गो नराकृतिः' नराकृति भी नहीं, किन्तु साक्षात् भर्ग 'हरः स्मरहरो भर्गः' (अमरकोष १।१।३३)

(भृज्यन्ते कामादयोऽनेन-इति भर्गः, भृजी भर्जने न्यङ्क्वादित्वात् कुत्वम्) ही थे; तब पर-स्त्रियोंमें कभी आसक्त न होने वाले महादेवको परस्त्री-लम्पट कहने वाली वादीकी अपराधी जीभको दण्डित करके यहाँ हमने काट डाला है-यह 'आलोक' के पाठकोंने अनुभव किया होगा। अब वादी अपनी जीभके कट जानेसे मूक हो जावेगा-आशा है 'आलोक' पाठक इस कौतुकको स्वयं देख लेंगे। तब वादीका आक्षेप खण्डित हो गया। दूसरे पुराणकी बातका अन्य पुराणके वचनमें वादीको सङ्कर नहीं करना चाहिये।

६ (अवतार लोक-कल्याण, अधर्मके नाश व धर्मस्थापनार्थ होते हैं (गीता) यह वादीसे आक्षिप्त वचन ठीक है। जैसा कि कहा है-'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणम्' (श्रीमद्भा. ५।१९।५), पर यह स्मरण रखना चाहिये कि-अवतारके दिव्यादिव्य होनेसे उसके लोकोत्तर चरित्र ग्राह्य नहीं होते। हां, लौकिक सुचरित्र ग्राह्य होते हैं, यह श्रीमद्भा. (१०।३३।३१-३२)में स्पष्ट कर दिया गया है। श्रीकृष्णके भगवान् होनेमें विष्णुपुराणका यह वचन मननीय है-'तद्भर्तृषु तथा तासु सर्वभूतेषु चेश्वरः। आत्मस्वरूपरूपोऽसौ व्यापी वायुरिव स्थितः (५।१३।६१) तथा समस्तभूतेषु नभोऽग्निः पृथिवी जलम्। वायुश्चासौ तथैवासौ व्याप्य सर्वमवस्थितः' (६२) यथावद् वीर्यमालोक्य न त्वां मन्यामहे नरम्' (५।१३।५) 'बालत्वं क्वातिवीर्यत्वं' (७)। जब पुराणसे वादी दोष दिखलाता है, तब उसे पुराणके उन पद्योंको-जिनसे उन

दोषोंका समाधान हो जाता है-छिपाना नहीं चाहिये।

(८) (गोपियोंकी योनिके काम-कीटोंके मारनेका श्रीकृष्णका पेशा है) यह वादीने 'आलोक' (६) का कथन लिखा है। पर यह इस झूठे दयानन्दीका सफेद झूठ है। ऐसा वहां कहीं नहीं लिखा। वहां तो एक संयमीका दृष्टान्त दिया गया है। दृष्टान्तमें एकदेश ही लिया जाता है। सो वहां तो 'अभ्युपगमवाद' से वादीके पक्षको कुछ समयकेलिए मानकर भी उक्त दृष्टान्तसे श्रीकृष्णका संयम दिखलाया गया है। यही श्रीमद्भा. में लिखा है-'यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शेकुः' (भाग. १।११।३६) 'आत्मन्यवरुद्धसौरतः' (१०।३३।२६); पर वादी असत्य व्यवहार करता हुआ आसुरभाव को प्राप्त हुआ हुआ है। देखो 'आलोक' (६) पृ. ५७९।

९ (कुब्जासे संयोग करके श्रीकृष्णजीने उसकी कमर सीधी की (निष्कलङ्क कृष्ण) वहाँ (कुब्जाकी-कुब्जाका दूरीभाव बताया गया है। यही उसका संयोग वताया गया है।

१० (कृष्ण जन्मसे ही कामशास्त्र-विशारद थे, राधा परम-कामुकी थी। बालक कृष्ण जवान बनकर युवती राधासे नित्य संभोग किया करते थे (ब्रह्मवैवर्त)।

ब्रह्मवैवर्तमें राधाको भगवान्की शक्ति मूल-प्रकृति बताया गया है। सो यह प्रकृति-पुरुषका रमण है, केवल उसे लौकिक रंग दे दिया गया है। इसपर देखो-'आलोक' (७) पृ. ४१७-४२५)। सृष्टि करनेसे उन्हें 'कामुक' कहा गया है-'सोऽकामयत-

बहु स्यां प्रजायेय' (शत. ११।५।८।१-६) 'प्रजापतिरकामयत-प्रजायेय; भूयान् स्यामिति' (ऐ. ब्रा. २५।७) 'आत्मैव इदमग्र आसीद् एक एव, सोऽकामयत-जाया मे स्याद् अथ प्रजायेय' (बृह. १।४।१७) यही राधा-कृष्णका कामुकत्व व्याख्यात किया गया है। इसी-लिए श्रीकृष्णने राधाको कहा था—'यथा त्वं (राधा) च तथाऽहं (कृष्णः) च समौ प्रकृति-पूरुषौ। नहि सृष्टिर्भवेद् देवि! द्वयो-रेकतरं विना' (ब्रह्मवैवर्त. ४।६७।८०)। इस विषयमें 'आलोक' (७) पृ. ४१८-४२५में वादी देखे।

११ (दण्डकमें ऋषि द्वापरमें गोपियां बने। उनकी कामेच्छा जो रामावतारमें पूरी नहीं की थी, द्वापरमें उन्हें भवसागरसे तार दिया। यही गोपियोंमें कृष्णके विषयभोगका रहस्य था' (पद्मपुराण)।

उत्तर—मुनियोंमें जो भगवद्विषया रति थी, वह श्रृङ्गाररस नहीं था, किन्तु 'भाव' था; क्योंकि—पुरुषोंकी पुरुषविषया वा भगवद्विषया रति श्रृङ्गार नहीं होती; किन्तु 'भाव' नामसे कहाती है—यह साहित्यदर्पणादिमें प्रसिद्ध है। सो दूसरे जन्ममें भी उनकी वही रति 'भाव' रहा, श्रृङ्गाररस नहीं। यदि वादी साहित्यकलासे विहीन नहीं होगा, तो यह जानता होगा। वादी भी 'पुराणोंके कृष्ण' (पृ. १४) में मानता है—"जहां 'रमण' योगी अथवा भक्त वा ईश्वरके सम्बन्धके अर्थमें आता है, वहां भक्त वा योगी-का ईश्वरके ध्यानमें मग्न होनेके अर्थमें आता है"; तब पुराणमें भी श्रीकृष्ण ईश्वर (श्रीमद्भा. १०।३१।४) बताये गये हैं, मुनि योगी बताये गये हैं, और गोपियां भक्त (श्रीमद्भा. १०।२६।३१) बताई गई हैं, तब वादीका आक्षेप स्वयं वादीके वचनसे ही खण्डित हो गया। इस विषयमें 'आलोक' (६) पृ. ६१६-६२१ देखो।

१२ ('गीता श्रीकृष्णको योगीश्वर बताती है, पर धर्मसंहिता, भागवत, ब्रह्मवैवर्त आदि उन्हें भोगीश्वर बताते हैं')

इसका प्रत्युत्तर 'आलोक' (६-७-६) में कई बार आ चुका है, गत (५ क.) प्रश्नमें भी समाधान दे दिया है, देखो पृ. ८३९-८४२। 'यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शेकुः' (भा. १।११।३६) श्रीकृष्णकी इन्द्रियको स्त्रियां अपने हावभावोंसे भी आकृष्ट नहीं कर सकी थीं, जब यह श्रीमद्भागवतपुराणका श्रीकृष्णके विषयमें सिंहनाद है; तब स्पष्ट है कि—श्रीकृष्णभगवान्की कुछ भी भोगकामना नहीं थी। वेदानुसार—अपनी स्त्रियोंमें सन्तान करनेका नाम भोग नहीं होता, वह तो गार्हस्थ्यधर्मका पालन है।

१३ (गोपालसहस्रनाम कृष्णको 'जार (व्यभिचारि) शिखा-मणिः' लिखता है) इसका प्रत्युत्तर 'आलोक' (६) पृ. ५२६-५३४ में देखो। स्तोत्र कभी निन्दक नहीं हो सकता।

१४ (गोपियोंको भागवतकार 'व्यभिचारदुष्टाः' (१०।५७।५६) जंगली व्यभिचारिणी वा दुष्टा बताता है; तो 'आलोक' में इन बदमाश गोपियोंको पवित्र वेदकी ऋचा बताकर वेदोंको कलङ्कित किया है)

इसमें 'व्यभिचार-दुष्टाः'का समाधान 'आलोक' (७) पृ.

२१०-२११ में देखो। शेष है ऋचाओंसे भगवानका रमण, यह पद्मपुराण तथा भागवत आदिमें स्पष्ट है, इसे हम 'आलोक' (६) पृ. ५७६ तथा 'आलोक' (७) पृ. २०६-२०७, ४६४-४६५ में बता चुके हैं। इसमें वेदकी ऋचाओं पर कोई कलङ्क नहीं। यदि कोई दयानन्दी कहे कि-'स्वा.द.जी हर समय वेदकी ऋचाओंसे रमण किया करते थे', तब क्या वादी स्वा.द.को कामी तथा ऋचाओंसे सम्भोग करनेवाला मान लेगा। ऋचाओंको सचमुचकी स्त्री मान लेगा? स्वा.द.जीने 'आर्याभिविनय'के 'सोम! रारन्धि नो हृदि' मन्त्रके द्वारा अपने अन्दर रमण करनेकी प्रार्थना की है; तब क्या वादी स्वामीजीकी परमात्मासे उनमें मैथुन करनेकी प्रार्थना मान लेगा? बलिहारी है-वादीकी शुद्ध-बुद्धि की!

१५ (भागवतमें गोपियां श्रीकृष्णको 'सुरतनाथ' (सम्भोगके पति) बताती हैं) इसपर 'आलोक' (७) पृ. २११-२१२ देखो।

१६ (श्रीकृष्णजी महाभा.में कहते हैं कि-मैंने १२ वर्ष तक ब्रह्मचारी रहकर एक पुत्रको जन्म दिया था, पर पुराणकारके अनुसार १६००० औरतोंसे १,६०,००० लड़के ही पैदा करनेका उनका काम था; उन्हें और कोई काम-धन्धा नहीं था)।

जहां पूर्वोक्त बात महाभा.में लिखी है, यह उनके सबसे पहले रुक्मिणीविवाहकी बात है, उसके बाद ही वहीं उनकी १६१०० स्त्रियाँ भी महाभारतमें लिखी हैं-'षोडशस्त्रीसहस्राणि··· प्रतिपेदे हृषीकेशः' (उद्योगपर्व १५८।८), अनुशा. (१५।७),

स्वर्गारो. (५।२५), 'मौसल (७।३८), उद्यो. १३०।४४) में तथा शिवपु.में भी आया है—'भार्यासहस्राणां वल्लभः' (शि. उमासं. ३।३६) उन्हें बताया है। 'उन्हें और कोई काम नहीं था' यह वादीकी बात तो पुराणसे भी विरुद्ध है। भगवानने उन्हीं दिनों बड़े-बड़े युद्ध किये, अन्य संसारी व्यवहार भी पूरे किये। अपनी स्त्रियोंसे ऋतुगमन करनेवालेको भी मनुजीने ब्रह्मचारी माना है (३।५०)।

१७ (जाम्बवतीके जब लड़का नहीं हुआ; तो कृष्णजी ने वर्षों तक शङ्करकी आराधना की (देवीभा.)

इससे वादीका क्या सिद्ध हुआ? कई स्त्रियोंको लड़का जल्दी नहीं होता; कइयोंको शीघ्र हो जाता है। सो बहुत स्त्रियोंमें प्रिय स्त्रीका लड़का न होनेसे यदि शङ्करकी आराधना की गई; इसमें कोई दोष नहीं; तब तक उनकी स्त्रियां भी थोड़ी ही थीं। पहली रुक्मिणी, दूसरी थी जाम्बवती, और ३री सत्यभामा। तब इसमें असम्भव क्या? और फिर श्रीकृष्णमें योगविद्या बड़ी प्रबल होनेसे वे बहुतसे रूप बना लेते थे, एकसे तपस्या करते हों, अन्योंसे शेष स्त्रियोंके पास भी रहते हों, अन्य रूप से समय पर अर्जुनके सारथी भी रहे हों, अन्य रूपोंसे अन्य लोक-व्यवहार भी करते रहे हों; इसमें असम्भव कुछ नहीं। वेदान्त (१।३।२७) दर्शनमें 'आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ! कुर्याद् योगी बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत्। प्राप्नुयाद् विषयान् कैश्चित्, कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्। संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो

रश्मिगणानिव' यह पद्य बहुत प्रसिद्ध है, योगीश्वर श्रीकृष्णमें भी यह घटा लीजिये। इस विषयमें 'आलोक' (६) पृ. ६३३-६४४ देखो। अणिमादि ऐश्वर्य (भग) युक्त होनेसे वे 'भगवान्' थे; (विष्णु पु. ६।५।७४,७६) अतः सभी कुछ कर सकते थे।

शेष रही श्रीकृष्ण की शङ्करकी आराधना, श्रीकृष्ण, भगवान् होते हुए भी उस समय मनुष्यावतारमें थे; तब उन्होंने 'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि' (गी. ३।२०) 'यद्-यदाचरति श्रेष्ठः' (३।२१) इस न्यायसे तपस्या भी की। शेष है पुत्रादिकेलिए श्रीकृष्णकी तपस्या, इसपर देवीभा. (५।१।५-११, १२-१५)में वादी देखे; पुराणने उसमें उसे मुह-तोड़ उत्तर दे रखा है; क्योंकि दूरदर्शी पुराणको पता था कि-वादीने ऐसा प्रश्न करना है। भगवान् भी प्रजा-प्राप्तिकेलिए तपस्या किया करते हैं। देखो ब्राह्मणभागात्मक वेदमें-'प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीद् एक एव, सोऽकामयत-बहु स्यां प्रजायेय। सोऽश्राम्यत् (श्रमु तपसि खेदे च' (दिवादि.से.प.) तपोऽतप्यत' (शत. ११।५।८।१) यह प्रजापतिकी प्रजाकेलिए तपस्या लोक-संग्रहार्थ ही है।

१८ (भागवत कृष्णको परमात्माका अवतार मानता है, पर शिवपुराण श्रीकृष्णका मुख्य पेशा शङ्करकी गायें चराना बताता है) इसका उत्तर पहिले (पृ. ६२६-६२७में तथा अन्यत्र) दिया जा चुका है। वहाँ 'कृष्णनामा पुरुषः' लिखा है, सो वहाँ भगवान् श्रीकृष्ण इष्ट हों, यह आवश्यक नहीं। श्रीराम केवल कासगंज में नहीं, देहलीमें भी एक श्रीराम हमारा शिष्य है, जो

हमसे पढ़ चुका है; अब भी कभी आ जाता है। यदि श्रीकृष्णको कहीं शिवका अंश लिखा हो; इसमें भी उनके महादेवत्वके प्रतिपादनार्थ कोई दोष नहीं। गीतामें भी श्रीकृष्णके विराट् रूपमें 'ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थं' (११।१५) शिव भी उस रूपके अंश बताये गये हैं; कभी बाहु अङ्गी होती है, और हाथ उसका अङ्ग। कभी बांह भी शरीरका अङ्ग होती है। कभी हाथ अङ्गी होता है; अंगुलियाँ उसका अङ्ग। यह सब उपाधि-भेद हैं। वेदमें कहा है-'स्तोता मे गोषखा स्यात् (ऋ. ८।१४।१)में श्रीसायणने तात्पर्य बताया है कि-ईश्वरस्य तव स्तोता कुतो हेतोर्गोसहितो न भवेद्, अपितु भवेदेव' तब ईश्वर महादेवके स्तोता-व्यापक श्रीकृष्ण भी यदि पुराणमें गोसंहित रहते हैं; तब इसमें कोई दोष नहीं।

१६ महाभारतमें यदि श्रीकृष्ण पुत्रके स्वास्थ्य आदिका शंकरसे वरदान मांगते हैं, और देवीभा.में पुत्र-जन्मकेलिए शिवसे प्रार्थना करते हैं; तो इसमें क्या हुआ? किसी ग्रन्थमें पुत्रोत्पत्तिसे पूर्वकी स्थिति, और किसीमें उसके बादकी स्थिति हो। वृत्तोंके अनन्त होनेसे कभी कोई वृत्त आगया; तो कभी कोई और, इसमें कुछ भी विरोध नहीं।

२० (क) वादीका यह कहना कि-रामावतारमें विष्णुने बालीका वध घोर अन्यायपूर्वक किया था-यह ठीक नहीं। बालीसे श्रीरामका युद्ध नहीं था, किन्तु बालीको दण्ड देना था। वह जिस भी प्रकारसे दिया जावे, हो सकता है। अन्यायेन

हुती वाली' (४।१८।४७) यह तो बाहरी नाट्यदृष्टिसे कहा गया है, केवल शक्तिकी महिमा बतानेकेलिए। (ख) यह कहना कि-शिवपुराणमें वेदव्यासजीने बताया कि-"कृष्णने कुलधर्मसे दूषित पतित स्त्रियोंके साथ सम्भोग किया, वा वेदमार्गको त्यागकर उनके साथ शादी की"। वादीका यह कथन बिल्कुल झूठ है। यह उसके दैत्यों वा राक्षसोंके बन्धु होनेका पोषक है; क्योंकि यह कथन गालीवक्ता दैत्य-तारकासुरका है, व्यासजीका नहीं, इसपर 'आलोक' (७) पृ. १८६-१८९ देखो। (ग) श्रीकृष्णका रुक्मिणी-हरण पापकर्म नहीं था; यह तो क्षत्रियकेलिए वैध-विवाह है। देखो इसपर मनुस्मृति-'राक्षसं क्षत्रियस्यैकं' (३।२४), तब श्रीराम-को अन्यायी तथा श्रीकृष्णको व्यभिचारी वा पापी कहना गालीवक्ता वादीका स्वयं वैसा होना बता रहा है।

२१ (तीनों देवता कामी-क्रोधी, छली-कपटी, जन्म-मरणके चक्करमें गोते खाया करते हैं' देवीभा.) इसका प्रत्युत्तर 'आलोक' (७) पृ. २२०-२२४, तथा पृ. ९३७ में देखो।

२२ (देवताओंने मिलकर अनुसूयासे व्यभिचारकी चेष्टा की' (भविष्य.प्रति. ४।१७) इसपर 'आलोक' (७) पृ. ६४-६७ पृ. २३०-२३५ देखो।

२३ ('आलोक' (६) में लिखा है-'गोपियोंसे कृष्णका पवित्र सम्बन्ध था' पर ब्रह्मवैवर्तमें लिखा है-उनके साथ घमसान व्यभिचार होता था)

ब्रह्मवै. श्रीकृष्णका स्तुतिकर्ता पुराण है, वह भला श्रीकृष्णका व्यभिचार कैसे कह सकता है? वस्तुत पुरुष स्वयं जैसा होता है, वह दूसरेको भी वैसा समझता है। वादीको व्यभिचारके स्वप्नदोष खूब हुआ करते हैं, कारण स्पष्ट है। इस विषयमें 'आलोक' (६) में 'सुदर्शनचक्र'में प्रत्युत्तर दे दिया है।

२४ (विष्णुने दैत्यनारियोंके साथ, सती वृन्दा वा तुलसीके साथ धोखा देकर उनके पतियोंका रूप धरकर व्यभिचार किया था, विष्णु परनारी-लम्पट हैं)

इसपर 'आलोक' (६) पृ. ५७३-७६, ४९१-५००), 'आलोक' (७) पृ. १४३-१४६ में देखो। गत ५ (क) निबन्धमें भी देखो।

२५ (श्रीकृष्ण-बलराम नारायण-ऋषिके काले और सुफेद बालके अवतार थे (मुद्दा. ब्रह्मपुराण आदि) इसपर वादी 'आलोक' (७) पृ. ३०२-३०३ देखे। विष्णुपुराणमें लिखा है-'एवं संस्तूयमानस्तु भगवान् परमेश्वरः। उज्जहारात्मनः केशौ सित-कृष्णौ महामुने!' (५।१।५) इसमें श्रीनारायणको परमेश्वर लिखा है। अङ्ग उसी अङ्गीका होता है, पृथक् नहीं माना जाता। नहीं तो वादी अपने माता-पिताके जिन अङ्गोंसे पैदा हुआ है, तो क्या वह अपनेको उन्हीं अङ्गोंका अवतार मानता है?

२६ (अवतार संदर्भ (?) के प्रचारकेलिए होते हैं (गीता), परन्तु पद्मपुराण लिखता है—अवतार वेदानुयायिओं, परम धर्मात्माओंको कुमार्गगामी, वेदविरोधी बनानेको, शिव, विष्णु-स्वयं अपने षडयन्त्रोंको पूरा करनेको लेते हैं)

यह बात वादीकी गलत है, पुराणका कभी ऐसा सिद्धान्तपक्ष

नहीं है। इस विषयमें 'आलोक' (७) पृ. १६३-२०१ देखो।

२७ (शिवजीने कच्छप, शूकर वा नृसिंहको मार डाला था। नृसिंहकी खाल तक उतरवा ली। जो सरयूमें डूबकर मरा हो, जिसका प्राणान्त बहेलियेके द्वारा बाण मार देनेसे हुआ हो, जिसकी दाढ उखाड़ ली गई हो, यह अवतारवादकी धज्जी उड़ाना है)

इस विषयमें 'आलोक' (७) में पृ. २५०-२५३, १६८-१७२, ४८०-४८६ में देखो। वादीके २७ प्रश्न जिसपर उसे गर्व था, वे थोथे निकले, सम्यक् समाहित हो गये। अब उक्त पुस्तककी अवशिष्ट अन्य बातोंपर भी विचार किया जाता है।—

(२८) 'जारो भुक्त्वा रतां स्त्रियम्' (भा. १०।४७।८) जैसे भोग करनेके बाद जार (व्यभिचारी) पुरुष स्त्रीको त्याग देते हैं, वैसे ही श्रीकृष्णने हम (गोपियों) को त्याग दिया है' इससे गोपियोंने श्रीकृष्णकी जारसे उपमा दी है'।

वादीने यह सबसे पहला प्रमाण अपनी समझमें श्रीकृष्णको बदनाम करनेकेलिए दिया है, पर इस उपमासे उसने स्वयं अपने पक्षकी हानि की है। इससे उपमान और उपमेयमें 'साधर्म्यमुपमा भेदे' (काव्यप्र. १०म) इस सिद्धान्तानुसार भेद हुआ करता है। जब कहा जावे कि-'अयं प्रतिपक्षी पशुरिव निर्विवेकः' तब इससे क्या प्रतिपक्षी सचमुच अपनेको पशु (सींग-पूंछ आदि वाला) मान लेगा? यदि नहीं, इससे केवल उसका साधारणधर्म 'निर्विवेक' ही वहां इष्ट होगा, इसी प्रकार 'यथा जारो रतां

स्त्रियं भुक्त्वा त्यजति' इस उपमामें उपमेयसे भेद स्वतः सिद्ध है कि-श्रीकृष्ण जार नहीं थे। यहां तो साधारण धर्म 'त्याग' ही केवल इष्ट है।

पुराणोंका निन्दक यह प्रतिपक्षी अपने-आपको 'वैदिक-प्रकाशक' बताता हुआ भी वेदसे अनभिज्ञ है। पुराण भी प्रायः वेदानुसारी हैं—यह उस बेचारेको मालूम नहीं। अब इसी प्रकारकी उपमा हम वेदसे दिखलाते हैं-। यह तो वह स्वयं मानता ही है कि-'जार'का अर्थ 'पति' नहीं होता, किन्तु 'पतिसे भिन्न' होता है; वेदमें भी वह यही बात देख लें-'यस्त्वा भ्राता [भूत्वा] पतिर्भूत्वा, जारो भूत्वा निपद्यते' (अ. २०।९६।१५) यहां पर एक पिशाचका पृथक्-पृथक् भ्रातारूपमें किसी स्त्रीके पास उसको हानि पहुँचानेके उद्देश्यसे आना, वा पतिरूपमें आना, वा जार-रूपमें आना कहा है; यहां 'जार' स्पष्टतया पतिसे भिन्न सिद्ध होता है।

अब देखिये वेदमें सोमका प्रजा (स्त्रीलिङ्ग)में आगमन 'जार'से उपमित किया जाता है—'जारं न कन्या-अनूषत' (ऋ. ९।५६।३) यहाँ बताया गया है कि-जैसे कोई लड़की जारको बुलाती है; वैसे तुम्हें भी ऐ सोम! प्रजा बुलाती है। अब क्या वादी सोम-अपने अनुसार परमात्माको भी जार (व्यभिचारी) करार देगा?। इसी तरह वेदभाष्य-पुराणने भी श्रीकृष्णको जारसे उपमित किया है, दोनों स्थान बराबर उत्तर होगा।

अब और देखिये-'योषा जारमिव प्रियम्' (ऋ. ९।३२।५),

यह भी पूर्व जैसा वैदिक-वचन है। 'प्रियां न जार:' (ऋ. ६।६६।२३) यहां भी वही बात है। इसी प्रकार 'जार: कनीन इव' (ऋ. १।११७।१८) में भी वादी समझ ले; तब क्या इन उपमाओंसे वादी वैदिक-परमात्मा (सोम) को भी 'जार' मान लेगा; तब अपने आपको 'सोम' (गीता १५।१३) कहने वाले श्रीकृष्ण भी यदि 'जार' कहे गये; तब दोनों स्थान उत्तर भी समान होगा।

(२६) 'गोपियोंके कुच दबानेकी प्रार्थना-'फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं कुरु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम्' (भा. १०।३१।७) इसका उत्तर 'आलोक' (७) पृ. २०७ में देखो। यहां कुचोंको हाथसे दवाना नहीं कहा; तब वादीका इष्ट अर्थ कैसे हो? यहाँ तो 'पैर' कहे हैं; अतः 'कुच'का यहां 'तात्स्थ्यात् ताच्छब्द्यम्' इस न्यायसे 'वक्षःस्थल' अर्थ है। (ख) इसी प्रकार 'चरणपङ्कजं...नः स्तनेष्वर्पय' (१०।३१।१३) में भी 'स्तनेषु'का अर्थ पूर्वोक्त न्यायसे 'वक्षःस्थल' है। (ग) इसी प्रकार 'तदङ्घ्रिकमलं संतप्ता स्तनयोरधात्' (१०।३२।५) में भी वादी समझ ले।

(घ) 'हृच्छय' (१०।३१।७)का अर्थ 'हृदयमें रहनेवाली वासनारूप ज्वालाएँ' हैं। इसी अर्थमें श्रीमद्भा.में अन्यत्र भी इसका प्रयोग आता है—'मत्कामः शनकैः साधुः सर्वान् मुञ्चति हृच्छयान्' (११।६।२३) (मुझमें की गई भक्ति सब हृदयस्थित वासनाओंको दूर कर दिया करती है) वादीका आक्षेप कट गया।

(३०) 'रेमे तया चात्मरत आत्मारामोप्यखण्डितः' (१०।३०।३५) यहां 'रेमे'का अर्थ बुरा नहीं, यहां 'आत्मरतः, आत्मारामः, अखण्डितः' (१०।३०।३५) यह श्रीकृष्णके विशेषण 'रेमे' पदके वादीको बहुत पसन्द 'विषयभोग' अर्थका खण्डन कर रहे हैं। इस विषयमें 'आलोक' (७) पृ. १८४ से २०१ तक में 'अवतार-रहस्य' के २०६ से २१४ पृष्ठों तकके आक्षेपोंका प्रत्युत्तर दे दिया गया है। फिर यहां पृथक् क्यों लिखा जावे? स्वा.द.जीने मुक्तोंका 'रमण' ऋभामू. तथा स.प्र.में बहुत लिखा है, तब क्या वादी मुक्तोंका मैथुन मानेगा? यदि नहीं, तब यहां भी नित्यमुक्तका मैथुन अर्थ नहीं।

(ख) राधा-कृष्णके रमणका अर्थ प्रकृति-पुरुषका आधिदैविक वा आध्यात्मिक रमण लौकिक ढंगसे वर्णित किया गया है। इस विषयमें हमने 'आलोक' (६) में प्रत्युत्तर दे दिया था। वादीके दोबारा फिर आक्षेप करनेपर 'आलोक' (७) पृ. ४१८-४२५ ने हमने पुनः प्रत्युत्तर दे दिया था। इससे वादीके मुखपर ताला लग गया। १०म उक्तमें भी लिख दिया है।

(ग) 'कृष्णका परनारीगमन' शीर्षकसे वादीने 'कृष्णो भूत्वाऽन्यनायेश्च' यह श्लोक 'पुराणकारके नाम'से लिखा था; जो कि वस्तुतः दैत्यका वचन है; इसका प्रत्युत्तर 'आलोक' (७) पृ. १८६-१८६ में दे दिया गया था। इसपर वादीके मुखमें लगाम लग गई।

(घ) 'परनारीणां लम्पटो नित्यमेव हि' पर (गत ५ (क) संख्यामें) लिखा जा चुका है। (ङ) 'माता-पिताके गुप्ताङ्गोंकी

पूजा तो वादीको करनी चाहिये; क्योंकि जननी-जनककी पूजाको वादी मानता ही है, सो जिन अङ्गोंसे उनका उक्त नाम है, और जो उनके परिच्छेदक अङ्ग हैं, उनकी पूजा अस्पृश्यता न माननेवाले वादीको करनी चाहिये, यह हमने 'आलोक' (६) में लिखा था; और अस्पृश्यता माननेवालोंमें इसका निषेध किया था; और वादीके पक्षानुसार देवोंका अङ्ग मानकर भी उसमें विशेषता बताई थी; पर वादीने अव.रह. (पृ. ५०) में हमारे वाक्योंकी पूर्वापरकी चोरी करके अपने किये आक्षेपोंको निर्मूल सिद्ध कर दिया है।

(च) 'रेमे रमाभिर्निजकामसंप्लुतो यथेतरो गार्हिकमेधिकं चरन्' (भा. १०।५९।४३) वादीसे आक्षेपार्थ दिये हुए इस पद्यकी 'यथा-इतरः' इस उपमासे भगवान्की इतरता खण्डित हो जाती है। उपमाके विषयमें हम पहले (२८ प्रश्न पृ. ८५५-५६ में) स्पष्ट कर चुके हैं। श्रीमद्भा. १०।१४।२ के अनुसार भगवान्का शरीर अभौतिक होनेसे (गीता ४।६) उसमें पाञ्चभौतिक स्त्री-पुरुषोंके मैथुनकी कल्पना नहीं हो सकती। वहाँ तो दिव्य लीला है, लौकिक काम-क्रीडा नहीं।

(३१) 'त्रिदेव हिमालयपर रहते थे' यह वादीका कहना गलत है। 'शैलराज' यह यहाँका 'हिमालय' नहीं, किन्तु द्युलोकमें स्थित हेमालय (सोनेका) पर्वतराज सुमेरु इष्ट है। वहीं शक्रपुरी, विष्णुपुरी, शिवलोक आदि हैं। जब देवीभागवत विष्णुलोकको 'सर्वलोकोपरिस्थितम्' (३।१३।१८) कहता है; 'पुराणोंके कृष्ण'में

वादीने स्वयं विष्णुलोकको आकाशमें १६ करोड़ योजन ऊपर और उसे 'विदेश' बताया था, तब त्रिदेवोंकी पुरी इस लोकके हिमालयपर कैसे हो सकती है— इतना भी वह नहीं समझ पाता ?

(ख) 'त्रिविष्टप' 'तिब्बतका नाम है', यह वादीका कथन गलत है। देहलीमें जखीरेके पास 'इन्द्रलोक' है; तब क्या वादी उसे ही इन्द्रदेवताकी पुरी 'अमरावती' समझ लेगा? एक 'अमरावती' शहर भी है; तब क्या वादी उसे वही इन्द्रकी नगरी मान लेगा? हमारे लाजपत-नगरके पास 'कैलाश' है, और 'गान्धि-नगरमें भी 'कैलाश नगर' है, तब क्या यह वही शिवजीवाला प्राचीन पर्वत है ?

महाशय ! 'त्रिविष्टप' तो 'स्वर्ग'का नाम है। देखो अमरकोष—'सुरलोको द्यो-दिवौ द्वे स्त्रियां क्लीबे त्रिविष्टपम्' (१।१।६) वह द्युलोकमें है, इस लोकमें नहीं। स्वर्गलोकमें बड़ा सुख होता है, पर तिब्बतमें दुःखदायक सर्दी खूब होती है, वहाँ स्वर्गीय सुख कहाँ? वहां देवता अमर होते हैं, पर तिब्बतमें तो मृत्यु होती है। 'त्रिविष्टप' 'तिब्बत है' इसमें कोई प्रमाण नहीं, यह निर्मूल कल्पना है; जिसे स्वा.द.जीने किसी अधकचरेसे सुन-सुनाकर लिखा है।

'तृतीयं विष्टपम्'—लोक इति त्रिविष्टपम्। भूः, भुवः, स्वः इन लोकोंमें तीसरे लोकका नाम त्रिविष्टप होता है। पृथिवीलोक (भूः), अन्तरिक्षलोक (भुवः), और द्युलोक (स्वः) यह तीन लोक

होते हैं, तीसरा लोक द्युलोक है। यह वहां है, जहां ग्रहनक्षत्र बसकते हैं, जहां राकेट पहुँचनेका प्रयत्न करते हुए भी नहीं पहुँच सके। वही त्रिविष्टप होता है। निरुक्तकारने उसका निर्वचन यह किया है-'अथ द्यौराविष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च' (२।१४।१५) (पुण्यकर्म करनेवाले उस स्वर्गलोकमें जाते हैं)। इसी त्रिविष्टप (स्वर्ग)में नक्षत्रोंका रहना कहा है; उन्हें पुण्यात्माओंका प्रकाश कहा है-'देवगृहा वै नक्षत्राणि' (तै.ब्रा. १।५।२।६-ऋ. सायणभाष्य १।५०।२ में)। 'यो वा इह यजतेऽमुं स लोकं नक्षते (गच्छति), तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम्' (तै.ब्रा. १।५।२।५) (यहांसे पुण्यकर्ताओंका स्वर्गमें नक्षत्ररूपमें होना कहा है)। 'सुकृतां वा एतानि ज्योतींषि यन्नक्षत्राणि' (कृ.य.तै.सं. ५।४।१।३) सो यह सब स्वर्ग (द्युलोक) में तो ऐसा होना कहा है; यह तिब्बतमें सम्भव नहीं; अतः वह 'त्रिविष्टप' भी नहीं। तिब्बत प्रथम-लोक-भूलोक है, उसमें तारे नहीं। वह द्युलोक नहीं।

महाभारतमें भी जब अर्जुन स्वर्गलोकमें मातलिके रथद्वारा गया; वहां 'स्वयंव प्रभया तत्र द्योतन्ते पुण्यलब्धया। तारा-रूपाणि यानीह दृश्यन्ते द्युतिमन्ति वै' (वन. ४२।३३), एते सुकृतिनः पार्थ ! स्वेषु धिष्ण्येष्ववस्थिताः। यान् दृष्टवानसि विभो ! तारारूपाणि भूतले (३६) एवं समाक्रमँस्तत्र स्वर्गलोके महायशाः। ततो ददर्श शक्रस्य पुरीं तामसरावतीम्' (४२), नक्षत्रमार्गं विपुलं सुरवीथीति विश्रुतम्' (४३।१२) अर्जुनने तारे देखे। सो वे तिब्बतमें नहीं हो सकते। तारोंको तो पुण्यात्माओंका प्रकाश कहा गया है।

तिब्बतमें पुण्य करने वालोंके जानेकी वा उनके प्रकाशकी कुछ भी सङ्गति नहीं है। चीनी तिब्बतमें पहुँचे हैं; क्या वे पुण्यवाले हैं ? क्या उनके प्रकाश वहां तारे-स्वरूप हैं।

'देवासुरात्मस्वर्ग' (पुंलिङ्गाधिकार) इस पाणिनीयलिङ्गानुशासनके सूत्रसे स्वर्गके सभी पर्यायवाचकोंका पुंलिङ्ग प्राप्त था। इसमें 'त्रिविष्टप' शब्दको भी इस सूत्रसे स्वर्गके पर्यायवाचक होनेसे पुंलिङ्ग प्राप्त था; पर इसके अपवाद-'त्रिविष्टप-त्रिभुवने नपुंसके' इस सूत्रसे नपुंसकलिंग हागया। इसलिए उक्त सूत्रकी वृत्तिमें लिखा है-'तृतीयं विष्टपं त्रिविष्टपम्। स्वर्गाऽभिधानतया पुंस्त्वे प्राप्ते अयमारम्भः' (पूर्वसूत्रसे स्वर्गके पर्यायवाचक होनेसे 'त्रिविष्टप'को भी पुंलिङ्ग प्राप्त था; पर नपुंसक करनेकेलिए इस सूत्रका आरम्भ किया गया।

इसी 'त्रिविष्टप'को वेदादिमें संक्षेपसे 'विष्टप' भी कहते हैं। जैसेकि-विष्टपं (निघण्टु १।४) (उणादिकोष ३।१४५) स्वा.द.जीने इसका अर्थ 'सुखविशेषभोगः' लिखा है। स्वामीजी स्वर्गको छिपाना चाहते थे, अतः जहां भी उन्हें 'स्वर्ग' शब्द मिलता था; वहां वे उसका लोक-विशेष अर्थ न करके उसका अर्थ 'सुख-विशेषभोग' कर दिया करते थे; तथापि 'सुखविशेषभोग'से भी 'स्वर्ग' छिप नहीं सकता। सुखविशेषका भोग स्वर्गलोकमें प्रसिद्ध है। अन्यथा वे इसका अर्थ 'सुखभोग' मात्र लिखते। 'स्वर्ग' सुखका पर्यायवाचक नहीं होता; किन्तु स्वर्गलोकमें सुखविशेष हुआ करता है।

अथर्ववेदसंहिता भी 'विष्टप' यह स्वर्गलोकका नाम बताती है। जैसे कि—'ऊर्ध्वो नाकस्य अधि रोह विष्टपं स्वर्गो लोक इति यं वदन्ति' (११।१।७) तब 'त्रिविष्टप' यह तिब्बतका नाम सिद्ध न हुआ।

(३२) 'प्रजापतिश्चरति गर्भे'में 'गर्भ'का अर्थ 'अन्तःकरण' करना ठीक नहीं। इस विषयमें 'आलोक' (७) पृ. ४०६-४१७ देखो। 'एको ह देवो मनसि प्रविष्टः, प्रथमो जातः, स उ गर्भे अन्तः' (अ. १०।८।२८) इस वैदिक-मन्त्रमें उसे अन्तःकरणमें अलग कहा है, तथा गर्भमें पृथक्; अतः वादी कट गया।

(ख) भारत संसारकी नाभि है; इसकी प्रकृति पूर्ण है; अतः अवतार भी भारतमें होते हैं, और वेद भी। गङ्गा आदि उत्तम नदियां भी भारतमें ही हुई हैं। इसी विशेषतासे संसारके केन्द्र भारतमें अवतार हो जानेसे अन्यत्र सर्वत्र ठीक-ठीक रहता है।

(ग) रावण आदि राक्षसोंकी हृदयकी गतिको अन्दर ही अवरुद्ध करके परमात्मा पल भरमें मार सकता था; तब अवतार क्यों ?' इत्यादि वादीकी निकम्मी बातें हैं। गायके भीतर ठहरा हुआ दूध न उसका अपना लाभ करता है; न दूसरोंका; अतः गायसे अलग होनेपर भी वह लाभप्रद सिद्ध होता है, दूसरोंको उसका पता भी लगता है, उससे लाभ शिक्षा आदिका पता भी लगता है। पुराण स्वयं बताता है—'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्य-शिक्षणं रक्षो-वधायव न केवलं विभोः' (श्रीमद्भा. ५।१९।५) (अवतार केवल राक्षसोंके वधकेलिए नहीं होता, किन्तु मनुष्योंकी शिक्षार्थ भी होता है।

हुआ करता है। इस विषयमें 'आलोक' (७) पृ. ३९६-४०३ देखो। वादीके प्रत्येक आक्षेपपर हमने यहां उसके आग्रहवश प्रत्युत्तर दे दिया है।

---

(१६) शिवलिङ्ग-पूजा क्यों ?

वादीका 'शिवलिङ्गपूजारहस्य' निकला था, उसकी कई बातों पर विचार हमने 'आलोक' (६-७) में दिया था, पर सरकारने वादीकी उस पुस्तकको 'जप्त' कर लिया था; क्योंकि-वह अत्यन्त असभ्य शब्दोंमें निकली थी। इससे वादीको कुछ दिन जेलमें भी रहना पड़ा था। पर वादीने उसे कानूनकी दृष्टिका विचार करके उसमें कुछ हेरफेर भी करके 'शिवलिङ्गपूजा क्यों ?' नामसे कुछ नर्म करके छपवा दिया। वादीको अपनी इस पुस्तकपर बड़ा गर्व है कि—इसका सनातनियोंकी ओरसे प्रत्युत्तर दिया ही नहीं जा सकता। हम स्थानाभाववश उसकी युक्तियोंको पृथक् न लिखकर उन्हें काटते हुए वादीकी उक्त पुस्तकको 'जप्त' करने जा रहे हैं। जिन युक्तियोंका प्रत्युत्तर हम अपनी पूर्वकी पुस्तकोंमें दे चुके हैं; उन्हें प्रायः यहां नहीं दिया जायगा।

(३३) 'इलावृत देशमें पुरुषोंका स्त्री बन जाना' वर-शापकी महत्ताके कारण है। वर-शापकी महत्ता वाक्-सिद्धिके कारण होती है। वाक्-सिद्धि या तो तपोबलसे होती है, अथवा अणिमा आदि देवताओंकी स्वाभाविक सिद्धिवश होती है; जो श्रीशङ्करमें जन्म-सिद्ध थी। वह श्रीशङ्करको अपनी स्त्री प्रकृतिरूपा (जैसे

कि-शिवपुराण, देवीभागवत तथा ब्रह्मवैवर्तादिमें स्पष्ट है, यह हम 'आलोक' (७) पृ. २३३ में संकेत दे चुके हैं), पार्वतीकी (जिसका लौकिक रूपमें वर्णन किया गया है) लज्जाको देखकर करना पड़ा था; (भा. ५।१७।१५) क्योंकि-प्रकृतिका जब पुरुषसे संयोग हो; तब उसका निरावरण हो जाना स्वाभाविक है; तब यदि उस स्त्रीरूपा प्रकृतिके जाननेवाले आ जावें; तब वे उसके रहस्यको देख लेते हैं, जान जाते हैं। उस प्रकृतिका अधिष्ठाता तो उसका रहस्य देख पावे, यह तो ठीक है; पर जब परपुरुष उस प्रकृतिका रहस्य देख लें; इससे वह प्रकृति सिमट जाती है, तब उसे लज्जारूप आवरणमें आजाना पड़ता है। इससे उसकी निरावरणतामें अन्तराय पड़ता है; तब वह स्थान परपुरुषोंकेलिए निरुद्ध कर दिया जाता है। इसीको लौकिकरूपमें वहां वर्णित किया गया है।

वहां जो अनेक दासियाँ लिखी हैं, वे तो पार्वतीकी सेवाके लिए थीं। राजाओंमें देखा जाता है कि-राजकुमारियोंके विवाह में उनकी सेवार्थ कई सौकी संख्यामें दासियाँ भी दी जाती हैं; उनसे राजकुमारीके पतिका स्त्री-सम्बन्ध नहीं हुआ करता। फिर शङ्कर तो अन्य स्त्रियोंमें कभी भी आसक्त नहीं रहे। यह एक प्रसिद्ध श्लोक है—'वेधा द्वेधा भ्रमं चक्रे कान्तासु कनकेषु च। तासु (कान्तासु) तेष्वप्यनासक्तः साक्षाद् भर्गो (महादेवो) नराकृतिः' (कुवलयानन्द), सो पार्वतीके विचारसे उस स्थानको शप्त करना पड़ा कि-कोई पुरुष वहांपर न आजावे। आजकल

इसे कहना पड़े, तो यह कहा जायगा कि-शयनकक्षमें पर्दा लगा रखा गया है कि-सर्वसाधारण व्यक्ति वहाँ न पहुँचें। अतः वहां दासियोंके बाहुल्यमें वादीका कुत्सित अभिप्राय पुराणमें इष्ट नहीं है। इस रूपमें प्रकृतिरूपा स्त्रीकी सेविका कुसुममञ्जरियाँ संकेतित की गई हैं।

(३४) शिवा-शिवका रमण प्रकृति-पुरुषका विनोद है; केवल वहां मानुषी पुट दे दिया है, जिससे एक नीरस विषय सरस वा कुतूहलकारक हो जावे। यही तरीका वेदमें भी देखा जाता है; देखिये-वहां एक गम्भीर रहस्यको 'पिता दुहितुर्गर्भमाधात्' (ऋ. १।१६४।३३) 'मगतुर्द्धिषुमन्नवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः' (ऋ. ६।५५।५) इस प्रकार कौतूहलकारक अश्लील भाषासे भी दिया गया है। इसी प्रकार पुराणमें भी कभी वास्तविक बातको परोक्षरूपसे कह दिया जाता है, जिसे अभिधावृत्तिपर गति रखने वाले वादी जैसे नहीं पहुँच सकते। नहीं तो तपस्यामें लग्न रहने वाले, दिगम्बर (जिनको किसी भी परस्त्रीको देखकर विकार नहीं उठा करता) महादेव भला लौकिक विषयोंमें निमग्न रहने वाले थोड़े ही थे! उनके लड़के कार्तिकेयके उत्पादनार्थ देवताओंको कामदेवद्वारा उनकी समाधि भङ्ग करानी पड़ी। पार्वती पुरुषरूप रुद्रकी एक प्रकृति है। इस विषयमें पुराणका प्रमाण देखिये—

'उमाख्या सा महादेवी''' मूलप्रकृतिराख्याता' (शिव. रुद्रसं. युद्ध. २६।१६) 'अहमेव त्रिधा भिन्ना''' गौरी, लक्ष्मीः, सुरा, ज्योतिः' (३४)। वहां 'सहस्रवर्ष'का 'बहुत समय'में तात्पर्य है।

तभी तो वहां कहा है—'व्यतीयुर्बहुलाः समाः' (शिव. रुद्र. कुमार. १।५७) सो वादीके मतमें अपनी स्त्रीसे रमण क्या व्यभिचार होता है? सभी गृहस्थियोंको क्या वादी 'व्यभिचारी'का सर्टिफिकेट दे देगा? फिर तो स्वा.द.जीके पिता तथा वादीके अपने पिता भी वादीके शब्दोंमें व्यभिचारी सिद्ध हो जाएँगे!

(३५) 'विष्णु-ब्रह्मादिरूपाणामैक्यं जानन्ति ये नराः। ते यान्ति नरकं घोरं पुनरावृत्तिवर्जितम्' (गरु. ब्रह्म ४।६) यहां ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि रूपोंको एक मानने वालोंका निन्दार्थ-वाद है। शास्त्रोंमें दो वाद प्रमुख हैं-अद्वैतवाद और द्वैतवाद। 'एकत्वेन, पृथक्त्वेन 'बहुधा' (गीता ६।१५)। इनमें द्वैतवाद व्यावहारिक, केवल उपासनाकेलिए होता है। अद्वैतवाद पारमार्थिक होता है। यह अन्तिम कोटिका होनेसे सर्वसाधारणका विषय नहीं होता। यदि यह किसी कुपात्रके हाथ जा लगे; तो उपासना छूट जानेसे नास्तिकता तक छा जाती है। इसलिए व्यवहारवादमें उपासना आदिके स्थिर रखनेकेलिए, तथा अपने इष्टदेवमें अनन्य भक्ति रखनेकेलिए द्वैतभाव, भेदभाव रखना ही पड़ता है। नहीं तो सर्वसाधारण जनता अद्वैतवादकी अधिकारिणी न होनेसे वह न इधरकी रहे, और न उधरकी। 'इतो भ्रष्टा ततो नष्टा'का उदाहरण बन सकती है। उस निन्दाका रहस्य वादी-जैसे अल्पश्रुत-व्यक्ति समझ नहीं पाते; अतः उसपर विना सोचे-विचारे लेखनी उठाना शुरू कर देते हैं।

विष्णु, ब्रह्मा, रुद्र त्रिगुणात्मक माने जाते हैं। सो त्रिगुणा-

त्मककी समतामें तो अभेद एवं प्रलय होता है, और विषमतामें भेद वा संसार होता है। सो भेदवादमें इनकी अभिन्नता काटनी पड़ती है, और अभेदवादमें भेदको काटना पड़ता है, वादी यह सदाकेलिए समझ रखे; तब उसे कुतर्क नहीं फुरेंगे।

फलतः शास्त्रोंमें दोनों तरहके वाद, द्वैतवाद-अद्वैतवाद समय-समयपर आया ही करते हैं। 'द्वा सुपर्णा' (ऋसं. १।१६४। २०) यह द्वैतवाद व्यवहारवाद है। 'पुरुष एवेदं सर्वं' (यजुः माध्यं. ११।२) 'आत्मैव इदमग्र आसीद् एक एव, सोऽकामयत' (बृहदा. १।४।१७, शत. ११।५।८।१, ऐ.ब्रा. २५।७, गीता १३।२२, १५।७) इत्यादि बहुतसे वचनोंमें अद्वैतवाद अथवा परमार्थवाद है। सब व्यक्ति एक ही वादके अधिकारी नहीं हो सकते। अद्वैतवादीको तो उपासना भी छोड़नी पड़ जाती है। वहां तो 'सोऽहम्' 'अहं ब्रह्म, तत्त्वमसि, सर्वं ब्रह्म' यही समझना पड़ता है; पर जब तक पूरी चित्तशुद्धि न हो जावे; तब तक इस वादको ग्रहण करनेमें पाखण्डवादका बोलबाला हो सकता है। इसलिए व्यवहारवादमें इसकी बहुत कठोरतामें निन्दा करनी पड़ जाती है। अतएव व्यवहारवादमें द्वैतवादका पक्ष अधिक रहा करता है। इसी प्रकार सत्त्व, रज, तम यह प्रकृतिके तीन गुण होते हैं। इनकी साम्यावस्थामें तो प्रलय रहा करता है, और वैषम्यमें संसार हुआ करता है, यह हम पहले संकेतित कर ही चुके हैं; सो यह गुण व्यवहारकोटिमें भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए इन गुणों वाले विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र भी व्यवहारवादमें भिन्न-भिन्न हैं।

जैसेकि-'सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैः···हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञाः' (भा. १।२।२३)। अतः व्यवहारवादमें अपनी-अपनी प्रकृतिवश इनको भिन्न ही रखना पड़ता है। उस समय अभेद-वाद हानिकारक होनेसे उसे निन्दित ही करना पड़ता है।

यह ठीक है कि-गुणातीतता-पक्षमें तीनों देवोंमें कोई भेद नहीं। परमेश्वर एक तत्त्व है, यह पुराणोंमें भी समय-समय पर सूचित होता है। इस प्रकार जीव एवं प्रकृति भी उस पुरुषके ही अंश वा विकास हैं, त्रैतवाद नहीं, किन्तु अद्वैतवाद ही वास्तविक है, यह गीतामें भी स्पष्ट है; परन्तु सृष्टि त्रिगुणात्मक वल्कि त्रिगुणोंके वैषम्यसे निर्मित होनेसे स्वाभाविक है कि-वह एक ही उपास्यको चुन ले। त्रिगुणोंकी सङ्करतामें व्यवहार-वादमें हानि समझकर ही गरुड़-पुराणके उक्त वचनमें भयानक निन्दार्थवाद प्रयुक्त किया गया है। अतः विरोधकी कोई बात नहीं। अपने-अपने पक्षको सभी बड़ा बनाते हैं। यही त्रैतवादी वादी ही दयानन्दी-सम्प्रदायको अन्य सब सम्प्रदायोंसे अच्छा समझता है; और दूसरोंको गन्दी-गन्दी, भटियारिनोंको भी मात कर देने वाली गालियां दिया करता है, इसी प्रकार यहाँ भी दृष्टिकोणकी भिन्नतामें ही पर्यवसान समझना चाहिये; किसीकी निन्दामें तात्पर्य नहीं।

(३६) 'महादेव बेटे थे, वा ब्रह्मा-विष्णु बेटे'-इस विषयमें 'आलोक' (७) में 'कौन पिता' (पृ. २८४-२६४) तथा पृ. ६११की टिप्पणीमें देखो। वादी अपनी पुस्तकोंमें ही एक ही बातकी

पुनरुक्ति बहुत किया करता है। (३७) अनसूयासे त्रिदेवकी व्यभिचारकी चेष्टा पर 'आलोक' (७) पृ. ६४-६७, २३०-२३१ में देखो। (ख) पञ्चमकारोंके विषयमें 'आलोक' (५) पृ. ७६८-८०५ में तथा इस पुष्प (के पृ. ७८७-७६३) में देखें।

(३८) 'प्रत्यक्षमिह देवेन्द्र! पश्य लिङ्गं भगान्वितम्' (महा. अनु. १४।२२७), गिरिजां योनिरूपां च···, तत्र लिङ्गं च तत् स्थाप्यं' (शिव. कोटिरु. १२।३७) 'भगेन सहितं लिङ्गं भगलिङ्गेन संयुतम्। इहामुत्र च भोगार्थं नित्यभोगार्थमेव च। भगवन्तं महादेवं शिवलिङ्गं प्रपूजयेत्। स्वचिह्नपूजनात् प्रीतः···चिह्नकार्यं तु जन्मादि जन्माद्यं विनिवर्तते' (शिव. विन्ध्ये. १६।१०४-१०८) लिङ्गवेदी महादेवी लिङ्गं साक्षान्महेश्वरः। तयोः सम्पूजनादेव स च सा च समर्चितौ' (शिव. वायवीय. उत्तर. ३४।१३-१४) इन पद्योंसे स्पष्ट है कि-यह शिवके चिह्न (ज्ञापक वा प्रतिनिधि) हैं। यहां लिङ्गवेदी (लिङ्गकी आधारस्थली)को पार्वती तथा लिङ्गको महादेव बताया गया है। इससे वादी जो कि यहां लिङ्ग-योनिको मानुषी उपस्थ मानता है; उसकी बात कट गई। शिवका लिङ्ग शिश्नाकार न होकर अण्डाकार है; अतः शिव-लिङ्ग अण्ड-ब्रह्माण्डकी प्रतीक है। इसपर स्वा.द.का वचन 'आलोक' (६) पृ. ६५३में देखो। महादेव-पार्वती कोई मनुष्य स्त्री-पुरुष नहीं हैं, न उनके अङ्ग प्राकृत वा अस्पृश्य वा लज्जा-स्पद हैं; किन्तु वे जगत्के आदिकारण पवित्र देवाधिदेव हैं, हम लोगोंकी भांति अपवित्र लहू, हड्डीके प्राकृत अंग वाले नहीं

हैं। अतः कोई भ्रमका उनमें अवकाश नहीं। इस विषयपर 'आलोक' (७) पृ. ११०-१२१ तथा २२५-२३६में तथा नवम पुष्प पृ. ६५६-६६२में देखो।

वादी याद रखे कि-लिङ्ग शिवके निर्गुण-निराकार स्वरूपका प्रतीक होता है, और शिवकी सब अङ्गों वाली पूरी मूर्ति सगुण-साकार-रूपका प्रतीक होती है। इसलिए लिङ्गमूर्तिमें किसी अंगका चिह्न न होकर सफियाना मूर्ति हुआ करती है। इस विषयमें वह 'आलोक' (७) पृ. ६१० की टिप्पणी अथवा नवम पुष्प देखे। यह मानुषी उपस्थ भी नहीं है; इसपर वह आर्य-समाजके शास्त्रार्थमहारथी नेता स्वा. समर्पणानन्दजी (श्री बुद्धदेवजी विद्यालङ्कार)का 'टङ्कारा पत्रिका (ज्ये. २०२२।६।८) तथा 'परोपकारी (६।८)में भी महत्त्वपूर्ण भाषणका कुछ अंश सुने। वे लिखते हैं—'हमारा कहना है कि-आर्यों (हिन्दुओं)ने उपस्थपूजा कभी की ही नहीं यह उपस्थपूजाका इशारा कदाचित् शिवलिङ्गपूजाकी ओर है, सो इनसे पूछे कि-शिवलिङ्ग-की आकृति उपस्थेन्द्रियसे मिलाकर तो दिखलाइये। शिवलिङ्गकी मूर्ति यदि योनिमें प्रविष्ट लिङ्गकी मूर्ति होती; तो इसका पतला और नोकीला भाग नीचेकी ओर होना चाहिये था'

न केवल आर्यसमाजके स्वा. समर्प. (श्रीबुद्धदेव)जी ही शिवलिङ्गको उपस्थ नहीं मानते; किन्तु आर्यसमाजके ब्रह्मचारी उषर्बुधजीने भी अपने 'रुद्र-देवता'में कुछ प्रकारभेदसे लिखा है—'यह लिङ्गपूजा शिश्नपूजा न होकर दीपशिखाकी आकृतिके

ज्योतिर्लिङ्गकी पूजा ही थी। शिवपुराणादिमें भी ज्योतिर्लिङ्गोंका ही वर्णन आता है'।

(३६) 'शिवनाभिमयं लिङ्गं प्रतिपूज्यं महर्षिभिः। श्रेष्ठं च सर्व-लिङ्गेभ्यः तस्मात् पूज्यं विशेषतः' (शब्दकल्पद्रुम) यहां 'नाभि'का अर्थ 'केन्द्र' है। यहाँ भी 'लिङ्ग'का अर्थ 'मूर्ति' है। सब 'लिंगों'का अर्थ सब मूर्तियोंका 'चिन्ह' है, यह स्पष्ट है, यहां 'सर्वलिङ्गेभ्यः'में गुप्त-इन्द्रिय अर्थ घट भी नहीं सकता। (४०) 'तिर्विष्टस्तमसा [तमोगुणेन] मूढो मां न जानाति शङ्करः। नारीसङ्गममत्तोऽसौ यस्मान्मामवमन्यते। योनिलिङ्गस्वरूपं वै रूपं तस्य भविष्यति' (पद्म. उत्त. २५५।३२-३३) इसमें वैष्णव पुराण होनेसे रुद्र-निन्दा हो; यह सम्भव है। भृगुका यह कथन क्रोधवश है। क्रोधवश कही बातका प्रामाण्य नहीं होता। इसका इतना ही अर्थ होगा कि-उसका रूप तमोगुण युक्त तथा योनि एवं लिङ्ग-जैसा होगा। सो यह वास्तविकता तो सिद्ध न हुई। लिङ्ग-जैसा स्वरूप तो देहलीके बसोंके सिगनलोंका भी होता है, योनि-जैसा स्वरूप तो पीपल वा पानके तथा तुलसीके पत्तेका भी तथा स.ध.के अर्घे (अर्घपात्र) का भी वैसी दृष्टिवालेको प्रतीत हो सकता है। 'ॐ'का स्वरूप भी योनि-लिङ्ग जैसा दीखता है, वही ॐ की आकृति शिवलिङ्गकी भी होती है। इस विषयमें 'आलोक' (७) पृ. २२७ देखो, क्या वस्तुतः उनको वादी भी योनि आदि समझ लेगा ? हां, वादियों-जैसी दृष्टि हो, तो वैसोंको सर्वत्र यही भग-लिङ्ग ही दीखेगा। वादी अपनी संस्का.वि.में प्रोक्षणी, शृतावदान-

पात्रकी आकृतियां देखे, उसे भग-लिङ्ग मालूम होंगे। कई कारखानोंके इञ्जन ऐसे होते हैं, उनमें भी वादीको यही दीखेगा। इञ्जनमें लोहेका डण्डा छिद्रमें आ-जा रहा होता है, वादी उसे भी वही मानेगा? महाशय! यह अपनी-अपनी मानसिक भावनाएँ होती हैं।

अग्निहोत्र जिस वेदीमें हो रहा होता है, उसमें अग्निकी ज्वाला जल रही होती है, यह ठीक भग-लिङ्ग जैसी दीख सकती है। यह यज्ञकी वेदी भग मालूम हो सकती है। देखे वह अपना हवनकुण्ड; और अग्नि लिङ्ग मालूम हो सकता है। जिस-जिसका जैसा मन होगा, वह वैसे-वैसे उसे देखेगा। वस्तुतः शिवलिङ्ग ब्रह्माण्डका प्रतीक है, ब्रह्माण्ड ही शिवका लिङ्ग है; इसलिए शिवलिङ्गकी मूर्ति शिश्नाकार न होकर अण्डाकार ही होती है; तब क्या 'ब्रह्माण्ड' शब्दमें 'अण्ड' (अण्डकोष) को भी वादी लज्जास्पद दृष्टिसे देखेगा? सो शिवलिङ्गकी पूजा शिवके विकसित दूसरे रूप उसके ब्रह्माण्डकी पूजा है; सो वस्तुतः यह शिवकी ही पूजा है। परन्तु वादीको सहस्रभग वा सहस्रलिङ्गका शाप मिला हुआ मालूम होता है। अतः उसे सारा जगत् ही भगलिङ्गमय दीखता है। इतना उसे ज्ञान नहीं कि-शिवा-शिव कोई मनुष्य स्त्री-पुरुष तो नहीं। अतः यहाँ 'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्' (९।११) मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः। राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः' (१२) यह गीताके श्लोक वादीमें पूरे घटते हैं। इन महाशयोंको इतना मालूम नहीं, शिवने जब अपना लिङ्ग बढ़वाया था, ऊपरको उसका ब्रह्मा पार नहीं पा सके; और नीचेसे विष्णु पार नहीं पा सके, तब यह जननेन्द्रिय मनुष्यकी मानी जावे, तो उसमें कैसे सङ्गति लग सकती है? जननेन्द्रियका नीचेकी गहराईसे कोई सम्बन्ध नहीं लग सकता, क्योंकि-जहां शिव बैठे होंगे; वहींसे तो जननेन्द्रियका प्रारम्भ माना जावेगा; तब उसके ब्रह्मा तथा विष्णुद्वारा आर-पार न मिलनेकी तुक कैसी? यह मानुषी उपस्थ कैसे? क्या उसका आर-पार नहीं पाया जा सकता? क्या स्त्री-पुरुषका रमण हजारों वर्षों तक हुआ करता है? यदि पार्वती और महादेवको प्रकृति-पुरुष मान लिया जावे, ईश्वर-ईश्वरी, महेश्वर-महेश्वरी मान लिया जावे, और उनके लिङ्गको ऊपर-नीचेका ब्रह्माण्ड मान लिया जावे; तब उसका अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है कि-उस परब्रह्मके लिङ्ग (प्रज्ञापक) ब्रह्माण्डका ऊपर-नीचे, दाएँ-बाएँ कहींसे भी किसीसे भी उसका पारावार नहीं पाया जा सकता। आकाशमें यह जो तारे दीख रहे हैं; यह सभी ब्रह्माण्ड ही हैं। इसका पार पाना क्या सुगम है? जब ऐसी दृष्टि हो; तो वादीके सभी आक्षेपोंमें दिया-सलाई लग जावे; पर यह लोग इस वास्तविक दृष्टिको अपनाना नहीं चाहते। यह तो साधारण जनताको ओछेसे ओछे प्रकारोंसे ठगकर, उनको वरगलाकर अपने चंगुलमें फँसाकर अपने सम्प्रदायवालोंकी संख्या बढ़ाना चाहते हैं। इस विषयमें

'आलोक' (७) पृ. २२५-२३० पृष्ठ तथा नवमपुष्प में देखो। शिवलिङ्गोंके पैदायशका 'शब्दकल्पद्रुमकोष'से जो उद्धरण दिया है; इसपर 'आलोक' (७) पृ. ११९-१२०, पृ. २३३-२३४ में देखो।

(४०) जो कि पद्मपुराणसे वादी शिवकी निन्दाके पद्य उद्धृत करता है, वह वैष्णव-पुराण होनेसे जनतामें विष्णुकी पूजामें निष्ठा रहे, अन्यमें नहीं; यह तात्पर्य वहां स्पष्ट है। इसी प्रकार शैव-पुराणोंमें विष्णुकी निन्दा, अपनी एकमें अनन्य-निष्ठास्थापनार्थ है, क्योंकि अल्पज्ञ सब मार्गोंमें चले; तो 'इतो भ्रष्टस्ततो नष्टः'का उदाहरण बन जावे। उस दुर्दशाको हटानेके-लिए कड़ी निन्दाका आश्रय करना पड़ जाता है। इस विषयमें 'आलोक' (७) पृ. ३४५-३५८ में देखो।

(४१) शिवजीके नाम।—शिवजीका नाम 'विरूपाक्ष' त्रिनेत्रताके कारण है, 'कुटिल-भ्रकुटी' दैत्योंपर है। जटाएं वानप्रस्थताको द्योतित करती हैं। 'विवासा कौपीनवासाः, दिगम्बर' यह शिवकी शीतोष्ण-सहनशक्तिको तथा निर्विकारताको द्योतित करते हैं। 'नीलकण्ठता'से वे स्वयं विष पीकर अन्योंको हलाहलसे बचाना सूचित करते हैं। 'भस्मोद्धूलितविग्रह'से भस्मका लाभदायक होना सिद्ध करता है। भस्मके लाभ तथा चिताभस्मका रहस्य वादी 'आलोक' (५) पृ. ३६७-३७० में देखे। 'श्मशानाधिपतित्व' का कारण मृत्युके देवता एवं प्रलयकारी होनेसे है। 'निशाचर'से प्रलयकी निशा (रात्रि) में अकेले होकर विचरना इष्ट है। 'पिनाकी' से शिवके दुष्टोंकेलिए धनुषधारी होनेसे प्रशंसा है;

उससे वे दैत्योंका शिकार करते हैं; पर वादी दैत्योंके सिद्धान्तोंका प्रेमी होनेसे शिवसे बिगड़ता है; क्योंकि-दैत्य और दैत्योंका काम उसे खूब इष्ट है, कारण स्पष्ट है। 'राहुः' यह शिवका नाम यौगिक है—'यो रहति-परित्यजति, रहयति-परित्याजयति वा दुष्टान् स राहुः-ईश्वरः' यह स.प्र.के १म समुल्लासमें देखो। 'शनि' यह नाम भी विशेषण होनेसे यौगिक है-'शनैश्चरति', जो सबमें सहजसे प्राप्त धैर्यवान् हो, देखो अपना स.प्र.। उसीका संक्षिप्त नाम 'शनि' है। विशेषण वा गुणनाम सदा यौगिक होते हैं, यह वादी याद रखे, हां विशेष-शब्द रूढि हो सकते हैं।

'कामुकवरः, कामदेवः, कामातुरः, महालिङ्गः, ऊर्ध्वलिङ्गः, धूर्तः, शिखण्डीशः' इत्यादि नामोंका रहस्य 'आलोक' (७) पृ. १३२-१३७ देखो। 'उन्मत्तवेष' शिवका दूसरोंके दोषोंके देखनेमें न रहकर अपनेमें मस्त रहना, तथा उनकी अवधूतता बताता है। 'भयदाता' तथा 'उग्रः' शब्द दैत्यों या कुकर्मियोंकेलिए है। 'मृगव्याधः'का अर्थ 'हिरनोंका वध' नहीं है; किन्तु दक्षका यज्ञ-जिसने सतीका अपमान करके उसे जलवा दिया था, शिव जब उसे सीधा करने आये; तो वह यज्ञ मृगरूप होकर भागकर अपनी जान बचाना चाहता था; शिवने उसको बींधा (व्यध ताडने-तु.अ.प.), दूसरा सरस्वतीके पीछे मृग होकर दौड़ते हुए ब्रह्माको बींधा था; इसलिए आकाशमें अब भी 'मृगशिर' नक्षत्र उसकी स्मृतिको बता रहा है। शिवके नाम जहां भी कहे हैं; वे

स्तोत्र होनेसे निन्दाबोधक नहीं हो सकते, किन्तु स्तुतिवाचक होते हैं; गुणवाचक होनेसे वे नाम यौगिक हैं. पर इस दोषैकदर्शी वादीने बलात् उसमें निन्दा निकालनेकी दुश्चेष्टा की है।

कई शब्द द्वयर्थक होते हैं, जैसे कि-'कृपण'का अर्थ 'कंजूस' भी होता है, 'दीन' भी। 'कदर्य'का अर्थ 'कंजूस' भी होता है, 'नीच' भी। सो प्रकरणके अभिप्रायानुसार अर्थ करना पड़ता है, पर यह निन्दक वादी स्तोत्रोंमें भी बलात् निन्दाका अर्थ करता है।

(४२) पार्वतीको भी दैत्योंको मारनेकेलिए कई प्रकारके रूप धारण करने पड़ते हैं, उन नामोंसे उसकी निन्दा नहीं। 'योनि-स्वरूपिणी'का अर्थ 'सबकी कारणस्वरूपा' है। रक्तबीजको मारनेकेलिए 'दानवानां बहूनां च मांसं च रुधिरं तथा' (शिवपु.) कहा जाता है; वहां अन्य कोई उपाय नहीं था। किसीका प्रलय करना हो; तो वहां उसका रक्त-मांसभक्षण कहना पड़ता है। चण्ड-मुण्डकी सेनाके प्रलयकेलिए उस सेनाका खाना कहना ही पड़ता था; तभी उसे 'मांसभक्षिणी' कहा जाता है। प्रलयमें भी भगवान्को 'अत्ता' कहा जाता है कि-भगवान् सबका भक्षक है। सबका मांस-रुधिर खाता है। देखो वेदान्तदर्शन-'अत्ता चराचरग्रहणात्' (१।२।६) में कठोपनिषद्का वचन दिया गया है-'यस्य च ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः' (१।२।२४) अतः शाङ्करभाष्यमें लिखा है-'अत्ता अत्र परमात्मा भवितुमर्हति। चराचरं हि स्थावरजङ्गमं मृत्यूपसेचनकं (ओदनमिश्रघृतवत्) इह आद्य (भोज्य) त्वेन प्रतीयते, तादृशस्य च आद्यस्य (भोज्यस्य)

न परमात्मनोऽन्यः कात्स्न्र्येन अत्ता सम्भवति। परमात्मा तु विकार-(कार्य) जातं संहरन् सर्वम् अत्ति (भुङ्क्ते) इत्युपपद्यते।...'अनश्नन् अन्यः' इत्यत्र कर्मफलभोगस्य प्रतिषेधकमेतद् दर्शनम्, तस्य संनिहितत्वात्, न विकार (कार्य) संहारस्य प्रतिषेधकम्, सर्व-वेदान्तेषु सृष्टि-स्थिति-संहार-कारणत्वेन ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वात्। तस्मात् परमात्मैव इह अत्ता (भक्षकः) भवितुमर्हति'। इसी प्रकार यहां प्रलयाधिष्ठात्री देवी पार्वतीको राक्षसोंके मांसादिकी भक्षिका कहा है। इसलिए ऋग्वेदसं.में 'इन्द्रको 'वृत्रखादम्' (१०।६५।१०) वृत्रासुरका खानेवाला कहा है। जो समाधान वेदमें होगा, वही पुराणमें भी। युद्धोंमें मस्तीकेलिए मधु-आसवका प्रयोग अब भी सर्वसम्मत है, ऐसा करनेसे योद्धा शत्रुओंसे अपने मरनेका विचार हटाकर प्रबलतासे लड़ता है। इसी कारण उसे 'मधु-मांसासवप्रिया' कहा जाता है। शुम्भ, निशुम्भ दैत्य थे, यदि देवी उनको मारती है, तब वादी उसकी निन्दा करके क्यों अपना दैत्य-सख्य बताता है ?

'स्वैरिणी' का अर्थ जगदम्बिका होनेसे उसपर किसी अन्य-का अंकुश (कंट्रोल) नहीं है। उपासक-मनुष्य उपासकके लोकोत्तर गुण नहीं लेता; किन्तु अपनी मर्यादा वाले ही। हनुमान्का उपासक उसका समुद्रका उल्लङ्घन नहीं ले सकता। वादी अपनेको परमेश्वरका उपासक मानता होगा, परमात्मा प्रलय करता है, तब क्या वादी भी प्रजाको मारनेको सदा उद्यत रहता है ? दुर्गाको समयपर सत्त्वगुण, तथा समयपर दैत्योंके

दमनार्थ तमोगुण भी धारण करना पड़ता है। इसलिए 'वैकृतिक-रहस्य'में भी कहा है-'त्रिगुणा तामसी देवी सात्त्विकी या त्रिधोदिता ।१। महाकाली तमोगुणा। मधुकैटभनाशार्थं' (२)।

(४३) दारुवनकी कथापर 'आलोक' (७) पृ. २१५-२२० देखो। सभी पौराणिक दारुवनकी कथाओंमें वहां शिवका 'परीक्षार्थ' गमन कहा है, व्यभिचारार्थ नहीं। वादीने उसपर ७ प्रश्न किये हैं; वे भी वहीं उत्तरित हैं। (ख) विल्वपत्रका वादी लाभ बताता है, इस प्रकार जल चढ़ानेका भी। इससे यही तो सिद्ध होता है कि-यह जहां मूर्तिपूजा है; वहां पुरुषोंके लाभप्रद वैज्ञानिक रहस्योंसे भी पूर्ण है। पुराणोंमें तीन प्रकारकी (समाधि, परकीया, लौकिकी) भाषाएँ तथा एक भी कथामें तीन प्रकारके भाव (आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक) भी सुरक्षित हैं। जब वादी भी पुराणके प्रमाणसे कहता है कि-जगत् भी इन शिवके चिन्होंको ही धारण करता है; तब उससे जनताको भी लाभ उठवा ले। केवल खण्डन-मण्डनमें रहनेसे यह रहस्य ज्ञात नहीं हो सकेंगे। शिवके दिव्य होनेसे वहां मानुषी प्राकृत अङ्ग नहीं हैं, अतः न कोई यह लज्जाकी बात है, और न उपहास की। यह वह सदाकेलिए समझ रक्खे।

(ग) शिववीर्यसे सोना-चाँदी बननेकी बात शिवकी तथा शिवके अंगोंकी दिव्यता है। मानुषी वीर्य होनेपर उसके गिरनेसे तो वह व्यर्थ हो जाता है, 'अतः शिव मनुष्य न होकर देवता सिद्ध हुए;' तब उनपर मानुषी दृष्टिकोणसे उपस्थित किया हुआ वादीका दोष व्यर्थ सिद्ध हुआ। मोहिनीके पीछे दौड़ना विष्णुमायासे शिवका भी मोहमें पड़ जाना सूचित किया है। सोना-चाँदी 'अपामग्नेश्च संयोगाद् हैमं रौप्यं च निर्बभौ' (मनु. ५।११३) अग्नि और जलके संयोगसे होता है; शिव हैं अग्निस्वरूप, 'रुद्रो वै एष यदग्निः (कृ.य. तै.सं. ५।४।३।१) 'तस्मै रुद्राय नमो अस्तु अग्नये' (अथर्व. ७।९२।१) और जलस्वरूप भी। तभी उनकी ८ मूर्तियोंमें जल और अग्निकी मूर्ति भी मानी गई है। उन्हीं दो के संयोगवश उनके वीर्यसे सोना-चाँदी होना वैज्ञानिक भी सिद्ध हुआ। यह वादीको जो बार-बार लघुशङ्काएँ हुआ करती हैं; उसका कारण अबहुश्रुतता रूप निर्बलता है। जब वादी श्रद्धामूलक यथार्थता तथा बहुश्रुततारूप शिलाजीतका सेवन करेगा; तब उसकी निर्बलता दूर होजानेसे बार-बारकी उसकी लघुशङ्काएँ भी दूर होंगी।

(४४) शिववीर्यसे हनुमान्के जन्मपर हम अन्यत्र लिख चुके हैं। शिववीर्यसे पारा तथा गन्धक आदिकी उत्पत्तिमें भी वही कारण दिव्यता तथा कई वैज्ञानिक रहस्य हैं। अनुसन्धानसे जाकर तो पता लग सकेगा कि-जैसे भांग शिवकी बूटी मानी जाती है, वह बवासीर आदिमें कल्याणकारिणी होती है; इस प्रकार पारा एवं गन्धक भी स्वास्थ्यकारी होनेसे कई व्रणोंके दूर करने वाले होनेसे शिव-वीर्य कहे गये हैं। दोषदृष्टि वा उपहाससे एतदादिक रहस्य नहीं खुलते। (ख) इलावृत देशपर पहले लिखा जा चुका है। वेश्यानाथ तथा आडिवधकथा आदि-

पर 'आलोक' (७) पृ. १३७-१३९, ४५३-४५६ तथा ८८२ पृ. की टिप्पणीमें तथा गत निबन्ध (५ ख) पृ. ८४२-८४३ में लिखा जा चुका है। इस प्रकार वादीकी पुस्तकके शिवदूतीका अण्ड-कोषभक्षण. स्त्रीलम्पटदेव, 'धूर्तैः पुराणचतुरैः, पौराणिकानां व्यभिचारदोषो, भ्रष्टलोग भागवत पढ़ते हैं, पुराणपाठकका पूर्ण बहिष्कार, पुराणोंमें अंग्रेजी, पुराण शूद्रोंकेलिए, इत्यादि सभी विषयोंमें 'आलोक' (६-७) में तथा कई बातें इस पुष्पके गत-निबन्धोंमें भी प्रत्युत्तरित की जा चुकी हैं। वादी अपनी पुस्तकोंमें वही बातें बार-बार लिखकर अपनी पुस्तकोंकी तोंद बढ़ाता है।

(४५) शिवकी लिंग-मूर्ति तथा पञ्चमुख-मूर्तियोंका रहस्य हम 'आलोक' (७) पृ. २२५-२३६ तथा इस निबन्धके (३८) अङ्कमें लिख चुके हैं। कई मन्दिरोंमें शिवलिंगमें शिवजीकी मुखकी मूर्ति रखना ही सिद्ध कर रहा है कि-वहाँ लौकिक स्त्री-पुरुषकी जननेन्द्रियोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं। (ख) मूर्तिपूजा कम-अक्लोंकेलिए है-इत्यादि विषयोंपर 'आलोक' (७) पृ. १४६-१६६ में लिखा जा चुका है।

(४६) "भस्मधारी ब्राह्मणको छोड़ देवे, त्रिपुण्ड्रधारी पतित होता है, शिवभक्त नरकगामी हैं, शिवलिंग-पूजकोंको घोर दुःख मिलेगा" इत्यादि बातें वैयक्तिक एक व्यक्ति भृगुके वचन तथा अपने-अपने इष्टदेवके पुराणमें एकमें निष्ठास्थापनार्थ भयानक निन्दार्थवाद वचन हैं। सो अर्थवादमें सभी शब्दोंका अर्थ न लेकर उनका तात्पर्यमात्र देखना पड़ता है, इस शैलीको न जानने वाले निन्दक लोगोंकी आंखें तथा मस्तिष्क निन्दाके मलसे कलुषित होनेसे कुछ देख वा समझ नहीं पाते। (ख) शिवलिंगपर जल चढ़ाना ज्वालामुखीका फिर छूटना नहीं, जैसे कि वादीने उपहास किया है, किन्तु पूजार्थ है। गणेश-ब्रह्मा-विष्णु आदि सभी देवोंकी मूर्तिपर जल चढ़ाया जाता है; क्या वहां वादि-प्रोक्त कारणकी कुछ भी संगति है? क्या वादी उनकी ज्वाला फूटनेका डर कभी सिद्ध कर सकता है? यदि नहीं; तब स्पष्ट है कि-वादि-प्रोक्त कारण यहां नहीं है, किन्तु ब्रह्माजी-के कहे प्रकारसे यह पूजा है।

(४७) श्रीरामकी महादेवकी पूजा 'अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद् विभुः' (वाल्मी. ६।१२५।२०) में स्पष्ट है; सो महादेवकी पूजा निर्गुण-निराकाररूपसे लिंगमूर्ति (सफियाना मूर्ति)में और सगुण-साकाररूपमें मुखादि अंगों वाली शिव-मूर्तिमें की जाती है; इस विषयमें 'आलोक' (७) पृ. २२६ तथा पृ. ६१० की पूर्वोक्त उस पृष्ठकी पूरक टिप्पणी देखो। 'रामेश्वर-लिंग'की प्रतिष्ठापना प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना है, इससे लिंग महादेवकी निर्गुण मूर्ति-विशेष ही सिद्ध है। इसपर प्राचीन-टीका रामाभिराम (तिलक)में स्पष्ट लिखा है- 'अत्र सेतुमूले पूर्वंसेतुबन्धनात् पूर्वं विभुर्महादेवो मम रामस्य प्रसादमकरोत्-मत्स्थापितत्वेन अत्र स्थितोऽभूत्। सेतोर्निर्विघ्नतासिद्ध्यै समुद्र-प्रसादानन्तरं शिवस्थापनं रामेण कृतम्-इति गम्यते। ....'सेतुं दृष्ट्वा

समुद्रस्य ब्रह्महत्यां व्यपोहतीति स्मृतेः। कूर्मपुराणे रामचरिते तु अत्र स्थाने स्पष्टमेव लिङ्गस्थापनमुक्तम्। त्वत्स्थापित-लिंगदर्शनेन ब्रह्महत्यादिपापक्षयो भविष्यतीति महादेव-वरदानं च स्पष्टमेवोक्तम्। तत एवावधार्य पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोत्। ततः सेतु-बन्धनं जातमित्यक्षरार्थः। (६।१२५।२०-२१) इससे हमारा पक्ष सिद्ध और वादीका पक्ष खण्डित होगया। पुराण वाल्मी. रामायणके उपजीव्य हैं; तभी तो वाल्मी.रा.में स्थान-स्थानपर पुराणोंका नाम भी आता है—'पुराणेषु मया श्रुतम्' (१।६।१) तभी तो वाल्मी.में अकथित रघुवंशचरित्र पुराणोंमें मिलता है—इस विषयमें 'आलोक'में अन्यत्र देखो।

(ख) हमने पुराणोंकी प्राचीनताके विषयमें यत्र तत्र लिखा है। अब हम एक शोधकर्ता इतिहासलेखकका भी उद्धरण देते हैं—

'परन्तु इस बातको भी न भूलना चाहिये कि–पुराणोंका संकलन बहुत प्राचीन है। उनका प्रारम्भ वेदोंके समयसे पूर्व तक जाता है, और उनका उल्लेख अथर्ववेद (१५।६।१२) तकमें मिलता है। उन पुराणोंका भी एक मूल पुराण था, जिसका संवर्धन और सम्पादन समय-समय पर होता आया है; और ऐतिहासिक युगमें जिसका बृहत् सम्पादन उस समर्थ इतिहास-कारने किया, जिसका नाम भारतीय-संस्कृतिमें प्रतिनिधिस्वरूप जीवित रहेगा। वह है यशस्वी व्यास-कृष्णद्वैपायन व्यास।... इतिहासके अनेक प्रशस्त युग तो कबके बीत चुके थे, और

उनकी घटनाएँ किसी न किसी रूपमें लिखी अथवा कही भी जा चुकी थीं; क्योंकि–व्यास तो सम्पादकमात्र थे' ('प्राचीन भारत-का इतिहास'–श्रीभगवतशरण उपाध्याय पृ. १-२)

यद्यपि हम इस कथनसे पूर्णतया तो सहमत नहीं हैं; तथापि यह कथन हमारे विचारोंका अधिकांश पृष्ठपोषक है। वादिप्रति-वादिमान्य श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल भी यही मत रखते हैं।

(ग) शेष रहा शिवद्वारा रामकी पूजा, और रामद्वारा शिवकी पूजा, यह दोनोंकी अभिन्नता बता रहा है। रामद्वारा शिवकी पूजा मानुष्यकमें महान् देवकी पूजाकी मर्यादास्थापनार्थ है। इस विषयमें गत निबन्धोंमें भी लिखा जा चुका है।

(घ) पद्मपुराणमें शिव-शिवाकी द्यूत-क्रीडा द्यूत-व्यसनकी हानिके प्रदर्शनार्थ है, जो उसमें बताई गई है, आश्चर्य है कि-वादी इन रहस्योंको नहीं देखता; ऊपर-ऊपर ही देखता रहता है। वह कथा वेदके अक्षसूक्तमें कही हुई द्यूतके परिणामोंके उदाहरण बतानेकेलिए है, इसीलिए तो पुराण वेदके पुराकल्प अथवादरूप भाष्य हैं। रावणद्वारा शिवलिंगपूजामें कारण राक्षसत्व नहीं है, जब कि देवताओं द्वारा तथा श्रीराम एवं हनुमान् आदिके द्वारा तथा मनुष्यों द्वारा भी वह पूजा दिखलाई गई है। देखो–'ततः प्रभृति शक्राद्याः सर्व एव सुरासुराः। ऋषयश्च नरा नागा नार्यश्चापि विधानतः। लिंग-प्रतिष्ठां कुर्वन्ति लिंगे तं पूजयन्ति च। (शिव. विद्ये. ३५।८५) यही महादेवकी महत्ता है। पर वादीकी उससे अनभिज्ञता सिद्ध हो रही है, जो कि

उसकी निन्दा करता है।

(४८) 'रामके समय मूर्तिपूजा नहीं थी। इसपर जो भविष्य-पु.का वादीने वचन दिया है, उसका प्रत्युत्तर वादी 'आलोक' (७) पृ.५३५-५४१ में तथा पृ. २४४-२४६में देखें। देवागाराणि शून्यानि न भान्तीह यथा पुरा। देवतार्चाः (देवमूर्तयः) प्रविद्धाश्च यज्ञ-गोष्ठास्तथैव च' (वाल्मी. २।७१।४०) यहांपर श्रीरामचन्द्रजीके समय मूर्तिपूजा स्पष्ट है। इसपर 'आलोक' (७) पृ. ५२५-५३६ देखो। शिव जब महान् देव हैं; तब उनकी मूर्ति शिवलिंगके पूजनका जो माहात्म्य दिखलाया गया है; उसमें अर्थवाद भी माना जावे; तथापि उसका तात्पर्य उसके पूजनमें ही सिद्ध हुआ। उसमें लाभ भी हैं। मन्दिर प्रायः ग्राम आदिके बाहर शुद्ध स्थानोंमें होते हैं। प्रातः के शुद्ध समय जहां फुलवाड़ी लगी होती है; फिर उस शुद्ध देश-काल एवं शुद्ध वायुमण्डलमें शुद्ध भाव एवं श्रद्धासे भगवान्की पूरी निष्ठासे मूर्तिके माध्यमसे पूजा हो, वादीकी भांति भ्रष्ट भाव न हो; तब रोगमुक्ति भी स्वाभाविक है; क्योंकि—महापुरुषोंका सहारा वही महान् देव ही तो है। यह कोई शास्त्र नहीं कहता कि—शिवलिंगकी पूजा तो करते रहो; पर संसारी व्यवहार न करो। भगवान् तो पूजाके साथ ही साथ संसारी व्यवहार करना भी बताते हैं—'मामनुस्मर युध्य च' (८।७) 'सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ-व्रताः। नमस्यन्तश्च मां भक्त्या' (९।१४) यहांपर 'शुद्ध' तथा 'यत्न' संसारी व्यवहारोंका उपलक्षण है। शेष रहा लूटना-

खाना; यह तो वादी अपने साम्प्रदायिक समाजोंको देखे; जिसने बड़ी-बड़ी बिल्डिंगें बनवा ली हैं; जिनका 'प्रोपेगण्डा' विभागमें हजारों रुपये रिजर्व रखा गया है। यह कहांसे आता है ? वेदोंके नामसे केवल ब्राह्मणोंको वा पुराणोंको गाली-गलौज देकर, लोगोंको कई सब्जबाग दिखलाकर कितने लाखों रुपया सनातनी सेठों वा लोगोंसे लूट लिया जाता है। हां, यह सभ्य-लूट है। विष्णु, शिव आदि विदेशी नहीं, किन्तु अपने विशेष धाममें विद्यमान भी सर्वव्यापक देव हैं।

(४९) "यदि वही दूषित आचार-विचार एवं संस्कार वाला व्यक्ति समाजके मध्यमें रहने लगे; तथा दूसरे लोगोंके ऊपर अपनी माया फैलाकर अथवा दूसरोंको प्रेरणा देकर उन्हें भी अपने-जैसा कुमार्गगामी बनाने लगे, तो इससे सारे समाजकी हानि होती है" यह अपनी बात वादी अपने वा अपनोंपर घटा देखे; तो ठीक घट जावेगी।

(ख) शिवमायाके चमत्कार-विषयमें 'आलोक' (७) पृ. २६०-२६६ में देखें। वादीने फिर वहीकी वही, कभीकी खण्डित की हुई अपनी बातें फिर यहाँ आ पटकी हैं; जिससे उसके पोथे बनकर उसको 'ग्रन्थकार'की पदवी प्राप्त हो जावे।

(५०) 'चोटीमें गाँठ लगा ले, ताकि ध्यानके समय बाल हवासे उड़कर चित्तको न बटावें' ऐसे निकम्मे रहस्य बताकर वादी अपने अगाध ज्ञान (?) का नमूना बता रहा है। इस विषयमें 'आलोक' (५) में 'शिखारहस्य' देखो।

(५१) "उपासककी संकल्प शक्ति हथेलीके जलमें प्रवाहित होकर दृष्टिपथ द्वारा उस जलमें प्रवेश करके उसको वास्तवमें अमृत बना देती है; और उसका शरीरपर वही प्रभाव होता है, जो भक्त मन्त्रद्वारा चाहता है" इस प्रकारकी अपनी बातें यदि वादी श्रद्धित कर ले; तब उसे पुराणोंपर वा सनातनधर्मप्रोक्त रीतियोंपर आक्षेपका अवसर ही न मिले। पर निष्पक्ष दृष्टि हो; तभी तो ऐसा हो।

(ख) प्रभुको बिल्कुल अपने अन्दर व्याप्त बताता हुआ और अपने अन्दर उसका ध्यान करता हुआ वादी क्या मूर्तिपूजक सिद्ध न हुआ; क्या अत्यन्त छोटे और जड़ हृदयमें परमात्मा घुस सकता है; और मूर्तिमें नहीं घुस सकता क्या? क्या ध्यानके समयमें उसे हड्डी, लहू, आदिका विचार नहीं आ सकता? यदि नहीं; तब उस मूर्तिमें भी उसकी उपासना क्यों नहीं करते हो? और उसकी निन्दा कैसे करते हो? प्रार्थना आदि सभी मूर्तिमें व्यापक भगवानसे भी हो सकती हैं। देवी, देवता भगवान्के अंग हैं, भगवान अंगी है। अंगीकी पूजा अंगोंके बिना कभी हो भी नहीं सकती। इसलिए देवपूजा की जाती है। जब वादीके अनुसार ईश्वर मूर्तिमें भी व्यापक होता है, तब उससे ध्यान-द्वारा नैकट्य प्राप्त क्यों नहीं हो सकता? परमात्मा क्या अन्तःकरणसे बाहर नहीं होता? तब उसे केवल जड़-अन्तःकरणमें बन्द करना-यह वादीकी मूर्तिपूजा ही तो हुई?। तब मूर्तिपूजाके भी बहुतसे प्रकार शास्त्रीय होनेसे भक्त जो

मार्ग अपनी श्रद्धाके अनुसार अपनाना चाहे; उसे 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः' (गीता १७।३) वैसा फल मिलेगा। हृदयमें भी भगवान्की पूजा आप लोगोंको पुराणोंने ही तो सिखलाई है, देखो श्रीमद्भागवत (११।२७।९) परन्तु जो खण्डन-व्यसनी हो; निन्दक हो, परच्छिद्रान्वेषी हो, केवल अपने सम्प्रदायका पालतू जीव हो, जो एक देवके भक्तकी एकमें निष्ठास्थापनार्थ प्रयुक्त की हुई विष्णुके पुराणोंमें शिवकी निन्दाभासके तथा शिवके पुराणोंमें आये हुए विष्णुके निन्दाभास-वचनोंको एकत्र करके उनका यथार्थ तात्पर्य छिपाकर शैव-वैष्णवोंको लड़ाना चाहता हो, जिसे सदा सर्वत्र व्यभिचारके ही स्वप्नदोष हुआ करते हों, समयपर गीताकी प्रशंसा करे (देखो उसका 'पुराणोंके कृष्ण') समयपर गीताके सुनानेवालेको मूर्ख, बकवासी आदि शब्दोंसे भरपेट गाली निकाला करे, पानी पी-पीकर उसे कोसा करे; देखो उसका 'गीता विवेचन' ऐसे नारकीय-जीवका भ्रम दिखलाना हमारे कर्त्तव्यमें आ जाता है।

आशा है—बुद्धिमान् लोग विपक्षियोंके षड्यन्त्रोंमें फँसकर अपना इहलोक एवं परलोक न बिगाड़ेंगे। हमने उनकी अब तक की प्रायः सब पुस्तकोंके कहे पक्षकी कमर तोड़ दी है। हमें आशा है कि-समझदार लोग इसपर पूरा ध्यान देंगे। वादीने स्थान-स्थान पर पुनरुक्ति की है, बड़े गन्दे ढंगसे आलोचना की है, इस प्रकारण हमें भी कहीं-कहीं वैसा करना पड़ा है। वादीके

जिन प्रश्नोंका यहां उत्तर न दीख रहा हो, उनका प्रत्युत्तर 'आलोक' (६-७-८-९ पुष्पों)में दे दिया गया है। वादी समझता था कि-उसकी पुस्तकोंका प्रत्युत्तर कोई दे ही नहीं सकता, पर हमने उनका पूरा प्रत्युत्तर दे दिया है, आशा है-वह समझ जायगा। हमने अपने बहुत-से निबन्ध देने थे; पर उनको हमने अग्रिम पुष्पोंकेलिए छोड़कर उसके प्रश्नोंका ही यहां जनताके उपकारार्थ प्रत्युत्तर दे दिया है। अब वादीकी प्रेरणासे प्रकाशित की हुई 'मूर्तिपूजा-मीमांसा' पर विचार किया जाता है।—

---

(१७) मूर्तिपूजा-मीमांसा।

अब हमारे सामने वादीसे समर्थित किसी बूढ़े, ८० वर्षसे ऊपरके स्वा. यथार्थानन्द वस्तुतः अयथार्थानन्दजीकी 'मूर्तिपूजा-मीमांसा' रखी है; उसमें बच्चोंकी सी बातें लिखी हैं—'बच्चा-बूढ़ा बराबर'। अतः उसमें उत्तरणीय तो कुछ भी नहीं; पर उन्हें यह मोह न रहे कि—'हमारे क्षुद्रनिबन्ध (ट्रैक्ट) पर कुछ लिखा नहीं गया' इस 'आलोचना'में उस पर भी 'कुछ' लिखकर इस प्रकरणको समाप्त करेंगे। 'दो शब्द'में हमारे लिए वादीने लिखा है कि-'पौराणिक गल्पोंको सत्य सिद्ध करनेकेलिए दिन-रात अपना खून-पसीना एक करते रहते हैं, उनके पुस्तकोंमें यथार्थ-सामग्री तो कुछ नहीं होती', यह वादीकी बात गलत है। हमारा पढ़ानेमें समय बहुत जाता है, प्रातः ८॥ बजेसे घरसे गया हुआ

फिर रातके ८॥ बजे लौटता हूँ, ट्रेन, बस एवं कारोंमें मेरा समय बहुत जाता है। दिन-रात मेरे पास लिखनेका समय कहाँ ?। 'मेरे लेखमें यथार्थ सामग्री नहीं रहती' यह तो वादीका काँप रहा हुआ हृदय ही जानता है, पर यह लोकदृष्टिमें लिखकर अपने आँसू तो वादीने पोंछने ही हैं। हमारी ग्रन्थमालाके एक साधारणसे ग्राहक एक साधुने ही उसके पक्षकी कमर तोड़ दी है।

(१) एक आर्यसमाजीपत्र 'वेदप्रकाश-देहली' (५।२) में 'भारतीय संस्कृति'के ३ प्रतीक' पर हमारा एक आलोचनात्मक लेख निकला था; उसमें 'नमस्ते' विषयका जो लेख हमने संलग्न किया था, उसके उत्तर देनेमें 'प्रतीक'के लेखक प्रतिपक्षीकी लेखनी चीं बोल गई थी; अतः उक्तपत्रके सम्पादकने श्रीराजेन्द्र-जीकी मानहानिसे बचावकेलिए वह हमारा लेख तो छापा ही नहीं था; इसमें उक्त पत्रके प्रकाशक श्रीविजयजीकी साक्षी भी है। शेष अवतारवाद तथा प्रतिमोपासना पर जो हमारा जोरदार लेख उक्त पत्रमें अपूर्ण (क्रमशः) छपा था; उसका भी 'भारतीय-संस्कृति'के प्रणेताने कुछ भी प्रत्युत्तर 'वेदप्रकाश'में नहीं दिया था; अब भी उनमें सामर्थ्य नहीं कि-हमारे उस प्रबल लेखका उत्तर दे सकें। एक भिन्न पत्र 'आर्य'में वादीने ५-७ पंक्तियाँ लिखी थीं; उनका कुछ भी महत्त्व नहीं था; क्योंकि उसमें हमारे तर्कोंका कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं दिया गया था। हाँ, उसने हमारे 'नमस्ते' विषयक लेखमें हमने जो उसकी त्रुटियाँ

दिखलाई थीं; उसको वादीने दबी जबानसे मान लिया था।

सो उस हमारे लेखपर पूर्व लेखक द्वारा कुछ न लिखनेपर वर्तमान लेखकको यह बात चुभती रही; उस हमारे लेखपर वह पूरे ८ वर्ष तक विचारता रहा। अब ६वें वर्षमें उसने 'मूर्ति-पूजा-मीमांसा' एक क्षुद्र-पुस्तक छपवाई। इसमें उसने जिसे हम 'वादी' वा स्वामी वा बाबाके नामसे लिखेंगे, हमें भरपेट गालियाँ दी हैं। हमने 'वेदप्रकाश'में अवतारवाद तथा मूर्तिपूजा पर वेदमन्त्र दिये थे; उसको वादीने छुआ तक नहीं मेरे लिए उसने लिखा कि-'बाबा दयानन्दजी कहते हैं कि-मूर्तिपूजा जनियोंसे चली है' यह उसका कथन गलत है, हमने ऐसा वाक्य उस लेखमें कहीं लिखा ही नहीं था। अस्तु। अब हम 'मू.पू.' पर लिखना शुरू करते हैं।

(२) मूर्तिपूजा न मानने वाला वह स्वामी (यथा.नं.) बतावे, जो कि-वह वेदोंका ज्ञान ऋषियोंके हृदयमें मानता है, सो निराकारका ज्ञान निराकार होता है, वा साकार ?। यदि निरा-कार, तो उसकी अक्षरात्मक मूर्ति तुम लोगोंने क्यों वा कैसे बनाई ? और उस ज्ञानकी मूर्तिके चार मन्दिर बनाकर उस मूर्तिकी उपासना क्यों करते हो ?। निराकार ज्ञानको निराकार ही रहने दो। उसकी मूर्ति बनाकर उसकी उपासनासे अपने शब्दोंमें (मूर्ति. मी. पृ. ८) क्यों 'अन्धे' बनना चाहते हो ?

(ख) अब इस स्वामीकी अविद्या देखिये -'अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते'का अर्थ लिखता है कि-'जो ब्रह्मके स्थानमें जडोंकी उपासना करता है, वह अन्धा होकर मरता है' यह उस अयथार्थानन्दने किन शब्दोंका अर्थ लिखा है, यह वह बतावे। यदि 'अविद्या'का यह अर्थ वह कहे; तो इसका भाव यह हुआ कि-अयथार्थीजी 'अविद्या'को छोड़कर 'विद्याकी उपासना' मानते हैं; अब सुनिये वेद उनकी 'विद्याकी उपासना' केलिए क्या कहता है ? 'ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः' (४०।१२) (अविद्याकी उपासना करनेवालोंकी अपेक्षा विद्याकी उपासना करनेवाले अधिक अन्धेरेमें रहते हैं;) तब अपनेको विद्याके उपासक कहने वाले यथार्थानन्दजी स्वा. विरजानन्दजीके पूरे चेले बनेंगे या नहीं ? जिस सम्प्रदायका परमगुरु अन्धा हो, और बोध करानेवाला हो चूहा; उस सम्प्रदाय की तो 'मर्कटस्य सुरापानं तस्य वृश्चिकदंशनम्। तन्मध्ये भूतसञ्चारो यद्वा तद्वा भविष्यति' वाली दशा होगी, या नहीं, यह वही बतावे।

वस्तुतः उक्त मन्त्रका स्वामिप्रोक्त अर्थ गलत है। वेदका पूरा ज्ञान हो; तो उसे ठीक अर्थ भी सूझे। स्वामीको तो संस्कृत-भाषाका भी ठीक ज्ञान नहीं; तब वेदका भी यथार्थ अर्थ-ज्ञान क्या हो ? यथार्थानन्दजी को अयथार्थतामें बड़ा आनन्द आता है; अतः यह रूढि नामके हैं। उक्त मन्त्रमें केवल अविद्या तथा केवल विद्याको अच्छा नहीं बताया गया है। दोनोंके साम-ञ्जस्यको उत्तम बताया गया है। यदि वेदके मतमें 'अविद्या' बुरी होती; तो 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' (यजुः

भाष्यं ४०।१४) यह वेद कैसे कहता ? यहाँ तो अविद्यासे मृत्यु-लोकका पार करना कहा है।

यहाँ 'अविद्या' यह वेदका शब्द निन्दित अर्थ वाला नहीं है, यह तो 'कर्म'का नाम है। 'कर्म'में केवल 'मूर्तिपूजा' नहीं आती, किन्तु उपासनामात्र आ जाती है; तब उपासनाके प्रेमी स्वामी भी अपने शब्दोंमें 'अन्धे होकर मरेंगे'! यदि इस स्वामीके अनुसार 'मूर्तिपूजा करने वाले अन्धे वा अन्धे होकर मरते हैं, यह उक्त मन्त्रका अर्थ है; तो भारतके ४० करोड़ व्यक्तियोंमें कमसे कम ३० करोड़ व्यक्ति तो मूर्तिपूजक हैं; तब क्या वे सभी अन्धे हो गये हैं ? क्या मूर्तिपूजा न मानने वाले दयानन्दियोंमें कोई अन्धा नहीं ? स्वामीके परमगुरु स्वा. विरजानन्द जी भी मूर्तिपूजासे ही क्या अन्धे हुए ? मूर्तिपूजा-अवतार विषयमें स्वामी 'आलोक' (४) पृ. ३७५-४०४ पृष्ठोंको देखे।

माता-पिताकी जो कि वादी पूजा बताता है, सो वह उनके शरीरकी पूजा बताता है, वा आत्माकी ? यदि शरीरकी, तो शरीर तो जड़ है; तो क्या जड़की पूजा कराओगे ? यदि आत्मा की; तब निराकार आत्मा की पूजा कैसे कर सकोगे ? यदि शरीररूप अङ्गके द्वारा अङ्गी आत्माकी पूजा स्वामी मानेगा; तो यह मूर्तिपूजाके मार्गपर वह स्वयं ही आ गया। उसमें पत्थरके द्वारा अङ्गी परमात्माकी पूजा होती है। पत्थरकी पूजा कोई नहीं करता कि-'प्रस्तरं पूजयामि'। सभी कहते हैं-'विष्णुं

पूजयामि'। स्वा. ध्रुवानन्दजीकी मृत्युमें उनके सम्मानार्थ उनके शवपर आर्यसमाजियोंने पुष्पमालाएँ चढ़ाई थीं; क्या यह मुर्देकी पूजा उचित समझते हो ? यह मूर्तिपूजा ही तो हुई ! अपनी इस पुस्तकमें यथार्थानन्दजीने अपनी चित्ररूप मूर्ति भी छपवा रखी है; क्या यह मूर्तिपूजा नहीं, यदि उस चित्रपर कोई पुरुष थूक दे, वा पेशाब कर दे; तो क्या उनका ठहरा हुआ चेला या स्वयं स्वामी बुरा नहीं मनावेंगे ? एक बार स्वा.द.जीकी मूर्तिको किसीने गधेके गुप्ताङ्गके नीचे बान्ध दिया, उस चित्रपर पेशाबकी धारा भी पड़ती जा रही थी; इनसे दयानन्दी बिगड़ पड़े; उस गधे पकड़े जा रहे हुएकी मरम्मत की। यह क्यों ? वह तो प्रतिबिम्ब था; तब भी आप लोगोंने उसे स्वामी मान लिया; उसके अपमानको स्वामीका अपमान समझा; इस प्रकार उसके सम्मानसे आप लोग आनन्दित होते हैं, यह सब मूर्तिपूजा है। आप किसी पुरुषको सम्मानकेलिए 'नमस्ते' कह रहे होते हैं; यह आपने उसके जड़ शरीरको कहा वा आत्माको ? यदि आत्माको कहा; तो यह जड़ शरीरके माध्यमसे कहा; सो यह भी मूर्तिपूजा सिद्ध हो गई। निष्कर्ष यह है, जब तक आप स्वयं मूर्तिमान् हैं; आप जिसका भी पूजा-सम्मान करेंगे; वह सब मूर्तिपूजा ही होगी; इससे आप लोग कभी नहीं छूट सकते। यदि वह स्वा.द.जीकी मूर्तिपर जूता-प्रहार कर दे; तब समझा जा सकेगा कि-वह मूर्तिपूजक नहीं है। यदि वादी स्वा.द.की मूर्तिपर जूता न मारे; तब समझना पड़ेगा कि वह मूर्तिपूजक है।

(३) जो कि कहते हो—'कोई भी राजा जेलखाना अपने-लिए नहीं बनवाता। कोई भी मिसाल नहीं कि-राजा कारागारमें गया हो, फिर परेश अवतार-धारण कैसे करेगा ?'। स्वामीको ज्ञान तो मालूम नहीं होता। परमात्माने जितने लोक जीवोंके निवासार्थ बनाये हैं, यह सब जेलखाने ही तो हैं। अब यह वादी ही बतावे कि-यह परमात्माके अपनेलिए हैं, वा जीवोंके ? जेलखानेमें अपराधी तो बद्ध होकर जाता है, पर राजा स्वतन्त्रतासे कैदियोंके सुधारार्थ जेलखानेमें जाता हुआ देखा जाता है, वह उसकेलिए जेलखाना नहीं होता। इसी तरह परमात्मा भी जीवोंपर दया करनेकेलिए स्वतन्त्रतासे मायिक शरीर धारण करता है। वह उसमें बद्ध न होकर नित्य-मुक्त ही रहता है। कहीं उसका विशेष प्रकट हो जाना ही अवतार होता है। 'उष्ट्रलगुड'-न्यायसे वादीके ही दृष्टान्तसे वादीका अभिमत खण्डित हो गया।

(ख) शेष जो कि वादी—मूर्तिपूजा धूर्तों और गुण्डोंसे चली हुई कहता है-'अवतार जो हुए हैं, वे महाबदमाश विष्णुके हुए हैं' यह गालियां देता है, इससे इस स्वामीका नाम 'गालिप्रदानानन्द' रखना चाहिये। स.प्र.में गालियोंके जंकशन चलानेवाले अपने परम-स्वामीका यह स्वामी भी 'पट्टशिष्य' निकला है। शेष जो कि वादीने विष्णु, महादेव आदि देवताओंके दुश्चरित्र तथा शङ्खचूड आदिका हाल तथा मूर्तिपूजकोंको गधा बनाना आदि लिखा है, उनका हम 'आलोक' (६-७-८) में प्रत्युत्तर दे ही

चुके हैं।

(४) 'न तस्य प्रतिमा' का अर्थ वादी 'आलोक' (४) पृ. ३८३-३८४ में देखे। वादीके अनुसार यदि यह वेदवचन मूर्तिपूजाके खण्डनका है; तो मूर्तिपूजा वेदकालसे ही चालू सिद्ध हुई। वेदने तो परमात्माका इस मन्त्रसे अनुपमेयत्व सूचित किया है, मूर्ति-पूजाका इससे निषेध नहीं किया।

(ख) शेष जोकि पुजारियोंकी निन्दाके वचन स्वामीने उद्धृत किये हैं; वे उनकेलिए हैं, जो उसमें पूजाका भाव न रखकर उससे केवल अपनी वृत्ति ही उद्दिष्ट कर लेते हैं। निन्दा तो मनुस्मृतिमें चिकित्सककी भी है (३।१५२) तब क्या इससे आयुर्वेद भी निन्दित हो जावेगा ? पर जो लोग धर्म तथा भगवान्के उद्देश्यसे मूर्तिपूजा करते हैं; इससे उनकी तथा मूर्ति-पूजाकी निन्दा कुछ भी नहीं। जैसे कि—मनुस्मृतिके ३।१५२ पद्यकी टीकामें श्रीकुल्लूकने लिखा है—'देवलः-प्रतिमापरिचारकः, वर्तनार्थत्वेन एतत्कर्म कुर्वतोऽयं निषेधो न तु धर्मार्थम्'। मनुस्मृतिको स्वा.द.जी स.प्र. ११ समु.के आरम्भमें सृष्टिकी आदिमें बना हुआ मानते हैं; तब उनमें वर्णित मूर्तिपूजा भी सृष्टिकी आदिकी सिद्ध हुई, जैनियों द्वारा आई हुई सिद्ध न हुई; जैसे कि स्वा.द. जीने लिखा है। उसके उद्धृत उन वचनोंसे, जिन्हें वादी अति-प्राचीन समझता होगा, इससे उल्टा मूर्तिपूजा प्राचीन सिद्ध हो जाती है। यदि वह इन वचनोंको अर्वाचीन तथा निकम्मे समझता है; तब उनसे मूर्तिपूजाका खण्डन तो 'खरगोशके सींगों-

को तेज करने' के समान सिद्ध हुआ। 'नमः शम्भवाय' करके स्वामी भी सन्ध्याके अन्तमें पृथ्वी वा सामनेकी दीवारको नमस्कार करके मूर्तिपूजा स्वयं करता है। यदि दयानन्दी लोग नाईके छुरेको' चूड़ाकरणमें 'शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्तेऽस्तु' के अर्थानुसार (हे छुर, तू सुन्दरस्वरूप है, तेरा उत्पादक वज्रमय कठिन लोहा है, (ते नमः) तेरेलिए हम आदर [नमस्कार] करते हैं' संस्कारचं.में श्रीभीमसेनजीका अर्थ) नमस्कार कर रहे होते हैं; 'प्रतिष्ठे स्थो विश्वतो मा पातम्' मन्त्र द्वारा समावर्तनमें जूतेसे तथा अन्य मन्त्रसे छातेकी प्रार्थना कर रहे होते हैं। प्रार्थना पूजाका अङ्ग होता है। खेतमें ढेलेपर घी शक्कर चढ़ाकर उससे प्रार्थना कर रहे होते हैं कि-'यह पटेला हमें अन्न देगा'। मृतक-दयानन्दका सम्मान कर रहे होते हैं। मुर्दे दयानन्दके नामसे समाजके वार्षिकोत्सवमें 'ऋषिलंगर' चला रहे होते हैं; तिथियों तथा नक्षत्रोंको तथा उनके जड़देवताओंको हवि दे रहे होते हैं, यह सब दयानन्दियोंकी मूर्तिपूजा तथा मृतकश्राद्ध है। मुकरनेसे यह चीजें छिपेंगी नहीं, बल्कि और प्रकट होंगी। ठीक ही किसी कविने कहा है—

देवमूर्ति कभी न पूजें, पूजें छुरा जो नाइयोंका।
वही हाल 'संस्कार-विधि'में आर्यसमाजी भाइयोंका'।

(५) स्वामी अपने-आपको वेदका विद्वान् मानता है, और दयानन्दी-समाजका प्रेमी, पर उसने अपने निबन्धमें दयानन्दी-समाजका कचूमर निकाल दिया है। पृ. ४२ में 'सर्वं खल्विदं

ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' इसे सामवेदका वचन कहता है। यहां उपनिषद्को भी वेद मानकर उसने दयानन्दी सिद्धान्तका बेदर्दीसे खण्डन कर दिया। फिर इसी उपनिषद्के वचनको पृ. ५१ में उसने अथर्ववेदका बताकर जहाँ उसने अपना स्मृति-विकार दिखा दिया, वहाँ उपनिषदोंको वेद न माननेवाले दयानन्दियोंकी नाक काट ली।

(ख) पृ. ४२ में वह लिखता है कि-'ब्रह्ममें जगत् लीन हो जायगा'। पृ. ३८ में उसने 'जीव मुक्तिमें ब्रह्ममें लीन हो जाता है' इस पक्षका विरोध किया है. और इसे श्रीशङ्कराचार्य आदिका मत बतलाया है। (ग) मूर्तिपूजाका खण्डन करते-करते बाबा जी विष्णु आदि देवोंपर आक्षेप करने लग गये। (घ) यजुर्वेदके मन्त्रका 'अन्तरजायमानो' अंश पृ. ७ में लिखा, फिर पृ. ४१ में भी इतना ही लिखा। इसके आगेके 'बहुधा विजायते' इस शेषभागसे जिससे अवतारवाद पुष्ट होता था; उस अंशकी स्वामीने चोरी कर ली।

(ङ) पृ. २३ में लिखता है-'काशीके बालशास्त्रीने स्वा.द.को भी अवतार माननेकी घोषणा की' यह भी बात निर्मूल गप्प लिखी है, इसमें कोई प्रमाण नहीं। उन लोगोंने काशीशास्त्रार्थमें स्वा.द.जीको खूब पराजित कर दिया था; यह पहले देखिये—पराजितको भला वे अवतार क्यों बनानेकी कहते ?।

(च) स्वामी लिखता है-'ब्रह्म कालका भी काल है, वह कालातीत है, वहां कालकी पहुँच नहीं। इस योगदर्शनके वचनसे

अवतारवाद और मूर्तिपूजा दोनोंका मूलोच्छेद कर दिया' यह तो स्वामीका हेत्वाभास है। तब तो कालातीतकी एक कालविशेष तथा एकदेशमें वादी-द्वारा की जाती हुई उपासना भी खण्डित हो जावेगी। मूर्तिपूजा भी तो भगवान्की उपासना ही है। यदि तुम कालापरिच्छिन्नकी एककालीन उपासनासे उसे पा लोगे; इसी प्रकार मूर्ति-द्वारा उसकी उपासनासे भक्त भी उसे पा लेगा। योगदर्शनके 'यथाभिमतध्यानाद्वा' (१।३९) इस सूत्रसे अपनी इष्ट मूर्तिके द्वारा भक्त चित्त एकाग्र करके उपासना कर सकेगा? कपिलाचार्यके 'नित्यमुक्त' कह देनेसे अवतारवाद और मूर्ति-पूजाका खण्डन कैसे हो गया? यह तो हेत्वाभास है। मुक्तको तो स्वा.द.जी लोकलोकान्तरोंमें इच्छानुसार आना-जाना मानते हैं; तब नित्यमुक्तका तो स्वेच्छावश अवतार स्वतःसिद्ध हो गया। अवतार सिद्ध हो जानेपर मूर्तिपूजा भी सिद्ध हो गई।

(छ) 'अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते' पर पहले हम लिख चुके हैं; 'यहां ब्रह्मके स्थानमें जडोंकी उपासना करते हैं' यह स्वामीने मन्त्रके किन पदोंका अर्थ किया है-यह वह बतावे। अविद्या यह कर्मका नाम होनेसे उपासनामात्रका नाम है; तब क्या उपासना करनेवाले इस स्वामी तथा बड़े स्वामीको भी वेद ४ अर्ब ३२ करोड़ साल तक वादीके शब्दोंमें काला पानी देगा?।

(६) स्वामीने देवीभा.से श्रीनामकी स्त्रीका वर्णन किया है। कहता है कि-उसने तीन बच्चे व्यभिचारसे पैदा किये-ब्रह्मा,

विष्णु, महेश। (पृ. १०) सृष्टिके आदिमें उसके सिवाय और कौन था, जिससे उसका व्यभिचार होता। यदि उस समय सृष्टि होती; तो वह उन लड़कोंको सृष्टि रचनाकेलिये कैसे कहती? इससे स्पष्ट है कि-वे लड़के उसने अपनी शक्तिसे प्रकट किये। इस बाबाके आचार्यने स.प्र.में लिखा है-उस देवीने अपना हाथ घिसा, उससे छाला हुआ; उससे ब्रह्मा विष्णु महादेवकी उत्पत्ति हुई। अब वह स्वामी व्यभिचारसे ब्रह्मा आदिकी उत्पत्ति बताता हुआ भूठा; वा स.प्र.का स्वामी छालेसे उनको उत्पन्न कराता हुआ भूठा, या दोनों परस्पर-विरुद्ध होनेसे भूठे? यह व्यभिचार-शब्द यदि वादीने उक्त पुराणसे न दिखलाया; तो वह स्वयं व्यभिचारी सिद्ध होगा। फिर लिखता है-'उस औरतने अपने लड़कों से कहा-तुम सृष्टिकी रचना करो। उन्होंने कहा-हम कैसे रचें, उपादान-कारण नहीं हैं; तब उस औरतने कहा-मुझसे शादी कर लो। उन्होंने कहा-तुम हमारी माँ होती हो, सनातन-मर्यादाका विलोप हो जायगा। लड़कोंने कहा-तीन लड़की और पैदा करो; तब उस कुलटा औरतने तीन लड़की पैदा कीं'। वादी बतावे कि-उसने तीन लड़की कैसे पैदा कीं? मानना पड़ेगा कि-अपनी शक्तिसे। तब यहाँ स्वामी उसे कुलटा कहता हुआ क्या स्वयं कौलटेर नहीं है? उसने उन तीनोंको विवाहार्थ कहा, तो यह उनकी परीक्षा भी हो सकती है। यद्यपि अयोनिजतामें कोई मर्यादा तो नहीं होती है; तथापि उन्होंने भावी विचारसे मर्यादा-संरक्षणार्थ माताकी मर्यादा रखी। आगे लिखता है-

इस औरतने एक-एक लड़की उन तीनोंको दे दी; क्या खूब ? मांके साथ शादी न करके बहिनके साथ शादी कर ली। विधर्मी मुसलमानोंके यहां भी दूध बचाया जाता है, इन्हीं धूर्तों-बदमाशोंसे मूर्तिपूजाका प्रादुर्भाव हुआ है। देखिये (देवीभा. ११६।१२) यह बूढ़े बाबाने बिल्कुल गलत लिखा है। जो पता इसने लिखा है, उसमें तो 'महिषासुर'को देखकर देवीका शङ्ख बजाना कहा है। कितने झूठे हैं यह लोग। अयोनिज वा अमैथुनिक उत्पत्तियोंमें भाई-बहन सम्बन्ध नहीं चलता। देखिये स.प्र. ८में स्वामीने सृष्टिकी आदिमें सब जवान स्त्री-पुरुष एकसे अमैथुनिक पैदा कराये। फिर उनका विवाह कराया। क्या इस स्वामीके स्वामीने एककी सन्तान होनेसे भाई-बहिनोंका विवाह नहीं कराया ? सृष्टिकी आदिमें अयोनिजों वा अमैथुनिकोंमें यह व्यवस्था नहीं चलती। तब इस आक्षेप्ता स्वामीका पक्ष उसीके बड़े स्वामीके लेखसे ही कट गया, और बड़े स्वामीका भी इस प्रकारका आक्षेप अपने ही लेखसे कट गया। स्वा. वेदानन्दने एक बड़ा स.प्र. छपवाया है, उसमें स.प्र.के मूलमें जो पते नहीं लिखे थे, उनने टिप्पणीमें दे दिये, पर इस देवीभागवत-की 'श्री' देवीका पता उनने नहीं लिखा; इससे स्पष्ट है कि-स्वा.द.जी बहुतसे इतिहास गलत लिख दिया करते थे; तब यथार्थानन्दजीकी तथा स्वा.द.की दी हुई यह कथा गलत सिद्ध हुई। हमने उक्त कथाका पता इन स्वामीसे तथा डा. श्रीरामसे पूछा है; दोनोंने ही नहीं बताया।

तब इससे मूर्तिपूजामें कोई भी प्रतिबन्ध न रहा। मूर्तिपूजामें 'यथाभिमतध्यानाद् वा' यह योगदर्शनका सूत्र बहुत स्पष्ट है। अब स्वामी 'नहि प्रतीके नहि सः' इस ब्रह्मसूत्रके सूत्रको 'पुरुषसूक्त'का लिखता है। शास्त्रोंका ज्ञान उसे इतना ही है। वह इसे ४थे अध्यायके ३य पादका सूत्र लिखता है, जबकि यह उसके १म पादका है। इससे स्वामी सिद्ध करता है-'मूर्तिमें ब्रह्मोपासना करना ठीक नहीं। 'सः' इस पुंलिङ्गका अर्थ वादीने नपुंसकलिङ्गान्त 'ब्रह्म'का कैसे कर लिया ? इस सूत्रका तो यह अर्थ है कि-प्रतीकमें अहंग्रह नहीं करना चाहिये। यदि ब्रह्मके कार्य प्रतीकका ब्रह्मके साथ ऐक्य माना जावे; तो प्रतीकका स्वरूप ही लीन हो जावेगा; क्योंकि यदि घट मट्टीरूपमें एकताको प्राप्त करे; तब उसका विलय हो जावेगा'। यदि वादी भाष्यकारका यह अर्थ न माने, तब इस सूत्रके यथाश्रुत शब्दोंके अर्थसे तो वादीका ही खण्डन हो जावेगा; क्योंकि इस सूत्रमें दो 'नञ्' हैं। दो नञ् निषेधक न होकर विधायक ही हुआ करते हैं। यह प्रसिद्ध कथन है-'नञ्द्वयं प्रकृतार्थदार्ढ्य-बोधकम्'। तब इस सूत्रका यह अन्वय तथा अर्थ होगा कि-'स (ईश्वरः) प्रतीके नहि अस्ति, [इति] नहि'। वह परमात्मा प्रतीकमें नहीं है, यह नहीं; किन्तु प्रतीकमें अवश्य है। यदि प्रतीकमें उसका निषेध इष्ट होता; तो 'प्रतीके नहि-नहि सः' यह योजना होती। पर यह अर्थ शास्त्र-विरुद्ध होता; फिर तो परमात्माकी सर्वव्यापकता खण्डित हो जाती। अतः वादीका इष्ट इस सूत्रका अर्थ गलत है;

तभी तो इसके अग्रिम सूत्रमें ब्रह्मदृष्टि-अधिकरण हमारे पक्षकी पुष्टि करता है। वह यह है—

'ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्' (४।१।५) इसका सार यह है-। यहां सन्देह है कि-क्या ब्रह्ममें सूर्य आदि प्रतीककी बुद्धि करनी चाहिये; या सूर्य आदि प्रतीकमें ब्रह्म-दृष्टि करनी चाहिये ? इसमें सिद्धान्त यह है कि-सूर्य आदि प्रतीकमें ब्रह्मदृष्टिसे चिन्तन करना चाहिये। अतिथि आदि, वा वादीके अनुसार माता-पिता आदि की पूजाके समान सूर्य आदि प्रतीककी उपासना करनेसे फल भी जब ब्रह्म ही देगा; तब इनमें ब्रह्मदृष्टि ही ठीक है। आचार्य शङ्करने यहाँ स्पष्ट कर दिया है कि-'ब्रह्मदृष्टिरेव आदित्यादिषु स्यात्...उक्तेन ['आदित्यं ब्रह्म-इत्युपास्ते' (छा. ३।१९।४) वचनेन] आदित्यादीनामेव उपास्यत्वावगमात्। फलं तु अतिथ्याद्युपासने इव आदित्याद्युपासनेऽपि ब्रह्मैव दास्यति, सर्वाध्यक्षत्वात्। वर्णितं चैतत् 'फलमत उपपत्तेः' (वेदा. ३।२।३८) इत्यत्र। 'ईदृशं चात्र ब्रह्मण उपास्यत्वं यत् प्रतीकेषु तद् (ब्रह्म) दृष्टयध्यारोपणं प्रतिमादिष्विव विष्ण्वादीनाम्'। यहां अत्यन्त स्पष्ट कर दिया गया है कि-जैसे प्रतिमाओंमें विष्णु आदिका अध्यारोप किया जाता है; और उसका फल विष्णु द्वारा दिया जाना माना जाता है, वैसे ही सूर्य आदि देवताकी प्रतीकमें उपासना करनेसे फल सर्वाध्यक्ष ब्रह्म ही देगा। 'यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्' (४।१।११) जहाँ एकाग्रता हो; वहीं पर उपासना करनी चाहिये। सो मूर्ति भी वा देवमन्दिर भी चित्तकी एकाग्रताका साधन होते हैं, वहां

उपासना की जा सकती है।

ब्रह्ममें तुम द्वैतवादी नानात्व मानते हो। यहां तो जीव, प्रकृति एवं ब्रह्ममें नानात्वका निषेध है। श्रीकृष्णकी गृहस्थता जनताके शिक्षणार्थ है। इससे उनके अवतारत्वमें बाधा नहीं पड़ती। वेद-पुरुषको वेदकी आज्ञा स्वयं पालन करके दिखलानी पड़ती है। विष्णु ईश्वर ही है। 'स शिवः, स विष्णुः'। सृष्टि-पालयिता होनेसे अवतार भी प्रायः विष्णुके ही होते हैं। जब पत्थरमें भी परमात्माको व्यापक मानते हो; तो उपासकके एक-देशी होनेसे वह एकदेश पत्थरमें भी व्यापककी पूजा करेगा। क्योंकि-वह एकदेशी सर्वव्यापककी पूजा कभी सर्व-व्यापकतासे कर भी नहीं सकता।

इधर कहते हो कि-'व्यापक हम भी मानते हैं, और वह पत्थरमें भी है। फिर कहते हो कि-महान् ब्रह्म मूर्तिमें नहीं समा सकता है। वह मूर्तिमें ही नहीं है' यह स्वामीका कितना परस्पर विरोध है ? सूक्ष्मतम पदार्थ भी मूर्तिमें न समा सके, यह कैसा विलक्षण तर्क है ? जब आपके सम्प्रदायी लोग जडहृदयमें परमात्माको व्यापक मानते हैं; तब मूर्तिमें व्यापक क्यों नहीं ? यदि स्वामी अपनी ही बातपर आग्रही रहा, तो स्वामी भी उस परमात्माकी उपासना नहीं कर सकेगा, क्योंकि तुम स्वामी एकदेशी हो, और वह परमात्मा सर्वदेशी है। क्या उसके खण्ड करोगे ? वादीका हृदय पत्थरसे भी बहुत छोटा है; तब इतना विशाल परमात्मा तुम लोगोंके तर्कके अनुसार उसमें कैसे

समा सकेगा ?

(७) 'शिवजी मोहनीसे भोग करने लगे' यह बूढ़े बाबाकी बात असत्य है। इसमें कोई प्रमाण नहीं।

(ख) वादी लिखता है—पद्मपुराण स्वर्गखण्डमें लिखा है—'ब्रह्म कामों जयते, शिवा कामों जयते, इन्द्र कामो जयतो' (कामने ब्रह्मा, महादेव, विष्णु, इन्द्रको भी जीत लिया) यह स्वामीने कोनसो भाषाके शब्द लिखे, यह तो वही जाने, पर इसका मूल वेदमें भी लिखा मिलता है। देखो—'कामे जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः' (अ. ६।२।१६), 'काममयः पुरुषः। तस्य देवता स्त्रियः' (बृह. ३।६।११) इस विषयमें विवेचना पृ. ७०१-७११ में देखो। तब क्या यह वेदका 'बदमाशवाद' है ?

हमने इस पुष्पके पृ. ७०३ में स्वा.द.जीकी संस्का.वि. पृ. १३५ से उद्धृत ३ मन्त्रोंसे सिद्ध किया था कि—काम मदकारक होता है, और कामका साधन होती है स्त्री। 'काम वेद ते नाम, इमं ते उपस्थं, अग्निं क्रव्यादं' इन स्वा.द.से उद्धृत मन्त्रोंका अर्थ हमने रामगोपाल विद्यालंकारका दिया था। अब हम यहां उक्त तीन मन्त्रोंका अर्थ आर्यसमाजियोंकी परममान्य 'संस्कार-चन्द्रिका' (श्रीभीमसेन शर्मा आगरा, तथा श्रीआत्माराम अमृतसरी' इनसे प्रणीत)के द्वितीय-संस्करण (पृ. ५६३-५६४)से उद्धृत करते हैं—

'काम वेद ते' हे काम ! 'तेरे नामको सब जगत् जानता है। मदकारी तू प्रसिद्ध है। तेरे (कामके) लिए यह कन्या (स्त्री) मद-

साधन हो चुकी है। अथवा सुरा-यह जल तेरे (कामके) शान्त्यर्थं उपस्थित है। [स्त्रीसे ही काम शान्त होता है]। इस कन्याको वा इस मदको वा इस पतिको मान सहित कर। हे कामाग्ने ! इस स्त्री जातिसे ही तेरा (कामाग्निका) उत्कृष्ट जन्म है। गृहस्थाश्रमपालनरूप उत्कृष्टधर्मकेलिए तू (कामाग्नि) ईश्वरसे बनाया है।

इमं ते उपस्थं—हे वधू, मैं इस तेरे (उपस्थं) आनन्दजनक इन्द्रियको प्रेमसे संसृष्ट करता हूँ। यह [तेरा उपस्थ] गृहस्थी बननेका द्वितीय द्वार है। उस (उपस्थ) से ही [तू स्त्री], नहीं किसीके वशमें होनेवाले भी सब पुरुषोंको (अभिभवासि) वशीभूत कर लेती है। और वश करनेवाली तू घरकी स्वामिनी है'।

'अग्निं क्रव्यादं—तत्त्वदर्शी पुराने ऋषिलोगोंने (स्त्रीणामुपस्थं) स्त्रीजातिके आनन्ददायक इन्द्रियको मांस खानेवाला आग जैसा स्वीकार किया है। उसके साथ पुरुषशिश्नसे उत्पन्न उत्पादक शक्तिवाले वीर्यको घी-जैसा स्वीकार किया है। हे वधू, तेरेमें वह शुक्र पुष्ट हो'।

अब स्वामी जो पौराणिक देवोंपर दोष दे रहे थे; स्वा.द.जी-के वैदिक-वचनोंकेकारण अब वह उपालम्भके योग्य न रहा।

(ग) 'सीता जब आई, 'नमस्ते' किया' यहां स्वामीद्वारा दिया हुआ 'नमस्ते' का प्रयोग गलत है; क्योंकि—न तो यह एक पद है, और न रामायणमें ऐसा लिखा है। 'नमस्ते' पर 'आलोक' (१-२) देखो। 'नमस्कारेण मुच्येध्वम्' (बृहदा. ३।८।१२) में 'नमस्कार' शब्द है, एकपद नमस्ते नहीं।

(घ) 'बालीको मारा, तारासे सुग्रीवका नियोग करा दिया'। यह बात बाबाजी नहीं समझते। उसने २८ पृ. में लिखा है— 'विष्णुने नारदको बन्दरका-सा मुख दे दिया। वह बन्दरका मुख लिये नारदजी स्वयंवरमें गये। विष्णुको शाप दिया-'तुम्हारे सहायक वे बन्दर होंगे, जिनका मुख तुमने मुझे दिया है'। इससे बाली-सुग्रीव बन्दर सिद्ध हुए; जिसे वादी नहीं मानते; वस्तुतः देवताओंने ही वानररूप धारण किया था। जैसे कि आनन्दरामायण राज्यकाण्डमें लिखा है-'न ज्ञेया वानराः तेपि सर्वे देवांशरूपिणः' (३।५१) देवीभा.में भी कहा है-रामावतार-योगेन देवा वानरतां गताः' (४।२।३६) पुरा रामावतारेपि निर्जरा (देवाः) वानराः कृताः' (२०।६) इस विषयमें 'आलोक' (६) के द्वितीय निबन्धमें स्पष्टता देखो। उन वानरोंमें शूद्रोंवाला व्यवहार माना गया है। सो शूद्रोंमें जीवितपतिका स्त्रीको वे भी नहीं ले सकते, मृतपतिवाली स्त्रीको वे ले सकते हैं. यह रहस्य है। दूसरा वह त्रेतायुग था, नियोग कलिवर्जित है; तभी तो इस कलियुगमें स्वा.द. द्वारा चलाये जानेपर भी नियोग नहीं चल सका। इस विषयमें 'आलोक' (६) में अन्यत्र देखो (पृ. ३७४-३८४)। वृन्दाके सतीत्वके विषयमें 'आलोक' (६-७) देखो।

(८) वादीने बुद्ध-द्वारा बौद्धमत तथा महावीरस्वामी-द्वारा जैनमतका प्रचार मानकर कहा है कि-'कुछ काल बाद (६२० ई० के निकट) पौराणिक-मत चालू होगया; तबसे मन्दिरमें पत्थरकी मूर्तियाँ रखी जाने लगीं'। इस बाबाके मतका खण्डन स्वा.द.जी

स.प्र.में करते हैं। देखो स.प्र.की अनुभूमिका (२) पृ. २५४ में स्वामी लिखते हैं-'जब आर्यावर्तीय मनुष्योंमें वेदविद्या छूटकर मत-मतान्तर खड़े हुए; यही जैन आदिके मत-प्रचारका निमित्त हुआ। वाल्मीकीय और महाभारतादिमें जैनियोंका नाममात्र भी नहीं लिखा; और जैनियोंके ग्रन्थोंमें वाल्मीकीय और भारतमें कथित 'राम-कृष्णादिकी गाथा बड़े विस्तारपूर्वक लिखी है। इससे यह सिद्ध होता है कि-जैन-बौद्धमत रामायणमहाभारतके पीछे चला।... इनसे पूछना चाहिये कि-यदि तुम्हारे ग्रन्थोंकी कथाओंको लेकर वाल्मीकीय आदि ग्रन्थ बने होंगे; तो वाल्मीकीय आदिमें तुम्हारे ग्रन्थोंका नाम-लेख भी क्यों नहीं? और तुम्हारे ग्रन्थोंमें क्यों है? क्या पिताके जन्मका दर्शन पुत्र कर सकता है? कभी नहीं। इससे यही सिद्ध होता है कि-जैन-बौद्धमत शैव-शाक्तादि मतोंके पीछे चला है'।

अब बाबा यथार्थानन्दजी बतावें कि-दण्डी दयानन्दका डंडा तुम्हारे सिरपर पड़ा वा नहीं? रामायण-महाभारतमें पुराणोंका वर्णन भी स्पष्ट है, तथा मूर्तिपूजा भी स्पष्ट है। यदि वादी चाहें; तो इसके प्रमाण भी दिये जा सकते हैं। कुछ 'आलोक' (७) पृ. ५३६-५३८ में देखें। महाभारतमें अर्जुनकी शिवमूर्तिकी पूजा भी स्पष्ट है, वहां कही शिवलिङ्गपूजा मूर्तिपूजा ही तो है। शैवोंका सर्वस्व शिवपुराण तथा शिवलिङ्गपूजा है, उसमें मूर्तिपूजा स्पष्ट है। वस्तुतः पुराणका समय वेदके साथका है; क्योंकि वेदमें भी पुराणका ग्रहण किया गया है, इस विषयमें

'आलोक' (७) पृ. ३७७-३८८) तथा इस नवम पुष्पमें भी देखो।

(९) जब वादी मानता और कहता है कि-कृष्ण ८ सालके थे, (वस्तुतः वह उस समय छः वर्षके थे; देखो श्रीमद्भागवत); और ८ सालके बच्चेमें कामोद्दीपन नहीं होता [और गोपबालाएं भी ६-७ वर्षकी थीं; तब कामोद्दीपनका प्रश्न ही नहीं उठता, तब श्रीकृष्णपर दोष लगाना 'अयथार्थानन्दकी बदमाशी' निकली-यह उसीके शब्द हैं, क्योंकि वह फिर लिखता है-]; तब ८ सालका बच्चा जजमेंट नहीं दे सकता कि-तुम ऊपरको हाथ उठाओ; तब हम तुम्हें चीर देंगे। यह भी अयथार्थानन्दकी 'अपनी बदमाशी' है, जो कि उसने यह लिख दिया कि हाथ ऊपर करो। वहाँ तो लिखा है-'बद्ध्वाञ्जलिं मूर्ध्नि-अघनुत्तयेऽंहसः, कृत्वा नमोऽधो, वसनं प्रगृह्यताम्' (भाग. १०।२२।१९) इसका अर्थ है-'अघनुत्तये (अपने नग्न स्नानके इस पापको दूर करनेकेलिए) 'अधः (नीचे भूमिमें) मूर्ध्नि अञ्जलि बद्ध्वा (माथेमें अञ्जलि बांधकर) नमः कृत्वा (जलदेव वरुणको नमस्कार करके फिर) 'वसनं प्रगृह्यताम्' (अपने कपड़े ले लो)। इसमें कोई निन्दनीय बात नहीं। ऐसे ६-७ वर्षके लड़के-लड़कियां नग्न रहा करते हैं। सो यह बाल्यावस्थाकी नग्नता कोई मायने नहीं रखती। इसमें कोई किसीपर दोष नहीं देता, यह तो केवल दयानन्दी ही दोष देते हैं। इसलिए भगवान्को गीतामें कहना पड़ा-'न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय! उदासीनवदासीनम् असक्तं तेषु कर्मसु' (९।९)। जो श्रीकृष्णको

मानुषी दृष्टिकोणसे देखकर उनपर दोष देते हैं, उसपर भी भगवान् कहते हैं-'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्' (९।११) मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः। राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः' (१२) इस प्रकार श्रीकृष्णकी अवज्ञा करनेवाले आसुरी प्रकृतिके सिद्ध हुए। यहां तो नग्नस्नानको छुड़ानेकेलिए उन लड़कियोंको लज्जित करनेकी आवश्यकता थी, जिससे वे यह दोष छोड़ दें। इस विषयमें 'आलोक' (६) पृ. ५३२-५३३, ६५७-६५९ देखो।

(१०) वादी उव्वट-महीधर-सायण आदिके भाष्योंको कहीं अश्लील तो बता नहीं सका, पर यह कहता है कि-उन्होंने मूर्तिपूजाको कहीं मान्यता नहीं दी'। यह बात वादीकी झूठी है। वादी यह मानता ही है कि-अवतारवाद मूर्तिपूजाका प्राण है। अब देखिये-'इदं विष्णुर्विचक्रमे' (ऋ. १।२२।१६-१७) मन्त्रके भाष्यमें श्रीसायणने 'विष्णुका त्रिविक्रमावतार' माना है। यजुः ५।२०.के भाष्यमें लिखा है-'इन्द्रः...कुचरः=कौ-पृथिव्यां चरति मत्स्य-कूर्मादिरूपेण' (उवट). 'कुचरः-मत्स्यकूर्मादिरूपेण इन्द्रः पृथिव्यां चरति' (महीधर), 'स विष्णुः कुचरः-सर्वासु भूमिषु लोकत्रये संचारी' (सायण ऋ. १।१५४।२)। सो जब इन भाष्योंमें अवतारवाद सिद्ध हुआ; तो मूर्तिपूजा भी स्वतः सिद्ध हो गई। सूर्य आदिकी पूजा इन सभी भाष्यकारोंने लिखी है, यह मूर्ति-पूजा नहीं, तो अन्य क्या है?

वेद स्वयं भी प्रतिमोपासना बताता है। देखिये—'संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्रि ! उपास्महे' (अ. ३।१०।३) 'यां त्वां प्रतिमाम् उपास्महे, सा नः, प्रजां संसृज' यहांपर प्रतिमाकी उपासना और उससे प्रार्थना वेदने बताई है। यहाँपर रूपकालङ्कारसे रात्रिको संवत्सरकी प्रतिमा (मूर्ति, प्रतीक, प्रतिनिधि) बताकर फिर उसकी उपासना बताई है। श्रीसायणने भी लिखा है—'प्रतिमां प्रतिकृति-स्वरूपाम्, प्रतिनिधित्वेन निर्मीयते इति प्रतिमा, त्वा-त्वाम् उपास्महे-सेवामहे' यहां प्रतिमाकी उपासना, प्रतीककी उपासना बहुत स्पष्ट है। सूर्य आदिकी पूजा-उपासना आदि तो वेदमें भरी ही पड़ी हैं, पर यह अयथार्थानन्दजी वेदादिमें मूर्तिपूजाको छिपाते हैं। हमने यही वेदमन्त्र 'वेदप्रकाश' (५।२ पृ. २२) में दिया था, पर अयथार्थानन्दजीने उसका प्रत्युत्तर न देकर—'मौनं सम्मतिलक्षणम्' न्यायको चरितार्थ किया है। दयानन्दी श्रीराजेन्द्रजीने भी इसका प्रत्युत्तर नहीं दिया था। वेदमें स्थान-स्थानपर 'नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्यै' (यजुः मा. ९।२२) 'शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः...तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः' (अ. १२।१।२६) इस मन्त्रका देवता भूमि है, उसे नमस्कार किया गया है। 'उद्यते नम उदायते नम उदिताय नमः' (अ. १७।१।२२) 'अस्तं यते नमोऽस्तमेष्यते नमोऽस्तमिताय नमः' (२३) यहां आदित्यदेवता है—इस प्रकार सूर्यको नमस्कार किया गया है। यह क्या वेदकी मूर्तिपूजा नहीं है ? मूर्तिपूजाकी जड़ वेदने ही तो जमाई है। स्वा.द.जीने लिखा

है—'किसी जड पदार्थके सामने शिर झुकाना वा उसकी पूजा करना सब मूर्तिपूजा है' (स.प्र. पृ. २३०) वेदने पूर्वोक्त मन्त्रमें जड़ पृथिवीको नमस्कार कराई है; क्या यह मूर्तिपूजा न हुई ? हम उस मूर्तिके द्वारा भगवान्‌की ही पूजा करते हैं। ला. लाजपतरायकी मूर्तिपर फूल चढ़ाये जाते हैं, राष्ट्रीय ध्वजा पर फूल चढ़ाये जाते हैं, स्वा. ध्रुवानन्दके शवपर दयानन्दियों द्वारा फूल चढ़ाये गये—यह सब मूर्तिपूजा है। दयानन्दी लोग जब तक शरीरधारी हैं, तब तक उनसे मूर्तिपूजा छूट नहीं सकती। यह हमारी घोषणा है। वे लोग हृदयमें भगवान्‌को व्यापक मानकर उसका ध्यान या पूजन करते हैं, यह पूरी मूर्तिपूजा है। हड्डी-रक्तसे सने हुए हृदयरूप मूर्तिमें भगवान्‌को पधराकर उनकी पूजा करनी क्या यह दयानन्दियोंकी मूर्तिपूजा नहीं, यह वादी स्वयं अपने हृदयपर हाथ रखकर बतावे ?

(११) त्रैतवाद करके वादी ब्रह्मका नानात्व बता रहा है, अतः आवागमनसे नहीं छूटेगा, और फिर वादीके बड़े स्वामीने मुक्तिमें भी आवागमन मान लिया है। अतः तब दयानन्दी मण्डल वादीके शब्दोंमें नरकमें जा रहा है। (ख) तुम स्वा.द.जी की मूर्ति उनपर श्रद्धा होनेसे बनाते हो; तब उस मूर्तिमें भी तुम्हारी श्रद्धा स्वतः होजानेसे तुम द्वारा भी मूर्तिपूजा होगई। अपना चित्र भी वादीने इस पुस्तकमें छपवाया है। वह निरवयव आत्माकी मूर्ति कैसे बनवा रहा है; इसी प्रकार निरवयव परमात्माकी मूर्ति भी बन सकती है। यदि कहो कि—यह हमारा

चित्र आत्माका नहीं, किन्तु शरीरका है, तो यह शरीर किसका है? यदि आत्माका; तब क्या तुम जडपूजक वा मुर्दा-पूजक नहीं हो? यदि शरीरके द्वारा आत्माका सम्मान तुम शरीरकी पूजा न मानकर आत्माकी पूजा मानते हो, इसी प्रकार परमात्माकी मूर्तिद्वारा पूजा भी परमात्माकी पूजा मानी जावेगी; तब मूर्ति-पूजा सिद्ध हो ही गई।

(१२) द्वादश अवतारोंको अयथार्थानन्दजी 'बदमाश विष्णुके अवतार' बताते हैं। विष्णु जगत्के रक्षक हैं; अतः जगत्के त्राणार्थ तथा दुष्टोंको दबानेकेलिए उन्हींके अवतार ही तो होंगे? 'बदमाश' तो अयथार्थानन्दजी हैं, जो कहते हैं-गीतामें लिखा है, जो ब्रह्मकी उपासना करे, वह ब्राह्मण; अन्य की करे तो बामन' यदि यह शब्द स्वा. यथार्थानन्द गीतामें न दिखा सका, तो वह अयथार्थानन्द होनेसे स्वा.द.जीके अनुसार 'असुर' होगा। परमात्माको भी स्त्री-पुरुषोंके गुप्त अङ्गोंमें व्यापक होनेसे तथा उन्हें प्रवृत्त कर रहा होनेसे वादी क्या 'बदमाश' मानता है? यदि नहीं, तो फिर व्यापक विष्णुको वादी 'बदमाश' कैसे कहता है?

(ख) 'हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्' से वादी भी ईश्वरको सबके हृदयमें ठहरा हुआ मानता है, गीतामें अन्यत्र भी लिखा है-'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति' (१८।६१); तब हृदयरूप मूर्तिमें जो तुम ईश्वरका ध्यान करोगे; यह भी मूर्तिपूजा हुई या नहीं? तुम्हारे छोटे-से हृदयमें सूक्ष्म होनेसे जब वह महान्

समा सकता है; तो मूर्तिमें क्यों नहीं समा सकता? तब मूर्तिमें उसकी पूजाको निन्दित कैसे करते हो? अथवा अद्वैतवादानुसार कण-कण परमात्मा होनेसे मूर्तिका कण-कण भी परमात्मा हुआ; तब मूर्तिको परमात्मा समझकर भी उसे पूजा जा सकता है। इस प्रकार मूर्तिपूजा किसी भी ढंगसे खण्डित नहीं हो सकती।

(ग) तुलसीसे विष्णुके व्यवहार-विषयमें 'आलोक' (६) पृ. ४६१-५०० तथा 'आलोक' (७) पृ. १४३-१४५ में देखो। (घ) रुक्मिणीस्वयंवर राक्षस-विवाह है; जो क्षत्रियकेलिए विहित है, 'राक्षसं क्षत्रियस्यैकं' देखो मनुस्मृति (३।२४)। वह रुक्मिणीके पिता तथा रुक्मिणीकी अपनी इच्छानुसार ही हुआ; इसमें दोष कुछ भी नहीं। हाँ, उसका भाई रुक्मी दैत्यप्रकृतिका होने-से वह उसे शिशुपाल दैत्यको देना चाहता था; पर तुम लोग भी रुक्मी वा शिशुपालके भाईबन्द होनेसे इससे बिगड़ते हो; और श्रीकृष्णकी निन्दा करते हो। वस्तुतः यह बातें अयथार्था-नन्दजीने दयानन्दी श्रीरामसे सीखी हैं। हम उनका खण्डन पूर्व कर चुके हैं।

(ङ) 'अस्मादिवच्च तदनुपपत्तिः' (ब्र.सू.२।१।२३) में वादी विज्ञानभिक्षुका अर्थ बताता है-'जिस प्रकार पत्थर आदिका ब्रह्म नहीं बन सकता, इसी प्रकार जीव ब्रह्म नहीं बन सकता, क्योंकि-पत्थर जड है, ब्रह्म नित्य ज्ञान वाला है, जीव अल्पज्ञ है, ब्रह्म सर्वज्ञ है'।

वादीने यह सूत्र अशुद्ध लिखा है, और उसकी संख्या भी। यह 'अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः' (२।१।२३) इस रूपमें है। वादी वेदान्तपर विज्ञानभिक्षुका भाष्य बताता है, पर वह तो सांख्य-दर्शनपर है, वेदान्तदर्शनपर नहीं। वेदान्तदर्शनमें कई इस प्रकारके सूत्र आते हैं; वह जीव-ब्रह्ममें उपाधिभेद बताते हैं, वास्तविक भेद नहीं। उस उपाधिके विलय हो जानेपर वहीं जीव ब्रह्म हो जाता है, यह उसी दर्शनमें बिल्कुल स्पष्ट है। महाभारतमें कहा है-'आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः। तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः' (शान्ति. १८७।२४) विज्ञानभिक्षु अद्वैतवाद नहीं मानते थे; अतः उन्होंने बलात् द्वैतवादपरक व्याख्या कहीं की हो; यह सम्भव है; पर वेदान्त-का सिद्धान्तपक्ष अद्वैत ही है। इससे अवतारवादको वा अद्वैत-वादको क्या हानि पहुँची-यह वादीको बताना चाहिये था। भेदवाद पूर्वपक्ष होता है, अभेदवाद उत्तरपक्ष। उत्तरपक्ष ही सिद्धान्त होता है। अविद्या आदिमें भेदवाद कहा जाता है, अविद्याके दूर होनेपर फिर अद्वैत ही हो जाता है। यदि वादी विज्ञानभिक्षुके ही भाष्यको प्रमाणित करता है; तो उसे योग-दर्शनके १।३६ सूत्रके योगवार्तिकमें देखे; वहाँ विज्ञानभिक्षुने लिखा है-'किं बहुना, यदेव अभिमतं हरिहरमूर्त्यादिकं, तदेव आदौ ध्यायेत्'। यहाँपर श्रीविज्ञानभिक्षुने हरिहरकी मूर्तिमें ध्यान बताकर मूर्तिपूजाको सिद्ध किया है; अतः यदि वादी यह विज्ञानभिक्षुका भाष्य नहीं मानता; तब वह विज्ञानभिक्षुके

वचनको उद्धृत करनेका अधिकारी नहीं।

(१३) वादी पत्थरोंकी उपासना और जलोंकी उपासना-यह हिन्दु-समाजकी पूजा बताता है; और आर्यसमाजका मूल वेद और ब्रह्मकी उपासना बताता है। अब यदि वेद पत्थर वा जलकी पूजा बता दे; तब आर्यसमाज तथा वादी वेदविरुद्ध सिद्ध होंगे; यह स्वयं उसके लेखानुसार सिद्ध हो जायगा।

वेद कहता है-'नमस्ते अस्तु अश्मने' (अ. १।१३।३) 'नमोस्तु दैवाय प्रस्तराय' (अ. १६।२।६) यहाँपर पत्थर, तथा देवताके पत्थरको नमस्कार किया गया है। १०वें प्रघट्टकमें हमने अथर्वके मन्त्रसे शिला, अश्मा (पत्थर) तथा मट्टीको भी वेदके द्वारा नमस्कार दिखलाया है। 'नमः सिकत्याय च प्रवाह्याय च नमः किंशिलाय च' (यजुः १६।४३) यहाँ भी शिवकी सिकता, शिला-प्रस्तररूपकी मूर्तियाँ सूचित की गई हैं, और उन्हें नमस्कार कराया गया है।

तब अब बाबाजी; बताओ कि क्या वेदको भी अवेद मान लोगे? अथवा यदि अर्थ बदलोगे, तो यह बेहूदा बात होगी; क्योंकि-स्वा.द. जो कुछ सिद्धान्त बना लें, तब क्या वेदको भी उनके ही पीछे लगा दिया जावे? तब तो यह दयानन्दीपन होगा। वस्तुतः जो वेद कहे, उसे ही मानो, उसमें तोड़-मरोड़ करना वेदका अपमान करना है। वस्तुतः वेद पत्थर आदिके द्वारा पत्थरमें व्यापक शक्तिको नमस्कार कराता है।

(ख) हिन्दुसमाजको नास्तिक कहना यह अयथार्थानन्दजी-

को स्वयं नास्तिक सिद्ध कर रहा है। ब्रह्मकी उपासना वह मानता है, अपने इष्ट वेदसे तो उसने ब्रह्मकी उपासना सिद्ध की नहीं; वेदमें देवताओंकी पूजाके माध्यमसे भगवान्का पूजन है। देवता अङ्ग हैं, भगवान् अङ्गी हैं। अङ्गीकी पूजा अङ्ग-द्वारा ही हुआ करती है। वादी किसी मनुष्यकी पूजा करता है, तो उसे वहां उसके आत्माकी ही पूजा इष्ट होगी, पर वह पूजा विना शरीरके कैसे कर सकेगा? इसलिए वह समझ रखे कि-इन अङ्गोंके द्वारा ही भगवान्की पूजा सम्पन्न हो सकेगी। ब्रह्मकी उपासना अयथार्थानन्दजी मानते हैं; उपासनाका अर्थ है कि-समीप बैठना। ब्रह्म तो सर्वव्यापक है, तब एकदेशी यथार्था-नन्दजी उस सर्वव्यापकके पास कैसे बैठ सकेंगे? जिस ढंगसे वे उस सर्वव्यापककी पूजा एकदेशमें करेंगे, वह मूर्तिपूजा ही होगी। उसी ढंगसे मूर्तिपूजक भी भगवान्की पूजा करेगा।

(ग) 'देशमें व्यभिचार, बेहयाई, निर्लज्जता आदि बुराइयोंके कलङ्कका टीका' वादी हिन्दुसमाजके माथेपर बताता है; यह बात कामात्मक नियोगके प्रचालक हिन्दुसमाजके एक अर्वाचीनतम सम्प्रदाय दयानन्दी-समाजमें तो कुछ घटती दीखती है। क्योंकि-नियोगके शास्त्रार्थ करनेसे वा नियोगको प्रोत्साहन देनेसे स्त्री-पुरुषोंमें 'बेहयाई' शुरू होती है। हिन्दुसमाजके पतिव्रतधर्मके प्रचारसे तो व्यभिचार आदि दूर हो सकते हैं।

(१४) ला. लाजपतराय आदिको वादी महापुरुष मानकर उनकी मूर्ति बनानेमें पाप नहीं समझता। आर्यसमाजी उसी

मूर्तिपर पुष्पमाला चढ़ाते हैं। यह मूर्तिपूजा यदि वादीके मतमें पाप नहीं, तो भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्तिपर फूल चढ़ानेमें पाप कैसे है? अब वादी भी उनकी मूर्तिपर फूल चढ़ावे।

(ख) 'द्वा सुपर्णा' यह द्वैतवाद व्यावहारिक है, 'पुरुष एवेदं सर्वं (यजुः ३१।२) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा. ३।१४।१) यह वादिसम्मत अद्वैतवाद पारमार्थिक है। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' यह द्वैतवाद में, व्यावहारिकतामें है; पीछे पारमार्थिकतामें आ जानेपर 'तत्त्वमसि, सोऽहम्, अयमात्मा ब्रह्म' वह वही हो जाता है। फिर कोई जिज्ञासा नहीं रहती। उस समय सभी उपासनाएँ भी समाप्त हो जाती हैं। उपासना तथा भक्ति चित्तशुद्धयर्थ होनेसे व्यवहारवाद हैं; आगेके पारमार्थिकवादके सहायक हैं।

(१५) वादी कहता है-श्रीरामका 'गीता-विवेचन' देखो उसमें गीताकी पोल खोली है'। यदि वादीका ऐसा विश्वास है; तब वह उसका अग्रिम पुष्पमें खण्डन देख ले। इस प्रकार गालीगलौज़ानन्द स्वा. यथार्थानन्द वस्तुतः अयथार्थानन्दजीकी 'मूर्तिपूजामीमांसा' खण्डित कर दी गई। उसमें कभी कोई प्रकरण आ जाता है, कभी कोई। बच्चोंकी सी बातें हैं। उसके लेखककी वृद्धावस्थाका यह दोष हो; वा शास्त्रज्ञानमें परिनिष्ठितता न होना; यह पाठक स्वयं सोच सकते हैं। इसे दयानन्दी डा. श्रीरामने लिखवाया है। इसमें उत्तरणीय तो कुछ भी नहीं था; पर उसका खण्डन न किया जाता; तो वादीको मोह रहता कि-हमारी पुस्तकका प्रत्युत्तर नहीं दिया जा सकता। अस्तु।

हमारे सामने अब तक प्रतिपक्षियोंकी जो पुस्तकें आई हैं; उनकी आलोचना पूर्ण हो जानेसे यह 'आलोचना' स्तम्भ समाप्त किया जाता है। अब कुछ 'सैद्धान्तिक-चर्चा' दी जाती है; उसमें साम्यवादकी आलोचना 'प्रहसन' के रूपमें दी जायगी। उससे पूर्व कुछ 'कुतर्क-कर्तन' भी देखिये।

---

(१८) कुतर्क-कर्तन

(क) दयानन्दि-समाजमें कई ऐसे व्यक्ति हैं, जिनका कार्य जिस किसी प्रकार स.ध. पक्षका खण्डन और स्वा.द.जीके पक्षका मण्डन करना ही रहता है। स्वा.द.जीने 'अन्धाहीन् स्थूलगुदया सर्पान् गुदाभिः' (यजुः २५।७) इस मन्त्रका विचित्र अर्थ किया कि-स्थूलगुदेन्द्रियके साथ वर्तमान अन्धे सांपोंको और गुदेन्द्रियों-के साथ विशेष कुटिल सांपों को'। इस विचित्र 'वैदिक-अर्थ' पर जब जनताने उपहास शुरू किया; तब एक दयानन्दीको उसमें 'शरीर-विज्ञान'की सूझ हो आई, और 'वैदिकधर्म' (जुला. ६६) में लिख डाला कि-'स्थूलगुदा'का अर्थ है 'अन्धी आन्त'। वेदने इसको 'अन्धाहीन्' कहा है। कितनी है विद्वत्ता (?)। 'स्थूलगुदया' पृथक् है, 'अन्धाहीन्' पृथक् है। इनकी विभक्ति भी भिन्न है। दोनोंका अर्थ एक कर दिया गया। उक्त मन्त्रमें 'आन्त्रैः' पृथक है, तृतीयाबहुवचनान्त है। 'अन्तड़ियां' उसी शब्दका अर्थ है, लेकिन दयानन्दी-पथिकने मोटी गुदा और अन्धे सांपोंका 'अन्तडियां' अर्थ करके तुकसे तुक भिडानेकी असफल चेष्टा

की।

हमने यह दिग्दर्शन इसलिए दिया है कि-उन दयानन्दियों-की असम्बद्ध अर्थ करनेकी प्रकृति लोगोंको पता चल जाय। सम्भवी अर्थको तोड़-मोड़ करके 'मक्खीको मल-मलकर भैंसा बना दिया जावे'; यह स्वा.द.जीका आविष्कार रहा करता है। इसी कारण उनकी भाषा अर्थके अवसरपर दुर्बोध एवं अस्पष्ट तथा अस्वाभाविक बन जाती थी। जबर्दस्तीके अर्थमें यह बात स्वाभाविक हो उठती है। इसलिए एक आर्यसमाजी अन्वेषक प्रो. श्रीभवानीलाल भारतीयने 'टङ्कारापत्रिका' (मार्च-अप्रेल ६५) में लिखा था कि-'स्वामीजीके वेदभाष्यकी भाषा दुर्गम, दुर्बोध, अस्पष्ट, जटिल तथा अस्वाभाविक है। उससे न तो भावका स्पष्टीकरण होता है, और न उसका वाक्यविधान ही निर्दोष मालूम होता है'।

तब उनके असम्बद्ध अर्थोंकी बलात्, सङ्गति लगानी गलत बात है। स्वामीजीकी मोटी गुदा तथा अन्धे सांपोंका 'अन्तडियां' अर्थ कभी इष्ट था भी नहीं। इसलिए पूर्वके दयानन्दियोंने 'अन्धे सांपोंका गुदाकी ओरसे पकड़ना' अर्थ किया था। पर उसमें वेदका कुछ भी महत्त्व सिद्ध न होता था। तब वर्तमान एक दयानन्दीके इलहाममें एक बेजोड़ 'अन्तडियां' अर्थ आ गया; पर वह तो पृथक् ठहरे 'आन्त्रैः' पदका अर्थ है, अन्धे सांपों वा स्थूलगुदाका नहीं। बलात् उसमें सङ्गतिकी दुश्चेष्टा करना एकमात्र 'बाबावाक्यं प्रमाणम्'का चरितार्थ करना है। स्थूल-

गुदाका 'अन्धी आंत' अर्थ करना 'खरबूजे'का 'गधा' अर्थ करना है।

(ख) अब दूसरे दयानन्दीकी लीला सुनिये-। उसका काम पुराणोंको झूठा बनानेकेलिए एड़ीसे माथे तकका पसीना बहाना रहता है। हमने 'आलोक' (७) में द्रौपदीके पञ्चपतित्वमें एक विस्तीर्ण निबन्ध रखा था। इस दयानन्दीकी उसमेंके तर्कोंके खण्डनकी शक्ति तो बन नहीं सकी, मूलकथाको ही झुठलानेकी चेष्टा करने लगता है। यदि वह हमारे उस निबन्धका मनन करता, तो उसे उसमें ही प्रत्युत्तर मिल जाता। अस्तु! अब हम उसके आक्षेपोंको प्रश्नरूपमें उपस्थित करके साथ-साथ उनका उत्तर भी लिखते हैं—

प्र० १ नारदकी भांति व्यास भी हर जगह पहुँच जाते हैं। उ० १ व्यास जी योगी थे और अमर। योगविद्यासे पुरुषकी गति प्रत्येक समय तथा प्रत्येक स्थानपर हो जाती है।

प्र० २ पर व्यासजीकी अमलदारी केवल पाण्डवसंसार ही था। उ० २—इसका उत्तर श्रीव्यासजीने किरातार्जुनीयमें दिया है—'वीतरागाणामपि मुक्तिभाजां भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः' (३ सर्ग) पाण्डव निस्सहाय थे, तथा निश्छल थे; अतः व्यासजी-को समय-समय पर उनकी सहायता करनी पड़ी।

प्र० ३ पांच इन्द्र कैसे समकालमें हो गये? उ० ३ एक भी इन्द्र, देव होनेसे अणिमादि-सिद्धिवश, कई रूप धारण कर सकता था। वादिप्रतिवादिमान्य श्रीपतञ्जलिने महाभाष्यमें

लिखा है-'एक इन्द्रोऽनेकस्मिन् क्रतुशते आहूतो युगपत् सर्वत्र भवति' (१।२।६४) 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ऋ. ६।४७।१८) 'रूपं रूपं मघवा (इन्द्रः) बोभवीति' (ऋ. ३।५३।८) 'माहाभाग्याद् (अणिमाद्यैश्वर्यवशात्) देवतायाः' (निरुक्त ७।४।८)

प्र० ४ पांचों इन्द्र तो महादेवबाबाकी उद्दण्डताके फलस्वरूप मनुष्ययोनिमें ढकेले गये। पर बेचारी स्वर्गलक्ष्मीने या छाया-सीताने क्या अपराध किया कि-वे भी इस लोकमें टपका दी गईं। उ० ४-'यस्माद् यत्रैव पतिस्तत्रैव जाया' इत्यादि ब्राह्मण-ग्रन्थोंके वचन सुप्रसिद्ध हैं। 'सती च योषित् प्रकृतिश्च निश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि' (शिशुपालवध १।७२) सो जहां पतिको जाना पड़ता है, वहां पतिव्रता स्त्रीको भी आकृष्ट होना पड़ता है। इससे विपरीत जब भगवान्की नित्यशक्ति राधाको भूलोक जानेका शाप मिला, उसकेलिए श्रीविष्णुको भी भूलोकमें जाना पड़ा।

प्र० ५ यदि पञ्चेन्द्रोपाख्यान सत्य होगा, तो ऋषिकन्यो-पाख्यान गलत सिद्ध होगा। यदि ऋषिकन्योपाख्यानको सत्य मानोगे; तो पञ्चेन्द्रोपाख्यानको गलत मानना पड़ेगा। (उ० ५) पौराणिक उपाख्यानोंमें कल्पभेद बहुत प्रसिद्ध है। सो कल्प-भेदवश घटनाभेद भी कभी हो जाता है। कभी वे दोनों ही काण्ड दैवगतिवश एक साथ ही घटित हो जाते हैं। जैसे भूकम्प हो जाते हैं, वहां कई भिन्न-देशकालोंसे आये हुए भी इकट्ठे ही आकर फलभोगकेलिए प्राप्त हो जाते हैं, वैसे वहां भी घटा

लेना चाहिये। यह सब बातें अबहुश्रुतता तथा शास्त्रज्ञानकी अपूर्णता तथा खण्डनरसिकतामें ज्ञात नहीं होतीं। तब बाहरी तथा भीतरी आंखें कलुषित होती हैं; तब क्या सूझे?

प्र० ६ पौराणिकोंके शिवबाबा कितने अच्छे हैं कि-ऋषि-कन्योपाख्यानमें ऋषिकन्याने मांगा एक पति; और बाबाने पांच पतिका वरदान दे दिया। उ० ६ वर मांगनेके समय ऋषि-कन्याने पतिकी उत्कण्ठामें पांच वार कहा था-पतिं देहि, पतिं देहि आदि। इसलिए उस एक पतिको भी पांचरूपमें विभक्त कर दिया। उसके पूर्व कर्मोंके कारण यहां पञ्चपतित्व होना था; अतः पांच वार मांगनेमें पञ्चपतित्वका वरदान हो गया, यह स्पष्ट बात है। यह खूबी तो दयानन्दिसमाजमें है कि-विधवाको बिना पतिकी प्रार्थनाके भी संन्यासी-बाबा उसे जबर्दस्ती १० वा ११ पतियोंका वैदिक वरदान दे गये, और देवरको तो विवाहके दिनसे पतिका सहायक बनवा दिया। स्त्रियोंसे अलग-थलग रहने वाले संन्यासी बाबा स्त्रियोंके प्रति कितने दयालु रहे। वे भी तो उन्हीं भोले-बाबाके पुजारी रहे। शायद अपनी भंग छाननेके उपरान्त (क्योंकि वे भांग तथा हुक्का दोनोंका प्रयोग किया करते थे) (देखो श्रीमद्दयानन्दप्रकाश) गांजेका लम्बा दम भी लगा लेते रहे हों, (यह वादीके शब्द हैं); तभी तो उन्हें १०, पति और देते हुए उन्हें अधर्म मालूम नहीं हुआ। इसलिए उन बाबाने विवाहित हो रही लड़कीको भी सभ्य मनुष्योंसे सन्तान उत्पन्न कर लेना कहा है। देखो-'मरुतः...इमां नारीं प्रजया

वर्धयन्तु' (संस्कारवि. विवाहप्र.)।

प्र० ७ यदि एक ही इन्द्र पांच पाण्डवोंमें विभक्त हो सकते थे, तो स्वर्गलक्ष्मी भी यदि पांच रूपोंमें विभक्त कर दी जाती, उसमें क्या त्रुटि थी? उ० ७ ऐतिहासिक घटनाओंमें वादीकी इच्छाएँ लागू नहीं हो सकतीं।

प्र० ८ पुराणकारोंकेलिए इस प्रकारकी कहानी गढ़नी उनके बाएँ हाथका खेल था। उ० ८ यह बात गलत है। जो घटना होती थी, उसे ही इतिहासमें दिया जाता था, इति ह आस-इति इतिहासः। तब यदि उसमें कहीं बनावट होती; तो कहीं गलती पड़ जाती। हां, दयानन्दजीवनचरित्रकार विचित्र कहानियां गढ़ दिया करते थे। कहीं पिता अम्बाशङ्कर बन जाते हैं, कहीं कर्शनजी लालजी तिवारी। कहीं मूलशङ्कर लड़का बन जाते हैं, तो कहीं दयाराम वा दयाल। कहीं टङ्कारा ग्राम बन जाता है, कहीं मोरवी नगर। कहीं पिता पुजारी बन जाते हैं, तो कहीं सर्कारी ओहदेदार। अपनी-अपनी मनमानी घटनाएँ भी गढ़ दी गई हैं। कहीं लेखराम लिखित दयानन्द-सम्बन्धी घटनाओंको देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्यायने झुठला दिया है। कहीं अन्तमें विष देना कहा है, तो कहीं पीसा हुआ कांच पिलाना कहा है। कहीं श्रीविरजानन्द भट्टोजिदीक्षितकी मूर्तिको दयानन्दजी द्वारा जूते लगवा रहे हैं। कहीं उनकी पुस्तकोंका यमुनाप्रवाह कहा है। महाशय, केवल एक आंख न रखो।

(प्र० ९) असली बात यह थी कि-प्राचीनकालमें एक स्त्रीके

साथ एक ही समयमें अनेक पुरुषोंके विवाहकी सनातनप्रथा थी। जैसे कि-जटिला, वार्क्षी आदिकी। उ० ६ तब उस समयकी वादीकी मांके भी शायद ११ पति हों, तब हमारी बधाई स्वीकार करो, पर हमारे मतमें जटिला, वार्क्षी आदिका इतिहास अपवाद है, यह सर्वसाधारण प्रथा कभी नहीं रही। उन वार्क्षी आदिके भी विशेष कारण थे-यह 'आलोक' (७) में हम दिखला चुके हैं। सर्वसाधारण प्रथा न होनेसे ही तो द्रुपद आदिने उसका विरोध किया था। यथार्थ रहस्य समझनेपर ही वे चुप हो गये थे; पर वादी जैसे ज्ञानलवदुर्विदग्धोंको तो कौन प्रसन्न कर सकता है ?

(प्र० १०) पौराणिक व्यासको तो इतना कहकर अपना पीछा छुड़ा लेना चाहिये था कि-सभी संसारके पुरुष विष्णुके रूपान्तर हैं; तथा स्त्रियां लक्ष्मी हैं, इसलिए सभी औरतोंसे भोग-विलास कर सकते हैं, कोई भी पाप नहीं है। जैसे कुन्ती आदिने ऐसे ही करवाया। (उ० १०) हमारे यहां अपने-अपने विष्णुकी अपनी-अपनी लक्ष्मी है। कोई पापकी बात नहीं है। आपके यहां तो विवाहिता स्त्री सब पुरुषोंसे सन्तान उत्पन्न कर सकती है। इस विषयमें ८म संख्यामें 'वैदिक-विवाहका रहस्य' देखो। और नियोगवादमें तो जो सामने आ जावे; 'अहं भैरवः, त्वं भैरवी, आवयोरस्तु सङ्गमः' हो जाता है। कुन्ती आदिमें देवताओंसे योग था, वहां मैथुन नहीं था, देखो 'आलोक' (८) में 'नियोग और मैथुन' (१) अतः वहां 'मनुष्यधर्मो दैवेन धर्मेण नहि दुष्यति' (महाभा. आश्रम. ३०।२३) कोई दोष नहीं।

(प्र० ११) 'यह वही स.ध. है, जहां पञ्चमकार हुआ करते थे'। (उ० ११) पञ्चमकारादि वामाचारके पारिभाषिक शब्द हैं, सर्वसाधारण नहीं। इस विषयमें 'आलोक' (५) में 'महीधर-भाष्य' पर निबन्ध देखो।

(प्र० १२) श्रीपुरीधामके देवमन्दिरकी पवित्र दीवारोंपर अश्लील चित्रावलियाँ आज भी मौजूद हैं। (उ०) वे काम-विज्ञानके रहस्य हैं कि-कहीं लुप्त न हो जावें। उनसे यह भी सूचित किया गया है कि-यदि इनमें लगे रहोगे, तो फिर श्रीजगन्नाथजीका दर्शन नहीं मिल सकेगा। इनको अतिक्रान्त करके, इनको पीठ पीछे करके फिर जगन्नाथ भगवान्के दर्शनके अधिकारी बन सकोगे।

पाठकोंने देख लिया होगा कि-यह लोग कहांसे शुरू होकर कहां जा गिरते हैं। पर फिर भी हमने उनका प्रत्युत्तर दे दिया है। अब हम यह आलोचनाएँ समाप्त करके 'सैद्धान्तिक-चर्चा' शुरू करते हैं।

सैद्धान्तिक-चर्चा—

(१६) साम्यवादविषयकसंवाद।

(होलीका विनोद)

होलीके मनोरम दिन हैं, ऋतु सुहावनी बनी हुई है। भांति-भांतिके मनुष्य विविध प्रकारोंसे अपना मनो-विनोद कर

रहे हैं। लड़के रास्तेमें आते हुए लोगोंके ऊपर चुपके-से रंग डालकर फिर भाग जाते हुए देखे जा रहे हैं। युवा लोग उपहास तथा व्यङ्ग्य करके एक-दूसरेसे हँसी कर रहे हैं। कई अपने आपको सभ्य माननेवाले वैसे बालकोंको डांटनेमें लगे हुए उनके शोर मचानेसे लज्जित हुए झेंप-से रहे हैं। कई लोग एक-दूसरेसे विलक्षण संवाद करते हुए ही होलीका आनन्द प्राप्त करते हुए दीख रहे हैं।

पहलेके व्यक्तियोंको छोड़कर हमारी दृष्टि दूबपर बैठे हुए आपसमें संवादका आनन्द प्राप्त करते हुए दो पुरुषोंपर जा पड़ी। हम भी वहां पहुँच गये। उसमें एक खद्दरका कोट एवं पेंट आदि पाश्चात्य वेषवाले कपड़े धारण किये हुए, बीच-बीच में सिगरेटका हवन करता हुआ, बड़े संरम्भसे बोलता हुआ एक सुधारकम्मन्य है, और दूसरा धोती, कुर्ता, चादर (दुपट्टा) साफा आदि प्राचीन वेष धारण किये हुए माथेपर चन्दन केसरादिका तिलक लगाये विशालभालका एक धार्मिक पण्डित है। दोनोंकी इस प्रकार बातचीत शुरू हुई।

१ सुधारक—पण्डित! तुम लोग नाममात्रके पण्डित हो। आजकल अस्पृश्योंका प्रश्न बहुत बढ़ता जा रहा है; तुम लोग उनको कुछ भी सुविधाएँ नहीं देना चाहते; इसमें क्या कारण है?।

१ धार्मिक—महाशयजी! सम्भव है कि-हममें यह त्रुटि हो; इस विषयमें आप हमारे शास्त्रोंसे पूछिये। हम शास्त्रानुसारी

सिद्धान्तोंको माननेवाले हैं। आप लोग जो कुछ करना चाहते हैं, उसपर प्रष्टव्य है कि-आप लोग उसे हिन्दुशास्त्रोंका अतिक्रमण करके करना चाहते हैं, अथवा उनकी अनुकूलतामें करना चाहते हैं? यदि पहली बात है; तो आप हिन्दुशास्त्रोंका अतिक्रमण करते हुए कैसे हिन्दु हैं? यदि दूसरी बात है; तो शास्त्र अस्पृश्योंके साथ व्यवहारभेद बड़ा स्पष्ट बताता है-यह जान रखिये।

२ सुधारक—पण्डित! ऐसा नहीं है। इससे मालूम होता है कि-तुमने अपने शास्त्रोंको सूंघा तक नहीं। देखो-तुम लोगोंकी भगवद्गीता-जिसपर तुम लोगोंको बड़ा नाज़ है-क्या कहती है। उसके शब्द जरा कानके पर्दे खोलकर सुनना। वह कहती है-'विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' (५।१८) यहां बताया गया है कि-पण्डित लोग ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता एवं चाण्डालमें समान व्यवहार करते हैं। एक तुम पण्डित हो कि-चाण्डालों-अछूतोंको छूनेकी ही मनाही करते हो।

२ धार्मिक—महाशय जी! मालूम होता है कि-आपने भी अपने शास्त्रोंको नहीं देखा। इधर-उधरसे सुन-सुनाकर यही श्लोक रट लिया है। न तो सारी भगवद्गीता ही पढ़ी, और न उसके तत्त्व वा रहस्य पर कभी विचार ही किया। बतलाइये कि-क्या आप इस पद्यको प्रमाण मानते हैं?

३ सुधारक—वाह जी वाह! क्या हम श्रीकृष्णभगवान्के

वाक्योंको ही न मानेंगे ?

३ धार्मिक—अपना मतलब सिद्ध करनेकेलिए ही श्रीकृष्ण भी आपकेलिए भगवान् बन जाते हैं; और उनका वचन भी आपके मतमें प्रमाण बन जाता है। वास्तवमें तो आपकेलिए न वेद प्रमाण है; न स्मृति ही। न गीता प्रमाण है, न आपके अपने सम्प्रदायकी पुस्तक, यह सहस्रों प्रमाणोंसे सिद्ध किया जा सकता है, परन्तु उसे उपेक्षित करके हम आपसे उपक्षिप्त श्लोक पर ही ऊहापोह आपके आगे रखते हैं। आप सावधानता से सुनें।

४ सु०—मैं सावधान हूँ; सुनाना शुरू कर दो।

४ धा०—यह श्लोक आपके इष्ट पक्षको सिद्ध करनेमें सक्षम नहीं है।

५ सु०—पण्डित! ज़रा साफ़-साफ़ कहो। इस प्रकारके गोल-मोल शब्दोंसे आपका काम चलनेका नहीं।

५ धा०—तो साफ ही सुनिये। उक्त गीतापद्यमें 'समदर्शिनः' है 'समवर्तिनः' नहीं। यदि ऐसा है; तो ब्राह्मण एवं अन्त्यजोंके साथ समान व्यवहार नहीं हो सकता।

६ सु०—तब तो यह श्लोक ही व्यर्थ हो जावेगा।

६ धा०—नहीं। इसका यह आशय है कि-सुख, दुःख आदि ब्राह्मण-चाण्डाल आदिका समान होता है; पर इसमें दोनोंकी व्यवहार-समता नहीं कही गई। यदि सबका व्यवहार भगवान्‌को समान इष्ट होता; तब भगवान् 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणोऽ-

परधर्मात् स्वनुष्ठितात्' (१८।४७) इत्यादि वचन न कहते कि-अपना थोड़े गुणोंवाला भी धर्म दूसरोंके सुव्यवस्थित भी धर्मसे अच्छा है। सभीका साम्यवाद भगवान्‌को इष्ट नहीं। तभी तो 'ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां शूद्राणां च परंतप!' (१८।४१) यहांपर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन द्विजोंको समासके आसनपर इकट्ठा बैठाकर भी भगवान्‌ने शूद्रको उनके साथ इकट्ठा नहीं बैठाया। किन्तु द्विजोंसे एकज शूद्रको पृथक् कर दिया गया। अस्तु। क्या आप इस श्लोकसे इस पद्यमें कहे हुए सभीका व्यवहार-साम्य मानते हैं ?

७ सु०—अवश्य, इसमें किन्तु-परन्तुको क्या अवकाश!

७ धा०—ऐसा नहीं। पहले तो इस श्लोकमें ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता, अन्त्यज आदिका आपसमें सब व्यवहारोंका साम्य नहीं कहा गया। किसी प्रकार क्लिष्टकल्पनासे उक्त पद्यसे सबका साम्यवाद निकाला भी जाय, फिर भी वह जगत्‌में किसी भी प्रकार चालू नहीं हो सकता।

८ सु०—तुम स्पष्ट शब्दोंमें कहो। इस प्रकार गोल-मटोल शब्दोंसे तो तुम्हारा अभिप्राय जानना भी कठिन हो रहा है।

८ धा०—तब मैं आपके आदेशानुसार स्पष्ट शब्दोंमें कहता हूँ, उससे आप बुरा न मनाएंगे, ऐसी आपसे आशा है। कहिये-आपके नेता कौन हैं; उनका आप कभी जलूस भी निकालते हैं; वा निकालते रहे हैं? अथवा उनका जलूस किस ढंगसे निकालते हैं?

९ सु०—इसमें बुरा माननेकी बात ही क्या है? हमारे भूत-नेता तो एक महर्षि स्वामी थे, अब भी एक महात्मा थे; अन्य भी वर्तमानमें बहुत-से नेता हैं। उनके जलूस भी कई वार निकाले गये। जलूस कभी बहुत घोड़ों वाली फिटनके द्वारा, कभी मोटर द्वारा, कभी नेताको हाथी पर चढ़ाकर निकाला जाता है।

९ धा०—यदि हाथीपर किसी नेताको चढ़ाकर उनका जलूस आप लोग निकालते हैं, तो श्वानपर चढ़ाकर भी आपने अपने नेताका जलूस कभी निकाला?

१० सु०—तुम भी विचित्र जीव हो। कुत्तेपर चढ़ानेकेलिए कहकर तुम हमारे नेताओंका अपमान कर रहे हो। याद रखो कि-तुम पर 'हतक-इज्जत'का दावा दायर किया जा सकता है।

१० धा०—यह तो पहले ही मैंने निवेदन किया था कि-बुरा न मनाइयेगा; पर प्रतिज्ञा करके भी आपने प्रतिज्ञा भङ्ग की। इसके अतिरिक्त होलीके दिन भी हैं; इसलिए आपका दावा शायद जज न भी सुन सके। आपका यह उलाहना देना ठीक भी नहीं; क्योंकि-आपने अपने प्रमाणित गीतापद्यसे विरुद्धता भी की है। उस पद्यको फिर सुन लीजिये 'विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' इस पद्यमें जैसे हाथीका नाम है, वैसे श्वानका भी। जब आप इस श्लोकके द्वारा इनमें समदृष्टि मानते हैं, तब हाथी और श्वान दोनोंके आपके अनुसार समान होनेसे हाथीकी भांति श्वानपर

भी अपने नेताकी शोभायात्रा क्यों नहीं निकालते? स्वागतयात्रा जब हाथीपर भी होती है; तो उसकी समतावश श्वानपर भी हो। क्यों आप मोटरोंपर नेताओंका स्वागत करके जनताका व्यर्थ व्यय कराते हैं? श्वान तो बहुतायतसे मिल ही जाते हैं; न उनमें पेट्रोलका खर्च होता है, न ही मोटर-ड्राईवर आदिका खर्च है। समदर्शी आप लोगोंके मतानुसार वह श्वानपर आरोहण हाथी पर चढ़ना हो जावेगा। जनता भी तब आपकी समदृष्टिका उद्घोष भली-भांति जान लेगी। आपका यश भी बहुत फैल जावेगा। इस प्रकार यदि कोई युद्धमें हाथीपर चढ़कर युद्ध करता है; तब उसके स्थानपर वह क्या श्वानपर चढ़कर भी युद्ध कर सकता है? यदि नहीं, तो साम्यवाद फिर क्या हुआ?

११ सुधा०—(अपने श्लोकसे स्वयं ही निगृहीत होकर कुपित होकर भी कुछ कह सकनेमें असमर्थ होनेसे चुप ही रहा)।

११ धा०—महाशय! कृपया कोप हटाइये। इस बातको मैं छोड़ता हूँ। यह बोलिये कि-अपने नेताको जब आप किसी स्थानपर ठहराते हैं, तो उसके खानपानकी आप कैसी सेवा करते हैं?

१२ सुधा०—हम स्वादिष्ट अन्नसे, मँहगे फलोंसे और गायके दूधसे उस नेताकी सेवा किया करते हैं।

१२ धा०—यहां भी कोप हटानेकेलिए आपका पहला वचन याद दिलाता हूँ; और फिर आजकल होलीके दिन भी हैं ही।

आप जानते ही हैं कि--आजकल कितनी मँहगाई हो रही है। जनताके पास धन अब प्रयत्नलभ्य हो गया है। आजकल गोदुग्धके भी विक्रय शुरू हो जानेसे वह दूध भी धनप्राप्य हो गया है। आपसे उपस्थापित पूर्वपद्यमें, जैसे गायका नाम है, वैसे श्वानका भी, और आप इस पद्यमें साम्यवादके सपने भी देख रहे हैं; तब क्या गोदुग्धके स्थानपर शुनीका दूध भी नेताको पिला सकते हैं, जिससे निर्धन जनताका धन व्यय न हो। पूर्वोक्त पद्यमें विद्याविनय-सम्पन्न ब्राह्मणका नाम भी है और गायका भी। हम तो पूर्वोक्तपद्यमें 'समवर्तिनः' न होनेसे साम्यवाद नहीं मानते, पर आप 'समदर्शिनः'से साम्यवाद लेते हैं। आप अपने नेताको गुणकर्मसे ब्राह्मण भी मानते ही होंगे; तब क्या आप उसके आगे गायसे भोजनीय खली-भूसा आदि अथवा श्वपाक (क्योंकि–पूर्वोक्तपद्यमें यह नाम भी है)से भोक्तव्य श्वानका मांस भी रख सकते हैं? इससे आपकी समदृष्टि भी पक्की हो जायगी।

१३ सुधा०—अरे पण्डितपाश! हमारे नेताओंको तू गाली देता है?

१३ धा०—धी-वरजी! आप क्षुब्ध न हूजिये। यदि आप अपने मनचाहे श्लोकपर आचरण नहीं करना चाहते; तब यह होलीका विनोद ही समझ लीजिये। अस्तु। यह कहिये कि–क्या आप सन्ध्या-हवन आदि भी किया करते हैं? यदि हां, तो कैसे स्थानमें?

१४ सु०—(उत्साहित होकर) हम सन्ध्या-हवन तथा भोजनादि गोबरसे लिपे शुद्ध स्थानमें करते हैं। हमारे भूतनेता स्वामी गोबरसे लिपे स्थानकी (स.प्र. १० पृ. १६६ में) बहुत प्रशंसा कर गये हैं।

१४ धा०—तब तो साम्यवादी महाशयजी! पूर्वके आपसे दिये गीतापद्यमें जैसे गायका नाम है, वैसे विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मणका भी। यदि आप गायके गोबरसे लिपे स्थानमें सन्ध्या-हवन एवं भोजनादि करते हैं, तब उस विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मणके भी गोबरसे [जैसे कि आपके नेताने प्रश्न कराया है–'जो गायके गोबरसे चौका लगाते हो; तो अपने गोबरसे क्यों नहीं लगाते' (स.प्र. पृ. १६६)] लिपे स्थानपर भी क्या सन्ध्या-हवन भोजनादि किया करते हैं वा कर सकते हैं? आजकल गोहत्या जारी होजानेसे गौएँ कठिनतासे मिलती हैं, इसी प्रकार गोबरके ढूँढनेमें भी परिश्रम पड़ता है। इस प्रकार करनेसे आपका साम्यवाद यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रसिद्ध हो जावेगा।

१५ सु०—(लज्जित होकर भी ढिठाईसे) ठीक है, पर ब्राह्मणके मलमें यदि दुर्गन्ध न होती, तब हम ब्राह्मण क्या, बल्कि श्वपाक (चाण्डाल) के मलसे भी उस स्थानको लीपते। हम-सुधारकोंके नेता स्वामीजी (स.प्र.के उक्त स्थानमें) दुर्गन्धकेकारण ही मनुष्य-मलके लेपका निषेध कर गये हैं (जैसे कि गायके गोबरसे वैसा दुर्गन्ध नहीं होता, जैसा कि मनुष्यके मलसे [दुर्गन्ध होता है] पृ. १६६)।

१५ धा०—यदि दुर्गन्धकेकारण आप ब्राह्मणके मलके लेपसे डरते हैं; तब आपका साम्यवाद कहां गया ? इस प्रकार गायकी समदृष्टिसे क्या आप कुतियाके मलका (शुनि चैव) लेप भी कर सकते हैं ? यदि नहीं तो हम भी यदि दुर्गन्धसे ओत-प्रोत चाण्डालोंसे (जिसका अर्थ आपके भूतनेताने अपने स.प्र. तथा अपने वेदभाष्य आदिमें 'भंगी' किया है) स्पर्श नहीं करते; तब हमें ही वैषम्यवादी क्यों कहा जाता है ? फिर आप ही साम्यवादी कैसे ?

१६ सु०—(फिर भी ढिठाईसे) चाण्डाल आदिका तो स्नानके बाद दुर्गन्ध हट ही जाता है; इसलिए उनसे स्पर्श आदि तो करना चाहिये; पर ब्राह्मणके मलका दुर्गन्ध तो पानीसे भी दूर नहीं होता; इसलिए ही हम उसका उपयोग नहीं करते, गायके पुरीष (गोमय) का ही उपयोग करते हैं।

१६ धा० यदि आप ब्राह्मणके मलका स्नानसे भी दुर्गन्ध दूर होना नहीं मानते; वैसे चाण्डाल आदिके स्नान करानेपर भी उसके भीतरी जन्मसिद्ध परमाणु दूर नहीं होते। इसलिए हम उनसे स्पर्श नहीं करते, परन्तु आप साम्यवादी–आश्चर्य है कि–ब्राह्मणके मलके दुर्गन्धसे कैसे डरते हैं ? आप दुर्गन्ध दूर करनेकेलिए ही तो हवन करना मानते हैं। आपके भूतनेता भी ऐसा ही मान गये हैं, तभी तो वे मुर्देका भी हवन करना इसी उद्देश्यसे मान गये हैं। तब 'आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च प्रीणिताः' (मृत पितरोंका तर्पण किसी आम्रादि वृक्षपर जलसे करनेसे आम

भी सिंच जाते हैं, और पितरोंका तर्पण भी हो जाता है–'एक पन्थ दो काज'] यह महाभाष्यके पस्पशाह्निकमें कहा हुआ न्याय भी परिपुष्ट हो जावेगा। धर्म भी हवनसे हो जावेगा; दुर्गन्ध भी दूर हो जावेगी। गाय और ब्राह्मणका आपका मनचाहा साम्यवाद भी पुष्ट हो जायगा। इस प्रकार 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी–नहीं नहीं–त्र्यर्थकरी प्रसिद्धा' यह न्याय चरितार्थ हो जायगा।

१७ सु०—(अपने मनमें–पता नहीं, मैंने किस खराब मुहूर्तमें यह श्लोक प्रमाणरूपसे उपस्थित किया था, जिससे मैं स्थान-स्थान पर निगृहीत हो रहा हूँ। आगेसे पोपोंके प्रमाणों पर मैं भविष्यत्में विश्वास न किया करूँगा।) (स्पष्टरूपमें) पण्डितजी ! आपके शब्द कठोर हैं, कुछ कोमलता पकड़िये।

१७ धा०—श्रीमान् जी ! यह मैं आपके मतानुसार ही तो कह रहा हूँ, तब आप क्यों परेशान हो रहे हैं ? यदि आप यहां अव्यवस्था देख रहे हैं; तब साम्यवादका समूलोन्मूलन कीजिये, क्योंकि–साम्यवाद जारी करनेपर इस प्रकारकी बहुत-सी अव्यवस्थाएँ आ पड़ेंगी। आप बतावें कि–आपका वर्ण क्या है ?

१८ सु०—मैं गुणकर्मसे ब्राह्मण हूँ।

१८ धा०– यद्यपि गुणकर्मणा वर्णव्यवस्था शास्त्रविरुद्ध है, और इस विषयके चलानेपर प्रकृतविषयके छूट जानेकी सम्भावना है; और आप इस विषयको जानना चाहते हों; तो ! 'आलोक' (४-६-८ पुष्प) मँगाकर देखिये, तथापि आपकी ही बातको

आए मानकर ब्राह्मणभूत आपसे प्रश्न है कि–एक सुधारक विद्वान्‌की विधवा स्त्रीकेलिए वा नपुंसक विद्वान्‌की स्त्रीकेलिए नियोगकेलिए भंगीका प्रयोग किया जा सकता है ? ब्राह्मणका चरणप्रक्षालन आता है, भङ्गीका क्यों नहीं ? आप किसी समाजमें व्याख्यान देने गये हों; उस समय कई सामाजिक लोग आपको प्रेरणा करें कि–आप चाण्डालका मल उठानेवाला पात्र उठाकर समाजमन्दिरके पुरीषालयको स्वच्छ करके वह मल गधेपर वा गाड़ीमें रखकर उसे नगरसे बाहर डाल आइये, (क्योंकि–पूर्वोक्त आपके पद्यमें ब्राह्मण तथा श्वपाक (चाण्डाल) दोनोंका नाम है); तब आपको इसमें कोई आपत्ति तो न होगी ? इस प्रकार साम्यवादके प्रसारणार्थ व्याख्यान देनेसे आपका दिमाग भी नहीं थकेगा, आपके आचरणसे लोग स्वयं साम्यवाद भी सीख जायेंगे।

१६ सु०—(चारों ओर हँसते हुए लोगोंको देखकर गुस्सेसे) अरे दुष्ट, धर्मध्वजी पण्डित ! तू किस कुमार्गमें जा रहा है ? व्यर्थकी बातें मत कर। मेरी इच्छा तो यही होती है कि–अभी तुम्हारे दान्त तोड़ दूँ; पर चारों ओर ठहरी हुई तुम्हारे पक्षकी और इधर होलीके मदसे मस्त हुई जनताको देखकर डरता हूँ, इसीलिए चुप हो रहा हूँ, परन्तु तू असभ्य शब्दोंसे मेरे मर्मोंको क्यों काट रहा है ?

१६ धा०—प्राज्ञजी, शान्त हूजिये। इससे तो आप स्वयं यह सिद्ध कर रहे हैं कि–साम्यवाद कुमार्ग तथा असभ्यताका मूल

है, इससे आप साम्यवादको कोसिये, मुझे नहीं। यदि आप यह नहीं सह सकते, तब चाण्डालको ब्राह्मणके समान मान कैसे दिलाना चाहते हैं ? अस्तु। आप उक्त गीतापद्यको पुनः याद करके कहिये कि–आपके पास यदि हाथी हो; और कोई श्वान रखनेवाला चाण्डाल आपको श्वान देकर उसके बदलेमें हाथीको लेना चाहे; तो आप वहां 'ननु-नच, किन्तु-परन्तु' तो नहीं करेंगे; क्योंकि–उक्त पद्यमें दोनोंकी गणना है ?

२० सु०—यह कैसे हो सकता है कि–थोड़े मूल्यवाली वस्तु लेकर बहुत मूल्यवान् हाथी दे दिया जाय ?

२० धा०—तब साम्यवादका डिण्डिम बजाकर आप लोग जनताको क्यों ठगते हैं ? वास्तवमें आपसे दिये हुए श्लोकमें साम्यव्यवहारका उपदेश रत्तीभर भी नहीं है। उसमें स्वयं भगवान् कृष्ण भी व्यवहारके वैषम्यका अपने वचनसे स्वयं उपदेश दे रहे हैं। पहले वे ब्राह्मणका नाम लेते हैं, चाण्डालका नहीं। उसके बाद भी गायका नाम रखते हैं, चाण्डालका नहीं। उसके बाद हाथीका, पश्चात् श्वान एवं श्वपाकका नाम ले रहे हैं। यह कैसे ? वे सत्त्व गुणवाले ब्राह्मण और गायको पहले रखते हैं, अन्तमें तमोगुणी श्वान और श्वपाकको इकट्ठा लेते हैं। दोनोंके मध्यमें भेद रखनेकेलिए रजोगुणवाले, दीर्घकाय, व्यवधान करनेकेलिए दीवाररूप हाथीको रखते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण जब स्वयं इनमें भेदभाव रखते हैं; तब उन्हें भेदका उच्छेद वा साम्यवाद कैसे सम्मत हो सकता है ?

भगवान्ने इस पद्यमें कुत्ते और गायका नाम एक पद्यमें कहा है। यदि भगवान् कृष्णको दोनोंका सम-व्यवहार चलाना इष्ट होता; तो इतिहासमें जैसे श्रीकृष्णका गौओंका चराना प्रसिद्ध है, वैसे ही क्या उनका कुत्तोंका चराना भी आपने कहीं सुना है? यदि नहीं; तब स्पष्ट है कि-भगवान् इनमें सम-व्यवहार नहीं चाहते थे। जैसे शास्त्रोंमें गायका दान श्रेष्ठ माना जाता है; तब क्या गायके स्थानमें कुत्ते-कुतियाका दान भी कहीं श्रेष्ठ माना गया है? आपके भूतनेता स्वामीजीकी सं.वि.के अनुसार विवाह-संस्कारमें वरको गाय दी जाती है; तब क्या साम्यवाद-वश उसे श्वान भी दिया जा सकता है? गाय बहुत मंहगी मिलती है, श्वान सस्ता मिल सकता है। यदि नहीं; तब स्पष्ट है कि-उक्त पद्यमें साम्यवाद विवक्षित नहीं। नहीं तो यदि आप लोग संस्कारविधिके प्रयोगकेलिए जैसे ब्राह्मणको बुलाते हैं; क्या उसके स्थानमें पढ़े-लिखे चाण्डालको भी ला सकते हैं, वा कभी लाये हैं? यदि सर्दीसे ठिठुरा हुआ कोई चाण्डाल आ जावे; तो उसे तो कदाचित् सुधारक अन्दर बैठाकर कम्बल ओढाकर वा अग्निसे उसकी सर्दी हटा देते हों; वैसे वात, वृष्टि, शीत आदिसे आर्त कोई कुत्ता आपके घरके अन्दर आ रहा हो; तब क्या आप लोग उस कुत्तेको भी अपने घरमें प्रविष्ट करके वैसा व्यवहार उसके साथ भी करते हैं? या डण्डे आदि द्वारा उसे घरसे बाहर निकाल देते हैं? यदि डंडा मारकर उसे बाहर निकाल देते हैं; तब आपका साम्यवाद क्या हुआ? उस पद्यमें

तो श्व-श्वपाक दोनोंका ही नाम है।

आप अपनेको ब्राह्मण कहते हैं, इस श्लोकमें ब्राह्मण तथा कुत्ता दोनोंका नाम है। जैसे कुत्तेको गलेमें रस्सी डालकर घुमाया जाता है; तब क्या ब्राह्मण होते हुए आप भी अपने साथ किये गये हुए इस व्यवहारको सह लेंगे? यदि नहीं; तब साम्यवाद क्या वस्तु है? श्वपाक यह श्वानको पकाकर खा जानेवाले चाण्डालका नाम है। यदि श्वान और श्वपाकका सादृश्य है; तो जिस प्रकार श्वपाक श्वानको खा सकता है; तब क्या श्वपाकको श्वान भी भरवा सकता है? यदि नहीं, तब यह व्यवहारभेद क्यों?

गोहत्याके विरोधमें आप लोग भी आन्दोलन करते हैं-यह हर्ष है; तब म्युनिसिपलिटीसे प्रतिवर्ष श्रावण आदिमें किये जाते हुए कुत्तोंके वधके विरोधार्थ आन्दोलन क्यों नहीं करते? क्योंकि-उक्त गीतापद्यमें दोनोंका समतासे ही निर्देश है। उस समय क्यों चुप रहते हैं? यह व्यवहारभेद क्यों? क्या अपने-आपको ब्राह्मण कहनेवाले आप अपने आपको उक्त पद्यमें स्थित 'श्वपाक' शब्दसे बुलवाना पसन्द करते हैं? यदि नहीं; तब स्पष्ट है कि-उक्त पद्यमें व्यवहार-साम्यका उपदेश नहीं है। यदि ऐसा है; तब यह जानते हुए भी आप लोग इन पद्योंको प्रसारित करके जनताको क्यों ठगते हैं-इसलिए कि-गीता माननेवाले सनातनधर्मी कलङ्कित हो जावें?

वास्तवमें आप लोग ही अन्त्यजोंकी हानि करनेवाले हैं।

उन्हें स्पृश्यता दे देनेसे कुछ भी नहीं बनेगा ? कोई भी भूखा पुरुष देवमन्दिर-प्रवेशसे अथवा व्याख्यानमात्र सुनने-सुनानेसे अपनी उदरज्वाला शान्त नहीं कर सकता। मुख्य प्रबन्ध उनकी वृत्तिका करना पड़ता है। आप लोग तो इन निम्न जातिवालोंकी वृत्ति काटनेमें लगे हुए हैं। क्या यही आपका अछूतोद्धार है ? सनातनधर्मी ही अन्त्यजोंकी वृत्ति करनेवाले होनेसे उनकी वृत्तिके व्यवस्थापक हैं। अस्तु। अन्य कोई किसी प्रामाणिक ग्रन्थका श्लोक इस विषयमें आपके मतका पोषक हो, उसे भी उपस्थित कर दीजिये, उसपर भी हम विचार करनेकेलिए उद्यत हैं।

२१ सु०—तुम गलत कहते हो। अनाथोंके नाथ सुधारक ही इन अन्त्यजोंके शुभचिन्तक हैं; आप लोग नहीं। श्लोक मैं अन्य अब कोई भी नहीं दूंगा। पहले दिये हुए ही गीताके श्लोकने मेरी काफी दुर्दशा की है; न मालूम अन्य श्लोक मेरी क्या दुरवस्था करे। तुम पोपोंकी पुस्तकोंके श्लोकोंपर अब मैं कभी विश्वास न करूंगा। वे बाहरसे हमें अच्छे और अनुकूल लगते हैं, और आप लोगोंके हाथमें आकर यह हमें काटनेकेलिए भयानक अस्त्र बन जाते हैं। यद्यपि उक्त गीतापद्यमें साम्यवादमें तुमसे कहे दोष आते हैं; तथापि तुम लोगोंके मतमें भी यह दोष आ सकते हैं, 'पण्डिताः समदर्शिनः'का तुम लोग क्या अर्थ बदलोगे ?

२१ धा०—यदि आप कोई अन्य श्लोक उपस्थित नहीं करना चाहते; तो आपकी इच्छा। हमारे मतमें उक्त गीतापद्यकी शिक्षा समदर्शनमात्रमें पर्यवसित हो जाती है, समव्यवहारका उपदेश यहांपर इष्ट नहीं। अतः हमारे पक्षमें कुछ दोष नहीं आता। वह समदर्शन भी तब व्यवहर्तव्य है, जब गीताके ही अनुसार पुरुष 'समलोष्टाश्मकाञ्चन' (६।८, १४।२४) हो, जब सोना, ढेला, और पत्थरमें समान व्यवहार करे। क्या आप लोग किसी अछूतको अपना संचित किया हुआ सोना दे देंगे, यदि वह आपको उसके विनिमयमें ढेला वा पत्थर दे दे ? 'समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः' (१२।१८) इस प्रकारकी अवस्थामें ही 'पण्डिताः समदर्शिनः' होता है कि-आप शत्रु और मित्रमें भी बराबर व्यवहार करें, मान-अपमानको भी बराबर समझें। 'साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते' (६।९) जब आप सत्पुरुषों और पापियोंसे भी बराबर व्यवहार करें। बताइये कि-क्या यह बातें सर्वसाधारणके व्यवहारकी हैं ? फिर भगवान् कृष्णने सत्पुरुषों-पाण्डवोंकी ही क्यों रक्षा कराई ? क्यों पापी दुर्योधनादि तथा उनके साथियोंको मरवाया ? यह बातें तो तुरीयकोटिवाले अवधूत परमहंसकेलिए तो सम्भव हो सकती हैं; सर्वसाधारणकेलिए नहीं। अथवा 'समदर्शिनः'का यह भाव भी हो सकता है कि-पण्डित (सदसद्विवेकी) लोग इन सबमें ब्रह्मकी दृष्टि रखते हैं। अपने आक्षिप्तपद्यके अग्रिम पद्यमें ही देखो 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' (५।१९) इस गीताके श्लोक-से सम नाम ब्रह्मका होता है; पर इससे सबमें समान व्यवहार

नहीं हो जाता। ब्रह्म पेड़े-बर्फीमें भी है, मद्य एवं विष्ठा तथा कीचड़में भी ब्रह्म है; पर इनमें व्यवहार-साम्य नहीं हो जाता। यह गीता-श्लोक तो सर्वाङ्गीण समाहित हो चुका; अब अपनी युक्तियोंका उत्तर भी सुनिये; और अपना अछूतोंके प्रति हितैषी बननेका आदर्श भी देखिये-सुनिये। आप लोग अछूतोंकी हितैषिताका ब्याज बाहरसे दिखलाकर जनताको ठगकर उनसे धनकी ग्रन्थियाँ लेकर उनको अपने ही कामोंमें लगाते हैं, सनातनधर्मी वैसा नहीं करते।

अब अपने आपको सुधारक माननेवाले आप लोगोंका तथा सनातनधर्मियोंका अस्पृश्यताकी हितैषिताके विषयमें तारतम्य भी सुनिये।

२२ सु०—हां, सुनाइये। देखें आप उसमें कितना असत्यका प्रयोग करते हैं?

२२ धा०—उसमें आपको असत्यका प्रयोग नहीं मिलेगा। सत्यता ही होगी। आप लोग अन्त्यजोंको स्पृश्यता देकर उनसे उनकी सुन्दर कन्याएँ खींचना चाहते हैं; और ऐसे विवाहोंका नाम आप लोग अपने पत्रोंमें 'आदर्शविवाह' इन शीर्षकोंसे 'हिन्दी मिलाप' आदि पत्रोंमें छपवा दिया करते थे, और करते हैं। फिर वह अछूतकन्यासे विवाहसंस्कारविधि भी अद्भुत होगी; उसका आदर्श भी देख लीजिये। वहां यह सङ्कल्प होगा।

"ॐ तत्सत् कुमारीमरियमपुत्रस्य हजरत-ईसामसीहस्य

१९३६ *सने, तथा महामहारिसी दयानन्दाब्दे १११, मासोत्तमे मासे ऐप्रिलफूले, पक्षपातरहिते सावकाशे सर्वेषां सर्वेण्टानां मोदप्रदे सण्डे वासरे, पुण्यधाम्नि क्वीन्सगार्डेने, गुरुकुलगोत्रोत्पन्नाय नियोगजाय खत्रीपुत्राय, गुणकर्मानुसारं ब्राह्मणाय, अम्बेडकरपैरपूजकाय, इण्टरकास्टमैरिजविलानुसारेण लालवेगकुलोत्पन्नां, झाडूटोकड़ीत्यागिनीं, कोह्लापुरसंस्थापितगर्ल्सस्कूले-प्राईमरीपासां, छटांकभरघृतके वैदिक-होमद्वारा शुद्धां, डासनबूट गौनरिस्टवाचेत्यादिभूषितां, पाउडरपाण्डुमुखीं, लिप्स्टिकरक्तोच्चाधरोष्ठीं, पर्सालङ्कृतप्रकोष्ठाम्, अर्द्धोरुकस्कर्टादि-परिधानीयां, वक्रसीमन्तवाहिनीं नग्नशिरस्कां, १४४ वारं रजस्वलीभूतां, मनोहारिकचकुचां, अनुपमलावण्यां नवनवयुवकैः शेकहैण्डे कुर्वतीम्, अस्मादेव दिवसाद् देवृकामाम्, अवरोधाव गुण्ठनादि-प्रथाविरोधिनीं चञ्चलानाम्नीमिमां चतुर्विंशतिवर्षीयाम्, कन्याम् अछूतोद्धारयज्ञसिद्ध्यर्थं प्रजेण्टिड टू यू (तुभ्यमहं सम्प्रददे)।

एवं लालवेगजातीयेन कन्यापित्रा प्रोक्ते वर उवाच-'कतिपय-दिवसानन्दकृते भविष्यत्तलाकप्रदानार्थं कौमार्ये भ्रूणहत्यापापाद् गार्हस्थ्ये च सन्ततिभाराद् आत्मानं त्रातुं 'वूमनफ्रेण्ड' नामक-गर्भनिरोधकौषधिसेविनीम्, प्रदरपवित्रां श्रीमतीमिमां साम्यवाद-पुष्ट्यर्थं इमां लेडीं महत्या प्रसत्त्या स्वीकरोमि'। ततो जेण्टिलमैना

---

*यह हमारा निबन्ध 'संस्कृतम्' अयोध्या (१८-३-३६) में होलिकाङ्कमें प्रकाशित हुआ था; अतः यहां उसी कालका निर्देश है। वैसे यह संकल्प ऐप्रिलफूलके उपलक्ष्यमें था।

अनु:-हेअर, हेअर, हेअर-इति विवाहसंस्कारविधि: समाप्त:।

२३ सु०—यही तो शुद्ध वैदिकविवाह होगा। इस प्रकारका विवाहप्रवाह संसारका सार है। सन्तानकी उत्पत्ति तो रमणके आनन्दमें विघ्न डालनेवाली होती है। उच्च यौवनमें कन्याके विवाहकी हम लोगोंकी स्वीकृतिसे कौमार्यमें ब्रह्मचर्यके रहस्यका भण्डाफोड़ कर देनेवाली होती है, जिससे पढ़नेवाली कुमारीको लज्जामें डूब जाना पड़ता है। इसलिए 'वूमनफ्रेण्ड' का सेवन युवति लड़कियोंकेलिए सर्वथा हितकारक होता है। इस प्रकार करनेसे ही आर्यजातिके अभ्युदयका उदय होगा।

२३ धा०—ठीक, बिल्कुल ठीक। शर्ममें डूब मरनेके स्थान इस ढिठाईके समर्थनके उपलक्ष्यमें आपको वधाई हो। अस्तु। अब अपनी अस्पृश्योंकी हितैषिताका आदर्श भी सुनिये। यह अछूत लोग अस्पृश्यता होनेपर धर्ममें भी श्रद्धा रखते हैं, रामका नाम भी लेते हैं। चोटी भी रखते हैं। अपने-आपको सुधारक माननेवाले आप लोग इसलिए उन्हें स्पृश्य बनाना चाहते हैं कि-वे आपकी भांति धर्ममें भी श्रद्धा खो बैठें। राम-नामका लेना भी छोड़ दें। चोटीको भी कटवा दें-यह आपका इन्हें स्पृश्यता देनेका आन्तरिक रहस्य है।

२४ सु०—पण्डित! यही तो वैदिकधर्म है। अस्तु। तुमने अपना और हमारा अस्पृश्योंकी हितैषिताके विषयमें तारतम्य प्रतिज्ञात करके भी नहीं दिखलाया। इससे मालूम होता है कि-तुम सनातनधर्मियों द्वारा अछूतोंकी हितैषिताके विषयमें झूठ

बोलते हो।

२४ धा०—तब सावधान होकर सुनो। सनातनधर्मियोंने अछूतोंका गांवके बाहर निवास इस कारण रखा था कि-वे सदा शुद्ध वायुको प्राप्त करें, क्योंकि-सदा इन्हें मल-मूत्रके काममें लगे रहना पड़ता है, जैसे कि-शास्त्रोंका आदेश है कि-'चण्डाल-श्वपचानां तु बहिर्ग्रामात् प्रतिश्रय:' (मनु. १०।५१) 'चण्डाल:... कक्षे झल्लरीयुक्तो यतस्तत: चरन्, पूर्वाह्णे ग्रामादौ वीथ्यामन्यत्रापि मलानि अपकृष्य वहिरपोह्यति' (वैखानसधर्मप्रश्न ३।१४।७)। औशनसस्मृतिमें भी कहा है-'मलापकर्षणं ग्रामे पूर्वाह्णे परिशुद्धिकम्' (६)। प्राचीन-ग्रन्थ नारदीयमनुस्मृतिमें भी कहा है-'गृहद्वाराऽशुचिस्थान रथ्यावस्करशोधनम्। गुह्याङ्ग-स्पर्शनोच्छिष्ट-विण्मूत्रग्रहणोज्झनम्' (५।५-६-७) इससे दुर्गन्धसे सने हुए यह लोग नगरोंके संकुचित, सूर्यकिरणोंसे असेवित घरोंमें न रहें। लेकिन आप लोग ही इनको नागरिक गृहोंमें रखना चाहते हैं कि-यह इधर मल उठानेकी दुर्गन्धको अपने अन्दर रख रहे होते हैं, इधर शुद्ध वायुसे शून्य नगरके घरोंमें रहें; जिससे इनका स्वास्थ्य नष्ट होवे; और इनका धन हमारे मित्र डाक्टरोंके खजानेमें जावे। सनातनधर्मी जब अस्पृश्यको जिस मार्गसे आता हुआ देखते हैं; उससे स्वयं ही एक ओर होकर उनकेलिए मार्ग छोड़ देते हैं कि-यह विना कष्टके इधरसे चला जावे-यह एक ओर होना घृणाके कारण नहीं होता। हम किसी स्त्रीको आते हुए देखते हैं, हम उसे न छूते हुए एक ओर हो जाते हैं कि-यह

इधरसे अनायास चली जावे। इसमें क्या कोई हमारी उस स्त्रीसे घृणा मान सकता है? पर आप लोग तो उस अछूतवाले रास्तेसे ही आकर उन्हें टक्कर देकर उन्हें मार्ग लांघनेमें कष्ट देते हैं।

हमने उनको अस्पृश्यता उनकी सन्तोष-वृत्तिके बढ़ानेकेलिए दी थी; पर आप लोग ही उन्हें स्पृश्यतामात्र देकर उनकी उच्च आकाङ्क्षाएँ बढ़ाकर उनकी 'सर्विस' की भूख बढ़ाते हैं कि-हमारी भांति यह लोग भी अफ़सरोंके घर-घरमें चक्कर लगावें। उनसे 'नो विकेंसी' शब्दसे निरस्त होकर 'इतो भ्रष्टास्ततो नष्टाः', इस उक्तिके उदाहरण बनें। और आप लोग अछूतोंके विरोधी हमें इसलिए सिद्ध करते हैं कि-इनकी हमारे साथ हाथापाई होवे, गुत्थमगुत्था लड़ाई होवे; जिससे मुकदमोंकेलिए यह लोग कचहरियोंमें जजोंके दरवाजे खटखटायें, जिनसे इनका बचा हुआ धन भी इनके मित्र वकीलोंके घरोंमें जो प्रायः सुधारक होते हैं, और अर्जीनवीसोंके घरोंमें पहुँचे हाय हाय! आप लोग इन अछूतोंके कैसे शत्रु हैं!!!

२५ सु०—(धार्मिकके प्रभावसे प्रभावित होकर) पण्डित! तुम धन्य हो, दूरन्देश हो। तुमने हमारी चालाकियां समझ लीं। तुम्हारा ज्ञान हमारे शरीरमें रोमाञ्च पैदा कर रहा है।

२५ धा०—यही क्या? और सुनिये, आप लोग इनकी वृत्ति कैसे काटते हैं? हम देशी चमारोंसे बनायें हुए जूतोंको पहनते हैं; और आप लोग तो विलायती डासन बूटोंको पहनकर इनका पेट काटते हैं; आपके सुधारक चमड़ेके बड़े-बड़े कारखाने, भल्ला बूट फैक्टरियां आदि खोलकर उनके बड़े-बड़े लाभांश स्वयं प्राप्त कर लेते हैं; शेष विदेशोंमें भेज देते हैं। हम भंगियोंको मल उठानेके उपलक्ष्यमें वृत्ति देते हैं; पर आप लोग तो अपनी टट्टी भी आप उठाकर इनके घरोंमें कानी-कौडी भी जाने देना नहीं सहते। हम सूर्यचन्द्र आदिके ग्रहणके अवसर पर इन लोगोंको गेहूँ-पैसे आदि दिया करते हैं, हर सनातनीके घरसे गेहूँ मिल जानेसे इनके पास काफी गेहूँ इकट्ठी हो जाती है; परन्तु आप लोग तो इन अवसरोंमें 'यह पोपलीला है' ऐसा प्रचार करके उनको अँगूठा दिखा दिया करते हैं। हमारे आदमी निम्न जातिवालोंसे बने हुए खिलौने अपने बच्चोंकेलिए खरीदकर इस बहानेसे उनकी आर्थिक सहायता कर दिया करते हैं, परन्तु आप लोग तो उनके खरीदनेमें अपनी बेइज्जती-सी मानते हुए इङ्गलैण्ड, जर्मनी, जापान आदि विदेशोंके ही बने खिलौने खरीदकर अपना धन विदेशोंमें भेजा करते हैं।

हम कुएँका कीचड़ निम्न जातिवालोंसे निकलवाकर इस बहाने उन्हें वृत्ति देकर उनकी रक्षा करते हैं; और आप लोग तो नल वर्तते हुए उन्हें कानी-कौड़ी भी नहीं देना चाहते। हम विवाहादिके समय—'शूद्राणां मासिकं कार्यं द्विजोच्छिष्टं च भोजनम्' (मनु. ५।१४०) 'उच्छिष्टमन्नं दातव्यं' (१०।१२५) इन मनुवचनोंके अनुसार उनकेलिए काफी भोजन छोड़कर उनका घर अन्नसे भर देते हैं; पर आप लोग तो थोड़े खर्च करनेका बहाना बनाकर पहले तो वैसे भोज ही नहीं करते। यदि करते

भी हैं, तो जूठन बचानेकी बिल्कुल मनाही कर देते हैं। तब इन भंगियोंका पात्र खाली पत्तलोंसे ही भर जाता है। कैसे हितैषी हैं आप उनके ?

२६ सु०—ठीक-ठीक। आपको ही मैंने हमारे गूढ अभिप्रायोंको जाननेवाला देखा है। स्वा.द.जीके बनाये ग्रन्थकी तरह तुम 'सत्यार्थप्रकाश' हो।

२६ धा०—यही क्या, और भी सुनिये। शीतला आदिके अवसर पर सनातनी घरोंसे इन्हीं भंगी आदियोंको मीठी वा नमकीन घी वाली रोटियां मिला करती हैं। आप लोग तो शीतला आदिको न मानकर इनको कुछ देते ही नहीं। पञ्च-महायज्ञके अवसर पर कौवे तथा कुत्तेकी बलिके साथ अपने भोजनसे पहले चाण्डालोंकेलिए भी बलि रखी जाती है। जैसे कि-देखिये मनुस्मृति- 'शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्। वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि' (३।९२)। पर आप लोग तो इन बातोंको पोपलीला बताकर उन रीतियोंको हटानेमें ही कमर कसे हुए हैं।

। निम्न जातिवालोंसे बनाये हुए, वस्तुओंको ऊँचा रखनेकेलिए छीके, घरकी मट्टी साफ करनेवाले भाडू, कपड़ोंके टांगनेकेलिए खूंटियां, कपड़ोंके रखनेकेलिए टोकड़े, गेहूँ साफ करनेकेलिए छाज, बैठनेकेलिए चटाइयां; रातमें प्रकाशकेलिए मट्टीके दीये; और दीयोंको रखनेवाली लकड़ीकी बनाई दीवटें, जलपानार्थ मट्टीके घड़े, धान्यके चावल निकालनेकेलिए ऊखल-मूसल आदि

वस्तुओंको खरीदकर हम उन लोगोंकी जीविका बनाये रखते हैं, पर आप लोगोंके घरमें तो इन वस्तुओंका ही अत्यन्ताभाव होता है। होती हुई भी कई वस्तुएँ विलायती बनी होती हैं; जिससे इन निम्न जातिवालोंकी जीविका न बन सके। हम इन निम्न जातिवालोंसे लाये हुए दातनोंको खरीदकर उनकी वृत्ति बनाते हैं, पर आप लोग तो विलायती ब्रुश तथा पेस्टोंको लेकर उनसे अपने दांत साफ करके इन लोगोंकी वृत्तिको काटते हैं। हम शौच आदि होकर हाथ धोनेकेलिए तथा घरमें लेप करनेके-लिए इन लोगोंसे लाई हुई चिकनी मट्टी लेकर इनकी वृत्ति बनाते हैं; पर आप लोग उसमें अपनी अप्रतिष्ठा समझकर हाथ धोने-केलिए साबुन, और जमीनकेलिए सीमेंट प्रयुक्त करके इनकी वृत्ति काटते हैं।

हम विवाहादिके समय या अन्य समयमें जुलाहोंसे बुने हुए खद्दरके कपड़े तथा कुम्हार लोगोंसे बनाई हुई वस्तुओंका प्रयोग करते हैं; पर आप लोग उसमें अवैदिकता बताकर उन वस्तुओंको लेते ही नहीं। बहुत कहनेसे क्या, हम खजूरके पत्ते तिनके-लकड़ियां, रस्सी आदि तककी वस्तुएँ इनसे खरीदकर अपने बैठनेके आसन बनाकर इस बहानेसे इनकी वृत्ति बनाते हैं; पर आप लोग विदेशी चूल्हे आदि खरीदकर अपना धन विदेशोंमें भेजा करते हैं। इनसे बच्चोंकेलिए मट्टीकी बनाई दवातें, और सरकण्डेकी कलमें आदि खरीदकर इनकी वृत्ति बनाते हैं, पर आप लोग वे वस्तुएँ न खरीदकर विलायती

फौन्टेन पेन आदि खरीदकर इन निम्न जातिवालोंकी वस्तुओंको घृणा-दृष्टिसे देखते हैं। इस तरह आप लोग ही इन निम्न-जातिवालोंकी वृत्ति वा पेट काटनेसे उनके शत्रु तथा उन्हें कष्ट देनेवाले बनते हैं; पर जब वे वृत्ति न प्राप्त करके ईसाई वा मुसलमान बनते हैं, तब आप लोग होहल्ला करते हैं, और कहते हैं कि-इन्हें छुआ करो, इन्हें अपने साथ बैठाया करो; इन्हें देवमन्दिरोंमें प्रवेश करने दो। आवश्यकता होती है इन्हें वृत्ति की; और आप देते हैं इन्हें अन्य वस्तुएँ। इसलिए कि-सनातनधर्मियोंके छुआछूत एवं मन्दिरमें अप्रवेशके नियम टूटें। तब क्या देवमन्दिरोंमें इन्हें प्रवेश दे देनेसे इनकी वृत्ति बन जावेगी ?

२७ सु०—पण्डितजी ! आपकी दूरदर्शिताको देखकर बड़ा आश्चर्य सा होता है; पर हम उन अछूतोंके शत्रु हैं और उन्हें कष्ट देनेवाले हैं—यह तो आपकी बात घटती हुई नहीं दीखती।

२७ धा०—अवश्य घटती है। क्या पूर्वके कहे हुए उदाहरण इस विषयमें पर्याप्त नहीं हैं ? अच्छा और देखिये-हमने उन लोगोंकेलिए कई असुविधाएँ इसलिए रखी थीं कि-इनको कुछ दुःख मिले। दुःख मिलनेसे पूर्वजन्मका किया हुआ पाप-जिससे इन्हें कुत्सित जन्म प्राप्त हुआ-क्षीण हो जावे। इस प्रकार इनका अग्रिम जन्म रमणीय वर्णमें हो; परन्तु आप लोग तो उनके शत्रु बने हुए रोगीको कड़वी दवाई न पिलाकर उसे मिठाइयां खिलाना चाहते हैं कि-जिससे रोगी टी.बी.का मरीज बन जावे।

अर्थात् इस जन्ममें भी इन्हें सुविधाएँ देकर इनके पूर्वजन्मके अवशिष्ट पुण्यको भी क्षीण करके अग्रिम जन्ममें इनकी सीधे पशुजन्ममें प्राप्ति चाहते हैं, जिससे यह सैकड़ों जन्मों तक पुनर्जन्ममें मनुष्ययोनि ही प्राप्त न कर सकें; क्योंकि-एक बार पुनर्जन्ममें पशु बनने पर फिर ८४ लाख पशुपक्षीयोनि आदिके भोगनेके बाद ही जाकर मनुष्ययोनि मिला करती है। हाय खेद ! आप लोग इन अछूतोंके कैसे शत्रु हैं ? नाइयोंकी वृत्तिको काटकर आप लोग सेफ़टीरेज़र ही खरीद लेते हैं, धोबियोंसे कपड़े न धुलाकर विदेशी पाउडरों द्वारा ही स्वयं कपड़े धो लिया करते हैं। दूध-माखन आदि यहांकी बनी वस्तुएँ छोड़कर अहीरोंकी वृत्ति काटकर विलायती दूध, चाय-बिस्कुट केक आदिका प्रयोग कर लेते हैं। इस प्रकार आप उनके शत्रु हैं; बल्कि उनका अन्य भी खर्च बढ़वाने वाले हैं।

२८ सु०—हम अछूतों को कष्ट देने वाले कैसे हैं, और उनका खर्च बढ़ानेवाले कैसे हैं ?

२८ धा०—क्या पहलेके दिये उदाहरण आपको पर्याप्त नहीं मालूम हो रहे; जो अभी और सुनना चाहते हैं। तब सुनिये। हम अछूतोंसे छुए हुए उन्हें कष्ट न देकर सर्दी में भी स्वयं स्नान करते हैं; पर आप लोग स्वयं स्नान आदि कष्टोंको न सहते हुए-चाहे गर्मी हो, वा सर्दी-उन्हें आज्ञा देते हैं कि-आप लोग टट्टी उठानेका काम खतम करके, फिर स्वयं स्नान करके खूब साबुन लगाकर, सुफेद नये कपड़े पहनकर हमारे पास आया

करो। इस प्रकार आप उन लोगोंको कष्ट देते हैं; उनका साबुन-का खर्च भी बढ़ाते हैं, और सुफेद कपड़ोंके खरीदनेका खर्च भी बढ़वाते हैं। फिर आप उन लोगोंको आर्डर देते हैं कि-अपने घर पूआ और हलवा आदि मीठा घृताक्त पाक बनाओ, हम तुम्हारे घर भोजनकेलिए आवेंगे। इस प्रकार उन्हें कानी कौड़ी तक भी न देकर स्वयं अपनी एक दिनकी घरकी रोटी का खर्च भी बचाकर सब धन उन्हींका खर्च कराते हैं। और उनके धनसे अपने सुधारक मित्रों डाक्टर, प्लीडर, मैजिस्ट्रेट, जज, पिटीशनराइटर, क्लाथ-मरचेंट आदियोंका पेट भरवाते हैं। और अछूतोंके नामसे जनतासे लिये धनको सुन्दर रीतिसे अपने और अपने लोगोंकी पेटशालाका चन्दा बना दिया करते हैं। सो यह चालाकीकी पराकाष्ठा है। यदि उनके पास कुछ बचता भी है, तो उसे आप उनसे चन्देके रूपमें लेकर उनका और भी कष्ट बढ़ाते हैं। फिर भी आप अपने-आपको उनका हितैषी सिद्ध करते हैं; और हमें उनका द्वेषी। सो यह विलक्षण न्याय है; और यह प्रशंसनीय अछूतोद्धार है। अब बतलाइये साहब! अस्पृश्योंका हितैषी कौन है, आप हैं वा हम?

२६ सु०—योग्य पण्डित महोदय, आपने तो हमारे हृत्तलके अन्दर ही मानो प्रवेश करके हमसे सुगुप्त रूपमें रखे हुए—जिनका सर्व-साधारणको ज्ञान ही नहीं हो पाता—ऐसे अभिप्रायों-को स्पष्ट प्रकट कर दिया है। प्रशंसनीय दूरदर्शी आपकी बुद्धि स्तुत्य है; परन्तु हम सुधारकम्मन्योंके मार्ग-दर्शक स्वा.द.जीने

ही हमें अछूतोंसे सम्बन्ध करनेका सबसे पूर्व मार्ग दिखलाया है। इसलिए हम उनके अनुयायी तथा उनके धर्म वाले होकर उनका मत अनुसरण करते हुए निन्दनीय नहीं हैं।

२६ धा०—ऐसा मत कहिये। स्वामीजीने तो ऐसा नहीं माना। वे तो छुआछूत मानने वाले थे। उनके इस विषयमें बहुत उद्धरण हैं। इन बातोंको जाननेकेलिए आप 'श्रीसनातनधर्मालोक' को खरीदिये, उसमें स्वामीजीके एतद्विषयक उद्धरणोंको देखिये। तथापि उनके कुछ थोड़े उद्धरण हम आपके सामने भी उपस्थित करते हैं। सावधानतासे सुनिये—

२० सु०—मैं सावधान हूँ। यदि स्वामीजीके उद्धरणोंमें छुवाछूतकी मर्यादा सिद्ध हो जावेगी; तो मैं सुधारकाभासताके कपट-पटको छोड़कर सच्चा सनातनधर्मी हो जाऊँगा।

३० धा—तब संक्षेपसे सुनिये। आप लोग अछूतोंके साथ सहभोजमें उनसे प्रेम हो जाना मानते हैं; पर वहाँ अपने स्वामीजीका उत्तर सुनिये—स्वा.द.जीके स्वा. सत्यानन्द-प्रणीत जीवनचरित्रमें लिखा है—'एक थालमें भोजन पानेका जब विषय चला; तो सेठने कहा कि–इससे प्रेम बढ़ता है। स्वामीजी ने कहा कि-प्रेम यदि इकट्ठे होकर खानेसे बढ़ता है; तो यहां मुसलमान मिलकर खाते हैं; उनमें झगड़ा-बखेड़ा नहीं होना चाहिये। जब तुर्कोंपर रूसने आक्रमण किया था; तो इकट्ठे मिलकर खानेवाले अफ़गानोंने मांगनेपर भी तुर्कोंको सहायता नहीं दी थी। फिर स्वामीजीने कहा कि-मिलकर खानेसे कई

संक्रामक रोग लग जाते हैं। चिकित्साशास्त्रके अनुसार भी एक-दूसरेका जूठा खाना हानिकारक है' (श्रीमद्दयानन्दप्रकाश संगठनकाण्ड ३२८ पृष्ठ)।

आगे फिर देखिये-'इसपर महाराज (स्वा.द.) ने कहा कि-इस प्रकार प्रीति बढ़ती हो, तो कुत्ते भी तो इकट्ठे खाते हैं, परन्तु खाते-खाते एक-दूसरेको काटने-नोचने लग जाते हैं-यह सुनकर वे दोनों (उमीदखां और पारजी इब्राहीम) अवाक् रह गये' (दयानन्दप्र. पृ. ३६२)।

उसी पुस्तकके ४२५ पृष्ठमें कहा है-'जोन्स महाशयने कहा आपका कथन ही ऐसा है कि-इसपर कुछ कहते बन नहीं आता। जब आप इतने उदार और स्वतन्त्र विचार रखते हैं, तो छूताछूत क्यों मानते हैं? आपको हमारे साथ मिलकर भोजन करनेमें क्यों नकार है? इसपर स्वामीजी बोले कि-किसी मनुष्यके साथ खाने-पीनेमें धर्माधर्म नहीं है। ऐसी सब रीतियां देश और जातिके आचार-व्यवहारके साथ सम्बन्ध नहीं रखती हैं। वास्तविक धर्मके साथ इसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है; परन्तु सोच-विचार वाले सभी मनुष्य आवश्यकताके बिना अपने देश और जातिके नियमोंको नहीं तोड़ते। उसके प्रतिकूल आचरण नहीं करते। आप ही बताइये-क्या आप अपनी पुत्रीका विवाह किसी देशी ईसाईके साथ करनेको समुद्यत हैं? क्या ऐसा कर देनेसे आपको प्रसन्नता होगी? उस यूरोपीय महाशयने कहा-हम ऐसा करनेकेलिए कभी भी समुद्यत न होंगे।

स्वामीजीने पूछा-क्यों, धर्मविचारसे? उन्होंने उत्तर दिया-नहीं, अपनी जातिकी रीति-नीतिके कारण। तब महाराज (दयानन्द) ने कहा कि-इसी प्रकार हम भी अपने देशबन्धुओंके नियम और व्यवहारके कारण आप लोगोंसे सहभोज नहीं करते।'

यद्यपि यहां स्वामीजीने स्पृश्यास्पृश्यताका सम्बन्ध शास्त्र वा धर्मसे नहीं बताया; किन्तु जातीय रीति-नीतिके साथ ही; तथापि यहां कारण उनका अल्पश्रुतता मानना पड़ेगा। फिर भी इससे स्पृश्यास्पृश्यतामें तो स्वामीका पक्षपात स्पष्ट है।

३१ सु०—स्वा.द.जीके जीवन-चरित्रकी पुस्तकें विश्वासयोग्य नहीं हैं। उनमें हमने बहुत-से अर्थवाद डाल दिये हैं, जिससे अनजान लोग इस मतमें खिंच आवें। उनमें हमने तिनकेको पहाड़ बना दिया है, बल्कि वह कहना चाहिये कि-बिना दीवारमें चित्र खड़ा कर दिया है। प्रायः वहाँपर हमारी कपोल-कल्पनाएँ ही हैं। उसमें 'यद्विवाहः तद्गीतगानम्' यही हमने अपनाया है। अपने मन्तव्य हमने उसमें युक्तिसे डाल दिये हैं। आप उन्हें छोड़कर स्वा.द.जी प्रणीत ग्रन्थोंके ही प्रमाण दीजिये।

३१ धा०—सम्भव है ऐसा ही हो। जहाँपर उसमें अपने ही सिद्धान्त हों, वहां तो आप लोगों द्वारा की हुई प्रक्षिप्तता सिद्ध हो सकती है। जहां अर्थवाद हों, वहां भी स्वामी की अतिशयित प्रशंसा साधारण जनोंके आकर्षणार्थ हो सकती है;

पर जहां उसमें स.ध.के सिद्धान्तोंकी छाया हो; वे अंश सच्चे ही समझने पड़ेंगे, क्योंकि-कोई भी पुरुष अपनी पुस्तकमें दूसरोंके सिद्धान्त उत्तरपक्ष नहीं करता। जहां-तहां अपने ही सिद्धान्तोंको भर देता है। तथापि यदि वे दीखें; तब स्पष्ट होगा कि-वे उनके भी सिद्धान्त हैं। यदि आजकल स्वामीके अनुयायी उन्हें मानने केलिए तैयार नहीं; तब यह उनका बहाना ही है। तथापि आपके अनुरोधसे स्वा.द.जीसे बनाये पुस्तकोंके भी उद्धरण संक्षेपसे उपस्थापित किये जाते हैं।

स.प्र. १०म समुल्लासमें-'मद्य मांसाहारी म्लेच्छ कि-जिनका शरीर मद्यमांसके परमाणुओंसे ही पूरित है, उनके हाथका न खावें' (पृ. १६७) मद्यमांसाहारी तो हिन्दु भी होते हैं; उनका नाम न लिखकर अथवा सामान्यरूपसे मद्यमांसाहारीमात्रका नाम न लिखकर विशेषरूपसे म्लेच्छोंका नाम लिखा है। स्वामी 'म्लेच्छ' शब्दसे मुसलमान एवं ईसाईयोंको लेते हैं; इससे उनके भोजनका निषेध करके स्वामीने छुआछूतको प्रश्रय दिया है। 'इसलिए ब्राह्मणादि उत्तम वर्णोंके हाथका खाना, चाण्डालादि नीच भङ्गी-चमार आदिका न खाना। क्योंकि-चाण्डालका शरीर दुर्गन्धके परमाणुओंसे भरा हुआ होता है, वैसा ब्राह्मणादि वर्णोंका नहीं' (स.प्र. १० पृ. १६६) यहां स्वामीने ब्राह्मणवर्ण उत्तम वर्ण माना है। भंगी-चमार आदिके भोजनका निषेध करके स्वामीने यहां भी छुआछूतको प्रश्रय दिया है।

'आर्योंके घरमें [शूद्र] जब रसोई बनावें, तब मुख बांधके

बनावें, क्योंकि-उनके मुखसे उच्छिष्ट और निकला हुआ श्वास भी अन्नमें न पड़े' (स.प्र. १० पृ. १६६) यहांपर शूद्रके श्वासोंकी भी अशुद्धता बताई गई है, चाण्डालादिके श्वासोंका तो क्या कहना? यदि साम्यवाद मनुष्यमात्रमें स्वामीको अभीष्ट होता; तब वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके श्वासोंको छोड़कर शूद्र आदियोंके श्वासोंको ही निन्दित क्यों मानते? क्या यह साम्यवादका खण्डन नहीं है? वस्तुतः शूद्रका अन्न भी निषिद्ध होता है। जैसे कि-'शूद्राणां यस्तथा भुङ्क्ते स भुङ्क्ते पृथिवीमलम्। पृथिवीमलमश्नन्ति, ये द्विजाः शूद्रभोजिनः' (महा. अनुशा. १३५।६)। इसका कारण यह है कि-'असतो वा एष सम्भूतो यत् शूद्रः' (तै.ब्रा. ३।२।३ (६)। इस प्रकार स्वा.द.जीने अपने स्त्रैणताद्धितमें 'कद्रुकमण्डल्वोश्छन्दसि' (१३२ सू.) इस सूत्रके उदाहरणमें 'मास्म कमण्डलुं शूद्राय दद्यात्' (पृ. १२२) यह उदाहरण देकर शूद्रको कमण्डलु न देना वैदिक ध्वनित किया है; इस प्रकारकी उसकी अस्पृश्यता प्रकाशित की है।

३२ मु०—हाँ यह स्वा.द.जीके शब्द, लेकिन हम लोग जब स्वा.द.जीका वचन अपने विरुद्ध देखते हैं; तब उस वचनको नहीं मानते। तब हम वेद-प्रमाण मांगते हैं; क्योंकि-वेद परमात्माका ज्ञान है। परन्तु हम उनमें मध्ययुगीन पौराणिक भाष्योंको नहीं मानते, किन्तु स्वा.द.जीका ही भाष्य मानते हैं। आप उसीको सुनाइये। हमें आपकी मीमांसा सुननेसे बड़ा आनन्द आ रहा है।

३२ धा० —यदि ऐसा है तो आप सुनिये ! इसमें यजुर्वेदका ३०वां अध्याय और उसमें स्वा.द.जीका भाष्य देखिये। परन्तु मैं उसमें थोड़े उद्धरण देता हूँ–'वायवे चाण्डालम्' (यजुः ३०।२१) यहांपर स्वा.द.जी संस्कृत-हिन्दीभाष्यमें इस प्रकार कहते हैं–'वायुस्पर्शाय चाण्डालं परासुव। चाण्डालस्य शरीरागतो वायु-दुर्गन्धत्वाद् न सेवनीयः। वायुके स्पर्शके अर्थ भंगीको दूर कीजिये। भङ्गीके शरीरमेंसे आया वायु दुर्गन्धयुक्त होनेसे सेवने योग्य नहीं होता'। कितनी स्पष्टता है यहां। यहां 'चाण्डालका 'भंगी' अर्थ करके स्वामीने उसकी शारीरिक वायुका सेवन भी निषिद्ध कर दिया है, उसका स्पर्श करना तो कहां रहा ?

अन्य मन्त्र सुनिये–'बीभत्सायै पौल्कसम्' (यजुः ३०।१७) यहां स्वा.द.जीका भाष्य इस प्रकार है–'भर्त्सनाय प्रवृत्तं पुक्कसस्य-अन्त्यजस्य अपत्यं परासुव। हे राजन् ! धमकानेकेलिए प्रवृत्त हुए भङ्गीके पुत्रको पृथक् कीजिये'। यहां वे आर्यसमाजी श्रुत-बन्धु आदि अवश्य ही ध्यान रखें; जो हिन्दुसमाजके धमकानेमें प्रवृत्त डा. अम्बेदकर अन्त्यज वा उसके लड़केको अपनी लड़की भी देनेकेलिए उन दिनों तैयार हो गये थे। जो मनुस्मृति आदि धार्मिक ग्रन्थोंको जलानेवाले भी अन्त्यजोंका सनातनधर्मी ब्राह्मणोंसे भी अधिक सम्मान करते हैं।

एक अन्य मन्त्र भी देखिये–'अन्तकाय श्वनिनं' (यजुः ३०।७) यहां स्वा.द.जीका भावार्थ इस प्रकार है–'हिंसक तथा कुत्तोंके पालनेवाले चाण्डालादिको दूर बसावें' कितने स्पष्ट शब्द हैं ? यह

शब्द 'चण्डाल-श्वपचानां तु बहिर्ग्रामात् प्रतिश्रयः। अपपात्राश्च कर्तव्या धनमेषां श्वगर्दभम्' (१०।५१) इस मनुपद्यके मूल हैं। इस प्रकार संक्षेपसे स्वा.द.जीकी सम्मति बताई गई है। ऐसा व्यवहार कुत्ते पालना आदि हिन्दु बाबू भी करते हैं, आर्यसमाजी लड़के भी सनातनधर्मियोंको धमकाया करते हैं, उनको दूर करनेकेलिए न कहकर अन्त्यजोंको दूर करनेकेलिए कहना स्वा.द.जीके वैदिक मतके अनुसार उन्हें छुवाछूत माननेवाला बता रहा है। वेद केवल संकेतमात्र ही देता है, वह हिन्दुधर्मके मुख्य अङ्ग चोटी-जनेऊके भी संकेतमात्र कहता है, स्पष्टता नहीं करता; पर यहां अन्त्यजोंकी शारीरिक वायुका भी सेवन स्पष्टतया निषिद्ध कर देनेसे 'छुआछूत वैदिक है' यह बात बड़े धड़ल्ले-से सिद्ध हो रही है। अब सुधारकजी ! आप इस पर कुछ बोलिये।

३३ सु० —सम्मान्य पण्डितजी ! आपसे दिये हुए प्रमाणोंको देखकर तो मैं बड़े आश्चर्यसागरमें निमग्न हो गया हूँ। हम लोग कभी वेदादिको तो देखते ही नहीं; पर जो अपनी बात सिद्ध करनी हो; उसे नाममात्रसे 'वैदिक' कहना तो हम लोगोंका तकियाकलाम है; इसीसे हम अनुसन्धान न करनेवाली जनताकी आंखोंमें धूल झोंकनेमें सफलता प्राप्त कर लिया करते हैं; चाहे वेदमें उसका गन्ध न भी हो। अस्तु ! मैंने वेदादियों तथा स्मृतियोंका अपमान करके जो पाप किया है, उसके प्रायश्चित्तार्थ प्रस्तुत हूँ। और मैं वैश्य दुकानदार हूँ, ब्राह्मण नहीं हूँ।

दूकानदारीमें मेहनत देखकर, और इस ब्राह्मण बननेकी लाईनमें अनायास ही पेटपूर्ति देखकर इस मार्गमें आ पड़ा हूँ। हम जैसे बातूनी व्याख्यानमात्रकी अथवा दलीलबाजीकी अपनी सामर्थ्य देखकर अपने आपको ब्राह्मण प्रसिद्ध कर लिया करते हैं। हम स्वयं तो ब्राह्मण बनना चाहते हैं; पर सनातनधर्मी ब्राह्मणोंको भरपेट गालियां निकाला करते हैं।

वास्तवमें मुझ सुधारकाभासने दूसरे सुधारकाभासोंकी भांति इस जन्ममें बहुत पाप किये हैं। स्वराज्यकेलिए किये जाते हुए आन्दोलनोंमें हमसे ही आगे की हुई कुमारियों वा स्त्रियोंको गुप्तरूपसे अपनाया है। अछूतोद्धारके बहानेसे इकट्ठी की हुई धनकी थैलियोंको भी तरीकेसे अपनी पेटशालाका चन्दा बना दिया है, जनताके विश्वासार्थ बाहरी हिंसा-मात्र दिखला दिया जाता है। मैं सनातनधर्मियोंसे ही धन लेकर सनातनधर्मका ही घोर खण्डन करता रहा, और स.ध.के विरुद्ध कार्योंमें ही उस धनके अंशका विनियोग करता रहा। दानकर्ता सनातनधर्मी सेठोंके ही धनसे अपने शरीरको पुष्ट करके उनके पूर्वजोंको ही कोसता रहा? उन्हींके धनसे उनके धर्मके विरुद्ध शिक्षा देनेवाले विद्यालय, अनाथालय, गुरुकुल और कई आश्रम खोले। विधवाओंके रक्षणके बहाने सनातनधर्मियोंसे ही धन लेकर विधवाश्रमोंको बनाकर विधवाओंको ही वेश्यात्वकी दीक्षासे दीक्षित किया, और उनसे स्वयं भी आनन्द लूटा, और दूसरोंको भी उसका अंश दिया। सनातनधर्मियोंको ही कई आन्दोलनोंमें

उत्साहित करके उनकी सहायतासे मलकानाओंकी शुद्धि आदिमें भाग लेकर और सफलता प्राप्त करके अपनी बिल्डिंगें खड़ी कर लीं, और उनका नाममात्र भी भूलकर भी कभी नहीं लिया। सनातनधर्मियोंके ही वोट लेकर राजकीय संसदोंमें मिनिस्टरी आदि प्राप्त करके सम्मान और धन कमाया; और उन्हींके विरुद्ध बिल पेश किये और पास कराये। सुधारके बहानेसे प्रायः हमने सर्वत्र संहार ही किया, प्राचीनताको हटवाकर अर्वाचीनता जारी की। अपना और अपने सहवर्गियोंका कितना रहस्य खोलूँ। मैं तो अब पश्चात्ताप करता हूँ। इसमें शास्त्रीय प्रायश्चित्त करनेको प्रस्तुत हूँ। अब अपने वर्णके अनुकूल कर्मोंको करूँगा। 'सिग्रेट' पीना छोड़कर सच्चा हवन करूँगा। कुत्तोंकी सेवा छोड़कर गौओंकी सेवा करूँगा। पैन्ट आदि पहनावा छोड़कर धोती आदि प्राचीन वेष रखूँगा। पाश्चात्य-भाषाके साहित्यका शौक छोड़कर अब प्राच्य-शास्त्रोंका पारायण करूँगा। मैंने जो कुछ भी आपको कठोर कहा हो; उस सबको अच्छे स्वभाव वाले आप महानुभाव मुझे क्षमा कर दीजियेगा (यह कहकर वह सुधारक धार्मिक-पण्डितके पांवमें गिर जाता है)।

३३ धा०—(पांवपर पड़े सुधारकको उठाकर) मैं सब क्षमा करता हूँ। इसी आपकी प्रतिज्ञासे कि—आप आगेसे शास्त्रीय व्यवहार करेंगे—मैं आपके सभी दोषोंको क्षमा करता हूँ। अब आप जानें कि—साम्यवाद किसी भी शास्त्रको इष्ट नहीं है। यदि

कम्यूनिज्मके प्रवाहमें पड़कर हमने उसे अपना लिया; तो हम भारतीयधर्मको खो बैठेंगे, फिर पेट पालना और धन कमाना यही हमारा काम रह जावेगा। ऐसा करनेसे प्रजा निहत्थी हो जावेगी। यदि कोई अन्य देश हमपर आक्रमण करके हमसे हमारा देश छीन लेगा, तो प्रजाके धन छिन जानेसे प्रजा उस विदेशी राजाका कभी विरोध वा मुकाबला न कर सकेगी। हमारे धर्ममें जो धनी थे, वे धार्मिक थे। वे पर्याप्त धन कमाकर भी उसीके बलसे विद्यालय खुलवाते थे, विद्वानोंको वृत्ति देते थे। संस्कृतका प्रचार बना रहता था। साम्यवादके प्रचार किये जानेसे यह सब खतम हो रहा है, और हो जावेगा। यह भारतको कम्युनिज्मके जंजीरोंमें बाँधना होगा; और कम्युनिस्ट चीन आदि देशोंको यहाँपर आधिपत्यकेलिए निमन्त्रण देना होगा; और भारतको नास्तिक बनानेका उपक्रम होगा।

पृथक्-पृथक् जातियोंके जो-जो पृथक्-पृथक् जन्म-सिद्ध व्यवहार शास्त्रोंमें बताये गये हैं; वे ही आचरणके योग्य हैं। सब गुड-गोबर करना ठीक नहीं होगा। भगवद्गीता कहती है—'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ' (१६।२४) 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्' (१६।२३) (शास्त्रविधिका उत्सर्ग और स्वेच्छानुसार व्यवहार सुख-शान्तिका कारण नहीं हुआ करता)। तब स्पष्ट है कि—भगवद्गीताको तथा अन्य शास्त्रोंको कभी साम्यवाद वा छुआछूत तोड़ना इष्ट नहीं है। मनुस्मृति

कहती है—'श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः। इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्' (२।९) (श्रुति-स्मृतिसे कहे हुए धर्मको करता हुआ मानव इहलोक एवं परलोकमें अतिशयित सुख प्राप्त कर लिया करता है)।

तब महाशय! आप 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणोऽपरधर्मात् स्वनुष्ठितात्' (गीता ३।३५) 'वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः' (मनु. १०।९७) (अपना-अपना वर्णाश्रमधर्म विगुण होता हुआ भी दूसरेके अच्छे धर्मसे भी अच्छा होता है)। 'आत्मीये संस्थितो धर्मे शूद्रोपि स्वर्गमश्नुते' (अत्रिसंहिता १८) (अपने धर्ममें रहनेवाला शूद्र भी स्वर्गमें जाता है) इस सिद्धान्तका ही सुधारकम्मन्योंमें उपदेश करके उन्हें सन्मार्गमें ले आएं।

यद्यपि यह हम ब्राह्मणोंका कर्तव्य है; तथापि वे हमारे वचनोंको सुननेकेलिए भी तैयार नहीं। आपको वे अपना सहवर्गी समझकर आपके वचनोंमें अवश्य श्रद्धा करेंगे। इसलिए आप इन होलीके दिनोंमें उन्हें इस प्रकार प्रेरणा दें कि—वे शास्त्रविरुद्ध अपनी चेष्टाओंका और नये-नये शास्त्रविरुद्ध आचारोंका इस होलीमें दहन कर दें; जिससे हिन्दुसमाजमें अशान्तिका साम्राज्य न होने पावे, और वर्तमान अव्यवस्था दूर हो जावे, और हिन्दुजातिका स्वरूप विरूप न हो जावे; और वह पद-पदमें विपद्को प्राप्त न करे—यह कहकर अब हम अपने कथनको और विस्तीर्ण न करते हुए रुकते हैं।

३४ सुधारक—ऐसा ही होगा; आपके इस आदेशका पालन

करूँगा। मैं आपको प्रणाम करता हूँ, आशीर्वाद दीजिये, मैं इसमें सफल हो जाऊँ।

३४ धार्मिक—आपका कल्याण हो; परमात्मा आपको शास्त्रीय व्यवहार करनेका बल दे।

[इसके बाद वहां ठहरी हुई और इस संवादको सावधानतासे सुन रही हुई जनताने भी हार्दिक सौहार्दसे उन दोनों पर लाल और पीला रंग डाला; और धार्मिक पण्डितके गलेको पुष्पमालाओंसे भर दिया। सुधारकने भी धार्मिक पण्डितजीको फूलोंका गजरा पहराया। तब दोनों अपने-अपने गन्तव्य स्थानकेलिए प्रस्थान कर गये]।

---

(२०) पर्वतोंके पंख तथा उनका विदारण वैदिक।

वादियोंने जैसा पौराणिक-साहित्यपर दुराक्रमण किया है, वैसा अन्य साहित्यपर नहीं। पौराणिक-साहित्यको उसका पूर्वापर छिपाकर इस प्रकार साधारण-जनदृष्टिमें घृणास्पद कर दिया है कि—जैसे उसका अक्षर-अक्षर वेदविरुद्ध हो। उन्हींकी कृपासे पितृपरम्परासे जिसने वेदका एक अक्षर भी नहीं देखा; वेदाङ्ग व्याकरण आदिको भी कभी नहीं सूंघा; संस्कृतभाषाका भी परिनिष्ठित ज्ञान प्राप्त नहीं किया; ऐसा भी व्यक्ति पुराण-साहित्यमें साधारणबुद्धिसे अतीत वृत्तान्तको पढ़कर, विना ही उसपर विशेष विचार किये, और बिना ही उसपर अनुसन्धान-वृत्ति स्वीकार किये, केवल अपने लोगोंकी पोथियां पढ़कर

वाणीमात्रसे उसे 'गप्प' कह देनेकेलिए तैयार हो जाता है, यह कलिकी महिमा है। उन विषयोंमें 'पहाड़ोंके पंख' विषय भी अन्तर्भूत होता है, हम उसे यहां वेदशास्त्रीय कसौटीसे परीक्षित करनेकेलिए 'आलोक' पाठकोंको प्रेरित करते हैं।

(१) वेदमें लिखा है-'त्वं तम् इन्द्र! पर्वतं महामुरुं वज्रेण वज्रिन्! पर्वशश्चकर्तिथ' (अथर्व. २०।१२।६, ऋ. १।५७।६) इसका अर्थ इतना स्पष्ट है कि-इससे पुराण-पक्षकी स्पष्टता हो जाती है कि-हे वज्रधारी इन्द्र! तूने बड़े वेगवाले पहाड़को वज्र द्वारा उसके पंखों समेत काट डाला। श्रीसायणाचार्यने आधिभौतिक आधिदैविक, ऐतिहासिक आदि अर्थ भी समय-समय पर करते हुए 'पर्वत'का 'वृत्रासुर' वा मेघ तथा पहाड़ अर्थ भी दिखलाया है। यहांपर पहाड़ अर्थ करते हुए उसने लिखा है-'हे इन्द्र! वज्रिन्-वज्रवन्! त्वं तं-प्रसिद्धं महाम्-महान्तं महत्त्वोपेतम्, उरुम्-अतिविस्तीर्णं पर्वतं-पर्ववन्तं गिरिम्। जातौ एकवचनम्, गिरीन्। वज्रेण-आयुधेन पर्वशः-अवयवशः पक्षादिक्रमेण चकर्तिथ-शकलीकृतवान् असि' (अथर्व)। तब यहां पुराणवर्णित पर्वतोंका पक्षच्छेदन वेदानुकूल सिद्ध हुआ। इसीको पुराणोंने स्पष्ट करके लिखा है। इन्द्र एक स्वर्गका स्वामी देवविशेष एवं देवताओंका राजा वेद-पुराणोंमें प्रसिद्ध है।

'प्राच्या दिशः त्वम् इन्द्र! असि राजा' (अ. ६।९८।३) यहां वेदमें भी पुराणकी तरह इन्द्रको पूर्वदिशाका स्वामी कहा है। इसलिए अपने आपको वैदिक माननेवाले स्वा.द.जीने भी

'सानुगाय इन्द्राय नमः' इस मन्त्रको पढ़कर इन्द्रदेवताको बलि पूर्व दिशामें रखाई है। (वैश्वदेवबलिप्र. २१२ पृष्ठ)। 'आयातु इन्द्रः स्वपतिः' (अ. २०।६४।१) वेदने यहांपर इन्द्रको स्वर्गका पति कहा है। 'पतिर्दिवः' (सामवेद-ऐन्द्रपर्व. ४।५।३) यहांपर भी वही बात है, दिव्, स्वः यह दोनों स्वर्गके पर्यायवाचक हैं। 'पुरन्दरो मघवान् वज्रबाहुः' (कृ.य. तैत्ति.ब्रा. २।६।८।३) यहांपर इन्द्रके नाम मघवान्, पुरन्दरः' आदि कहकर वह अपने हाथमें वज्र नामक आयुध रखा करता है—यह कहा गया है। पूर्वमन्त्रमें भी इसी कारण इन्द्रका विशेषण 'वज्रिन्' आया है। इसलिए पुरन्दर (इन्द्र) को यजुर्वेदमाध्यंस.में 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' (२८।३) 'वज्रहस्त' कहा गया है। 'इन्द्रज्येष्ठा मरुद्गणा देवासः' (ऋसं. २।४१।१५) यहांपर इन्द्रको देवताओंका बड़ा (राजा) कहा गया है। इत्यादि बहुतसे मन्त्र इस विषयमें दिखलाये जा सकते हैं। तब जो वादी लोग समान प्रकरणमें आये 'इन्द्र' का कहीं राजा वा कहीं परमात्मा अर्थ करते हैं, वह केवल इसलिए कि-कहीं पुराणोंका अर्थ सिद्ध न हो जावे। सो इन्द्र साधारण राजा नहीं; किन्तु देवताओंका राजा है। जैसेकि कहा है-'इन्द्रो राजा इत्याह, तस्य देवा विशः (प्रजाः)' (यजु.माध्यं. शतपथ. १३।४।३।१४)। 'वज्र'का अर्थ 'हथियारोंके झुण्ड' करना भी गलत है, यहां 'व्रज' नहीं है कि-समूह अर्थ किया जाय; यहां 'वज्र' है। 'वज्रं बाहौ यस्य सः' यह 'वज्रबाहु'का विग्रह है, 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ' (२।२।३७) इस वार्तिकसे 'वज्र' प्रहरणार्थवाला होनेसे सप्तम्यन्त 'बाहु'का परनिपात हुआ। इसीकी स्पष्टता वेद 'वज्रहस्तः'से कर देता है। (अ. २०।३४।१४) सो ऐसा 'इदि परमैश्वर्ये' से स्वर्गका बड़ा ऐश्वर्य रखनेवाला देवराज इन्द्र ही सिद्ध हुआ; उसीके द्वारा पर्वतोंके पंख काटनेका संकेत मिलता है। सो वेद-पुराणका इन्द्र एक ही है, वादी अपने पक्षके कटनेके डरसे अर्थ बदलते हैं।

(२) अब अन्य मन्त्र देखिये—'यः पर्वतान् प्रकुपितान् अरम्णात्' (अथर्व. २०।३४।२) 'यः-इन्द्रः, प्रकुपितान्-प्रकोपं प्राप्तान् परस्परं युद्धाय इतस्ततश्चलतः पर्वतान्-गिरीन् पक्षयुक्तान्, अरम्णात्-पक्षच्छेदेन नियमितवान्। यथा उत्लुत्य-उत्लुत्य प्राणिपीडां न कुर्वन्ति, तथा स्वस्थाने स्थापितवान्' यह सायणाचार्यकी व्याख्या है। इससे पर्वतोंका पक्षच्छेद बतानेवाले पुराणोंकी वेदानुकूलता सिद्ध हो रही है। 'पर्वत' का अर्थ 'मेघ' भी करो; पर 'पहाड़' अर्थ भी है। यदि न होता; तो वादी लोग गत मन्त्रमें 'पर्वत' का 'पहाड़' अर्थ न करते। हम इस विषयमें आगे कहेंगे। पुराणोंकी बात काटनेकेलिए वेदमें पुराणसदृश वर्णनका वे जान-बूझकर अर्थ बदलते हैं।

(३) अन्य मन्त्र देखिये-'शुष्मात् चिद् अस्य पर्वता भयन्ते' (अ. २०।३४।१४) अस्य-इन्द्रस्य शुष्माद्-बलात् पर्वताश्रित्-पर्वता अपि भयन्ते-पक्षच्छेदाद् बिभ्यति' यह यहां सायणका भाष्य है। वेद एवं पुराणका इन्द्र कोई भिन्न-भिन्न नहीं है। पुराणने भी इन्द्रको वेदसे ही लिया है, पर वादी लोग पुराणद्वेषके कारण

कहीं कुछ अर्थ करते हैं; कहीं अन्य कुछ। यही उनकी असङ्गति सिद्ध कर रही है कि-वेद और पुराणकी एकवाक्यता है; पर वे इसे न सह सकनेके कारण उसका अर्थ बदलते हैं। बादलोंको भला किसका डर है; पर्वतोंको तो पंख कट जानेका भय स्पष्ट है; तभी तो मैनाक-पर्वतका इस डरके मारे समुद्रमें छिप जाना कहा है। बादलोंका तो डरके मारे कहीं छिप जाना नहीं कहा।

(४) अन्य मन्त्रमें भी इसका संकेत देखिये-'अस्येदु भिया गिरयश्च दृह्ळाः' (ऋ. २०।३५।१४) 'अस्यैव-इन्द्रस्य जनुषः-जन्मतः प्रादुर्भावत एव भिया-पक्षच्छेदभयेन गिरयश्च-पर्वता अपि दृढाः-अप्रच्यावितां अभूवन्' यह यहां सायणभाष्य है। अन्य मन्त्र देखिये-'यत् पर्वते न समशीत हर्यत इन्द्रस्य वज्रः श्नथिता हिरण्ययः' (ऋ. २०।१५।२) इसका अर्थ यह है-'इन्द्रस्य श्नथिता-शत्रूणां हिंसनशीलः वज्रः, पर्वते-पर्ववति शिलोच्चये वृत्रे वा यद्-यदा न समशीत-संसुप्तो नाऽभवत्। किन्तु जागरितः सन्नवधीत्' (तं व्यदारयत्) इस प्रकार पुराणमें वर्णित पर्वतोंके पंख तथा उनका काटना वेदद्वारा सिद्ध हो गया; जो कि इसमें 'पुराणोंने कुरानसे अनूदित करके यह लिखा'-ऐसा कई दयानन्दी पथिक कहते हैं, इसमें पुराण-द्वेष ही कारण है, अथवा वेदका अज्ञान।

(५) पर्वतोंके पंख होनेसे सृष्टिकी आदिमें वे उडते थे, अतः पृथिवीको हानि होती थी, भूकम्प हो जाते थे; पृथिवीके उलटने-का डर रहता था; इन्द्रने उनके पंखोंको काटकर पृथ्वीको स्थिर किया। यह वेद स्वयं कहता है-'यः पृथ्वीं व्यथमानाम् (इतस्ततः

चलन्तीम्) अदृंहत् (पर्वतादिभिर्दृढीकृतवान्) (ऋ. २।१२।२)। इसलिए इस पहाड़को गोत्र (गां पृथिवीं त्रायते) महीधर, कुध्र, आदि कहा करते हैं कि-पृथ्वीको स्थिर रखते हैं। जैसे ऊँटके दोनों ओर भूसा लदा हो, दोनोंके तोलमें कुछ अन्तर पड़े, तो वैलेन्स ठीक करनेकेलिए कुछ पत्थर साथ जड देते हैं; वैसे ही सृष्टिकी आदिमें इसी कारण पर्वतोंके पंख काटकर उनसे पृथ्वीको स्थिर किया गया। तब जो कि नी.वी.वि.में वादीने 'लोहं कीलं यथा काष्ठे तथा ते गिरयः कृताः। महीधरा महाराज! प्रोच्यन्ते जनैः' इस दे.भा.के पद्यपर आक्षेप किया था; वह कट गया। इसी प्रकार बाणभट्टने 'भूभार इव अचल-कुलस्थितिः स्थिरः चतुरुदधिगम्भीरः अर्थपतिः' (हर्षचरित १ उ.) में यही बात श्लेषसे बताई है कि-पृथ्वी पर्वतोंसे स्थिर है। इसे मुसलमानी मत बताना गलत है। बाणभट्टके समय मुसलमान कहाँ थे? मुसलमानोंने यह हमारे साहित्यसे सीखा। वादी लोग इसपर कुछ बोल तो सकते नहीं; केवल यही कहते हैं कि-जयदेव शर्मा, क्षेमकरणदास 'इन्द्र' का अर्थ राजा वा परमात्मा करते हैं' करते रहें; वे प्राचीन बातको जो वेदमें निकलती है-तोड़-मरोड़ कर रखते हैं-यही तो उनका 'वैदिकधर्म' है। जो कि वे कहते हैं कि-'आज तक किसी वैज्ञानिकने इस बातका समर्थन नहीं किया कि-सृष्टिकी आदिमें पहाड़ उडते थे, इन्द्र द्वारा उनके पंख काटे गये' तो वैज्ञानिक तो बेचारे अभी सीख रहे हैं, धीरे-धीरे इस मतपर आ ही जाएँगे; आप लोग भी

दात् पूर्वम् अन्तरिक्षे व्रजति स्म' (१।१०।११) 'पक्षच्छेदात् पूर्वं पर्वतश्च' (१।१०।१५) तेषामिन्द्रः पक्षान् अच्छिनत्' (१।१०।१)। इससे भी हमारे पक्षकी निघण्टु-निरुक्तानुकूलता भी सिद्ध हो गई। वाल्मीकिरामायणमें भी इसकी साक्षी सुनिये—'पूर्वं कृतयुगे तात! पर्वताः पक्षिणो [पक्षवन्तो] ऽभवन्' (सुन्दर. १।११५) ततः क्रुद्धः सहस्राक्षः (इन्द्रः) पर्वतानां शतक्रतुः। पक्षान् चिच्छेद वज्रेण (सु. १।११७) पक्षवन्तः पुरा तत्र बभूवुः पर्वतोत्तमाः' (५।५८।१४-१६)। तब पर्वतोंके पंख और उनके काटनेका केवल पौराणिक कहना वादियोंके पक्षकी निर्मूलता बता रहा है। सिद्धान्तशिरोमणि जिसे स्वा.द.जीने स.प्र.में प्रमाणित किया है—के गोलाध्यायमें 'स्याद् इन्द्र-वज्राऽऽहतपक्षतुल्यः' (४४) यह कह कर इन्द्र के वज्र द्वारा पर्वतोंके पंखोंका काटना दिखलाया है। यहांपर श्री भास्कराचार्यने 'इन्द्रवज्राहतपक्ष' शब्दको पर्वतके पर्यायवाचकमें दिखलाया है। यहांपर बहुव्रीहि-समास है—'इन्द्रस्य वज्रेण आहताः पक्षा यस्य सः, पर्वत इत्यर्थः। इससे भी हमारे पक्षकी पुष्टि है।

(ग) वादी लोग जब इस प्रकार अपने मतका खण्डन देखते हैं; तब 'पर्वत' शब्दका अर्थ बदलानेकी चेष्टा करते हैं। उसमें कारण यह है कि पहले उन्होंने वेदके विना देखे ही पुराणमें लिखे पर्वतोंके पंख काटनेमें असम्भव दिखलाया। जब सनातनधर्मी वही बात वेदसे दिखलाते हैं, तब 'खिसियानी बिल्ली खम्भा नोचे'के अनुसार वेदोंके पदोंमें तोड़-मरोड़ करते हैं।

यदि वेदमें 'पर्वत शब्दका अर्थ पहाड़ नहीं है; तो पहाड़-वाचक शब्द वेदमें कौन सा है? फिर क्यों श्रीक्षेमकरणदास तथा श्रीजयदेवविद्यालङ्कार इन आर्यसमाजियोंने अथर्व २०।१५।६ में 'पर्वत'का अर्थ पहाड़ किया?

(घ) जो कि स्वा.द.जी अपने 'वैदिक निघण्टु कोष'में 'पर्वत' का अर्थ पुराणियों द्वारा 'पहाड़' और वैदिकों द्वारा 'मेघ' अर्थ बताते हैं; तथा उनके अनुयायी निघण्टु (१।१०)के 'अद्रिः, ग्रावा, गोत्रः, गिरिः, उपरः, उपलः' आदि मेघके नाम मानते हैं, पहाड़के नहीं; इसपर वे 'आ उपर उपल इत्येताभ्यां साधारणानि पर्वत-नामभिः' (निरुक्त. २।२१।४) इस श्रीयास्कके वचनको याद रखें। इसका यह तात्पर्य है कि—'अद्रि' आदिसे शुरू करके उपर उपल' शब्दसे पूर्व जो पर्वत, गिरि आदि नाम हैं; वे पर्वतोंके नामके तुल्य हैं, अर्थात्—यह नाम पहाड़ के भी हैं, बादलके भी। केवल ये मेघके नाम नहीं हैं; इसकी प्रकरणानुसार विशेषता जान लेनी चाहिये। उपर-उपल से आगेके नाम तो केवल मेघके हैं, पहाड़के नहीं—यह श्रीयास्कका आशय है। यही दुर्गाचार्यने भी लिखा है।

फलतः निरुक्त-निघण्टु आदिके अनुसार वेदमें 'पर्वत' आदि का 'पहाड़' अर्थ होनेसे भी, पर्वतोंके पंखोंके काटनेके विषयमें पुराण तथा इतिहास तथा कृष्णयजुर्वेद-मैत्रायणीसंहिता काठकादि संहिताओंकी साक्षीसे और प्राचीन अन्य ग्रन्थों तथा देवराज सायणादिके भाष्योंकी साक्षीसे वेदमें इस विषयमें

'पर्वत'का 'पहाड़' ही अर्थ है, मेघ नहीं। यदि निरुक्तकार-द्वारा 'निघण्टु'के कहे 'अद्रि, गिरि' आदियोंकी पहाड़ और मेघ अर्थ की व्यवस्थापना वादी लोग अपना पक्ष कट जानेके डर से न मानें; इस विषयमें वे निघण्टुको ही परम प्रमाण मानें कि-निघण्टुने 'यह बादलके नाम हैं' यह लिखा है, उन्हें यह याद रख लेना चाहिये कि-निघण्टु वेदके अधीन होता है, वेद निघण्टुके अधीन नहीं होता। निघण्टु (वैदिक कोष)में उन-उन शब्दोंके जो अर्थ दिखलाए हैं; वे उपलक्षणमात्र ही हैं। 'निघण्टु से निर्दिष्ट अर्थसे भिन्न उन-उन शब्दोंके अर्थ वेदमें नहीं होते-यह यदि वादी मानें, तो अपने पक्षको भी उन्हें काटना पड़ेगा। इस विषयमें ८म पुष्पमें 'वेदार्थ-विधानके साधन' देखिये।

(ङ) तब वेद निघण्टुके अनुसार नहीं चल सकता-यह सिद्ध हो गया। इसीलिए स्वा.द.जीने भी अपने यजुः-संहिताके भाष्य (१७।८६)में 'विशः'का निघण्टुसे न कहा हुआ भी 'प्रजाजन' अर्थ किया ही है। तब जो कि स्वामीने अपने 'निघण्टु वैदिक कोष' की भूमिकामें 'पर्वत' शब्दका 'पहाड़' अर्थ करनेमें निघण्टुमात्र-के आधारसे जो कि पौराणिकोंको अधिक्षिप्त किया है; इससे स्वामीका अपने-द्वारा भी खण्डन हो गया। स्वामीने उसमें कारण यह बताया है कि-'यह सब पद वेदमें यौगिक और योगरूढ़ि आते हैं, केवल रूढ़ि नहीं'। पर इससे हमारे पक्षका खण्डन नहीं होता; क्योंकि हम भी वेदमें केवल रूढ़ि शब्दोंको नहीं मानते, किन्तु कारणवश उसमें योगरूढ़ि, यौगिक और रूढ़ि एवं यौगिकरूढ़ि

इन सब प्रकारके शब्दोंको मानते हैं-इस विषयमें 'आलोक'के अष्टमपुष्प (पृ. १४२-१६६)में देखना चाहिये। तब पर्व (पंख) वाले होनेसे 'पर्वत' यह नाम यौगिक वा योगरूढ़ हो गया; और जहाँपर पहाड़ोंके पंखोंका वर्णन न होनेपर भी 'पर्वत' (यजुः १७।१)का अर्थ 'पहाड़' है, वहां 'पर्वत' शब्द रूढ़ि भी मान लिया जाता है। इस प्रकार स्वा.द.जीके मतके अनुसार भी हमारा पक्ष सिद्ध हो गया कि-'पर्वत' शब्द वेदमें केवल रूढ़ि नहीं; किन्तु रूढ़ि भी है, और यौगिक एवं योगरूढ़ि भी है। उसमें रूढ़िसे तो वर्तमान पहाड़ों (जो पंखोंसे हीन हैं)का वाचक है, योगरूढ़िसे सृष्टिकी आदिके पंखों वाले पहाड़ोंका नाम है, और यौगिक होनेपर बादलोंका नाम है। परन्तु स्वा.द.जी तो पंख आदिके वर्णन वाले स्थलमें भी 'पर्वत'का पंखहीन (मेघ) अर्थ करके, पंख आदिके वर्णनसे हीन स्थलमें 'पर्वत'का पहाड़ अर्थ करके स्वयं ही उसे केवल रूढ़ि बना रहे हैं, तो 'उष्ट्रलगुड' न्यायसे उन्हींकी युक्तिसे उन्हींका खण्डन हो रहा है। क्या यह 'परोप-देशे पाण्डित्यम्' नहीं कि-सनातनधर्मी वेदमें 'पर्वत'का अर्थ 'पहाड़' करके उनके पंखोंका काटना बतावें; और आप उनके अर्थकी 'निघण्टु'से विरुद्धताका फतवा दें, और स्वयं 'त्रघ्न'का निघण्टु प्रोक्त 'अश्व' अर्थ न करके 'परमात्मा' अर्थ करें। तब यदि उक्त वेद मन्त्रोंमें 'पर्वत'का निघण्टुसे न कहा भी 'पहाड़' अर्थ प्राचीन कृष्णयजुर्वेद एवं अन्य शास्त्रोंके अनुसार कर दिया जाता है; तब उसे माननेमें नकार क्यों?

(च) फिर भी हमने स्वा.द.जीकी भांति निघण्टुकी सर्वथा भी उपेक्षा नहीं कर डाली, बल्कि—'आ उपर-उपल इत्येताभ्यां साधारणानि पर्वतनामभिः' (निरु. २।२१।४) इस प्रकार श्रीयास्ककी व्यवस्थासे तथा देवराजयज्वा आदिके भाष्योंकी साक्षीसे निघण्टुर्दर्शि 'पर्वत' अर्थमें साक्षी दिखला ही दी है। उक्त वेद-मन्त्रोंमें वैसा अर्थ करनेमें प्रकरण भी अनुग्राहक है; कृष्ण-यजुर्वेदकी भी उसमें अनुकूलता है ही। उपाङ्गोंकी भी उसमें साक्षी है ही। अन्य भी बहुत-सी साक्षियां दिखलाई ही जा सकती हैं। यदि वेदमें 'पर्वत' शब्दका अर्थ 'पहाड़' नहीं है; ऐसा वादियोंका विचार हो, तो हमसे आदिमें दिये आदिम (अ. २०।१५।६) मन्त्रमें आर्यसमाजी दो विद्वानोंने 'पहाड़' अर्थ कैसे कर दिया? और स्वा.द.जीने भी अपने यजुर्भाष्यमें 'गिरयश्च मे पर्वताश्च मे' (१८।१३) इस मन्त्रमें 'पर्वत' शब्दका 'बड़े-छोटे पर्वत' अर्थ कैसे कर दिया? इस प्रकार 'पर्वते शिश्रियाणम्' (यजुः माध्यं. १७।१) मन्त्रके भाष्यमें स्वा.द.जीने 'पर्वत' का 'पहाड़के समान आकार वाले' यह अर्थ कैसे कर दिया? यहाँ उनने निघण्टुकी शरण क्यों नहीं ली?

(छ) इस प्रकार उनके अनुयायिओंमें श्रीपाद्दामोदर सातवलेकरजीने 'यत्ते पर्वतान्' (ऋ. १०।५८।६) इस मन्त्रमें तथा 'गिरयश्च पर्वताः' (अ. १२।१।११) इस मन्त्रमें स्थित 'पर्वत' शब्दका आर्यप्रतिनिधि सभासे ऋषितर्पण (मृतक स्वा.द.के तर्पणार्थ दयानन्द-शताब्दी) के अवसर पर प्रकाशित कराये

'वेदामृत' (प्र.सं.) में 'पहाड़' अर्थ कैसे कर दिया? वहीं उनके शब्दोंमें 'महत्त्वपूर्ण' संस्कारप्रकरणमें 'पर्वतान् गिरीन्' (अ. ६।१७।३) इस मन्त्रमें 'पर्वत' शब्दका 'पहाड़ोंको' और 'गिरीन्' का 'पहाड़ियोंको' यह अर्थ आर्यसमाजके मान्य स्वा. स्वतन्त्रानन्दजीने कैसे कर दिया? तब यह नहीं कहा जा सकता कि वेदमें 'पर्वत' का अर्थ 'पहाड़' है ही नहीं।

(ज) यदि पर्वतोंके पंखोंमें अनुपपन्नता दीखनेसे वहां 'मेघ' अर्थ किया जाता है; तब बादलोंके पंख ही कहांसे आये? हमारे पक्षपोषक तो कृष्णयजुर्वेद-मैत्रायणीसंहिता तथा काठक-आदि संहिताएँ भी हैं। 'पर्वत' शब्द यौगिकरीतिसे भी पहाड़-का नाम है—'पर्ववान्-पर्वतो भवतीति' (निरु. १।२०।५)। 'गिरीन् अज्रान् रेजमानान् अधारयत्' (ऋ. १०।४४।८) अज्रान्-गमनशीलान् पर्वतान् अधारयत्-पक्षच्छेदेन निश्चलीकृतवान्' यहां पर भी चलनशील पर्वतोंके पंख काटनेसे उनका स्थिर कर देना वेदने बताया है। बादलोंके पंख नहीं होते कि उन्हें काटकर उन्हें स्थिर कर दिया जाय!

यदि वेदमें 'पर्वत' का अर्थ पहाड़ नहीं है; तब 'यथेयं पृथिवी मही दाधार पर्वतान् गिरीन्' (अ. ६।१७।३) 'पर्वत इव अविचाचलत्' (अ. ६।८७।२) 'गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि!' (अ. १२।१।११) इत्यादि तथा अन्य मन्त्रोंमें प्रतिपक्षी लोग 'पर्वत' का अन्य क्या अर्थ करेंगे? क्या यहां वे निघण्टुकी शरण लेंगे? जिस मन्त्रमें स.ध.के मन्तव्यकी सिद्धि हो; वहां

तो वे 'पर्वत'का अर्थ बदल दें; जहां स.ध.के सिद्धान्तसे तटस्थता हो; वहां वे 'पर्वत' का 'पहाड़' अर्थ कर दें–यह कहांका न्याय है ?

(ऊ) वेदमें 'पर्वत' का अर्थ 'बादल' सर्वथा ही नहीं होता; यह हम भी नहीं कहते। निघण्टु-निरुक्तकी व्यवस्थानुसार जब 'पर्वत' शब्दके बादल और पहाड़ यह दो अर्थ हैं, तब प्रकरणानुसार दोनों अर्थ ही ले सकते हैं, पर जहां पर्वतोंके पंखों तथा उनके काटनेकी स्पष्टता हो, तब वहां 'पर्वत' का 'पहाड़' अर्थ ही है–यह हम कहते हैं। 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्। बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरेदिति' (महाभारत १।१।२६४)।

(७) 'पर्वत इवाऽविचाचलत्' यह मन्त्र हमारे पक्षका विघातक है' यह भी नहीं समझ लेना चाहिये। 'भूतं भवद् भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति' (मनु. १२।६७) वेदमें भूत-भविष्यत् दोनों काल सम्भव होनेसे इस मन्त्रमें 'पर्वत'के पंखोंके काटनेके बादकी द्वितीयावस्था सूचित की गई है; और पहली अवस्था पूर्व कहे मन्त्रोंमें हम दिखला भी चुके हैं। इस प्रकार वेदमें 'पर्वतोंके पंख और उनका काट दिया जाना' यह दोनों ही अवस्थाएं दिखलाई गई हैं–यह हमारा अभिप्राय है, इससे पुराणोक्त वह सिद्धान्त वेदानुकूल सिद्ध हुआ। बल्कि–पर्वतको 'अविचाली' बतानेवाला मन्त्र वादियोंके पक्षको ही काटनेवाला सिद्ध होगा; क्योंकि–'पर्वत' शब्दका 'मेघ' अर्थ करनेवाले मेघको

निश्चल कैसे सिद्ध कर सकेंगे ? क्या यहां 'पर्वत'का 'पहाड़' अर्थ करते हुए उन्हें निघण्टु भूल जाता है ?।

(८) यदि वेदमें 'पर्वत' यह केवल मेघका नाम होता; 'पहाड़' का नहीं; तब 'केनाभि मह्ना पर्वतान्' (अ. १०।२।१८) इस प्रकार पर्वत (पहाड़) का प्रश्न होनेपर फिर साथ ही 'केन पर्जन्यमन्वेति' (अ. १०।२।१६) यह बादल विषयक प्रश्न क्यों कर दिया जाता ? वहां तो वादियोंके अनुसार 'पर्वत'का अर्थ मेघ हो ही जाता। इससे सिद्ध है कि–वेदमें 'पर्वत' शब्दसे प्रायः 'पहाड़' अर्थ लिया जाता है, कहीं मेघका भी, और कहीं वृत्रासुरका भी। जैसे कि उणादिकोषमें स्वा.द.जीने लिखा है–'पर्वतः-गिरिः' (३।१९०)। सो पुराण-इतिहास तथा अन्य वेद-संहिता आदिके वचनोंकी साक्षीमें इन्द्रसे किये हुए पंख काटनेका प्रसङ्ग आ जावे; तो वहां 'पर्वत' का 'पहाड़' अर्थ ही होता है।

(९) शेष रही पर्वतोंके उड़नेपर असम्भवदृष्टि, इसमें तो कूप-मण्डूकोंकी दृष्टिका ही अपराध है। अघटितघटनाघटनपटीयसी भगवान्‌की लीलासे सृष्टिकी आदिमें यह असम्भव नहीं। जिसकी लीलासे बड़े भार वाले ग्रह-नक्षत्र आदि भी, तथा सूर्य-चन्द्रमा आदि भी बड़े वेगसे आकाशमें उड़ रहे हैं; वर्तमान पाश्चात्य वैज्ञानिकों तथा उनके अनुयायी पौरस्त्यों तथा आर्यसमाजियोंकी दृष्टिमें, जहां बहुत भार वाली पृथिवी भी बड़े वेगसे आकाशमें उड़ रही है; कभी पूर्वदिशामें जाती है; कभी वहांसे लौट आती है; कभी सूर्यके नीचे आ जाती है,

कभी सूर्यके ऊपर आकर रात्रि कर दिया करती है, इस प्रकार बड़े-बड़े उडनकिले (अमेरिकन बड़े-बड़े हवाई जहाज) भी कई सौ पुरुषोंको उठाकर आकाशकी छाती चीरते हुए आकाशमें उड रहे हैं। किसी मकानपर यदि गिरते हैं; तो उसे गिरा देते हैं, अमेरिकाके कई मंजिल ऊँचे मकानसे हवाई जहाजकी टक्कर होगई; तो उसकी ऊपरकी दो-तीन मनजिलें भी गिर पड़ी थी। पुष्पक विमानमें तो सारी वानर-सेनाको ही चढ़ाकर उसे इच्छानुसार उडा दिया जाता था, आजकल तो गत युद्धमें जर्मनीके वायुयान बिना ही ड्राइवरके जर्मनीसे उडकर लण्डन पर बम गिराकर फिर स्वयं जर्मनी लौट जाते थे; जहां आजकल मारवाड़में बड़े-बड़े रेतीले पहाड़ वायुके वेगसे उखड़कर उडते हुए जिन ग्रामों पर जा पड़ते हैं, वे गांव मिट्टीमें दब जाते हैं; फिर उनकी सत्ता भी नहीं दीखती; वहां पुराणकालमें सृष्टिकी आदिके समय पंखयुक्त पहाड़ उडकर जहां जाते हों; वहां बड़ी हानि कर देते हों; जिनका उल्लेख सृष्टिके आदिसे ही जारी पुराणोंमें स्पष्ट किया गया; और वेदसंहिताओंमें जिसका सङ्केत कर दिया गया; उसे वहां छिपा देना और अर्थ बदलनेकी चेष्टा करना यह प्रतिपक्षियोंकी या तो बुद्धिमन्दता बता रहा है, अथवा पक्षपातयुक्तता वा आग्रहग्रहिलता बता रहा है।

(ख) तथापि यह जानना चाहिये कि-जितनी मट्टी आजकल पहाड़ोंमें दीखती है, उतनी पहले उनपर नहीं रही होगी। यह मट्टी तो उनके पंख कटनेपर और उनके पृथिवी पर गिर जानेपर

कालक्रमसे उनपर बढ़ी; और वह पत्थररूपमें होकर बढ़ती गई; क्योंकि-पत्थर भी पृथिवीका योग पाकर बढ़ते रहते हैं। जैसे म्युनिसिपलिटीकी सड़कें पहले काफी नीची होती थीं; फिर उनपर मट्टी बढ़ते-बढ़ते वे काफी ऊंची हो जाती हैं, गढ़े भर जाते हैं, हमारे मकानोंके दरवाजे भी फिर उनसे नीचे हो जाते हैं, वैसे यहांपर भी जान लेना चाहिये।

(ग) जैसे प्राचीन मुनि च्यवन तथा मारीच आदि तपस्या करते हुए एकस्थानमें स्थित होनेसे 'वल्मीकाग्रनिमग्नमूर्ति' हो गये; और रामायणके कर्ताका नाम ही 'वाल्मीकि' बन गया; इस प्रकार मट्टी पड़ते-पड़ते कुएँ भी दब जाया करते हैं, भूमिके बराबर हो जाते हैं; 'पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरिताम्' (२।२७) (जहांपर पहले नदियां झरने थे; वहां अब रेतीले टीले हैं)-इन 'उत्तररामचरित'के शब्दोंमें पृथिवीमें इतने परिवर्तन हो जाते हैं; इस प्रकार सृष्टिके आरम्भसे ही उत्तरोत्तर बढ़ते-बढ़ते पहाड़ अब इस विशालरूपमें और बहुत भारी रूपमें हो गये; इसका उडना असम्भव समझकर पहलेके छोटे आकारवाले पहाड़ोंके उडनेके उल्लेखमें असम्भव समझना यह प्रतिपक्षियोंकी अदूरदर्शिता बता रहा है। पहले पहाड़ोंकी इतनी विशालता नहीं रही; इस कारण उसमें असम्भव दृष्टि डालनेवालोंकी अल्पज्ञानवत्ता ही इसमें अपराधिनी है; इसमें पुराणोंका कुछ भी अपराध नहीं।

(१०) कई लोग आक्षेप करते हैं कि-पदार्थोंके धर्म सदा

समान ही रहा करते हैं; यदि वे पहाड़ पहले उडते थे; तब उनका उडना अब क्यों नहीं होता? इसपर यद्यपि हम पहले कुछ संकेत दे चुके हैं; फिर भी पृथक् भी कुछ लिख देते हैं—। कालक्रमसे वस्तुओंके धर्मोंमें परिवर्तन भी होते रहते हैं। वैज्ञानिक मानते हैं कि—सृष्टिकी आदिमें पृथ्वी बड़ी गर्म थी, उसमें जीवोंकी स्थिति नहीं हो सकती थी। कालक्रमसे वह ठंडी हुई; जिससे उसमें सृष्टि हुई; और वह जीवोंकी आवासभूमि वन गई। इस प्रकार वैज्ञानिक मानते हैं कि—कई ग्रह अभी भी गर्म हैं। कालक्रमसे कई सहस्राब्दियोंके बाद वे भी ठण्डे हो जाएँगे; तब वे भी प्राणियोंके निवासयोग्य हो जाएँगे।

(ख) पहले सृष्टिकी आदिमें पुरुषोंकी कितनी बड़ी-बड़ी हजारों वर्षकी अवस्था थी; अब कितनी छोटी रह गई. यह भी एक युगधर्मवश परिवर्तन है। चरकसंहिता (विमानस्थान तृतीयाध्याय) में स्वीकार किया गया है कि—सत्ययुगकी आदिमें पृथिवी आदि सब गुणोंसे मिले हुए थे (३।२५) पर वह अवस्था अब नहीं रही। पहले योगी, नारदादि आकाशमें उडा करते थे; आजकल लोग आकाशमें नहीं उडते। आगे वैज्ञानिकोंकी कृपासे उन्हें भी पंख लगाये जाएँगे; और वे आकाशमें उडेंगे। इस प्रकार स्पष्ट है कि—वस्तुओंके धर्म युगक्रमसे वा किसी महापुरुषके वर-शापसे परिवर्तित भी होते रहते हैं।

(११) 'जैमिनीय-ब्राह्मण' (२।१४)में कहा है-'इमे आरण्याः पशवो मृगा एवमेते अग्रे एकशफाः पशव आसुः'। इसका अर्थ

आर्यसमाजी रिसर्चस्कालर श्रीभगवद्दत्त जी ने (भारतवर्षका बृहद् इतिहास' (प्रथमभाग २७६ पृष्ठ)में यह किया है—'जैसे ये जंगलके पशु मृग आदि थे, इसी प्रकार पहले दिनोंमें पशु एकशफ थे। गो आदि पहले फटे खुर वाले न थे। घोड़ेके समान एकशफ थे'। उसीकी टिप्पणीमें लिखा है—'पहले पृथिवी कृष्णा थी। (मैत्रायणी सं. १।६।६), 'पहले वीरुध सूखते न थे' (मैत्रा. १।६।३), पहले पृथिवी शिथिल अर्थात् पिघली अवस्थामें थी; और उसमें पर्वत तैरते थे' (मैत्रा. १।१०।१३) ये अवस्थाएं प्रजापति ब्रह्माजीके कालकी हैं। 'दरिद्रा आसन् पशवः कृशाः सन्तो व्यस्थकाः। सौमायनस्य दीक्षायां समसृन्यन्त मेदसा' (ताण्ड्य ब्रा. २४।१६।७) पशु पहले कृश, छोटे और अस्थि-विना थे। सोम-पुत्र बुधकी दीक्षामें उनपर मांस आया। पहले पशु एकरूप रोहित ही थे' (जै. ब्रा. १।११६०) पश्चात् श्वेत, रोहित और कृष्ण हो गये,।

(ख) इससे पूर्वोक्त शङ्काका समाधान स्वयं हो गया कि—सृष्टिकी आदिमें पर्वत उड़ते थे, अब उनकी वह अवस्था क्यों नहीं? वैज्ञानिक मानते हैं कि—पहले मारवाड़में कभी समुद्र थे; पर अब केवल वालू है। जहाँ आजकल सख्त सर्दी है, वहां पहले सख्त गर्मी होती थी। इस प्रकार पदार्थोंमें कई परिवर्तन समयानुसार हो जाया करते हैं। पहले सृष्टिकी आदिमें स्त्रियाँ रजस्वला नहीं हुआ करती थीं; विश्वरूपकी हत्याके बाद उनमें रजोधर्म शुरू हुआ। (कृष्णयजुः तै. सं. २।५।१ (५) इस प्रकार

पदार्थोंके धर्म भी युगक्रमानुसार बदलते रहते हैं, सदा एकसे नहीं रहा करते।

(१२) पहले सरस्वती नदी होती थी; जिसका वेदमें जोर-शोरसे वर्णन है; पर अब वह लुप्त है। पहले सोमवल्ली होती थी, जिसका वर्णन वेदमें प्रचुर मात्रामें मिलता है; पर इस युगमें अब उसका गन्ध भी नहीं।

(ख) इस प्रकार प्रकृत-विषयमें भी समझ लेना चाहिये कि-यह पहाड़ सृष्टिके आरम्भकालमें उड़ते थे, पीछे इन्द्र-द्वारा पंख काटे जानेपर वे अचल हो गये, पीछे इनका नाम 'नग, अग, अचल' आदि हो गये। इस प्रकार की अन्य शङ्काओंका भी समाधान यहाँ समझ लेना चाहिये। तब 'मार्तण्ड'में इस विषयमें आक्षेप करता हुआ, पथिक अन्धकारावृत सिद्ध हुआ।

त्रुटितपाठ

[पृ. १५८, पं० १७, २२४-२१ अब ठंडे देशकी बालाओंकी शीघ्रयौवन प्राप्ति भी देखें। दैनिक वीर-अर्जुन (२९-१०-६५) 'ब्रिटिश बालिकाएं शीघ्र युवती क्यों बनती हैं ? (एडिनबरा २८ अक्टूबर) एक ब्रिटिश महिला-डाक्टर-के कथनानुसार ब्रिटेनके स्कूलोंकी छात्राएं अल्प आयुमें ही किशोरीसे युवती इसलिए बन जाती हैं कि-वे मांस खाती हैं। इससे उनके यौनविकास शीघ्र होने लगता है।' मांसमें ऐसे कामोत्तेजक तत्त्व हैं, जिनसे बालिका शीघ्र विकसित-युवति बन जाती है। अब बालिकाओंकी पूर्ण युवति बननेकी आयु १७ वर्षसे गिरकर १३॥ वर्ष तक जा पहुंची है'। जब ठंडे देश यूरोपका यह हाल है, तब गर्म देश भारतमें तो बालिकाओंके १२ वें वर्षमें युवति होनेमें कोई शङ्का न रही।]

(४) पौराणिक घटनाएं समाचारपत्रोंमें।

[पुराणोंमें आई अद्भुत घटनाओंको मन्द-मस्तिष्क कई व्यक्ति शङ्कित दृष्टिसे देखते हैं; पर वैसी घटनाएं अब तो समाचारपत्र-संसारमें प्रत्यक्ष दीख रही हैं। स्थानाभाववश संक्षेपसे थोड़ी घटनाएं दी जा रही हैं। उनका संग्रह भक्त राम-शरणदासजी (पिलखुआ) ने किया है। सम्पा.]

१ पुरुषके पेटसे बच्चेका जन्म।

[दक्षिण अमेरिकाके 'सण्डेग्रैफिक' (१६,४,'६४ पृ. ६) पत्रसे]

"एक १७ वर्षके लड़केके पेटसे ऑपरेशन करके एक ३ पौण्ड १५ औन्सका बच्चा निकाला गया। जीनलीक्वसलारेंट नामक यह लड़का अपनी मांके साथ रीऊगुटेनवर्ग (पैरिस)में रहता था; उसका गर्भ १७ वर्षसे उसके अपने फेफड़ेके पास अन्दर ही विकसित हो रहा था। जीनलीक्वसने अपनी छातीमें दर्दकी शिकायत की। उसका एक्सरे लिया गया। बादमें आप-रेशन किया गया, पौने दो घण्टे लगे। उक्त बच्चा पैदा हुआ। उसकी माँको कहा गया कि १७ वर्ष पूर्व तुमने अपने पुत्रको जन्म दिया था, और उसका दूसरा जुड़वां भाग उसी लड़केमें रहकर विकसित होने लगा। उसके दान्त और बाल भी थे। यह लड़का अन्य लड़का पैदा करनेसे बड़ा विख्यात हो गया।' (इस पुष्पमें पृ. ५२७ देखो)।

जब यह प्रत्यक्ष घटना है, तब मान्धाताका जो कि युव-नाश्वके पेटसे पैदा होनेका पुराणोंमें वर्णन आया है; कइयोंका

कई वर्ष तक गर्भमें पड़े रहनेका वर्णन आया है, उसमें असम्भव का प्रश्न न रहा।

२ बालिका भी मां।

नई दिल्लीके उत्तर रेलवे सेंट्रल अस्पतालमें ६ मासकी बालिकाके पेटका सफल आपरेशन किया गया, पेटसे अविकसित बच्चा निकला। जब यह पैदा हुई थी, उसका पेट बढ़ा हुआ था। कई दिन बाद कालकामें इस बालिकाकी मांने उसे नहलाते समय उसके पेटपर सूजन अनुभव की। डाक्टरोंको दिखलानेपर उन्होंने उसे देहली ले जानेकी सलाह दी। फलतः वहां उसका ऑपरेशन हुआ। (नवभारत टाइम्स ४-५-१९६६)।

३ यमराज यमदूतोंकी बातें एक आर्यसमाजी ने भी मानीं।

हमारे पास आर्य संन्यासी स्वा. सत्यानन्द तीर्थजी पधारे। उन्होंने हमें एक अंग्रेज टेम्सकी उसके मुखसे सुनी हुई घटना सुनाई कि—एक बार मैं (टेम्स) सख्त बीमार हुआ कि—मेरी नब्ज छूट गई। मेरे परिवार वालोंने ईसाई प्रथाके अनुसार मेरे दफनाने के लिए प्रबन्ध शुरू कर दिया। पर मुझे कई 'यमदूत' पकड़ कर ले गये; और मुझे 'धर्मराज'के सामने पेश किया। मैंने वहाँका दरबार लगा हुआ देखा। वहां चमकते हुए दिव्य सिंहासनपर एक दिव्य पुरुष बैठे हुए थे। उन्होंने मुझे देखते ही यमदूतोंसे कहा—यह टेम्स वह नहीं है। इसे वहां वापिस ले जाओ। दूसरे टेम्सको पकड़ लाओ। वे मुझे वहीं छोड़ आये, और मैं जीवित हो उठा। ठीक उसी समय मेरे पड़ोसमें रहने वाले दूसरे टेम्सकी—जो पूर्ण स्वस्थ था—तुरन्त मृत्यु हो गई। मैंने उस यमपुरीमें कई प्रकारके नरक देखे, जिनमें किसीको जलाया जा रहा था, किसीको आगमें भूना जा रहा था।

यह सुनाकर वे आर्य-संन्यासी बोले, जबसे मैंने यह सुना, तबसे मैं स.ध.की इन बातोंको मानने लगा हूँ। पुराणोंका मनन करता हूँ। गीता-रामायणका अब मैं पाठ करता रहता हूँ।

४ परलोकमें हनूमान् मन्दिरका दैवी आदेश।

(नवभारत टाइम्स देहली ९-१-६०) नैनीताल ८ जनवरी। गढ़वाल जिलेमें रानाघाटके पास कुण्डीग्रामका निवासी रुद्रदत्त मृतक घोषित किये जानेके कुछ देर बाद पुनः जीवित हो उठा। विलाप कर रहे सम्बन्धी स्तब्ध रह गये। उसने आंखें खोलीं, और सम्बन्धियोंको अपनी परलोक-यात्राके अनुभव सुनाये। रुद्रदत्तने कहा—मुझे परलोकमें श्रीहनुमान् मन्दिर बनवानेका दैवी आदेश मिला है। काफी अर्सा बीमार रह कर अब वह अच्छा हो गया है। और उसने हनूमान्जीका मन्दिर बनवाना शुरू कर दिया है।

५ चितापर रखी मृत वृद्धा जीवित हो गई।

(वीर अर्जुन १८-२-६६) कानपुर। धर्मप्रेम तथा पूजा-पाठकेलिए विख्यात वृद्धा तुलसाका १४ फर्वरी रातके १० बजे देहान्त हो गया। दूसरे दिन जब उसे चितापर रखा गया; तब वह उठकर बैठ गई और बोली कि—यमदूत मुझे यमके पास ले गये; तो वे बोले कि—अभी इसका समय नहीं हुआ। हमने तो तुलसा चमारिनको बुलाया है। इसपर यमदूत मुझे वापिस भेज गये। लोग उसे बाजे-गाजेके साथ घर लाये। वहीं की रहनेवाली तुलसा चमारिनका ठीक उसी समय देहान्त हो गया।

९ श्रीहनुमान्‌की प्रतिमासे आंसू गिरे।

(वीर अर्जुन ५-१०-६४) इन्दौर। महारानी रोड पर स्थित वर्षों पुरानी श्रीहनूमान्‌जीकी मूर्तिकी बाईं आंखसे पानीकी बूँदोंको निकलते देखा गया है। मन्दिरके पुजारी पं० द्वारका-प्रसाद मिश्र एवं गोविन्दनारायण झाने बताया कि-जब प्रतिमा पर चोला चढ़ाया जा रहा था; तो उस समय एक आंखमें मामूली गढ़ा-सा पड़ गया, और पानीकी बूंदें निकलने लगीं। २४ घण्टे हो चुके हैं। अखण्ड रामायण-पाठ प्रारम्भ कर दिये गये हैं।

७ श्रीहनुमान्‌जीकी बाहों और सिरसे लहूकी धारा।

(नवभारत टाइम्स १४-३-६६) नागपुर। विदर्भके गोंदिया-नगरके पासके डोंगर गांवके पौने सौ वर्ष प्राचीन श्रीराधाकृष्ण-मन्दिरमें पांच फीट ऊँची श्रीहनूमान्‌जीकी प्रतिमाके बाहों और सिरसे लहूकी धारा पांच घण्टे लगातार वह निकली। हजारोंकी भीड़ एकत्रित हो गई। अन्तमें भक्तोंने बजरङ्गबलीकी आराधना प्रारम्भ की। तब जाकर रक्त रुका। बादमें उस प्रतिमापर सिन्दूर चढ़ाया गया। यह मन्दिर श्रीदाजीबाभाऊने बनवाया था। मूर्तिपूजाके विरोधियो, ऐसे चमत्कारोंको याद रखो। [तुलना करो षड्विंशब्राह्मणसे।]

८ भगवन्नाम-जपका लाभ एक आर्यसमाजीकी जुबानी।

अगस्त १९६४ में पिलखुआमें हमारे पास आर्यसमाजी विद्वान् श्रीबिहारीलालजी शास्त्री, काव्यतीर्थ पधारे; नामजपके विषयमें उन्होंने सुनाया। एक आर्यसमाज-मन्दिरमें मेरी कथा करनेके पूर्व एक आर्यसमाजी विद्वान्‌ने खड़े होकर कहा कि-सनातनी लोग जो जोर-जोरसे 'हरे राम हरे राम' आदिका कीर्तन करते हैं, यह मूर्खता है। इससे ईश्वर प्रसन्न नहीं होता।

इसके बाद हमने उनके वक्तव्यका विरोध किया, और कहा—यदि इनकी बात मान ली जाय, तो जो हमारे वेदादि-शास्त्रोंमें ईश्वरका पवित्र नाम 'ॐ' बार-बार जपनेकी आज्ञा है, और गायत्री-जपकी आज्ञा है; तो क्या यह मूर्खता होगी? स्वा.द.जीने कर्णवासमें यज्ञोंमें ब्राह्मणों द्वारा जप भी कराया था; क्या यह मूर्खता थी? जिस वक्त शब्दोच्चारण होता है; तो सूत्रात्मा-वायुमें शब्दका चित्र बनता है, उससे तदनुकूल वातावरण बनकर मनपर प्रभाव पड़ता है।

यह कहकर उन्होंने नाम-जपकी एक घटना सुनाई—

९ रामनाम जपनेसे एक कंजरने ठाकुरके घर जन्म लिया।

उझानी (बदायूं) में एक बार कुछ प्रतिष्ठित ठाकुर जो पासके गांवके थे-गंगास्नानकेलिए जा रहे थे। उनके साथ एक ५ वर्षका बच्चा था। वह बच्चा वहांके कंजरोंके पास चला गया; और एक कंजरकी स्त्रीका नाम लेकर उसे पुकारा। स्त्रीने कहा—तू कौन है? लड़केने कहा—तू मुझे भूल गई, मैं तेरा पति हूँ; तू मेरी स्त्री है? वह बहुत हैरान हुई; कहने लगी कि-मेरा पति तो मर गया। बच्चेने कहा-तेरा पति मोहनसिंह मैं ही हूँ; अब मेरा ठाकुरके यहां जन्म हुआ है। उसने जो-जो बातें कहीं कि वह ठीक-ठीक मिलीं।

जब रायबहादुर भदावर आये; तो उन्हें भी उस ५ वर्षके बच्चेने पहचान लिया; तब वे भी चकित रह गये; तब उन्हें याद हो आया कि-मोहनसिंह कंजर हमारे खस-खसके पर्दे बनाया करता था। यह कभी मांस नहीं खाता था, किसी जीवको नहीं मारता था। गङ्गाजीमें बड़ी श्रद्धा रखता था। नित्य श्रीरामनाम जपा करता था। उसी पुण्यके प्रतापसे इसका उच्च जातिमें जन्म हुआ। उस लड़केको जो कि पूर्व जन्मका

वृत्त सुनकर कंजर रखना चाहते थे, भदावरजीने उसे ठाकुरोंको दिलवा दिया।

यह एक आर्यसमाजी श्रीकाव्यतीर्थजी द्वारा सुनाया वृत्त पाठकोंने पढ़ लिया। फिर उन्होंने अपनी माताका वृत्त सुनाया।

१० श्रीरामनामके प्रतापसे मेरी माताने भविष्यवाणी की।

काव्यतीर्थजीने कहा—मेरी पूज्या दादीजी जहां कट्टर सनातनधर्मी थीं; मेरी माताजी भी वैसी ही थीं। मेरी माताजी मालासे नित्य श्रीरामनामका जप किया करती थीं। उसीके प्रतापसे उन्होंने अपनी मृत्युसे ८ दिन पूर्व भविष्यवाणी कर दी थी कि—मैं एकादशीके दिन व्रत पूरा कर चुकनेके पश्चात् प्राण छोड़ूँगी। वैसा ही हुआ। नियत दिन उन्होंने गोदान किया; और कहा—मेरी अस्थियोंको हरद्वार ले जाया जाय। बाद मेरे निमित्त ब्राह्मणोंको पद दिये जावें। फिर राम-राम कहते हुए उन्होंने अपना शरीर छोड़ा।

पाठक महोदय, यह बातें एक कट्टर आर्यसमाजी नेताके मुखसे सुनी हुई लिखी गई हैं।

११ मन्त्रशक्तिकी अद्भुत चमत्कार।

(धर्मयुग बम्बई ३-११-६३ पृ. २३) सतना स्टेशनसे कुछ दूर नागौद एक रियासत थी। वहां स्कूलसे थोड़ा आगे एक जेल थी; आजकल है या नहीं; पर यह उस समयकी घटना है।

हमने सुना कि जेलमें एक कैदी आया है, वह सांप झाड़नेका मन्त्र जानता है। किसीको सांपने काटा था, वह डाक्टरोंके कथनानुसार मर चुका था। उसका रंग नीला था। कैदी बाहर आया, उसने सांपके विषयमें पूछा। मृतकके सम्बन्धियोंने बताया कि—धोखेसे इसका पांव पड़ा, नीचे काला और पुराना सांप पड़ा था; उसने इसे डंस लिया। कैदीने काले उर्द निकाले,

मन्त्र पढ़कर लाश पर फेंकने शुरू किये, पर उसका कोई भी प्रभाव न हुआ। तब उसने एक कटोरा दूध मँगाया। तीन बड़े चक्कर ज़मीन पर खींच दिये। एक चक्करमें मृतकको लिटाया। दूसरेमें दूधको रखा। तीसरेमें उसने लोगोंको ठहराया। उसने तीनों चक्करोंकी परिक्रमा की; और मन्त्र पढ़ा। उसने दो कौडियां निकालीं; उन्हें मन्त्र पढ़कर ज़ोरसे फेंका। कैदीका शरीर कांप रहा था; वह मन्त्र पढ़ता जाता था।

लोगोंने आश्चर्यसे देखा कि—एक काला पुराना सांप बड़े गुस्सेसे फनफनाता हुआ आया और अपना सिर पटकने लगा; उस पर वही दोनों कौडियां चिपकी हुई थीं। कैदी उसके पास जाकर बोला—कौडियोंसे तकलीफ हो रही है? सांपने सिर हिला दिया। कैदीने कहा कि—तो फिर इसका ज़हर चूस लो न, अभी कौडियां अलग कर दूँगा? पर सांपको यह स्वीकार नहीं हुआ। कैदीने उसे बहुत समझाया कि—इस बार वह छोड़ दे, और दूध भी पी ले। पर सांप मानता ही न था; उसने अपनी पीठ दिखाकर सूचित किया कि—इस आदमीने उसे कुचल दिया था।

जब समझाने पर भी सांप न माना; तब कैदीने एक गज नया कपड़ा मंगाया; उसे सांपकी शकलकी एक रस्सी बनाई। उसपर उसने मन्त्र पढ़ा। उसने पूँछकी ओरका थोड़ासा हिस्सा चीर दिया; उधर सांपकी पूँछसे खून निकलने लगा। सांप बड़े गुस्सेमें आकर फनफनाने लगा। कैदीने फिर मन्त्र पढ़ा, और उस रस्सीकी पूँछको कुछ और चीर दिया। सांपकी पूँछ भी कुछ और चिर गई।

अब सांपने हारकर उस मृतकके दो चक्कर लगाये; फिर पैरमें जहां काटा था, वहां मुँह लगाकर ज़हर चूसने लगा।

कैदी मन्त्र पढ़ता जा रहा था। आधे घण्टेके बाद मृतकका नीला रंग बदल चुका था। उसमें चेतना आगई थी। (श्रीकृष्ण देवधरे)

यह है मन्त्रशक्तिका चमत्कार।

१२ प्रार्थनासे पुनः नेत्रज्योति मिली

(दैनिक हिन्दुस्तान १ सितम्बर '६४) (कादर मैसूर) कादर ग्राम पंचायतके भूतपूर्व अध्यक्ष श्री वीरन्ना दो मास पूर्व अपनी आंखोंकी ज्योति खो चुके थे। कई अच्छे डाक्टरोंने दिखानेपर ज्योति लौटना असम्भव बताया। डाक्टरोंसे निराश हो श्री-वीरन्ना अपने परिवारकी देवीके मन्दिरमें जाते, और ज्योति फिर प्रदान करनेकी प्रार्थना करते। एक सप्ताहके बाद एक दिन प्रातः जब वे भावमग्न होकर गा रहे थे, उनकी आंखोंकी ज्योति लौट आई, उन्हें पहलेकी भांति दीखने लगा'। यह है प्रार्थना एवं भजनका चमत्कार।

इस पुष्पके बहुत विस्तीर्ण हो जानेसे हम इसे यहीं रोकते हैं। आगे दशम पुष्पकी आशा लेकर पाठकोंसे बिदा लेते हैं। वे अभीसे दशम पुष्प के लिए १००) के सहायक तथा ग्राहक बनाना शुरू कर दें; जिससे दशम पुष्पके प्रकाशनमें देरी न हो।

इति पूज्य श्रीपं० शीतललालशर्म-श्रीगौरीदेवीतनुजनुषा देहली-दरीबाकलांस्थ रामदल संस्कृत-महाविद्यालयाध्यक्षेण विद्यावागीश श्रीदीनानाथशर्मशास्त्रिसारस्वतेन प्रणीतस्य 'श्रीसनातनधर्मालोक' स्य ग्रन्थमालायां नवम-सुमनोविकासः सम्पूर्णः।*

*पहलेके ८ पुष्प (तृतीयको छोड़कर) मंगाकर उक्त ग्रन्थमाला-का सेट पूरा कर लीजिये। आगेके दशम पुष्पकेलिए सहायताद्रव्य भेज-कर ग्रन्थमालाके शीघ्र पूर्ण करनेमें सहयोग दीजिये।

'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाका परिचय

विद्यावागीश-श्रीदीनानाथ शास्त्री सारस्वत (प्रिंसिपल रामदल संस्कृत महाविद्यालय, दरीबाकलां, देहली) द्वारा प्रणीत 'श्रीसनातनधर्मालोक' महाग्रन्थ संस्कृतमें १० हजार पृष्ठोंमें लिखित है। यह हिन्दुधर्मके प्राचीन-अर्वाचीन साहित्यार्णवको मथकर लिखा गया है, अतः वह हिन्दुधर्मका विश्वकोष एवं स.ध.का महाभारत वा कल्पवृक्ष सिद्ध हो सकता है। इसकी ग्रन्थमाला हिन्दीमें छप रही है। इसे १०००) देकर इसके संरक्षक बनें, आपका चित्र छपेगा, आपका नाम प्रत्येक प्रकाशनमें छपेगा। अथवा ५००) देकर इसके 'सम्मान्य-सहायक' वा २५०) देकर मान्य-सहायक बनिये, आपके पास ग्रन्थमाला पहुँचती रहेगी। अथवा न्यूनसे न्यून १००) देकर इसके साधारण सहायक बनिये। इस प्रकार आपके सहयोगसे 'आलोक' ग्रन्थ-माला शीघ्र प्रकाशित होकर भ्रान्त-जनोंकी धार्मिक शङ्काओंको दूर करनेवाली सिद्ध हो सकेगी।

अब तक इसके ६ पुष्प छप चुके हैं। विद्वानों एवं गुणज्ञोंने इस ग्रन्थमालाकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। आप भी स्वयं इस ग्रन्थमालाको खरीदें, तथा दूसरोंको भी इसके मँगानेके लिए प्रेरित करें। सभी शङ्काएँ मिटेंगी। आप शीघ्रतासे इसकी सहायतार्थ उद्यत हों। इससे हिन्दु-जातिको धार्मिक नवजीवन प्राप्त होगा। आज ही ग्रन्थकारके नामसे आप सहायता-द्रव्य शीघ्र ही भेजना शुरू कर दें।

जो महोदय स्थायि-ग्राहकताका शुल्क १०) दस रुपये पूर्व जमा करायेंगे, उन्हें सब पुष्प पौने मूल्यमें दिये जाएँगे।

१-२ पुष्प—(परिवर्धित-द्वितीयावृत्ति) आजकल 'नमस्ते'-शब्दका प्रचार संस्कृतानभिज्ञ-जनतामें बहुत हो गया है; और इसके प्रचारक इसका वैदिक होनेका दावा करते हैं। हमने इसमें 'नमस्ते' विषय पर विस्तीर्ण विचार दिया है। 'नमस्ते' विषयक-ट्रैक्ट हमें जितने मिल सके, उन पर आलोचना भी कर दी है। आरम्भमें उक्त महाग्रन्थकी सम्पूर्ण-विषय-सूची तथा उसपर विद्वानोंके भाव भी दिये गये हैं। यह ३५० पृष्ठोंकी सजिल्द एवं सुन्दर पुस्तक है।　मूल्य ४)

३य पुष्प—इसमें स्त्री-शूद्रोंके वेदाधिकार पर विचार करते हुए 'यथेमां वाचं कल्याणीं' मन्त्रके प्रचलित अर्थकी आलोचना करके उसका वास्तविक अर्थ, हारीतकी ब्रह्मवादिनी, 'गोभिलसूत्र' का 'यज्ञोपवीतिनी' पद 'दुहिता मे पण्डिता जायेत', 'वेदं पत्न्यै प्रदाय वाचयेत्', 'ब्रह्मचर्येण कन्या, पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्' आदि बहुतसे वचनोंके वास्तविक अर्थ बताकर ऐतरेय-महिदास, कवष-ऐलूष, कक्षीवान्, सत्यकाम-जाबाल, सूत, वाल्मीकि, शबरी आदि शूद्र थे वा अशूद्र—इस पर विचार किया गया है। इसकी प्रथमावृत्ति समाप्त है। द्वितीयावृत्ति समयपर छपेगी।

४र्थ पुष्प—इसमें हिन्दु-शब्दकी वैदिकता, वेद-विषयमें भारी भूल, महाभाष्यकारके मतमें वेदका स्वरूप, वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्मसे है, वा जन्मसे; डा० भगवानदासजीके मतपर

विचार, मृतकश्राद्ध तथा मृतक पितरोंका टाइमटेबल, उसमें ब्राह्मण-भोजन वैदिक है वा अवैदिक, मूर्तिपूजा एवं अवतारवाद-का रहस्य, क्या विद्वान् मनुष्य ही देव हैं, नवग्रहोंके प्रचलित मन्त्रोंका ग्रहोंसे सम्बन्ध कैसे है, ग्रहण और उसका सूतक-इत्यादि अनेकों विषयों पर बड़े सुन्दर विचार दिये गये हैं। ५०० पृष्ठसे अधिक पृष्ठकी सजिल्द सुन्दर पुस्तकका मूल्य ६)

५म पुष्प—इसमें हिन्दुधर्मके मुख्य-विषय चोटी-जनेऊ, गायत्री-मन्त्र, १६ संस्कार, सन्ध्याके सभी अङ्गोंपर विचार, मालाके मणियोंकी १०८ संख्या क्यों? यज्ञका वैज्ञानिक महत्त्व आदि अनेकों विषयों पर विचार करके प्रातःसे रात्रि-शयन तकके आचारोंकी वैज्ञानिकता बताई है। इसके बाद दीपमाला, होली आदि वर्षके प्रसिद्ध पर्वोंके वैज्ञानिक रहस्य बताकर, श्रीगणेशका वैदिक देवत्व तथा श्रीमहीधरके 'गणानां त्वा' मन्त्रके भाष्यपर—जिसपर प्रतिपक्षियोंकी ओरसे घोर-शोर मचाया जाता है—विचार इत्यादि १२५ विषयोंपर सुन्दर विचार दिये हैं। आज ही मँगाइये।　मूल्य ११)

छठा पुष्प—यह सुन्दर पुस्तक ६५० से अधिक पृष्ठोंमें छपी है। इसमें स.ध. तथा वेदका स्वरूप दिखलाते हुए ब्राह्मणभागके अवेदत्व पर किये जानेवाले तर्कोंपर युक्ति-प्रमाण द्वारा विचार करके, वेदाधिकारि-विचार, देवमन्दिरोंमें अन्त्यज-प्रवेश पर 'वैदिक दृष्टि' दिखलाकर 'ढोल गंवार शूद्र पशु नारी' मानसकी इस प्रसिद्ध चौपाईके विविध अर्थ तथा उनकी आलोचना की

गई है। फिर 'क्या प्राचीन-भारतमें गोवध होता था' इस विषय पर दिये जाते हुए वेद-पुराणोंके वचनोंपर १६० पृष्ठोंमें विचार किया गया है। इसके वाद 'क्या पुराणोंमें वेद-विरुद्ध अंश है?' इस पर विचारते हुए वृन्दाका पतिव्रतभङ्ग, चन्द्रमाका गुरुपत्नी-गमन, अगस्त्यऋषिका समुद्रपान, स्त्रीसे पुरुष, पुरुषसे स्त्री आदि बहुतसे विषयों पर विचार कर श्रीकृष्ण के बाल्यचरित्र एवं राधा-कृष्णके परस्पर सम्बन्ध तथा कुब्जा आदिके विषयमें २०० पृष्ठमें विचार दिया गया है। सैद्धान्तिक-चर्चामें वर्ण-व्यवस्था पर 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत' के अर्थ पर किये जाते हुए तर्कोंपर विचार करते हुए 'ब्राह्मणादि क्या वर्ण नहीं हैं'-इस पर तथा 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' पर भी विचार करके अन्तमें पौराणिक घटनाएँ समाचारपत्रोंसे दी गई हैं। यह पुस्तक जिज्ञासुओंके लिए अत्यन्त उपकारक है।

सजिल्द मूल्य ११)

७वां पुष्प इसमें पौराणिकचरित्र-पर्यालोचन तथा 'पुराण-परिचय' का परिचय विस्तीर्ण रूपसे वताकर एक पूर्वपक्षीके पुराणविषयक अनेकों प्रश्नोंके सर्वाङ्गीण उत्तर देकर, फिर अवतार-सम्बन्धी १६ कुतर्कोंको काटकर, विविध आक्षेपोंके प्रत्युत्तर दिये गये हैं। इसके वाद 'क्या गणेश तथा रुद्र अग्नि हैं' इसपर विचार करके सत्यनारायणव्रत-कथा पर किये जाते हुए आक्षेपोंपर प्रत्युत्तर देकर श्रीसीता-रामकी वैवाहिक-आयु तथा द्रौपदीका एक पति था या पांच, श्रीव्यासजीकी उत्पत्तिपर

विस्तीर्ण विचार दिया गया है। वेदचर्चामें वेदस्वरूपनिरूपण बताते हुए 'वेदसंज्ञाविमर्श, चुनौतीका उत्तर, नीरक्षीरविवेक' आदिपर लिखा गया है। इस एक ही पुस्तकसे आपको पुराणोंके सम्बन्धमें पचासों प्रश्नोंका समाधान प्राप्त होगा। अन्तमें पुराणोंको सिद्ध करनेवाली प्रत्यक्ष घटनाएँ भी दिखाई गई हैं। यह १००० पृष्ठोंमें छपी पुस्तक सभीकेलिए संग्राह्य है। मूल्य ११)

८म पुष्प—इसमें वेदस्वरूपनिरूपण, स्त्री-शूद्रोंका वेदाधिकार-विचार, क्या वेदमें केवल यौगिकता है, वेदार्थके साधन, क्या गीता वेदखण्डक है. वेदमन्त्रहत्याका दिग्दर्शन' आदि विषयोंपर विस्तीर्ण विचार रखकर वर्णव्यवस्थाके सम्बन्धमें दिये जाने वाले सब प्रमाणोंपर आलोचना करके, क्या गुणकर्मानुसार वर्णव्यवस्था चल सकती है-यह दिखलाकर आर्यसमाजका श्राद्ध एवं यमराज, नियोगमें मैथुन होता है या नहीं, क्या सायणाचार्य विधवा-विवाह मानते थे-यह स्पष्ट करके नियोग वा विधवा-विवाहपर दिये जाते हुए सभी प्रसिद्ध मन्त्रोंपर समाधान करके यमयमीसूक्त, 'क्लीवे च पतितेपतौ' में 'पतौ है या अपतौ' यह दिखलाकर तलाकपर भी विचार दिखलाया गया है। परिशिष्ट में अष्टग्रहीयोगपर तथा नमस्तेपर विचार करके प्रत्यक्ष घटनाएँ भी दिखलाई गई हैं। ८०० से अधिक पृष्ठकी सजिल्द एवं सुन्दर पुस्तकका मूल्य १०)

९म पुष्प—यह अभी-अभी प्रकाशित हुआ है। इसमें इतिहासचर्चामें हनुमानादि वानर थे, वा नर? श्रीसीतारामकी

वैवाहिक अवस्था, प्रकरणवश कन्या-विवाहावस्था, चतुर्थी-कर्म गर्भाधानका अङ्ग है, या विवाहका? 'एक वैदिक विवाहका रहस्य, आदि, कण्टकशोधनमें अनेक विषय, पुराणेतिहासचर्चामें पुराणोंपर किये जाते हुए आक्षेपोंका प्रत्युत्तर, वेदचर्चामें वेदोंकी अक्षरसंख्या, आलोचनास्तम्भमें कई आक्षेपक ट्रेक्टोंपर विचार, सैद्धान्तिक- चर्चामें साम्यवादपर संवाद तथा पर्वतोंके पंख, परिशिष्टमें पौराणिक घटनाएँ वर्णित हैं। एक सहस्र पृष्ठके इस पुष्पमें बहुतसे सन्देह दूर कर दिये हैं। आज ही इसका आर्डर भेजिये।

मूल्य १३)

१०म पुष्पकी रूपरेखा—इसमें वेदचर्चामें द.सि.प्र.पर विचार वेददोहनरहस्य, द्वैतवाद एवं अद्वैतवादका सामञ्जस्य, तर्क और प्रमाणमें मान्यतर कौन है, यह विषय आये हैं। आलोचना-में श्रीमद्भागवतपर आक्रमण, भगवद्गीतापर आक्रमण, गीतापर विमर्श, गीताका स्वरूप, भारतीय नारी; सैद्धान्तिकचर्चामें वर्ण-व्यवस्था जन्मसे है, गुणकर्मसे वर्ण व्यवस्थामें क्या हानि है? वर्णव्यवस्था और स्मृति एवं इतिहास, मृतक-श्राद्ध तथा उसमें भ्रान्तिनिवारण, स्त्रियोंकी आवरण-प्रथामें वेदादि शास्त्रोंका मत, कन्याविवाहवयपर विचार, स्वा.द.के नियोगका निरीक्षण, संन्यासाश्रम, भूतप्रेतादिकी सिद्धि, हिन्दुओंका आदि स्थान भारतवर्ष, क्या रामायण महाभारतसे अर्वाचीन है?' पुराण-चर्चामें प्रकृतिके दृश्य नियम सामान्यशास्त्र, स्थूल मैथुनके बिना भी सन्तान, विचित्र उत्पत्तियां, विष्णुकर्ण-मलोद्भूतत्व,

रक्तबीजके रक्तसे असुरोत्पत्ति, नारद आदिका आकाशमें गमनागमन, एकसे अधिक मुख, कुम्भकर्णकी निद्रा, बूढ़ेको जवानी देना, अन्तर्धान-सिद्धि, बिना देखे भी युद्ध आदिका वृत्तज्ञान और भविष्यका ज्ञान शिव-डमरूसे १४ सूत्र, गोवर्धन-का उठाना, इत्यादि विषय यथासम्भव होंगे।

आज ही सहायताद्रव्य ग्रन्थकारके नाम एवं पतेसे शीघ्रतासे भेजना शुरू कर दें। इन पुष्पोंको शीघ्र मंगाकर अपना सेट पूरा कर लें। आप जो भी चाहें, पुष्प मंगा सकते हैं। डाक व्यय पृथक् होगा। सभी पुष्प इकट्ठे लेने पर ६०) लिये जावेंगे। पुस्तकें ट्रेनसे भेजी जावेंगी। रेल खर्च तथा वी.पी.-खर्च हम लगावेंगे। अपने रेलवे स्टेशनका नाम लिखें।

पुस्तकके मँगाने वा पत्रव्यवहारका पता—

श्रीनारायणशर्मा एम.ए., श्रीकिरणकान्ता शर्मा 'राजीव'
फर्स्ट बी० १९ लाजपतनगर,
(नई दिल्ली-१४)